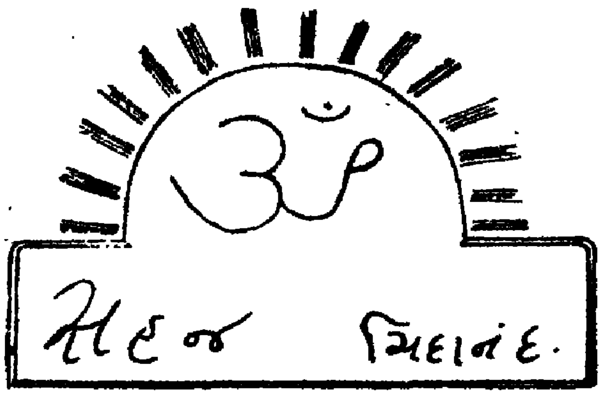



हस्ताक्षर : पू. श्री कानजीस्वामी

: लेखक :
ब्र० हरिलाल जैन
सोनगढ

त्रीजी आवृत्ति : ५०००

ई. स. 1990 Dec. वीर सं. २५१७ पोष

(श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला, पुष्प ६)

चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का

# महापुराण



लेखक

ब्र० हरिलाल जैन

अनुवादक

मगनलाल जैन

प्रकाशक

श्री कहान स्मृति-प्रकाशन
संत सान्निध्य, सोनगढ़-३६४२५०

और

अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन
खैरागढ़-४९१८८१

श्री जिन-बिम्ब पंचकल्याणक महोत्सव, जयपुर
के शुभ अवसर पर प्रकाशित

प्रथम आवृत्ति गुजराती : २०००
द्वितीय आवृत्ति गुजराती : ४०००
तृतीय आवृत्ति हिन्दी : ५०००
(२५-१२-१९९०)

मूल्य
४० रुपये

प्राप्तिस्थान
श्री कहान स्मृति प्रकाशन
संत सान्निध्य-सोनगढ़-३६४२५० (सौराष्ट्र)

प्रो. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए/४, बापुनगर, जयपुर-३०२०१५ (राजस्थान)

अ. भा. जैन युवा फेडरेशन
खेमराज प्रेमचंद जैन, कहान-निकेतन
खैरागढ़-४९१८८१ जि. राजनांदगांव (म. प्र.)

मुद्रण
सुमति प्रिन्टिंग प्रेस
सोनगढ़-३६४२५० (सौराष्ट्र)

આપણા ભગવંતો ચોવીસ તીર્થંકર



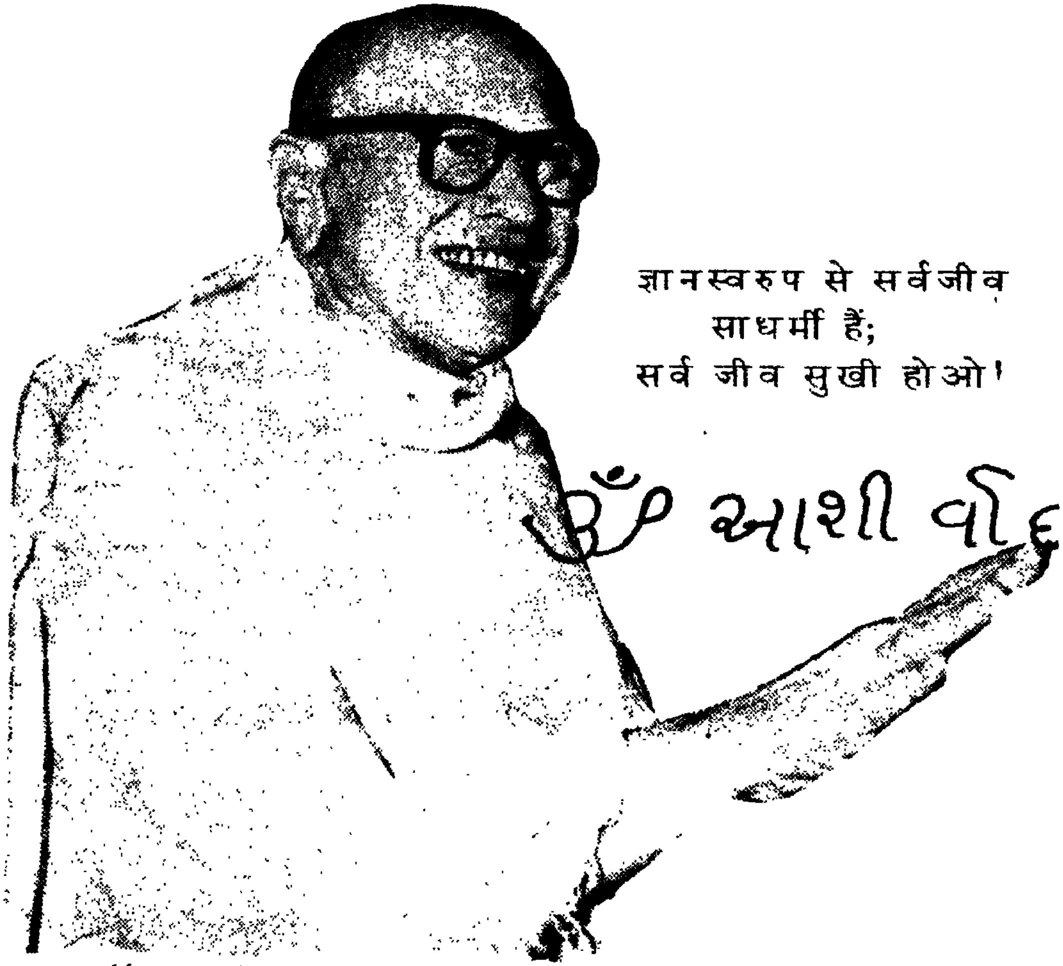
श्री चोवीस तीर्थंकर भगवंतोनुं

# महापुराण

ब्र० हरिलाल जैन

त्रीजी आवृत्ति : वीर सं. २५१७

# वीतरागनगरी में प्रवेश




ज्ञानस्वरुप से सर्वजीव
साधर्मी हैं;
सर्व जीव सुखी होओ!

"श्री तीर्थंकर भगवन्तों का यह महापुराण पढ़ने से तुम्हारे आत्मा में एक नवीन वातावरण बनेगा...तुम्हें ऐसी अनुभूति होगी कि मानो मैं वीतरागी नगरी में पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के साथ ही रहता हूँ, और उन्हीं जैसा उत्तम जीवन जीना सीखता हूँ। तुम्हारी उस ऊर्मिकी पुष्टि करें ऐसी घटनाएँ इस पुराण में बारम्बार आती ही रहेंगी। बस, एक बार प्रविष्ट होनेपर...फिर तो उस वीतरागी नगरी में तुम्हें ऐसा आनन्द आयगा कि उसमें से बाहर निकलना अच्छा नहीं लगेगा।"



अहो सर्वज्ञ महावीरदेव ! श्री गुरुकहान के प्रताप से मुझे आपका शासन मिला; आप के शासन में मुझे धर्म की प्राप्ति हुई और अनन्त निजवैभव मिला। इसलिये आपका यह मंगल जीवनचरित्र का सम्यक् आलेखन करता हूँ अति आनन्द की उर्मियों से आपके चरणों में नमन करके परम उपकार की प्रसिद्धि करता हूँ।

—हरि.

# पू. गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के अंतःवासी भक्त
# ब्र० हरिलाल जैन का जीवन-परिचय

भारत वर्ष के समस्त मुमुक्षु मण्डल एवं अध्यात्म प्रेमी श्री ब्र० हरिभाई से भलीभाँति परिचित हैं। श्री ब्र० हरिभाई का जन्म वीर संवत् २४५१, (वि. संवत् १९८०) की पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन जेतपूर (मोरबी-सौराष्ट्र) में हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्री अमृतलाल काशीदास महेता था, जो श्रीमद् राजचंद्रजी के शास्त्रों का गहरे अभ्यासी एवं व्याख्याता थे और माताजी का नाम अचरतबेन था। वे बचपन से ही स्कूल में तेजस्वी विद्यार्थी थे। स्वभाव से अत्यन्त शांत, सरल, मिलनसार और गम्भीर थे। उनमें जैनधर्म के संस्कार बचपन से ही थे।

वि. संवत् १९९९ में जब पूज्य गुरुदेव राजकोट में विराजमान थे तब वे अपने ताउजी के साथ गुरुदेव के दर्शन करने राजकोट आये। वह आषाढ शुक्ला दूज का दिन था। वास्तव में यह दिवस उनके जीवन का अव्यक्तरूप से मंगलमय दिवस था; उन्हें कल्पना भी नहीं थी कि अब सारा जीवन इन सन्तके चरणों में ही व्यतीत करने का महाभाग्य प्राप्त होगा।

उस समय राजकोट में पूज्य गुरुदेव के समयसारकी छठवीं गाथा पर प्रवचन चल रहे थे और दिन भी छठवाँ चल रहा था। उस दिन हरिभाई ने अपनी डायरी में सर्व प्रथम लिखा कि - **'आत्मा द्रव्यदृष्टि से जो है सो ही है।'**

राजकोट में चार दिन रहकर मोरबी जाने के लिये स्टेशन पहुँचे तो पता चला कि गाड़ी तो छूट गई है! जिसका हित होना हो उसे ऐसे सन्त के चरणों से प्रकृति भी कैसे दूर होने देती! यह थी उनके जीवन-परिवर्तन की मंगल घड़ी...कि स्टेशन से गुरुदेव के चरणों में लौट आये।

राजकोट से पूज्य गुरुदेव सोनगढ़ पधारे, तब हरिभाई भी सोनगढ़ आ गये। उन्हें लिखने की रुचि और अक्षर भी सुन्दर होने से गुरुदेव के पुराने लिखे हुए प्रवचनों की प्रेस कॉपी तैयार करने के लिये श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्टने उन्हें पसन्द कर लिया। सर्व प्रथम श्री समयसारजी के प्रवचन लिखने का कार्य उन्हें प्राप्त हुआ।

उन दिनों पूज्य गुरुदेव के दैनिक प्रवचन लिखने का कार्य पूज्य बहनश्री-बहिन करती थीं।

एक दिन पूज्य बहिनश्री-बहिनने हरिभाई को आदेशरुप सूचना दी कि - हरिभाई, तुम गुरुदेव के प्रवचन लिखना सीख लो! इस प्रकार पूज्य बहिनों द्वारा प्राप्त आदेश से हरिभाई के उत्साह में वृद्धि हुई और प्रवचन लिखना प्रारम्भ किया।

उन्हें पूज्य बहिनश्री-बहिनका अतिशय लाभ मिलता था। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति की चर्चाएँ होती। प्रत्येक प्रसंग में हरिभाई पर पूज्य बहिनश्री-बहन की कृपादृष्टि रहती थी।

पूज्य गुरुदेव के आध्यात्मिक प्रवचनों को लिखकर एवं सरल भाषामें सुन्दर ढंग से लिपिबद्ध करके उन्होंने जो महान कार्य किया है वह सदा स्मरणीय रहेगा।

वि. संवत् २००० में मार्गशीर्ष शुक्ला दूजके दिन माननीय श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी (श्री दि. जैन स्वा. मंदिर ट्रस्ट के अध्यक्ष) द्वारा 'आत्मधर्म' (गुजराती) का प्रथम अंक

प्रकाशित हुआ। जिसके आप ३२ साल संपादक रहे। उनके द्वारा पूज्य गुरुदेव का अध्यात्म-सन्देश सारे देश में घर-घर फैलने लगा और देश के कोने-कोने से अनेक जिज्ञासुजन सोनगढ़ के प्रति आकर्षित हुए। इन्दौर निवासी सर सेठ हुकमचन्दजी, तथा कलकत्ता के श्री [illegible] जैसे अनेक महानुभाव 'आत्मधर्म' के द्वारा ही सोनगढ़ की ओर आकर्षित हुए थे। श्री सेठ साहब को ऐसा प्रमोद आया कि 'आत्मधर्म' का पच्चीस वर्ष का चन्दा एक साथ सोनगढ़ भिजवा दिया और 'आत्मधर्म' के हिन्दी प्रकाशन हेतु १००१ रुपये दिये। तत्पश्चात् आत्मधर्म का हिन्दी में प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। समय बीतने पर एक बार पूज्य गुरुदेव ने हरिभाई से कहा कि - देखो, हरिभाई, व्याख्यान में तो अनेक प्रकार की बातें आती हैं, परन्तु छपाने के लिये ढंग से संशोधन की छूट है। उन्होंने जो संशोधन किया हो उसे पूज्य गुरुदेव पढ़ जाते थे और प्रशंसा करते कि - ''मैं जो भाव कहना चाहता हूँ उन्हें बराबर उतारते हैं; हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढ़ने जाओगे तब भी ऐसा लिखनेवाला नहीं मिलेगा।''

सं. २००३ की फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा के दिन दो भाई ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेनेवाले थे, इसलिये पूज्य गुरुदेव ने हरिभाई को भी प्रेरणा दी और कहा कि - हरिभाई, यह संसार तो लक्कड़ के लड्डू हैं; देखने में अच्छे लगते हैं, किन्तु खाएगा वह पछताएगा। ऐसी पूज्य गुरुदेव की प्रेरणा मिलने से हरिभाईने भी फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा के दिन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेने का निर्णय पूज्य गुरुदेव के समक्ष प्रगट किया, तब पूज्य गुरुदेव ने प्रसन्नतापूर्वक फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन कहा - हरिभाई, तुम्हारा तो मोक्ष होना है - ऐसा मोक्ष का आशीर्वाद दिया था।

एक बार दोपहर को 'आत्मधर्म' (अंक-३००) पढ़ते-पढ़ते खड़े होकर पूज्य गुरुदेव का मन हरिभाई को धन्यवाद देने के लिये उनके कमरे में जाने का हो गया था। उस प्रसंग की स्मृति में श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट (सोनगढ़) के अध्यक्ष महोदय ने स्वर्णपदक दिया था।

'आत्मधर्म' के अतिरिक्त जैनधर्म सम्बन्धी १५० से अधिक सचित्र पुस्तकों का सरल, सुबोध और सादी भाषा में उन्होंने लेखन - संकलन किया है। उनका साहित्य समस्त जैन समाज में बाल, युवा एवं वृद्धों द्वारा बड़े चाव से पढ़ा जाता है। सोलापुर के एक विद्वान श्री कुलभूषणजी लोखंडे के शब्दों में कहें तो - ''पण्डित ब्र० श्री हरिलालजी एक गहन विचारक एवं अध्यात्म सम्बन्धी विषयों के सिद्धहस्त लेखक हैं।''

''जैनबालपोथी'' (सचित्र) अनेक भाषाओं में प्रकाशित हुई; उसकी करीब दो लाख प्रतियाँ छप चुकी हैं और उससे बालकों में जैनधर्म के गहरे संस्कार पड़े हैं। उस बालपोथी के उपलक्ष में श्री अखिल भारत दि० जैन मुमुक्षुमण्डल के अध्यक्षश्री की ओर से (दिल्ली में) उन्हें स्वर्णपदक दिया गया था और दूसरे भी तीन स्वर्णपदक अध्यात्म साहित्य द्वारा प्राप्त हुए थे।

यह प्राप्त होने में उपकारभूत तो पू. गुरुदेव ही हैं कि जिन्होंने मुमुक्षु के आत्म पदेशों में सर्वत्र आत्मसाधना की झंकार जागृत की है। 'जिन और निज' दोनों की प्राप्ति कराके उन्होंने हमारे लिये तो इस काल को भी 'धर्मयुग' ही बना दिया है। ऐसे गुरुके - 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' - उपकार को सज्जन नहीं भूलते। इस प्रकार पू. गुरु की छत्रछाया में जीवन बिताया। पूज्य गुरुदेव जहाँ-जहाँ विहार करते वहाँ साथ ही साथ होते थे।

प्रत्येक यात्रा में भी साथ ही रहते थे। पूज्य गुरुदेव द्वारा की गई तीर्थयात्राओं का वर्णन करती उनके द्वारा लिखी गई 'मंगल तीर्थयात्रा' पुस्तक तो सारे समाज में प्रसिद्ध है और आज भी उसकी माँग है।

पू. गुरुदेव का स्वास्थ्य पिछले तीन वर्ष से गिरने के कारण हरिभाई पू. गुरुदेव के पास प्रतिदिन दो घण्टे स्वाध्याय करते थे। गुरुदेव के साथ उनका स्वभाव मिल गया था। गुरुदेव कहते - 'हरिभाई, तुम यह बोलो - और हरिभाई भी जो गुरुदेव को प्रिय लगे वह सब ढूँढ़-ढूँढ़कर गुरुदेव को सुनाते थे और गुरुदेव खूब प्रसन्न होते थे। ज़ब गुरुदेव को बहुत दर्द होता था, तब पू. गुरुदेव को समयसार की जो गाथाएँ अति प्रिय लगती थीं वे बोलते थे और गुरुदेव भी दर्द को भूलकर स्वाध्याय की धुन में तल्लीन हो जाते थे।

ऐसा ही एक प्रसंग पूज्य गुरुदेव के अन्तिम दिनों में बम्बई के अस्पताल में बना।

सर्व प्रथम तो गुरुदेवने अस्पताल में जब हरिभाई का देखा कि तुरन्त बोले - तुम आ गये!! हरिभाई कहा - हाँ साहब, जीवनभर आपकी शरण में रहा और नाज़ुक स्थिति में आपसे दूर कैसे रह सकता हूँ? इस प्रकार उनके रोम-रोम में पू. गुरुदेव के प्रति भक्ति थी। और उसी दिन पूज्य गुरुदेव को भयंकर दर्द शुरु हुआ; उस समय हरिभाई वहाँ मौजूद थे। उन्होंने गुरुदेव की स्थिति देखकर तुरन्त ही समयसार की गाथाएँ '**छेदाव वा भेदाव**', '**हुं एक ज्ञायकभाव छुं**' - ऐसी कितनी ही गाथाएँ सुनाईं, जिनसे गुरुदेव दर्द को भूल गये और एकदम प्रसन्न चित्त से साथ-साथ बोलने लगे! यह दृश्य देखकर मुमुक्षुभाई ने उन्हें धन्यवाद भी दिया था। फिर तो वे अन्तिम समय तक गुरुदेव के पास ही रहे...और पूज्य गुरुदेव ने जब अन्तिम साँस ली तब तक हरिभाई के हाथ में पू. गुरुदेव का हाथ था।

पू. गुरुदेव का विरह होने पर उनकी स्मृति में अपने जीवन की शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग करने का संकल्प किया कि - ३८ वर्ष तक गुरुदेव द्वारा प्राप्त हुए तत्त्वज्ञान के महान भण्डार का, धर्मचर्चाओं तथा सूक्ष्म न्यायों का प्रकाशन करूँगा। और उस निर्णयानुसार पू. गुरुदेव के प्रथम समाधि दिवस पर उनके १०० वचनामृतों का संकलन करके '**हुं एक ज्ञायकभाव छुं**' (गुज.) पुस्तक सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। तत्पश्चात् प्रति वर्ष एक-एक पुस्तक प्रकाशित होती थी। महान शास्त्र श्री भगवती आराधना, आत्मसम्बोधन (योगसार पर पू. गुरुदेव के प्रवचन), भक्तामर स्तोत्र तथा चौवीस तीर्थंकरों का जीवनचरित्र-महापुराण जो कि अपार परिश्रमपूर्वक तैयार किया...और राजकोट शहर में पू. गुरुदेव की जन्मजयन्ती के अवसर पर उसका विमोचन हुआ। एक साथ चौवीस तीर्थंकरों का जीवन चरित्र सारे देश में और जैन समाज के तीनों सम्प्रदायों में प्रथम बार प्रकाशित होने से जिनके हाथ में आया, जैसे कि - स्व. श्री बाबूभाई महेता फतेपूर, श्री डॉ. हरिभाई पालनपुर, श्री नेमीचन्दजी पाटनी जयपुर आदि के धन्यवादपूर्ण पत्र श्री हरिभाई के पास आये थे।

उन्होंने धवल - जयधवल की स्वाध्याय दो बार, श्री समयसारजी शास्त्र की स्वाध्याय तो १०० बार, और कषाय-पाहुड के १५ वें भाग की स्वाध्याय तो अन्तिम दिन सायं ४ बजे पूर्ण हुई थी। अभी १६ वाँ भाग प्रकाशित नहीं हुआ था; इसलिये वे बड़े उत्साहपूर्वक कहते कि अरे, स्वर्ग में जाकर और वहाँ से गणधर देव के पास पहुँचकर अन्तर्मुहूर्त में बारहों अंग का श्रवण कर लूँगा। - ऐसा उनका जिनवाणीमय जीवन था।

पू. गुरुदेव की जन्मशताब्दी निकट होने से उन्हें सौ पुस्तकें प्रकाशित करने की तीव्र भावना थी। एक-दो पुस्तकों का संकलन तो कर भी लिया था; इतने में बम्बई से संघ श्रवणबेल गोला बाहुबलिजी की यात्रा हेतु जा रहा था, जिसमें पू. बहिन (श्री शांता बहिन) भी जा रही थीं; इसलिये उन्हें भी भगवान बाहुबलि के दर्शन करने की भावना हुई और यात्रा में गये। तीन बार चलकर यात्रा की अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक भगवान का अभिषेक तथा पूजनादि किये और अंत में आनन्दपूर्वक पोन्नूर की यात्रा करके लौटते समय मोरबी होकर सोनगढ़ आये।

पोष कृष्णा तृतिया की रात्रि; ९-४५ बजे जब उनके हृदय में दर्द हुआ तब मुमुक्षु भाइयों को बुलाकर कहा कि १५ मिनट में यह शरीर छूट जायगा। सबको आश्चर्य हुआ कि जिसका शरीर छूटने वाला हो वह व्यक्ति क्या ऐसा बोल सकता है!! तब किसीने कहा कि - डॉक्टर को बुला रहे हैं, आप दवा लेलो। हरिभाई बोले - मेरे तो सर्व प्रकार के प्रत्याख्यान हैं...अब डॉक्टर को बुलाने की जरूरत नहीं है...मेरा अन्तिम समय है...तुम सब शास्त्रस्वाध्याय करो; तब उपस्थित भाई-बहिन समयसार, योगसार आदि की अच्छी-अच्छी गाथाएँ बोलने लगे तो साथ-साथ वे स्वयं भी दर्दको भूलकर बोलने लगे...और मैं ज्ञायक हूँ..ज्ञायक हूँ..ऐसी धुन लगा दी। और जब अन्तिम क्षण निकट आने लगा तब दोनों हाथ जोड़कर बोले

पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार...अरिहंता शरणं पव्वज्जामि, सिद्धा शरणं पव्वज्जामि, साहूशरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णतो धम्मं शरणं पव्वज्जामि...तथा मैं अपने आत्मा की शरण में जाता हूँ।...और सचमुच मुमुक्षुओं की उपस्थिति में ठीक १० बजे शूरवीरतापूर्वक, आराधना पूर्वक, जागृतिपूर्वक एवं ज्ञायकदेव की धुन लगाते - लगाते मात्र ६३ वर्ष की आयु में इस नश्वर शरीर को छोड़कर स्वर्ग सिधारे।

इस प्रकार जिसने पू. गुरुदेव के शरण में जीवन बिताया, उसने समाधि भी पू. गुरुदेव की तपोभूमि में ही धारण की।

श्री हरिभाई आज हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु उनकी जो भावना १०००० चौबीस तीर्थंकर भगवन्त प्रकाशित करने की थी वह आज पूर्ण कर रहे हैं और हम सब भावना भाते हैं कि पू. गुरुदेव के सान्निध्य में निरंतर रहकर उन्होंने जीवन को उज्ज्वल बनाया था और वे शीघ्र पू. गुरुदेव के दिये हुए आशीर्वाद से उस पद को अल्पकाल में प्राप्त करें।

श्री कहान स्मृति प्रकाशन.

## श्री कहान-स्मृति प्रकाशन : प्रारम्भिक परिचय

### [गुजराती द्वितीय आवृति से]

वीर संवत् २५०७, मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी - जब पूज्य श्री कानजी स्वामी के जीवन के अन्तिम क्षणों में ब्र. श्री हरिभाई उनके पास ही उनका हाथ पकड़कर बैठे थे, और सोच रहे थे कि पू. गुरुदेव ने जीवन में अनेक प्रकार से आत्मलाभ दे-देकर कितने महान उपकार किये हैं; उसी स्थिति में पू. गुरुदेवका चिरवियोग हुआ...परन्तु वह वियोग स्वीकार करने के लिये हृदय तैयार नहीं था, क्योंकि उनके हृदय में तो गुरु शाश्वत विराजते थे; इसलिये उन्होंने तत्काल वहाँ बैठे-बैठे संकल्प किया कि जीवन की शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेव के स्मरणार्थ ही करूँगा; और तदर्थ गुरुदेव के सान्निध्य में ३८ वर्ष रहकर तत्त्वज्ञान का जो महान भण्डार, धर्मचर्चाएँ, सूक्ष्मन्याय, जातिस्मरण सम्बन्धी विदेहक्षेत्र की मीठी बातें, विविध प्रसंग और उनकी तस्वीरें, तथा स्वानुभवसहित विपुल जिनवाणी के अभ्यास द्वारा किया हुआ महत्त्वपूर्ण दोहन, आदि अचिन्त्य साहित्य का जो भण्डार उनके पास है उसे प्रकाशित करने का निर्णय किया। साथ ही साथ पुराणों में से खोजकर ऐसे सरल साहित्य के प्रकाशन का भी विचार किया जो बालकों को तथा प्राथमिक जिज्ञासुओं को उपयोगी हो।

गुरुदेव के उपकारों की स्मृति-हेतु साहित्य प्रकाशन की यह योजना सुनते ही श्री जगदीशभाई लोदरिया (ब्र० इन्दिराबहिन के भाई) ने भी प्रसन्नतापूर्वक सहयोग देना स्वीकार किया; खैरागढ़ निवासी श्री प्रेमचन्दजी जैन (ब्र० ताराबहिन-मैनाबहिन के भाई) ने, तथा मुंबई-कांदीवली से श्री सुरेशचन्द्र जे. मेहता (ब्र० हरिभाई के भतीजे) ने भी उत्साहपूर्वक इस योजना में सहयोग दिया। इस प्रकार प्रारंभ में ही उत्साहपूर्ण सहयोग मिल जाने से 'श्री कहान स्मृति-प्रकाशन' का प्रारम्भ हुआ, और एकके बाद एक सुन्दर पुस्तकों का प्रकाशन होने लगा। जिनमें यह 'चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण' एक अति महत्वपूर्ण प्रकाशन है।

कहान-स्मृति की यह योजना और उसमें होनेवाले प्रकाशन जिज्ञासु-साधर्मियोंको बहुत पसन्द आये और सबने भक्तिपूर्वक तन-मन-धनसे सहयोग दिया। सोनगढ़ साहित्य विभाग के अध्यक्ष माननीय श्री खीमचन्दभाई जे. सेठने, तथा मुंबई मुमुक्षु मण्डल के अध्यक्ष श्री चिमनलाल हिंमतलाल शाहने भी उल्लसित भाव से सर्व प्रकार का सहयोग देकर प्रोत्साहित किया। इस प्रकार जिनवाणी प्रचार की हमारी योजना साधर्मीजनों के सुन्दर सहयोग से भलीभाँति सफल हुई और प्रकाशित साहित्य यथाशक्य कम मूल्य में दे सके। मात्र सस्ता साहित्य नहीं, किन्तु 'सस्ता और ऊँचा साहित्य' - यह इस योजना की विशेषता रही। अभी तो अच्छे से अच्छा सुन्दर विपुल साहित्य हमारे पास प्रकाशनार्थ तैयार है। जिज्ञासुओं के सहयोग से जैसे होगा वैसे यथाशीघ्र उसे प्रकाशित करेंगे।

★ इस समग्र पुस्तक का आलेखन श्री तीर्थंकर भगवानों के प्रति अत्यन्त भक्तिपूर्वक, वीतरागता की भावना से, भगवान सर्वज्ञदेव को, परम गुरुओं को तथा जिनवाणी माता को हृदय में विराजमान रखकर, उनके उपदेशानुसार ही किया है; उसमें स्वानुभूति की साक्षी है; तथापि क्षयोपशम-दोष से कहीं भूल-चूक हुई हो तो जिनवाणी माता मुझे क्षमा करके मुझ पर प्रसन्न होओ और मुझे पूर्णबोधिका उत्तम वरदान दो।

★ यह महापुराण तैयार करने में प्रत्यक्ष ज्ञानीजनों का उपदेश, जिनसेन और गुणभद्रस्वामी का महापुराण (आदिपुराण, उत्तरपुराण) आदि भिन्न-भिन्न ८० जितने पुराण तथा षट्खण्डागम, धवला, जयधवला, समयसारादि ६० जितने विविध शास्त्रों का अवलम्बन लिया है। भिन्न-भिन्न पुराणों में

भिन्न-भिन्न शैलियाँ आती हों वहाँ उनमें जो अधिक श्रेष्ठ पद्धति लगी उसे अपनाया है। शृंगारिक अलंकार-वर्णनों के बदले आध्यात्मिक चर्चाओं तथा धार्मिक अलंकारों का उपयोग किया है।

★ केवलज्ञान होने से पूर्व भी उस जीवको 'भगवान का जन्म हुआ, भगवान ने दीक्षा ली' -ऐसा कहा जा सकता है; एक तो उस जीव में आराधकभाव एवं तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता के लिये भगवानपना - महिमावन्तपना वर्तता है तथा द्रव्यनिक्षेप से वह जीव 'भगवान' है - भगवानपने की क्रिया उसमें प्रारम्भ हो चुकी है।

मुक्त हुए भगवान पुन: संसार में अवतरित नहीं होते - यह सच है, परन्तु द्रव्यनिक्षेप रुप भगवान तो अवतरित होते हैं; इसलिये एक स्तुतिकार कहते हैं कि - अहो, द्रव्यरुप जिनराजका अवतार भी इतना महिमावन्त है, तब भावरुप जिनराज के अवतार का (केवलज्ञानी परमात्मा का) तो क्या कहना?

इसलिये योग्य विवक्षा से शास्त्रानुसार समझना चाहिये। गृहस्थदशा में तीर्थंकर के आत्मा को 'भगवान' - ऐसे सम्बोधन का निषेध करना उचित नहीं है।

★ पुराणों का प्रयोजन जीवों की उलझन मिटाकर उन्हें मोक्षमार्ग में उत्साहित करना है। भिन्न-भिन्न पुराणों में सूक्ष्म विवरणों में कहीं मतभेद हो तो उसे मुख्य न करके उसके मूल प्रयोजन पर लक्ष देना चाहिये। जैसे - (१) नेमिप्रभु का जन्म शौरीपूर में हुआ अथवा द्वारिका में? (२) सुविधिनाथ आदि तीर्थंकरों के अवतार से पूर्व कुछेक समय धर्मविच्छेद कहा और उसी काल में मुनिवरों का आगमन बतलाया; (३) किन्हीं-किन्हीं तीर्थंकरों के जन्मादि की तिथियों में विभिन्नता आती है...परन्तु इस प्रकार के वर्णनों में ज्ञानवैराग्य की पुष्टि से ऐसी शैली में प्रसंगों का संकलन किया है। सर्व प्रसंगों में मुख्य प्रयोजन समान होने से ऐसे विवरण में कहीं मतभेद बाधक नहीं होते।

## महापुरुषों का पुराण शौर्य जागृत करता है

पुराणकार आचार्य कहते हैं कि - आत्मा के परम पराक्रमपूर्वक घोर उपसर्गोंपर भी विजय प्राप्त करके मोक्षसाधक तीर्थंकारादि महाशौर्यवान पुरुषों के जीवन चरित्र सुनने से निर्बल जीवों में भी मोक्षसाधने की शूरवीरता जागृत हो उठती है। इसलिये हे भव्यजीवों! तुम तीर्थंकरादि के इस पुराण को उत्साहपूर्वक पढ़ो - सुनो! वीतराग पुरुषों का पुराण - वह मात्र कथा नहीं है, उसमें चारों अनुयोग भरे हैं और मोक्षमार्ग बतलाया है।

श्री जिनदेव की वाणी में चारों अनुयोग का समावेश होने पर भी उसमें वीतरागता का ही प्रयोजन है। कथानुयोग वह मात्र कथा नहीं, उसमें सूक्ष्म द्रव्यानुयोग एवं स्वानुभूति की चर्चाएँ यत्र-तत्र भरी हुई हैं, उसमें वीतराग पुरुषों के उत्तम आचरणरुप चरणानुयोग का भी निरुपण है। उसमें गुणस्थान, मार्गणास्थानरुप करुणानुयोग का भी समावेश है और सम्यक्त्वादि की तथा चारित्र प्राप्ति की प्रेरणा बारम्बार दी है; इसलिये उसका अभ्यास सर्व जीवों को आनन्दकारी है।

हे जीव! जीवन के अटपटे प्रसंगों में उलझन हो तब क्या करना?

तब, श्री तीर्थंकर भगवन्तों के जीवन का स्मरण करना और उन्हें साथी बनाना। उन अरिहंत और सिद्ध भगवन्तों ने मोक्ष के लिये क्या किया? उन्होंने आत्मा में क्या रखा और क्या छोड़ा? उसका विचार करके तु भी तदनुसार करेगा तो तेरी कहीं भूल नहीं होगी, उलझन मिट जायगी, तेरा चित्त शांत होगा और सुगमता से मोक्ष की साधना होगी। तुझे बहुमान आयगा कि- वाह! धन्य है उन महात्माओं का ज्ञानमय वीतरागी जीवन!

★ भगवान महावीर आदि तीर्थंकर महान विजेता थे। यह एक अजब आश्चर्यकारी बात है कि - वर्तमान में कितने ही देशों के पास अपार धन-वैभव एवं बाह्य सुविधाएँ होने पर भी वे देश भी हमारी ओर दृष्टि लगाकर बैठे हैं, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्हें निर्धनता का अनुभव होता है। भारत ने

विश्वको सदा अध्यात्मविज्ञान दिया है। महाविजेता महावीरने हमें यह उपदेश दिया हैं कि - परस्पर लड़ो नहीं; लड़ना ही है तो अपने अंतर के दोषों से लड़ो, अपने अंतर को झकझोरो! सुख-समृद्धि और शान्ति अपने अंतर में ही मिलेगी, अन्यत्र नहीं। ऐसी अन्तर्मुखता ही भारतीय जैन संस्कृति की महान देन है...उसका हमें गौरव है।

★ अहा, जिन तीर्थंकरों का भव्य जीवन मुमुक्षु के आत्मप्रदेशों में सर्वत्र आत्मसाधना की झंकार जागृत करती है ऐसे तीर्थंकर भगवन्तों का स्वरुप हमें पूज्य श्री कहान गुरु ने बतलाकर महान उपकार किया है। 'जिन' और 'निज' दोनों की प्राप्ति कराके उन्होंने हमारे लिये तो इस काल को भी 'धर्म युग' ही बना दिया है। धर्म के गौरवपूर्वक हम कह सकते हैं कि हम एक तीर्थंकर के पूर्वभव में उनके साथ रहते थे और मोक्ष की साधना करते थे। तीर्थ और तीर्थंकर दोनों की प्राप्ति का कैसा सुन्दर सुयोग!

★ हे सीमंधर भगवान, महावीर भगवान, कुन्दकुन्दस्वामी आदि पंचपरमेष्ठी भगवन्तो! आपका परम उपकार है, आपका मंगल जीवन हमारे लिये आदर्श है तथा आपका वीतरागी शासन कल्याणकारी है। महान उपकार है - मंगलमूर्ति कहान गुरु का - कि जिन्होंने तीर्थंकर भगवंतों की परम महिमा बतलाकर उन भगवन्तों द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग की आराधना करने की रीति बतलायी, और जिनकी मंगल छाया में इस महापुराण की रचना का प्रारम्भ हुआ। तथा उपकार है हमारी धर्ममाता का...कि जिन्होंने परम वात्सल्य से मुझे आत्मिक उत्साह दिया और धर्मका अमृतपान कराके तृप्त किया। सर्व साधर्मी जनों, स्वजन मुमुक्षु भाई-बहिनों के प्रति भी धन्यवाद के साथ आभार व्यक्त करता हूँ कि -जिन्होंने तन-मन-धन से भक्तिपूर्वक इस महापुराणका महा कार्य सम्पन्न करने एवं जिनवाणी के प्रचार में मुझे सहयोग दिया।



'हे माता! तुम्हारी किंचित् सेवा का भी महान वीतरागी बदला तुम तो मुझे सदा देती रही हो। मेरे पास जैन धर्म का जो भी कुछ वैभव है वह सब तुम्हींने मुझे दिया है। बस, ''तुम मेरी माता और मैं तुम्हारा पुत्र! हे माँ, इससे अधिक तुम्हारा क्या उपकार मानूँ!''

जिनवाणी को जिसने अपनी सच्ची मात बनाई,
फिर नहीं करनी पड़ती उसको दूजी माता कोई।

★ परम उपकारी पू. कहान गुरुदेव की स्मृति में 'श्री कहान स्मृति-प्रकाशन' द्वारा भगवन्तों का यह महापुराण जैन जगत् के साधर्मियों के हाथ में देते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता होती है।

''चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण'' गुजराती भाषा में उनकी एक भव्य रचना है; वर्तमान में प्राप्त लगभग समस्त जैन पुराणों का अध्ययन करके, कई वर्षों तक परिश्रम करके उन्होंने इस महापुराण का संकलन किया है। वे कहते हैं - जैनधर्म के कथानुयोग सम्बन्धी अपने जीवन का एक

महान कार्य इस पुराण द्वारा पूर्ण होता है। हजारों-लाखों जीव इस पुराण से अपने तीर्थंकर भगवन्तों की महिमा जानेंगे और उनके जीवन से आत्मसाधना की उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त करेंगे। इस पुराण की रचना का आरम्भ पू. श्री कहान गुरु की विद्यमानता में हुआ था; आज उसकी पूर्णता के अवसर पर उनका स्मरण होने से भावुकतावश हृदय भर आता है।

अहो, तीर्थंकर भगवन्तो! आपके उत्तम जीवन का ज्यों-ज्यों गहराई से अध्ययन करते हैं त्यों-त्यों आश्चर्यकारी आत्मसाधना से भरपूर आपके जीवन की विशेषताएँ हमें आनन्दित करती हैं। हे देव! हमें भी आप ही जैसे एक भावी तीर्थंकर का जीवन प्रत्यक्ष देखने का, तथा उनके साथ रहकर आत्मसाधना करने का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ है; इसलिये आपके जीवन के प्रति हमें विशेष प्रमोद एवं बहुमान जागृत होता है। वास्तव में, तीर्थंकर के साथ रहनेवाले जीवों का भविष्य भी तीर्थंकर भगवान जैसा महान उन्नतिगामी होता है। - यह बात अनुभवगम्य है।

(१) भगवान महावीर के मोक्षगमन के पश्चात् तीन केवली, पाँच श्रुतकेवली तथा श्रुतधर आचार्य आदि की अब तक की परम्परा तथा उन समस्त महापुरुषों के जीवन परिचय भी इस महापुराण में देने की हमारी भावना थी; तथा

(२) भगवान महावीर का 'इष्ट-उपदेश' सम्बन्धी एक विशेष महा-प्रकरण देने का भी आयोजन था - जिसकी रुपरेखा में पू. गुरुदेवने स्वयं महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन दिया था;

(३) वर्तमान में उपलब्ध समस्त श्रुतज्ञान-जैनसाहित्य का परिचय तथा उसमें वर्णित विषयों का विवरण देने की भी भावना थी।

(४) इस महापुराण के लिये लिखे गये अन्य अनेक प्रकरण, विशाल तत्त्वचर्चाएँ आदि को भी रोक लेना पड़ा है।

इस प्रकार पुस्तक का आकार बढ़ जाने के डरसे तथा हमारे सीमित साधनों के कारण उपरोक्त सामग्री इसमें नहीं दे सके। भविष्य में यदि वह सारा साहित्य प्रकाशित हुआ तो जैन समाज को अति उपयोगी होगा। यों तो, भगवान महावीर के शासन की धर्मपरम्परा २१००० वर्ष तक चलना ही है; जिसमें अनेक धर्मात्मा होते रहेंगे और भरतक्षेत्र के भव्य जीव वीरमार्ग में अपना कल्याण करेंगे।

★ इस पुस्तक में चित्रों आदि की रुपसज्जा भी हम अपनी भावनानुसार नहीं कर पाये, किन्तु यत्किंचित् दे सके हैं, तथापि वह भी पाठकों को पठन में रसप्रद होकर धार्मिक उत्साह जागृत करेगी।

★ इस महान पुस्तक में तथा अभी तक के हमारे प्रकाशनों में, भक्तिपूर्वक जिनवाणी के प्रचारार्थ जिन्होंने तनसे, मनसे, धनसे, ज्ञानसे जिस-जिस प्रकार से सहयोग दिया है उन समस्त साधर्मियों के प्रति धन्यवादपूर्वक हम उनके आभारी हैं। भारत के उपरान्त विदेश में निवास करनेवाले साधर्मी जिज्ञासुओं ने भी ज्ञानप्रभावना के इस कार्य में अपना उत्साह दिखलाया है।

★ महापुराण की प्रथमावृत्ति में जो अल्प त्रुटियाँ रह गई थीं वे इस द्वितीया वृत्ति में सुधार ली गई हैं; अन्य सब प्रथमावृत्ति के अनुसार ही है।

जैन समाज में सर्वत्र वीतरागता का आनन्दमय वातावरण फैले, और अपने सर्वमान्य तीर्थंकर भगवन्तों की विशाल छत्रछाया में हम सब परस्पर वात्सल्यभावपूर्वक आत्महित के मार्ग में प्रगति करते हुए जैन शासन को अर्थात् अपने जीवन को सुशोभित करें - ऐसी हार्दिक भावनासहित-

卐 त्रिकालवर्ती तीर्थंकर भगवन्तों को नमस्कार हो! 卐

अध्यक्ष

श्री कहानस्मृति प्रकाशन

# प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा प्रवाहित आध्यात्मिक क्रान्ति के अन्तर्गत आदरणीय पण्डित श्री ज्ञानचंदजी विदिशा के शुभ हस्ते खैरागढ़ में अखिल भारतीय जैन युवा फेडरेशन की शाखा का गठन २६ दिसम्बर १९८० को हुआ था, जब से आज तक फेडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के द्वारा अवश्यमेव हो रही है।

प्रमुख गतिविधियाँ :

१. श्री वीतराग विद्यालय
२. श्री वीतराग ग्रन्थालय
३. श्री वीतराग केसेट-लायब्रेरी
४. श्री सत्साहित्य विक्रय केन्द्र
५. स्वाध्याय - पूजन - भक्ति - गोष्ठी - यात्रा - अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रम
६. श्री सत्‌हित्य प्रकाशन

इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से जैन धर्म की कहानियाँ के नाम से लगभग १० भाग निकालने की योजना है। अब तक जैन धर्म की कहानियाँ भाग ४ तक एवं लघु जिनवाणी - अनुपम संकलन प्रकाशित हुए है। अब यह छठवाँ पुष्प श्री चौवीस तीर्थंकर महापुराण अनेक जैन पुराणों के आधार-चारों अनुयोगों का सार एवं अध्यात्म शैलि में संकलित आप के सामने प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रकाशन के कार्य को निरंतरता प्रदान करने हेतु सन् १९८८ में श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई थी, इस ग्रन्थमाला के संरक्षक सदस्य बनने हेतु जो महानुभव १००१ रू. राशि प्रदान करते है, उनका नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिया जाता है, तथा पुस्तक भी भेंट स्वरूप भेजी जाती है।

आभार प्रदर्शन :

इस चौवीस तीर्थंकर भगवान के महापुराण के मूल गुजराती लेखक स्व. ब्रम्हचारी श्री हरिलाल जैन है, जिन्होंने सरल, सुबोध शैली में कथाओं के माध्यम से आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का अमृतपान कराया, हम उनका हृदय से आभार मानते हुये वन्दन करते है।

कथाओं की मूल भाषा गुजराती होने से हिन्दी में अनुवाद श्री मगनलालजी जैन अस्वस्थ होते हुये भी पूर्ण किया एवं मुद्रण का सम्पूर्ण कार्य सुमति प्रीन्टींग प्रेस, सोनगढ़ ने अत्यन्त परिश्रम के साथ अल्प समय में किया। अतः हम दोनों का हृदय से आभार मानते हैं।

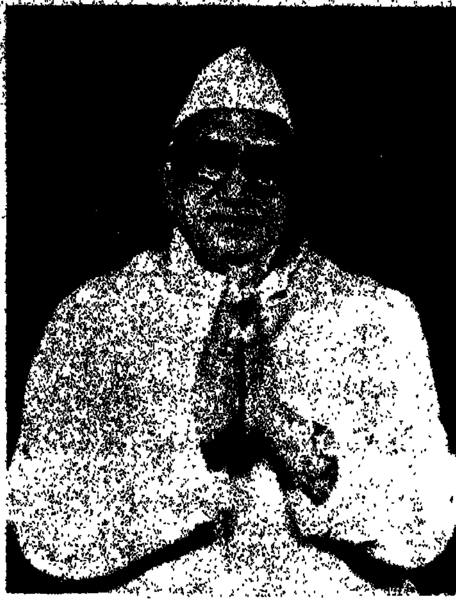
साहित्य प्रकाशन फण्ड एवं संरक्षक सदस्य के रूप में जो सहयोग राशि जिन महानुभावों की प्राप्त हुई है उस सबका हार्दिक अभिवादन करते हुए ऐसी आशा करते हैं कि वे हमें भविष्य में भी उसी प्रकार सहयोग एवं प्रेरणा देते रहेंगे।

पाठक वृन्द से प्रार्थना है कि - अपने २४ तीर्थंकर भगवंतो की महिमा, पूर्वभवो, उनकी की हुई आत्म साधना और परमात्मा होकर दिया हुआ वीतरागी मोक्षमार्ग का उपदेश इन सभी का सुन्दर वर्णन इस महा पुराण में भरा है, ऐसा यह भागवत पुराण साधर्मियों के हाथ में अर्पण करते हुए उसके स्वाध्याय द्वारा आत्महित का लाभ प्राप्त हो ऐसी मंगल भावना है।

विनीत

अध्यक्ष
मोतीलाल जैन

साहित्य प्रकाशन प्रमुख
प्रेमचंद जैन



श्री खेमराज गिड़िया



श्रीमति घुड़ीबाई गिड़िया

जिनके विशेष आशीर्वाद व सहयोग से ग्रन्थमाला की स्थापना हुई तथा जिसके अन्तर्गत प्रति वर्ष धार्मिक साहित्य प्रकाशित करने का कार्यक्रम सुचारू रूप से चल रहा है, इस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं:-

**जन्म :** सन् १९१९ चांदरख (जोधपुर), पिता-श्री हंसराज जैन माता-श्रीमती मेहंदीबाई

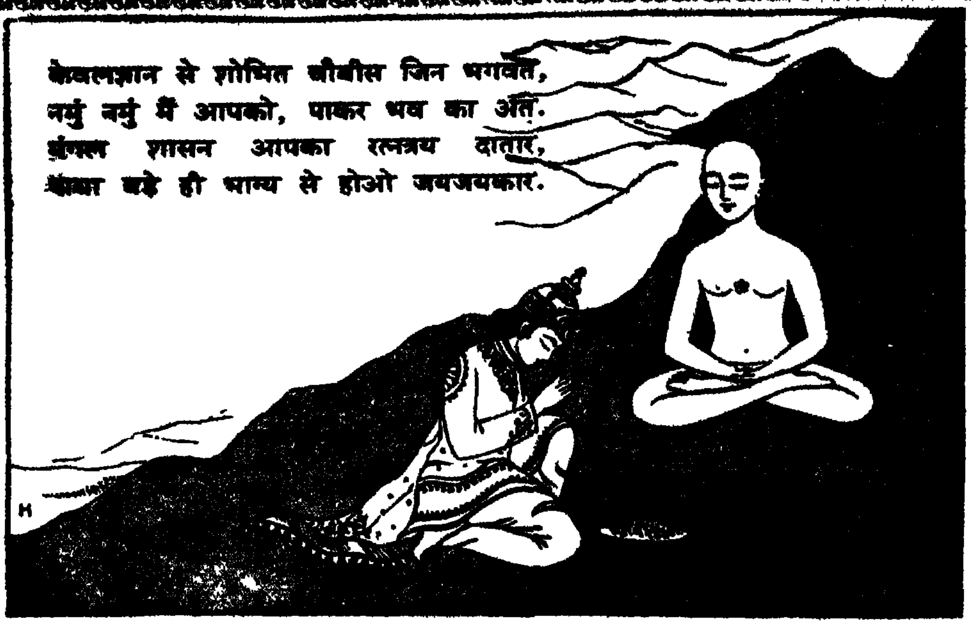
**शिक्षा-व्यवसाय :** माध्य. प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर, १२ वर्ष की उम्र से ही व्यवसाय में लग गए।

**सत् समागम :** सन् १९४० में पूज्य श्री कानजी स्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

**ब्रम्हचर्य प्रतिज्ञा :** मात्र ३४ वर्ष के उम्र में सन् १९५३ में. पू. स्वामीजी से सोनगढ़ में ब्रम्हचर्य प्रतिज्ञा ली।

**परिवार :** आप के ४ पुत्र एवं २ पुत्रियां कु. ताराबेन, मैनाबेन दोनों मात्र १८ वर्ष, २० वर्ष की उम्र में ही अजीवन ब्रम्हचर्य की प्रतिज्ञा लेकर सोनगढ़ कोही अपना स्थायी निवास बना लिया।

**विशेष :** भावनगर पंच कल्याणक में भगवान के माता-पिता बनें। सन् १९५९ में खैरागढ़ जिन मन्दिर निर्माण एवं पु. गुरुदेवश्री के शुभ हस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग, सन् १९८२ में २५ दिवसीय ७० यात्रियों सहित दक्षिण यात्रा संघ एवं अनेक सामाजिक कार्य के साथ अब व्यवसाय से निवृत होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्मसाधना में बिताते हैं।




# हमारे भगवान...चौबीस तीर्थंकर

हे ऋषभादि महावीर चौबीस तीर्थंकर भगवन्त! हमें आज महान आनन्द हो रहा है कि आपका मंगल जीवन हमारे हाथ में आया है। इस पुराण द्वारा मानों आप ही साक्षात् हमारे सन्मुख पधारे हैं। आराधना से सुशोभित आपका मंगलजीवन हमें भी आत्माकी आराधना के प्रति प्रेरित करता है। आपका वीतरागी जीवन सचमुच महान है - उच्च है। जैनधर्म के संस्कारों से प्रारम्भ होकर अन्तिम परमात्मपद तक के आपके जीवन के अनोखे प्रसंग पढ़कर हमारे अंतर में भी ऐसे परमात्मपद की साधना के भाव जागृत हो उठते हैं।

प्रभो! रागरहित शुद्धचेतना से सुशोभित आपके शुद्धात्मदर्पण में अपने शुद्धात्मा को देखकर, उसके चिंतनपूर्वक मैं आपके इस जीवनचरित्र का स्वाध्याय प्रारम्भ करता हूँ उसके द्वारा मुझे भी आपके जैसा शुद्धात्मजीवन प्राप्त हो।



# हमारे भगवान चौबीस तीर्थंकर

साधर्मी बन्धुओं!

महाभाग्य से श्रीगुरु के प्रताप से हमें २४ तीर्थंकर भगवन्तों का शासन मिला है। अपने भारत देश का यह महान गौरव है कि चौवीस तीर्थंकरों का अवतार हमारी भारत भूमि में ही हुआ है। उन तीर्थंकर भगवन्तों के आत्माने पूर्वभवों में जैनधर्म के संस्कार कब प्राप्त किये और फिर आत्मज्ञान करके सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मसाधना में आगे बढ़ते-बढ़ते किस प्रकार परमात्मा हुए! वह सब हमें उनके जीवन से सीखने को मिलता है। इसलिये अत्यन्त भावपूर्वक तीर्थंकर भगवन्तों के जीवन का अध्ययन करना चाहिये।

२४ तीर्थंकरों में सर्व प्रथम भगवान ऋषभदेव हैं; असंख्य वर्षों पूर्व जैनधर्म का उपदेश देकर उन्होंन इस भरतक्षेत्र में मोक्ष का द्वार खोला। उन भगवान ऋषभदेवने दस भव पूर्व जैनधर्म के संस्कार प्राप्त किये थे, तब से प्रारम्भ करके, वे परमात्मा हुए तब तक के दस भवों का उनका सुन्दर चरित्र यहाँ कहते हैं, उसे आनन्द से पढ़कर उसमें से धर्म की प्रेरणा प्राप्त करना।




## पूर्व भव [१]

# महाबल राजा का भव और जैनधर्म के संस्कार

भगवान श्री आदिनाथ तीर्थंकर को नमस्कार करके उनके दस अवतारों का पवित्र जीवनचरित्र प्रारम्भ होता है। अनादि स्वयंसिद्ध ऐसे इस लोक के बीच मध्यलोक है; असंख्यात द्वीप-समुद्रों से शोभायमान इस मध्यलोक के बीच में जम्बूद्वीप है और जम्बूद्वीप के मध्य में मेरुपर्वत शोभायमान है।

मेरुपर्वत के पूर्व और पश्चिम में 'विदेहदेश' है; वहाँ से मुनिवर कर्मरूपी मलिनता को नष्ट कर के सदा विदेह (देहरहित - सिद्ध) होते रहते हैं; इसलिये उसका 'विदेह' नाम सार्थक है। उन विदेहदेशों में तीर्थंकर देव सदैव विद्यमान होते हैं, इसलिये वहाँ सदा जैनधर्म वर्तता है।

ऐसे पश्चिम-विदेह की एक अलकापुरी नामक नगरी में अतिबल नाम के विद्याधर राजा थे। एक दिन वैराग्य आने पर, अपने पुत्र महाबल राजा को राज्य सौंपकर उन्होंने जिन दीक्षा धारण कर ली।

### यह 'महाबल' वही अपने चरित्रनायक ऋषभदेव का जीव

राजा महाबल के चार मंत्री थे - महामति, संभिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध उनमें स्वयंबुद्ध। मंत्री शुद्ध सम्यग्दृष्टि थे और शेष तीनों मंत्री मिथ्यादृष्टि थे।

एक दिन महाबल राजा के जन्मदिन का उत्सव मनाया जा रहा था। उस समय सभामण्डप में राजा को अति प्रसन्न देखकर महाबुद्धिमान स्वयंबुद्ध मंत्रीने उसे जैनधर्म का उपदेश दिया और कहा कि - 'हे राजन्! यह राजलक्ष्मी आदि वैभव तो मात्र पूर्व पुण्य का फल है; इह भव और पर भव में आत्मा के हित हेतु आप जैनधर्म का सेवन करें।'

स्वयंबुद्ध मंत्री की यह बात सुनकर अन्य तीन मिथ्यादृष्टि मंत्रियों में से एकने कहा कि -

परलोकादिकुछ है ही नहीं; दूसरे ने कहा कि - आत्मा स्वतंत्र तत्त्व ही नहीं है, वह तो संयोगी क्षणिक वस्तु है; और तिसरे ने कहा कि - सारा जगत शून्यरुप है, आत्मा आदि कुछ है ही नहीं।

परन्तु स्वयंबुद्ध मंत्रीने अनेक युक्ति एवं दृष्टान्तों द्वारा आत्मा का अस्तित्व, परलोक का अस्तित्व, आत्मा के अच्छे-बुरे भावों का फल आदि सिध्द कर दिया; और इस प्रकार जैनधर्म की अतिशय महिमा प्रगट की।

स्वयंबुद्ध के युक्तिपूर्ण वचनोंसे समस्त सभासदों को विश्वास हो गया कि जैनधर्म ही वास्तविक है। इसलिये सभाजनोंने तथा महाबल राजाने भी प्रसन्न होकर स्वयंबुद्ध मंत्री की प्रशंसा की।

एक बार वे स्वयंबुद्ध मंत्री मेरूपर्वत की यात्रा करने गये; वहाँ शाश्वत जिनमन्दिर देखकर उन्हें बडा आनन्द हुआ, और उनमें विराजमान रत्नमय जिनबिम्बों को नमस्कार करके पूजा की; फिर कुछ देर वहाँ बैठकर आत्मगुणों का चिंतन करने लगे। इतने में दो मुनिवर वहाँ आये। वे युगंधर तीर्थंकर के समवसरणमें से आये थे। मंत्रीने अतिशय भक्ति से प्रणाम करके पूछा "हे भगवन! आप अवधिज्ञानरुपी नेत्र द्वारा जगत को जाननेवाले हैं इसलिये मैं अपने मन की बात आपसे पूछता हूँ। हे स्वामी! कृपा करके बतलायें कि हमारे राजा महाबल भव्य हं या अभव्य? वे जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररुपित सत्यमार्ग का सम्यक् श्रद्धान करेंगे या नहीं?"



मंत्री के इस प्रकार पूछने पर आदित्यगति नाम के अवधिज्ञानी मुनिराजने कहाँ: 'हे भव्य! तुम्हारे राजा भव्य ही हैं, वे जैनधर्म का श्रध्दान करेंगे; इतना ही नहीं, दसवें भव में वे तीर्थंकरपद प्राप्त करेंगे; इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की आगामी चौबीसी में वे ऋषभदेव नामके प्रथम तीर्थंकर होंगे।'

और हे मंत्री! उनके पूर्वभवकी बात भी सुनो: 'इन राजा महाबल ने पूर्वभव में भोगो की इच्छा के साथ-साथ धर्म के बीज बोये थे। पूर्वभव में वे विदेह क्षेत्र में जयवर्मा के नाम राजपुत्र थे। श्रीवर्मा उनका छोटा भाई था; वह श्रीवर्मा प्रजा में अत्यन्त प्रिय था, इसलिये राजा ने उसे राजपाट सौंप दिया और जयवर्मा बड़ा होने पर भी उनकी उपेक्षा की। इससे जयवर्मा एकदम विरक्त हो गया और अपने भाग्य को कोसते हुए स्वयंप्रभगुरू के निकट दीक्षा लेकर तप करने लगा। एकबार विद्याधर की विभूति देखकर उसने ऐसा निदान किया कि मुझे भी आगामी भव में विद्याधरों का ऐसा महान वैभव प्राप्त हो। वह ऐसा विचार कर रहा था इतने में एक भयंकर सर्प ने आकर उसे काट लिया, और भोग की इच्छापूर्वक मर कर यह महाबल विद्याधर हुआ है। पूर्व संस्कार के कारण वह अभी तक भोगों में आसक्त रहा है, परन्तु हे मंत्री! अब तुम्हारा उपदेश सुनकर वह तुरन्त ही भोगोंसे विरक्त होगा।

'और हे मंत्री! सुनो! आज ही तुम्हारे राजाने दो स्वप्न देखे हैं; पहले स्वप्न में उसने ऐसा देखा है कि तीन दुष्ट मंत्रियों ने उसे बलातपूर्वक भारी कीचड़ में फँसा दिया है; परन्तु तुम उसे कीचड़ में

से बाहर निकालते हों और सिंहासन पर बिठाकर उसका अभिषेक करते हो। दूसरे स्वप्न में राजाने अग्नि की तीव्र ज्योति को क्षण-क्षण क्षीण होते देखी है। यह दोनों स्वप्न देखकर वह राजा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। कुछ पूछने से पूर्व ही तुम्हारे मुहँ से दोनों स्वप्न और उनका फल सुनकर वह राजा आश्चर्यचकित होगा और वह निस्सन्देह तुम्हारे वचनों को स्वीकार करके जैनधर्म में अतिशय प्रीति करेगा। उसने जो पहला स्वप्न देखा है वह उसके आगामी भवकी स्वर्गकी विभूति का सूचक है और दूसरा स्वप्न ऐसा सूचित करता है कि अब उसकी आयु एक मास की शेष है। इसलिये हे भद्र! उसके कल्याणार्थ तुम शीघ्र प्रयत्न करो।'-ऐसा कहकर स्वयंबुद्ध मंत्री को आशीर्वाद देकर वे दोनों मुनिवरों आकाश मार्ग से विहार कर गये।

मुनिवरोंके वचन सुनकर स्वयंबुद्ध मंत्री शीघ्र ही महाबल राजा के पास आया। राजा स्वप्नों की ही चिन्ता ही में था, इतने में मंत्रीने उसके दोनों स्वप्न तथा उनके फल की बात कह सुनायी और जिनधर्म के सेवन का उपदेश दिया कि - हे राजन्! जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा हुआ धर्म ही समस्त दुःखों की परम्परा का छेदन करने वाला हैं, इसलिये उसीमें अपनी बुद्धि लगाओ और उसका पालन करो; क्योंकि अब आपकी आयु मात्र एक मास की शेष हैं।

स्वयंबुद्ध मंत्री की बात सुनकर राजाको आश्चर्य हुआ और अपनी एक मास आयु शेष जानकर उस बुध्दिमान राजाने धर्म भावना में अपना चित्त लगाया। राज्य छोड़कर वह सिध्दकूट-चैत्यालय में पहुँचा और वहाँ सिध्द प्रतिमा का पूजन करके संन्यास धारण किया, स्वयंबुद्ध मंत्री को निर्यापक - आचार्य बनाकर प्रायोपगमन संन्यास धारण किया और सुखपूर्वक प्राण छोड़कर दूसरे ईशान स्वर्ग में श्रीप्रभ विमान में ललितांग नामक देव हुआ।

## (२)

# ऋषभदेव : अवतार दूसरा : ललितांगदेव



ऋषभदेव का जीव, महाबल राजा का भव पूर्ण करके ईशान स्वर्ग में ललितांग देव हुआ। देवलोक की विभूति देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया कि यह क्या! मैं कौन हूँ! और यह सब कौन हैं जो मुझे नमस्कार कर रहे हैं! क्षणभर वह विचार में पड़ गया कि मैं यहाँ कहाँ आ गया? कहाँ से आ गया? ऐसा चिंतवन करते ही उसे तत्क्षण अवधिज्ञान प्रगट हुआ और उसके द्वारा उसने अपना पूर्व भव तथा स्वयंबुद्धमंत्री आदि के प्रसंग जान लिये।

स्वर्ग में ललितांगदेव की जब अल्प पल्य की आयु शेष रही तब उसे स्वयंप्रभा नाम की एक देवी प्राप्त हुई; वह उसे अत्यन्त प्रिय थी। उसके साथ ललितांग कभी मेरु पर्वत के नंदनवन में, कभी विजयार्द्ध पर्वत पर, कभी रुचकगिरी-कुण्डलगिरि पर्वतों पर, कभी मानुषोत्तर पर्वत पर, तो कभी नन्दीश्वरद्वीप के रत्नमय जिनबिम्बों के दर्शन करने जाता था। इस प्रकार उसने स्वर्ग में दीर्घकाल व्यतीत किया।

एक बार अचानक ललितांगदेव के आभूषण निस्तेज हो गये, माला कुम्हला गई, उसके विमान के कल्पवृक्ष काँपने लगे। इन चिन्हों से अपना मरणकाल निकट जानकर वह देव भयभीत हो गया और शोक करने लगा; क्योंकि अभी उसे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ था। तब स्वर्ग के अन्य देवों ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा कि हे देव! पुण्य फलसे प्राप्त इस स्वर्ग के अभ्युदय में से जीव का पतन होना निश्चित ही है, इसलिये शोक न करो और धर्म में मन लगाओ; जीवको धर्म ही परम शरण है। देवों के समझाने से ललितांगने धैर्य धारण किया और धर्म में चित्त लगाया; पन्द्रह दिन तक उसने स्वर्ग की जिन प्रतिमाओं का पूजन किया और अंत समय में सावधान चित्तसे णमोकार मंत्र का उच्चारण करते-करते वह अदृश्य हो गया, उसका देह विलय हो गया।

(अब वज्रजंघ और श्रीमती के भव का सुन्दर वर्णन आयगा।)

❋ ❋ ❋

## (३)

# वज्रजंघ राजा और श्रीमती रानी

## (मुनिवरों को आहारदान का आनन्दकारी प्रसंग)

इस जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश है; उसकी उत्पलखेटक नगरी में वज्रबाहु नाम का राजा था। ऋषभ देव का जीव स्वर्ग से ललितांग देव का भव पूर्ण करके राजा वज्रबाहु के घर उत्पन्न हुआ; उसका नाम 'वज्रजंघ कुमार।'

ललितांगदेव की जो स्वयंप्रभा नाम की देवी थी, उसने भी स्वर्ग की आयु पूर्ण होने पर विदेहक्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा वज्रदन्त चक्रवर्ती की पुत्री रूप में जन्म लिया। उसका नाम 'श्रीमती।'

एक बार श्रीमती के दादा श्री यशोधर मुनिराज को केवलज्ञान हुआ; केवलज्ञान की पूजा हेतु देवों के विमान वहाँ से निकल रहे थे; उन देवविमानो को देखते ही श्रीमती को अपने पूर्व भव का स्मरण हो आया और बारम्बार ललितांगदेव का स्मरण करती हुई वह मूर्च्छित हो गई। पण्डिता नाम की चतुर धायमाताने उसे सचेत करके मूर्च्छा का कारण पूछा। श्रीमतीने उसे पूर्वभव का सब वृत्तांत सुनाया और अपने पूर्वभव सम्बन्धी एक चित्रपट बनाकर उसे देते हुए कहा कि हे सखी! इस चित्र के गूढ़ विषयोंको जो पहिचान ले उसे तू मेरे पूर्वभव का पति (ललितांग देव का जीव) समझना। धायमाता वह चित्र लेकर विदा हुई और जिनमन्दिर की चित्रशाला में उसे प्रदर्शित किया।

अब इसी बीच श्रीमती के पिता वज्रदन्त राजा को दो बधाइयाँ एक साथ प्राप्त हुई: एक उनके पिता यशोधर मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई उसकी; और दूसरी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ वह; धर्मप्रेमी विवेकशील महाराजाने प्रथम केवलज्ञान की पूजा करने का निर्णय किया। जगत्गुरू यशोधर भगवान की महापूजा करके, वज्रदन्त राजाने उनके चरणोंमें नमन किया कि तुरन्त ही उन्हें अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई। वह योग्य ही है, क्योंकि विशुध्द परिणामों से की गई भक्ति क्यों फलीभूत नहीं होगी? और वह क्या-क्या फल नहीं देगी? उस अवधिज्ञानसे राजाने जान लिया कि पूर्वभवमें मैं अच्युत स्वर्ग का इन्द्र था, और मेरी यह पुत्री ललितांगदेवकी देवी थी।

नगर में आकर उन चक्रवर्ती ने अपनी शोकमग्न पुत्री श्रीमती से कहा: हे पुत्री! तु शोक न कर, सुन! मैं अवधिज्ञान द्वारा तेरे पति का सर्व वृत्तान्त कहता हूँ: पूर्वभवके तेरे पति (ललितांगदेव) भी इस विदेहक्षेत्र में ही अवतरित हुए हैं और वे मेरे भानजे होते हैं, तथा कुछ ही समय में तेरे पति होंगे। और सुन! पूर्व भव में जब मैं अच्युतेन्द्र था तब दो इन्द्र मेरे पास आये थे, तब तुम दोनों (ललितांग और स्वयंप्रभा) भी उनके साथ ही थे; उन इन्द्रों ने मुझसे युगंधर स्वामी का चरित्र पूछा कि 'हे देव! हम दोनों ने युगंधर तीर्थंकर के तीर्थ में सम्यक्‌दर्शन प्राप्त किया हैं, इसलिये हमें उनका पूर्ण चरित्र जानने की इच्छा हैं वह कहो।' उस समय मैंने युगंधर तीर्थंकर के पूर्व भवों का चरित्र कहा था : जिसे सुनकर अनेक जीवों को सम्यक्‌दर्शन प्राप्त हुआ था, तथा तुम दोनों को भी अतिशय धर्मप्रेम जागृत हुआ था। वहाँ हम सब देव स्वयंभूरमण तथा नन्दीश्वर, सुमेरु आदि के दर्शन करने जाते थे। वह सब भी तुझे याद होगा!

श्रीमती ने कहा: हाँ पिताजी, वह सब मेरे अंतर में प्रत्यक्ष की भाँति प्रतिभासित हो रहा है।

वज्रदन्त राजाने कहा: हे पुत्री! वे ललितांग देव वज्रजंघ नामक राजकुमार हुए हैं, आज से तीसरे दिन तुझे उनका समागम होगा, और वे ही तेरे पति होंगे।

एक ओर श्रीमती को राजाने उपरोक्त समाचार दिये, और दूसरी ओर उनकी सखी पण्डिता भी चित्रपट सम्बन्धी समाचार लेकर आ पहुँची। उसने कहा: हे सखी, तेरा यह चित्रपट देखते ही वज्रजंघकुमार को सब परिचित लगा...पूर्व भव के स्मरण से क्षणभर वे विचार में पड़ गये...उनकी आँखों से आँसू झरने लगे और वे मूर्च्छित हो गये। पश्चात अनेक उपाय करने पर उन्हें चेत आया और उन्होंने सारा वृत्तान्त कहा और अपना बनाया हुआ एक चित्रपट भी दिया। इतना कहकर पण्डिताने वज्रजंघ का दिया हुआ पूर्वभव का चित्रपट श्रीमती को दिया; जिस प्रकार भव्य जीव अध्यात्मशास्त्र को देखते ही प्रमुदित होते हैं, उसी प्रकार श्रीमती वह चित्रपट देखकर प्रमुदित हो उठी।

इतने में राजा वज्रबाहु अपने पुत्र वज्रजंघसहित वहाँ आ पहुँचे, तब चक्रवर्तिने अपने बहनोई वज्रबाहु से सन्मानपूर्वक कहा कि आज आप पुत्रसहित मेरे घर पधारे इसलिये मेरा मन अति प्रसन्न हुआ हैं; मेरे घरमें जो वस्तु आपको उत्तम लगती हो उसे स्वीकार कीजिये।

तब वज्रबाहु ने कहा: हे चक्रेश! आपके प्रसाद से मेरे यहाँ सब कुछ हैं; तथापि आपका वात्सल्ययुत आग्रह हैं तो माँगता हूँ कि अपनी पुत्री-श्रीमती मेरे पुत्र-वज्रजंघ को दे दें। चक्रवर्ती ने प्रसन्नतापूर्वक वह बात स्वीकार कर ली और कहा: उन दोनों का स्नेह भी पूर्वभव से चला आ रहा हैं, इसलिये उनका विवाह सम्बन्ध योग्य ही हैं।

इस प्रकार उत्सवपूर्वक वज्रजंघ और श्रीमती का विवाह हुआ; पश्चात् अपना धार्मिक उत्साह प्रगट करने के लिये वज्रजंघकुमार श्रीमती सहित महापवित्र जिनमन्दिर गये और वहाँ विराजमान सुवर्णमयी जिन प्रतिमाओं का अभिषेक कर के अष्टद्रव्य से पूजा की तथा मुनिवरों के दर्शन किये। पश्चात् पुण्डरीकिणी नगरी में वापस आकर निवास किया। वहाँ बहुत समय तक चक्रवर्ती के भवन में रहने के बाद विदा लेकर वज्रजंघकुमार श्रीमती सहित अपने उत्पलखेटक नगर में आये। क्रमानुसार उनके ९८ पुत्र हुए।

एक दिन वज्रजंघ के पिता को संसार से वैराग्य उत्पन्न होने पर, अपने पुत्र वज्रजंघ का राज्याभिषेक करके स्वयं जिनदीक्षा अंगीकार की; उस समय श्रीमती के ९८ पुत्रोंने भी अपने दादा के

साथ दीक्षा ले ली,..



इधर पुण्डरीकिणी नगरी में श्रीमती के पिता वज्रदन्त चक्रवर्ती भी कमल में मृत भ्रमर को देखकर संसार से विरक्त हो गये, और अमिततेज आदि पुत्रों को राज्य देने लगे, परन्तु उन पुत्रों को भी वैराग्य प्राप्त हो जाने से किसी ने राज्य का स्वीकार नहीं किया; इसलिये अन्त में पुण्डरीक नामक छोटी उम्र के पौत्र को राज्य भार सौंप कर वज्रदन्तचक्रवर्ती ने साठ हजार रानियाँ, बीस हजार राजा तथा एक हजार पुत्रों सहित जिन दीक्षा धारण कर ली।

यहाँ राजमाता लक्ष्मीमती को चिन्ता हुई कि पुण्डरीक तो अभी छोटा बालक हैं, वह इतने बड़े राज्य का भार कैसे सम्हाल सकेगा? इसलिये उन्होंने उत्पलखेटकनगर सन्देश भेजकर राजा वज्रजंघ को सहायतार्थ बुलवाया। सन्देश मिलते ही राजा वज्रजंघ पुण्डरीकिणी नगरी जाने के लिये तैयार हुए। (१) मतिवर मंत्री, (२) आनन्द पुरोहित, (३) धनमित्र सेठ और (४) अकंपन सेनापति - इन चारोंने भी वज्रजंघराजा के साथ प्रस्थान किया। रानी श्रीमती भी साथ ही थी।

चलते - चलते राजा वज्रजंघ एक सुन्दर सरोवर के तटपर आये और वहाँ पड़ाव डाला। भविष्य में जो तीर्थंकर होने वाले हैं ऐसे वज्रजंघ का डेरा होने से सारा वन भी मानों प्रफुल्लित हुआ हो ऐसा शोभायमान हो उठा। स्नानादि के पश्चात् सब भोजन की तैयारी कर रहे थे।

इतने में एक आनन्दकारी घटना हुई...क्या हुआ? वह अब पढ़िये।

## वज्रजंघ और श्रीमती द्वारा मुनिवरों को आहार दान



राजा वज्रजंघ और श्रीमती भोजन की तैयारी कर ही रहे थे कि इतने में अचानक दो गगनविहारी मुनिवर दमधर और सागरसेन वहाँ पधारे। अहा, मुनिवर पधारे मानों साक्षात् मोक्षमार्ग ही आगया! आकाश से उतरते हुए मुनिवरों को देखकर ही राजा तथा मंत्री आदि सबको महान आनन्दाश्चर्य हुआ। और, वनके सिंह, बन्दर, शूकर और नेवला जैसे पशु भी मुनिराज को देखकर अति हर्षित हो उठे।

उन मुनिवरों की वनमें ही आहार लेने की प्रतिज्ञा थी। वे अत्यन्त तेजस्वी और पवित्रता से शोभायमान थे मानों स्वर्ग और मोक्ष यहीं पृथ्वीपर उतर आये हों! दोनों मुनिवर डेरे के निकट आते ही राजा-रानीने अति आनंद एवं भक्ति सहित उनका पड़गाहन किया कि - हे स्वामी! पधारो...पधारो...पधारो!




વજ્રજંઘ-શ્રીમતી

मुनिराज के रुकते ही वज्रजंघ और श्रीमती ने भक्तिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा की, नमस्कार करके सन्मान किया और योग्य विधिपूर्वक भोजनशाला में प्रवेश कराके उच्चासनपर बिठाया। उनके चरणों का प्रक्षालन, पूजन एवं नमन किया और पश्चात् मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक दाता के सात गुण (श्रद्धा, संतोष, भक्ति आदि) सहित विशुद्ध परिणामों से उन उत्तम मुनिवरों को विधिपूर्वक आहारदान दिया (अभी उन्हें खबर नहीं है कि जिन्हें आहारदान दिया वे उनके अपने पुत्र ही थे।) मुनिराज को आहारदान का वह भव्य आनन्दकारी प्रसंग था।

उस उत्तम आहारदान के प्रभाव से तुरन्त ही वहाँ पाँच आश्चर्यजनक वस्तुएँ प्रगट हुई - (१) आकाश से रत्नवृष्टि होने लगी; (२) पुष्पवर्षा होने लगी; (३) सुगंध बरसने लगी; (४) दुंदुभि बाजे बजने लगे; और (५) आकाश में देवगण 'अहो दानं...महादानं' ऐसे शब्दपूर्वक जयजयकार करने लगे।

आहारदान के पश्चात् दोनों मुनिवरों को वन्दन और पूजन कर के जब वज्रजंघ उन्हें विदा करने लगे तब अंत:पुरकी दासीने कहा: राजन्! यह दोनों मुनिवर आपके सबसे छोटे पुत्र ही हैं। यह सुनकर ही वज्रजंघ और श्रीमती अति प्रेमपूर्वक उनके निकट गये और उनके धर्मश्रवण किया। फिर वज्रजंघने अपने और श्रीमती के पूर्व भव पूछे। मुनिवरों ने दोनों के पूर्वभव (ललितांग देव और स्वयंप्रभादेवी) का वर्णन किया।

तत्पश्चात वज्रजंघने पुन: पूछा - 'हे नाथ! यह मतिवर मंत्री, आनन्द पुरोहित, धनमित्र सेठ और अकम्पन सेनापति यह चारों जीव मुझे भाई की तरह अत्यन्त प्रिय हैं, इसलिये कृपा करके आप उनके भी पूर्वभव कहें।

मुनिराजने कहा: हे राजन! इन मतिवार मंत्री का जीव पूर्वभव में सिंह था। एकवार प्रीतिवर्धन राजाने वन मे मुनि को आहार दान दिया; उसे देखकर सिंह को जाति स्मरण हो गया,जिससे वह बिलकुल शांत हो गया और आहारादि का त्याग करके एक शिलापर जा बैठा। मुनिराजने अवधिज्ञान द्वारा वह जानकर प्रीतिवर्धन राजासे कहा: हे राजन! यह सिंह श्रावक के व्रत धारण करके संन्यास ले रहा है,

तुम्हें इसकी सेवा करनी योग्य है; भविष्य में वह भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का पुत्र होगा और चक्रवर्ती होकर उसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा! मुनिराज की बात सुनकर राजाने उस सिंह को प्रेम से देखा, और उसके कान में नमस्कार मंत्र सुनाया! अठारह दिन की संल्लेखना के पश्चात् शरीर का त्याग करके वह सिंह दूसरे स्वर्ग का देव हुआ और वहाँ से चलकर यह मतिवर-मंत्री हुआ है।

तथा उस सिंह के अतिरिक्त प्रीतिवर्धन राजा के सेनापति, मंत्री और पुरोहित - इन तीनों ने भी आहारदान का अनुमोदन किया था, इसलिये वे भोगभूमि का अवतार करके बाद में दूसरे स्वर्ग के देव हुए। तुम्हारी (वज्रजंघकी) ललितांगदेव की पर्यायमे वे तीनों तुम्हारे ही परिवार के देव थे और वे ही यहाँ तुम्हारे पुरोहित, सेठ और सेनापति हुए हैं! भविष्य में तुम तीर्थंकर होगे तब वे भी तुम्हारे पुत्र होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। उनमें से अकंपन सेनापति तो बाहुबली होंगे; आनन्द पुरोहित तथा धनमित्र सेठ दोनों वृषभसेन तथा अनंतविजय नामक पुत्र होकर तुम्हारे ही गणधर होंगे।

- इस प्रकार उन मुनिवरों ने वज्रजंघ को उनके मंत्री, पुरोहित, सेठ और सेनापति के पूर्वभवों का सम्बन्ध सुनाया और मुनिराज के श्रीमुखसे अपना ऐसा महान भविष्य सुनकर उन सबको बड़ा हर्ष हुआ। जब वे मुनिवर यह सब वृत्तान्त कह रहे थे तब नेवला, सिंह, बन्दर और शूकर यह चार जीव वहीं समीप बैठे थे और शान्तिपूर्वक मुनिराज की ओर टकटकी बाँधे देख रहे थे। यह देखकर आश्चर्य से वज्रजंघ ने पूछा: हे स्वामी! यह नेवला, सिंह, बन्दर और शूकर यह चार जीव यहाँ मनुष्यों के बीच भी निर्भयता से आपके मुखकमल की ओर दृष्टि लगाकर क्यों बैठे है?



उसके उत्तर में श्रीमुनिराजने कहा: सुनो, हे राजन्! यह सिंह आदि चारों जीव आहारदान देखकर परम हर्षित हो रहे हैं; वे भी भविष्य में तुम्हारे पुत्र होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

- यह सिंह पूर्व भव में हस्तिनापुर में एक व्यापारी का पुत्र था, परन्तु तीव्र क्रोध के कारण मरकर सिंह हुआ है;
- यह शूकर पूर्वभव में एक राजपुत्र था, परन्तु तीव्र मानके कारण वह मरकर शूकर हुआ है;
- यह बन्दर पूर्व भव में एक वणिकपुत्र था, परंतु तीव्र माया के कारण मरकर बन्दर हुआ है;
- और यह नेवला पूर्व भव में एक हलवाई (मिष्टान्न-विक्रेता) था, परन्तु तीव्र लोभ के कारण मरकर नेवला हुआ है। कषायों के फल में ऐसी हलकी गतियाँ प्राप्त हुई हैं, इसलिये यह कषाय छोड़ने योग्य है।

इस समय यह सिंहादि चारों जीव आहारदान देखकर अति हर्षित हुए हैं और वे चारों को अपने

पूर्वभव का जातिस्मरण हुआ है इसलिये वे संसार से एकदम विरक्त हो गये हैं, और निर्ग्रंथ होकर धर्मश्रवण की इच्छा से यहाँ बैठे हैं। तुम दोनों ने आहारदान के फल में भोगभूमि की आयु का बंध किया है, और इन सिंहादि चारों जीवों ने भी आहारदान का अनुमोदन कर के तुम्हारे साथ ही भोगभूमि की आयु बाँधी है। हे राजन्! अब यहाँ से आठवें भव में जब तुम ऋषभनाथ तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे तब यह चारों जीव भी उसी भव में मोक्ष को प्राप्त होंगे। मोक्ष तक के सातों भव में यह सब जीव तुम्हारे साथ ही साथ रहेंगे। यह श्रीमती का जीव भी तुम्हारे तीर्थ में दानतीर्थ की प्रवृत्ति चलानेवाले श्रेयांसराजा होंगे और उसी भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे।

आकाशगामी चारणऋद्धिधारी मुनिवरों के यह वचन सुनकर राजा वज्रजंघ का शरीर हर्ष से रोमांचित हो गया, तथा श्रीमती रानी, मतिवर मंत्री एवं सिंहादि चारों जीवों को भी हार्दिक प्रसन्नता हुई, उन सब ने मुनिवरों के चरणों में बारम्बार नमन किया। तत्पश्चात् आकाश ही जिनके वस्त्र है ऐसे वे निःस्पृह मुनिवर तो आकाशमार्ग से अन्यत्र विहार कर गये।

[यहाँ जिज्ञासुओं को आगे चलकर इस कथा का सम्बन्ध समझने के लिए एक बात लक्ष में रखने योग्य है: वज्रजंघ के साथ मुनियों को विधिपूर्वक आहारदान करने से श्रीमती को अतीव प्रसन्नता हुई, और उस आहारदान-प्रसंग के इतने दृढ़ संस्कार उसके आत्मा में पड़ गये कि आगामी आठवें भव में वज्रजंघ जब ऋषभदेव तीर्थंकर होंगे और मुनिदशा में एक वर्ष तक तपश्चर्या करेंगे, तब श्रीमती का जीव जोकि श्रेयांसराजा के रुप में जन्मा होगा, उसे ऋषभदेव भगवान को देखते ही सात भव पूर्व के (अर्थात् असंख्य वर्ष पहले के) इस आहारदान प्रसंग का स्मरण हो आयगा, और उसीपर से आहारदान की विधि जानकर वे विधिपूर्वक ऋषभदेव मुनिराज को सर्व प्रथम आहारदान देकर दान तीर्थ के प्रवर्तक होंगे।]

मुनिवर विहार कर जाने के पश्चात् राजा वज्रजंघ आदि अपने डेरे में लौटे और वह सारा दिन उन मुनिवरों के गुणों का ध्यान तथा उनकी चर्चा करने में सरोवर के किनारे बिताया। पश्चात् क्रमशः प्रयाण करते-करते वे पुण्डरीकिणी नगरी आ पहुँचे और वहाँ कुछ काल रहकर अपने भानजे पुण्डरीक का राज्य सुव्यवस्थित करके उत्पलखेट नगरी लौट आये।

वज्रजंघ और श्रीमतीका दीर्घकाल विविध भोगविलास में व्यतीत हो गया। आयु पूर्ण होने का समय निकट आ चुका है उसका भी उन्हें ध्यान नहीं रहा। एकबार वे शयनगृह में सो रहे थे; अनेक प्रकार के सुगंधित पदार्थ सुलग रहे थे कि अचानक बन्द शयनागार में धुएँ से उनका दम घुटने लगा और कुछ ही देर में मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए; यहाँ शास्त्रकार कहते है कि अरे, जो सुगंधित पदार्थ उनके भोगोपभोगका साधन था उन्हीं से ही उनका मृत्यु हुआ। उत्तम भोगवैभव को प्राप्त वज्रजंघ और श्रीमती की भी ऐसी शोचनीय दशा हुई। हे भव्य जीवो! भोगों में आसक्ति से जीवों की ऐसी दशा होती है तो फिर दुःखकारी ऐसे भोगों का क्या प्रयोजन है? उन्हें छोड़कर जिनेन्द्रदेव के वीतराग-धर्म में ही प्रीती करो।

(वज्रजंघ और श्रीमती मरकर कहाँ उत्पन्न हुए - वह अब कहते हैं।)

(४)

# ऋषभदेव का भोगभूमिका भव

## उसमें सम्यक्त्व की प्राप्ति का अद्‌भुत आनन्दकारी प्रसंग

प्रिय पाठक! अब अपनी कथा एक अत्यन्त सुन्दर रमणीक क्षेत्र में जाती है..कि जो क्षेत्र ऋषभदेव भगवान के सम्यक्त्व की जन्मभूमि हैं। ऋषभदेव का जीव वज्रजंघ का अवतार पूर्ण करके जहाँ अवतरित होता है और सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है उस क्षेत्र का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लें:-

इस जम्बूद्वीप के बीच मेरुपर्वत है; उसकी उत्तर दिशा में उत्तरकुरु नामक भोगभूमि है; वह भोगभूमि अपनी अपार शोभा द्वारा मानों स्वर्गशोभा की हँसी उड़ाती है। वहाँ भोजन, वस्त्र, आभूषण, दीपक, वाद्य आदि देनेवाले कल्पवृक्ष हैं, वे रत्नमय कल्पवृक्ष अपनी प्रभा द्वारा चारों ओर प्रकाश फैला रहे हैं। वे अनादिनिधन वृक्ष हैं, और उपरोक्त प्रकार के फल देना उनका स्वभाव ही है। जिस प्रकार आजकल के सामान्य वृक्ष समय पर अनेक प्रकार के फल देते हैं, उसी प्रकार वे कल्पवृक्ष भी दान के फल में जीवों को अनेक प्रकार के फल देते हैं। वहाँ की भूमि रत्नों से निर्मित है। पूर्वभव में दान देनेवाले जीव ही वहाँ उत्पन्न होते हैं। वहाँ के जीव चक्रवर्ती की अपेक्षा से अधिक सुखी हैं।

अपने कथानायक वज्रजंघ और श्रीमती दोनों मरकर पात्रदान के प्रभाव से ऐसी पुण्यभूमि में अवतरित हुए; वज्रजंघ के साथ जिन्होंने आहारदान का अनुमोदन किया था वे चारों जीव-नेवला, सिंह, बन्दर और शूकर-भी आहारदान की अनुमोदना के प्रभाव से दिव्य मनुष्य शरीर पाकर, भद्रपरिणामी आर्य बनकर वहीं उत्पन्न हुए। मतिवर मंत्री, आनन्द पुरोहित, धनमित्र सेठ तथा अकंपन सेनापति वे चारों जीव वज्रजंघ - श्रीमती की मृत्यु से वैराग्य प्राप्त करके मुनि हुए और रत्नत्रय की आराधना करके देवलोक में प्रथम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए।

भगवान ऋषभदेव के दस भवों की यह कथा चल रही है। पहले वह जीव महाबल राजा था; फिर ललितांगदेव हुआ; वहाँ से वज्रजंघ राजा के भव में श्रीमती सहित आहारदान दिया और अन्य चार तीर्यंच जीवों ने उसकी अनुमोदना की। आहारदान के प्रताप से वे छहों जीव भोगभूमि में अवतरित हुए; यहाँ तक अपनी कथा पहुँची है। अब, भोगभूमि में जो अति आनन्दकारी घटना हुई उसका रोमांचक वर्णन पढ़ोंगे।

ऋषभदेव भगवान के जीव को तथा साथ के पाँचों जीवों को भोगभूमि में सम्यक्त्व प्राप्ति का यह मंगल प्रसंग सोनगढ़के जिनमन्दिर में संगमरमर में उत्कीर्ण किया गया है, जो मुमुक्षुओं को सम्यक्त्व की प्रेरणा देता है। लेखक को भी पुराणों में यह प्रसंग अधिक प्रिय है और सम्यक्त्व की आराधना में प्रेरक हुआ है।

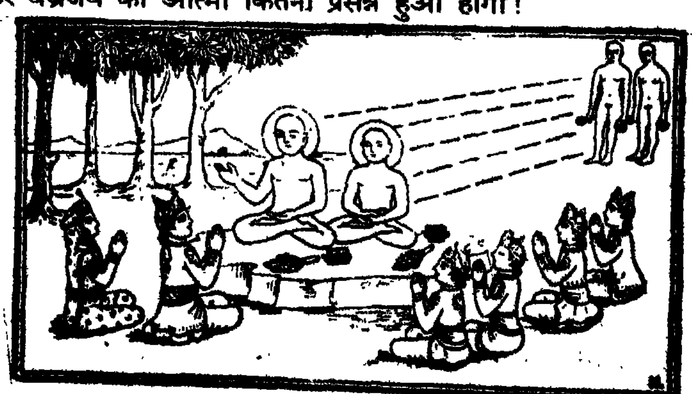
भोगभूमि में आर्य-दम्पति के रूप में उत्पन्न हुए वज्रजंघ और श्रीमती एक बार बैठे-बैठे कल्पवृक्षों की शोभा निहार रहे थे; इतने में आकाशमार्ग से जाते हुए सूर्यप्रभदेव का विमान देखकर उन दोनों को जातिस्मरण हो गया। जातिस्मरण द्वारा पूर्वभव जानकर वे वैराग्यपूर्वक संसार का स्वरूप विचारने लगे। उसी समय वज्रजंघ ने आकाश में दो मुनियों को देखा; और वे ऋद्धिधारी मुनिवर भी उसपर अनुग्रह

[illegible] आकाश से नीचे उतरे। उन्हें सन्मुख आता देखकर तुरन्त ही वज्रजंघ खड़े होकर विनय से उनका सत्कार करने लगा। सच ही है कि - पूर्व जन्म के संस्कार जीवों को हित कार्य में प्रेरित करते हैं। दोनों मुनिवरों के समक्ष अपनी पत्नी सहित खड़ा वज्रजंघ का जीव ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसा सूर्य एवं प्रति सूर्य के समक्ष जैसे कमलिनी सहित प्रभात सुशोभित होता है। वज्रजंघ के जीव ने दोनों मुनिवरों के चरण में भक्तिपूर्वक अर्घ चढ़ाकर उन्हें नमस्कार किया; उस समय उसके नेत्रों से हर्षाश्रु बहकर मुनिराज के चरणों पर गिरने लगे, मानों नेत्रों द्वारा उन मुनिवरों का पादप्रक्षालन ही कर रहा हो! स्त्री सहित प्रणाम करते हुए आर्य वज्रजंघ को आशीर्वाद देकर वे दोनों मुनिवर यथाक्रम से योग्यस्थान पर बैठे।

मुनिवरों के दर्शन से अत्यन्त हर्षपूर्वक जिसका चित्त खिल उठा है ऐसे उन वज्रजंघ आर्य ने विनय से पूछा: हे प्रभो! आप हमारे परम हितैषी हैं; आपको देखते ही मेरे हृदय में सौहार्दभाव उमड़ रहा है, मेरा चित्त अति प्रसन्न हो रहा है, मुझे ऐसा लग रहा है जैसे आप मेरे पूर्वपरिचित बंधु हों! प्रभो! इस सबका क्या कारण है वह कृपा करके मुझे कहें।

श्री मुनिराज ने वज्रजंघ की जिज्ञासा पूर्ण करते हुए कहा: हे आर्य! तुम मुझे उस स्वयंबुद्ध मंत्री का जीव जानो कि जिसके द्वारा तुमने महाबल के भवमें पवित्र जैनधर्म का प्रतिबोध प्राप्त किया था। उस भव में तुम्हारी मृत्यु के बाद मैंने जिनदीक्षा धारण की थी और संन्यासपूर्वक शरीरका त्याग कर के सौधर्मस्वर्ग का देव हुआ था; तत्पश्चात् इस पृथ्वी लोक में विदेहक्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में प्रीतिकर नामक राजपुत्र हुआ और यह (दूसरे मुनि) प्रीतिदेव मेरे लघु भ्राता हैं। हम दोनों ने स्वयंप्रभजिनेन्द्र के समीप दीक्षा लेकर पवित्र तपोबल से अवधिज्ञान तथा आकाशगामिनी चारणऋद्धि प्राप्त की है। हे आर्य! हम दोनों ने अवधिज्ञानरुपी नेत्र से देखा कि तुम यहाँ भोगभूमि में उत्पन्न हुए हो; पूर्वभव में तुम हमारे परम मित्र थे इसलिए तुम्हें प्रतिबोधन हेतु हम यहाँ आये हैं।

श्री मुनिराज परम करुणा से कहते हैं - 'हे भव्य! तुम पवित्र सम्यग्दर्शन के बिना मात्र पात्रदान के प्रभाव से ही यहाँ उत्पन्न हुए हो - यह बात निश्चय जानो। महाबल के भव में तुमने मुझसे तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था, परन्तु उस काल भोगों की आकांक्षा के वश तुम दर्शनशुद्धि प्राप्त नहीं कर पाये थे। अब सर्वश्रेष्ठ तथा स्वर्ग-मोक्ष के सुख का मुख्य साधन ऐसा सम्यग्दर्शन देने की इच्छा से हम यहाँ आये हैं; इसलिये हे आर्य! आज ही तुम सम्यग्दर्शन ग्रहण करो!' अहा, मुनिराज के श्रीमुख से परम अनुग्रह भरे यह वचन सुनकर वज्रजंघ का आत्मा कितना प्रसन्न हुआ होगा!



प्रीतिंकर मुनिराज परम अनुग्रह पूर्वक वज्रजंघ के आत्मा को सम्यग्दर्शन अंगीकार कराते हुए कहते हैं कि हे आर्य! तुम इसी क्षण ही सम्यग्दर्शन ग्रहण करो...तुम्हारे लिये यह सम्यक्त्व के लाभ का काल है। —'तद्गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एष ते।'

देशनालब्धि आदि बहिरंगकारण और करणलब्धिरूप अंतरंगकारण द्वारा भव्य जीव दर्शनविशुद्धि प्राप्त करते हैं। सर्वज्ञकथित जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। निःशंकता, वात्सल्य आदि आठ अंगरुपी किरणों से-सम्यग्दर्शन रूपी रत्न अत्यन्त सुशोभित होता है। हे भव्य!

(१) तुम इस श्रेष्ठ जैनमार्ग को जानकर, मार्ग सम्बन्धी शंका को छोड़ो।

(२) भोगों की आकांक्षा दूर करो; धर्म के फल में भोगों की चाह मत करो।

(३) वस्तुधर्म के ओर की ग्लानि छोड़ो; देह की मलिनता देखकर धर्म के प्रति अरुचि न करो।

(४) अमूढ़दृष्टि (विवेक दृष्टि) प्रगट करो; सत्य तत्त्वो को परीक्षापूर्वक पहिचानो।

(५) धर्मात्मा सम्बन्धी दोष के स्थान छिपाकर सत्य धर्म की वृद्धि करो।

(६) मार्ग से विचलित होते आत्मा को उपदेशादि द्वारा धर्म में स्थिर करो।

(७) रत्नत्रय धर्म में और धर्मात्माओं में अत्यन्त प्रीतिरुप वात्सल्य करो।

(८) ज्ञान की उत्कृष्ट भावना द्वारा जैनशासन की प्रभावना करो।

इस प्रकार आठ अंगों से सुशोभित ऐसे विशुद्ध सम्यक्त्व को तुम धारण करो। हे आर्य! इस सम्यग्दर्शन को ही तुम धर्म का सर्वस्व जानो। सर्व सुखों का कारण सम्यग्दर्शन है। इस संसार में वही पुरुष श्रेष्ठ है...वही ही कृतार्थ है...और वही ही मुमुक्षु है...कि जिसके हृदय में निर्दोष सम्यग्दर्शन प्रकाशमान है। हे भव्य! तुम इस सम्यग्दर्शन को ही सिद्धिप्रासाद का प्रथम सोपान जानो, मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन ही है; वह दुर्गति को रोकनेवाला है, वही धर्म के वृक्ष की जड़ है; वही स्वर्ग और मोक्ष का द्वार है, तथा वही ही सारभूत रत्न है। हे भव्य! ऐसे सम्यग्दर्शन को तुम अपने आत्मा में धारण करो..आज ही धारण करो...हम तुम्हें सम्यक्त्व प्राप्त कराने के लिये ही यहाँ आये हैं। उसका अभी अवसर है।

अहा! इस सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में अधिक क्या कहें? उसकी तो इतनी ही प्रशंसा बस है कि जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर अनंतकाल के संसार का भी अंत आ जाता है, और वह मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसलिये हे आर्य! लोकमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और देवमूढ़ता का परित्याग करके तुम सम्यग्दर्शन की उज्ज्वलता को धारण करो। सम्यग्दर्शन रुपी तलवार द्वारा संसाररूपी बेल को काट दो। तुम निकट भव्य हो और भविष्यकाल में तीर्थंकर होनेवाले हो; हे भव्य! अरिहंतदेव के वचनानुसार हमने यह सम्यग्दर्शन की देशना दी है, वह श्रेय की प्राप्ति हेतु तुम्हें अवश्य ग्रहण करने योग्य है। इस प्रकार आर्य वज्रजंघको प्रतिबोध देने के पश्चात वे मुनिराज आर्या श्रीमती को सम्बोधित करके इस प्रकार कहने लगे:

हे अम्बा! हे माता! तुम भी संसार समुद्र से पार होने के लिये नौका समान ऐसे यह सम्यग्दर्शन को अतिशीघ्रता से ग्रहण करो। इस स्त्रीपर्याय में भी तुम अविलम्ब सम्यग्दर्शन को धारण करो। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् जीव का स्त्रीपर्याय में अवतार नहीं होता, तथा निचले छह नरकों में, वैमानिक

से हलके देवों में अथवा अन्य किसी नीच पर्याय में वह उत्पन्न नहीं होता। हे माता! अब तुम निर्दोष सम्यग्दर्शन की आराधना करो और उसकी आराधना द्वारा इस स्त्रीपर्याय का छेदन करके अनुक्रम से मोक्ष तक के परमस्थानों को प्राप्त करो। तुम दोनों छह उत्तम भवों को धारण करके ध्यानरूपी अग्नि द्वारा समस्त कर्मों को भस्म करके परम सिद्धपद प्राप्त करोगे।

इस प्रकार प्रीतिंकर आचार्य के वचनों को प्रमाण करके आर्य वज्रजंघ ने अपनी पत्नी के साथ प्रसन्न चित्त से सम्यग्दर्शन धारण किया; उसने अंतर्मुख होकर अपने परमात्मतत्त्व का अवलोकन किया; राग से पार शांतरसमय ज्ञानधारा का वेदन किया; क्षणभर उसका उपयोग सर्व विकल्पों से रहित होकर आत्मा में ही स्थिर हो गया। परमानन्दमय आत्मानुभूति हुई। इस प्रकार वह वज्रजंघ का जीव अपनी प्रिया के साथ सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अत्यन्त तृप्त हुआ; ठीक ही है, - अपूर्व वस्तु का लाभ प्राणियों को महान सन्तोष का कारण होता ही है। वह वज्रजंघ का जीव जैन सिद्धान्तरूपी सूत्र में पिरोयी हुई मनोहर सम्यग्दर्शनरूपी माला पहिनकर मोक्षरुपी राजसम्पदा के युवराज पद पर विराजमान हुआ; तथा विशुद्ध पुरुष पर्याय पाकर मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करती हुई सती आर्या भी सम्यक्त्व की प्राप्ति से अति संतुष्ट हुई। पहले कभी जिनकी प्राप्ति नहीं हुई थी ऐसे सम्यग्दर्शनरुपी रसायन का आस्वादन करके (चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करके) वह दम्पति कर्म-विनाशक ऐसे जैनधर्म में अति दृढ़ता को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार ऋषभदेव के आत्माने पूर्व सातवें भव में भोगभूमि में सम्यक्त्व प्राप्त किया...भविष्य में भरतक्षेत्र के आदि तीर्थंकर होकर जो धर्मतीर्थ का प्रारम्भ करनेवाले हैं ऐसे आदिनाथ प्रभुके आत्मा में धर्म का आदि हुआ। उन धर्म का प्रारम्भ करनेवाले धर्मात्मा को नमस्कार हो।

वज्रजंघ और श्रीमती के साथ-साथ सिंह, बन्दर, नेवला और शूकर यह चारों जीव (जिनका वर्णन पहले आ चुका है) आहारदान का अनुमोदन करके उनके साथ ही भोगभूमि में उत्पन्न हुए थे वे भी गुरुदेव प्रीतिंकर मुनिराज के चरणकमल का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन रुपी अमृत को प्राप्त हुए। आनन्दसूचक चिन्हों द्वारा जिसने अपने मनोरथ की सिद्धि प्रगट की है ऐसे उस दम्पति को वे दोनों मुनिवर बड़ी देर तक धर्मस्नेह से बारम्बार देख रहे थे - कृपादृष्टि कर रहे थे, और वह वज्रजंघ का जीव पूर्वभव के प्रेम के कारण टकटकी बांधकर श्री प्रीतिकर मुनिराज की मुखमुद्रा को निहार रहा था और उनके क्षणभर के स्पर्श से अत्यन्त प्रसन्न हो रहा था।

इस प्रकार उन दोनों मुनि भगवन्तों ने परम अनुग्रहपूर्वक वज्रजंघ आदि जीवों को प्रतिबोधकर अपूर्व सम्यग्दर्शन प्राप्त कराया। तत्पश्चात् वे दोनों मुनिवर अपने योग्य देश में जाने के लिए तैयार हुए तब वज्रजंघ ने उन्हें प्रणाम किया और परम भक्तिपूर्वक कुछ दूर तक उनके पीछे-पीछे गया...जाते-जाते दोनों मुनिवरों ने उसे आशीर्वाद देकर कहा कि हे आर्य! धर्म की वृद्धि हो...तुम इस सम्यग्दर्शनरुपी सत्यधर्म का सदा अखण्ड पालन करना। इतना कहकर दोनों गगनविहारी मुनिवर आकाशमार्ग में अन्तर्हित हो गये।

आर्य वज्रजंघ उन मुनिवरों को जाता देखकर क्षणभर तो अति उत्कंठित हो गया। उसका मन आर्द्र हो उठा और वह विचार करने लगा कि - अहा! कैसा आश्चर्य है कि साधुपुरुषों का क्षणभर का समागम हृदय के सन्ताप को दूर कर देता है, परमआनन्द की वृद्धि करता है और मन की वृत्ति

सन्तुप्त हो जाती है। उन साधु पुरुषों ने मोक्षमार्ग की साधना में ही सदा अपनी बुद्धि को लगाया है; लोगों को प्रसन्न करने का कोई प्रयोजन उनको नहीं रहा। महापुरुषों का यह स्वभाव ही है कि मात्र अनुग्रह बुद्धि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। अहा! मेरा धन्य भाग्य कि मुनि भगवन्त मुझ पर अनुग्रह करके यहाँ पधारें और मुझे सम्यक्त्व दिया। कहाँ वे अत्यन्त निस्पृह साधु! और कहाँ हम! कहाँ उनका विदेहधाम! और कहाँ हमारी यह भोगभूमि! उन निःस्पृह मुनिवरों ने यहाँ पधारकर हम पर महान उपकार किया है।



जिस प्रकार इन चारणऋद्धिधारी मुनिवरों ने दूर देश से आकर हमें धर्म की प्राप्ति करायी और महान उपकार किया, उसी प्रकार महापुरुष धर्मप्राप्ति द्वारा दूसरों का उपकार करने में सदा तत्पर रहते हैं। तप से जिनका शरीर कृश हो गया है ऐसे वे दोनों तेजस्वी मुनि भगवन्त अब भी मेरी दृष्टि के समक्ष तैर रहे हैं, मानों अब भी वे मेरे सम्मुख खड़े हैं...मैं उनके चरणकमल में नमन कर रहा हूँ और वे दोनों मुनिवर अपना कोमल हाथ मेरे मस्तक पर रखकर मुझे स्नेहसिक्त कर रहे हैं। अहा! उन मुनिवरों ने मुझ धर्मपिपासु को सम्यग्दर्शनरुपी अमृत का पान कराया है; जिससे मेरा मन अत्यन्त ही संतापरहित एवं प्रसन्न हो रहा है।

भगवान ऋषभदेव का जीव आर्य वज्रजंघ उन प्रीतिंकर मुनिराज के महान उपकार का पुनः पुनः चिंतवन करता है कि - अहा, वे प्रीतिंकर नामक बड़े मुनिराज वास्तव में 'प्रीतिंकर' ही हैं; इसीलिये तो दूर देशान्तर से आकर तथा सम्यग्दर्शन का उपदेश देकर हमारे ऊपर अपार स्नेह बरसाया है। वे महाबल के भव में भी मेरे स्वयंबुद्ध नाम के गुरु थे और आज इस भव में भी मुझे सम्यग्दर्शन देकर वे मेरे विशेष गुरु हुए है...संसार में ऐसे गुरुओं की संगति न हो तो गुणों की प्राप्ति भी नहीं हो सकती, और सम्यगदर्शनादि गुणों की प्राप्ति के बिना जीव का जन्म भी सफल नहीं होता। धन्य हैं जगत में ऐसे गुरुओं को कि जिनकी संगति से भव्य जीवों को सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार गुरु के उपदेश बिना संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते। इस संसार में भाई और गुरु यह दो पदार्थ मनुष्यों को प्रीति का कारण हैं; परन्तु उनमें भाई तो मात्र इस लोक में ही प्रीति उत्पन्न कराता है जब कि गुरु तो इहलोक तथा परलोक दोनों में प्रीति उत्पन्न कराते हैं। अब गुरु के उपदेश से ही हमें यह सम्यग्दर्शनादि की विशुद्धि प्राप्त हुई है, इसलिये हमारी भावना है कि जन्मांतरों में भी गुरुदेव के चरणों में हमारी भक्ति बनी रहे। - इस प्रकार गुरु के उपकार का चिंतन करते - करते वज्रजंघ की सम्यक्त्व-भावना अत्यन्त दृढ़ हो गई। यही भावना

भविष्य में उसे कल्पतरु समान समस्त इष्टफल प्राप्त करायेगी। वज्रजंघकी भाँति श्रीमती के जीवने भी सम्यक्त्व भावना को दृढ़ किया। उन पति-पत्नी का स्वभाव एक-सा था; प्रीतिंकर मुनिराज के उपदेश से सम्यक्त्व पाकर उन दोनों ने भोगभूमि की शेष आयु सुखपूर्वक समाप्त की और आयु पूर्ण होने पर प्राण त्याग कर दोनों ईशान स्वर्ग में उत्पन्न हुए।

(५)

# दूसरे स्वर्ग में श्रीधर देव

भोगभूमि की आयु पूर्ण होने पर हमारे चरित्र नायक ऋषभदेव का जीव (वह आर्य) ईशान स्वर्ग के श्रीप्रभविमान में श्रीधर नामक देव हुआ; और आर्या श्रीमती (भावी श्रेयांसकुमार) का जीव भी सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्रीपर्याय का छेद करके उसी ईशान स्वर्ग के स्वयंप्रभ विमान में स्वयंप्रभ नामक देव हुआ। सिंह, नेवला, बन्दर और शूकर यह चारों जीव भी भोगभूमि की आयु पूर्ण करके उसी ईशान स्वर्ग में महान ऋद्धिधारक देव हुए। उनके नाम - चित्रांगद, मणिकुण्डल, मनोहर और मनोरथ। (यह चारों जीव अगले भवों में भी ऋषभदेव के साथ ही रहेंगे और उनके पुत्र होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। बन्दर का जीव उनका गणधर होगा।) महान ऋद्धिधारी श्रीधरदेव अपने विमान में जिनपूजा, तीर्थंकरों के कल्याणक आदि अनेक उत्सव मनाता हुआ प्रसन्न चित्त से सम्यग्दर्शनसहित धर्मसाधना करता था।

एक दिन अवधिज्ञान से श्रीधर देव को ज्ञात हुआ कि हमारे गुरु श्री प्रीतिंकर मुनिराज इस समय विदेह क्षेत्रमें विराजमान हैं और उन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ है। अहो! भोगभूमि में आकर हमें सम्यक्त्व की प्राप्ति करानेवाले वे प्रीतिंकर मुनिराज हमारे महान उपकारी हैं, आज वे केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वज्ञ हो गये, अरिहंत बन गये, धन्य उनका अवतार! हम भी आत्मसाधना पूर्ण करके कब केवलज्ञान प्राप्त करेंगे!! इस प्रकार श्रीधर देवने अत्यन्त भक्तिपूर्वक प्रीतिंकर केवली को नमस्कार किया; और स्वर्ग की दैवी सामग्रीसहित विदेह में जाकर उनकी पूजा की, तथा उनकी दिव्यध्वनि में धर्मका स्वरुप सुनकर अपने मन की बात पूछी :-

हे प्रभो! महाबल राजा के भव में मेरे चार मंत्री थे; उनमें एक आप (स्वयंबुद्ध मंत्री) सम्यग्दृष्टि थे और आपने मुझे जैनधर्म का बोध दिया था; अन्य तीनों मंत्री मिथ्यादृष्टि थे; वे इस समय कहाँ हैं?

सर्वज्ञदेव की वाणी में आया - हे भव्य! जब तुम महाबल का शरीर छोड़कर स्वर्ग में चले गये तब मैंने (स्वयंबुद्ध मंत्री ने) तो वैराग्य से रत्नत्रय प्रगट करके जिनदीक्षा धारण कर ली, और वे तीनों दुर्मति मंत्री कुमरण करके दुर्गति को प्राप्त हुए। उनमें से महामति और संभिन्नमति - यह दोनों तो अत्यन्त हीन ऐसी निगोद दशा को प्राप्त हुए हैं, वे अति गाढ़ अज्ञान अंधकार से घिरे हुए हैं और अत्यन्त तप्त उबलते हुए पानी में उठते बुलबुलों की तरह अनेक बार जन्म-मरण करते रहते हैं। तीसरा शतमति मंत्री अपने मिथ्यात्व के कारण इस समय नरक में है, और वहाँ महान दुःख भोग रहा है।

## नरक गति के घोर दुःखों का वर्णन

नरक के घोर दुःखों का वर्णन करते हुए श्री प्रीतिंकर प्रभु कहते हैं कि - हे भव्य! तुम्हारे शतबुद्धि मंत्री का जीव धर्म की तीव्र विराधना के कारण दूसरे नरक में अत्यन्त भयंकर दुःख भोग रहा है। उसने

स्वयं किये अनर्थ का यह फल है। यह निर्विवादरूप से प्रसिद्ध है कि धर्म से सुख की प्राप्ति होती है और अधर्म से दुःख मिलता है; इसलिये बुद्धिमान जीव अनर्थों को छोड़कर धर्म में तत्पर होते हैं। प्राणीदया, सत्य, क्षमा, निर्लोभता, तृष्णारहितपना तथा ज्ञान-वैराग्य वह धर्म है; उससे विपरीत अधर्म है। पापकर्म का फल अत्यन्त कटु है। नरक में पड़ा हुआ जीव वहाँ क्षणभर भी दुःखसे छुटकारा नहीं पाता, उसे एक पल भी शांति नहीं मिलती।

जो जीव हिंसा, झूठ, चोरी, परस्त्रीरमण और परिग्रह आदि पापकार्यों में तत्पर है, जो शराब पीता है, जो मिथ्यामार्ग का सेवन करता है, जो क्रूर है, रौद्रध्यान में तत्पर है, प्राणियों के प्रति निर्दय है, अति आरम्भ-परिग्रह रखता है, धर्म के प्रति जिसकी द्वेषबुद्धि है और अधर्म में प्रीति रखता है, देव-गुरु की निन्दा करता है, धर्म सेवन करनेवाले जीवों के प्रति अकारण ही क्रोध करता है, जो अत्यन्त पापी है और मधुमांस - अण्डे खाने में तत्पर है - ऐसे जीव तीव्र पाप के भार से नरक में गिरते हैं। नरक सात हैं - पहला रत्नप्रभा फिर शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और सातवाँ महातमःप्रभा। - यह सात नरकभूमियाँ नीचे-नीचे हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव प्रथम नरक तक जाते है; सरकनेवाले जीव (गोह आदि) दूसरे नरक तक, पक्षी तीसरे तक, सर्प चौथे तक, सिंह पाँचवें तक, स्त्री छठवें तक और तीव्र पापी मनुष्य तथा मच्छ सातवें नरक तक जाते हैं। उन नरकों मे पापी जीव मधु के छत्ते की भाँति ऊपर लटकते हुए निकृष्ट स्थान में औंधे मुँह उत्पन्न होते हैं; - पापी जीवों का ऊर्ध्वमुख कहाँ से होगा? पाप के उदय से वह जीव अंतर्मुहूर्त में दुर्गंधित, घृणित, कुरुप और बेडौल आकार का शरीर रचता है और फिर वृक्ष से टूटे हुए पत्ते की भाँति वह नारकी जीव अत्यन्त कर्कश एवं धधकती हुई नरक भूमिपर उल्टे मुँह गिरता है। गिरते ही उसका शरीर छिन्नभिन्न हो जाता है - कहीं हाथ, कहीं पैर, कहीं मुँह, इस प्रकार सब बिखर जाते हैं, इसलिये महान पीड़ासे दुःखी होकर वह जीव चीत्कार करता है। वहाँ की भूमि की अपार उष्णता से तप्त हुआ वह जीव व्याकुलता से गिरते ही खौलती हुई कड़ाही में भरे हुए तेल की भाँति उछलता है और फिर नीचे गिरता है। गिरते ही महान क्रोधी अन्य नारकी जीव उसे खूब मारते-पीटते हैं और उसके शरीर के टुकड़े - टुकड़े कर देते हैं। उस नारकी का शरीर शस्त्रों के प्रहार से छिन्नभिन्न होकर बिखर जाता है और क्षणभर में फिर जुड़ जाता है।

शतमुख मंत्री का जीव धर्म की निन्दा के फल में जो दुःख भोग रहा है उन नारकी के दुःखों का वर्णन करते हुए श्री प्रीतिंकर भगवान कहते हैं कि - वे नारकी पूर्व बैर का स्मरण कर - करके परस्पर लड़ते हैं; तीसरे नरक तक असुर कुमार जाति के क्रूर देव उन नारकियों को पूर्व वैर का स्मरण करवाते हैं और परस्पर लड़ने-झगड़ने के लिये उकसाते हैं। कुछ नारकियों को उबलते हुए ताँबे का रस पिलाते हैं, कुछ नारकियों के टुकड़े करके उन्हें कोल्हू में तिल्ली की भाँति पेल देते हैं और कितनों को कड़ाही में उबालकर उनका रस बना देते हैं; पहले जो जीव मांसभक्षी थे उनके शरीर में से टुकड़े काट-काट कर उन्हें जबरन् खिलाते हैं तथा सँडसी द्वारा उनका मुँह फाड़कर जबरन् उन्हें लोहे के धधकते हुए गोले खिलाते हैं। पूर्व में जो परस्त्री में रत थे उन नारकियों को धधकती हुई लोहे की पुतली के साथ आलिंगन कराते हैं, जिसका स्पर्श होते ही वे सुलग उठते हैं, उनकी आँखे फट जाती हैं और मूर्च्छित होकर वे धरती पर लुढ़क जाते हैं। तुरन्त दूसरे नारकी धधकते हुए लोहे के चाबुकसे उन्हें मारते हैं। अरे! जीव नरक में ऐसी घोरातिघोर पीड़ा अधर्म के सेवन से भोगते हैं।

वहाँ काँटों से भरे हुए धधकते लोहे के वृक्ष (सेमलवृक्ष) पर नारकियों को जबरन् चढ़ाते हैं; फिर उन्हें ऊपर से नीचे और नीचे से उपर घसीटते हैं, जिससे उनका सारा शरीर छिल जाता है; किन्हीं नारकियों को दुर्गन्धित रससे भरी हुई नदी में फेंकते हैं, उसमें उनका शरीर गल जाता है। किन्हीं नारकियों को अग्निशैया पर सुलाते हैं। वहाँ की गरमी से तप्त दुःखी नारकी जहाँ असिपत्र के वनमें आश्रय लेने जाता है वहाँ अग्नि बरसती हुई गर्म हवा चलती है और तलवार की तीक्ष्ण धार जैसे पत्ते उसके ऊपर गिरते हैं जो उसके शरीर को चीर डालते हैं। वह बेचारा दीन नारकी दुःखी होकर चीत्कार करता है, परन्तु वहाँ कौन उसकी पुकार सुने?

उस नारकी को दुसरे नारकी लोहे की सलाखों से बाँधकर अग्नि में सेंक डालते हैं; पहाड़ के ऊपर से औंधे मुँह पछाड़ते हैं; धारदार आरे से उसके शरीर को चीरते हैं; शरीर में भाले भोंकते हैं, नोक में पिरोकर उसे गोल चक्कर घुमाते हैं; मुग्दर द्वारा उसे इतना पीटते हैं कि उसकी आँखें बाहर निकल जाती हैं। पूर्व में जिसने अभिमान किया था ऐसे उस नारकी को धधकते हुए लोहे के आसन पर जबरन् बैठाते हैं और काँटों के बिस्तर पर सुलाते हैं।

इस प्रकार नरक की अत्यन्त असह्य और भयंकर वेदना पाकर भयभीत हुए उस नारकी के मन में ऐसे विचार आते हैं कि अरे रे! मैंने पूर्वभव में जो पाप किये थे वही मुझे ऐसे भयंकर दुःख दे रहे हैं। यहाँ की वेदना इतनी तीव्र है कि किसी से सहन न हो; आयु पूर्ण हुए बिना इस शरीर का अन्त भी नहीं होता; और दुःख देने वाले इन नारकियों को कोई रोक भी नहीं सकता। अरे, ऐसी परिस्थिति में हम कहाँ जायें? क्या करें? कहाँ खड़े रहें? कहाँ बैठें? कहाँ विश्राम लें? हम शरण की आशा में जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ ऊलटा अधिकाधिक दुःख मिलता है। अरे, इन अपार दुःखों से कब हमारा छुटकारा होगा? कब इनका अन्त आयगा? हमारी आयु भी सागर जितनी लम्बी है। ऐसे बारम्बार चिंतवन से ऊस नारकी को अत्यन्त मानसिक सन्ताप एवं मरण तुल्य वेदना होती रहती है। इस सम्बन्ध में अधिक कहने से क्या लाभ है? संक्षेप में इतना ही बस है कि जगत में जितने भीषण दुःख हैं उन सबको दुष्कर्मों ने नरक में इकट्ठा कर दिया है। आँख की एक पलक झपकने जितना सुख भी उन नारकियों को नहीं है; दिनरात उन्हें दुःख ही भोगना पड़ता है। सुख की प्राप्ति तो दूर रही परन्तु उसका स्मरण होना भी उन्हें दुर्लभ है। इस प्रकार पूर्व भव के पापकर्मों से जीव अत्यन्त दुःखी हैं।

इस प्रकार नरक के दुःखों का वर्णन करके प्रीतिंकर स्वामी श्रीधर देव से कहते है कि हे भव्य! जो जीव नरक के ऐसे दुखों से बचना चाहते हों उन बुद्धिमानों को जिनेन्द्रप्रणीत धर्म की उपासना करना चाहिये। यह जैनधर्म ही दुःखों से रक्षा करता है और महान सुख की प्राप्ति कराता है; यह धर्म ही कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाला मोक्षसुख प्रदान करता है। इन्द्र चक्रवर्ती तथा गणधर पद भी इस जैनधर्म के प्रसाद से ही प्राप्त होते हैं। और तीर्थंकरपद तथा सर्वोत्कृष्ट सिद्धपद भी इस धर्म से ही प्राप्त होते है। यह जैन धर्म ही जीवों का बंधु, मित्र और गुरु है। हे श्रीधर देव! तुम भावी तीर्थंकर हो; और नरक में पड़ा हुआ शतमंत्री का जीव तुम्हारे उपदेश से धर्म प्राप्त करेगा।

श्री प्रीतिंकर केवली के श्रीमुख से जैनधर्म की ऐसी महिमा सुनकर पवित्र बुद्धिधारक श्रीधरदेव अतीव धर्मप्रेम को प्राप्त हुए और प्रसन्नचित्त से कहने लगे - हे प्रभो! आप महान उपकारी हैं। महाबल के भव में आपने ही जैनधर्म का उपदेश देकर मेरा हित किया था, पश्चात् भोगभूमि में मुनिरुप में पधार कर आपने ही परम करुणापूर्वक मुझे सम्यग्दर्शन प्राप्त कराया और इस समय भी अरिहंत दशा में आपने

धर्म का उपदेश देकर महान उपकार किया है। अहो, प्रभो! आप जैसे गुरुओं का संग जीवों को परम हितकर है।

इस प्रकार भक्ति से बारम्बार प्रीतिंकर केवली के दर्शन करने के पश्चात् पूर्वभव के स्नेहवश शतबुद्धि के जीव को प्रतिबोध देने हेतु श्रीधर देव दूसरे नरक में उसके पास गये और करुणापूर्वक कहने लगे - हे शतबुद्धि! क्या तू राजा महाबल को जानता है? मैं वही महाबल का जीव हूँ और इस समय तुझे प्रतिबोध देने हेतु स्वर्ग से यहाँ आया हूँ। शतबुद्धि के भव में तूने प्रबल मिथ्यात्व का सेवन किया था। देख, उस मिथ्यात्व का यह घोर दुःखदायी फल तेरे सामने ही है। ऐसे घोर दुःखों से बचने के लिये हे भव्य! अब तू मिथ्यात्व को छोड़ और सम्यग्दर्शन को अंगीकार कर। अपने अंतर में चैतन्यमय आत्मतत्त्व को देख।


શ્રીધર દેવ

इस प्रकार श्रीधर देव के उपदेश से उस शतबुद्धि के जीव ने अंतर्मुख दृष्टि द्वारा शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया और मिथ्यात्वरूपी मल नष्ट होने से उत्तमशुद्धि प्रगट की। 'अहो, नरक में आकर भी आपने मुझे धर्म प्राप्त कराया, आपने महान उपकार किया है'- इस प्रकार उसने पुनः पुनः श्रीधर देव का उपकार माना। तत्पश्चात् नरकायु पूर्ण होने पर शतबुद्धि का जीव भयंकर नरक से निकलकर पूर्व पुष्कर द्वीप के पूर्वविदेह में मंगलावती देश की रत्नसंचय नगरी में महीधर चक्रवर्ती का जयसेन नामक पुत्र हुआ।

एक बार उसके विवाह का उत्सव हो रहा था; उस समय श्रीधर देव ने आकर सम्बोधन किया और नरक के भयंकर दुःखों का स्मरण कराया, जिससे संसार से विरक्त होकर उसने यमधर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली। नरक में भोगे हुए दुःखों का स्मरण होने से वह विषयों से विरक्त होकर कठिन तपश्चर्या करने लगा और आयु पूर्ण होने पर समाधिमरणपूर्वक देह त्याग कर वह ब्रह्म स्वर्ग का इन्द्र हुआ।

देखो, कहाँ तो नारकी और कहाँ इन्द्र पद! जीव अपने परिणामों के अनुसार विचित्र फल प्राप्त करता है। हिंसादि अधर्म कार्यों से जीव नरकादि नीच गतियाँ पाता है, और अहिंसादि धर्म कार्यों से वह स्वर्गादि उच्चगति को प्राप्त होता है। इसलिये उच्चपद के अभिलाषी जीवों को सदा धर्म की आराधना में तत्पर रहना चाहिये।

ब्रह्मस्वर्ग में उत्पन्न हुए उस ब्रह्मेन्द्र ने (शतबुद्धि के जीवने) अवधिज्ञान द्वारा श्रीधर देव के महान उपकार को जान लिया और उन्हीं के प्रताप से नरक दुःखों से छूट कर यह इन्द्रपद प्राप्त किया है - ऐसा समझकर पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग से दूसरे स्वर्ग में आकर अपने कल्याणकारी मित्र श्रीधर देव का भक्तिपूर्वक बहुमान किया।

(अपने चरित्रनायक के अब पाँच भव शेष रहे हैं। अब यह श्रीधर देव की आयु पूर्ण होने पर

अगले भव में वे विदेहक्षेत्र में जन्म लेंगे और मुनि होंगे; फिर स्वर्ग में जायेंगे; फिर विदेहक्षेत्र की पुण्डरीगिरिनगरी में तीर्थंकर के पुत्ररूप में उत्पन्न होंगे और वहाँ चक्रवर्ती होकर दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति बाँधेंगे; वहाँ से सर्वार्थसिद्धि में जायेंगे और पश्चात् अन्तिम ऋषभ अवतार होगा। श्री जिनसेन आचार्य रचित महापुराण के आधार से इन प्रसंगों का वर्णन आप पढ़ रहे हैं।)

## (६)

# ऋषभदेव : सुविधि राजा (श्रावकधर्म का पालन)

श्रीधर देव की (ईशान स्वर्ग की) आयु पूर्ण करके अपने चरित्रनायक जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र स्थित महावत्सदेश की सुसीमा नगरी में अवतरित हुए। उनका नाम सुविधिकुमार था। उनके पिता सुदृष्टि राजा और माता सुन्दरनन्दा थीं। अनेक कलाओं के भण्डार वे सुविधिकुमार बाल्यावस्था से ही सबको आनन्दित करते थे और उनमें समीचीन धर्म के संस्कार प्रगट हुए थे। उन आत्मज्ञानी का चित्त निरन्तर ही आत्मकथा में अनुरक्त रहता था। सुशोभित मुकुटसे अलंकृत ऐसे उन्नत मस्तक से लेकर स्वाभाविक लालाशयुक्त चरणकमल तक सर्वांगसुंदरता को प्राप्त करनेवाले वह राजकुमार उत्तम सामुद्रिक लक्षणों द्वारा सबका मन मोह लेते थे। यौवनावस्था में उद्रेक करनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओं को उन जितेन्द्रिय राजकुमार ने यौवन के प्रारम्भ में ही परास्त कर दिया था; इसलिये युवा होने पर भी वे वृद्धसमान गम्भीर लगते थे। सच ही है, धर्माराधक जीवके लिये कामक्रोधादि शत्रुओं को जीत लेनेका कार्य सहज है।

अभयघोष चक्रवर्ती की पुत्री मनोरमा के साथ सुविधिकुमार का विवाह हुआ; ईशान स्वर्ग में से स्वयंप्रभ नामक देव (श्रीमती का जीव, जो कि भविष्य में श्रेयांसकुमार होगा वह) यहाँ सुविधिकुमार के घर केशव नाम का पुत्र हुआ। वज्रजंघ की पर्याय में जो उसकी स्त्री थी वहीं यहाँ उसका पुत्र हुआ। अरे! क्या कहा जाय? संसार की स्थिति ही ऐसी है! उस पर सुविधिराजा को अत्यन्त प्रेम था। जीवों को पुत्र पर सहज ही प्रेम होता है तो फिर पूर्व भव की प्रिय पत्नी का जीव ही जहाँ पुत्ररुप में उत्पन्न हुआ हो वहाँ उसके ऊपर प्रेम का तो कहना ही क्या?

सिंह, नेवला, बन्दर और शूकर-यह चारों जीव भोगभूमि में साथ उत्पन्न होकर सम्यकत्व को प्राप्त हुए थे और पश्चात् ईशान स्वर्ग में भी साथ ही थे, वे वहाँ से चयकर इस वत्सकावती देश में ही सुविधिकुमार के समान विभूति के धारक राजपुत्र थे। वरदत्त, वरसेन, चित्रांगद और प्रशान्तदमन नाम के उन चारों राजपुत्रों ने दीर्घकाल तक राजवैभव का उपभोग किया। राजवैभव के बीच रहने पर भी वे चैतन्यवैभव को नहीं भूले थे; आत्मा की प्रतीति उनको सदा वर्तती थी। एकबार वे चारों राजपुत्र चक्रवर्ती के साथ विमलवाहन जिनेन्द्रदेव की वन्दना करने गये। वहाँ सबने भक्तिपूर्वक वन्दना करके प्रभु का दिव्य उपदेश श्रवण किया। अहा! उस दिव्यध्वनि की क्या बात! क्या उसकी गंभीरता! उसे सुनते ही सब चैतन्यरस में निमग्न हो गये और संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण कर ली। चक्रवर्ती के साथ अन्य अठारह हजार राजा तथा पाँच हजार पुत्रों ने भी दीक्षा ले ली। वे सब मुनिवर संवेग और निर्वेदरुप परिणामों द्वारा मोक्षमार्ग की साधना करते थे। रत्नत्रय धर्म में तथा उसके फल में उत्कृष्ट प्रीति करके उत्साह पूर्वक उसकी आराधना करना सो संवेग है, और शरीर, भोग तथा संसार के प्रति अतिशय विरक्त परिणाम सो निर्वेद है। ऐसे संवेग-निर्वेद पूर्वक वे मुनिवर मोक्षमार्ग को साधने लगे।

अपने चरित्रनायक भगवान ऋषभदेव जो कि सुविधिराजा हुए हैं, उनके पूर्वभव के साथी तो इस प्रकार मुनि हो गये; परन्तु राजा सुविधि अपने पुत्रप्रेम के कारण दीक्षा धारण नहीं कर सके थे, क्योंकि केशव के प्रति उन्हें अति स्नेह था; इसलिये वे मुनिपने की भावना रखकर श्रावक के उत्कृष्ट धर्मों का पालन करने लगे।

सુવિધિરાજા શ્રાવક



श्री जिनेन्द्र भगवान ने गृहस्थधर्म में सम्यक्त्व के अतिरिक्त ग्यारह स्थान (ग्यारह प्रतिमाएँ) कहे हैं : (१) दर्शनप्रतिमा, (२) व्रतप्रतिमा, (३) सामायिक प्रतिमा, (४) प्रौषध, (५) सचित्तत्याग, (६) दिन में मैथुनत्याग अथवा रात्रिभोजनत्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग और (११) उद्दिष्टत्याग।

सुविधिराजा श्रावक धर्म के इन ग्यारह स्थानों का अनुक्रम से पालन करते थे। अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का भी पालन करते थे। आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि यह पाँच अणुव्रत उस प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाओं के साथ तथा सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से संयुक्त धारण किये जायँ तो उससे गृहस्थ को महान-महान फल की प्राप्ति होती है। गृहस्थों के लिये बारह व्रतों का पालन वह स्वर्गरुपी राजमहल की सीढ़ी है और वह नरकादि दुःखों को दूर करनेवाला है। सम्यग्दर्शन द्वारा व्रतों की शुद्धता को प्राप्त वे राजर्षि सुविधि दीर्घकाल तक श्रावकरूप में रहकर श्रेष्ठ मोक्षमार्ग की आराधना करते थे। जीवन के अन्तिम समय उन्होंने सर्व परिग्रह का त्याग करके दिगम्बर जिनदीक्षा धारण की, विधिपूर्वक उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की आराधना करके समाधिमरण पूर्वक देहत्याग किया और अच्युतस्वर्ग में इन्द्ररूप में अवतरित हुए। उनका पुत्र केशव भी निर्ग्रन्थ मुनि होकर समाधिमरण करके उस अच्युतस्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ। वरदत्त आदि चारों राजपुत्र (सिंहादि चारों जीव) भी अपने अपने पुण्योदय से उस अच्युत स्वर्ग में ही इन्द्रसमान ऋद्धि के धारक देव हुए। सच ही है, पूर्वभव के संस्कारों से जीव एक ही स्थान में एकत्रित हो जाते हैं।

(७)

## ऋषभदेव : सोलहवें अच्युत स्वर्ग में

अच्युत स्वर्ग के इन्द्ररूप में उत्पन्न हुए अपने कथानायक दिव्यवैभव सहित थे; दिव्यप्रभावान उनका शरीर स्वभाव से ही सुन्दर था। विष या शस्त्रादि से उन्हें कोई बाधा नहीं हो सकती थी। मस्तक पर धारण किये हुए कल्पवृक्ष के मनोहर पुष्पों से वे ऐसे लगते थे मानों पूर्वभव की तपश्चर्या के महान फल को शिरोधारण करके सबको दिखला रहे हों! साथ ही उत्पन्न हुए आभूषणों द्वारा उनका शरीर ऐसे शोभायमान होता था मानों उनके प्रत्येक अंगपर दयारूपी बेल के फल झूल रहे हों! वे इन्द्र कल्पवृक्ष की भाँति शोभायमान होते थे। उनके उपभोग में आनेवाले देवविमानों की संख्या भगवान ने १५९ कही

अच्युतेन्द्र



है। उत्तम जाति के ३३ देव स्नेहपूर्ण बुद्धि से उन्हें पुत्रसमान मानते थे। उनके परिवार में अन्य दस हजार सामानिक देव थे; उनका वैभव भी यद्यपि इन्द्रसमान था, परन्तु इन्द्र की भाँति उनकी आज्ञा नहीं चलती थी। उनके अंगरक्षक समान चालीस हजार देव थे। स्वर्ग में यद्यपि किसी प्रकार का भय नहीं होता, परन्तु वे अंगरक्षक देव इन्द्र की विभूति के सूचक हैं। इन्द्र को तीन प्रकार की परिषद (सभा) होती है। उस अच्युतस्वर्ग की सीमा की रक्षा करनेवाले चार दिशाओं में चार लोकपाल थे और प्रत्येक लोकपाल की ३२ देवियाँ थीं। अच्युतेन्द्र की आठ महादेवियाँ थीं, तदुपरान्त ६३ वल्लभिका देवियाँ थी; एक-एक महादेवी के ढ़ाई-ढ़ाई सौ अन्य देवियों का परिवार था। इस प्रकार उस अच्युतेन्द्र की कुल दो हजार इकहत्तर देवियाँ थी। उसका चित्त उन देवियों के स्मरणमात्र से सन्तुष्ट हो जाता था। उसकी प्रत्येक देवी में ऐसी विक्रियाशक्ति थी कि वह सुन्दर स्त्री के दस लाख चौवीस हजार रुप बना सकती थी। उस इन्द्र के हाथी, घोड़ा, रथ आदि सात प्रकार की सेना थी - जो देवों की ही विक्रिया द्वारा निर्मित थी। अच्युतेन्द्र बाईस हजार वर्ष में एक बार अमृत का आहार करते थे तथा ग्यारह महीने में एकबार श्वास लेते थे। उनका अति सुन्दर शरीर तीन हाथ ऊँचा था। शास्त्रकार कहते हैं कि भगवान ऋषभदेव के जीव ने धर्म के प्रताप से अच्युतेन्द्र की पर्याय में ऐसी उत्तम विभूति प्राप्त की थी, इसलिये भव्य जीवों को जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये धर्म में अपनी बुद्धि लगाना चाहिये और भक्तिपूर्वक उसका आराधन करना चाहिये। उस जीव को ऐसी बाह्य विभूति प्राप्त होने पर भी अंतर में उससे भिन्न चैतन्य की प्रतीति थी। अंतर चैतन्यवैभव के समक्ष उस समस्त इन्द्र वैभव को वे तुच्छ समझते थे। उस वैभव में रहकर भी चैतन्यवैभव की महत्ता को एक क्षण भी भूलते नहीं थे। आत्मज्ञान की अखण्ड धारा को प्रवाहित रखकर स्वर्ग के दिव्य भोगों का अनुभव करते थे। कभी किसी देवने विक्रिया द्वारा हाथी का रुप धारण किया हो तो उस हाथी पर चढ़कर गमन करते थे; कभी जिनेन्द्र भगवान की महापूजा करते थे; कभी मध्यलोक में आकर तीर्थंकर देव की वन्दना करते थे। इस प्रकार स्वर्गलोक का दीर्घकाल आनन्दपूर्वक व्यतीत करते थे।

ऐसा करते - करते अच्युत स्वर्ग की आयु के मात्र छह महीने शेष रहे और उसे छोड़कर मध्यलोक में आने की तैयारी होने लगी; तब शरीर पर धारण की हुई कल्पवृक्ष के फूलों की माला मुरझाने लगी। इससे पूर्व कभी वह माला मुरझायी नहीं थी। पुष्पमाला मुरझाने से उन्हें पता चल गया कि अब अल्पकाल में ही मैं इस अच्युत स्वर्ग से च्युत होऊँगा; - तथापि वे इन्द्र किंचित् दुःखी नहीं हुए, क्योंकि महापुरुष धैर्यवान होते हैं। पवित्र बुद्धिवान उन अच्युतेन्द्र ने भगवान अरिहन्त देव की पूजा प्रारम्भ की; पंच परमेष्ठी में चित्त लगाया, और स्वर्गलोक में भोगते हुए जो पुण्य शेष रहा था उसे साथ लेकर अपने यह चरित्रनायक स्वर्ग से च्यवकर इस मनुष्य लोक में अवतरित हुए।

यहाँ आचार्य देव कहते हैं कि - स्वर्ग के इन्द्रादि देव यद्यपि सदा सुखसम्पन्न, महा धैर्यवान एवं बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक होते हैं, तथा उनकी आयु असंख्य वर्ष की होती है, तथापि अंत में तो

वे स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं; इसलिये संसार की और संयोग की ऐसी क्षणभंगुरता जानकर सम्पूर्ण सुख से भरपूर एवं पुनरागमन रहित ऐसे अविनाशी मोक्षपद में ही मुमुक्षु को अपनी बुद्धि लगाना योग्य है।

(८)

# ऋषभदेव : विदेह में तीर्थंकर के पुत्र, वज्रनाभि चक्रवर्ती

## (मुनिधर्म का पालन और तीर्थंकर प्रकृति)

भगवान ऋषभदेव का आत्मा अच्युतेन्द्र स्वर्ग से च्यवकर, अत्यन्त शोभायमान ऐसे जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में अवतरित हुआ; वज्रनाभि उनका नाम; राजा वज्रसेन तीर्थंकर उनके पिता और श्रीकान्तारानी उनकी माता। पूर्वभव के सम्बन्धी सिंह, बन्दर, नेवला और शूकर - वे जीव भी वहीं उन वज्रनाभि के सहोदर भ्राता के रूप में उत्पन्न हुए। उनका नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित। तदुपरान्त पूर्व वज्रजंघ के भव में आहारदान के समय जो साथ थे वे मतिवर मंत्री आदि चार जीव भी (जो ग्रैवेयक में थे वे, वहाँ से च्यवकर) यहाँ वज्रनाभि के भ्रातारूप में अवतरित हुए। उनमें मतिवर मंत्री का जीव सुबाहु, आनन्द पुरोहित का जीव महाबाहु, अकम्पन सेनापति का जीव पीठकुमार, और धनमित्र सेठ का जीव महापीठ हुआ। इस प्रकार पूर्वभव के संस्कार के कारण सब जीव एक स्थान पर एकत्रित हो गये। श्रीमती का जीव जोकि अच्युतेन्द्र स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था वह वहाँ से च्यवकर इसी नगरी में कुबेरदत्त वणिक के यहाँ अनन्तमती का पुत्र धनदेव हुआ।

अपने कथानायक इस भव में विदेहक्षेत्र में वज्रसेन तीर्थंकर के पुत्र तथा चक्रवर्ती हैं, और अपने पिताश्री के पादमूल में सोलहकारण भावना द्वारा तीर्थंकर प्रकृति बाँधकर, एक भव पश्चात् भरतक्षेत्र में आद्य तीर्थंकर होनेवाले हैं। ऐसे वे पवित्रात्मा वज्रनाभि युवावस्था आने पर एकदम सुशोभित हो उठे। उन वज्रनाभि की नाभि के मध्य में वज्र का एक स्पष्ट चिन्ह शोभता था - जो यह प्रगट कर रहा था कि यह जीव चक्रवर्ती होगा। उन्होंने शास्त्राभ्यास किया होने से यौवनजन्य मद नहीं हुआ था; अनेक प्रकार की राजविद्या में भी वे पारंगत थे; लक्ष्मी एवं सरस्वती दोनों का वहाँ संगम था और उनकी कीर्ति दसों दिशाओं में फैल गई थी। अपने गुणों द्वारा वे सबको वशीभूत कर लेते थे। सच ही है - गुणों द्वारा कौन वश नहीं होता?

योग्य समय पर महाराजा वज्रसेन तीर्थंकर ने वज्रनाभि पुत्र को राजतिलक करके 'तुम महान चक्रवर्ती होओ!' - ऐसा आशीर्वाद दिया और स्वयं संसार से विरक्त हुए।लौकान्तिक देवों ने स्तुतिपूर्वक उनके वैराग्य की अनुमोदना की। भगवान वज्रसेन के साथ-साथ एक हजार राजाओं ने भी दीक्षा ग्रहण की।

एक ओर राजा वज्रनाभि महान राज्य का पालन करने लगे, तो दूसरी ओर मुनिराज वज्रसेन तपोलक्ष्मी का पालन कर रहे थे। कुछ समय पश्चात वज्रनाभि राजा के शस्त्रभण्डार में जगमगाता हुआ चक्ररत्न प्रगट हुआ, तो उधर उनके पिता वज्रसेन मुनिराज के ज्ञानभण्डार में शुक्लध्यानरूपी अत्यन्त तेजस्वी ध्यानचक्र प्रगटा। पुत्र तो चक्रवर्ती राजा हुआ और पिता केवलज्ञान प्रगट करके धर्मचक्री हुए। पिता तीर्थंकर होकर धर्मोपदेश द्वारा जीवोंका हित करने लगे और भावि तीर्थंकर ऐसा पुत्र चक्रवर्ती होकर

प्रजा का पालन करने लगा। राजा वज्रनाभि ने चक्ररत्न द्वारा समस्त पृथ्वी को जीत लिया तो भगवान वज्रसेन ने ध्यानचक्र द्वारा कर्मों पर विजय प्राप्त करके तीनों लोक को जीत लिया था। इस प्रकार विजय प्राप्त करने में श्रेष्ठ वे दोनों पिता-पुत्र ऐसे लगते थे मानो एक दूसरे की स्पर्धा कर रहे हों। एक की विजय अतिअल्प-छहखण्ड तक मर्यादित थी, दूसरे की विजय समस्त लोक को लाँघकर अलोक में भी पहुँच गई-ऐसी सबसे महान थी।

अपने चरित्रनायक ऋषभदेव का जीव तो इस प्रकार चक्रवर्ती हुआ और सात भव का साथी (स्वयंप्रभा देवी अथवा केशव का जीव) धनदेव वह चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में से गृहपति नामक तेजस्वी रत्न हुआ। इस प्रकार महान अभ्युदय सहित बुध्दिमान वज्रनाभि चक्रवर्ती ने दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग किया।



एक बार वे अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समवसरण में गये और परमभक्तिसहित उन जिननाथ के दर्शन-वंदन करके दिव्यध्वनि का श्रवण किया। भगवान के श्रीमुख से अत्यन्त दुर्लभ ऐसे रत्नत्रयधर्म का स्वरूप सुनकर उनको भी रत्नत्रयकी भावना जागृत हुई। "जो बुध्दिमान जीव अमृत समान ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का सेवन करता है वह अचिन्त्य एवं अविनाशी ऐसे मोक्षपद को प्राप्त करता है।" ऐसा हृदयमें विचारकर उन चक्रवर्ती ने समस्त साम्राज्य को तृणतुल्य जानकर त्याग दिया और रत्नत्रयधर्म में तथा तप में अपनी बुध्दि लगायी। पुत्र को राज्य सौंपकर उन्होंने सोलहहजार मुकुटधारी राजा, एक हजार पुत्र, पूर्वभव के स्नेही ऐसे आठ भाई तथा धनदेवके साथ, मोक्षप्राप्ति के उद्देश से, पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समीप भव्य जीवों को परम आदरणीय ऐसी जिनदीक्षा धारण कर ली।

महाराजा वज्रनाभि ने मुनि होकर अहिंसादि पाँच महाव्रत धारण किये। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन-ऐसी पाँच समिति तथा मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति यह तीन गुप्ति - इन आठ को 'अष्ट प्रवचनमाता' कहा जाता है, उनका पालन प्रत्येक मुनि को अवश्य होता है - ऐसा इन्द्रसभा के रक्षक (-समवसरण के नायक) ऐसे गणधरदेव ने कहा है। वज्रनाभि मुनिराजने ऐसी समिति - गुप्ति का पालन किया; वे उत्कृष्ट तपस्वी, धीर, वीर, पापरहित, धर्म का चिंतन करते हुए विचरने लगे। एकबार उन मुनिराज ने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के चरणसमीप दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं का चिंतन किया :-

१. अष्ट मूलगुणसहित शुद्ध सम्यग्दर्शनरुप दर्शनशुद्धि धारण की।
२. ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि की विनय धारण की।
३. शील एवं व्रतों का निरतिचार पालन किया।
४. उपयोग को बारम्बार ज्ञान में लगाया।
५. संसार से भयभीत और मोक्षमार्ग में उत्साहित हुए।

६. अपनी शक्ति छिपाये बिना सामर्थ्यानुसार तपश्चरण किया।

७. ज्ञान तथा संयम के साधनरूप त्याग में चित्त लगाया।

८. साधुओं को व्रत, शील आदि में विघ्न आने पर उन्हें दूर करने में बारम्बार सावधान रहते थे; क्योंकि उत्तम पुरुषों की सर्व चेष्टा अपनी समाधि हेतु अथवा अन्य धर्मात्माओं के विघ्न दूर करने के लिये होती है।

९. व्रती पुरुषों को अपने से अभिन्न जानकर उन्हें रोगादि होने पर उनकी वैयावृत्य (सेवा) करते थे; यह वैयावृत्य तप का मुख्य अंग है।

१०. पूज्य अरिहंत भगवान में उनको निश्चल भक्ति थी।

११. विनयपूर्वक आचार्यों की भक्ति करते थे।

१२. विशेष ज्ञानवान मुनियों की सेवा करते थे।

१३. जिनवाणीरूप प्रवचन तथा मुनिसंघ के प्रति भी उन्हें उत्कृष्ट भक्ति थी; क्योंकि उनके प्रति तीव्र भक्ति के बिना रागादि को जीता नहीं जा सकता।

१४. वे 'अवश' होने पर भी 'वशी' थे, (अर्थात् अन्य के वश न होने रूप 'अवश' होने पर भी इन्द्रियों को वश करनेवाले होने से 'वशी' थे।) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षापूर्वक (योग्य रीति से) सामयिक, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय तथा कायोत्सर्ग-इन छह आवश्यकों का पूर्ण रीति से पालन करते थे।

१५. तप, ज्ञानादि किरणों द्वारा भव्य जीवरूपी कमल को विकसित करनेवाले ऐसे सूर्यसमान वे मुनिराज जैनमार्ग को सदा प्रकाशित एवं प्रभावित करते थे।

१६. जिनमार्ग पर चलनेवाले शिष्यों को धर्म में स्थिर करनेवाले, तथा धर्म में प्रीति रखनेवाले ऐसे वे वज्रनाभि मुनिराज सर्व धर्मात्मा जीवों पर अतिशय प्रेम-वात्सल्य रखते थे।

—इस प्रकार महान धीर-वीर उन वज्रनाभि मुनिराजने तीर्थंकरत्व की प्राप्ति के कारणरूप इन १६ भावनाओं का दीर्घकाल तक चिंतन किया, और उत्तम प्रकार से इन भावनाओं के चिंतन द्वारा उन श्रेष्ठ मुनिराज ने तीन लोक में आनन्दमय क्षोभ उत्पन्न करनेवाली तीर्थंकर नामकी महा पुण्य प्रकृति का बंध किया। ऐसे उन भावी तीर्थंकर को नमस्कार हो!

तीर्थंकर प्रकृति बांधने के साथ-साथ उन मुनिराज ने ज्ञान की अनेक प्रकार की ऋद्धि भी प्राप्त की थी और उस ऋद्धि द्वारा उन्होंने अपने परभवों को जान लिया था। दूसरी भी अनेक महान ऋद्धि उनको प्रगट हुई थीं। परन्तु उत्तम बुद्धिमान उन मुनिराज को तो गौरवपूर्ण ऐसे एक सिद्धपद की ही वांछा थी। लौकिक ऋद्धियों की उन्हें किंचित् भी वांछा नहीं होने पर भी अणिमा, महिमा आदि अनेक ऋद्धियाँ उनको प्रगट हुई थीं। बिना इच्छा से जगत का हित करनेवाली ऐसी विविध औषधिऋद्धि भी उनको प्रगट हुई थी; - सच ही है, कल्पवृक्ष पर लगे हुए फल किसका उपकार नहीं करते? उन मुनिराज को यद्यपि घी-दूध आदि रसों का त्याग था तथापि घी - दूध को झराने वाली विविध रसऋद्धि उनको प्रगट हुई थी; - वह योग्य ही है, इष्ट पदार्थों का त्याग करने से उनकी अपेक्षा अधिक महान फल की प्राप्ति होती है। बलऋद्धि के प्रभाव से चाहे जैसे कठिन शीत - उष्ण परिषहों को वे सह लेते थे। उन्हें ऐसी अक्षीण ऋद्धि प्रगट हुई थी कि जिस दिन जिस घर में उन्होंने आहार ग्रहण किया हो, उस घर में आहार अक्षय हो जाता था, अर्थात् चक्रवर्ती की सेना को भोजन कराने पर भी वह भोजन कम नहीं पड़ता

था। इसमें क्या आश्चर्य है! - मुनियों का महान तप तो अक्षय ऐसा मोक्षफल भी प्रदान करता है।

इस प्रकार विशुद्ध भावनाओं को धारण करनेवाले वे वज्रनाभि मुनिराज अपने विशुद्ध परिणामों से उत्तरोत्तर विशुद्ध होते - होते उपशमश्रेणी पर आरूढ़ हुए। अध:करण के पश्चात् वे आठवें गुणस्थान में अपूर्वकरण करके नववें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान को प्राप्त हुए; तत्पश्चात् जहाँ अत्यन्त सूक्ष्म राग शेष रहा है ऐसे सूक्ष्म सांपराय नामक दसवें गुणस्थान में आये और पश्चात् उपशान्तमोह नामक वीतरागी गुणस्थान में पहुँच गये। यहाँ ग्यारहवें गुणस्थान में मोहकर्म सम्पूर्ण उपशान्त हुआ था और अतिशय विशुद्ध ऐसा औपशमिक चारित्र प्रगट हुआ था। अंतर्मुहूर्त पश्चात् वे मुनिराज पुन: स्वस्थानरूप सातवें अप्रमत्त - गुणस्थान में आये; उसका विशेष कारण यह है कि ग्यारहवें गुणस्थान में आत्मा की स्वाभाविक स्थिति अंतर्मुहूर्त से अधिक होती ही नहीं।

उन वज्रनाभि मुनिराज ने आयु के अंतभाग में श्रीप्रभपर्वत के ऊपर प्रायोपवेशन (अर्थात् प्रायोपगमन संन्यास) धारण करके शरीर एवं आहार का ममत्व छोड़ दिया था। इस संन्यास में तपस्वी साधु रत्नत्रयरुपी शय्या पर उपवेश करता है इसलिये उसे 'प्रयोपवेशन' कहते हैं, इस संन्यास द्वारा रत्नत्रय की उत्कृष्ट शुद्धता होती है तथा कर्मरूपी शत्रु का अत्यंत नाश होता है; इस संन्यास के धारक मुनिराज नगर-ग्राम आदि संसारी प्राणियों के निवासस्थान से दूर एकान्त में वास करते हैं। ऐसा प्रयोपगमन संन्यास धारण करने वाले वे वज्रनाभि मुनिराज स्वयं अपने शरीर का कोई उपचार नहीं करते थे, तथा दूसरों के पास भी कोई उपचार या सेवा कराने की इच्छा नहीं रखते थे। जिस प्रकार शत्रु के मृतक कलेवर को देखकर कोई मनुष्य निराकुल निश्चिन्त हो जाता है, उसी प्रकार उन्होंने अपने शरीर को मृतक कलेवर जानकर उसका ममत्व छोड़ दिया था और अत्यत्न निराकुल हो गये थे।

यद्यपि उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया था तथापि स्वाभाविक धैर्य के अवलम्बन द्वारा कई दिनों तक निश्चल चित्त से बैठे रहे। मार्ग से च्युत न हों तथा कर्मों की अतिशय निर्जरा हो इस हेतु से वे क्षुधा, तृषादि बाईस परिषहों को सहते थे। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य - इन दस धर्मों का वे महा विद्वान मुनिराज पालन करते थे; वे धर्म गणधरों को भी अति इष्ट हैं। वे बारह वैराग्य-भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते थे। पवित्र भावनाओं को धारण करनेवाले वे वज्रनाभि मुनिराज अत्यन्त विशुद्धि को प्राप्त हुए और उपशम श्रेणी में दूसरी बार आरूढ़ हुए। पृथकत्व वितर्क नाम के शुक्ल ध्यान को पूर्ण करके वे उत्कृष्ट समाधिरुप वीतरागभाव को प्राप्त हुए और उपशान्त मोह नामक ११ वें गुणस्थान में प्राण त्यागकर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

## (९)

# ऋषभदेव : सर्वार्थसिद्धि देवलोक में

**(विषयों से रहित सुख की सिद्धि)**

(१. महाबल राजा; २. ललितांग देव; ३. वज्रजंघ राजा; ४. भोगभूमि में सम्यक्त्व प्राप्ति; ५. श्रीधर देव; ६. सुविधि राजा; ७. अच्युतेन्द्र; ८. वज्रनाभि चक्रवर्ती; इन आठ भवों के पश्चात् अपने चरित्रनायक ऋषभदेव वर्तमान में सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्ररुप में विराज रहे हैं।)

लोक के अग्रभागरूप जो सिद्धों का धाम उससे यह सर्वार्थसिद्धि विमान मात्र बारह योजन नीचे है। वहाँ तेतीस सागरोपम के असंख्यात वर्षों तक इन्द्रिय विषयरहित जो सुख उन्होंने भोगा उसका अब वर्णन करके, उसके उदाहरण से आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्वरूप समझायेंगे और बाह्य विषय सुख का कारण नहीं है ऐसा बतलायेंगे।

सर्वार्थसिद्धि विमान में उत्पन्न होकर अपने चरित्रनायक क्षणमात्र में यौवन अवस्थाको प्राप्त हुए। उनका शरीर ऐसा सुन्दर था कि मानो अमृत से बना हो! वे अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि में जिनेन्द्र देव की अकृत्रिम प्रतिमाओं की पूजा करते थे और अपने क्षेत्र में ही विचरते थे। पुण्यात्मा जीवों में सबसे प्रधान ऐसे वे अहमिन्द्र उस सर्वार्थसिद्धि विमान में ही स्थित रहकर समस्त लोक में विराजमान जिन प्रतिमाओं की पूजा करते थे; उन पुण्यात्मा अहिमिन्द्र ने अपने वचन की प्रवृत्ति जिनदेव की पूजा - स्तुति करने में तथा धर्मचर्चा में लगायी थी, मन भगवान गुणों का तथा आत्मा का चिन्तन करने में लगाया था। और शरीर भगवान के नमस्कार करने में लगाया। अपने जैसी ही ऋद्धि को धारण करनेवाले तथा आत्मज्ञानी ऐसे अन्य अहमिन्द्रों के साथ वे अत्यन्त आदरपूर्वक धर्मगोष्ठी करते थे। (वे अहमिन्द्र कैसी अद्‌भुत धर्मचर्चा करते थे, उसका रसास्वादन आप शान्तिनाथ प्रभु के जीवनचरित्र में तथा मल्लिनाथ भगवान के पूर्वभव में करेंगे।)

शुक्ल लेश्या के प्रभाव से अपने ही वैभव में सन्तुष्ट रहनेवाले उन अहमिन्द्र को अपने निरुपद्रव सुखमय स्थान में जैसी उत्तम प्रीति होती है वैसी अन्यत्र कहीं नहीं होती, इसलिये परक्षेत्र में जाने की इच्छा ही उनको नहीं होती। उन अहमिन्द्र देवों में छोटा - बड़ापन नहीं है, एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या नहीं है, द्वेष नहीं है; दूसरों की निन्दा और अपनी प्रशंसा नहीं है। वे सुखमय एवं हर्षसहित वर्तते हुए सदा कल्लोल करते हैं और आत्मसाधना में लीन रहते हैं।

सर्वार्थ सिद्धिमां



ऐसे सर्वार्थसिद्धि विमान में अवतरित अपने चरित्रनायक अहमिन्द्र अपने आत्मा से उत्पन्न हुए स्वाधीन परम आनन्द का उपभोग कर रहे थे। उनकी आयु तेतीस सागर की थी; एक हाथ ऊँचा और हंस जैसा श्वेत अत्यन्त सुन्दर उनका शरीर था। उस शरीर की शुद्ध एवं तेजस्वी किरणों का प्रकाश दसों दिशाओं में फैलता था। इस प्रकार इन्द्रादि देवों को भी अगोचर तथा परमआनन्ददायक ऐसे श्रेष्ठ सर्वार्थसिद्धि पद को वे प्राप्त हुए।

सर्वार्थसिद्धि में वे अहमिन्द्र तेतीस हजार वर्ष में मानसिक दिव्य आहार ग्रहण करते थे; साढ़े सोलह महीने में एकबार श्वासोच्छ्‌वास लेते थे। अपने अवधिज्ञानरूपी दीपक द्वारा वे त्रसनाड़ी में स्थित जानने योग्य मूर्तिक द्रव्यों कोउनकी पर्यायोंसहित प्रकाशित करते थे। उस अहमिन्द्र को अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र जितनी विक्रिया करने का सामर्थ्य था। परन्तु रागरहित होने के कारण वे कभी अपने विमान से बाहर नहीं आते थे। मानो जगत का समस्त सौन्दर्य एक ही स्थान पर एकत्रित हुआ हो - ऐसी सुन्दर उनकी मुद्रा थी। जिनेन्द्रदेव ने जो एकान्त और शान्तरूप सुख का निरूपण किया है वह सर्व सुख मानो इन अहमिन्द्र

के पास एकत्रित हुआ था।

वज्रनाभि के आठों भाई (विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ) तथा श्रीमती का जीव धनदेव, - यह नवों जीव भी पुण्यप्रभाव से वज्रनाभि के साथ ही सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए। वे अहमिन्द्र मोक्षसुख जैसे सुख का अनुभव करते थे, विषय -भोगोंरहित (प्रवीचार रहित) ही दीर्घकाल तक प्रसन्न रहते थे। उनका पुण्यजनित सुख भी विषय-भोगों के सुखसे अनन्तगुना था।

प्रश्न : संसार में जीवों को स्त्री-पुत्रादि विषय-भोगों से सुख की प्राप्ति होती है, तो उनके अभाव में सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों को सुख कैसे होता होगा?

उत्तर : सुख बाह्य विषयों में नहीं है; भगवान जिनेन्द्रदेवने आकुलता रहित वृत्ति को सुख कहा है; इसलिये जिनका चित्त अनेक प्रकार के विषयों की आकुलता से व्याकुल है ऐसे सरागी जीवों को वह सुख कहाँ से होगा? सुख तो आत्मा में है, विषयों में नहीं, आत्मा अपने अनाकुल भाव से स्वयं जहाँ सुखरूप हुआ वहाँ बाह्य विषयां के बिना ही उसे सुख है; क्योंकि विषयों को भोगने से पूर्व, भोगते समय, तथा भोगने के पश्चात् भी दाहजनक (आकुलतारुप) हैं। विद्वान पुरुष उसी सुखको चाहते है कि जिसमें मन विषयों से निवृत्त हो जाता है, चित्त संतुष्ट होता हैं; बाह्य विषयों में सुख खोजनेवालों की आकुलता कभी मिटती नहीं है और सुख कभी प्राप्त होता नहीं है। वे दुःखी ही हैं। ''करते विषयों में प्रीति जो, है दुःख स्वाभाविक उन्हें।''

विषयों के अनुभव से प्राणियों को जो सुख लगता है वह पराधीन है, बाधाओं से युक्त है, व्यवधान (अंतराय) सहित है और कर्मबन्ध का कारण है, इसलिये दुःख ही है। सर्वार्थसिद्धि के देवों ने आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का आस्वादन किया है और विषयों की चाह उनके मनमें से निकल गई है इसलिये बाह्य विषयों के बिना ही वे वास्तव में सुखी हैं। जगत में प्रिय स्त्री के संसर्ग से ही जीवों को सुख होता हो तब तो गन्दे कुत्ते, कौए, हिरन और सूअर आदि तिर्यंचों को भी सुखी होना चाहिए, यदि ऐसे जीवोंकों भी सुखी कहोगे तो संसार में दुःखी किसे कहोगे? मूर्ख जीव ही विषय सेवन में सुख की कल्पना करते हैं। सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र द्वारा कर्मों के क्षय से अथवा उपशम से जो आत्मा का स्वाभाविक अह्‌लाद उत्पन्न होता है वही सुख है। वह सुख अन्य वस्तुओं के आश्रय से कभी उत्पन्न नहीं होता।

जिस प्रकार वन में विचरनेवाला हाथी स्पर्श के मोहसे दुःखी होता है, सरोवर में केली करनेवाला मत्स्य मांस रसके मोहसे दुःखी होता है, फूलों पर गुंजन करनेवाला भँवरा सुगन्ध के मोहसे दुःखी होता है, रंगीन पतंगा दीपक के प्रकाश रुप में मोहित होकर जल जाता है और जंगल में चरने वाला हिरन शिकारी के मधुर संगीत के स्वर में मोहित होकर प्राण गँवाता है। इस प्रकार एक - एक इन्द्रिय के विषय का सेवन भी जहाँ दुःख से भरपूर है वहाँ पाँचों इन्द्रियों के विषयों का क्या कहना?

जैसे नदी के प्रवाह में बहता हुआ पदार्थ किसी गहरे गड्ढे में गिरकर घुमरी खाता है वैसे ही इन्द्रिय-विषयों के प्रवाह में बहता हुआ जीव नरकरुपी दुःख के समुद्र में थपेड़े खाता है। इसलिये विषयों की प्रीति छोड़ देना चाहिये और आत्माधीन अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा करके उत्साहपूर्वक उसमें प्रीतिवंत बनना चाहिये।

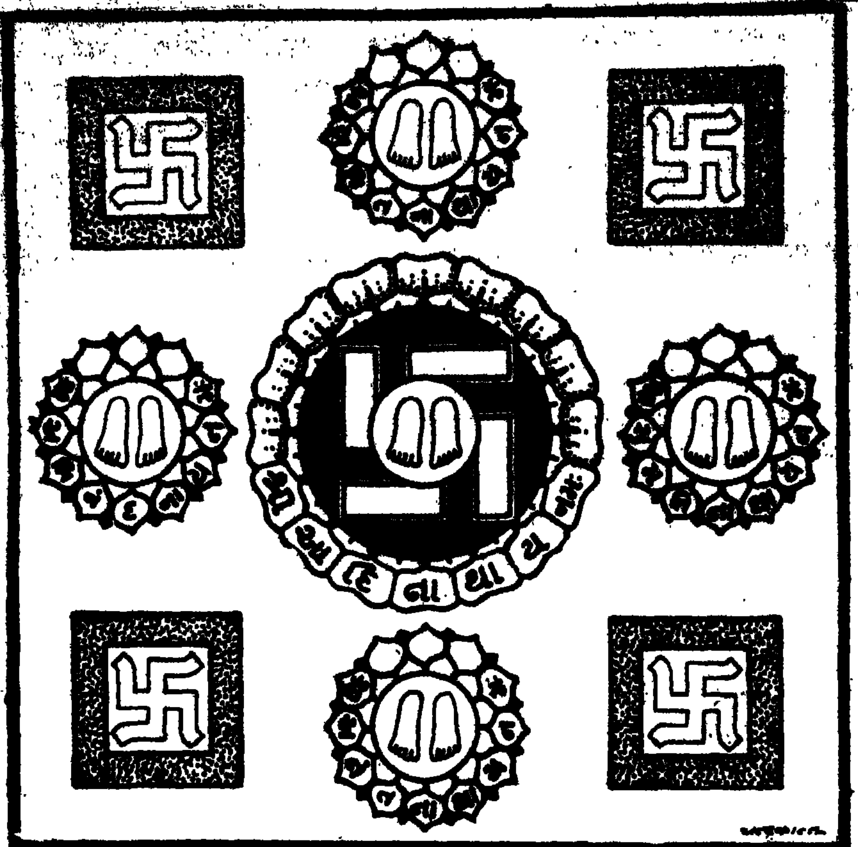
अत्यन्त आत्मोत्पन्न, विषयातीत अनूप, अनंत अरु,
विच्छेदहीन है सुख अहो! शुद्धोपयोग - प्रसिद्ध को।
सुन 'घातिकर्मविहीन का सुख सब सुखों में श्रेष्ठ है',
श्रद्धा नहीं करता अभव्य है, भव्य वह संमत करे।

अहो! सिद्ध भगवन्तों का आत्मिक सुख विषयों से रहित है, अमाप है, अनंत है, मात्र आत्मा से ही उत्पन्न है एवं अनुपम है। स्वर्गों के तथा मनुष्यों के त्रैकालिक इन्द्रियसुखों को एकत्रित किया जाय तब भी, सिद्ध परमात्मा के एक क्षणमात्र के सुख की बराबरी नहीं कर सकते। उन सिद्ध भगवन्तों का सुख अपने आत्मा से ही उत्पन्न हैं, बाधारहित है, कर्मों के क्षय से हुआ है, परम आह्लादरूप है, उपमारहित है और सर्वश्रेष्ठ है। सर्व परिग्रह से रहित, शान्त एवं उत्कंठा से रहित ऐसे सिद्ध भगवन्त पूर्ण सुखी हैं, इसलिये सुख वह आत्मा का स्वभाव है; अन्य किसी की अपेक्षा बिना अकेला आत्मा स्वयं स्वभाव से ही सुखरूप परिणमता है।

अपने चरित्रनायक भगवान ऋषभदेव के जीव वज्रनाभि चक्रवर्ती को, स्वर्ग से भी ऊपर ऐसे सर्वार्थसिद्धि में सुकृत के फल से जो विषयरहित उदार सुख प्राप्त हुआ, वह ऐसा लगता था मानो मोक्ष का सुख ही उनके सन्मुख आया हो! इस संसार में जीव को जो सुख या दुःख होता है वह अपने किये हुए पुण्य या पापरूप कर्मबन्ध के अनुसार होता है। पुण्य का उत्कृष्ट फल सर्वार्थसिद्धि में होता है और पापका उतकृष्ट फल सातवें नरक के नारकी को होता है। शान्त परिणाम, इन्द्रियदमन, संयमादि द्वारा पुण्यात्मा जीव उत्कृष्ट पुण्यफल को प्राप्त करता है और शम-दम-यम से रहित मिथ्यादृष्टि पापी जीव पाप के फल को प्राप्त करता है।

इस अधिकार के अंत में श्री जिनसेनस्वामी कहते है कि अति ही निकट काल में जिन्हें तीर्थंकरपद रुपी जिनेन्द्रलक्ष्मी प्राप्त होना है, ऐसे वज्रनाभि ने जिस प्रकार विशुद्धिपूर्वक आलस्य रहित होकर जिनेन्द्रदेव की कल्याणकारी आज्ञा का आराधन किया और महानसुख को प्राप्त हुए, उसी प्रकार जो अनुपम सुख के अभिलाषी हों और दुःखों के भार से छूटना चाहते हों उन बुद्धिमान जीवों को भी आलस्यरहित होकर श्री जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का (दर्शनविशुद्धि आदि का) पालन करना चाहिये।

बन्धुओं! अपने चरित्रनायक भगवान ऋषभदेव सर्वार्थसिद्धि में अतिशय सुखरूप विराज रहे हैं, अखण्ड सम्यक्त्व द्वारा आत्मा की आराधना कर रहे हैं। अब, यहाँ से अन्तिम अवतार में वे अयोध्यानगरी में भरत क्षेत्र के प्रथम तीर्थंकररूप में अवतरित होंगे। वे अवतरित हों उससे पहले चलो, हम उस नगरी में पहुँच जायँ, और वहाँ कैसी अद्भुत शोभा है वह देखें। भगवान के जन्म से पूर्व वहाँ क्या क्या हो रहा है और कैसा आनन्द छा रहा है उसे देखकर, अयोध्या के नगरजनों के साथ हम भी उस आनन्द के भागीदार हों।



અયોધ્યાપુરીમાં અનંત તીર્થંકરો જન્મ્યા; તેમાં આ ચોવીસીમાં પાંચ

अयोध्यापुरी में अनंत तीर्थंकर जन्मे; उनमें से इस चौवीसी के पाँच तीर्थंकरों ने अयोध्या में जन्म लिया - श्री ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ एवं अनन्तनाथ; उन्हें नमस्कार हो!

(१०)

## 卐 अयोध्या में ऋषभ अवतार 卐

इस भरतक्षेत्र में तीसरे आरे के पिछले भाग में, जब भोगभूमि मिटकर कर्मभूमि की व्यवस्था होने लगी तब, जीवननिर्वाह की योग्यविधि बतलाकर प्रजा का पालन करनेवाले एक के पश्चात् एक ऐसे १४ कुलकर हुए। वे सब एक-दूसरे के पुत्र ही थे और पूर्व विदेहक्षेत्र में मनुष्य-आयु बाँधकर पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके यहाँ भोगभूमि में अवतरित हुए थे। उन्हें पूर्वभव का जातिस्मरण था। उनमें अन्तिम कुलकर नाभिराजा हुए। उनकी मरुदेवी नामक रानी थी जो रूप और गुणों में इन्द्रानी समान थी, जगत की उत्तम एवं मंगल स्त्रियों में श्रेष्ठ थी, गुणरत्नों की खान थी, पवित्र सरस्वतीदेवी थी, और बिना पढ़े पण्डिता थी। इन्द्र द्वारा प्रेरित उत्तम देवों ने महान विभूतिसहित उन मरुदेवी का विवाहोत्सव किया था। नाभिराजा और मरुदेवी इन्द्र-इन्द्रनी समान सुशोभित होते थे। संसार में वे सर्वाधिक पुण्यवान थे, क्योंकि

साक्षात् भगवान ऋषभदेव जिनके पुत्र होंगे उनके समान दूसरा कौन हो सकता है।

ऐसे मरुदेवी और नाभिराजा जिस भूमिमें रहते थे उस भूमि में जब कल्पवृक्षों का अभाव हुआ तब उनके पुण्यप्रताप से इन्द्र ने वहाँ एक सुन्दर नगरी की रचना की। देवों द्वारा रचित उस नगरी की शोभा का क्या कहना! उस नगरी का नाम अयोध्या। कोई शत्रु उसके सामने युद्ध नहीं कर सकता था इसलिये वह वास्तव में 'अयोध्या' थी। -[अरिभिः योद्धुं न शक्या - अयोध्या] उस नगरी के अन्य नाम - साकेतपुरी, सुकौशला तथा विनीता थे। उस अयोध्या नगरी के बीच देवों ने 'सर्वतो भद्र' नामक सुन्दर राजमहल बनाया और शुभमुहूर्त में उस नगरीकी वास्तुपूजा करके उसमें नाभिराजा - मरुदेवी आदि को आनन्दपूर्वक निवास कराया; 'उन दोनों के यहाँ तीर्थंकर ऋषभदेव पुत्र रूप में अवतार लेंगे' ऐसा विचारकर इन्द्रने उनका राज्याभिषेक करके सन्मान किया।

## ऋषभदेव - गर्भ कल्याणक

अब छह मास पश्चात् भगवान ऋषभदेव सर्वार्थसिद्धि में से च्यवकर इस अयोध्यापुरी में अवतार लेंगे, ऐसा जानकर देवों ने अत्यन्त आदरपूर्वक आकाश से रत्नवृष्टि प्रारम्भ की। मानो ऋषभदेव के आगमन से पूर्व ही उनकी सम्पदा आ गयी हो - ऐसी सुशोभित करोड़ों रत्नों की तथा सुवर्ण की वृष्टि प्रतिदिन होती थी। तीर्थंकरों का ऐसा ही कोई आश्चर्यकारी महान प्रभाव है। पन्द्रह मास तक वह रत्नवृष्टि होती रही। उस गर्भावतरण उत्सव के समय समस्त लोक में हर्षकारी क्षोभ फैल गया था। माता मरुदेवी रजस्वला हुए बिना ही पुत्रवती हुई थी।

एक मंगल दिवस को रात्रि के पिछले प्रहर में मरुदेवी माताने तीर्थंकरदेव के जन्म को सूचित करनेवाले तथा उत्तम फल देनेवाले १६ मंगल स्वप्न देखे तथा सुवर्णसमान एक उत्तम वृषभ (बैल) अपने मुख में प्रविष्ट होते देखा।

प्रभात हुआ; राजमहल में मंगल वाद्य बजने लगे और दासियाँ मंगल - गीत गाने लगी कि - "हे माता! जागो; आपके जागरण की बेला हुई है; पंचपरमेष्ठी के ध्यान का यह समय है; पंचपरमेष्ठी के ध्यान द्वारा आपका प्रभात सदा मंगलमय हो, आप शताधिक कल्याणों को प्राप्त होओ, और जिस प्रकार पूर्व दिशा जगमगाते हुए सूर्य को जन्म देती है उसी प्रकार आप जगत के प्रकाशक ऐसे त्रिलोक-दीपक तीर्थंकर-पुत्र को जन्म दो।'

ऐसे मंगल-शब्दोच्चार से मरुदेवीमाता जागीं; उत्तम स्वप्न देखने से उन्हें अत्यन्त आनन्द हो रहा था और सारा जगत अतिशय प्रमोद भरा लग रहा था। पश्चात् राजभवन में जाकर महाराजा नाभि से अपने मंगल स्वप्नों की बात कहीं कि - हे देव! मैंने आज रात्रि के पिछले प्रहर में आश्चर्यकारी १६ स्वप्न देखे हैं; उनका क्या फल है? वह आपके श्रीमुख से सुनना चाहती हूँ।



तब नाभिराय महाराजने अवधिज्ञान द्वारा उन स्वप्नों का उत्तम फल जान लिया और कहने लगे कि 'हे देवी, सुनो! इस भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का आत्मा तुम्हारी कोख में आया है, इसलिये तुम 'रत्नकोख धारिणी' बनी हो। तुम्हारे देखे हुए मंगलस्वप्न ऐसा सूचित करते हैं कि अपना पुत्र महान गुणसंपन्न होगा। उनका अलग-अलग विवरण इस प्रकार है:-

## (१६ स्वप्नों का फल)

(१) गज देखने से देवी तेरे पुत्र उत्तम होयगा,
(२) वर वृषभ का है फल यही वह जगत्‌गुरु भी होयगा.
(३) वह सिंहदर्शन से अपूरव शक्तिधारी होयगा,
(४) पुष्प उत्तम माल से वह तीर्थकर्ता होयगा.
(५) कमलान्हवन का फल यहा सुरगिरिन्हवन सुरपति करें,
(६) अरु पूर्णशशि के देखने से जगतजन सब सुख भरें.
(७) वर सूर्य से वह हो प्रतापी, (८) कुम्भ-युगल से निधिपति,
(९) सर देखने से सुभग लक्षण धार होवे जिनपति,
(१०) युगमीन खेलत देखने से हे प्रिये चित्त धर सुनो,
卐 होवे महाआनन्दमय वह पुत्र अनुपम गुण घनो.
(११) सागर निरखते जगत का गुरु सर्वज्ञानी होयगा,
(१२) वर सिंह-आसन देखने से राज्यस्वामी होयगा.
(१३) अरु सुर-विमान सुफल यही वह स्वर्ग से चय होयगा,
(१४) नागेन्द्र-भवन विलास से वह अवधिज्ञानी होयगा.
(१५) बहु रत्नराशि दिखाव से वह गुण खजाना होयगा,
(१६) वर धूमरहित जु अग्नि से वह कर्मध्वंसक होयगा.
卐 वर वृषभ मुखप्रवेश फल श्री वृषभ तुझ उर अवतरे,
हे देवी! तू पुण्यातमा आनन्द-मंगल नित भरे.

नाभिराजा के श्रीमुख से ऐसा स्वप्नफल सुनकर मरुदेवी को अत्यन्त हर्ष हुआ। इस प्रकार इस चौबीसी के तीसरे आरे में (सुखम-दुःखमकाल में) जब चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष शेष थे तब, अषाढ कृष्णा द्वितिया के शुभ दिन, उत्तराषाढ नक्षत्र में, वज्रनाभि अहमिन्द्र की देवलोक की आयु पूर्ण होने पर सर्वार्थसिद्धि विमान में से च्यवकर ऋषभतीर्थंकर मरुदेवी माता के गर्भ में आये।

भगवान का गर्भावतरण होते ही इन्द्रलोक में घण्टनाद आदि अनेक मंगलचिह्न प्रगट हुए; उन परसे भगवान के गर्भकल्याणक का प्रसंग जानकर इन्द्रादि देव वहाँ आये और अयोध्यानगरी की प्रदक्षिणा करके भगवान के माता-पिता को नमस्कार किया। कहीं बाजे बज रहे थे, कहीं गीत गाये जा रहे थे, कहीं नृत्य हो रहे थे; इस प्रकार मंगल-उत्सव हुआ। दिक्कुमारी देवियाँ अनेक प्रकार से मरुदेवी माता की सेवा करती थीं तथा विविध गोष्ठी द्वारा उन्हें प्रसन्न रखती थीं और कहती थीं कि हे माता! गर्भस्थ पुत्र द्वारा आपने जगत का संताप नष्ट किया है इसलिये आप जगत की पावन करनेवाली जगत् माता

हैं। हे माता! आपका वह पुत्र जयवंत हो जो कि जगत्-विजेता है, सर्वज्ञ है, तीर्थंकर है, सज्जनों का आधार है और कृतकृत्य है। हे कल्याणी माता! आपका वह पुत्र सैकड़ों कल्याण दर्शाकर, पुनरागमन रहित ऐसे मोक्षस्थान को प्राप्त करेगा।

वे देवियाँ अनेक प्रकार से आनन्द-प्रमोदसहित मरुदेवी माता के साथ प्रश्न-चर्चा भी करती थीं। मरुदेवी माता सहज बुद्धि से ऐसे सुन्दर उत्तर देतीं - मानो उनके उदर में विद्यमान तीर्थंकर ही बोल रहे हों! कैसे सुन्दर थे वे प्रश्नोत्तर वह सब हम भी पढ़ें:-

देवी—हे माता! जगत में उत्तम रत्न कौन सा है?

माता—सम्यग्दर्शन रत्न जगत में सर्वश्रेष्ठ है।

देवी—जगत में किसका अवतार सफल है?

माता—जो आत्मा की साधना करे उसका अवतार सफल है।

देवी—हे माता! जगत में कौन स्त्री उत्तम है?

माता—जो तीर्थंकर समान पुत्र को जन्म दे वह, और जो सम्यग्दर्शन प्राप्त करके स्त्रीपर्याय का छेद करे वह।

देवी—हे माता जगत में बहरा कौन है!

माता—जो जिन वचन को नहीं सुनता।!

देवी—माता! शीघ्र करने योग्य कार्य कौनसा है?

माता—मोह का त्याग और मोक्ष की साधना।

देवी—हे माता! किसे जीतने से तीनों जगत वश में होते हैं।

माता—मोह को जीतने से तीनों जगत वश में होते हैं।

देवी—जगत में किसकी उपासना की जाय?

माता—पंचपरमेष्ठी भगवान की और उनके जैसे अपने शुद्धात्मा की।

(तत्त्वचर्चा में मरुदेवी माता के आनन्दकारी उत्तर सुनकर अति प्रसन्नता होने से देवियाँ पुनः नये-नये प्रश्न पूछती हैं-)

देवी—देवेन्द्र जिसे पूजें ऐसा उत्तम पुरुष कौन?

माता—'मेरा पुत्र' अर्थात् तीर्थंकर भगवान।

देवी—संसार के जीव क्यों दुःख पाते हैं?

माता—सुख से भरपूर आत्मा का अनुभव नहीं करते इसलिये।

देवी—हे माता! पुरुष नाम की सफलता कब है?

माता—मोक्ष का पुरुषार्थ करे तब।

देवी—नर काहे के बिना पशुसमान है?

माता—भेदज्ञानरूप विद्यारहित नर पशुसमान है।

देवी—हे माता! जगत में कौन-सा कार्य उत्तम है?

माता—आत्मध्यान वह जगत में कौन-सा कार्य उत्तम कार्य है।

देवी—हे माता! आपके अंतर में कौन विराजमान है?

माता—जगतगुरु भगवान ऋषभदेव!

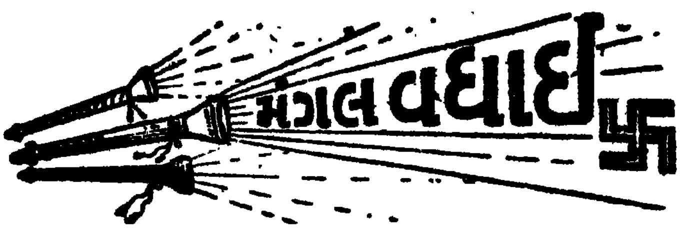
ज्ञानमय एवं उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप ऐसे तीर्थंकर पुत्र को मैं अपने उदर में धारण किये हूँ -ऐसा जानकर वे माता आनन्दित और सन्तुष्ट रहती थीं। जैसे रत्नों से भरी भूमि अति शोभायमान होती है, वैसे ही जिनके गर्भ में तीर्थंकर समान रत्न भरे हैं वे माताजी अत्यन्त शोभा देती थीं; उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता था। भगवान का कोई ऐसा प्रभाव था कि गर्भ वृद्धि होने पर भी माता के शरीर में कोई विकृति नहीं हुई थी। जिस प्रकार स्फटिकमणि के गृह में दीपक शोभता है, उसी प्रकार मरुदेवी माता के निर्मल गर्भगृह में मति-श्रुत-अवधि ऐसे तीन ज्ञानरूपी दीपक से विशुद्ध भगवान शोभा देते थे। इन्द्रानी भी गुप्त रुप से मरुदेवी माता की सेवा करती थी और जगत के लोग भी उन्हें नमन करते थे। अधिक क्या कहें ? त्रिलोक में वे प्रशंसनीय थीं, और जगत के नाथ ऐसे ऋषभ-तीर्थंकर की जननी होने से वे समस्त लोक की जननी थीं...और जगत को आनन्द देनेवाली थीं।

**'माता ! तेरे दर्शन भी जगत को आनन्दकारी हैं...'**

इस प्रकार प्रगट रूप से अनेक मंगलयुक्त तथा देवियों द्वारा पूज्य ऐसी मरुदेवीमाता परम सुखकारी तथा तीन लोक में आश्चर्यकारी ऐसे भगवान ऋषभदेवरूपी तेजस्वी पुत्रको धारण कर रही थीं।

(इस प्रकार ऋषभदेव प्रभु के गर्भकल्याणक का वर्णन समाप्त हुआ।)

## 卐 अयोध्या नगरी में ऋषभदेव जन्मकल्याणक 卐




सवानौ मास पश्चात् चैत्रकृष्णा नववीं के सुप्रभात में, जिस प्रकार पूर्व दिशा में सूर्योदय होता है उसी प्रकार मरुदेवी माता ने भगवान ऋषभदेव को जन्म दिया।

तीन ज्ञान से सुशोभित भगवान का जन्म होते ही तीनों लोक में आनन्द छा गया...पृथ्वी आनन्द से झूम उठी और समुद्र आनन्दसे उमड़ने लगा; आकाश निर्मल हो गया, दसों दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं; प्रजाजन हर्षित हो उठे और देवों को भी आश्चर्य हुआ। कल्पवृक्षों से पुष्पवर्षा होने लगी, सुगन्धित वायु बहने लगी, इन्द्र का आसन डोलने लगा! स्वर्ग के बाजे, घंट एवं शंख अपने आप बजने लगे। भगवान ऋषभदेव के अवतार से सर्वत्र आनन्द-आनन्द छा गया।



सिंहासन कम्पायमान होने से इन्द्र ने अवधिज्ञान द्वारा जान लिया कि अयोध्यानगरी में भव्य जीवों को विकसित करनेवाले तीर्थंकर देव का अवतार हो चुका है; तुरन्त ही इन्द्र ने सिंहासन से नीचे उतरकर तीर्थंकर को नमस्कार किया और उनका जन्मोत्सव मनाने के लिये ऐरावत हाथी पर बैठकर ठाटबाट से अयोध्यापुरी में आये। माताजी के महल में आकर इन्द्रानी ने अत्यन्त प्रेम से ऋषभकुमार के तथा जिनमाता मरुदेवी के दर्शन किये और प्रदक्षिणा देकर स्तुति करने लगी; हे माता! आप मंगलरूप हैं पुण्यवान हैं, महान देवी हैं, और तीन लोक कल्याण करनेवाली हैं।

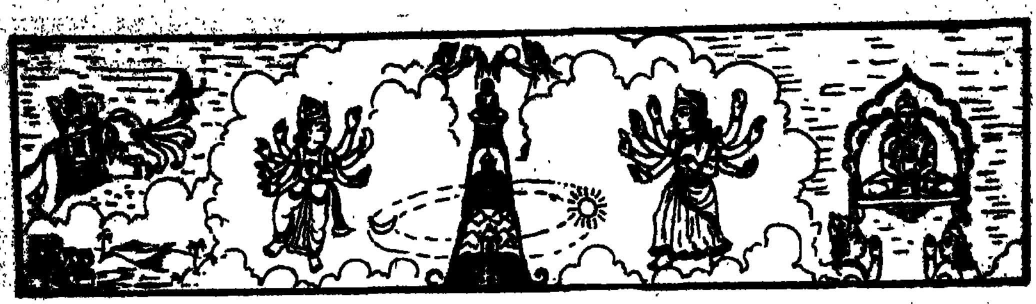


पश्चात् इन्द्रजाल द्वारा माताजी को निद्राधीन कर दिया और विक्रिया द्वारा दूसरा मायामयी शिशु उनके पास रखकर जिनकुमार को उठा लिया। अहो! चूड़ामणि रत्नसमान उन जगतगुरु जिन बालकको अपने दो हाथों में उठाते हुए इन्द्रानीको परम हर्ष हुआ; उत्कृष्ट प्रीतिपूर्वक वह बारम्बार बालकका मुख देख रही थी। बारम्बार उसके शरीर का स्पर्श कर रही थी और उसे बारम्बार सूँघती थी। अत्यन्त दुर्लभ ऐसे भगवान का स्पर्श प्राप्त होने से मानो तीन लोक का वैभव प्राप्त हुआ हो - ऐसी प्रसन्नता का अनुभव कर रही थी। इस प्रकार आनन्दपूर्वक भगवान को लेकर इन्द्रानी आ रही थी तब तीन लोक में मंगलकारी उन जिनभगवान के आगे-आगे दिक्कुमारी देवियाँ अष्टमंगलसहित चल रही थीं। ऐरावत हाथी के निकट आकर इन्द्रानीनें जिनबालक को इन्द्र के हाथ में दिया और इन्द्र अत्यन्त हर्षोल्लासपूर्वक पुलकित नयनों से उनका मनोहारी रूप देखने लगा तथा स्तुति करने लगा कि हे देव। आप केवलज्ञान सूर्य को उदित करनेवाले उदयाचल हो, अज्ञानांधकार में डूबा हुआ यह जगत आपके द्वारा ही ज्ञानप्रकाश प्राप्त करेगा। आप गुरुओं के भी गुरु हो; गुणों के समुद्र हो, इसलिये आपको नमन करता हूँ। भगवान! आप त्रिजगत के ज्ञाता हो, इसलिये आपके द्वारा ज्ञानप्राप्ति की इच्छा से हम आपके चरणारविन्द को अति आदरपूर्वक अपने मस्तकपर धारण करते हैं। ऐसी अनेक प्रकार की स्तुति के पश्चात् ऐरावत हाथी पर प्रभु को विराजमान करके देवगण जयजयकारपूर्वक मेरुपर्वत की ओर चले। उस समय देवों के साढ़े बारह करोड़ मंगल वाद्य बज रहे थे और करोड़ों अप्सरा देवियाँ भक्ति से नृत्य कर रहीं थीं।

ऐरावत हाथी पर बैठे सौधर्म इन्द्रने भगवान को गोद में लिया था, ईशान इन्द्रने भक्ति से छत्र लगाया हुआ था और सनत्कुमार तथा माहेन्द्र यह दोनों इन्द्र भगवान को चँवर ढोल रहे थे। इन्द्रों की ऐसी भक्ति तथा ऐसी जिनविभूति देखकर अनेक मिथ्यादृष्टि देव भी सम्यक् जैनमार्ग के श्रद्धानी हो गये थे।

इस प्रकार भगवान के जन्माभिषेक की शोभायात्रा सूर्यचन्द्र से भी बहुत ऊपर ९९००० योजन

वैसे मेरु पर्वत पर आ पहुँची। जम्बूद्वीपके मुकुट समान यह मेरु पर्वत सोने का है और तीर्थंकर भगवान के अभिषेक के कारण पवित्र तीर्थरूप है, इसलिये सूर्य-चन्द्र आदि ज्योतिषी देवों के विमान सदा उसकी



परिक्रमा करते हैं। ऋद्धिधारी मुनिवर वहाँ जाकर ध्यान धरते हैं। उसके उपर पहले भद्रशाल वन है, फिर नन्दन वन है, फिर सोमनस वन है, और फिर पाण्डुक वन है। चारों वनों में चारों दिशाओं में मणिरत्नों से शोभित एक-एक जिनमन्दिर है; पाण्डुकवनमें चारों दिशाओंमें स्फटिकमणि की पाण्डुक शिला है, उसपर तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है, इसलिये वह शिला अति पवित्र एवं सिद्धशिला समान शोभायमान है। देव सदा उसकी पूजा करते हैं। उस पर श्रेष्ठ सिंहासन है। सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करके इन्द्र ने हर्षपूर्वक बालतीर्थंकर को पाण्डुकशिला पर विराजमान किया; तब मानो जिनेन्द्रदेव की जननी हो इस प्रकार वह पाण्डुकशिला सुशोभित हो उठी। जिनेन्द्र भगवान के जन्म कल्याणक का वैभव देखने के लिये देव चारों ओर बैठ गये। मानो सब देव स्वर्गलोक छोड़कर उस मेरुपर्वत पर आ गये हों इस प्रकार वह पर्वत स्वर्गसमान सुशोभित हो रहा था। वहाँ इन्द्रों ने ऐसे दिव्यमण्डप की रचना की थी जिसमें तीनों लोक के समस्त जीव बैठ जायँ तब भी स्थान सँकरा न पड़े! चारों ओर देवों के दुंदुभि बाजे बज रहे थे।

ऐसे आनन्दकारी वातावरण में इन्द्रोंने विशाल स्वर्णकलशों द्वारा ऋषभतीर्थंकर का जन्माभिषेक प्रारम्भ किया। क्षीर समुद्र से कलश भर-भरकर देव एक-दूसरे के हाथ में देते थे, और एक साथ अनेक कलश लेने के लिये इन्द्र ने विक्रियाबल से अपने एक हजार हाथ बना लिये थे। हजार-हजार हाथवाले सौधर्म इन्द्र ने जयजयकार सहित जब जिनेन्द्र भगवान के मस्तक पर प्रथम जलधारा छोड़ी तब अन्य करोड़ों देव भी हर्षविभोर होकर जयजयकारपूर्वक महान कोलाहल करने लगे। अहा! उस जिन अभिषेक की महिमा का क्या वर्णन किया जाये! यद्यपि गंगा और सिन्धु नदियों जैसी जलधारा मस्तक पर गिर रही थी तथापि वे बालतीर्थंकर मेरुसमान निश्चल थे और अपने अद्भुत माहात्म्य द्वारा लीलामात्र में वह जलधारा झेल रहे थे। भगवान तो स्वयं पवित्र ही थे, और अपने पावन अंग के स्पर्श के द्वारा उन्होंने उस पानी को भी पवित्र बना दिया था। तथा उन पानीने समस्त दिशा में फैलकर सारे जगत को पवित्र कर दिया था! उस पानी की फुहार उपर उड़ने से उसके स्पर्श से प्रसन्न होकर आकाश भी मानो हँस रहा हो ऐसा शोभायमान लग रहा था। उस काल मेरुपर्वत की शोभा देवों को भी ऐसी अभूतपूर्व लग रही थी -मानो पहले कभी देखी न हो! कलकल करता हुआ अभिषेक जल का प्रवाह अमृतसमान शोभा दे रहा था और ऐसा लग रहा था मानो भगवान का यशोगान कर रहा हो। भगवान के जन्माभिषेक से सारी पृथ्वी तृप्त हो गइ थी, समस्त देश में कोई उपद्रव नहीं था, समस्त प्रजा कल्याणरूप थी। अहा!

उन तीर्थंकर के अभिषेक ने जगत के प्राणियों का कोई कल्याण बाकी नहीं रखा था। अनेक चारणऋद्धिधारी मुनिवर आदरपूर्वक एकाग्र चित्त से वह जिनेन्द्र-जन्मोत्सव निहार रहे थे; विद्याधर आश्चर्य से देख रहे थे। देव आनन्दित होकर जन्मकल्याणक सम्बन्धी अनेक नाटक कर रहे थे...दुंदुभि बाजों का स्वर गूंज रहा था; सुगन्धयुक्त गन्धोदक को देवगण भक्तिसहित अपने मस्तक पर चढ़ा रहे थे और सर्वत्र जिन महिमा का गान हो रहा था।

अभिषेक के पश्चात् इन्द्रों ने जिनभगवान की पूजा की और जन्माभिषेक की विधि समाप्त हुई। भगवान मेरुपर्वत पर चूड़ामणि रत्न के समान सुशोभित हो रहे थे। इन्द्र जिनका अभिषेक कर रहा था, मेरुपर्वत समान जिनके स्नान का उच्चासन था, इन्द्रानी जहाँ आनन्दपूर्वक नृत्य कर रही थी, देव जहाँ दास थे और क्षीरसागर जिनके स्नान जल का घट था, - ऐसे अति प्रशंसनीय पवित्र आत्मा भगवान ऋषभदेव समस्त जगत को पवित्र करें...सदा जयवंत हों!

(इस प्रकार ऋषभदेव तीर्थंकर के जन्माभिषेक का वर्णन समाप्त हुआ।)

अभिषेक के पश्चात् इन्द्रानीने भगवान के शरीर को उत्तम वस्त्र द्वारा पोंछा और हर्ष पूर्वक स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषण जगत्गुरु भगवान ऋषभदेव को पहिनाये। फिर अत्यन्त आदरसहित भगवान के ललाट पर तिलक लगाया। परन्तु जगत के तिलकस्वरुप ऐसे भगवान की शोभा क्या उस तिलक से थी? - नहीं, उलटा वह तिलक भगवान के कारण सुशोभित हो रहा था। जगत् के मुकूट स्वरूप ऐसे भगवान को इन्द्रानीने अनेक दैवी आभूषण पहिनाये। भगवान के कर्ण बिना बींधे ही छिद्रयुक्त थे, उनमें इन्द्रानी ने उत्तम मणिमय कुण्डल पहिनाये।

इस प्रकार वस्त्राभूषणोंसे शोभित भगवान के अद्भुत रूप को देखकर स्वयं इन्द्रानी को भी महान आश्चर्य हुआ। इन्द्र भी आश्चर्यपूर्वक भगवान का रूप देखने लगा। परन्तु दो नेत्रों द्वारा देखनेसे उसे तृप्ति नहीं हुई इसलिए एक हजार नेत्र बनाकर भगवान का रूप देखने लगा। पश्चात् भक्तिपूर्वक तीर्थंकर भगवान की स्तुति करने लगा कि - हे देव! हमें परम-आनन्द देने के लिये आपका अवतार है। आपकी वचनकिरणों द्वारा हमारे अंतर का अज्ञानांधकार नष्ट होता है। प्रभो! आप देवों में आदिदेव हो, आप त्रिजगत के आदिगुरू हो, आप आदि विधाता (मोक्ष की विधि समझाने वाले) हो, तथा आप धर्म के आदिनायक हो। आप ही जगत के पिता हो। प्रभो! आप तो पवित्र ही हो, परन्तु पापसे मलिन ऐसा यह जगत आपके जन्माभिषेक द्वारा पवित्र हुआ है, तथा यह मेरूपर्वत और क्षीरसमुद्र भी पावन हुए हैं। हे नाथ! परब्रह्म परमात्मा दिखायी नहीं देते ऐसा कोई कहते हैं वह असत्य है,क्योंकि परम ज्योतिस्वरूप परमात्मा ऐसे आप आज हमें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हो!

हे भगवान! आपका आत्मा पवित्र है इसलिये आपको नमस्कार हो!
आपके गुण सर्वत्र प्रसिध्द हैं इसलिये नमस्कार हो!
आप जन्म-मरण का नाश करनेवाले हो इसलिये आपको नमस्कार हो!
आप त्रिजगत के परमेश्वर हो इसलिये आपको नमस्कार हो!

प्रभो! आप पृथ्वीसमान क्षमावन्त हो, जलसमान सबको आह्लादित करनेवाले हो, वायुसमान निष्परिग्रही हो; अग्निसमान आपका ध्यानतेज सदा प्रदीप्त है, तथा आकाश के समान आप सदा निर्विकारी हो। (मेरु पर इन्द्र ऋषभदेव भगवान की स्तुति कर रहा है :-)

हे प्रभो! पूर्व दसवें भव में महाबल राजाकी पर्याय में आपने आत्मा में जैनधर्म के संस्कारों का बीजारोपण किया था; पश्चात् उनका सिंचन करते-करते चौथे भव में आपने भोगभूमि में सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, और पश्चात् उसमें वृध्दि होते-होते दसवें भव में आपने परमात्मपद प्राप्त किया। उन दस अवतारोंका स्मरण करते हुए आत्मसाधना के भाव जागृत होते हैं।

(उन दसों अवतार के नामों को वर्तमान में प्रयुक्त करके इन्द्र स्तुति करता है--)



१. महान बलके धारक होने से आप 'महाबल' हो।
२. ललित-अंग के धारक होने से आप 'ललितांग' हो।
३. धर्मतीर्थ प्रवर्तन कराने में आप शक्तिवान 'वज्रजंघ' हो।
४. आप सुविशुध्द-पूज्य होने से 'आर्य' हो।
५. दिव्य श्री अर्थात् शोभाके धारक आप 'श्रीधर' हो।
६. उत्तम भाग्यवान होनेसे आप 'सुविधि' हो।
७. अविनाशी पदके स्वामी होनेसे आप 'अच्युतेन्द्र' हो।
८. वज्रसमान नाभि के धारक आप 'वज्रनाभि' हो।
९. सर्व प्रयोजनसिध्द होनेसे आप 'सर्वार्थसिध्द' हो।
१०. दस अवतारोंमें अन्तिम अवतार प्राप्त आप 'ऋषभदेव' हो।



इस प्रकार भगवानकी स्तुति करते-करते उनके दस भव भी बतला दिये। स्तुति करने के पश्चात् भगवानको ऐरावत हाथीपर विराजमान करके इन्द्र आनन्दपूर्वक अयोध्यानगरी में आये।

## अयोध्या में उत्सवकीनो, घर-घर मंगलाचार जी....

भगवान की जन्म-कल्याणक शोभायात्रा को लेकर इन्द्र अयोध्या में आया और बालप्रभु को नाभिराजा के महल में सिंहासन पर विराजमान किया। उन प्रियदर्शन भगवान को देखकर नाभिराजा का शरीर हर्ष से रोमांचित हो गया और मायामयी निद्रा दूर होने पर माता मरुदेवी भी हर्षपूर्वक भगवानको देखने लगीं। पश्चात् माता-पिताने प्रसन्नचित्त से इन्द्र-इन्द्रानी की ओर देखा। इन्द्रइन्द्रानीने महामूल्यवान आभूषण अर्पित करके माता-पिता का सन्मान किया और गुणगान किया कि आप महान धन्य हैं, लोक में सर्वश्रेष्ठ पुत्र गुणगान किया कि आप महान धन्य हैं, लोक में सर्वश्रेष्ठ पुत्र आपके घर अवतरित हुआ है। आप जगत के गुरु के भी गुरु (माता-पिता) हैं, आप अनेक कल्याण को प्राप्त करनेवाले हैं, आप का यह महल आज जिनालय समान पूज्य हैं। क्योंकि उसमें साक्षात् जिनवर विराजमान हैं।

गुणगान करने के पश्चात् इन्द्र ने मेरू पर किये हुए जन्माभिषेक-उत्सव का उत्तम वर्णन किया, जिसे सुनकर माता-पिता को परम हर्ष एवं आश्चर्य हुआ। उन्होंने नगरजनों के साथ महान विभूतिसहित अयोध्यापुरी में पुनः भगवान का जन्मोत्सव किया। उस समय अयोध्यानगरी स्वर्गपुरी के समान सुशोभित हो रही थी। सारे जगत को आनंदित करनेवाला उत्सव अयोध्यापुरी में हुआ। नगरजनों का हर्षोल्लास देखकर इन्द्रने भी आनन्द नाम के नाटक द्वारा अपना आनन्द व्यक्त करते हुए पश्चात् अद्भुत ताण्डव नृत्य किया। नाटक द्वारा भगवान के महाबल आदि दस भव तथा गर्भ एवं जन्मकल्याणक के दृश्य प्रदर्शित किये। उस समय गम्भीर नाद पूर्वक एक साथ करोड़ों बाजे बज रहे थे....और इन्द्र हजार हाथ तथा हजार नेत्र बनाकर आनन्द-नृत्य कर रहा था; उसकी उँगली पर देवियाँ नाचती थीं। इन्द्रका आश्चर्यकारी नृत्य देखकर महाराजा और महादेवी चकित हो गये। इन्द्रोंने जगतमें श्रेष्ठ ऐसे भगवान का 'वृषभदेव' नाम रखा। वृष अर्थात् उत्तम धर्म, उसके द्वारा (भाति) शोभायमान होने से तीर्थंकर भगवान को इन्द्र ने वृषभस्वामी कहा; अथवा भगवान को 'पुरुदेव' नाम से भी सम्बोधन किया। पश्चात् अनेक देवकुमारों तथा देवियों को भगवान की सेवा में नियुक्त करके इन्द्र अपने-अपने स्वर्ग मे चले गये। प्रभुके चरण में 'वृषभ चिह्न था।

## भगवान ऋषभकुमार की बालचेष्टा

भगवान ऋषभकुमार की बालचेष्टाएँ आश्चर्यजनक थीं। वे मन्द-मन्द हास्य द्वारा माता-पिता के आनन्द में वृद्धि करते थे। चन्द्रमा के समान वृद्धिंगत उनकी उज्ज्वल बाल्यावस्था जगत को आनन्द देनेवाली थी। क्रमानुकूल भगवान को वाणी प्रगट हुई, फिर धीरे-धीरे ठुमक-ठुमक कर चलने लगे...और सबका आनन्द बढ़ाने लगे। छोटे से भगवान देवबालकों के साथ रत्नों की धूल में खेलने और माता-पिता एवं प्रजाजनों को आह्लादित करते थे।

धीरे - धीरे बचपन बीता और भगवान किशोर अवस्था को प्राप्त हुए। महाप्रतापी भगवान का शरीर किशोरावस्था में अत्यन्त सौन्दर्य से खिल उठा। और गुणों में भी वृद्धि होने लगी। उस काल उनका मनोहर शरीर, मधुरवाणी, मीठी दृष्टि और मुस्कराहट पूर्ण मुखाकृति - वे सब संसार की प्रीति को भुलाकर भगवान के प्रति प्रीति उत्पन्न करते थे।

मति - श्रुत - अवधि इन तीन ज्ञानसहित तो भगवान अवतरित हुए थे। पूर्व भव के संस्कारों में किसीके सिखाये बिना ही वे सर्व विद्याओं में पारंगत थे। क्षायिक सम्यग्दर्शन द्वारा उनका चित्त निर्मल

था और स्वभाव से ही उन्हें आत्मज्ञान था, जिसके कारण उनके परिणाम अति शांत रहते थे और उनकी चेष्टाएँ जगत का हित करनेवाली थीं। ज्यों - ज्यों उनका शरीर और गुणों में वृद्धि होती गई त्यों त्यों लोगों का हर्ष भी बढ़ता जा रहा था। इस प्रकार जगत को आनन्द में वृद्धि करते हुए वे स्वयं वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। पूर्व संस्कारों से प्राप्त अनेक प्रकार की विद्याएं (लिपिविद्या, गणित विद्या आदि) तथा कलाएं (संगीत, चित्रकला आदि) वे दूसरों को सिखाते थे। कभी मोर, तोता, हंस, मुर्गा या हाथी के बच्चे का रूप धारण करनेवाले देवकुमारों के साथ आनन्द से क्रीडा करते, तो कभी देवियों द्वारा पूरी गई रत्नों की रंगोली प्रसन्नता से देखते थे; कभी स्वयंको देखने आये प्रजाजनों के साथ मधुर हास्य सहित संभाषण करके उन्हें प्रमुदित करते थे; - इस प्रकार ऋषभकुँवर सुखपूर्वक रहते और प्रतिदिन इन्द्र के भेजे हुए श्रेष्ठ वस्त्राभूषणादि भोगों का उपयोग करते थे।

## ऋषभकुमार का विवाह और भरत आदि १०१ पुत्र

ऋषभकुमार युवावस्था को प्राप्त हुए, उनका रुप-लावण्य अद्‌भुत शोभायमान हो उठा। उनका रक्त दूध के समान श्वेत था; शरीर में किसी प्रकारका मैल या प्रस्वेद नहीं था; विष या शस्त्र से अभेद्य परमऔदारिक था और मोक्ष का कारण था। भगवान के शरीर पर स्वस्तिक, कमल, समुद्र, हाथी, सिंह, सूर्य, चन्द्र, रत्नद्वीप, वृषभ, जम्बूद्वीप, आठ प्रतिहार्य, अष्टमंगल द्रव्य आदि १००८ सुलक्षण शोभायमान थे। राग-द्वेष रहित भगवान के चित्त में चंचल लक्ष्मी के प्रति अत्यल्प प्रेम था।

भगवान की युवावस्था देखकर नाभिराजा एक दिन सोचने लगे कि - इन ऋषभदेव के चित्त को हर ले ऐसी सुन्दर कन्या कहाँ होगी? और कदाचित् ऐसी कन्या मिल भी जाय तो विषयराग अति मन्द होने से इनका विवाह करना कठिन है। तथा दूसरी बात यह है कि - धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति हेतु उनका महान उद्यम है इसलिये वे अवश्य ही संसार बंधन तोड़कर मस्त हाथी का भाँति वन में चले जायँगे और दीक्षा धारण करेंगे। तथापि, दीक्षाकाल आने से पूर्व इनके लिये योग्य कन्या का विचार करना चाहिये।

—ऐसा विचार कर, नाभिराजा भगवान के पास गये और बोले: हे देव! आप तो जगत के अधिपति एवं स्वयंभू हो; आपकी उत्पत्ति में हम माता-पिता हैं यह तो मात्र लोकव्यवहार है। मेरी अभ्यर्थना है कि आप संसारसृष्टि में भी अपना चित्त लगाओ और किसी श्रेष्ठ कन्या के साथ विवाह की संमति दो। यदि आप मुझे किसी भी प्रकार गुरु (बड़ा) मानते हों तो मेरे वचनका उल्लंघन नहीं करना चाहिये।

इतना कहकर नाभिराजा चुप रहे, तब भगवानने सहज हँसते हँसते 'ओम्' कहकर उस बात का स्वीकार किया। नाभिराजाने अत्यन्त हर्षपूर्वक इन्द्र की सलाह लेकर कच्छ और महाकच्छ राजा की दो बहिने यशस्वती एवं सुनन्दा के साथ ऋषभकुमार का विवाहोत्सव रचाया। देवों ने भी प्रसन्नता से उस उत्सव में भाग लिया। पुत्रवधुओं को देखकर नाभिराजा और मरुदेवी अति प्रसन्न हुए। भगवान ऋषभदेव में कामदेव यद्यपि अतिशय भग्न हो गया था तथापि गुप्त रुप से वह अपना संचार करता था; इसलिये दोनो रानियों के साथ भोगोपभोग में दीर्घकाल व्यतीत हो गया।

एक रात्रि को यशस्वती महादेवी ने स्वप्न में ग्रस्त हो गई पृथ्वी, मेरुपर्वत, सूर्य, चन्द्र, हंसयुक्त सरोवर तथा तरंगायमान समुद्र देखे। भगवानने अवधिज्ञानरूपी दिव्यचक्षु द्वारा उन उत्तम स्वप्नों का फल

जानकर कहा कि - हे देवी! तेरे महाप्रतापी चक्रवर्ती पुत्र होगा; और तरंगयुक्त समुद्र यह सूचित करता है कि वह पुत्र चरमशरीरी होकर संसारसमुद्र को पार करेगा। तथा इक्ष्वाकुवंश को आनन्द देने वाले तेरे सौ पुत्रों में वह सबसे बड़ा होगा। पति के मुख से स्वप्न का उत्तम फल जानकर यशस्वती देवी को महान हर्ष हुआ।

पूर्वभव में जो अति गृद्ध राजा था; पश्चात् सिंह होकर संल्लेखना धारण कर स्वर्ग में गया था; फिर वृषभदेव की वज्रजंघ पर्यायमें उनका मतिवर नामक मंत्री हुआ था, - जोकि आहारदान के समय उनके साथ था; पश्चात् देव हुआ, फिर सुबाहु हुआ, फिर सर्वार्थसिद्धि में गया; वह जीव वहाँ से च्यवकर यशस्वती देवी की कोख से ऋषभदेव के पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ; भरत चक्रवर्ती जैसे उस वीर पुत्र को धारण करनेवाली माता चमचमाती तलवाररूपी दर्पण में अपने मुख की कान्ति देख रही थी और रत्नों से भरी हुई भूमि समान शोभती थी। जिस दिन भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ था ठीक उसी दिन (चैत्र कृष्णा नौवीं के दिन) यशस्वतीदेवी ने भरत चक्रवर्ती को जन्म दिया। जन्मते ही उन्होंने दोनों हाथों से पृथ्वी का आलिंगन किया, जिससे निमित्त ज्ञानियोंने कहा कि वे समस्त पृथ्वी के अधिपति होंगे। ऐसे पुत्र के जन्म से उनके दादा नाभिराय तथा दादीमाँ मरुदेवी परम हर्षित हुए; सौभाग्यवती स्त्रियाँ देवी यशस्वती को शुभाशीष देने लगीं कि - 'तुम ऐसे सौ पुत्रों की माता होओ-।' उस समय आनन्द के करोड़ों नगाड़ें मेघगर्जन की भाँति गरज रहे थे, अनेक प्रकार के वाद्य बज रहे थे; आकाश में देव-देवियों द्वारा 'जय हो...जय हो! चिरंजीव हो!' ऐसे शब्द गूंज रहे थे। राजमहल में रत्नों की रंगोली और स्वर्णकलश जगह-जगह शोभा दे रहे थे। सारी अयोध्यानगरी में उत्सव हो रहा था। ऋषभदेव ने खूब दान दिया था और भरतक्षेत्र का अधिपति होनेवाले उस पुत्र का 'भरत' नामसे नाम संस्करण किया था। इतिहासकार कहते हैं कि हिमवन् पर्वत से लेकर समुद्रतक का क्षेत्र वह 'भरत' चक्रवर्ती के नाम से 'भारतवर्ष' कहलाया। विधि के जानकर महाराज ऋषभदेव ने उस पुत्र के वस्त्र परिधान एवं मुण्डनादि संस्कार किये थे। भरत की चेष्टाएँ उनके पिता ऋषभदेव जैसी ही थीं। उनकी हथेली चक्रादि शुभचिह्नों से शोभायमान थी। उनके पाँव में भी चक्र, छत्र, तलवार आदि १४ रत्नों के चिह्न थे, मानो अभी से यह १४ रत्न उनकी सेवा कर रहे हो! वे चरमशरीरी थे। चक्रवर्ती के क्षेत्र में (छह खण्ड में) रहनेवाले सब मनुष्यों और देवों का जितना बल हो उसकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक बल उन चक्रवर्ती की भुजाओं में था। उनकी आकृति एवं स्वभाव दोनों सुन्दर थे। वे एक दिव्य पुरुष थे और उनकी चेष्टाएँ अद्भुत थीं। विशिष्ट पुण्य के कारण उन्हें ऐसी लोकोत्तर सम्पदा प्राप्त हुई थी। जिन्हें अरिहंत पद की लक्ष्मी प्राप्त होनेवाली है ऐसे भगवान ऋषभदेव भरत के आनन्ददायी मुख को देखते थे और जब मधुरवचन सहित प्रणाम करके वे बैठते थे तब बारम्बार आलिंगन करके उन्हें अपनी गोद में बिठाते थे।

पूर्वभव के अन्य साथी भी सर्वार्थसिद्धि में भगवान ऋषभदेव के पुत्ररूप में यशस्वती के कोख से पैदा हुए।

भगवान की वज्रजंघ पर्याय में जो अकम्पन सेनापति था (और वज्रनाभि पर्याय में पीठ नाम का भाई था) वह वृषभसेन नामक पुत्र हुआ।

जो धनमित्रसेठ (महापीठ नामका भाई) था वह अनन्तविजय नामक पुत्र हुआ।

सिंह का जीव (विजय नाम का भाई) था वह अनन्तवीर्य नामक पुत्र हुआ।

शूकर का जीव (वैजयन्त नाम का भाई) था वह अच्युत नामक पुत्र हुआ।

बन्दर का जीव (जयन्त नाम का भाई) था वह वीर नामक पुत्र हुआ।

नेवले का जीव (अपराजित नाम का भाई) था वह धरवीर नामक पुत्र हुआ।

तदुपरान्त ब्राह्मी नाम की एक पुत्री हुई।

आनन्द पुरोहित का जीव, जो पूर्वभव में महाबाहु नाम का भाई था, वह सर्वार्थसिद्धि से च्यवकर सुनन्दा रानी की कोख से बाहुबलि नामक पुत्र हुआ; तथा वज्रजंघ पर्याय में जो अनुंधरी नामक बहिन थी वह यहाँ सुन्दरी नाम की सुन्दर पुत्री हुई।

—इस प्रकार भगवान ऋषभदेव के कुल १०१ पुत्र हुए। सभी महाप्रतापी एवं चरमशरीरी थे। भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे, तो उनके प्रतापी पुत्रों में भरत प्रथम चक्रवर्ती, बाहुबलि प्रथम कामदेव और वृषभसेन प्रथम गणधर थे। अहा! कैसा महान परिवार!

ऐसे उत्तम पुत्र-पुत्रियों के परिवार में सुशोभित महाराज ऋषभदेव एक बार सिंहासन पर विराजमान थे। वहाँ ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों पुत्रियों ने आकर विनयपूर्वक पिताजी को प्रणाम किया। भगवान ने उन्हें गोद में बिठाकर उनके मस्तक पर हाथ फेरा और उन पुत्रियों के साथ विनोद किया, उनके शील एवं विनय की प्रशंसा की। फिर कहा कि - तुम्हारा दोनों के ऐसे अनुपम सौन्दर्य और शील को यदि विद्या द्वारा विभूषित किया जाय तो तुम्हारा जन्म सफल हो जाय! इस लोक में विद्वान मनुष्य पण्डितों द्वारा सन्मान प्राप्त करते हैं, विद्या ही सच्चा भाई और सच्चा मित्र है, विद्या ही सदा साथ रहने वाला धन है; सच्ची विद्या द्वारा सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं। इसलिये हे पुत्रियो! तुम विद्या ग्रहण करो।

—ऐसा कहकर भगवान ने उन दोनों को बारम्बार आशीर्वाद दिया, और अपने चित्त में स्थित श्रुतदेवता का स्मरण करके दोनों हाथों से अ आ आदि अक्षरमाला तथा १ २ ३ आदि अंक सिखाये। भगवान के श्रीमुख से निकली हुई और 'सिद्धमातृका' जिसका नाम है, तथा 'सिद्धं नमः' ऐसा अत्यन्त प्रसिद्ध जिसका मंगलाचरण है - ऐसी शुद्ध अक्षरावलि तथा गणित, व्याकरण काव्यादि समस्त विद्याएँ ब्राह्मी और सुन्दरीने धारण कीं। पिता ही जिनके गुरु हैं ऐसी वे दोनों पुत्रियाँ विद्या द्वारा सुशोभित हो गईं। भगवान ने भरत - बाहुबलि आदि सर्व पुत्रों को भी चित्रकला, नाट्यकला आदि अनेक प्रकार की विद्याएँ पढाई और साथ ही साथ अध्यात्मविद्या के भी उत्तम संस्कार दिये।

## प्रजाजनों को मार्गदर्शन; और राज्याभिषेक

भगवान ऋषभदेव की आयु चौराशी लाख पूर्व की थी; उसमें से कुमारावस्था के बीस लाख पूर्व पूर्ण हुए और काल के प्रभाव से (तीसरा आरा समाप्त होकर चौथा आरा निकट आ रहा था इसलिये) कल्पवृक्ष सूखने लगे, उनकी फल देने की शक्ति कम हो गई; बिना बोये जो अनाज उगते थे वे भी दुर्लभ हो गये और प्रजा में रोगादि फैलने लगे; जिससे भयभीत होकर जीने की आशा से प्रजाजन नाभिराजा के पास आये और नाभिराजाने उन्हें युवराज ऋषभदेव के पास भेजा।

सनातन भगवान की शरण में आकर प्रजाजन कहने लगे कि हे देव! पिता समान हमारा पालन करने वाले कल्पवृक्ष अब नष्ट हो गये हैं, भूख-प्यास तथा शीत-उष्णता के अनेक उपद्रव होने लगे हैं, तो इन उपद्रवों से हमारी रक्षा हो और आजीविका चलती रहे ऐसा उपाय बतलायें, हम पर प्रसन्न होकर हमें उपदेश देवें।

प्रजा के दीनवचन सुनकर भगवान के हृदय में दया जागृत हुई। उन्होंने भयभीत प्रजा को आश्वासन

किया और मनमें विचारने लगे कि - कल्पवृक्ष नष्ट होने का कारण यह है कि अब यहाँ भोगभूमि का काल पूर्ण होकर कर्मभूमि का प्रारम्भ हुआ है; इसलिये असि-मसि-कृषि (अर्थात् रक्षा - व्यापार - खेती - लेखन) आदि कार्यों की तथा भिन्न-भिन्न ग्राम, गृह पश्चात् आदि की जैसी रचना पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में वर्त रही है वैसी यहाँ प्रवर्तित करना योग्य है, जिससे लोगों की रक्षा एवं आजीविका सुखपूर्वक हो।

ऐसा विचार कर भगवान ने इन्द्र का स्मरण किया कि तुरन्त ही इन्द्र और देव आ पहुँचे और भगवान की आज्ञानुसार शुभमुहूर्त में सर्वप्रथम मांगलिक कार्य करके अयोध्यापुरी के बीचोंबीच विशाल जिनमन्दिर की रचना की और चारों दिशाओं में भी एक-एक जिनमन्दिर का निर्माण किया। पश्चात् सुकौशल, अवन्ति, वत्स, पांचाल, मालव, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, काश्मीर, कच्छ, सुराष्ट्र, महाराष्ट्र, विदर्भ, कुरु जांगल, कोंकण, वनवास, आंध्र, कर्णाट, कौशल, केरल, शूरसेन, विदेह, सिन्धु, गांधार, कम्बोज, केकय आदि अनेक देशों की तथा ग्राम नगरों की रचना की। विजयार्ध - पर्वत से लेकर दक्षिण छोर में लवणसमुद्र तक के उन देशों में प्रजाजनों को बसाकर राजव्यवस्था की। इन्द्र ने पुर-नगर की रचना की इसलिये उसका 'पुरन्दर' नाम सार्थक हुआ।

महाराजा ऋषभदेव ने प्रजाजनों को शस्त्र, लेखनी, विद्या, व्यापार, खेती एवं शिल्प - इन छह कार्यों द्वारा आजीविका का उपदेश दिया, क्योंकि वे अभी सरागी थे, वीतराग नहीं थे। इस प्रकार भगवानने छह कर्म के उपदेश द्वारा कर्मयुग का प्रारम्भ किया इसलिये वे 'कृतयुग' अथवा 'युगकर्त्ता' और वे ही सृष्टि के ब्रह्मा कहलाये। इसके अतिरिक्त कोई ब्रह्मा या सृष्टिकर्त्ता नहीं है। यह सब रचना श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन हुई। इस रचना द्वारा प्रजा का पालन किया इसलिये भगवान 'प्रजापति' कहलाये। प्रजा सुखपूर्वक रहने लगी।

कुछ समय पश्चात् इन्द्रादि देवों ने आकार भगवानं को सम्राट पद पर स्थापित करके महान राज्याभिषेक किया; उस समय असंख्य योजन दूर स्वयंभूरमणसमुद्र से देव दिव्य स्वर्ण कलशों में जल भर-भरकर लाये थे और भगवान का अभिषेक किया था। अभिषेक के पश्चात् स्वर्गलोक से लाये हुए वस्त्राभूषण पहिनाये, और नाभिराजाने अपने मस्तक का राजमुकुट उतारकर भगवान के मस्तक पर पहिनाया; उस समय इन्द्र ने 'आनन्द' नामक नाटक द्वारा अपना आनन्द व्यक्त किया।

भगवान ऋषभ राजाने प्रजा का भली भाँति पालन किया और प्रत्येक वर्ग अपने-अपने योग्य कार्यों द्वारा आजीविका उपार्जन करे ऐसे नियम बनाये, तथा प्रजा के योग एवं क्षेम की (अर्थात् नवीन वस्तु की प्राप्ति तथा प्राप्त वस्तु की रक्षा की) व्यवस्था की; और 'हा, मां! तथा धिक्' ऐसे दण्ड की व्यवस्था की। तथा हरि (हरिवंश), अकम्पन (नाथवंश), काश्यप (उग्रवंश) और सोमप्रभ (कुरुवंश) - इन चार क्षत्रियों को माण्डलिक बनाया। उन प्रत्येक के अन्तर्गत अन्य चार हजार राजा थे। भगवानने अपने पुत्रों को भी यथायोग्य महल वाहन आदि सम्पत्ति दी। उस समय भगवानने लोगों को गन्ने के रस का (इक्षुरस का) उपयोग करना बतलाया इसलिये वे इक्ष्वाकुलु कहलाये।

महाराजा ऋषभदेव का राज्यकाल ६३ लाख पूर्व का था। पुत्र-पौत्रों के साथ इतना दीर्घकाल देखते ही देखते व्यतीत हो गया। इन्द्र उनके लिये स्वर्ग से पुण्यसामग्री भेजता था। इस संसार में पुण्य से क्या प्राप्त नहीं होता? दान, संयम, क्षमा, सन्तोष आदि शुभ चेष्टा द्वारा पुण्य की प्राप्ति होती है।

संसार में तीर्थंकरपद तक के उत्तमपद की प्राप्ति पुण्य द्वारा ही होती है। हे पण्डितजन! श्रेष्ठसुख की प्राप्ति हेतु शुभ धर्म का सेवन करो। वास्तविक सुख की प्राप्ति होना वह धर्म का ही फल है। हे बुद्धिमान! तुम सुख चाहते हो तो श्रेष्ठ मुनियों को भक्ति से दान दो, तीर्थंकरों को नमस्कार करके उनकी पूजा करो, शीलव्रतों का पालन करो और पर्व के दिनों में उपवासादि करों; स्वाध्याय करो; साधर्मी का सम्मान करो।

इस प्रकार पूर्व के आराधक पुण्य के प्रताप से, उत्तम देव-देवेन्द्र भी जिनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे, परन्तु जिनके ऊपर किसीकी आज्ञा नहीं चलती थी ऐसे उन महात्मा ऋषभदेव ने अयोध्या के राजसिंहासनपर आरूढ़ होकर समुद्रपर्यन्त समस्त पृथ्वी का राज्य किया।

## महाराजा-ऋषभदेव को वैराग्य और दीक्षा

**(अयोध्यानगरी और चैत्र कृष्णा नवमी...)**

आज भगवान ऋषभदेव का जन्मदिन आनन्दपूर्वक मनाया जा रहा है। उस उत्सव में सम्मिलित होने के लिये इन्द्र भी अप्सराओं को लेकर आ पहुँचा और भगवान को प्रसन्न करने के लिये नृत्य प्रारम्भ किया भगवान अप्सराओं का अद्भुत नृत्य देख रहे थे।

उस समय इन्द्र को विचार आया कि भगवान ऋषभदेव का अवतार तीर्थंकर होने के लिये हुआ है और वे धर्मचक्र का प्रवर्तन करनेवाले हैं। इस राजवैभव में उनके ८३ लाख पूर्व तो बीत गये हैं; अब इस राज्य और भोगों से भगवान कब विरक्त होंगे! ऐसा विचार कर उसने नीलांजना नाम की एक ऐसी देवी को नृत्य में लगाया कि जिसकी आयु कुछ ही क्षणों में पूरी होनेवाली थी।



वह नीलांजना देवी हावभावसहित घूम-घूमकर नृत्य कर रही थी; नृत्य करते-करते ही उसकी आयु पूर्ण होने से क्षणभर में वह विलुप्त हो गई। बिजली की चमक की भाँति वह देवी अदृश्य होते ही इन्द्रने उसी जैसी दूसरी देवी नृत्य में उतार दी ताकि रंग में भंग न हो; परन्तु दिव्य ज्ञानवंत भगवान वह जान गये और संसार की ऐसी क्षणभंगुरता देखकर तत्क्षण ही भव-तन-भोग से अत्यन्त विरक्त होकर वैराग्य की बारह भावनाओं का चिन्तवन करने लगे।

अरे, उस मनोहर देवी का स्वरूप निमिषमात्र में दृष्टि से ओझल हो गया - अदृश्य हो गया! ऐसा जो माया-नाटक इन्द्र ने किया। वह वास्तव में तो उस बुद्धिमानने मुझे प्रतिबोध देने की युक्ति की है। उस नीलांजनादेवी के दिव्य शरीर की भाँति जगत के सब संयोग क्षणभंगुर हैं, अब मुझे उनसे क्या प्रयोजन? भोगोपभोग तो भाररुप हैं। ऐसे असार संसार से तथा क्षणिक राजभोगों से अब बस होओ! मेरा अवतार इन राजभोगों के हेतु नहीं है, परन्तु आत्मा की पूर्णता साधकर तीर्थंकर होने के लिये मेरा यह अवतार है...यह अवतार मोक्ष साधने के लिये है।

इस प्रकार वैराग्यचिन्तनपूर्वक भगवान इस असार संसार से विरक्त हुए और शीघ्र मुक्तिसाधना के उद्यम में लग गये। उस समय उन्हें ऐसी विशुद्धि प्रगट हुई - मानो मुक्ति की सहेली ही आ पहुँची हो। मोक्ष में ही जिनका चित्त लगा है, से उन भगवान को सारा जगत् शून्य समान असार लग रहा था। भगवान के अंत:करण की समस्त चेष्टाओं से इन्द्र ने अवधिज्ञान द्वारा जान लिया कि भगवान अब संसार से विरक्त हो गये हैं और मुनिदीक्षा हेतु तत्पर हुए हैं।

तुरन्त ही ब्रह्मस्वर्ग से लौकान्तिक देव भगवान के तपकल्याणक की पूजा करने उतरे और स्तुतिपूर्वक वैराग्य का अनुमोदन किया। आठ प्रकार के वे लोकान्तिक देव पूर्वभव में सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के अभ्यासी (श्रुतकेवली) होते है; वे अत्यन्त शान्त और सर्व देवों में उत्तम तथा एकावतारी होते है, लोक का अन्त प्राप्त किया होने से अथवा ब्रह्मलोक के अंत में रहने के कारण उन्हें लोकान्तिक कहा जाता है। मुक्तिसरोवर के किनारे रहे हुए वे देव स्वर्ग के हंस समान हैं। उन्होंने आकर कल्पवृक्ष के फूलों द्वारा भगवान के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित की और स्तुति करने लगे कि - हे भगवान! मोह शत्रु को जीतने के लिये आप उद्यमी हुए हैं, उससे ऐसा सूचित होता है कि आपने भव्य जीवो के प्रति भ्रातृत्व का कार्य करने का विचार किया है अर्थात् भ्राता की भाँति भव्य जीवों की सहायता का आपने विचार किया है। हे ज्योतिस्वरुप देव! हम आपको समस्त उत्तम कार्यों का कारण मानते हैं। प्रभो! केवलज्ञान के प्रकाश द्वारा आप अज्ञान में डूबे हुए संसार का उद्धार करेंगे। आप के द्वारा दरशाये गये धर्मतीर्थ को प्राप्त करके भव्य जीव इस दुस्तर संसार समुद्र को लीला मात्रमें पार कर लेंगे। आपकी वाणी भव्य जीवों के मनको प्रफुल्लित करेगी। प्रभो! आप धर्मतीर्थ के नायक हो। मोहरूपी कर्दम में फँसे हुए इस जगत को धर्मरूपी हाथ का अवलम्बन देकर आप शीघ्र उद्धार करेंगे। प्रभो! आप स्वयंभू हो। मोक्ष का मार्ग आपने स्वयं जान लिया है। और हम सबको आप वह मुक्तिमार्ग का उपदेश देंगे। प्रभो! हम आपको प्रेरणावाले कोण? यह तो मात्र हमारा शिष्टाचार है। भव्य-चातक मेघ बरसने की भाँति आपका धर्मामृत की राह देख रहे है। प्रभो! आपका यह काल धर्मरूपी अमृत को उत्पन्न करने के लिये योग्य है, इसलिये हे विधाता! धर्म की सृष्टि करो। प्रभो! अनेक बार भोगे जाचुके भोगों को अब आप छोड़ो। पुन: पुन: चाहे जितनी बार भोगने पर भी उन भोगों के स्वाद में कोई नवीनता नहीं आ जाती; इसलिये उन भोगों को छोड़कर मोक्ष के लिये तत्पर होओ और उद्यम द्वारा मोहशत्रु को जीतो!

इस प्रकार ब्रह्मर्षि देवों द्वारा स्तुति किये जाने पर भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा धारण करने की अपनी बुद्धि को दृढ़ किया। कृतार्थ हुए लोकान्तिक देव हंसों की भाँति आकाशमार्ग को प्रकाशित करते-करते अपने स्वर्ग में चले गये। उसी समय आसन डोलने से इन्द्रादि देवों ने भगवान के तपकल्याणक का अवसर जान लिया और सब उत्सव करने हेतु अयोध्यानगरी में आ पहुँचे। क्षीरसमुद्र के जल से भगवान का महाअभिषेक किया। भगवान ऋषभदेव ने भारतवर्ष के साम्राज्य पर भरत का अभिषेक किया और बाहुबलि को युवराज पद दिया।

एक ओर भगवान की दीक्षा महोत्सव और दूसरी ओर भरत के राज्याभिषेक का उत्सव; - एक साथ ऐसे दो महान उत्सवों से पृथ्वीलोक एवं स्वर्गलोक दोनों आनन्दविभोर हो गये थे। एक ओर भगवान दृढ़ संकल्पसहित राजपाट त्याग कर तप साम्राज्य के लिये कटिबद्ध हुए थे तथा दूसरी ओर राजकुमारों को पृथ्वी का राज्य सौंपा जा रहा था। दिक्कुमारी देवियाँ मंगल द्रव्य लेकर खड़ी थी...चारों ओर मंगल नौबत बाजे बज रहे थे। अयोध्या पुरी में चारों ओर आनन्द-आनन्द छाया हुआ था। करोडो देव और करोड़ो मनुष्य एक साथ उत्सव मना रहे थे। दो पुत्रों को राज्यभार सौंपकर तथा शेष ९९ पुत्रों को भी राज्य का भिन्न - भिन्न भाग देकर भगवान दीक्षा हेतु एकदम निराकुल हो गये थे; संसार सम्बन्धी कोई चिन्ता उन्हें नहीं रही थी।

माता-पिता आदि परिवार की विदा लेकर, इन्द्र द्वारा सजाई गई सुदर्शन नामकी सुन्दर शिविका पर जब भगवान आरूढ़ हुए तब इन्द्र ने अति आदरपूर्वक उन्हें अपने हाथ का सहारा दिया था। भगवान ऋषभदेव पहले तो परमविशुद्धता पर आरूढ़ हुए थे और पश्चात् शिविका पर; इसलिये उस समय भगवान ऐसे लग रहे थे मानो गुणस्थानों की श्रेणी चढ़ने का अभ्यास कर रहे हों। (हरिवंश पुराण में ऐसा आता है कि प्रारम्भ में ३२ डग भगवान स्वयं पैदल चले और फिर इन्द्र की प्रार्थना से पालकी में बैठे।) भक्ति पूर्वक भगवान की पालकी लेकर प्रथम तो भूमिगोचरी राजा सात डग चले, फिर विद्याधर राजा आकाशमार्ग से सात डग चले, और पश्चात् इन्द्र अति हर्षपूर्वक कन्धेपर पालकी लेकर आकाश में चले। अहा! भगवान की महिमा की क्या बात! कि देवों के अधिपति इन्द्रोंने स्वयं भी भगवान की पालकी कन्धेपर उठाई थी। भगवान पालकी में आरूढ़ हुए उस समय करोड़ों दुंदुभि वाद्य बज रहे थे। अद्भुत वैराग्यवैभव से सुशोभित भगवान ऋषभदेव समस्त जगत को आनन्दित करते हुए अयोध्यापुरी से बाहर निकले...उस समय वैराग्यपूरित उनके नेत्रों की चेष्टा अति प्रशान्त थी; असंग वैराग्य दशा को शोभा दे ऐसी उनके अंगोपांग की चेष्टा थी।

भगवान यह क्या कर रहे हैं? दीक्षा का अर्थ क्या? उससे अनभिज्ञ प्रजाजन भगवान से प्रार्थना कर रहे थे कि - हे देव! आप अपना कार्य पूर्ण करके शीघ्र ही हमें दर्शन देने पधारना। प्रभो! आप महान उपकारी हो, अब हमें छोड़कर और किसका उपकार करने के लिये आप जा रहे हो?

नगरजन एक-दूसरे के साथ बात करते थे कि यह देवगण भगवान को पालकी में कहीं दूर-दूर लिये जा रहे है, परन्तु क्यों लिये जा रहे हैं वह हमें मालूम नहीं, सम्भवतः भगवान की ऐसी ही कोई क्रीडा हो! अथवा पहले उनका जन्मोत्सव मनाने के लिये इन्द्र उन्हें मेरु पर्वत पर ले गये थे और फिर वापिस ले आये थे; -ऐसा ही कोई प्रसंग अपने महाभाग्य से बन रहा हो! तो वह कोई दुःख की बात नहीं है। अहा, भगवान का पुण्य कोई महान है, वचनातीत है। ऐसे आश्चर्यजनक दृश्य तो हमने कभी नहीं देखे। जब से भगवान इस पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं तब से समय-समय पर देवों का आगमन

होता ही रहता है।

भगवान अब राजवैभव से अत्यन्त विरक्त होकर, मस्त हाथी की भाँति स्वतंत्रता का सुख प्राप्त करने हेतु वनमें प्रवेश कर रहे हैं; भगवान की यह यात्रा उनके लिये सुख देनेवाली है। वे वनमें रहेंगे तब भी सुख उनके आधीन है। भगवान की जय हो...भगवान विजय को प्राप्त हों...और पुनः शीघ्र पधारकर हमारी रक्षा करें। इस प्रकार दीक्षा प्रसंग के जानकर तथा अनजान सर्व जन भगवान की स्तुति कर रहे थे और महात्मा भरत जिसे जो चाहिये उस वस्तु का दान कर रहे थे। यशस्वती, सुनन्दा आदि रानियाँ तथा मंत्रीगण भगवान के पीछे-पीछे चल रहे थे और उनके नेत्रों से आँसू बह रहे थे। महाराज नाभि तथा माता मरुदेवी भी हजारों राजाओं के साथ भगवान के तपकल्याणक का उत्सव देखने के लिये पीछे-पीछे जा रहे थे। सम्राट भरत और बाहुबलि आदि कुमार भी भगवान के पीछे चल रहे थे। भगवान की पालकी आकाश में इतनी ऊँचाई पर थी कि जहाँ लोग उन्हें बराबर देख सकें।

अयोध्या से थोड़ी दूर सिद्धार्थ नामक वन में आकर एक पवित्र शिलापर प्रभु विराजे। चन्द्रकान्त मणि की वह शिला ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो सिद्ध शिला ही दीक्षा कल्याणक देखने के लिये नीचे उतर आयी हो! उस पर अद्‌भुत मण्डप तथा रत्नों की रंगोली सजी हुई थी। वह शिला देखने पर जन्माभिषेक की पाण्डुक शिला का स्मरण होता था। भगवान जगत के बन्धु होने पर भी स्नेहबंधन से रहित थे। दीक्षा से पूर्व भगवानने देवों तथा मनुष्योंकी सभाको योग्य उपदेश द्वारा एवं प्रशान्त दृष्टी से प्रसन्न किया।

कोलाहल दूर हूआ और नीरव शान्ति छा गई, तब गंभीर मंगल नाद के बीच भगवानने अंन्तरंग एवं बहिरंग परिग्रह छोड दिया। आत्माकी, देवोंकी एवं सिध्दोंकी साक्षीपूर्वक समस्त परिग्रह छोडकर भगवान मुनि हो गये; पूर्व दिशा सन्मुख पद्मासन लगाकर, सिध्द परमेष्ठीको नमस्कार करके पंचमुष्टिसे केशलुंच किया। दिगंम्बर दीक्षाधारी भगवान जिनदीक्षा लेकर समस्त पापोंसे विरक्त हुऐ और समभाव रूप चारित्र (सामायिक) धारण किया। जिस तिथिको जन्म थे उसी तिथी को, चैत्र कृष्णा नौंवी के सायंकाल भगवानने मुनिदशा धारण की।

**भरत क्षेत्र के आद्य मुनिराज ऐसे श्री ऋषभमुनिराज को नमस्कार हो !**

भगवान के पवित्र केशोंको रत्नमंजूषामें भरकर इन्द्रने विचार किया की 'यह केश धन्य हैं जो भगवान के मस्तकके स्पर्शसे पवित्र हुऐ हैं, और क्षीर समुद्र भी धन्य है कि जिसे इन के की भेंट मिलेगी!' - ऐसा विचारकर स्वभाव से ही पवित्र ऐसे क्षीर समुद्र में अति आदरपूर्व उनके केशों का क्षेपण किया। मलिन माने जानेवाले केश भी भगवान के आश्रय से पूज्य बने, तो फिर महापुरुषों का आश्रय पाकर मलिन जीव भी पवित्र होकर पूज्य बन जायँ उसमें क्या आश्चर्य!

भगवान के साथ दूसरे चार हजार राजाओं ने भी दिगम्बर दशा धारण की; यद्यपि भगवान के अंतरंग अभिप्राय को वे जानते नहीं थे परन्तु 'हमारे स्वामी को जो अच्छा लग रहा वह हमें भी अच्छा लगा।' -इस प्रकार स्वामी भक्ति से प्रेरित होकर वे द्रव्यलिंगी साधु हुए। स्वामी का अनुसरण करना वह सेवकों का कार्य है - ऐसा विचार कर, उन राजाओं ने मूढ़ता सहित मात्र द्रव्य अपेक्षा से निर्ग्रन्थपना धारण किया था, भावअपेक्षा से नहीं। ऐसा करके बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए उन राजाओं ने भगवान के प्रति अपनी उत्कृष्ट भक्ति प्रगट की थी। जिनको संयम प्रगट नहीं हुआ है ऐसे उन ४००० द्रव्यलिंगी मुनियों के परिकर में भावलिंगी भगवान ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे छोटे-छोटे वृक्षों के बीच विशाल

कल्पवृक्ष शोभता है। भगवान के प्रति भक्ति के कारण वे द्रव्यलिंगी साधु भी अन्त में कल्याण को प्राप्त होंगे।

उस काल तप के अतिशय से ऋषभ मुनिराज का अनुपम रूप ऐसा शोभता था कि हजार-हजार नेत्रों से निरखने पर भी इन्द्र को तृप्ति नहीं होती थी। देवों ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक भगवान की पूजा-स्तुति की : हे प्रभो! हम अल्पज्ञ, आपके अगणित गुणों की स्तुति किस प्रकार कर सकते हैं? आपकी स्तुति के बहाने हम तो अपने आत्मा की उन्नति करते हैं। प्रभो! जिनवाणी समान एवं गंगा नदी की भाँति पवित्र आपकी यह पारमेश्वरी जिनदीक्षा तीनों लोक का हित करनेवाली तथा सम्यक्त्व भाव देनेवाली है, वह हमें सदा पवित्र करो। आपकी यह दीक्षा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नों से अलंकृत है। प्रभो! भव-तन-भोगरूप संसार को स्वप्नसमान जानकर आपने उसे छोड़ा और अविनाशी मोक्षमार्ग में गमन किया है; प्रभो! आपमें राग न होने पर भी आप मोक्ष में आसक्त हुए - यह आश्चर्य की बात है! तथा हे प्रभो! हेय और उपादेय वस्तुओं को जानकर आपने त्यागने योग्य वस्तुओं को त्याग दिया और उपादेय वस्तुओं को ग्रहण करने में उद्यमी हुए; - और फिर भी समदर्शी कहे जाते हो - यह भी आश्चर्य की बात है! आप पराधीन सुख को छोड़कर स्वाधीन सुख प्राप्त करना चाहते हो, तथा अल्प विभूति को छोड़कर महानविभूति प्राप्त करना चाहते हो, - तो फिर आप विरक्त और त्यागी किस प्रकार हुए! हे भगवान! आप निर्ग्रन्थ होने पर भी कुशल पुरुष आपको सुखी कहते हैं; ज्ञानदीपक लेकर आप मोक्षमार्ग में चल रहे हो; आपकी ध्यानरुपी महान अग्नि में आठों कर्म भस्मीभूत हो रहे हैं; आठ कर्मरूपी वन को काट देने के लिये आपने रत्नत्रयरूपी कुठार लिया है। प्रभो! अन्यत्र कहीं न हो ऐसी अद्भुत यह आपकी ज्ञान-वैराग्यरूपी सम्पत्ति ही आपको मोक्ष प्राप्त कराने के लिये समर्थ साधन है तथा आपकी शरण में आये हुए भक्त जीवों के संसार को भी वह नष्ट करती है; - ऐसी उत्कृष्ट ज्ञान सम्पत्ति को धारण करनेवाले हे वीतराग! आपको नमस्कार हो।



महाराजा भरतने भी अपने छोटे भाइयों तथा पुत्रोंसहित भक्ति के भार से अतिशय नम्रीभूत होकर अपने पिता की अनेक प्रकार से स्तुति तथा पूजा की। आत्मध्यान में लीन और मोक्षप्राप्तिरूप कार्य को साधने में तत्पर, मोह विजेता भगवान ऋषभमुनिराज के चरणों की अत्यन्त भावपूर्वक पूजा की। इस प्रकार जिन्होंने भगवान की पूजा की है तथा जिनके घुटने धरती पर टिके हैं (अर्थात् जो घुटने टेककर वन्दना करते हैं), और जिनके नेत्रों में हर्षाश्रु हैं; - ऐसे उन भरतने अपने मुकुट के उत्कृष्ट मणि की किरणों द्वारा भगवान के चरणों का प्रक्षालन करते हुए, उत्कृष्ट भक्तिपूर्वक नमन करके अपना मस्तक भगवान के चरणों में झुकाया और ऐसी मुनिदशा की भावना भाकर महान गुरुभक्ति प्रगट की।

इस प्रकार भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाकर सब अयोध्या की ओर लौटे।

दीक्षा के पश्चात् ऋषभमुनिराज आत्मध्यान में लीन हुए...तुरन्त ही उनको शुद्धोपयोग में सातवाँ गुणस्थान प्रगट हुआ, तथा उनके साथ मनःपर्ययज्ञान तथा अनेक लब्धियाँ प्रगट हुईं; उनका आत्मा

साक्षात् मोक्षमार्गरूप परिणमित हुआ।

## भगवान की तपस्या

भगवान ऋषभ मुनिराज शरीर का ममत्व छोड़कर मोक्ष को साधने के लिये छह महीने के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर मौनपूर्वक स्थिर हुए। वे ध्यान की सिद्धि के लिये प्रशमगुण की उत्कृष्ट मूर्तिसमान शोभते थे। तप की महिमा के कारण किसी अदृश्य छत्र द्वारा उनके ऊपर छाया हो गई थी; चार ज्ञान द्वारा भगवानने गति -आगतिको सम्पूर्णत: जान लिया था।

भगवान तो मुनि होकर अडिगरूप से आत्मध्यान में स्थिर हो गये, परन्तु दूसरे राजाओं का धैर्य दो-तीन महीने में टूटनेने लगा। भगवान के मार्ग पर चलने में असमर्थ ऐसे वे कल्पित मुनि विचार करने लगे कि - अरे! अब हमसे भूख-प्यास सहन नहीं होते; भगवान तो न जाने किस उद्देश से इस प्रकार खड़े है? अपनी रक्षा का विचार किये बिना वे ऐसे भयंकर वनमें खड़े हैं तो क्या 'अपनी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये' - इस नीति को भगवान नहीं जानते होंगे? भगवान तो प्राणों से विरक्त होकर ऐसी तप चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु हम तो खेदखिन्न हो रहे हैं। इसलिये भगवान अपना ध्यान पूर्ण करें तब तक हम इस वनके फल और कन्दमूल खाकर जीवन टिकाएँगे। - इस प्रकार वे दीन हो गये; क्या करना चाहिये वह उन्हें नहीं सूझ रहा था। 'भगवान हमसे जरूर कुछ कहेंगे' ऐसी आशा में वे भगवान को घेरकर खड़े हो गये; भगवान की ओर दृष्टि डालने से उन्हें कुछ धैर्य होता था। कुछ तो माता-पिता-स्त्री - पुत्र तथा राजपाट आदि का स्मरण करके घर जाने की आतुरता से भगवान के चरणों में नमन कर रहे थे; परन्तु उन्हें डर लग रहा था कि यदि हम अभी भगवान का साथ छोड़कर घर चले गये तो भगवान यह कार्य पूर्ण कर के जब पुन: राजपाट सँभालेंगे तब हमें अपमान करके हटा देंगे; अथवा तो भरत महाराजा हमें कष्ट देंगे; इसलिये यहाँ रहकर सहन करना ही ठीक है। अब तो जल्दी आज-कल में ही भगवान का योग सिद्ध होगा और हम सब कष्ट सहनेवालों को खूब धन-सम्पत्ति देकर संतुष्ट करेंगे। निर्बल हुए वे मुनि धरती पर पड़े-पड़े भी भगवान के चरणों का स्पर्श करते थे। कुछ लोग भगवान से पूछकर और कुछ बिना पूछे मात्र प्रदक्षिणा देकर प्राण रक्षा के लिये वन में अन्यत्र चले गये थे और व्रत छोड़कर शिथिलाचार पूर्वक वर्तने लगे थे। अकेले ऋषभ मुनिराज अपनी आत्मसाधना में लीन थे।

अरे, खेद है कि सामान्य मनुष्य जिसका स्पर्श नहीं कर सकते ऐसे भगवान के मार्ग पर चलने में असमर्थ वे सब झूठे ऋषि मुनिमार्ग से भ्रष्ट होकर इधर - उधर भटकने लगे। क्या विशाल हाथी के बोझ को उसका बच्चा कभी उठा सकता है? भूख-प्यास से विह्वल वे नग्नराजा अपने आप वनमें फल तोड़कर खाने लगे और तालाब का पानी पीने लगे। दिगम्बर मुनिवेष में ऐसी अयोग्य प्रवृत्ति देखकर वनदेवताने उन्हें रोका और कहा कि - ऐसे वेष में रहकर यह मत करो। अरे, मूर्खो! ऐसा दिगम्बर रूप तो तीर्थंकरादि महापुरुष मोक्ष की साधना के लिये धारण करते है; उसे लेकर तुम ऐसी कायर प्रवृत्ति मत करो। दिगम्बर वेश में रहकर फल मत तोड़ो और तलाव का अप्रासुक जल मत पियो। दिगम्बर साधुओं के बाह्य आचार भी उत्तम प्रकार के होते हैं।

वनदेवता के ऐसे वचन सुनकर वे राजा भयभीत हुए और नग्नवेश छोड़कर, वल्कल आदि अनेक प्रकार के कुवेश धारण करके स्वच्छन्दपूर्वक वर्तने लगे। भरत के भय के कारण वे लोग नगरमें नहीं

गये। और वनमें झूपडी बनाकर रहने लगे। उनके द्वारा अनेक पाखण्ड मतों का प्रवर्तन हुआ। तथापि वे जल और फल के उपहार द्वारा भगवान के चरण पूजते थे; क्योंकि स्वयंभू भगवान ऋषभदेव से सिवा अन्य कोई देव उनके नहीं थे।

भगवान का पौत्र मरीचिकुमार भी साधु बन गया था और मिथ्याउपदेश देकर उसने झूठे पंथ का प्रवर्तन किया था। जब वे द्रव्य लिंगी मुनि भ्रष्ट होकर उपरोक्त प्रवृत्ति कर रहे थे उस समय भी भगवान ऋषभदेव तो अडोल रूप से आत्मध्यान में ही लीन थे। तीन गुप्ति उनकी रक्षक थी, संयम उनका कवच था और सम्यग्दर्शनादि गुण उनके सैनिक थे। बारह प्रकार के तपमें से ध्यान में वे विशेष तत्पर रहते थे। पाँच महाव्रत, पाँच समिति पाँच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, केशलुंच, भूमिशयन, अदन्तधोवन, नग्नता, अस्नान, खड़े-खड़े आहार और दिन में एक बार आहार - ऐसे अट्ठाईस मूल गुण भगवान के पैदल सिपाही थे। यद्यपि छह महीने से भगवान ने कोई आहार नहीं लिया था, तथापि उनके शरीर में किंचित् निर्बलता नहीं थी, वह ज्यों का त्यों देदीप्यमान था; उनका ऐसा ही कोई दिव्य अतिशय था। उनके बाल जटासमान हो गये थे और हवा में उड़ने पर ऐसे लगते थे मानो ध्यानाग्नि द्वारा तपाये हुए जीवरुपी सोने में से कालिमा बाहर उड़ रही हो!

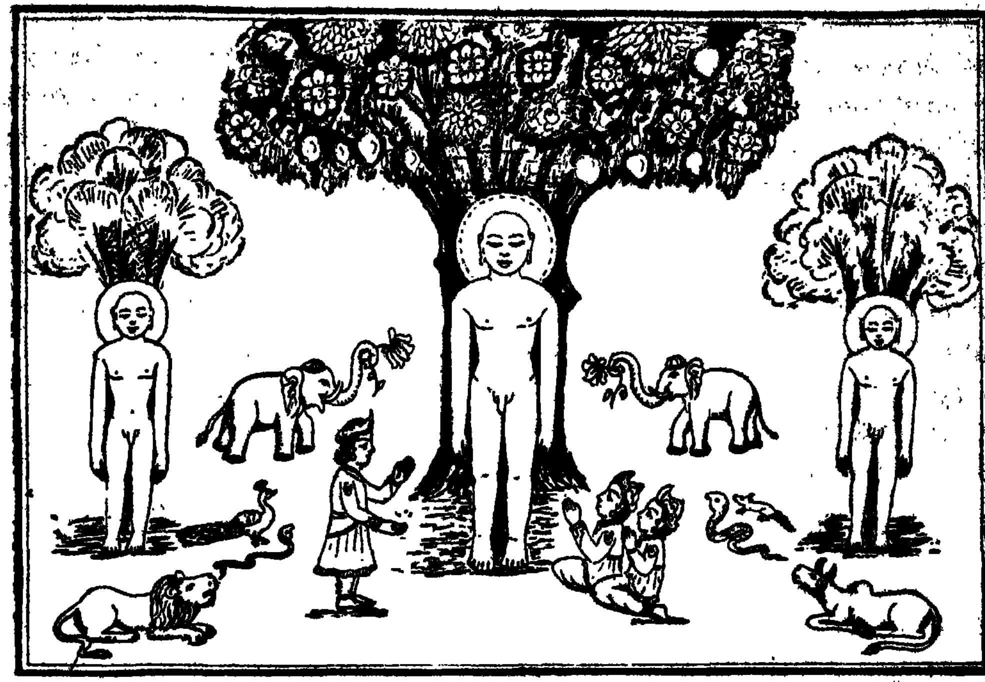
भगवान के तपरुपी तेज के प्रभाव से उस तपोवन में दिन को तथा रात्रि को सूर्योदय समान उत्तम प्रकाश रहता था। सिंह और हिरन वहाँ शान्तिपूर्वक रहते थे। अहा! यह कैसा आश्चर्य है कि झाड़ी में फँसी हुई अपनी पूंछ को छुड़ाने के लिये सुरागाय प्रयत्न कर रही है और शेर अपने नाखूनों द्वारा उसकी सहायता कर रहा है! गाय का बछड़ा शेरनी को अपनी माता समझकर उसका दूध पी रहा है, और शेर का बच्चा गाय को अपनी माता समझकर उसका दूध पी रहा है! साँप और नेवला एकसाथ बैठे हैं; वन के हाथी अपनी सूंढ में खिले हुए कमल लाकर प्रभु के चरणों में चढाते हैं! भगवान के आश्चर्यकारी तपसे इन्द्रासन भी डोल उठा था।

भगवान ऐसे तप में लीन थे उस बीच कच्छ- महाकच्छ राजा के (अर्थात् भरत के मामा के) पुत्र नमि और विनमि राजकुमार आकर भगवान की सेवा में लग गये और प्रार्थना करने लगे कि - हे भगवान! आपने सबको राज्य बाँट दिया परन्तु हमें तो कुछ नहीं दिया; हमें आप भूल ही गये; इसलिये हमें कुछ भोगसामग्री प्रदान करो...हम पर प्रसन्न होओ। - इस प्रकार बारम्बार भगवान के चरण पकड़कर प्रार्थना करने लगे और उनके ध्यान में विघ्न डालने लगे।

तब अपना आसन कम्पायमान होने से धरणेन्द्रने अवधिज्ञान द्वारा वह बात जान ली और तुरन्त भगवान के पास आकर प्रथम भक्तिपूर्वक पूजा की। पश्चात् वेश बदलकर नमि - विनमि कुमारों को समझाया कि हे कुमारों! यह भगवान तो भोगों से अत्यन्त निःस्पृह हैं, और तुम उनसे भोगों की याचना करते हो? तुम्हें भोगसामग्री चाहिये तो राजा भरत के पास जाकर माँगो ना? भगवान तो सब छोड़कर मोक्ष की साधना कर रहे हैं, वे तुम्हें भोगसामग्री कहाँ से देंगे? इसलिये तुम भरत के पास जाओ।

यह सुनकर दोनों कुमार बोले कि - हे महानुभाव! आप यहाँ से चुपचाप चले जाओ; हमें आपकी सलाह नहीं चाहिये। यद्यपि आप शान्त- सौम्य - तेजस्वी एवं बुद्धिमान हैं, आप कोई भद्रपरिणामी महापुरुष लगते हैं; परन्तु हमारे बीच क्यों पड़ते हो। यह हमारी समझ में नहीं आता। हम तो भगवान को ही प्रसन्न करना चाहते हैं। भगवान भले ही वनमें हैं, उससे क्या उनकी प्रभुता मिट

गई? भगवान को छोड़कर आप भरत के पास जाने को कहते हो वह ठीक नहीं है। विशाल समुद्र को छोड़कर कुएँ के पास कौन जाय? भरत में और भगवान में बड़ा अन्तर है वह क्या आप नहीं जानते?



भगवान के प्रति अत्यन्त भक्ति भरे उनके वचन सुनकर धरणेन्द्र प्रसन्न हुआ और प्रगट होकर कहने लगा कि हे कुमारो! मैं धरणेन्द्र हूँ और भगवान का सेवक हूँ। भगवानने मुझे आज्ञा दी है कि - 'यह नमि - विनमि कुमार महान भक्त हैं; जब वे राजवैभव माँगने आयें तब उनकी इच्छानुसार उन्हें राजसामग्री देना।' इसलिये हे कुमारो! चलो, मैं तुम्हें भगवान की बतलायी हुई राजसम्पदा दे दूँ।

धरणेन्द्र की बात सुनकर दोनों कुमार प्रसन्न हुए; उन्हें लगा कि सचमुच भगवान हमारे ऊपर प्रसन्न हो गये हैं। भगवान को नमस्कार करके वे धरणेन्द्र के साथ चल दिये। धरणेन्द्र उन्हें अपने विमान में बैठाकर विजयार्द्धपर्वत पर ले गये। यह विजयार्द्धपर्वत भरतक्षेत्र के मध्य स्थित है और उसके पूर्व-पश्चिम छोर लवण समुद्र को स्पर्शते हैं। उस शाश्वत पर्वत की शोभा अद्भुत है; हिमवन पर्वत के पद्मसरोवर से निकली हुई गंगा और सिन्धु नदियाँ इस पर्वत की गुफा में होकर बहती हैं। पर्वत के नौ शिखर जिनमन्दिरों से शोभायमान हैं। यहाँ रोग या दुर्भिक्ष आदि बाधाएँ नहीं होती। इस महान भरत क्षेत्र में मनुष्योंकी स्थिति चतुर्थ काल जैसी होती है; (आर्यखण्ड की भाँति छह प्रकार से कालपरिवर्तन यहाँ नहीं होता।) जघन्य आयु १०० वर्ष होती है। यहाँके विद्याधर मनुष्योंको महाविद्याओं द्वारा इच्छित फल प्राप्त होता है। अनाज बिना बोये उगता है; नदियोंकी रेत रत्नमय है। उत्तर श्रेणीमें ६० नगर हैं और दक्षिण श्रेणीमें ५० नगर हैं। विद्युतप्रभ, श्रीहर्म्य, शत्रुंजय, गगननन्दन, अशोका, अलका, कुन्दनगर,

गंधर्वपुर, गिरिशिखर, महेन्द्रपुर आदि उत्तरश्रेणीकी ६० नगरियाँ हैं; तथा पुण्डरीक, श्रीप्रभ, श्रीधर, रथनूपुर-चक्रवाल, संजयन्ती, विजया, क्षेमंकर, सूर्याभ आदि दक्षिणश्रेणीकी ५० नगरियाँ हैं; उनमें रथनूपुर राजधानी है। प्रत्येक नगरीमें एकहजार बड़े चौक और बारह हजार गलियाँ हैं, रत्नोंके तोरण से सुशोभित एकहजार द्वार हैं। प्रत्येक नगरीके अन्तर्गत एक-एक करोड़ गाम हैं। वहाँ रहनेवाले विद्याधर मनुष्य देवों जैसे सुखी हैं। चारणऋध्दिधारी मुनि भी यहाँ विचरते हैं।

ऐसे विजयार्ध्दपर्वत को देखकर नमि और विनमि दोनों राजकुमार आनंदित हुए। रथनूपुर-चक्रवाल नगरीमें प्रवेश करके धरणेन्द्रने उन दोनोंका राज्याभिषेक किया; नमिको दक्षिणश्रेणीका और विनमिको उत्तरश्रेणीका राज्य सौंपा; तथा वहाँ के विद्याधरोंको सूचना दी कि भगवान ऋषभदेवने इन दोनोंको यहाँ भेजा है, वे तुम्हारे स्वामी हैं, इसलिये उनकी आज्ञा का पालन करना। पश्चात दोनों राजकुमारोंको विद्या देकर धरणेन्द्र अपने स्थानपर चले गये।

यद्यपि वे दोनों कुमार जन्मसे विद्याधर नहीं थे, परन्तु पुण्ययोग से विद्याधरोंके देशमें आकर उन्होंने अनेक विद्याएँ सिद्ध कीं; और विद्याधर उनकी सेवा करने लगे। वास्तवमें तो मनुष्यका पुण्यही उसे सुखसामग्री प्राप्त करवाता है। जगत्‌गुरू भगवान ऋषभदेव के चरणोंकी सेवासे दोनों विद्याधरोंको सुख-समृध्दि की प्राप्ति हुई----इसलिये जो भव्यजीव मोक्षरूपी अविनाशी सुखको तथा जिनगुणोंको प्राप्त करना चाहते हों वे आदिगुरू भगवान ऋषभदेवके चरणोंमें मस्तक झुकाकर उन्हें नमस्कार करो तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करो!

## 卐 ऋषभमुनिका वर्षीतपके पश्चात् हस्तिनापुरीमें प्रथम पारणा 卐

अचिन्त्य महिमावंत भगवान ऋषभदेवका छह मासका ध्यानयोग समाप्त हुआ, तब उन्होंने विचार किया कि बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए इन नवदीक्षित साधुओंको मुनिमार्गकी आहारादि विधियोंका ज्ञान न होने से क्षुधा के कारण वे मार्गभ्रष्ट हो गये। इसलिये, मोक्षमार्ग क्या है, सुखपूर्वक मोक्षकी सिध्दि कैसे होती है, और संयमकी स्थिति हेतु निर्दोष आहार लेनेकी विधि क्या है वह प्रगट करनेकी आवश्यकता है - ऐसा विचारकर निर्दोष आहारकी प्रवृत्ति हेतु भगवान विहार करने लगे।

भगवान जहाँ - जहाँ पधारते वहाँ के लोग प्रसन्नता से आश्चर्यचकित होकर नमन करते और पूछते कि - हे देव! कहिये, क्या आज्ञा है? आप जिस कार्य हेतु यहाँ पधारे हैं वह हमें बतलाइये - आज्ञा दीजिये! अनेक लोग तो हाथी, रथ, वस्त्राभूषण, रत्न तथा भोजनादि सामग्री भगवान को अर्पण करनें के लिये लाते थे, तो कोई अपनी युवा कन्या भगवानसे विवाहने की इच्छा प्रगट करते! अरेरे! कैसा अज्ञान और कैसी मूर्खता! भगवान चुपचाप चले जाते थे। वे किस लिये पधारे हैं और क्या करना चाहिये वह नहीं समझ पाने से लोग दिग्मूढ़ बन गये थे। कुछ तो अश्रुपूरित नेत्रोंसे भगवानके चरणोंमे लिपट जाते थे। -इस प्रकार अनेक नगरों तथा गामों में विहार करते-करते दूसरे छह महीने से अधिक समय निराहार बीत गया।

एक दिन विहार करते हुए भगवान कुरूदेशके हस्तिनापुर नगर में आ पहुँचे। उस समय वहाँके राजा सोमप्रभ और उनके लघुभ्राता श्रेयांसकुमार थे। पूर्वके आठवें भवमें आहारदानके समय जो 'श्रीमती' थी, वही यह श्रेयांसकुमार हैं। भगवान जिस दिन हस्तिनापुर पधारनेवाले थे उसी दिन रात्रिके पिछले प्रहरमें श्रेयांसकुमारने पूर्वसंस्कार के बलसे, मंगल पूर्वसूचनारूप सात उत्तम स्वप्न देखे - 'ऊँचा सुमेरू पर्वत, सुशोभित कल्पवृक्ष, केसरी सिंह, वृषभ, सूर्य-चन्द्र, रत्नोंसे भरा समुद्र और अष्टमंगलसहित देव।

अपने आँगनमें भगवानका पदार्पण जिनका मुख्य फल है - ऐसे वे सात मंगलस्वप्न देखकर श्रेयांसकुमार का चित्त अति प्रसन्न हुआ।

प्रभात होते ही दोनों भाई उस स्वप्नकी बात और भगवान ऋषभदेवका गुणगान कर रहे थे कि - इतने में योगिराज भगवानने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। भगवानके आगमनसे आनन्दित होकर चारों ओरसे नगरजनोंके समूह भगवान के दर्शन करने उमड़ पड़े। भोलेभाले लोग कहते थे कि भगवान फिर अपनी रक्षा करने पधारे हैं; 'ऋषभदेव जगत के पितामह हैं' ऐसा सुना था, उन जगत्‌पिता को आज प्रत्यक्ष देखा। भगवानके आगमन की बात सुनकर नगरजन भोजनादि कार्य छोड़कर शीघ्रातिशीघ्र दर्शन करने के लिये निकल पड़े। जब सारे नगरमें ऐसा हर्षमय कोलाहल हो रहा था तब भी भगवान तो अपने संवेग और वैराग्य की सिध्दिके लिये वैराग्य भावनाओंका चिन्तन करते-करते अपने आत्मकी लगन में लीन होकर चले आ रहे थे। आचार्यदेव कहते हैं कि, अहो, ऐसी राग-द्वेषरहित समतावृत्तिको धारण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

भगवान ऋषभमुनिराज राजमहलके सामने पधार रहे हैं यह जानकर 'सिध्दार्थ' नामक द्वारपालने तुरन्त ही राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांसकुमारको बधाई दी कि भगवान ऋषभदेव अपने आँगनमें पदार्पण कर रहे हैं....

सुनते ही दोनों भाई मंत्री आदि सहित खड़े हुए और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजमहलके प्रांगणमें आकर दूरसे ही भगवानके चरणोंमें भक्तिभावपूर्वक नमस्कार किया। भगवानके पधारते ही सन्मानसहित पादप्रक्षालन करके अर्घ चढ़ाकर पूजा की और प्रदक्षिणा दी। अहा, अपने आँगन ऐसे निधान देखकर उन्हें अति सन्तोष हुआ; भगवानके दर्शनसे दोनों भाई हर्षोल्लाससे रोमांचित हो गये। आनन्द एवं भक्तिसे नम्रीभूत वे दोनों भाई इन्द्र समान सुशोभित हो रहे थे। जिसप्रकार निषध और नीलपर्वतोंके बीच उन्नत मेरूपर्वत शोभता है, उसीप्रकार श्रेयांस और सोमप्रभा के बीच भगवान ऋषभदेव शोभायमान हो रहे थे।

भगवानका रूप देखते ही श्रेयांसकुमार को जातिस्मरण हुआ और पूर्वभवके संस्कारके कारण भगवानको आहारदान देनेकी बुध्दि प्रगट हुई। पूर्वके वज्रजंघ एवं श्रीमतीके भवका सारा वृत्तान्त उन्हें स्मरण हो आया। उस भवमें सरोवर के किनारे दो मुनिवरोंको आहारदान दिया था वह याद आया। प्रभातका यह साम्य मुनियोंको आहारदान देनेका उत्तम समय है - ऐसा निश्चय करके उन पवित्र बुध्दिमान श्रेयांसकुमारने ऋषभ मुनिराजने इक्षुरस द्वारा आहारदान किया।



इस प्रकार ऋषभमुनिराजको सर्व प्रथम आहारदान देकर उन्होंने इस चौबीसी में दानतीर्थका प्रारम्भ किया। उन्होंने नवधाभक्ति और श्रध्दादि सात गुणोंसहित दान दिया। मोक्षके साधक धर्मात्माके गुणोंके प्रति आदरपूर्वक, श्रध्दासहित जो दाता उत्तम दान देता है वह मोक्षप्राप्तिके लिये तत्पर होता है। अतिशय इष्ट एवं सर्वोत्तम पात्र ऐसे भगवानको श्रेयांसकुमारने पूर्वभवके संस्कारसे प्रेरित होकर नवधाभक्तिसे प्रासुक आहारका दान दिया। भगवान ऋषभमुनिराज खड़े-खड़े अपने हाथमें (करपात्रमें) ही भोजन ले रहे थे। मोक्षमार्गके साधक भगवानको दो हाथोंकी अंजलिमें श्रेयांसकुमार आदिने इक्षुरसका (गन्ने के प्रासुक रसका) आहार दिया। वह दिन था - वैशाख शुक्ला तृतिया

(अक्षयतृतिया)

उस समय देवगण आकाश से रत्नवृष्टित तथा पुष्पवृष्टि करने लगे। देवों के बाजे गम्भीर नाद से बजने लगे, सुगन्धित वायु बहने लगी और देवगण हर्षित होकर "धन्य दान..धन्य पात्र..धन्य दाता" ऐसी आकाशवाणी करने लगे। अहा, दान की अनुमोदना करके भी लोग महापुण्य को प्राप्त हुए।

यहाँ कोई आशंका करे कि मात्र अनुमोदना करने से पुण्य की प्राप्ति किस प्रकार होगी? उसका समाधान यह ह कि पुण्य और पाप का बंध होने में मात्र जीव के परिणाम ही कारण हैं; बाह्य कारणों को तो जिनेन्द्रदेवने 'कारण का कारण' (अर्थात् निमित्त) कहा है। जब पुण्य के साधनरूप से जीवों के शुभ परिणाम ही प्रधान कारण हैं, तब शुभकार्य की अनुमोदना करनेवाले जीवों को भी उस शुभफल की प्राप्ति अवश्य होती है।

रत्नत्रयधारी भगवान अपने गृहमें पधारे और उन्हें आहारदान दिया उससे दोनों भाई परम हर्षित हुए और अपने को कृतकृत्य मानने लगे। इस प्रकार मुनियों को आहारदान की विधि प्रसिद्ध करके, तथा दोनों भाइयों को प्रसन्न करके भगवान पुनः वनकी ओर चल दिये। कुछ दूर तक दोनों भाई भक्ति भीगे चित्तसे भगवान के पीछे-पीछे गये और फिर रुकते रुकते लोटने लगे। दोनों भाई बारम्बार मुड़-मुड़कर निरपेक्ष रूपसे वन की ओर जाते हुए भगवान को पुनः पुनः देख रहे थे। दूर-दूर जाते हुए भगवान की ओर लगी हुई अपनी दृष्टि को तथा चित्तवृत्ति को मोड़ नहीं पाये। वे बारम्बार भगवान की कथा एवं उनके गुणों की स्तुति कर रहे थे और धरती पर पड़े हुए भगवान के चरण चिह्नों को बारम्बार प्रेम से निहारकर नमस्कार करते थे। नगरजन इन दोनों भाइयों को देखकर कहते कि राजा सोमप्रभ महाभाग्यवान हैं कि उन्हें ऐसा श्रेष्ठ भाई मिला है। रत्नवृष्टि से चारों ओर बिखरे पड़े रत्नों को नगरजन इकट्ठे कर रहे थे। रत्नरूपी पाषाणों से भरे हुए आँगन को कठिनाई से पार करते हुए दोनों भाई राजमहल में आये।

भगवान ऋषभदेव को प्रथम आहारदान (पारणा) कराने से श्रेयांसकुमार का यश सारे जगत में फैल गया। मुनि को दान देने की विधि सर्वप्रथम श्रेयांस कुमार जानी थी और तभी से दानमार्गका प्रारम्भ हुआ। आहारदान की यह बात जानकर राजा भरत आदिको भी महान आश्चर्य हुआ; वे आश्चर्य से सोचने लगे कि मौन धारण किये हुए भगवान का अभिप्राय उन्होने कैसे जान लिया? देवों को भी बडा आश्चर्य हुआ और आनंन्दित होकर उन्होने श्रेयांसकुमार का सन्मान किया। महाराज भरतने भी स्वयं अयोध्यासे हस्तिनापुर आकर श्रेयांस कुमार का सन्मान किया और अतिशय हर्ष व्यक्त करते हुए पूछा कि हे महादानपति! यह तो बतलाइये कि भगवानके मनकी बात आपने कैसे जान ली? इस भरत क्षेत्र में पहले कभी नहीं देखी गई ऐसी यह दान की विधि आपने न बतलायी होती तो कौन जान पाता? हे कुरुराज! आज आप हमारे लिए भगवान समान पूज्य बने है, आप दानतीर्थ के प्रर्वतक है, महापुण्यवान हैं; इस दान की पूरी बात हमे बतलाइये!

श्रेयांसकुमार कहने लगे; हे राजन्! यह सब मैने उस पूर्वभवके स्मरण के जाना जब मै भगवान के साथ था। जिस प्रकार रोग दूर करनेवाली उत्तम औषधि प्राप्त करके मनुष्य प्रसन्न होता है, और तृषातुर व्यक्ति पानीसे भरा हुआ सरोवर देखकर आनन्दित होता है, उसप्रकार भगवान का उत्कृष्ट रुप देखकर मैं अत्यन्त हर्षविभोर हो गया था, और उसी समय मुझे जातिस्मरण होने से मैने भगवान का अभिप्राय जान लिया। पूर्व के आठवें भव में जब भगवान विदेहक्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रजंघ राजा थे

तब मैं उनकी श्रीमती नामक रानी थी, और तब भगवान के साथ मैंनें दो चारण ऋध्दिधारी मुनिओंको आहारदान दिया था; उन संस्कारोंका स्मरण होने से मैंने उसी विधिसे भगवान को आहार दान दिया। विशुध्दता सहित मुनिवरोंको आहारदान देने का अवसर महान भाग्य से प्राप्त होता है।

दान का स्वरूप समझाते हुए श्रेयांस कुमार महाराजा भरत से कहते हैं कि-स्व-पर के उपकार हेतु मन-वचन-काय-की शुध्दिपूर्वक अपनी वस्तु योग्य पात्र को सन्मानपूर्वक देना उसे दान कहते हैं। श्रध्दादि गुणोंसहित वह दाता है; आहार, औषध, शास्त्र तथा अभय यह चार वस्तुएँ देय (दानमें देने योग्य) हैं। रागादि दोषोंसे दूर तथा सम्यक्त्वादि गुणोंसहित वह पुरुष पात्र हैं। उसमें जो मिथ्यादृष्टी है किन्तु व्रत-शीलयुक्त है वह जघन्य पात्र है; अव्रती सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र है और व्रतशील सहित सम्यग्दृष्टि वह उत्तम पात्र है।व्रत-शील से रहित मिथ्यादृष्टि वे पात्र नहीं किन्तु अपात्र हैं। मोक्ष के साधक ऐसे उत्तम गुणवान मुनिराज को दिया गया आहारदान अपुर्नभवका (मोक्षका) कारण होता है। यहाँ जो दिव्य पंचाश्चर्य-(रत्नवृष्टि आदि) हुए वे दान की ही महिमा को प्रगट करते हैं। अब भगवान ऋषभदेवके तीर्थ में मुनि आदि पात्र सर्वत्र फैल जायँगे-जहाँ तहाँ मुनि विचरेंगे; इसलिये हे राजर्षि भरत! दान की विधि जानकर आप सबको भक्तिपूर्वक उत्तम दान देना चाहिये।

इस प्रकार दान का उपदेश देकर श्रेयांसकुमार ने दानतीर्थका प्रवर्त्तन किया। श्रेयांस के श्रेयकारी वचन सुनकर भरत राजाको अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई और अति हर्षपूर्वक राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांसकुमार का सन्मान किया। पश्चात परमगुरू ऋषभदेवके गुणोंका चिन्तन करते-करते वे अयोध्यापुरी लौटे।

## भगवान ऋषभमुनिराजका निरतिचार उत्कृष्ट चारित्र

आहार ग्रहण करनें के पश्चात भगवान वनमें पहुँचे और निजगुणचिन्तनमें लीन हो गये। भगवान को हेय एवं उपादेय तत्त्वोंका बराबर ज्ञान था, गुण-दोष की भिन्नता को वे जानते थे, इसलिये दोषोंको सर्वथा छोड़कर मात्र गुणोंमें ही वे आसक्त रहते थे, पापयोगोंसे वे पूर्ण विरक्त थे; अहिंसादि व्रतोंका निरचार पालन करते थे; ब्रह्मचर्यमें वे अद्वितीय थे। उनको धैर्य, क्षमा, ध्यान में निरन्तर तत्परता थी और परिष आयें तथापि मार्गसे अच्युतहपना था। भगवान जिनकल्पी थे। जो साधु एकाकी रहे, आत्मचिन्तन में लीन हो, उपदेशादि प्रवृत्ति न करे उसे जिनकल्पी कहा जाता है, और जो साधु संघके साथ रहे, उपदेश दे, दीक्षा दे उसे स्थविरकल्पी कहते हैं। तीर्थंकर भगवन्त जिनकल्पी होते हैं। भगवान सामायिक चारित्रमें वर्तते थे; उनके चारित्र में कोई दोष नहीं लगने से प्रतिक्रमण की अथवा छेदोपस्थापन की आवश्यकता नहीं थी। यद्यपि भगवान गर्भ में आये तभी से तीन ज्ञान सहित थे, चौथा ज्ञान दीक्षा के समय प्रगट हुआ था और सिध्दपद तो उन्हें इस भवमें अवश्य प्राप्त होना ही था, तथापि ज्ञानलोचनवन्त उन भगवान ने एकहजार वर्ष तक उत्तम तप किया था और कर्मोंकी असंख्योत गुणश्रेणी निर्जरा की थी। सदा जागृत रहनेवाले वे योगिराज कभी शयन नहीं करते थे। भगवान का निरतिचार चारित्र स्वयमेव प्रायश्चित्तरूप था, अर्थात् उसमें उत्कृष्ट चित्तविशुध्दि थी और कोई अतिचार लगते ही नहीं थे, इसलिये अन्य प्रायश्चित्तकी आवश्यकता ही नहीं रही थी,-जिसप्रकार सूर्य स्वयं प्रकाशस्वरूप है, उसमें अंधकार है ही नहीं;फिर उसे अपनेमें से अंधकार दूर करना कहाँ रहा? उन परमेष्ठी भगवानने दीक्षा के समय सिध्दोंको नमस्काररूप विनय की थी, तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्य, - इन गुणोंकी विनय की थी, इसके; अतिरिक्त बाह्यमें विनय करने योग्य उनके कोई नहीं था; जो स्वयं ही प्रधानपुरूष होनेसे सबको नम्रीभूत करनेवाले थे, वे भला किसकी विनय करते? तथा रत्नत्रयरूप मार्गमें व्यापार ही

उनकी 'वैयावृत्य' थी, वे रत्नत्रयके सिवा और किसकी वैयावृत्य करेंगे? (दीन-दुःखी जीवोंकी वैयावृत्य तो शुभकषाय के तीव्र उदय में ही सम्भव है; भगवान के तो शुभकषाय भी ऐसा अतिशय मन्द हो गया था कि उनकी प्रवृत्ति बाह्यव्यापार से हटकर रत्नत्रय मार्ग में ही रहती थी।)

इस जगत में जो भी धर्म सृष्टि (धर्म की रचना) है वह सब सनातन भगवान ऋषभदेव ने स्वयं धारण करके युगके आदि में प्रकाशित की थी; इसप्रकार भगवान धर्म सृष्टि के सर्जन कर्ता थे। यद्यपि शास्त्र उनके आधीन थे अर्थात बारह अंग के वे स्वामी थे तथापि ज्ञान की वृध्दि हेतु भगवान सदा स्वाध्याय करते थे, और इसलिये आज भी संयमीजन स्वाध्याय करते हैं। बारह तपों में स्वाध्याय समान तप दूसरा नहीं है और होगा नही; विनयपूर्वक स्वाध्यायमें तल्लीन हुए बुध्दिमान मुनिको मनके संकल्प-विकल्प दूर हो जाने से चित्त की एकाग्रता होती है, इसलिये स्वाध्याय ध्दारा मुनिको सुगमता से ध्यान की सिध्दि होती है और इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती है।भगवान तो शरीर से भिन्न आत्माको देखते थे, तीन गुप्तिका पालन करते थे और शरीर से निस्पृह होकर, उसका ममत्व को छोडकर आत्माको ध्याते थे। ध्यानरुपी उत्तम सम्पदाके स्वामी भगवान ध्यानाभ्यासरूप तप द्वारा ही कृतकृत्य होगये थे; क्यों कि ध्यान ही उत्तम तप है, दुसरे सब तप तो उसके परिकर है। ध्यानकी सिद्धि के लिये अनुकूल ऐसे द्रव्य -क्षेत्र- काळ भाव का ही वे सेवन करते थे। आध्यात्म तत्त्व को जाननेवाले भगवान अध्यात्मकी शुद्धि के लिये गिरीगुफा आदि में ध्यान करते थे।

## क्षपक श्रेणी और केवलज्ञान की उत्पति

मौनी, ध्यानी, निर्मान तथा अतिशय बुध्दिमान ऐसे उन भगवान ऋषभमुनिराज ने एक हजार वर्ष तक अनेक देशोंमें विहार किया; पश्चात एक दिन पुरिमताल नगरके शकट नामक उद्यान में पधारे। (जो वर्तमानमें प्रयाग-तीर्थ कहलाता है।) शुध्द बुध्दिमान वे भगवान ध्यान की सिध्दि हेतु वहाँ एक वटवृक्ष के नीचे शिलापर विराज गये, और पूर्वाभिमुख बैठकर लेश्याकी उत्कृष्ट शुद्धि पूर्वक चित्तको एकाग्र करके ध्यान लगाया।

भगवान ने सर्वश्रेष्ठ ऐसे परम पदमें अपना चित्त लगाया और सिद्ध के अष्ट गुणों का चिंन्तन किया। सम्यक्त्व, अंनन्तदर्शन, ज्ञान, अद्‌भुत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाधत्व तथा अगुरुलघुत्व; -इन सिद्धिप्रभु के आठ गुणोका सिद्धपदके अभिलाषी जीवोंको ध्यान करना चाहिये, तथा शुध्द द्रव्य-क्षेत्र - काल- और भाव -इन चारकी अपेक्षा से भी उन समान अपने स्वास्थ्य का चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार बारह गुणयुक्त, मुक्त, सूक्ष्म, निरंजन, रागादि से रहित, व्यक्त , नित्य और शुध्द ऐसा सिध्दस्वरूप मुमुक्षु योगियोंको ध्यान करने योग्य है। ध्यान के परिवार समान बारह अनुप्रेक्षाओंका भी भगवान ने चिन्तवन किया। धर्मध्यान में तत्पर ऐसे उन विरागी भगवान को ज्ञानादि की शक्ति के कारण किंचित भी प्रमाद नहीं रहा था। उन अप्रमत्त भगवान को ज्ञानदि परिणामों में परम विशुध्दि प्रगट हुई। अशुभ लेश्या रंचमात्र नहीं; शुक्ल लेश्या प्रगट हुई उसकाल दीप्तिमान भगवान को मोहका नाश करने हेतु ध्यान की ऐसी शक्ति स्फुरित हुई, मानो कोई बिजली कौंध गई हो भयरहित भगवानने संकल्प-विकल्प हटाकर, मोहशत्रुकी सेना का नाश करने के लिए अपने विशुध्द परिणामों की समस्त सेनाको सुसज्ज कर दिया। मोहशत्रु को जीतने के लिये तत्पर हुए भगवान ने संयमरूपी कवच बनाया, उत्तम ध्यान रूप विजय-अस्त्र धारण किया, ज्ञानको मंत्री बनाया और विशुध्द परिणामो को सेनापति-पद प्रदान किया; दुर्भेद्य एवं सुभयोद्धा ऐसे अनंत गुणों को सैनिक बनाया और रागादि प्रतिपक्षी को हनना

ऐसे शत्रुपक्षमें रखा।

इस प्रकार सैन्य तैयार करके जगत्गुरु भगवान ज्यों ही विजय के लिये उद्यमी हुए कि तुरन्त कर्मसैन्यमें खलबली मच गई; उसकी स्थिती टूटने लगी,और रस शक्ति नष्ट होने लगी; प्रकृतियाँ एक दूसरेमें संक्रमित होकर बिखरने लगी। कर्म सैन्य प्रतिसमय असंख्यात गुनानिर्जीर्ण होने लगा। जिसप्रकार विजयाभिलाषी राजा शत्रुसैन्यमें खलबली मचाकर फिर उसे नष्ट कर देता है, उसी प्रकार उन योगिराजने अपने योग बलसे पहले तो कर्म प्रकृतिरुप मोहसैन्य में खलबली मचा दी और फिर उसे नष्टभ्रष्ट कर देने का उद्यम प्रारम्भ किया।

उत्कृष्ट विशुद्धि की भावना करते हुए अप्रमत्त होकर भगवानने मोक्षमहल की सीढ़ी समान क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया। सातवें गुणस्थान में अधःकरण करके, अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानमें आये और पश्चात् अनिवृत्तिकरण नामक नौवें गुणस्थान पर चढ़ गये। वहाँ पृथक्त्ववितर्क नामके शुक्लध्यानरूपी चक्रको धारण करके उसके प्रभाव से अत्यन्त शुद्धि प्राप्त करके, निर्भयरूपसे मोहराजा के समस्त बल को तोड़ दिया और उसकी सारी सेना को धराशायी कर दिया। पहली ही मार में उन्होंने मोह के अंगरक्षक समान कषाय तथा नौ नोकषाय रूपी योद्धाओं को मार दिया; फिर जो बाकी रहे थे उनमें से संज्वलन क्रोध का अन्त कर दिया, पश्चात् मान को मारा और अन्त में माया को तथा बादरलोभ को भी समाप्त कर दिया।

इस प्रकार मोहशत्रु को जीतकर, महाध्यानरूपी रंगभूमि में सत्य चरित्रध्वज फहराते हुए तथा तीक्ष्ण ज्ञानशस्त्र को धारण करके वैराग्य का कवच धारण करके वे महान वीर वीजेता, जहाँ से पराङ्मुख न होना पड़े ऐसी अनिवृत्ति नामक विजयभुमि में आये। वहाँ योगिराज भगवान ऋषभदेवने नरकतिर्यंचगति सम्बन्धी तेरह तथा दर्शनावरणीय की तीन-इन सोलह प्रकृतियो को एक ही झटके में उड़ा दिया। पश्चात् आठ कषाय प्रकृतियों को, नौ नोकषाय को तथा संज्वलन क्रोध-मान-माया को - कुल बीस प्रकृतियों को भी जड़ से उखाड़ दिया; तथा अश्वकर्णकरण, कृष्टिकरण आदि विधि द्वारा कर्मों का जोर तोड़कर भगवान दसवें गुणस्थान में आये। उस सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान में रहे हुए अतिसूक्ष्म लोभ को भी जीतकर मोह के ऊपर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। वे निर्मोही विजेता भगवान ऋषभदेव रंगभूमि से मोहशत्रु का विनाश करके तेजस्वी रूप से अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे। जिस प्रकार कुश्ती के मैदान में प्रतिस्पर्धी मल्ल के भाग जाने पर विजेता मल्ल शोभा देता है, उसी प्रकार मोहरहित भगवान एकत्व भावना में सुशोभित हो रहे थे।

तत्पश्चात्, अविनाशी गुणों का संग्रह करनेवाले भगवान क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में आये। वहाँ मोहकर्म को समूल नष्ट करके 'स्नातक' हुए। पश्चात् ज्ञानदर्शन और वीर्य में विघ्नकर्ता उद्धतप्रकृतियों को एकत्व वितर्क नामक दूसरे शुक्लध्यान द्वारा नष्ट कर दिया।

इस प्रकार अत्यन्त दुःखदायी ऐसे चारों घातिकर्मोंको ध्यानाग्नि द्वारा भस्म करके भगवान ऋषभ मुनिराज केवलज्ञानी एवं विश्वदर्शी हुए। अहो! भगवान सर्वज्ञ हुए! अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शुद्ध सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य - ऐसी नव क्षायिक लब्धिरूप किरणों द्वारा प्रकाशमान, ऋषभजिनेन्द्ररूपी सूर्य फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन जगत को प्रकाशित एवं भव्यजीवोंरूपी कमलों को विकसित करता हुआ उदित हुआ। अहा! तीन लोक को आनन्दकारी ऐसे सर्वज्ञतारूपी सूर्य के प्रकाश से भगवान का आत्मा जगमगा उठा!

**केवलज्ञान प्राप्त भगवान ऋषभजिनेन्द्र को नमस्कार हो!**



## केवलज्ञान का उत्सव और समवसरण की रचना

अपने चरित्र नायक भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान हुआ वे सर्वज्ञ हुए अरिहंत हुए, तीर्थंकर हुए। जिस समय प्रभु को केवलज्ञान हुआ उसी समय भरतराजा के शस्त्रागार में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ, और उसी समय उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। एक साथ तीन-तीन बधाइयाँ महाराज भरत के यहाँ आयीं। परन्तु चक्रवर्ती का राज्य और पुत्र - इन दोनों की अपेक्षा धर्म को महान माननेवाले महाराजा भरत ने सर्वप्रथम भगवान ऋषभदेव के केवलज्ञान का उत्सव मनाने की तैयारी की, और अतिशय आनन्दपूर्वक धामधूम से केवली प्रभु की पूजा करने समवसरण की ओर चले। उन्हें अपार आनन्द है तो अपने को कहाँ कम आनन्द है?—उनकी सवारी के भगवान के पास पहुँचे उससे पूर्व ही हम समवसरण में पहुँच जाय और वहाँ की शोभा कैसी अद्भुत है वह देखें।

भगवान को केवलज्ञान होते ही पुनः इन्द्रासन डोल उठा; सारे जगतका संताप नष्ट हो गया और शान्ति छा गई; हर्ष से तीनों लोक क्षोभित हुए; स्वर्ग के वाद्य मानों भगवान के दर्शन का सुख प्राप्त करने के लिये देवों को निमंत्रण दे रहे हों - इस प्रकार स्वयमेव बज उठे! इन्द्रने अवधिज्ञान द्वारा भगवान को केवलज्ञान होना जानते ही अत्यन्त आनन्दित होकर नमस्कार किया और केवलज्ञानका उत्सव मनाने के लिये आ पहुँचे। देवोंरूपी कारीगरों द्वारा अत्यन्त भक्तिपूर्वक निर्मित उत्तम समवसरण की दिव्य शोभा देखते ही इन्द्र को भी आश्चर्य हुआ। अहा! मानों तीनों लोक का मंगलदर्पण हो। - ऐसे समवसरण का वर्णन सुनकर भी भव्य जीवों का मन प्रसन्न हो जाता है, तब उसके साक्षात् दर्शन की तो बात ही क्या! रत्नों की रज से बना हुआ धूलिशाल कोट स्वर्ण-स्तम्भों एवं मणिरत्न के तोरणों से सुशोभित हो रहा था। भीतर चार मार्गों के बीच सोने से बने हुए अति उच्च और अद्भुत चार मानस्तम्भ थे, जिन्हें दूरसे देखते ही मिथ्यादृष्टि जीवों का मान गल जाता था। भगवान की स्वर्णप्रतिमाएँ विराजमान थीं। इन्द्र द्वारा निर्मित होने से मानस्तम्भ को इन्द्रध्वज भी कहा जाता है। उसके पार्श्व में पवित्र वापिका थी और थोड़े दूर समवसरण को घेरती हुई पानी की परिखा (खाई) थी; उसके बाद लतावन था, और लतावनमें इन्द्रों के विश्राम हेतु चन्द्रकान्त मणि की बैठक थीं।

पश्चात् भीतर प्रवेश करते ही सोने का पहला कोट था जिसके चारों ओर चार द्वार १०८ मंगलद्रव्यों से सुशोभित थे और उसके पार्श्व में नवनिधियाँ थीं - मानों भगवानने उन निधियों का

तिरस्कार(त्याग) कर देने से वे द्वारों के बाहर खड़ी-खड़ी सेवा कर रही हों! पश्चात् नाट्यशाला तथा धूपघट को पार करके आगे बढ़ने पर सुन्दर वन आता था; - मानो वृक्ष के पुष्पों द्वारा वह वन प्रभुजी की पूजा कर रहा हो! - ऐसा सुशोभित था। उस वन के वृक्ष इतने प्रकाशमान थे कि वहाँ दिन और रात्रिका भेद नहीं लगता था। अशोकवन के बीच अशोक नामका एक विशाल 'चैत्यवृक्ष' था - जो अष्टमंगल तथा जिनप्रतिमासे सुशोभित था। यह देखकर इन्द्र को भी ऐसा लगता था कि अहो! जिनके समवसरण के वैभव का ऐसा अद्भुत माहात्म्य है, उन भगवान ऋषभदेव के अनुपम केवलज्ञान-वैभव का तो क्या कहना! सुन्दर वनवेदिका के पश्चात् स्वर्णस्तम्भ पर चार हजार तीन सौ बीस ध्वजाओं की पंक्ति फहरा रही थी, जो मोह कर्म पर भगवान की विजय का प्रतीक थी। (उन ध्वजस्तम्भ, मानस्तम्भ, चैत्यवृक्ष आदि की ऊँचाई तीर्थंकरों के शरीर की ऊँचाई से बारह गुनी होती है; इसलिये यहाँ उसे साठ हजार फुट यानी हिमालय पर्वत की ऊँचाई से दुगुनी समझना।)

ध्वजाओं की भूमि के पश्चात् दूसरा चाँदी का गढ़ था जो चार द्वारों से अत्यन्त सुशोभित था। उसके भीतर दीप्तिमान कल्पवृक्षों का उत्तम वन था, और उसके मध्यमें सिद्ध प्रभु की प्रतिमा सहित सिद्धार्थ वृक्ष शोभा देता था। ऊँचे-ऊँचे नौ स्तूप-मन्दिर सिद्ध एवं अरिहन्त प्रतिमाओं द्वारा अति आन्दकारी लगते थे।

उससे कुछ दूरी पर तीसरा स्फटिकमणि का विशुद्ध कोट ऐसा सूचित करता था कि इन जिनेन्द्र भगवान के समीप आकर भव्य जीव के परिणाम स्फटिक समान विशुद्ध हो जाते हैं। स्फटिक के गढ़ के चारों और पद्मरागमणि के द्वार थे। फिर चार मार्गों के मध्यभाग में स्फटिक की चार-चार दीवारें थी बारह सभाओं के विभाग करती थीं।

अद्भुत वैभववाली उन दीवारों पर रत्न के स्तम्भों द्वारा रचा गया आकाश स्फटिकमणि से निर्मित अति विशाल तथा अतिशय शोभायुक्त 'श्रीमण्डप' था। वह श्री मण्डप तो मानो श्रीमण्डप ही था...भगवानने उस मण्डप के मध्य तीन लोककी श्री-(शोभा) को धारण किया था। तीन लोक के समस्त जीवों को स्थान दे सके ऐसे सामर्थ्यवान श्रीमण्डप का वैभव अद्भुत था; भगवान के चरणों की शीतलता के प्रभाव से उस मण्डप की पुष्पमाला कभी कुम्हलाती नहीं थी! अहो! जिनेन्द्रदेव का यह कोई अद्भुत माहात्म्य था कि मात्र एक योजन के श्रीमण्डपमें समस्त सुर-असुर, तिर्यंच एवं मनुष्य एक-दुसरे को बाधा पहुँचाए विना सुखपूर्वक बैठ सकते थे।

तत्पश्चात् प्रभु की प्रथम पीठिका वैडूर्यरत्न से निर्मित थी जिस पर अष्टमंगल तथा धर्मचक्र शोभा देते थे, दुसरी पीठिका सुवर्ण से निर्मित थी, जिसपर सिद्धों के गुण जैसी आठ महा ध्वजाएँ शोभा देती थीं; और तीसरी पीठिका विविध रत्नों से निर्मित थी। ऐसी तीन पीठिकाओं पर विराजमान जिनेन्द्र भगवान ऐसे सुशोभित होते थे जैसे त्रिलोक के शिखर पर विराजमान सिद्ध प्रभु शोभायमान होते हैं।

प्रभु के समवसरण की ऐसी दिव्यविभूति जयवन्त हो कि जिसकी शोभा देखकर इन्द्र भी अतिशय प्रसन्न हुआ और देव भी आश्चर्यमुग्ध होकर देखने लगे कि - अहो! जिनेन्द्र भगवान का अद्भुत प्रभाव है!

## सिंहासनादि अष्ट-प्रातिहार्य

तीन पीठिकाओं पर कुबेरने गंधकुटी की रचना की थी। अति देदीप्यमान उस गंधकुटी के रत्नजड़ित शिखरपर करोड़ों विजयपताकाएँ फहरा रही थीं। छह सौ धनुष (अठारहसौ मीटर) लम्बी-चौड़ी

गंधकुटी पर सोने का 'सिंहासन' था। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव उसे सुशोभित कर रहे थे; अपने निरालम्बी माहात्म्य से भगवान उस सिंहासन पर चार अंगुल ऊपर अद्धर विराजते थे; उन्होंने सिंहासन का स्पर्श नहीं किया था। अहो! निरालम्बी तत्त्व!!

समवसरण में देवों द्वारा 'पुष्पवृष्टि' होती थी। भगवान के निकट एक 'अशोक वृक्ष' था, जिसमें मरकतमणि के पत्र और विविधरत्नों के पुष्प थे। एक योजन का वह अशोकवृक्ष शोक को नष्ट करता था और खिले हुए पुष्पों से प्रभुकी पूजा करता था। ऊपर रत्नजड़ित तीन श्वेत 'छत्र' शोभायमान थे जो तीन लोक को आनन्दकारी थे। चारों ओर देव चौंसठ 'चँवर' ढोर रहे थे। अतिशय गम्भीर एवं मधुर 'देवदुंदुभि' बाजे बजते थे। जिनेन्द्र भगवान के शरीर से उत्पन्न होती दिव्य प्रभा अर्थात् 'भा-मण्डल' के तेज द्वारा समवसरण की सारी भूमि शोभा देती थी भगवान की आश्चर्यकारी प्रभा करोड़ों देवों के तथा सूर्य के तेजको आच्छादित कर देती थी और भगवान का महान प्रभाव प्रगट करती थी। अहा! अमृत के समुद्रसमान तथा जगत का मंगल करनेवाले दर्पण समान, भगवान के शरीर की उस मंगलप्रभा में मनुष्य और देव प्रसन्नता पूर्वक अपने सात-सात भव देखते थे। भगवान के सर्वांग से 'महादिव्यध्वनि' खिरती थी। मधुर मेघगर्जना समान तथा अतिशययुक्त वह दिव्यध्वनि भगवान के माहात्म्य से सर्वभाषारूप होकर भव्यजीवों के अज्ञानांधकार को नष्ट करती थी और तत्त्व का बोध कराती थी। सर्वज्ञ भगवान की वह दिव्यध्वनि एक होने पर भी श्रोताजनों की पात्रतानुसार अनेक प्रकार की वाणीरूप हो जाती थी। - अहा! उस जिनवाणी की मधुरता का क्या कहना!

इस प्रकार सिंहासन, पुष्पवृष्टि, अशोकवृक्ष, छत्र, चँवर, देवदुंदुभि, भामण्डल और दिव्यध्वनि - ऐसे आठ प्रातिहार्ययुक्त समवसरण अनन्त चतुष्टय के स्वामी सर्वज्ञदेव द्वारा सुशोभित हो रहा था।

## इन्द्रों का आगमन और भगवान की स्तुति

सातिशय पुण्य के नन्दनवन जैसी वह समवसरण की शोभा देखकर इन्द्रादिदेव अति प्रसन्न हुए और भक्तिपूर्वक भगवान की सेवा के लिये समवसरण को तीन प्रदक्षिणा देकर सभामंडप में प्रविष्ट हुए। भगवान का श्रीमुख चारों ओर से दिखता था, अर्थात् वे चतुर्मुख थे। भगवान को अन्न-पानी का आहार नहीं था, वस्त्राभूषण भी नहीं थे, इन्द्रियजन्य ज्ञान भी नहीं था, ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश होने से सर्वज्ञ थे; वे मोक्षसृष्टि के सर्जक तथा पापसृष्टि के संहारक थे। ऐसे भगवान को देखते ही अतिशय भक्ति से नम्रीभूत इन्द्रोंने घुटने टेककर प्रणाम किया, उनके नेत्र और मुख हर्ष से प्रफुल्लित हो गये। नमस्कार करते हुए इन्द्र-इन्द्रानी के मस्तक पर अपने नख की किरणों द्वारा भगवान मानो आशीर्वाद की वर्षा कर रहे थे। अष्टप्रकार की उत्कृष्ट पूजन सामग्री द्वारा इन्द्रोंने श्रद्धापूर्वक भगवान की पूजा की, इन्द्रानीने प्रभुचरणों के समीप रंगबिरंगे रत्नों के मण्डल पूरे; परन्तु कृतकृत्य ऐसे भगवान को सब से क्या प्रयोजन था? वे तो वीतराग थे, वे किसी पर न तो प्रसन्न होते और न ही किसी से द्वेष करते; तथापि भक्तों को इष्ट फल की प्राप्ति हो जाती थी यह एक आश्चर्यजनक बात है! (भगवान में परका अकर्तृत्व, साक्षीपना और वीतरागता होने पर भी भक्त अपने उत्तमभाव का इष्ट फल प्राप्त करते थे - ऐसी स्वतंत्रता वह एक आश्चर्यजनक बात है, जोकि जैनधर्म में सम्भव है ही।

पश्चात् इन्द्र अत्यन्त भक्तिपूर्वक स्तुति करने लगे: हे जिननाथ! आप गुणरत्नों के भण्डार हो,

आपकी भक्ति इष्ट फल देनेवाली है। हम जड़बुद्धि होनेपर भी आपके गुणों की भक्ति हमें वाचाल करती है। प्रभो! आपका अत्यंत निर्विकार शरीर ही आपके शान्ति-सुखको प्रगट दरशा रहा है। वस्त्ररहित होने पर भी आपका शरीर सर्वोत्कृष्ट सुंदरता को धारण कर रहा है। प्रभो! आपके कल्याणको में देव भी दास बनकर आपकी सेवा करते हैं; आप मोक्षमार्गरूपी सृष्टि के विधाता हो; आप ही जगत में मित्र हो, आप ही गुरु हो, आप ही जगत के पितामह हो; आपका ध्यान करने वाले जीव अमर ऐसे मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। प्रभो! आप दिव्यध्वनि द्वारा जगत को मोक्ष के अनंत सुखका मार्ग दरशाने वाले हो। आपके बतलाये हुए मोक्षमार्ग में चलनेवाले जीव परम आनन्द को प्राप्त करते हैं। प्रभो! जगत् के समस्त पदार्थ जिसमें भरे हैं ऐसी आपकी दिव्यवाणी विद्वानों को तुरन्त ही तत्त्वज्ञान कराती है और स्याद्वादरूपी नीति द्वारा यह अन्ध-मति का अज्ञान दूर करती है। आपकी वाणी पवित्र तीर्थ है आपके द्वारा प्ररूपित धर्मतीर्थ भव्य जीवों को संसार से पार होने का मार्ग है; प्रभो! सर्व पदार्थों को जाननेवाले आप सर्वज्ञ हो; मोह के विजेता हो; धर्मतीर्थ के कर्ता तीर्थंकर हो; मुनिजन आपको ही पुराणपुरुष मानते हैं; केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र आपको प्रगट हुआ है। हे प्रभो! आप हमपर प्रसन्न होओ और हमारी पवित्र स्तुति स्वीकार करो। इस प्रकार भक्तिपूर्वक भिन्न-भिन्न प्रकार की स्तुति करके इन्द्रों ने प्रभुचरणों में मस्तक झुकाया और भगवान के श्रीमुख की ओर एकटक देखते हुए सभा-मण्डप में बैठे। शास्त्रकार कहते हैं कि - अहो! जिनेन्द्र भगवान के बाह्य वैभवरूप इस दिव्य समवसरण की तथा मानस्तंभ आदि की भी मैं प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ, वन्दाना करता हूँ तथा उनके अन्तरंग वैभव का स्मरण करता हूँ - चिन्तन करता हूँ।

स्वयंभू भगवान ऋषभदेव की धर्मसभा में क्रमशः बारह प्रकोष्ठ में (१) गणधरादि मुनिवर, (२) कल्पवासी देवियाँ, (३) आर्यिका तथा श्राविकाएँ, (४) ज्योतिषी देवियाँ, (५) व्यंतर देवियाँ, (६) भवनवासी देवियाँ, (७) भवनवासी देव (८) व्यन्तर देव, (९) ज्योतिषी देव, (१०) कल्पवासी देव, (११) मनुष्य तथा (१२) तिर्यंच - इस प्रकार बारह सभाएँ होती हैं। समवसरण के दिव्य वैभव के बीच भी निर्लिप्तरूप से विराजमान, धर्मचक्र के अधिपति ऐसे श्री जिनेन्द्रभगवान के आत्मवैभव का जो भव्य जीव भक्तिपूर्वक स्तवन तथा चिन्तन करते हैं वे समस्त गुणों से भरपूर ऐसी सम्यक्त्वादि जिनविभूति को प्राप्त होते हैं।

## समवसरण में भरत चक्रवर्ती का आगमन, वंदन-पूजन स्तुति

इधर भगवान ऋषभदेव के केवलज्ञान का उत्सव मनाने के लिये भरत महाराजा की सवारी ठाटबाट से पुरिमताल नगरी में समवसरण के समीप आ पहुँची। सब कार्यों में सर्वप्रथम धर्मकार्य करना चाहिये - ऐसी बुद्धिवाले भरतने, चक्ररत्न तथा पुत्रजन्म के उत्सव से पूर्व भगवान के केवलज्ञान की पूजा करने का निश्चय किया था। बाहुबलि आदि लघु भ्राता और पुत्रपरिवार सहित धर्मदरबार में आकर भरतराजने अति भक्तिपूर्वक भगवान जिनेन्द्रदेव के दर्शन-वन्दन किये और फिर महाआनन्दपूर्वक उनकी पूजा की। हम भी उनके साथ ही सम्यक् भाव से जिन पूजा करें:-

### [जिनेन्द्र दरबार में मंगल-प्रवेश]

नमों जिनेश्वर देव मैं परम सुखी भगवान
आराधन कर पंथ का पाऊँ पद निर्वाण।

हे धर्मपिता सर्वज्ञ जिनेश्वर चेतनमूरत आपहि हैं;
निज चेतनके अवलोकन को दर्पणसम प्रभु आपहि हैं।
सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरण से, अनुपम सुखका स्वाद लिया,
मुक्ति का वह मार्ग बताकर, भव्यों को कृत्यकृत्य किया।

मोक्षमार्ग का पथिक मैं आया तुझ दरबार
तुझसम आतमभावना, वह पूजन का सार।

### [१. स्वानुभूति के जलसे जिनपूजा]

चेतनयमय यह सुख-सरोवर, श्रद्धासुमनों से शोभित है;
आनन्द के मोती चरते हैं, हंस जहाँ क्रीडा में रत रहते हैं।
स्वानुभूति के कनक कलशों से प्रभु को स्नान कराते हैं;
निर्मल जल से वे धरमी, निज मोहमैल को धोते हैं।

अथाह सरोवर आत्म, ज्ञाननन्द तरंग,
करूँ शान्तिरस पान से, जन्म-मरण का अंत।

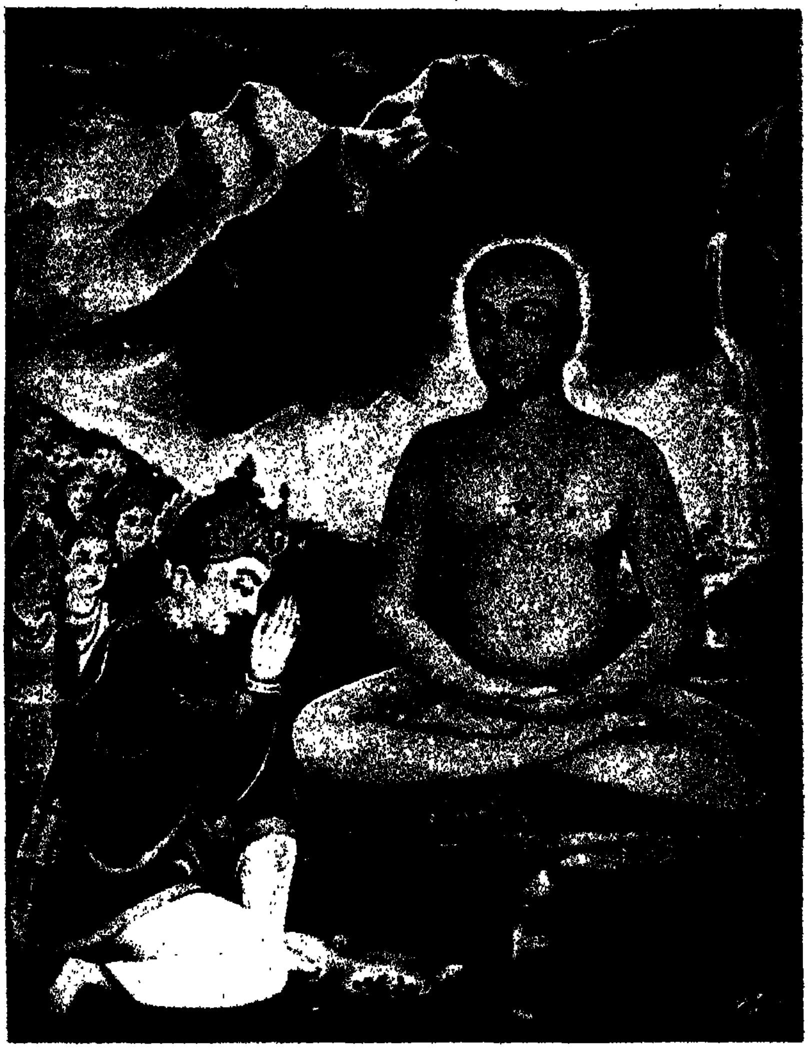
### [२. शमरस चन्दन से जिनपूजा]

प्रभुवर, चेतन सागर में करते हो न्हवन शांति-जलसे,
भवातापसे रहित हुए हो, हुए पवित्र मोहमळ से।
प्रभो, तप्त मैं मोहताप से, सम्यकरसमें स्नान करूँ;
पावन हो तेरे चरणोंकी शमरस जल से पूज करूँ;

चेतनरस को घोलकर, चारित सुगंध मिलाय,
भावों से प्रभु पूजते, शीतल शान्ति लहाय।

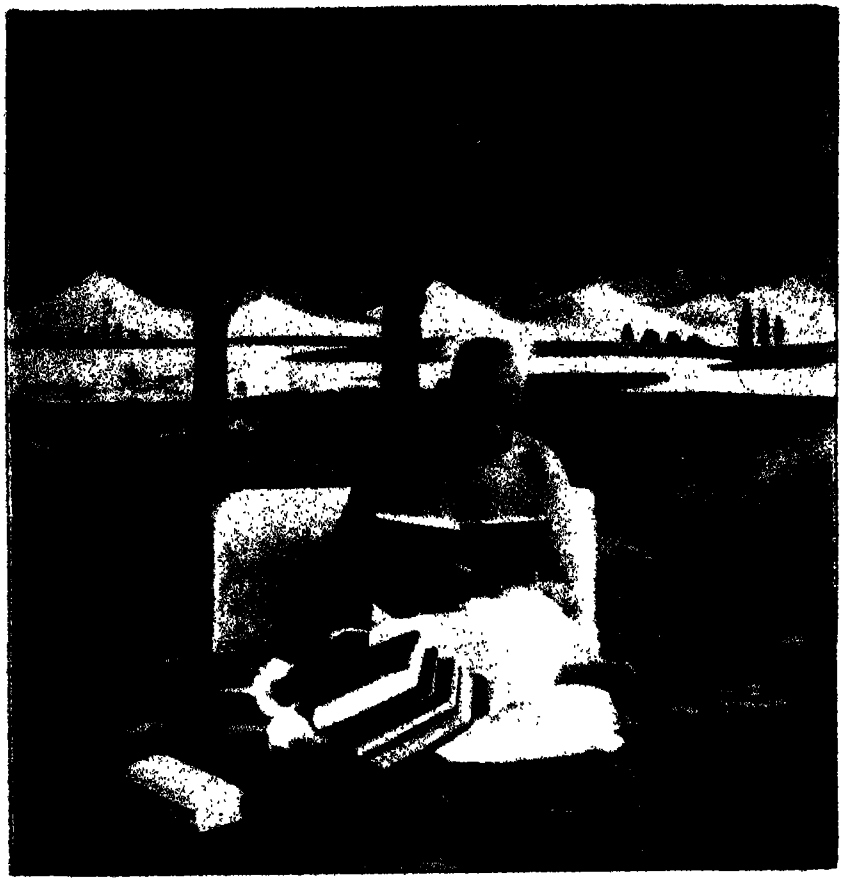


### [ ૩. અક્ષાતીત ભાવે જિનપૂજા ]



हे धर्मपिता जिनेश्वरदेव ! जैसा सम्यक् भावसे आपका पुत्र भरत आपको वंदन करता है.... मैं भी ऐसा ही भावसे आपको वंदन करता हूँ भरतकी भांति मैं भी आपका नंदन हूँ।

मोक्षमार्गका पथिक मैं आयो तुज दरबार
तुजसम आतम–भावना यही पूजाका सार



[ अध्यात्मधाम सोनगढमें वृक्ष नीचे स्वाध्यायमें तल्लीन गुरु कहान।
वर्ष ६४ वाँ ]

हे श्री गुरु-कहान! आपका उपकार भी तीर्थंकरों के जैसे ही है। आपने मुझे निजनिधान बतलाया। और जीवनपर्यंत अंतिम श्वास तक आपके चरणोंमें रखकर मेरा कल्याण किया; इतना ही नहीं; एक तीर्थंकरके पूर्वजीवनमें उनकी पास रहकर आत्मसाधना करनेका सोनेरी सुअवसर आपके प्रतापसे ही मुझे मिला, और आपके चरण-सान्निध्यके प्रतापसे मुझे यह तीर्थंकरोंका जीवनचरित्र लिखनेकी शक्ति मिली है; मेरे आत्माके असंख्य प्रदेशकी वीणा आपके उपकारके मधुर संगीतसे सदाय गूंज रही है।

— हरि

### [३. अक्षातीत भाव से जिनपूजा]

प्रभो! अगोचर हो अक्षोंसे, मैं अक्षत से पूज करुं;
अक्षातीत हो ज्ञान हमारा, अक्षयपद को शीघ्र वरुं।
अन्तर्मुख निजज्ञानभावसे, करुं तुम्हारा अभिनंदन;
परमभावसे करके पूजा, निज सुखका हो आस्वादन।
**अक्षत सुखका स्वाद जो है इन्द्रिय से पार;**
**ऐसे अक्षय सुख सहित तुम -तुम प्रभु आप**

### [४. श्रध्दा सुमन द्वारा जिनपूजा ]

श्रध्दा के सुमनोंसे आतमदेव; मैं करता हुं पूजा तेरी;
बस यही कामना है, मनमें, प्रभु, आत्मसाधना हो मेरी।
सुरभित पुष्प अनंत गुणों के खिले हुए जो अंतर में;
मुरझाएँगे नहीं कभी वे आशा है तेरे मग में।
**श्रद्धा के सुन्दर सुमन खिले आत्मउद्यान;**
**उन पुष्पों से पूजने, आया मैं भगवान।**

### [५. चेतनरस के स्वादसे जिनपूजा]

नैवेद्य नहीं कुछ लेते हो प्रभु! कैसे नैवेद्य चढाऊँ मैं;
चेतनरस का नैवेद्य सच्चा तुज पाससे लहु मैं।
हे देव जिनेश्वर! चेतनरसका आनंदसे मैं स्वाद लहुं;
सादि - अनंतका स्वाद ज सच्चा सिद्धालयमें आकर रहुं
**जगके जूठे स्वाद तो चखे अनंतीबार;**
**आतमरस का स्वाद ले, हो जाऊँ भवपार।**

### [६. ज्ञान-दीपक से जिन पूजा]

लाखों दीपक जलें भले पर दूर नहीं होता अज्ञान;
क्षणमें उस अज्ञाननिशाका, करती ज्ञानकिरण अवसान।
अहा! ज्ञान की है यह महिमा कर सकता नहीं मोह प्रवेश;
साधक ऐसे ज्ञानदीप से प्रभु की पूजा करें विशेष।
**स्वानुभूति के दीप से दीपित आत्मस्वरुप;**
**राग-पवन लगती नहीं, केवलज्योति अनूप।**

[७. ध्यानाग्नि द्वारा जिनपूजा]

राग-द्वेष का ध्वंस हुआ अरु अष्ट कर्म विनशे तत्काल;
हुई ध्यान की अग्नि प्रज्वलित सौरभसे प्रगटी गुणमाल
अहा, आत्मशुद्धि है अद्भुत, सुख-सुवास फैली चहुँ ओर;
ध्यान-अग्नि के चमत्कार से साधी है ज्ञायक की डोर।

शांति-सुगन्ध का पुंज मैं, ज्ञानानन्द का धाम,
सिद्ध सदृश निज ध्यायकर पहुँचूंगा शिवग्राम।

[८. मोक्षसुख के स्वाद द्वारा जिन पूजा]

सम्यक् वृक्ष के अमृतफल से मुक्तिसुख का लेकर स्वाद;
चेतनरस के अद्भुत स्वाद से राग-द्वेष का हुआ विनाश।
करता मोक्ष सुफल की आशा ज्ञान वृक्ष का बोकर बीज;
सिंचन कर चारित्रिक जलसे, प्राप्त करूँगा उसको शीघ्र।

मैं ही बीज, मैं वृक्ष हूँ, मैं फल चाखनहार,
पूज्य-पूजककी एकता, फलपूजा का सार।

[सम्यक् भाव से सच्ची जिन सेवा]

अज्ञानदशा में प्रभुजी आपको नहिं सत्स्वरुप को पूज सका;
पूजन के मिस कर राग प्रभो, मैं वीतरागता चूक गया।
अब ज्ञानरुप होकर मैंने, प्रभु रुप तुम्हारा जान लिया;
जागृत कर सम्यक् भाव स्वयं उस सत्स्वरूपको नमन किया।

सत्स्वरुपकी अर्चना, यही प्रभु की सेव,
जिनसेवा व्यवहार से, निश्चय आतम सेव।

सच्चे जिन-उपासक ऐसे सम्यग्दृष्टि भरत को सम्यकभाव से जिनपूजा करते हुए रोमांचकारी चैतन्य-उर्मियाँ जागृत होती थीं। पूजा के पश्चात् साष्टांग नमस्कार पूर्वक भरत राजाने धर्मचक्रवर्ती ऐसे तीर्थंकर प्रभुकी स्तुति की: हे प्रभो! आप धर्म के नायक हो, आप मोक्ष मार्ग के नेता हो,आत्मस्वरूप के ज्ञाताओं के आप ध्येय हो; इन्द्रियाँ विद्यमान होनेपर भी आप अतीन्द्रिय हो; विषय-कषायरहित सम्पूर्ण आत्मिक सुख आपको प्रगट हुआ है। प्रभो! आप तो अनन्त गुण-सम्पन्न हो, हम अल्पबुद्धिजीव आपके पवित्र गुणोंका स्तवन किस प्रकार कर सकते हैं? आपके गुणों की स्तुति तो दूर रही, आपका नाम भी हमें पवित्र कर देता है। हे प्रभो! आपको ही इष्टदेव मानकर हम आपकी ही उपासना करते हैं और आपके द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग की उपासना करके मोक्षप्राप्त करना चाहते हैं।

इस प्रकार वन्दन-पूजन-स्तवन करके, देव भी जिन्हें आश्चर्य से देख रहे हैं ऐसे वे भरत चक्रवर्ती श्रीमण्डपमें जाकर मनुष्यों की सभामें अग्रस्थान पर बैठ गये। सारी सभा तत्त्व का स्वरुप जानने की इच्छा से भगवान की दिव्य ध्वनि श्रवण करने हेतु हस्तांजलि जोड़कर शांत हो गई। तब महाराज भरतने विनयपूर्वक भगवान से प्रार्थना की कि - हे भगवान! तत्त्व कितने हैं? उनमें शुद्ध आत्मतत्त्व कैसा है? मोक्ष का मार्ग क्या है? और उस मार्ग का फल क्या है? वह हम आपसे सुनना चाहते हैं....कृपा करके धर्मकी वृष्टि करो।



## भगवान के दिव्य उपदेश द्वारा भरत क्षेत्र में धर्मयुग का प्रारम्भ

भरतराज द्वारा प्रार्थना किये जाने पर तीर्थंकर भगवान ऋषभदेवने अत्यन्त गम्भीर दिव्यध्वनि द्वारा तत्त्वों का विवेचन किया दिव्यध्वनि खिरते समय भी भगवान के मुखमण्डलमें कोई परिवर्तन (होठों का हलनचलन आदि) नहीं होता था। - क्या पदार्थों को प्रकाशित करते समय दर्पण में कोई विकार होता है? नहीं होता। बिना प्रयत्न के, इच्छा बिना सर्वांग से उस वीतरागवाणी की धारा बह रही थी। जिस प्रकार पर्वत की किसी गहरी गुफा में से आवाज आ रही हो तदनुसार भगवान की दिव्यवाणी अतिगम्भीर थी। अहो! तीर्थंकर महापुरुषों का योगबल तथा उनकी प्रभुता कोई अचिन्त्य होते हैं!

समवसरण में दिव्य ध्वनि द्वारा भगवानने जीवादि छह द्रव्यों का यथार्थ स्वरुप कहा। जगत में जीव और अजीव ऐसे दो प्रकार के द्रव्य हैं; जीव भी संसारी और मुक्त ऐसे दो प्रकार के हैं। जिसमें चेतना अर्थात् जानने-देखने की शक्ति है वह जीव है; वह अनादि-अनन्त है, उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित है, उपयोगस्वरुप है, शुभ-अशुभ या शुद्ध भावरुप स्वकर्मकाकर्ता है, उसके फल का भोक्ता है, वह लोकप्रदेशप्रमाण असंख्यप्रदेशी अरुपी है और शरीराकार स्थित है, अत्यन्त गुणसंपन्न है, लोकाग्रतक ऊर्ध्वगमनस्वभावी है, संसारदशा में संकोच-विस्ताररुप परिणमता है; द्रव्यकर्म-भावकर्म नोकर्मरहित उसका शुद्ध चिदानन्दस्वरुप है वह मोक्ष दशामे प्रगट होता है, और धर्मात्मा जीव उसे अपनेमें स्वानुभवसे जानते है। जीव का संशोधन करने हेतु गति आदि १४ मार्गणाएँ भी भगवानने विस्तारसे बतलायी, जीवकी पर्याय के १४ गुणस्थान बतलाये; औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक यह पाँच भाव जीवके निजतत्त्व है, उनका स्वरूप बतलाया जीवका लक्षण उपयोग है। ऐसे उपयोगलक्षणरुप जीवको जानकर उसका यथार्थ श्रद्धान करना चाहिये। 'जीव' के उपरान्त प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान, आत्मा, अंतरात्मा, ज्ञ तथा ज्ञानी भी जीव के ही नाम है। द्रव्यसे वह नित्य है और पर्यायसे विनाशसहित अनित्य है। आत्मा सत वस्तु है वह सर्वथा अभावरूप नहीं है, तथा सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य भी नही है; वह सर्वथा अकर्ता या अभोक्ता भी नहीं है, उसे संसार है और वह संसार से छूटकर मोक्ष भी प्राप्त करता है। उस मोक्ष का उपाय रत्नत्रय है जो कि राग रहित है। कुमार्ग छोड़कर ऐसे जीवतत्त्व का तथा मोक्षके उपाय का निश्चय करना चाहिये; और पश्चात अणुव्रतरुप श्रावकपना या महाव्रतरूप मुनिपना अंगीकारकरना चाहिये. ऐसा श्रावकधर्म तथा मुनिधर्म का उपदेश

भगवानने दिया।

तथा भगवानकी दिव्यदेशनामें ऐसा आया कि जीवकी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव- यह चारों गतियाँ संसार अवस्था है; और रत्नत्रय द्वारा समस्त कर्मोका अत्यंन्त क्षय होनेपर जो अनंत सुखस्वरुप सिद्धगति प्रगट होती है वह मोक्षदशा है। सम्यग्दर्शन- सम्यग्ज्ञान-सम्यक चारित्र ऐसे रत्नत्रयरुप साधन द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। ऐसे जीवादि तत्वोंका तथा सच्चे देव- शास्त्र- गुरु का अत्यंत प्रसन्नतापूर्वक श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है; यह सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्ति का प्रथम सोपान है। जीवादि पदार्थों के यथार्थ स्वरुप को प्रकाशित करनेवाला तथा अनांधकार का विनाशक जो ज्ञान है वह सम्यक चारित्र है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें समताभाव धारण करके निज स्वरुप में विचरना ऐसे मध्यस्थ लक्षण रुप सम्यक् चारित्र है। यह सम्यक चारित्र यथार्थरूप से तृष्णारहित, मोक्षार्थी, वस्त्ररहित एवं अहिंसक ऐसे मुनिको ही होता है। इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररुप रत्नत्रयकी पूर्णता वह मोक्षका कारण है; उनमे सें एक भी कम हो तो वह अपने कार्यको (मोक्षको) नहीं साध सकता। सम्यग्दर्शन हो तभी ज्ञान और चारित्र सफल हैं। सम्यग्दर्शन रहित बाह्य चारित्र कुछ भी कार्यकारी नही है, परंन्तु वहतो अन्ध पुरुष की दौड समान है। उसी प्रकार चारित्र के बिना अकेले दर्शन-ज्ञान द्वारा भी मोक्ष नहीं सधता। इसप्रकार भगवान ने रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग बतलाया।

जैन धर्म में आप्त,आगम और पदार्थो का जो स्वरुप कहा है उससे अधिक या कम तीन कालमें नही होता। ऐसी श्रद्धाकी दृढता द्वारा सम्यर्दशनमें विशुद्धता होती है। जो अनन्त ज्ञानदि गुणोंसहित सर्वज्ञ है, जिन्होने मोहादि कर्मकलंक को धो डाला है, जो निर्मलताके भण्डार है और निर्मल जिनका आशय है, सबके हितोपदेष्टा है- ऐसे वीतराग जिनदेव वे 'आप्त' है, वे ही इष्ट हैं। ऐसे आप्तपुरुषकी वाणी जो कि शुध्दात्मस्वरुप के पुरुषार्थ की उपदेष्टा है और नव-प्रमाणोंसे गंभीर है वह 'आगम' है। उसमे कहे गये अनेकान्तस्वरूप जीवादि पदार्थ वे तत्त्व है । ऐसे आप्त आगम तत्व को बराबर जानना चाहये। जीव-अजीवादि पदार्थ अपने अपने गुण -पर्याय रूप से परिणमन करते है; समस्त पदार्थों में स्वयंमेव परिणमन होता है और कालद्रव्य उसमें सहकारी कारण है। -ऐसे पदार्थ स्वरुप को जो जानता है वह परमब्रम्हपद को प्राप्त करता है।

इस प्रकार भरत क्षेत्र के आद्यतीर्थंकर भगवान ऋषभदेवने दिव्यध्वनि द्वारा जीवादि छह द्रव्योंका, मोक्षादि मार्गरुप रत्नत्रय का बंध और उसके कारणों का नरक और द्वीप-समुद्रादिका, तीर्थंकरों का, गुणस्थान मार्गणास्थान का, गति-आगतिका तथा मुनियोंकी ऋद्धि आदिका निरुपण किया। सर्व के ज्ञाता एवं सर्व के कल्याण कर्ता भगवान ऋषभदेवने भूत- भविष्य- वर्तमान त्रिकालसम्बधी समस्त द्रव्यों का सम्पूर्ण स्वरुप बतलाया।

अहा,इस भरत क्षेत्र में असंख्यात वर्षों बाद तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि सर्वप्रथम पुरिमतालनगरी में खिरी...उस दिव्य ध्वनि की क्या बात!! और उस अमृत झरने को झेलनेवाले श्रोताओं के आन्द का क्या कहना!! भगवान द्वारा दरशाये गये तत्त्वस्वरूप का श्रवण करके भरतराजा और बारह सभाओं के जीव परम आनन्दित हुए। दिव्यध्वनि द्वारा धर्मरुपी अमृत का पान करके सर्व जीव परमहर्षित एवं सन्तुष्ट हुए। परम आनन्दित होकर भक्तिनिर्भर ऐसे महाराज भरत भगवान के चरणों में क्षायिक सम्यक्त्व, अवधिज्ञान तथा अणुव्रतों की परमविशुद्धि को प्राप्त हुए।

## 卐 चार तीर्थरूप चतुर्विध संघ की स्थापना 卐

उसी समय महाराज भरत के लघु भ्राता वृषभसेन - जो कि पुरिमतालनगरी के राजा थे तथा प्राज्ञ, शूरवीर, पवित्र, धीर-गम्भीर एवं अतिशय बुद्धिमान थे, उन्होंने भगवान के प्रथम उपदेश से सम्बोन्धित होकर उनके चरणों में मुनिदीक्षा धारण कर ली और वे भगवान के प्रथम गणधर हुए; भगवान के जो पुत्र थे वे ही उनके धर्मपुत्र (गणधर) हुए; और सात ऋद्धि एवं चार ज्ञान से सुशोभित हो उठे। तदुपरान्त आहार दान देने वाले राजा सोमप्रभ, श्रेयांसकुमार तथा अन्य राजा भी दीक्षा धारण करके भगवान के गणधर हुए। भगवान की पुत्री और भरत महाराज की बहिन ब्राह्मीदेवी भी भगवान के निकट दीक्षित होकर आर्यिकाओं के संघ की गणिनी बनी; देवों ने भी उनकी पूजा की। भगवान की दूसरी पुत्री एवं बाहुबलि की सहोदरी सुन्दरी देवीने भी प्रभुचरणों में वैराग्यपूर्वक दीक्षा धारण की; अन्य कितने ही राजा, राजकुमार तथा राजपुत्रियों ने संसार से भयभीत होकर दीक्षा ले ली। श्रुतिकीर्ति नामक अति बुद्धिमान पुरुष ने श्रावकव्रत ग्रहण किये, और लाखों देशव्रती श्रावकों में वे श्रेष्ठ हुए; उसी प्रकार पवित्र अंत:करणवाली सती प्रियव्रताने श्राविका के व्रत धारण किया और लाखों श्राविकाओं में वह श्रेष्ठ हुई। इस प्रकार भगवान ऋषभदेव के शासन में इस भरतक्षेत्र में मुनि - आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विध संघ की स्थापना हुई।

## मोक्ष के द्वार खुले

भगवान के साथ दीक्षा लेनेवाले जो ४००० राजा भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से एक मरीचिको छोड़कर अन्य सब तपस्वी राजा भगवान ऋषभदेव के उपदेश से तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझकर पुन: दीक्षित हुए और भावलिंगी मुनि हुए। अन्य अनेक श्रेष्ठ राजाओं ने भी दीक्षा ली; उसमें भगवान के पुत्र अनन्तवीर्य (भरत के भाई) श्री भगवान के पास दीक्षा लेकर अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट करके इस अवसर्पिणी युगमें (तीसरा आरामें) सर्व प्रथम मोक्ष प्राप्त किया। देवों ने भी उनकी पूजा की। इस प्रकार प्रथम तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि प्रारम्भ होने पर भरतक्षेत्र में मोक्ष के द्वार खुले।

## सौधर्म इन्द्र द्वारा भगवान की स्तुति

महाराजा भरत परमभक्तिपूर्वक भगवान ऋषभदेव के केवलज्ञान का उत्सव मनाकर तथा दिव्यध्वनि का श्रवण करके, चक्ररत्न का एवं पुत्रजन्म का उत्सव मनाने के लिये अयोध्यानगरी लौटे। राजर्षि भरत के विदा होते ही दिव्यध्वनि बन्द हो गई, तब धर्मसभा में विराजमान भगवान ऋषभदेव को देखकर हर्षसे जिनके हजार नेत्र खुले हैं और मन प्रसन्न हो रहा है ऐसे सौधर्म इन्द्रने स्थिर चित्त से भगवान की स्तुति प्रारम्भ की: हे प्रभो! बुद्धि की मन्दता होनेपर भी मात्र भक्ति से प्रेरित होकर मैं गुणरत्नों के भण्डार ऐसे आपकी स्तुति करता हूँ; आपकी स्तुति से उत्तम फल स्वयं प्राप्त होता है। पवित्र गुणों का कीर्तन करना सो स्तुति है, प्रसन्न-बुद्धिवाला भव्य जीव स्तुति करनेवाला (स्तोता) है, सर्वगुणसम्पन्न ऐसे आप सर्वज्ञदेव स्तुत्य हो, और मोक्षसुख की प्राप्ति वह स्तुति का फल है। हे भगवान! इस प्रकार आपकी स्तुति करनेवाले ऐसे मुझे आप अपनी प्रसन्न दृष्टि द्वारा पवित्र करो। प्रभो! आपकी भक्ति मुझे आनन्दित कर रही है इसलिये मैं संसार से उदासीन होकर आपकी स्तुति में लीन हुआ हूँ। हे देव! राग-द्वेषरहित ऐसे आप वस्त्राभूषण के बिना ही सर्वोत्कृष्टरूप से सुशोभित हो रहे हो; इससे सिद्ध होता है कि शोभा बाह्य श्रृंगार से नहीं है किन्तु वीतरागभाव से ही है। आपने क्रोध किया बिना ही मोहशत्रु का नाश कर

दिया है; आपकी प्रभुत्वशक्ति महान आश्चर्यकारी है। प्रभो! आपकी वीतराग दृष्टि हमें पवित्र कर रही है। जिसमें से दिव्यध्वनिरूपी अमृत झरता है और भव्य जीवों को जीवन देता है ऐसा आपका श्रीमुख, मानो धर्मका आगार हो ऐसे शोभायमान हो रहा है, और यह भी एक आश्चर्य की बात है कि आपकी वाणी में एकसाथ अनेक प्रकार की भाषाएँ उत्पन्न होती हैं; यह आपके तीर्थंकरत्व की ही अचिन्त्य महिमा है। आपके आत्मा का तो क्या कहना, आपका शरीर और वाणी भी ऐसे असाधारण हैं कि जगत् को आनन्दित करते हैं। प्रभो! आपका यह समवसरणरूपी विमान पृथ्वीका स्पर्श नहीं करता हुआ सदा आकाश में ही विद्यमान रहता है; आपके आसपास १०० योजन में कहीं दुर्भिक्ष या रोगादि उपद्रव नहीं होते; शेर, चिते जैसे हिंसक प्राणी भी आपका धर्मोपदेश सुनकर अहिंसक बन जाते हैं; प्रभो! घातिकर्मों को नष्ट किया होने से असाता वेदनीय आपको फल नहीं दे सकता; इसलिये न तो आपको क्षुधा है और न आहार। आप तो अनन्त अतीन्द्रिय सुखके भोक्ता हो। प्रभो! आपको देखकर देवों को इतना आनन्द होता है कि उनके नेत्र पलक भी नहीं मारते। प्रभो! आप अपने आत्मा में से आत्मा द्वारा ही स्वयंभू सर्वज्ञरुप से प्रगट हुए हो और आपकी महिमा अचिन्त्य है; इसलिये आपको नमस्कार हो!

अभी भगवान की स्तुति करते हुए सौधर्म इन्द्र कहते हैं कि हे नाथ! आपके गुण अनन्त हैं; उन अनन्त गुणों का स्तवन तो मैं अपनी हजार जिह्वाओं द्वारा भी नहीं कर सकता, परन्तु आपके १००८ लक्षण अति प्रसिद्ध है, इसलिये मैं एक हजार आठ मंगल नामों द्वारा आपकी स्तुति करता हूँ। - ऐसा कहकर इन्द्र ने 'श्रीमान' से प्रारम्भ करके 'धर्म साम्राज्य नायक' तक के १००८ नामों से भगवान का स्तवन किया।

१. हे प्रभो! जगत के अद्वितीय प्रकाशक होने से आप एक हो।
२. एकसाथ ज्ञान-दर्शनरूप दो उपयोग के धारक होने से दो रूप हो।
३. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे त्रिविध मोक्षमार्गमय होने से त्रिरुप हो।
४. आत्मा में उत्पन्न ऐसे अनन्त चतुष्टय स्वरुप होने से आप चाररूप हों।
५. पंचपरमेष्ठी स्वरुप होने से तथा पंचकल्याणक के नायक होने से पाँच रुप हो।
६. हे देव! जीवादि छह द्रव्यों के प्रत्यक्ष ज्ञाता होने आप छह रुप हो।
७. नैगमादि सात नयों के संग्रहरुप होने से आप सातरुप हों।
८. सम्यक्त्वादि आठ अलौकिक गुणस्वरूप होने से आप आठ रुप हो।
९. प्रभो! केवलज्ञानादि नव क्षायिकलब्धिसहित होने से आप नवरूप हों।
१०. महाबल आदि दस अवतारों द्वारा आपका निर्धार होने से आप दस रुप हो।

-ऐसे हे ऋषभजिनेश्वर! इन भवदु:खों से मेरी रक्षा करो!

इस प्रकार स्तुति करने के पश्चात् इन्द्रने भगवान से तीर्थविहार हेतु प्रार्थना की कि - हे प्रभो! भव्य जीवों पर धर्मरुपी अमृत का सिंचन करने के लिये आप मेघरुप बनो। मोह की सेना को नष्ट करके केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अब मोक्षमार्ग का उपदेश देने का समय आ चुका है, और आपके श्रीविहार हेतु यह धर्मचक्र भी तैयार है। इसलिये हे जिनेश्वर! मंगलविहार द्वारा इस भरतभूमि को पावन करें और मोक्षमार्ग का उपदेश देकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें।

तब, तीर्थंकर नामकी पुण्यप्रकृति जिनकी साक्षी है ऐसे श्री भगवान का विहार हुआ। भगवान

को किंचित् भी इच्छा नहीं थी, परन्तु भव्यजीवों के महा भाग्योदय से उनका सहज विहार हुआ। इन्द्रादि देवों ने भगवान के विहार का महान महोत्सव किया। आकाशगामी भगवान के आसपास करोड़ों देव जयजयकार करते हुए आकाश में चलने लगे। जहाँ-जहाँ भगवान का पदार्पण हुआ वहाँ सर्वत्र आनन्द छा गया; आकाश और पृथ्वी भी प्रसन्न होकर दैवी वातावरण द्वारा भगवान के आगमन की सूचना देते थे। हजार आरोंवाला तेजस्वी धर्मचक्र सबसे आगे चलता था। अष्टमंगल, धर्मध्वज और देवों के बाजे भी साथ साथ चल रहे थे। लोक कहते हैं कि आकाश में फूल नहीं होते, परन्तु आश्चर्य है कि गगनविहारी भगवान के चरणों तले आकाश में दो सौ पच्चीस सुवर्णकमलों की रचना हो जाती थी, इस प्रकार आकाशरूपी सरोवर भी कमलों से खिल उठता था। एक लाख पूर्व तक गुजरात-सौराष्ट्र सहित भरतभूमि में विहार करके भगवान ऋषभदेवने धर्मामृत की वर्षा की और भव्य जीवों को तृप्त किया; पश्चात् कैलाश पर्वत पर पधारे और वहाँ स्थिर हुए।

## कैलासधाम में विराजमान ऋषभ तीर्थंकर को नमस्कार हो!

[प्रिय पाठक! हमारे कथानायक महात्माने महाबल राजा के भव से लेकर भगवान ऋषभदेव के तकके दस भवों में जो धर्म साधना की और तीर्थंकर होकर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया उसका सुन्दर वर्णन भगवत् जिनसेन स्वामी रचित महापुराण के २५ अध्यायों में है तो आप अब तक पढ़ चुके हैं; तत्पश्चात् २६ वे अध्याय से ४७ वें अध्याय तक भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय आदिका तथा बाहुबलि, जयकुमार आदि महापुरुषों का जीवन वृन्तात है और पश्चात् उत्तर पुराण में (गुणभद्र स्वामी रचित अध्याय ४८ से ७६ में) शेष २३ तीर्थंकर भगवन्तो, चक्रवर्तीयों, बलदेव-वासुदेव, हनुमानजी आदि महापुरुषों की जीवन गाथा है। यदि हम इस पुस्तक में सब लेने जायें तो पुस्तक बहुत बढ़ जायगी इसलिये, भगवान ऋषभदेव के शासनकाल में हुए अन्य भरतादि महापुरुषों के जीवन का विस्तृत वर्णन तो उन उन पुरुषों के जीवन चरित्र में करेगें, यहाँ तो उनके मंगल स्मरणार्थ संक्षिप्त उल्लेख ही करेंगे; पश्चात् कैलास धाम के ऊपर पहुचकर भगवान ऋषभदेव का मोक्षकल्याणक देखेंगे। तत्पश्चात् अनेक पुराणो के आधार से लिखे गये अन्य तेईस तीर्थंकर भगवन्तों के उत्तम जीवन का रसास्वादन करेंगें।)

## भरत चक्रवर्ती और बाहुबलि

भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र और अनेक भव तक साथ रहनेवाले भरत, पुरिमताल नगरी में भगवान ऋषभदेव की वन्दना करके अयोध्या लौटे; वहाँ पुत्र जन्म का तथा चक्ररत्न की उत्पत्ति का उत्सव किया; और पश्चात् छह खण्ड की दीग्विजय करने चले। जब सौराष्ट्र देशमें पहुँचे वहाँ बीच में गिरनार का मनोहर प्रदेश आया : 'यहाँ भविष्यमें नेमिनाथ तीर्थंकर होगें' -ऐसा स्मरण होने पर भरत चक्रवर्तीने ऊँचे गिरनार पर्वत की प्रदक्षिणा की छह खण्ड की दिग्विजय करके लौटते हुए कैलास पर्वत पर भगवान आदिनाथ के पुन: दर्शन किये। भरतने भगवान की वन्दना करके दिग्विजय का प्रारम्भ किया था, और आज ६०००० वर्ष पश्चात् दीग्विजय की पूर्णता के अवसर पर पुन: भगवान ऋषभदेव के दर्शन हुए। उनके साथ १२०० पुत्र थे, उन्होने तो अपने दादाजी भगवान आदिनाथ को पहली बार देखा और देखकर परम आश्चर्य को प्राप्त हुए! वे अपनी माताके पास जाकर अत्यंत हर्षपूर्वक समवसरण का वर्णन करने लगे। अहा साक्षात् परमात्मा (और फिर अपने दादा) -उनके दर्शन से उन राजकुमारों को जो आत्मतृप्ति एवं प्रसन्नता हुई, उसकी क्या बात!



कैलास की यात्रा करके अयोध्या के निकट आने पर भरत का चक्र थम गया, क्योंकि ९९ भाई अभी अविजित थे; उन्होने भगवान आदिनाथ के अतिरिक्त किसी दूसरे को नमन नहीं करने का निर्णय किया था। महाराजा भरत के दूत द्वारा सन्देश सुनकर ९८ भाई तो संसारसे विरक्त हो गये, और 'दीक्षा ही रक्षा है' ऐसा विचारकर भगवान आदिनाथ की शरण में जाकर मुनि हो गये, और पश्चात् केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया।





अब शेष रहे बाहुबलि! उन्होंने न तो दीक्षा ली, और न ही भरत को नमन किया। अन्त में भरत-बाहुबलि के बीच त्रिविध युद्ध हुआ, उसमें भरत हारे और क्रोधित होकर बाहुबलि पर चक्र छोड़ा; परन्तु चरमशरीर भाई बाहुबलि पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसी समय विजेता बाहुबलि संसार से विरक्त हो गये और दीक्षा लेकर एक वर्ष तक प्रतिमायोग धारण करके ध्यानमें लवलीन होकर अद्भुत-आश्चर्यकारी तप किया। इस भव के और पूर्वभव के भी भ्राता ऐसे भरत चक्रवर्ती उनकी पूजा करने आये, उसी समय निःशल्य होकर वे केवलज्ञान को प्राप्त हुए और भरतने रत्नों के अर्घ्य द्वारा अत्यन्त भक्तिसहित बाहुबलि-केवली की महान पूजा की। केवलज्ञानप्राप्त बाहुबलि जिनदेवने अनेक देशों में विहार करके दिव्यध्वनि द्वारा सर्व जीवों को संतुष्ट किया और पश्चात् कैलास पर्वतपर आ पहुँचे।

एक बार भरत चक्रवर्ती ने १६ स्वप्न देखे और उनका फल जानने के लिये भगवान के समवसरण में गये। वे १६ स्वप्न आगामी पंचमकाल के सूचक थे।

## जयकुमार

भगवान को प्रथम आहारदान देनेवाले हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ और श्रेयांसकुमार; श्रेयांसकुमार तो भगवान के नौ भव के साथी थे और अन्त में गणधर हुए; सोमप्रभ राजा के पुत्र जयकुमार; सोमप्रभराजा द्वारा दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जयकुमार हस्तिनापुर के राजा हुए, वे भरत चक्रवर्ती के सेनापति भी थे। सुलोचनादेवी के साथ उनका विवाह हुआ; दोनों को जातिस्मरण होने पर अनेक भवों के सम्बन्ध का ज्ञान हुआ। इन्द्रने दोनों के उत्तम शील की प्रशंसा की, इसलिये देवीने आकर उनकी शील की परीक्षा की। एक दिन भगवान का उपदेश सुनकर जयकुमारने दीक्षा ग्रहण कर ली; उनके साथ उनके लघुभ्राता जयन्त, विजय, संजयन्त तथा चक्रवर्ती के पुत्र रविकीर्ति आदि अनेक पुत्रोंने भी दीक्षा ले ली। जयकुमार ऋषभदेव भगवान के ७१ वें गणधर हुए और मोक्ष प्राप्त किया; सती सुलोचनाने भी दीक्षा धारण की और एकावतारी हुई।

अब हम भगवान के समवसरण में जाकर वहाँ के धर्मवैभव का अवलोकन करें :-

## भगवान ऋषभदेव का धर्मवैभव

मोक्षमार्ग के नायक एवं धर्मतीर्थ के प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव समवसरण में ८४ गणधरों के मध्य सुशोभित हो रहे हैं। उनके समवसरण में २०००० केवलज्ञानी गगन में विराजमान हैं; ४७५० श्रुतकेवली हैं; ४१५० शिक्षक मुनिवर हैं; ९००० अवधिज्ञानी मुनिवर हैं; २०६०० विक्रियाऋद्धिधारी मुनिवर हैं; १२७५० मन:पर्ययज्ञानी मुनिवर हैं। - इस प्रकार कुल ८४०८४ (चौरासी हजार चौरासी) मुनिवरों का संघ विराजमान है, - उन्हें नमस्कार हो! ब्राह्मी आदि तीन लाख पचास हजार आर्यिका माताएँ भगवान के गुणों की उपासना कर रही हैं; दृढ़व्रतादि तीन लाख श्रावक और सुव्रतादि पाँच लाख श्राविकाएँ भगवान के कहे हुए मोक्षमार्ग में गमन कर रही हैं और तिर्यंचों का भी पार नहीं है। ऐसी उत्तम धर्मसभा में दिव्यध्वनि प्रवाहित हो रही है और कितने ही जीव सम्यक्त्वादि धर्म प्राप्त करके आत्मकल्याण साध रहे हैं। जैनधर्म की धारा अखण्डरूप से बह रही है।

-इस प्रकार सज्जनों को उत्तम मोक्षफल की प्राप्ति कराने हेतु भगवान एक लाख पूर्व (-उसमें एक हजार वर्ष तथा १४ दिन कम) तक इस भरतभूमि में तीर्थंकर रूप से विचरे। जब उनके मोक्षगमन में १४ दिन शेष रहे तब पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन कैलास पर्वत पर योगनिरोध प्रारम्भ हुआ; दिव्यध्वनि रुक गई।

ठीक उसी दिन अयोध्यानगरी में महाराजा भरत ने स्वप्न देखा कि मेरु पर्वत उच्च होकर ठेठ सिद्धालय तक पहुँच रहा है; युवराज अर्ककीर्तिने ऐसा स्वप्न देखा कि महाऔषधि का वृक्ष मनुष्यों के जन्मरोग को मिटाकर स्वर्ग में जा रहा है; गृहपति ने देखा कि कल्पवृक्ष इच्छित फल देकर स्वर्ग में जा रहा है; प्रधानमंत्री नें देखा कि एक रत्नद्वीप लोगों को रत्नराशि देकर आकाश में जाने की तैयारी कर रहा है; इसी प्रकार सेनापति आदिने भी भगवान ऋषभदेव ने मोक्षगमन सूचक स्वप्न देखे और उसी प्रात:काल 'आनन्द' नामक दूत समाचार लाया कि भगवान मोक्ष जाने की तैयारी कर रहे हैं।

तुरन्त ही समस्त परिवार सहित भरत चक्रवर्ती भगवान के समवसरण में आ पहुँचे, और १४ दिन की महामह नामकी महा पूजा प्रारम्भ की।

## भगवान का मोक्षगमन

माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन सूर्योदय के समय भगवान ऋषभदेव पूर्वमुख से अनेक मुनियों सहित पर्यंकासन विराजमान हुए; सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यान द्वारा तीनों योग का निरोध करके अयोगी हुए; अन्तिम गुणस्थान में पाँच लघुस्वर के उच्चारण जितने समय में चौथे व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक शुक्लध्यान द्वारा चार अघातिकर्मों का अत्यन्त अभाव करके कैलासगिरि से अशरीरी सिद्धपद प्राप्त किया और अष्टमहागुणसहित उर्ध्वगमन करके तनुवातवलय में लोकाग्र में विराजमान हुए। आत्मसुख में तल्लीनरूप से वर्तमान में भी वे वहाँ विराज रहे हैं। उन सिद्धप्रभु को नमस्कार हो।

इन्द्रों ने तथा चक्रवर्ती आदि ने भगवान के मोक्ष कल्याणक का महोत्सव किया।

कैलासगिरि पर ऋषभदेव भये सिद्धभगवान;
साधो प्रभुके पंथको नमन करो गुणवान।

[अपने २४ तीर्थंकर भगवन्तों के महापुराण में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का दस पूर्वभवों सहित मंगल-जीवनचरित्र पूर्ण हुआ।]

भगवान ऋषभदेव का महान जीवन चरित्र आपने पढ़ा। आपको सचमुच आनन्द हुआ!! जिनभक्ति एवं मोक्षसाधना की मंगल-ऊर्मियाँ आपके अन्तर में जागृत हुई!! -हाँ, तो अब ऐसे ही अन्य २३ तीर्थंकर भगवन्तों का अति भव्य मंगल जीवन चरित्र आप पढ़ेंगे,...और साथ ही साथ उत्तम प्रसंगों के चित्र देखेंगे, जिससे आपको आनन्द होगा।

इस प्रकार एक साथ अपने २४ तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण पढ़कर आप वाह...वाह! कर उठेंगे। उन भगवन्तों के दिव्य गुण आपके चित्त में बस जायेंगे और जैनधर्म के मूल रहस्यों को आप जान लेंगे।

परन्तु हे भाई! आप अकेले ही इस महापुराण का लाभ मत लेना; अपने समस्त परिवार को तथा जैन समाज के घर-घर में सभी को इस पुराण का लाभ प्राप्त हो सके ऐसी प्रभावना करना। जिस प्रकार आप बचपन में अपनी दादीमाँ से कहानियाँ सुनते थे, उसी प्रकार आप भी अपने परिवार को तीर्थंकर भगवन्तों की कहानियाँ सुनाना...आपके घरमें अवश्य ही धर्म का चमत्कार होगा।

# भगवान ऋषभदेव आदि दस जीवों के पूर्व भवों का दिग्दर्शन

| | (१) ऋषभदेव | (२) श्रेयांस | (३) भरत | (४) बाहुबलि | (५) वृषभसेन | (६) अनंत-विजय | (७) महासेन | (८) श्रीषेण | (९) गुणसेन | (१०) जयसेन |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| * | जयवर्मा | धनश्री | अतिगृद्ध राजा और नरक | प्रीतिवर्धन के सेनापति | प्रीतिराजा के मंत्री | प्रीतिराजा के पुरोहित | — | — | — | — |
| १. | महाबल | निर्नामिका | शार्दूल सिंह | भोगभूमि | भोगभूमि | भोगभूमि | — | — | — | — |
| २. | ललितांगदेव | स्वयंप्रभा | दिवाकर देव | प्रभाकर देव | कनकप्रभ देव | प्रभंजन देव | क्रोधी वैश्य | मानी राजा | मायावी वणिक | लोभी हलवाई |
| ३. | वज्रजंघ राजा | श्रीमती रानी | मतिवर मंत्री | सेनापति | पुरोहित | नगरसेठ | सिंह | शूकर | वानर | नेवला |
| ४. | भोगभूमि आर्य | भोगभूमि आर्या | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | भोगभूमि | भोगभूमि | भोगभूमि | भोगभूमि |
| ५. | श्रीधर देव | स्वयंप्रभ देव | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | चित्रांगद देव | मणिकुण्डल | मनोहर देव | मनोरथ देव |
| ५. | सुविधि राजा | केशव पुत्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | वरदत्त राजा | वरसेन राजा | चित्रांगद राजा | शान्त मदन राजा |
| ७. | अच्युतेन्द्र | अच्युतेन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अहमिन्द्र | अच्युतदेव | अच्युतदेव | अच्युतदेव | अच्युतदेव |
| ८. | वज्रनाभि चक्री | धनदत्त | सुबाहु (भाई) | महाबाहु (भाई) | पीठ (भाई) | महापीठ (भाई) | जय (भाई) | विजय (भाई) | जयन्त (भाई) | अपराजित (भाई) |
| ९. | (नौवें भवमें यह दसों जीव सर्वार्थसिद्धि में देव थे।) | | | | | | | | | |
| १०. | ऋषभदेव तीर्थंकर | श्रेयांस गणधर | भरत चक्री | बाहुबलि | वृषभसेन (पुत्र) गणधर | अनंत विजय (पुत्र) गणधर | महासेन (पुत्र) | श्रीषेण (पुत्र) | पुत्र गुणसेन गणधर | पुत्र जयसेन |

[यह दसों जीव उस भवमें मोक्ष को प्राप्त हुए।]

यह दसों जीव पूर्व भव में एकसाथ मुनिराज का धर्मोपदेश सुन रहे हैं, उसका भाववाही वर्णन करने के लिये देखिये पृष्ठ ६ तथा ८

## [२]




**अपने अनंत चतुष्टय चक्र द्वारा जिन्होंने राग-द्वेष-मोहरूप समस्त शत्रुओं को जीत लिया है परन्तु जो स्वयं क्रोधादि किसी शत्रु द्वारा विजित नहीं होते - ऐसे भगवान अजितनाथ तीर्थंकर को नमस्कार हो!**

तीर्थंकर भगवन्तों का आत्मसाधनामय जीवनचरित्र पढ़ते-सुनते हुए मुमुक्षु जीव को आत्मसाधना का उत्साह जागृत होता है और संसार-भोगों के प्रति वैराग्य-उदासीनता होती है। इस प्रकार पुराणपुरुषों की कथा मंगलरूप है। यह दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का जीवन चरित्र है; उसमें प्रथम उनके पूर्वभव की कथा सुनो :-

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में सीतानदी के किनारे पुण्डरीकिणी नगरी में वर्तमान सीमंधर तीर्थंकर विराज रहे हैं। उसी नदी के दूसरे किनारे सुसीमानगरी नामकी सुन्दर नगरी है। पूर्वकाल में वहाँ विमलवाहन राजा राज्य करते थे। वे राजा महान प्रभावशाली, गुणवान धर्मात्मा थे। वे जैनधर्म के महान उपासक थे। वे विमलवाहन ही अपने अजितनाथ तीर्थंकर का जीव है।

राजा विमलवाहन जानते थे कि संसार में जीवों को धर्म की साधनापूर्वक सत्पुण्य का बंध होता है, पुण्य द्वारा अर्थप्राप्ति होती है और अर्थ द्वारा भोगसामग्री मिलती है। इस प्रकार अर्थ और भोगों का मूल कारण पुण्य है। - ऐसा समझकर वे धर्म की साधनापूर्वक शुभभाव में वर्तते थे, लक्ष्मी में या भोगों में आसक्त नहीं होते थे। वे जानते थे कि भोगासक्ति में सुख नहीं है, सुख तो वीतराग धर्म द्वारा ही होता है। वे न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। उनके राज्य में मांस-मदिरा का सेवनादि पाप प्रवृत्तियाँ नहीं थीं। 'यथा राजा तथा प्रजा' इस न्याय से प्रजाजन भी सदाचारी थे, जैनधर्म का पालन करते थे और सर्व प्रकार से सुखी थे; एक भावी तीर्थंकर जिनके राजा हों वे क्यों सुखी नहीं होंगे?

भावी तीर्थंकर एवं आत्मज्ञानी ऐसे उन महाराजा विमलवाहन को श्रुतकेवली मुनिराज के दर्शन हुए; उनके उपदेश से वैराग्य जागृत होने पर विचार आया; अरे, इस संसार में मैं कब तक रहूँगा ? इन राजभोगों - में आत्मा का सुख कहाँ है ? मैंने जिसका अपूर्व रसास्वादन किया है ऐसे अपने चैतन्यसुख को मैं पूर्ण कब प्राप्त करूँगा ? उसकी प्राप्ति हेतु मुझे इन अव्रत के कषायों को छोड़कर पूर्णरत्नत्रय प्रगट करना योग्य है। इस शरीर में रहना तो आयुकर्म के आधीन है। आयु प्रतिक्षण घट ही रही है, उसकी समाप्ति से पूर्व यह राजमोह छोड़कर मुझे आत्मसाधना कर लेना योग्य है - ऐसा विचार कर वैराग्यभावना पूर्वक वे महाराजा जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रयधारी मुनि हुए, चारमें से तीन प्रकार के कषायों को नष्ट किया और बारम्बार आत्मध्यान में उपयोग लगाकर शुद्धोपयोग द्वारा उत्साहपूर्वक मोक्षमार्ग में प्रवर्तने लगे। यद्यपि वे स्वाधीन थे, विषयों से विरक्त थे, तथापि मोक्षलक्ष्मी की शोभा में आसक्त होकर उसके आधीन हो गये, मोक्षलक्ष्मी में चित्त लगाकर वे तीव्र तपस्या द्वारा विशुद्ध परिणामी होते गये और कर्मबंधन को तोड़ने लगे, उन्होंने चैतन्यभावना द्वारा बारह अंग का ज्ञान प्रगट किया और क्षायिक सम्यक्त्वसहित दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थंकर-नाम कर्म बाँधा। उनकी आत्मसाधना ऐसी उग्र कि अब बीच में मात्र एक भव करके दूसरे भवमें परमात्मा बनना निश्चित् हो गया। उन इन्द्रिय विजयी विमलवाहन मुनिराजने उत्तम आराधनापूर्वक समाधिमरण किया और स्वर्गलोक में सबसे ऊपर जो पाँच अनुत्तर विमान - जोकि सिद्धपुरी के एकदम निकट हैं - उनमें से विजय नामक विमान में उत्पन्न हुए।

उस देवलोक में उनकी आयु तेतीस सागर की थी; उनका शरीर भी शुक्ल लेश्यावान था और आत्मा भी शुक्ल लेश्यावान था, इसलिये द्रव्य से और भाव से दोनों प्रकार से वे उज्ज्वल थे। उनका शरीर अति रूपवान था, वे साढ़े सोलह मास में एक बार श्वास लेते थे और तेतीस हजार वर्ष में एक बार मात्र मानसिक अमृत का आहार ग्रहण करते थे; देवों को बाह्य भोजन या पानी रूप कोई आहार नहीं लेना पड़ता। लोकनाड़ी (असंख्यात योजन की त्रसनाड़ी) में स्थित समस्त रूपी पदार्थों को वे अवधिज्ञान द्वारा जान सकते थे, परन्तु उपयोग को बारम्बार जहाँ-तहाँ घुमाते नहीं थे, इसलिये बारम्बार अवधिज्ञान का प्रयोग नहीं करते थे...आत्मिक भावना में ही विशेषरूप से रहते थे, और अपने जैसे अन्य देवों के साथ धर्मचर्चा करते थे। उस विजय विमान में निवास करनेवाले समस्त देव आत्मज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि थे; तथा पूर्वभव में मुनि होकर शुद्ध चारित्र का पालन करके आये थे, इसलिये उनको अत्यन्त वीतरागता थी। उस देवविमान में कोई भी देव अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि नहीं थे, सब मोक्षगामी थे। विशाल मेरुपर्वत को भी खेल-खेल में उखाड़कर अन्यत्र रख दें ऐसी अद्भुत शक्ति उनमें थी, यद्यपि वे कभी ऐसा करते नहीं थे। पाँच इन्द्रियसम्बन्धी विषयभोगों का जो सुख है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुना सुख वे विषयभोगों के बिना ही पुण्यप्रभाव से भोगते थे; और उन्हें चैतन्य के अनुभव का जो सुख था उसकी तो बात ही क्या ! वह तो सिद्धों की जाति का था।

अजितनाथ तीर्थंकर का जीव ऐसे सुखपूर्वक असंख्य वर्षों तक उस विजयविमान में रहा...वहाँ भी वह जीव आराधना युक्त था और उसे निरन्तर तीर्थंकर-प्रकृति बँधती ती। उस महाभाग्यवान जीवकी आयु उस देवलोक में जब छह मास शेष रह गई और मनुष्यलोक में अवतरित होने की तैयारी हुई...तब क्या हुआ ? वह अब पढ़ेंगे।

[इति अजितनाथ तीर्थंकर पूर्वभव वर्णन]

अयोध्या नगरी - जिसका दूसरा नाम विनितानगरी और तीसरा नाम साकेत पुरी - वह वही पवित्र नगरी है जहाँ पचास लाख-करोड़ सागरोपम पूर्व में भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर के रूप में अवतरित हुए थे; पश्चात् उन प्रभु के इक्ष्वाकुवंश में ही महाराजा जितशत्रु हुए; उनकी महारानी विजयसेना; उनकी कुक्षि में (ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को) द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ का आगमन हुआ। उस अवसर पर राजमहल के प्रांगण में पन्द्रह मास तक करोड़ों रत्नों की वर्षा हुई। विजया रानीने हाथी आदि मंगलस्वप्न देखे और महाराजा से बात करके उनका फल पूछा। आत्मज्ञानी महाराज जितशत्रु को अवधिज्ञान था; उसके द्वारा जानकर उन्होंने कहा कि - हे देवी! इन सर्वोत्तम स्वप्नों का मंगल फल यह है कि सर्वोत्तम ऐसे तीर्थंकर का आत्मा तुम्हारे उदर में आया है; वह पुत्र मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान साथ लाया है। यह बात जानते ही महारानी ने तथा समस्त नगर जनों को अपार हर्ष हुआ। देवलोक के देव-देवेन्द्र भी हर्षित होकर अयोध्या आये और प्रभुके माता-पिता को दैवी वस्त्राभूषणों की भेट देकर सन्मान किया।

माघ शुक्ला दसवीं के शुभदिन महारानी विजयामाता की कुक्षि से भरतक्षेत्र के दूसरे तीर्थंकर का अवतार हुआ। इन्द्र ने उनका जन्माभिषेक करके, 'अजितनाथ' ऐसे नाम द्वारा उनकी स्तुति की। उनकी आयु बहत्तर लाख पूर्व थी और शरीर ४०० धनुष ऊँचा था (१ धनुष बराबर ३ मीटर); लगभग ७१ लाख पूर्व तक उन्होंने राजभोग किया; परन्तु उन राजभोगों में सुख कहाँ था? वे जानते ही थे कि यह इन्द्रिय-विषय मुझे कभी सुखी नहीं करेंगे...अन्त में तो इन्हें छोड़कर मोक्षपद की साधना करूँगा तभी मुझे पूर्ण सुख होगा।



वैराग्यवन्त महाराजा अजितनाथ एक बार राजमहल की छत पर बैठे-बैठे खिली हुई चाँदनी में प्रकृति की शोभा निहार रहे थे। इतने में आकाश से एक तेजस्वी तारा खरररर...करता हुआ खिर गया...उसे देखकर वे संसार की क्षणभंगुरता का विचार करने लगे कि - अरे, इस संसार के भोगसंयोग और पुण्य सब अस्थिर हैं! - ऐसा चिन्तवन करने से उनका चित्त संसार-भोगों से विरक्त हो गया। अहा, जिसका निकट में ही - शीघ्र मोक्ष होने वाला है ऐसे भव्यात्मा को संसार छोड़ने का कोई न कोई निमित्त बन ही जाता है। भगवान अजितनाथ महाराजा का चित्त संसार से विरक्त होते ही सारस्वत आदि अष्ट जाति के देवऋषि (ब्रह्मर्षि देव अर्थात् ब्रह्मलोकवासी लौकान्तिक देव) प्रभु के पास अयोध्यापुरी में आये

और वन्दन करके कहने लगे - हे देव! संसार छोड़कर चारित्रदशा अंगीकार करने के आपके विचार अति उत्तम हैं; आपके वैराग्य का हम अनुमोदन करते हैं। - इस प्रकार उन देवों ने स्वयंबुद्ध भगवान अजितनाथ के वैराग्य की महान प्रशंसा की।

वैरागी प्रभुने पूर्व में भोगे हुए राजभोगों को जूठन की भाँति छोड़ दिया, राग को आग समान जानकर उसे भी दूर किया और अपने आप दीक्षा धारण करके रत्नत्रयरूप मोक्षरथ में आरूढ़ हो गये। माघ शुक्ला नौंवी के दिन देवों ने प्रभु के दीक्षाकल्याणक का महोत्सव मनाया। दीक्षावन में गमन हेतु देव 'सुप्रभा' नामकी पालकी लेकर आ पहुँचे; यद्यपि उस 'सुप्रभा' की प्रभा दिव्य थी परन्तु प्रभु अजितनाथ उसमें आरूढ़ होते ही, उनकी अचिन्त्य ज्ञानप्रभा के समक्ष वह दिव्य प्रभावान सुप्रभा भी अप्रभा बन गई...चैतन्य प्रभा के समक्ष वह जड़ की प्रभा निष्प्रभ हो गई; तब पालकी लाने वाले देव भी लज्जित हो गये कि अरे, प्रभु की वीतरागी शोभा के समक्ष हमारे देवलोक के दिव्य वैभव भी निष्प्रभ हो जाते हैं। प्रभु के साथ एक हजार राजाओं ने दीक्षा ले ली। स्वयं परमगुरु-परमात्मा होने के लिये अवतरित उन महात्मा को दूसरे किसी गुरु की आवश्यकता नहीं थी। सिद्धों को वन्दन करके प्रभु स्वयं दीक्षित हुए और शुद्धोपयोग में एकाग्र हो गये। उसी समय उन्हें सातवाँ गुणस्थान तथा मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हुआ। तीन ज्ञान तो पूर्वभव से ही साथ लाये थे और चारित्र दशा में चौथा ज्ञान प्रगट हुआ साथ में अनेक महान लब्धियाँ भी प्रगट हुईं; परन्तु चैतन्य की ऋद्धि में निमग्न प्रभु को बाह्यऋद्धि का कोई लक्ष नहीं था। दूसरे दिन अजित मुनिराज ने वनसे विहार करके साकेतपुरी - अयोध्या में प्रवेश किया। प्रभु के प्रवेश से नगरजनों में आनन्द फैल गया, और धर्मात्मा - दानी पुरुषों का तो मानों ऐसे सुपात्र के योग से महाभाग्योदय हुआ। तीर्थंकर - मुनिराज को सर्वप्रथम आहारदान ब्रह्मा नामक धर्मात्मा महीपाल ने दिया...उसके सातिशय पुण्ययोग से तत्क्षण वहीं देवों ने रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्रगट किये।

मुनिदशा में रहकर प्रभुने बारह वर्ष तक आत्मसाधना की, शुद्धोपयोग द्वारा बारम्बार आत्मध्यान किया और पौष शुक्ला ११ के सायंकाल केवलज्ञान प्रगट करके वे सर्वज्ञ-अरिहंत परमात्मा हो गये। उसी समय तीर्थंकर प्रकृति के उदय का प्रारम्भ हुआ। इन्द्रों ने समवसरण की रचना की और दिव्यध्वनि द्वारा दूसरे तीर्थंकर का धर्मशासन स्थापित हुआ...धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ। भगवान अजितनाथ तीर्थंकर की धर्मसभा में सिंहसेन आदि ९० गणधर थे, जो चार ज्ञानधारी-एवं श्रुतकेवली थे। तदुपरान्त बीस हजार तो केवलज्ञानी अरिहंत भगवन्त समवसरण में प्रभु के साथ आकाश में विराजते थे; एक लाख मुनि तथा तीन लाख बीस हजार आर्यिकाएँ थीं। तीन लाख धर्मात्मा श्रावक एवं पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। सिंह, हाथी आदि लाखों तिर्यंच भी प्रभुकी वाणी सुनकर आत्मज्ञान को प्राप्त हुए थे और असंख्य देव प्रभु की सेवा करते थे। धर्मसभा में भगवान बंध-मोक्ष का स्वरूप समझाते थे। मिथ्यात्वादि मोहभाव जीव को बंध के कारण होने से दुःखरूप हैं, और सम्यक्त्वादि शुद्ध वीतराग भाव जीवको सुखरूप तथा मोक्ष के कारण हैं। इस प्रकार भगवान के उपदेश से बंध-मोक्ष सम्बन्धी सर्व भावों का स्पष्ट स्वरूप समझकर अनेक भव्य जीवों ने भेदज्ञान प्रगट किया और बंधरूप भावों को छोड़कर मोक्षके कारणरूप भाव प्रगट किये। चारों ओर वीतरागधर्म का वैभव छा गया। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति के महत् पुण्ययोग से समवसरण लक्ष्मी की शोभा अद्भुत-आश्चर्यजनक थी, परन्तु मोक्षलक्ष्मी के समक्ष वह भी लज्जित होकर निस्तेज हो जाती थी। सच ही है, चैतन्यलक्ष्मी के समक्ष जड़ लक्ष्मी की शोभा कहाँ तक टिकेगी?

अनादिकाल से केवलज्ञानादि निजगुणों के घातक ऐसे मोहादि शत्रुओं का भी भगवान

घातिकर्मोंका नाश कर दिया था और निजगुण वैभव प्राप्त कर लिया था। यद्यपि अभी तीर्थंकर प्रकृति आदि अघातिकर्म विद्यमान थे, परन्तु उनमें अजित प्रभु को जीतने का सामर्थ्य नहीं था, अपितु वे प्रभुके आधीन वर्तते थे...वीतरागी प्रभु अजितनाथ सचमुच अद्वितीय विजेता थे। वे किन्हीं पापों द्वारा अथवा किसी मिथ्यावादी द्वारा नहीं जीते जा सके...अरे, प्रभु की तो क्या बात! - भक्तजन भी उन अजितप्रभु के अवलम्बन मात्र से पापों पर तथा मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करने लगे। प्रभुने लाखों - करोड़ों वर्ष तक भरतभूमि में विहार करके दिव्यध्वनि का अमृत बरसाया और सर्वत्र धर्म का सुकाल प्रवर्तित किया। एक मास आयु शेष रही तब प्रभु सम्मेदाचल पर पधारे...दिव्यध्वनिरूप वचनयोग थम गया और प्रभुने अघातिकर्मों की भी विशेष निर्जरा प्रारम्भ की।

अब प्रभु का आयुकर्म तो अन्तर्मुहूर्त मात्र ही शेष था, परन्तु दूसरे तीन कर्मों की स्थिति अधिक थी; इसलिये उन कर्मों की स्थिति को तोड़कर आयु जितनी ही कर देने के लिये, इच्छा के बिना भी प्रभुके आत्मप्रदेश विस्तरित होकर समस्त लोक में फैल गये और निमेषमात्र से भी अल्पसमय में अतिरिक्त कर्मों को आत्मा में से खिरा दिया। पश्चात् थोड़ी ही देर में सिद्धवर टूंक पर तीसरे और चौथे शुक्लध्यान द्वारा चैत्र शुक्ला पंचमी को सर्व कर्मों के क्षयपूर्वक सम्पूर्ण आत्मशुद्धि प्रगट करके सिद्धालय में सिधारे। उन्हें नमस्कार हो।

अजितनाथ जिनराज की सिद्धवरकूट है जेह;
मन-वच-तन कर पूजहूँ, शिखर सम्मेद यजेह।

पहले भव में जो विदेहक्षेत्र में विमलवाहन राजा थे; पश्चात् मुनि होकर विजयविमान में अहमिन्द्र हुए और फिर भरतक्षेत्र में दूसरे तीर्थंकर रूप से अवतार लेकर मोक्ष प्राप्त किया, उन भगवान अजितनाथ का जीवन-चरित्र यहाँ समाप्त हुआ।

## द्वितीय चक्रवर्ती : सगर महाराज

इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुए; उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए; तत्पश्चात् दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ हुए और उनके तीर्थ में 'सगर' नामक दूसरे चक्रवर्ती हुए। उनकी कथा "जैनधर्म की कहानियाँ" के तीसरे भाग में छपी है; वह संक्षेप में इस प्रकार है:-

वे सगर चक्रवर्ती पूर्वभव में विदेहक्षेत्र में जयसेन राजा थे। उन्होंने तथा उनके मित्रने दीक्षा ली और स्वर्ग में गये। वहाँ भी दोनों देव मित्र थे और उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा ली कि जो पहले मनुष्य होगा उसे दूसरा देव प्रतिबोध प्राप्त करायेगा।

अब, पहले जयसेन का जीव स्वर्ग से अवतरित होकर अयोध्या में सगर चक्रवर्ती हुआ। उसके साठ हजार सुन्दर पुत्र थे और उनपर अतिस्नेह था।

एक बार उनके पुत्र कैलासगिरि गये थे; तब चक्रवर्ती को प्रतिबोध देने के लिये उनके मित्र-देवने एक युक्ति की। कैलासगिरि गये हुए उनके सब पुत्र साँप के काटने से मृत्यु को प्राप्त हुए हैं - ऐसा दृश्य बनाया। फिर राजा सगर के पास ब्राह्मण का रूप लेकर आया और अपने मृत पुत्र को जीवित करने की याचना करने लगा।

तब चक्रवर्ती ने कहा: हे भाई! जिसकी आयु पूर्ण हो गई हो उसे किसी प्रकार जीवित नहीं किया जा सकता; इसलिये तुम वैराग्य प्रगट करके आत्महित करो।

ब्राह्मण ने कहा : ठीक है महाराज! आपकी बात सत्य है। अब मैं आपको एक गम्भीर समाचार सुनाता हूँ, उसे सुनकर आप भी वैराग्य प्रगट करके आत्महित की साधना में तत्पर होना। - ऐसा कहकर साठ हजार पुत्रों की मृत्यु के समाचार कहे।

उसे सुनते ही पहले तो सगर चक्रवर्ती मूर्च्छित हो गये; परन्तु मूर्च्छा टूटते ही उनका आत्मा एकदम जागृत हो उठा और वैराग्य भावना पूर्वक उन्होंने दीक्षा ले ली।

मित्र को प्रतिबोधने का कार्य पूर्ण होते ही वह देव अपने यथार्थ रूप में प्रगट हुआ और चक्रवर्ती को नमस्कार करके कहने लगा कि - हे महाराज! आपके पुत्र वास्तव में मरे नहीं हैं; मात्र आपको वैराग्य प्राप्त कराने के लिये मैंने यह युक्ति की है। ऐसा कहकर उन पुत्रों को जीवित कर दिया।

यह बात जानकर वे सब राजपुत्र भी वैराग्य को प्राप्त हुए और जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।



अन्त में, सगर चक्रवर्ती और उनके साठ हजार पुत्रों ने केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया...उन्हें नमस्कार हो!

**'मित्र हों तो ऐसे हों....कि...जो धर्म की प्रेरणा दें।'**

**(संस्कृत-महापुराण सर्ग ४८ के आधार से)**

**ꕥ ꕥ ꕥ ꕥ**

[३]




**जो भव-रहित होने पर भी 'सं-भव' हैं-ऐसे तीसरे तीर्थंकर देव की सेवा हमें रत्नत्रय प्रदान करो!**

अपने चरित्रनायक तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ भी पूर्वभव में भगवान अजितनाथ की भाँति विदेहक्षेत्र में क्षेमपुरी नामक सुन्दर नगरी के राजा थे; उनका नाम भी विमलवाहन था।

वे महाराजा विमलवाहन एक ही भव के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने वाले थे...जिन्हें अति निकटकाल में मोक्षदशा की प्राप्ति होना हो वह भव्य जीव विषय-कषायों में क्यों आसक्त रहेगा? राजा विमलवाहन को एक बार संसार से वैराग्य होने पर वे विचारने लगे कि -

★ अरे, संसार के प्राणी मृत्यु के मुख में पड़े होने पर भी जीने की आशा रखते हैं! अनन्तकाल से जन्ममरण कर रहे हैं तथापि मोह के कारण उससे छूटने का उपाय नहीं करते।

★ आयु तो असंख्य समय की ही है, तथापि जीव उसे शरणभूत मानता है...आश्चर्य की बात तो यह है कि आयु भी प्रतिक्षण क्षीण होकर उसे मृत्यु की ओर धकेल रहा है।

★ कषायों की आकुलता से संतप्त वह जीव तिनकों की छाया जैसे विषयभोगों के आश्रय से शान्ति लेने की चेष्टाएँ करता है...जिस प्रकार तेज धूप में खड़ा हुआ कोई मूर्ख मनुष्य आकाश में उड़ते हुए पक्षी की छाया का आश्रय लेने की चेष्टा करता है...तो उस जीव को कैसे आश्रय मिलेगा?...उसी प्रकार अज्ञानी जीव विषय भोगों के आश्रय से शान्ति लेने का प्रयत्न करते है, उन्हे कैसे शान्ति प्राप्त होगी? भोगवृत्तिका त्याग करके अपने अतीन्द्रिय चैतन्यतत्त्व की शरण लेना ही शान्ति का उपाय है। वही अनन्त सुखका धाम है और सन्त पुरुष दिनरात उसीको ध्याकर परम पदकी साधना करते हैं।

—ऐसे वैराग्य चिंतनपूर्वक महाराजा विमलवाहन संसार को त्यागकर मुनिदीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हुए।

ठीक उसी समय उसनगरी में स्वयंप्रभ तीर्थंकर का आगमन हुआ। राजा विमल वाहन अति

हर्षपूर्वक भगवान की वन्दना करने गये और वहीं दीक्षा लेकर उनके शिष्य बन गये। एक भावी तीर्थंकर वर्तमान तीर्थंकर के शिष्य हुए। श्री तीर्थंकरदेव के चरणों में रहकर उन्होंने बारह अंग का ज्ञान किया और क्षायिक सम्यक्त्व सहित दर्शनविशुध्दि आदि १६ उत्तम भावनाएँ भायीं; जिससे उन्हें तीनों लोकमें हर्षमय क्षोभ उत्पन्न करनेवाली ऐसी तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ। परन्तु मुनिराज विमलवाहन तो उस कर्मचेतना से अलिप्त ज्ञानचेतना में ही तत्पर थे; ज्ञानचेतना द्वारा आत्मतत्व के आनन्दका उपभोग करते थे और कर्म को तथा राग को अपनी अनुभूतिसे बाहर रखते थे। इस प्रकार शुद्ध आराधनापूर्वक समाधिमरण करके वे स्वर्ग लोक में समस्त स्वर्गोंसे ऊपर प्रथम ग्रैवेयक में, दर्शन सहित सुदर्शन विमान मे उत्पन्न हुए। पुण्यप्रतापसे उनको अनेक आश्चर्यजनक महान ऋद्धियाँ प्राप्त थीं; परन्तु अपने आत्माकी अनन्त चैतन्यऋद्धि के समक्ष उस पुण्य ऋद्धि को वे तुच्छ मानते थे, इसलिये उसमें कहीं उनका चित्त नहीं लगता था...और चैतन्य की आराधना को वे क्षणमात्र भी भूलते नहीं थे।

इस प्रकार उन्होने आराधनापूर्वक असंख्य वर्ष (२३ सागरोपम) स्वर्गलोक में बिताये। स्वर्ग लोक का उनका सुख देवियों से रहित था...उसके द्वारा वे जगत से कहते थे कि -अरे जीवो! विषयों में सुख नहीं है, विषयों से रहित सुख ही महान सुख है, वही सच्चा सुख है। स्वर्गलोक में १६ स्वर्गसे ऊपर के देवों को इन्द्रानी आदि देवियों का योग नहीं होता, तथापि वे अधिक सुखी है; विषयों से पार चैतन्य सुखका राजा विमलवाहन को अनुभव था...स्वर्ग लोक में ग्रैवेयक से लेकर सातवें नरक तक के असंख्य योजन क्षेत्र में आ- जा सकें ऐसी उनको विक्रियाऋद्धि थी, परन्तु आकुलता न होने से वे गमनागमन नहीं करते थे। उनका अवधिज्ञान भी बहुत विशाल था, परन्तु उसका भी प्रयोग वे कदाचित् ही करते थे। उनकी लेश्या शुक्ल थी, परिणाम उज्जवल थे। स्वर्गलोक के दूसरे अहमिन्द्र भी उन्हें देखकर प्रसन्न होते थे कि अहा, एक भावी तीर्थंकर यहीं विराज रहे हैं - जोकि यहाँ से सीधे तीर्थंकर रुप में अवतार लेंगे। ऐसे अनेक तीर्थंकर एक साथ वहाँ विराजमान थे...क्योंकि स्वर्गलोक में ऐसे असंख्य निकट-भव्य जीव हैं कि जो वहाँ से निकलकर सीधे तीर्थंकररुपसे अवतरित होंगे।

इस प्रकार अपने चरित्रनायक संभवनाथ-तीर्थंकर के जीवने स्वर्गलोक में दिव्य पुण्योदय के बीच असंख्य वर्ष बिताये...जब वहाँ की आयु के मात्र छह मास शेष रहे तब...

## संभवनाथ : गर्भ-जन्म कल्याणक

भरतक्षेत्र की श्रावस्ती नगरी के राजमहल में अचानक दिव्य रत्नोंकी वर्षा होने लगी... नगर में आनन्दाश्चर्य छा गया। उस नगरी के महाराजा दृढराज और महारानी सुषेणा थीं। छह मास पश्चात् स्वर्ग की आयु पूर्ण होने पर उन अहमिन्द्र का जीव सुषेणा देवी की कुक्षि में अवतरित हुआ। उस समय महारानी ने उत्तम स्वप्न देखे... और ऐरावत हाथी को मुखमें प्रवेश करते देखा। इन्द्रोंने आकर तीसरे तीर्थंकर के माता पिता का सन्मान किया, प्रशंसा की और देवलोक की दिव्य वस्तुएँ भेट कीं। छप्पन कुमारिका देवियाँ आकर माता की सेवा करने लगीं। सवानौ महिने आनन्दपूर्वक बीत गये।

कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को तीर्थंकर संभवनाथ का जन्म हुआ और तीन लोक हर्ष विभोर हो गये। नरक के जीवों ने भी क्षणभर साताका अनुभव किया... और उससे आश्चर्य चकित होकर कितने ही जीवोंने तीर्थंकर-महिमा के चिंतन द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। समस्त स्वर्गलोक

मंगलवाद्योंके आनन्दमय कोलाहल से गुंजायमान हो उठा और देवगण भरतक्षेत्र में तीसरे तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाने हेतु हर्षसहित श्रावस्ती नगरी में आये। मेरुपर्वतपर जन्माभिषेक के पश्चात् इन्द्रने स्तुति करते हुए कहा : हे संभवनाथ! आपको अभी तीर्थंकर नामकर्मका उदय तो नही आया है, उससे पूर्व भी आपके जन्म से जीवों को इतना सुख मिल रहा है, तो फिर केवलज्ञान प्राप्त करके जब आप तीर्थंकर होंगे और जगत् को मोक्ष का मार्ग बतलायेंगे- उस समय जीवों को जो महान सुख होगा उसकी तो बात ही क्या!! अहा, जिस प्रकार केवलज्ञान होनेसे पूर्व सम्यक्त्वका सुख भी अचिंत्य होता है उसी प्रकार भाव-तीर्थंकर होनेसे पूर्व 'बाल-तीर्थंकर' रुपमें भी आप जगत को अचिंत्य सुखके कारण हो । प्रभो! आपके गुणोंरुप आम्रवृक्ष से आकर्षित होकर हम देवलोक के देव भी आपकी सेवा करने यहाँ आये हैं। समस्त स्वर्गलोक आप के चरणों में नम्रीभूत होकर जगत को सूचित कर रहा है कि आप देवों के भी देव हैं; और देव सुखकी अपेक्षा मोक्षसुख महान है। प्रभो! जिसप्रकार स्याद्वाद् के दिव्य प्रतापके समक्ष एकान्तरुप मिथ्यामत टिक नहीं पाते, उसी- प्रकार आपके दिव्य प्रताप के समक्ष देवों का तेज भी निस्तेज हो जाता है! जिस प्रकार चन्दन अपने साथ सुगन्ध लेकर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार आप भी तीन ज्ञान सहित अवतरित हुए हैं। हे देव! आप बिना कारण ही जीवों के हितैषी हैं। जगत् के जीवों के लिये आप महान भण्डार के समान सुखकारी है; आपका जन्म तीन लोक के जीवों को सुखका कारण है।

—इस प्रकार भक्तिपूर्वक स्तुति करके इन्द्रने प्रभुके सन्मुख आनन्द नाटक करके अपना परमहर्ष प्रगट किया। जन्मोत्सव मनाने के पश्चात् देवगण पुनः देवलोक में चले गये... परन्तु कुछ देव रुक गये... भगवान के निकट वे इतने प्रसन्न थे कि स्वर्ग लोक को भूलकर यहीं रह गये और बालकों का रुप धारण करके बालप्रभु के साथ खेलने लगे। अहा! तीर्थंकर के साथ मिलना-जुलना-खेलना किसे अच्छा नही लगेगा ? और स्वर्ग के देव जिन के साथ खेलने के लिये आयें उनके महापुण्य का क्या कहना! अरे, पुण्य तो उन देवों के पास भी था, परन्तु प्रभु के सान्निध्य में सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु वे प्रभु की सेवा में रहने लगे थे।

दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के मोक्षगमन पश्चात् जब उनकी तीर्थंकर परम्परा में ३० लाख करोड़ सागर बीत गये तब तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ हुए। (इस अंतर में उनकी आयुके ६० लाख पूर्व भी सम्मिलित समझना।) उनका चरणचिन्ह अश्व (घोडा) था।

बालतीर्थंकर धीरे-धीरे बड़े होने लगे। मनुष्यलोक में रहनेपर भी उन्हे देवजनित सुख-वैभव प्राप्त थे। परन्तु उनका चैतन्य जनित सुख कहीं देवलोक से नहीं आता था, वह तो उनमें स्वयमेव था, अन्य किसी की अपेक्षा उसमें नहीं थी।

## संभवनाथ : वैराग्य और दीक्षा

इस प्रकार महाराजा संभवनाथ को राज भोग में आत्मज्ञान सहित ४४ लाख पूर्व बीत गये। एक दिन मार्गशीर्ष शुक्ला पुर्णिमा को वे राजमहल में शांतिपूर्वक बैठे प्रकृतिकी शोभका अवलोकन करते हुए आत्म-महिमा का चिन्तन करते थे कि- इस विश्वकी शोभा को देखनेवाला-ज्ञाता मैं हूँ, मेरी चैतन्य शोभा अद्‌भुत से भी अद्‌भुत है...

इतने में अचानक ही आकाशमें अद्‌भुत शोभायमान मेघरचना हुई जैसे किसी सुन्दर देवनगरी का निर्माण हुआ हो! और देखते ही देखते वह दृश्य विलीन हो गया, मेघरचना बिखर गई! उसे देखते ही महाराजा संभवनाथ को वैराग्य जागृत हुआ कि- अरे, इस संसार के धन -तन- भोग

भी मेघरचना की भाँति क्षणभंगुर है!...और उससे उनका चित्त एकदम विरक्त हो गया। भव रहित संभवनाथ वैराग्य पूर्वक संसारके स्वरूप का विचार -चिंतन करने लगे-

★ अरे इस जगत में दूसरा कोई यमराज नहीं है, इस शरीर में विद्यमान आयु ही यमराज है शरीर के भीतर रहकर वह प्रतिक्षण शरीर को ही नष्ट कर रहा है और जीव को देहरूपी पिंजरे में बन्द कर रखा है; तथापि मूर्ख जीव शरीर को अपना घर समझकर उसमें निवास कर रहे हैं।

★ अरे, मोही जीव जिन्हे सरस मानकर मित्र की भाँति जिनका सेवन करते है, वे इन्द्रविषय तो नीरस तथा जीवको भवदुःख देनेवाले शत्रु हैं!

★ आयु हो, इन्द्रियाँ हो और इष्ट पदार्थ हो, वहाँ भी यदि आत्मा विद्यमान हो तभी सुख की कल्पना होती है इन्द्रियादि समस्त पदार्थ होने पर भी यदि आत्मा विद्यमान न हो तो उसमें सुख की कल्पना भी नही होती। जब कि आत्मा का सुखतो सदा विद्यमान है,- उसे जानकर जीव क्यों उसका सेवन नहीं करते? यदि उसे जानकर उसका सेवन करें तो इन्द्रियविषयों से रहित सहज आत्मिक सुख उनके अनुभव में आ सकता है; वही सच्चा सुख है। लक्ष्मी, शरीरादिके सम्बन्ध से माना हुआ सुख वह सच्चा सुख नहीं है, वह तो कल्पना मात्र है और वह कल्पना भी क्षणभंगुर है, स्थायी नहीं रहती।

★ जो जीव आत्माको सम्यग्ज्ञान द्वारा ध्याते है, चैतन्यलक्ष्मी को जानते हैं तथा बाह्य क्षणभंगुर लक्ष्मी का मोह छोडते हैं वे ही मोक्षसुख प्राप्त करते हैं।

-इस प्रकार सारभूत तत्त्वों के चिंतनपूर्वक महाराजा संभवनाथ राजभोगों से विरक्त हुए और पुत्रको राज्य सौपकर जिनदीक्षा ग्रहण करने के लिये उद्यत हुए...

उसी समय लौकांतिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और वैराग्य का अनुमोदन किया। अहा, स्वर्गलोक के ऋषिसमान महान देव जिनके वैराग्य की प्रशंसा करने मध्यलोक में आवें, उन तीर्थंकरों के परम वैराग्यमय दीक्षा-प्रसंग का क्या कहना!! उनके वैराग्य को देखकर श्रावस्ती नगरी के दूसरे हजारों नगरवासी भी चैतन्यसुखकी प्रतीति करके विषयों से विरक्त हुए और प्रभुके साथ वनगमन हेतु तत्पर हुए।

इन्द्र प्रभुके दीक्षाकल्याणक का उत्सव मनाने आये। 'सिद्धार्थ' नामक देव-शिविका में आरूढ़ होकर सिद्धपदरुप अर्थ की सिद्धि हेतु वनगमन किया। एक हजार राजाओं सहित प्रभुने मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा को जिन दीक्षा धारण की। उसी क्षण ध्यान में शुद्धोपयोग द्वारा सातवाँ गुणस्थान एवं चौथा ज्ञान प्रकट किया। दीक्षा के पश्चात् उन संभव-मुनिराज को सुरेन्द्रदत्त नामक धर्मात्मा श्रावक ने प्रथम आहारदान दिया। भगवान तीर्थंकर को प्रथम आहारदान देनेवाला भव्यात्मा अवश्य मोक्षगामी होता है; - ऐसे उत्तम सुपात्र तथा उत्तम दाता का सुयोग देखकर देवों ने भी रत्नवृष्टि आदि द्वारा अपना आनन्द व्यक्त किया। आकाश में चारों ओर 'अहो दानं...अहो दानं' - ऐसे दैवी नाद सहित देवदुंदुभि बजने लगे।

## भगवान संभवनाथ : केवलज्ञान

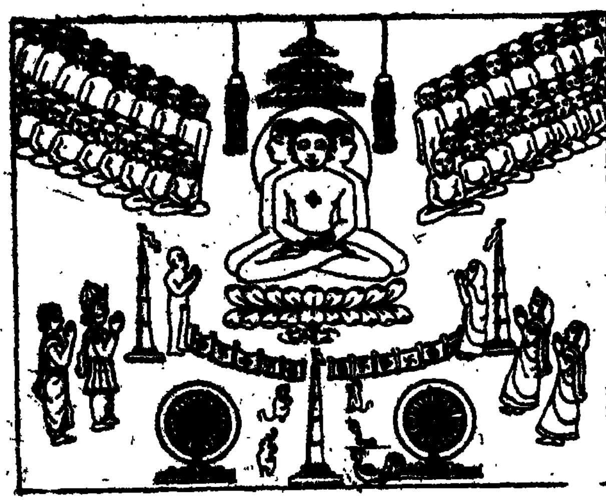
शुद्धरत्नत्रय के धारी भगवान संभवनाथ चौदह वर्ष तक मुनिदशा में मौनपूर्वक रहे। आत्मसाधना में पूर्ण लीनता ही उनका लक्ष्य था। इस प्रकार विहार करते-करते वे श्रावस्ती नगरी में अपने दीक्षावन में आये, और सर्व शक्ति को अंतर्मुख योग में रोककर, शुक्लध्यान द्वारा 'कार्तिक कृष्णा चतुर्थी' के दिन केवलज्ञान प्रगट किया; पापरूप घातिकर्म सर्वथा नष्ट हुए, अनन्त

वीर्यवीर्य तथा स्वयंभू परम आनन्दरूप पूर्णसुख प्रगट हुआ। लोकालोक के समस्त पदार्थों को एकसाथ जाननेपर भी उनके अचिन्त्य ज्ञान में कोई थकावट या खेद नहीं था। देह में आँखें होने पर भी भगवान उन आँखों से नहीं देखते थे, वे तो केवलज्ञानरूप अनन्त चैतन्यचक्षु द्वारा समस्त लोकालोकको एकसाथ देखते थे...यही उनका इन्द्रियातीतपना था...और ऐसे महान अतीन्द्रियज्ञानसहित उनका सुख भी ऐसा ही अतीन्द्रिय था। समस्त मुनिवर भी उस अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सुखकी भावना भाते थे और उसका अभिनन्दन करते थे।

प्रक्षीण घातिकर्म जो, अनन्त, उत्तमवीर्य, अति तेजमय।
अतीन्द्रिय हुआ है सो ज्ञान-सौख्य रूप परिणमता॥

अहो, जिनदेव के उस ज्ञान की तथा सुखकी कोई अचिन्त्य महिमा है! 'अहो हि णाणस्स माहप्पं' सर्वोत्कृष्ट महिमा का वह स्थान है...मुनिवरों का वह मनोरथ है...

अहा! जिसका आदरपूर्वक स्वीकार करने पर भी सम्यग्दर्शन होकर भवका अंत आ जाता है-ऐसा केवलज्ञान प्रभुको प्रगट हुआ, और उनके तीर्थंकरत्व के महान प्रभाव से तीनो लोक प्रकाशित हो उठे...जगत को ज्ञात हुआ कि त्रिलोक-प्रकाशक चैतन्यसूर्य उदित हुआ है...! इन्द्रोंने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की...प्रभु अरिहंत हुए...परमात्मा हुए। साथ ही साथ दिव्य ध्वनि द्वारा रत्नत्रय-तीर्थका प्रवर्तन करके भरतक्षेत्र के तीसरे तीर्थंकर हुए। उन धर्मराजा की समवसरण रुपी धर्मसभा में चारुषेण आदि १०५ गणधर देव अचिन्त्य आत्मविभूति सहित शोभा देते थे। ऊपर गगन में निरालम्बरूप से प्रभु के समकक्ष एकसाथ पन्द्रह हजार (१५०००) सर्वज्ञ भगवन्त अरिहंत पद पर विराजते थे। दो लाख मुनिवर तथा तीन लाख आर्यिकाएँ थीं। अद्भुत था वह धर्म मेला...और धन्य थे वे



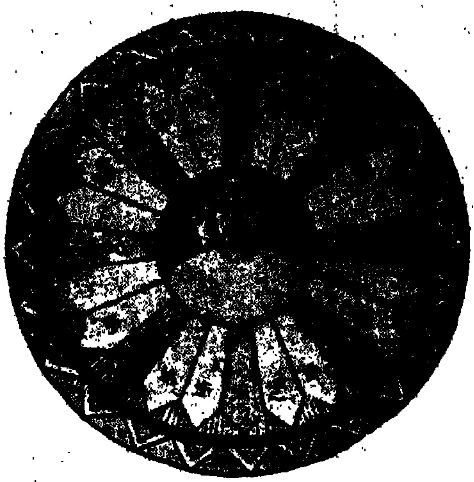
दर्शक! वहाँ लाखों की संख्या में सम्यग्दृष्टि श्रावक-श्राविकाएँ थीं। देवों का तो कोई पार नहीं था; तिर्यंचों के समूह भी वहाँ आकर धर्मश्रवण करते थे, सम्यक्त्व प्राप्त करते थे और व्रत भी धारण करते थे।

इस प्रकार धर्मामृत की वृष्टि करते हुए संभवनाथ तीर्थंकर भरतक्षेत्र के आर्य देशों में करोड़ों-अरबों वर्ष तक विचरे। जब मोक्ष पधारने में एक मास शेष रहा तब एक हजार मुनियोंसहित सम्मेदाचल पर पहुँचे और प्रतिमायोग धारण करके स्थिर हुए...विहार एवं वाणी थम गये; और चैत्र शुक्ल षष्ठी के सायंकाल सम्पूर्ण योगनिरोध करके धवलटूंक से चार गति रहित तथा पंचमज्ञानसहित पंचमगति को प्राप्त हुए...सिद्धपद प्राप्त किया। अष्टकर्मरहित, अष्ट महागुणसहित अष्टमभूमि में (सिद्धशिला पर) शाश्वतरूप से विराजमान हुए...

संभवनाथ भगवान की धवलकूट का थोक
मन-वच-तनकर पूजहूँ शिखरसम्मेद यजेह।

-इस प्रकार पूजनसहित इन्द्रों ने भगवान के मोक्षका महोत्सव मनाकर मोक्षपद की सर्वोत्कृष्टता जगत में प्रसिद्ध की। उन मोक्षपद प्राप्त भगवान संभव जिनको नमस्कार हो।

जो पूर्वभव में विदेहक्षेत्र में विमलवाहन राजा थे, पश्चात् अहमिन्द्र हुए और उस पदको भी छोड़कर भरतक्षेत्र में तीसरे तीर्थंकर हुए और अन्त में तीर्थंकर पद छोड़कर सिद्ध परमात्मा हुए। ऐसे भगवान संभवनाथ का मंगल चरित्र यहाँ पूर्ण हुआ...वह भव्य जीवों को भवसे छुड़ाकर मोक्षपद की प्राप्ति कराओ!



श्री जिनेन्द्र भगवान का धर्मचक्र आज भी चल रहा है। अपने महाभाग्य से हम तीर्थंकर भगवन्तों के मार्ग में आये हैं। अपने उन भगवन्तों का जीवनचरित्र पढ़कर हम भी उनके मार्गपर चलेंगे और उन जैसे बनेंगे।

[४]




**जिन परमात्मा का सत्यउपदेश भव्य जीवों को उपकारी है, उन चौथे तीर्थंकर श्री अभिनन्दननाथ को अभिनन्दन करके मैं उनका मंगल-जीवन चरित्र कहता हूँ।**

प्रथम तीन तीर्थंकरों की भाँति भगवान अभिनन्दन स्वामी भी पूर्वभव में, विदेहक्षेत्र में रत्नसंचयपुर नगर के महाराजा थे। उनका नाम महाबल।

राजा महाबल पुण्यवान एवं न्यायवान धर्मात्मा थे। संसार के अनेक भोगों तथा राजलक्ष्मी के बीच दीर्घकाल व्यतीत हो गया, तब उन निकट भव्य महात्मा को एक दिन सहजरूप से वैराग्य जागृत हुआ...उनका चित्त भोगोपभोग से विरक्त हो गया। अब इन संसार-भोगों से बस होओ...अब मैं मुनि होकर मोक्ष की साधना करूँगा। - ऐसी भावना से वन में आकर विमलवाहन भगवान के पास उन्होंने संयमदशा धारण की। मुनि होकर उन्होंने बारह अंग का ज्ञान किया, तथा दर्शनविशुद्धि आदि सोलह उत्तम भावनाएँ भायीं; जिनके प्रताप से उन्हें पंचकल्याणक रूप फल देनेवाली तीर्थंकरप्रकृति का बंध हुआ। तीर्थंकर प्रकृति मानो शीघ्र केवलज्ञान प्राप्ति और मोक्षगमन का सन्देश देने आयी हो कि बस, अब यह महात्मा एक भव के पश्चात् तीर्थंकर परमात्मा होंगे और मोक्ष प्राप्त करेंगे।

मुनिराज महाबल उत्तम आराधनापूर्वक समाधिमरण करके विजय नामके अनुत्तर विमान में तेतीस सागर की आयु वाले अहमिन्द्र हुए। वहाँ उनको देवियों का सम्पर्क नहीं था तथापि वे दिव्य सुखका अनुभव करते थे। - इससे सिद्ध होता है कि बाह्यविषयों के बिना भी उत्तम सुख होता है, क्योंकि सुख जीव का अपना सहज स्वभाव है...उस सुख के वेदन में बाह्य पदार्थों की अपेक्षा नहीं होती। वे अहमिन्द्र वैराग्यसम्पत्तिसहित थे, उनका चित्त शांत था और वे आत्मगुणों का चिंतन, सर्वज्ञपद का ध्यान तथा उसकी अद्भुत महिमा की चर्चा करते थे। कोई पापप्रवृत्ति उनके नहीं थी। देवलोक में अन्य अनेक अहमिन्द्र थे, वे सब पूर्वभव में मुनिदशा में शुद्धरत्नत्रय का रसास्वादन करके आये थे, इसलिये वहाँ

भी उनका जीवन निर्दोष आराधनायुक्त था। वे अहमिन्द्र वहाँ से सीधे तीर्थंकर पद के लिये अवतरित होनेवाले थे।

## अभिनन्दन-अवतार

असंख्य वर्ष बीतने के पश्चात् उन अहमिन्द्र ने अयोध्यानगरी में महाराजा स्वयंवर के यहाँ महारानी सिद्धार्था की कुक्षि से तीर्थंकर रूप में अवतार लिया। वैशाख शुक्ला षष्ठी को उनका गर्भकल्याणक हुआ और माघ शुक्ला द्वादशी को जन्मकल्याणक मनाया गया। अयोध्यानगरीने तीसरी बार तीर्थंकर का जन्मोत्सव देखा। अयोध्यानगरी के अद्भुत वैभव का क्या कहना! तीर्थंकर का अवतार होने से वह तीर्थंकर की जननी जैसे गौरव का अनुभव करती थी...धन्य अयोध्या...तू तो तीर्थंकरों को जन्म देनेवाली शाश्वत नगरी! प्रभु के साथ तू भी पूज्य है।

इन्द्रोंने आकर अयोध्यानगरी में अभिनन्दन तीर्थंकर के जन्म का महान उत्सव किया। असंख्य देवों का राजा इन्द्र...महागंभीर, बालतीर्थंकर भगवान को देखकर उसकी भक्ति चरमसीमापर पहुँच गई...उससे रहा नहीं गया, एक हजार हाथ बनाकर वह भगवान के सन्मुख नृत्य करने लगा...उसके साथ शची इन्द्रानी तथा अन्य लाखों देव भी आनन्दविभोर होकर नाच उठे। बाल तीर्थंकर के प्रति इन्द्रकी ऐसी अद्भुत भक्ति देखकर, अपार जिनेन्द्र-महिमा के चिन्तन से अनेक जीव उसी समय सम्यक्त्वादि धर्म को प्राप्त हुए। सचमुच अचिन्त्य था प्रभुके कल्याणक का वह मंगल महोत्सव!! वह उत्सव, मात्र देवों या मनुष्यों को ही नहीं तिर्यंचों तथा नरक में भी अनेक नारकियों को कल्याण का कारण बना। अहो! तीर्थंकरों का आश्चर्यजनक प्रभाव!!

संभवनाथ तीर्थंकर के मोक्षगमन के पश्चात् १०,००००,०००००००० (दस लाख-करोड़) सागरोपम के पश्चात् अभिनन्दन तीर्थंकर हुए। जन्मसे ही वे सम्यग्दृष्टि एवं तीन ज्ञानयुक्त थे। ५० लाख पूर्व उनकी आयु थी। ३५० धनुष (३५०० फुट, लगभग ११०० मीटर) ऊँचा उनका शरीर था। 'बन्दर' उनका चरणचिह्न था। वे वैभव में तथा गुणों में वृद्धिंगत होने लगे। जब उनकी आयु का चौथा भाग - साढ़े बारह लाख पूर्व बीत गये तब महाराजा स्वयंवरने अयोध्या का राजसिंहासन सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

महाराजा अभिनन्दन की शोभा ऐसी लोकोत्तर थी कि चन्द्र उनकी कान्ति लेना चाहता था, सूर्य उनके तेज की तथा इन्द्र उनके वैभव की इच्छा रखता था। मुक्ति तो उनके साथ ही रहना चाहती थी। विशुद्ध परिणामों द्वारा शुभ अनुभागबन्ध की अनंतगुनी वृद्धि होने से समस्त पुण्यपरमाणु उन्हें फल देने के लिये मानो एक-दूसरे की स्पर्धा कर रहे थे। अहा, जन्म होते ही इन्द्र भी स्वर्गसे आकर जिनके चरणों की पूजा करे उन महात्मा के पुण्य का क्या कहना! राज्यक्ष्मी की तो बात ही क्या, मोक्षलक्ष्मी भी सिद्धालय में उनका स्वागत करने को उत्सुक हो रही थी। अहा, जिनके पास क्षायिक सम्यग्दर्शन और तीर्थंकर प्रकृति जैसी सम्पत्ति हो वे महात्मा तीन लोक पर विजय प्राप्त करें उसमें क्या आश्चर्य है!! कुमारावस्था, राज्यावस्था अथवा संयमदशा सर्व अवस्थाओं में वे एकसमान धीर-गम्भीर और शूरवीर थे। उनका जीवन अति प्रशांत था। उनके राज्य में यद्यपि महान सेना थी, परन्तु वह मात्र शोभा के लिये ही थी, क्योंकि कोई शत्रु ही नहीं होने से युद्ध का प्रसंग ही नहीं आता था। शास्त्र तो उनकी जिह्वा में ही निवास करते थे, उनकी वाणी ही जिनवाणी थी। उनके गर्भ में आते ही इन्द्र का आसन काँपने लगा और देव उनकी सेवा करने आये वह ऐसा सूचित करता है कि रत्नत्रय का अधिकांश वे

अपने साथ ही लाये थे। मोहशत्रु का सर्वथा नाश करने के लिये उनका चित्त सदा उत्साहित था।

इस प्रकार संसार के एक श्रेष्ठ राजा के रूप में अयोध्यानगरी में महाराजा अभिनन्दन स्वामी ने लगभग ३७ लाख पूर्व तक भलीभाँति राज्य किया। उनके राज्य में सर्व प्रजाजन सन्तुष्ट थे और सुखपूर्वक धर्मसाधना में तत्पर थे।

एक बार माघ शुक्ला द्वादशी को अभिनन्दन महाराजा का जन्मदिन था; महाराजा राजमहल में खड़े-खड़े प्रकृति की शोभा निहारते हुए आत्मा की सुन्दरता का विचार कर रहे थे। इतने में अचानक आकाश में रंग-बिरंगे बादलों की अद्‌भुत रचना हुई...अहा, यह कोई गन्धर्व देवों की नगरी है या इन्द्रपुरी!! आकाशमें उस आश्चर्यकारी सुन्दर नगरी की शोभा देखते ही भगवान-को पूर्व के अहमिन्द्र भव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ कि- अरे, मैं तो इससे भी महान दिव्य विभूतिका उपभोग पूर्व भव में कर चुका हूँ...अभी ऐसा सोच ही रहे थे कि आकाश की वह अद्‌भुत नगरी अदृश्य हो गई...बादलों के बिखर जानेसे उस नगरी की रचना भी छिन्नभिन्न हो गई... अरे, कहाँ गई वह अद्‌भुत नगरी! क्षणभर में वह दिव्यनगरी का दृश्य कहाँ अदृश्य हो गया!-ऐसी क्षणभंगुरता देखते ही भगवान का चित्त संसार से विरक्त हो गया...क्षणभंगुर राजभोगों में से उनकी आसक्ति उड़ गई। वे संसारकी अनित्यता के स्वरूप का चिंतवन करने लगे कि-इस देह के अनुकूल समस्त इष्ट विषय मुझे प्राप्त है, किन्तु वे सब क्षणभंगुर है; यह मनुष्य जीवन आयु के आधीन है। मृत्यु होनेपर यह सब संयोग छूट जायँगे। आयु हो वहीं मरण है, आयु नहीं है वहाँ मरण भी नहीं है। आत्मा तो बिना आयुके शाश्वत जीवित रहनेवाला है और आत्मामें से आनेवाला सुख ही सच्चा सुख है। आकाश में निर्मित इन्द्रनगरी सदृश यह भोग-सामग्री अस्थिर है। जिस प्रकार बादलों से निर्मित सुन्दर नगरी कहीं रहने के काम नहीं आती, सी प्रकार सुन्दर दिखावी देनेवाले यह पचरंगी विषय जीव को सुखके लिये किसी कामके नहीं है; सुख तो वीतरागता में ही है। राजभोगमें मेरी बहुत आयु बीत गई; उसे छोड़कर अब मैं मुनिदीक्षा लूँगा और केवलज्ञान साधूँगा।

इस प्रकार प्रभुने वैराग्य आनेपर दीक्षा का निश्चय किया कि तुरन्त लौकान्तिक देव तथा इन्द्रादि देव वहाँ आये और तीर्थंकर प्रभुके दीक्षा कल्याणक का भव्य महोत्सव किया। 'हस्तचित्रा' नामकी देव शिबिका में बैठकर अपनी जन्म तिथि- माघ शुक्ला द्वादशी- को प्रभुने वन में संचरण किया और स्वयं दीक्षा धारण करके दिगम्बर मुनि हो गये। स्वयंबुद्ध होने से स्वयं ही अपने गुरु थे।



मुनि होते ही शुद्धोपयोगपूर्वक आत्मध्यान में एकाग्र हुए-अहा, मानो सिध्द भगवान ही बैठे हों! ऐसी अद्‌भुत शान्ति थी। इतने में एक खरगोश आया और प्रभुके चरणों में शान्ति से बैठ गया।एक सिंह आया वह भी प्रभुके चरणो में शान्ति से बैठ गया। खरगोश को सिंहका भय नहीं लगा, और न ही सिंह को खरगोश की हिंसाका भाव आया। सिंह और खरगोश दोनों अभिनन्दन मुनिराज की शान्त मुद्रा देखने में तल्लीन थे और उनकी सामीप्यसे उनमें भी शान्त भाव जागृत हो गये थे। धन्य तीर्थंकर योगिराज का आश्चर्यजनक प्रभाव!

महाराज अभिनन्दन के साथ दूसरे एक हजार राजाओंने दीक्षा ले ली। तीर्थंकर सहित हजारों मुनियों को एकसाथ देखकर अयोध्यानगरी धन्य हो गई! उस काल धर्मयुग प्रवर्त रहा था; कितने ही अरिहंत भगवन्त इस भरतभूमि में विचरते थे। मुनिराज अभिनन्दन स्वामी को प्रथम आहारदान अयोध्या नगरी के इन्द्रदत्त श्रावक ने दिया और परम मुनिभक्ति से उसने अपने भवबंधन का उच्छेदन कर दिया।

## केवलज्ञान और धर्मोपदेश

भगवान ने मुनिदशामें १८ वर्ष तक मौनपूर्वक विचरण किया; पश्चात् अयोध्याके जिस वनमें दीक्षा ली थी उसी दीक्षावनमें पधारे और ध्यानारूढ़ हो गये। पौष शुक्लाचतुर्दशी के सायंकाल प्रभुको केवलज्ञान प्रगट हुआ। चौथे तीर्थंकर के चौथे कल्याणकका भव्य महोत्सव मनाने हेतु चतुर्विध देव आ पहुँचे। समवसरण की दिव्य रचना हुई, बारह सभाओं में लाखो जीव प्रभुकी वाणी सुनने को उत्सुक थे...और दिव्यध्वनि सुनते ही धर्मप्राप्ति द्वारा कृतकृत्य हुए।

भगवान ने धर्मोपदेश में कहा कि-हे जीवो! सुख आत्माका स्वभाव है; जिस प्रकार ज्ञान आत्मा का स्वभाव है उसी प्रकार सुख भी आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार ज्ञान बाहरसे नही आता। उसी प्रकार सुख भी बाहर से नहीं आता। तथा जिसप्रकार क्रोधादि कषाय आत्माका स्वभाव नही है, उनमे शान्ति नही है, उसी प्रकार दुःख भी आत्मा का स्वभाव नही है। कषायें अथवा इन्द्रियविषय आत्माको कदापि सुख नही दे सकते, वे तो जीव को संसार परिभ्रमण कराके दुःखी करते है। इसलिये इन्द्रियों तथा कषायों से भिन्न ज्ञान-आनन्दमय आत्माके वैभव को जानो... हमारे जैसा ही परमात्मवैभव तुममें विद्यमान है, उसमें अन्तर्मुखता करके उसमे अनुभव द्वारा परमात्मपना प्रगट करो।

परमात्मपना दरशानेवाली ऐसी परमात्मवाणी सुनकर अनेक जीवों ने तत्क्षण अन्तर्मुख होकर अपना आत्मवैभव अपने में देख लिया; कोई सम्यग्दृष्टि हुए, कोई श्रावक हुए, कोई मुनि हुए, कोई गणधर हुए और अनेक जीवों ने केवलज्ञान प्राप्त किया। अपार धर्म वैभव से समवसरण शोभायमान हो उठा।

अभिनन्दन तीर्थंकर की धर्मसभा में वज्रनाभि आदि १०३ गणधर विराजते थे...लाखों मुनि-आर्यिकाएँ थीं; अहा! एकसाथ १६००० (सोलह हजार) तो केवली भगवन्त वहाँ आकाश में विराजते थे...मानो मोक्षपुरी ही वहाँ उतर आयी थी! अद्भुत था वह मोक्ष दरबार! उसमें संसार का प्रवेश नहीं था, वहाँ तो मोक्ष की साधना का ही महोत्सव था...और मुमुक्षुओंके वृन्द आ-आकर मोक्षमार्ग में प्रवेश करते थे। चतुर्विध संघ मोक्षपुरी में जा रहा था।

उस मोक्षपुरी संघके नायक भगवान अभिनन्दन स्वामीने धर्मकी वर्षा करते करते लाखों-करोड़ों वर्ष तक, अनिच्छा से भी भरत क्षेत्र में विहार किया। उन्हें भले ही विहार की इच्छा न हो परन्तु भव्य जीवों के परम भाग्योदयसे अरिहंत प्रभुके श्री विहार का तथा दिव्य ध्वनिरूप उपदेश-महान लाभ जगत को प्राप्त होता है। भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को धर्म प्राप्त कराने के पश्चात् अभिनन्दन परमात्मा सम्मेदाचल पर पधारे। वहाँ एक मास तक स्थिर रहे, वाणी का योग रुक गया, और अन्त में शुक्लध्यान द्वारा सर्व प्रकार से योगनिरोध करके, चौदहवें गुणस्थान में शेष अघाति कर्मोंका भी क्षय करके आनन्द-टौंक से वैशाख शुक्ला छठी के प्रातःकाल प्रभु सिद्धालय में सिधारे...

अभिनन्दन जिनराज का आनन्दकूट है जेह,
मन-वच-तन- कर पूज हूँ शिखर सम्मेद यजेह,

प्रभुके मोक्षगमन से आनन्दित होकर इन्द्रादि देवोंने तथा मनुष्योंने मोक्षकल्याणक का उत्सव किया...सिद्ध भगवन्तों की परमभक्तिपूर्वक उन्होने ऐसा सूचित किया कि हमें भी ऐसा मोक्षपद इष्ट है। धर्मात्माओंके हृदयमें सिद्धपदकी महिमा उत्कीर्ण हो गई है... अहो, वह सिद्धपद कि जिसमें शरीर तथा इन्द्रियों के बिना ही महान सुख है, वह इन्द्रियगम्य नहीं है; आत्माके अतीन्द्रिय स्वसंवेदन पूर्वक ही वह सिद्धपद प्रतीतिमें आता है, और इस प्रकार प्रतीति करके धर्मी जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा उस सिद्धपदकी साधना करते हैं।

उन भगवान अभिनन्दन परमात्माको नमस्कार हो, जो कि सिद्धालयमें विराजमान है, तथा हम जैसे साधक जीवों के अंतर में भी विराजते है।

जो पहले विदेहक्षेत्रमें रत्नसंचयपुर नगर के महाराजा महाबल थे, पश्चात् रत्नत्रयके संचयपूर्वक मुनि होकर अहमिन्द्र हुए और पश्चात् ऋषभदेवके वंश में अयोध्या नगरी में अभिनन्दन तीर्थंकर के रुपमें अवतार लेकर तीन लोक द्वारा अभिनन्दनीय ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन भगवन्त अभिनन्दन स्वामी का आनन्दकारी जीवन चरित्र यहाँ समाप्त हुआ-- वह भव्य जीवों को आनन्ददायक हो।

ॐ ॐ ॐ ॐ

हे तीर्थंकर भगवन्तो! हम आपकी इतनी अधिक स्तुतिभक्ति तथा आदर-बहुमान करते हैं, तो क्या आप हमें कुछ नहीं देंगे?

हे भव्यो! हमसे कुछ लेने की आशा रखकर दीन रहनेकी अपेक्षा तुम स्वयं हम जैसे बन जाओ न! हमारे जितनी ही आत्मविभूति तुम्हारे पास है - ऐसा हम कहते हैं, उसे स्वीकार करके हमारे परिवार में सम्मिलित हो जाओं...और हमें जैसे बन जाओं!

'वाह प्रभो! हम आपके परिवार के?...तीर्थंकरों के परिवार में आकर हम धन्य हो गये! पारसमणि तो लोहे को मात्र सोना बनाता है, पारस नहीं बनाता; जबकि हे देव! आपने तो हमें अपने समान परमात्मा बना लिया।

# [५]

जन्म
अयोध्यापुरी
卐




मोक्ष
सम्मेद शिखर
卐

अब भगवान सुमतिनाथ का जीवन चरित्र सम्यक् मतिपूर्वक सुनो। जो भगवान सुमतिनाथ के अनेकान्तमय सम्यक्-मत को ही सच्चा मत मानते हैं वे भव्य जीव सुमति पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। ऐसे भगवान सुमतिनाथ का मंगल जीवन चरित्र अब कहते हैं।

इस जम्बूद्वीप के पश्चात् दूसरा धातकी खण्ड द्वीप है; उसमें दो मेरुपर्वत हैं - एक पूर्व में और दूसरा पश्चिम में; उन दोनों मेरु पर्वतों के दोनों ओर विदेहक्षेत्र हैं। उनमें पूर्व मेरु के पूर्वविदेह में सीतानदी के किनारे पुष्कलावती देश और पुण्डरीकिणी नगरी है। इस जम्बूद्वीप में जैसी सीमंधरस्वामी की पुण्डरीकिणी नगरी अद्भुत शोभायमान है वैसी ही अद्भुत वह पुण्डरीकिणी नगरी धातकी खण्ड में सुशोभित है। भरतक्षेत्र के अनेक तीर्थंकर जिस प्रकार पूर्वभव में जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र से आये हैं, उसी प्रकार धातकी खण्ड के विदेह से भी आये हैं। जिस प्रकार जम्बूद्वीप की पुण्डरीकिणी नगरी में सीमंधर महाराजा राज्य करते थे, उसी प्रकार धातकी खण्ड की पुण्डरीकिणी नगरी में महाराजा रतिषेण राज्य करते थे। यह महाराजा रतिषेण ही अपने सुमतिनाथ तीर्थंकर का जीव।

महाराजा रतिषेण न्यायवान, सदाचारी और धर्मात्मा थे, अरहिंतदेव के परमभक्त थे और आत्मतत्त्व के ज्ञाता थे। प्रजा भी सदाचारी होने से क्लेशरहित थी, और सुखपूर्वक जैनधर्म की उपासना करती थी। उनके राज्य में किसी को मृत्युदण्ड आदि दण्ड नहीं देना पड़ते थे, क्योंकि दण्ड देना पड़े ऐसे पापकार्यों में कोई प्रवर्तता नहीं था। भगवान अरिहंतदेवको ही वे देव मानते थे, इसलिये समस्त देशमें अरिहंत परमात्मा के सिवा और किसी के मन्दिर नहीं थे; अनेकान्तमय एक जैनमार्ग ही वहाँ चलता था। वहाँ के पुण्यवान जीव धन का उपार्जन करना, उसकी रक्षा करना, उसमें वृद्धि करना और योग्य कार्यों में लगाना - यह सब अच्छी तरह जानते थे, इसलिये अयोग्य रीति (चोरी आदि) से

धनोपार्जन नहीं करता था। मांस-मदिरा या पाप के व्यसन किसी को नहीं थे, व्यसन था तो शास्त्रस्वाध्याय का और धर्मात्मा के सत्संग का ही व्यसन था, उसके बिना वे रह नहीं सकते थे। अनेक केवली भगवन्त तथा लाखों वीतरागी मुनिवर उस देश में विचरते थे और धर्मोपदेश द्वारा जीवों का कल्याण करते थे। आत्मज्ञानी राजा रतिषेण वीतरागी देव-गुरु की सेवा में सदा तत्पर रहते थे और शास्त्रके अभ्यासी थे; योग्य संयमपूर्वक वैराग्यमय जीवन जीते थे। श्रावक-मुनियों का आदर-भक्ति पूर्वक आहारादि दान देते थे। इस प्रकार धर्मात्मा श्रावक को शोभा दे ऐसा उत्तम उनका जीवन था...एक भव पश्चात् जो तीर्थंकर होकर मोक्ष जानेवाले हैं उनके उत्तम जीवन का क्या कहना!!

ऐसे महाराजा रतिषेणने अनेक वर्षों तक पुण्डरीकिणी नगरी में राज्य किया। एक दिन उनकी नगरी में अर्हंतनन्दन जिनेन्द्र का आगमन हुआ। परमभक्ति से राजा रतिषेणने वंदन-पूजन करके उनका धर्मोपदेश सुना और उनका चित्त संसार से विरक्त हो गया। मोक्षमार्ग में वेगपूर्वक चलने के लिये वे विचारने लगे - कि अरे, अनेक दुर्जन्म तथा दुर्मरणरूपी सर्पों से भरे हुए इस संसार में रहकर जीव सुख कैसे प्राप्त कर सकता है? इन्द्रियविषयरूप अर्थ या कामभोग से सुख नहीं मिलता, उससे तो संसार-दुःख की वृद्धि होती है। गृहस्थधर्म में यद्यपि पुण्य है, परन्तु वह भी अनेक प्रकार के आरम्भ समारम्भ से भरा है, इसलिये उससे भी जीवको उत्तम सुख प्राप्त नहीं होता; पापरहित ऐसा मुनिधर्म ही मात्र इस जीवको उत्तम सुखकी प्राप्ति कराता है; इसलिये अब मुझे मुनिधर्म की उपासना करना ही योग्य है।

इस प्रकार उत्तम फल देनेवाले वैराग्यचिन्तनपूर्वक धर्मात्मा रतिषेण राजाने राजपाट आदि समस्त परिग्रह का भार उतारकर अर्हंतनन्दन-जिनेन्द्र के चरणों में दीक्षा अंगीकार की। देह का भी ममत्व छोड़कर उन्होंने अपना उपयोग आत्मध्यान में एकाग्र किया; उन्हें बारह अंग का ज्ञान प्रगट हुआ और क्षायिक सम्यक्त्वसहित दर्शनविशुद्धयादि सोलह उत्तम भावनाओं द्वारा तीर्थंकर-प्रकृति का बंध किया। वह कर्म बाँधने की उन्हें कोई इच्छा नहीं थी, परन्तु राग के योगसे वह कर्मबंधन हुआ। तीर्थंकर होनेवाले महात्मा को ऐसा योग सहज ही बन जाता है। सम्यक्त्वसहित उत्तम चारित्र का वे निर्दोष पालन करते थे। उनमें विद्यमान शुद्धरत्नत्रयके अतिरिक्त विनयसम्पन्नता, सिद्धभक्ति, बारम्बार आत्मसन्मुख उपयोग-आदि महान पवित्र गुणों द्वारा आकर्षित होकर मोक्षलक्ष्मी भी उनके पास आने को आतुर हो रही थी; ...और वे भी मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करने के लिये आतुर थे। इससे अखण्ड आराधनापूर्वक समाधिमरण द्वारा एक भव अल्प करके वे वैजयन्त-विमान में अहमिन्द्र हुए - यद्यपि वहाँ उन अहमिन्द्र को दिव्य सुख थे, तथापि प्रभुका चित्त तो मोक्षसुख में ही लगा था, इसलिये अहमिन्द्र पर्याय के असंख्यात वर्षों को शीघ्रता से पूर्ण करके वे अपनी आत्मसाधना पूर्ण करने के लिये अन्तिम मनुष्यपर्याय में आने को तैयार हुए।

उनके मनुष्य अवतार की तैयारी होने से पुण्य भी उनसे पहले मनुष्य लोकमें पहुँच गये। प्रभु हमें छोड़कर चले जायेंगे तो? - ऐसे भयसे वे पुण्यकर्म रत्नवृष्टि आदि रूप में प्रभुके आने से पहले ही मनुष्यलोक में आ गये...अहा! जड़ को भी प्रभुके साथ रहना अच्छा लगता है; तब चेतनवन्त जीवों की तो बात ही क्या!!

## अयोध्या में सुमतिनाथ अवतार

उस काल अयोध्यानगरी में भगवान ऋषभदेव के वंशज महाराजा मेघरथ राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम मंगलावती। उनके आँगन में छह मास से प्रतिदिन दिव्य रत्नों की वृष्टि होती थी।

महान आनन्द की सूचक वह रत्नवृष्टि देखकर लोग आश्चर्यचकित होते थे। तत्पश्चात् श्रावण शुक्ला दूज को महादेवी मंगलाने सोलह उत्तम स्वप्न देखे; उसी समय तीर्थंकर सुमतिनाथ का जीव देवलोक से उनकी कुक्षि में अवतरित हुआ। त्रिकाल मंगल ऐसे तीर्थंकर आत्मा के स्पर्श से माता मंगला सचमुच मंगल हो गई; उनका मोक्षगामीपना निश्चित् हो गया, वे धन्य हुईं। इन्द्राणीने भी उनकी स्तुति करके सम्मान किया।

'माता दरशन तेरा रे जगत को आनंद देनारा'

चैत्र शुक्ला एकादशी को अयोध्यापुरी में तीर्थंकर का अवतार हुआ। मात्र अयोध्या ही नहीं तीनों लोक आनन्द से क्षोभित हो उठे। इन्द्रोंने आकर प्रभुका जन्मकल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्रने तो कितने ही तीर्थंकरों के जन्मोत्सव मनाये थे तथापि हर बार उसे नवीनता लगती थी और भक्ति के अद्भुत भाव उल्लसित होते थे। इस प्रकार इन्द्रने अद्भुत उल्लाससे भगवान सुमतिनाथ तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाया जिसे देखकर जिनेन्द्र की अचिन्त्य महिमा द्वारा अनेक जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए।

चौथे तीर्थंकर के पश्चात् नौ लाख-करोड़ सागरोपम के अंतर से पाँचवें सुमतिनाथ तीर्थंकर हुए। चालीस लाख पूर्व उनकी आयु थी। चकवा (पक्षी) उनका चिह्न था। बाल्यकाल में उनके लिये सर्व सामग्री स्वर्गलोक से आती थी। इन्द्र द्वारा अभिषेक किया जाने से तीन लोक में उनकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई। सुमतिकुमार पाँच-छह वर्ष के हुए तब उन्हें एकड़ा-बाराखड़ी सीखने के लिये किसी का शिष्य नहीं बनना पड़ा था, तीन ज्ञान के धारी वे स्वयं तीन जगत के गुरु थे; उन स्वयंबुद्ध महात्मा का दूसरा कोई गुरु नहीं था। (तीर्थंकर बचपन में भी किसी दूसरे शिक्षक से शिक्षण नहीं लेते, स्वयंबुद्ध हैं।) उनकी प्रसन्न मुद्रा तथा प्रशान्त दृष्टि ही दर्शकों को ऐसा संतुष्ट कर देती थी कि उनके पास आये हुए याचक अन्य कुछ माँगना भूल जाते थे...जिस प्रकार समवसरण में पहुँचकर रत्नत्रयसन्मुख हुआ जीव संसार की किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता, उसी प्रकार प्रभुसन्मुख आये हुए जीव प्रभुकी शांत मुद्रा देखते ही संसार को भूल जाते थे। भगवान को समस्त इष्ट विषय प्राप्त थे - बाह्य में पुण्यजनित समस्त इष्टविषय थे, और अन्तर में परमइष्ट ऐसा निज-परमात्मवैभव प्राप्त था। 'अहा, हमारे भीतर एक तीर्थंकर का आत्मा विराजमान है' ऐसे अद्भुत गौरव से उनके सर्वांग सुशोभित हो रहे थे। तथा त्रिलोक को प्रकाशित करनेवाली दिव्यध्वनि जिस मुखसे खिरनेवाली है उस मुखकी शोभा का क्या कहना! स्वर्ग से सारभूत उत्तम वस्तुएँ इन्द्र उन बालतीर्थंकर को पहुँचाता था - अरे, संसार में उत्तम कही जानेवाली उन वस्तुओं की, प्रभु की महिमा के आगे क्या बिसात!! उनका स्थान तो प्रभु के चरणों में ही है। -ऐसा मानकर इन्द्र वे वस्तुएँ बालतीर्थंकर के चरणों में रख देता था। उनकी जिह्वामें सरस्वती का वास था। उन छोटे से प्रभुके मुखसे निकलती वाणी सुनकर सब मुग्ध हो जाते थे; क्योंकि उसमें परमात्मा के नाद की ध्वनि थी। मोक्षलक्ष्मी और पुण्यलक्ष्मी यह दोनों महाविभूतियाँ एक साथ उन सुमतिकुमार में विद्यमान थीं। जगत में जितने सुन्दर परमाणु थे उन सबको रहने के लिये जगत में कोई उत्तम स्थान नहीं मिलने से वे परमाणु श्रेष्ठ ऐसे प्रभुके शरीर में आकर बस गये थे, और उत्तम गुण उनके आत्मा में आकर निवास करने लगे थे। 'तीन लोक हमारी सेवा करते हैं' -ऐसे गौरव से प्रभु के चरण अत्यन्त चमकदार होकर शोभा दे रहे थे। उनके उत्तम हाथों की दसों उँगलियाँ अपनी शोभा द्वारा मानो उत्तम क्षमादि दस धर्मों को प्रगट कर रही थीं। प्रभु की शोभा का कितना वर्णन करें! बाल्यावस्था में ही उनके रूप-गुण अद्भुत थे, तो फिर युवावस्था के रूप का क्या कहना!! उनके जीवन में कभी हिंसा, झूठ,

चोरी आदि पाप नहीं थे...फिर उनको आर्त या रौद्र कोई अशुभ ध्यान तो कहाँ से होंगे? उनका जीवन प्रशस्त आत्माओं से भरपूर था। हाँ, उनके रूप पर मुग्ध होकर यौवन दशा के साथ कामदेव भी चोर की भाँति उनके अंतर में प्रविष्ट हो गया था, उसके कारण राजकुमार सुमतिनाथ अनेक रानियों के साथ भोग-विलास करते थे। उनको कभी अनिष्ट-संयोग या इष्ट-वियोग नहीं होता था; कभी वेदना या चिन्ता नहीं होती थी, लौकिक तथा आत्मिक सर्वसुख उन्हें प्राप्त थे। इस प्रकार महाराजा सुमतिनाथ ने आयु का अधिकांश सुखपूर्वक राजभोग में व्यतीत किया।

एक बार चैत्र शुक्ला एकादशी को महाराजा सुमतिनाथ के जन्मोत्सव का दिवस था; चारों ओर हर्ष छा रहा था; अद्भुत श्रृंगार से सुसज्जित अयोध्यापुरी की शोभा को प्रभु देख रहे थे; उस काल ज्ञान विचारदशा में स्थिर होने से उन्हें अपने पूर्वभव का ज्ञान हुआ। जातिस्मरण में उन्होंने देखा कि अरे, पूर्वभव में मैं अनुत्तर विमान में देव था, वहाँ का वैभव तो इसकी अपेक्षा अद्भुत एवं आश्चर्यकारी था; किन्तु उसका भी अन्तमें तो वियोग ही हुआ, तो इस क्षणभंगुर वैभव की क्या बिसात! -इस प्रकार जातिस्मरण होने से प्रभु का चित्त संसार से एकदम विरक्त हो गया...यद्यपि उनका आत्मा संसार से विरक्त तो था ही, परन्तु अब शीघ्र चारित्रदशा प्रगट करके सम्पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान प्राप्त करने को वे उद्यमी हुए। जो बुद्धिरहित हों वे भले ही अहितकारी विषयों में मग्न रहें, किन्तु मैं तो तीन ज्ञानका धारी तथा इसी भव में ही मोक्षगामी मैं उन अहितकारी विषयों में क्यों लीन रहूँ? आज ही मैं उन्हें छोड़कर जिनदीक्षा धारण करूँगा और आत्मा में स्थिर होऊँगा।

'प्राप्ति करूँगा साम्य की, जिससे कि शिवप्राप्ति बने।'

इस प्रकार मनमें चारित्रदशा अंगीकार करने का निश्चय करके प्रभु वैराग्य भावना भाते थे; इतने में लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की: अहो देव! मुक्तिसुन्दरी आपकी प्रतीक्षा कर रही है, वह आपसे मिलने को उत्सुक है इसलिये इस जिनदीक्षारूप दूती को आपके पास भेजा है। प्रभो! आपका वैराग्यचिन्तन उत्तम है...प्रशंसनीय है। इस प्रकार प्रभुके वैराग्य का अनुमोदन करके वे देव गये कि तुरन्त ही इन्द्रादि देव प्रभुके दीक्षाकल्याणक का महोत्सव मनाने हेतु आ पहुँचे और 'अभया' नामक देव-शिविका में विराजमान करके प्रभुके दीक्षावन में ले गये! वहाँ एक हजार राजाओं सहित प्रभुने स्वयं मुनिदिशा धारण की; उसी समय सिद्धों को वंदन करने आत्मध्यान में स्थिर होने पर शुद्धोपयोग, मनःपर्यय ज्ञान तथा आकाशगामित्व आदि अनेक महान ऋद्धियाँ प्रगट हुईं। मुनिराज सुमितिनाथ का संयम ऐसा उत्कृष्ट था कि उन्हे कोई अतिचार नहीं लगते थे, इसलिये प्रायश्चित्त की भी आवश्यकता नही रहती थी। उनको ध्यान-तप की प्रधानता थी, उनके सर्व पाप शान्त हो गये थे और वे मौनरूप से आत्मसाधना करते थे। मुनिदिशा में उन्हें सर्व प्रथम आहारदान सौमनसनगरी के पद्मराजाने दिया; उस समय देवोंने भी रत्नवृष्टि द्वारा अपना हर्ष व्यक्त करके उनका सन्मान किया।

मुनिराज सुमतिनाथने बीस वर्षतक आत्मध्यान का प्रयोग किया। अन्त में, अयोध्याके जिस वनमें और जिस दिन दीक्षा ली थी उसी वनमें और उसी दिन (चैत्र शुक्ला एकादशी को) ध्यानमें अप्रतिहत शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान प्रगट किया....जो उनके अवतार का दिन था और जो दीक्षा का दिवस था उसी दिन केवलज्ञान अवतरित हुआ; प्रभु छद्मस्थ मिटकर सर्वज्ञ हुए। अंतरात्मा से परमात्मा बने, साधु परमेष्ठी से अरिहंत परमेष्ठी हो गये। उसी समय तीर्थंकर प्रकृति के उदय से दिव्य समवसरण की रचना हुई और देव-देवेन्द्रोंने उनके केवलज्ञान की- अर्हन्तपदकी पूजा की। उनकी धर्मसभा में अमर आदि ११६

गणधर विराजते थे। सर्व तीर्थंकरों में उनकी गणधर संख्या सर्वाधिक थी। तथा उनके जैसे ही केवलज्ञान के धारी तेरह हजार (१३०००) अरिहंत भगवन्त एक साथ समवसरण में विराजते थे और उसकी अद्भुत शोभा में अभिवृद्धि करते थे। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी द्वादशांगधारी तथा ऋद्धिधारी मुनिवर कुल तीन लाख और बीस हजार थे। तथा तीन लाख तीस हजार आर्यिकाएँ और तीन लाख श्रावक एवं पाँच लाख श्राविकाएँ संयमपूर्वक धर्म साधना करते थे। ऐसे महान धर्मवैभव सहित उन पंचम तीर्थंकर भगवान ने भरत क्षेत्रमें प्रत्येक देशमें मंगल विहार किया और जीवों में सुमति का सिंचन करके 'सुमति-नाथ' बने...स्वयं तो पहलेसे सुमतिनाथ थे ही, दिव्यध्वनि द्वारा सम्यक्मति प्राप्त कराके अनेक सुमतिवंत जीवों के भी नाथ बने। भरत क्षेत्र के भव्य जीवों ने उनकी सेवा से सुमति प्राप्त करके भव का अन्त किया। सर्व भाषाओंका जिसमें समावेश है ऐसी दिव्यध्वनी द्वारा भव्यजीवोंके अंतर में उन्होंने धर्म के जो बीज बोये वे तत्काल वृद्धिगत होकर रत्नत्रयरूपी महान फल देने लगे। लाखों-करोड़ों वर्ष तक भगवान सुमतिनाथने अनेकान्तमय सुमति का उपदेश देकर अनेक जीवोंका कल्याण किया... अनेक जीव सम्यग्ज्ञानरूप सुमति को पाकर मोक्ष मार्ग में लग गये।

जब एक मास आयु शेष रही तब प्रभुकी वाणी तथा विहार रुक गये। सम्मेद शिखर की अविचल टोंक पर आकर वे स्थिर हुए... और चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन योगनिरोध करके प्रभुने निर्वाणपद प्राप्त किया। प्रभुके जन्म, दीक्षा, ज्ञान और मोक्ष यह चारों कल्याणक एकही तिथी को हुए। इन्द्रों ने प्रभुके मोक्ष का मंगल महोत्सव मनाया।

सुमतिनाथ जिनराज का अविचल कूट है जेह
मन-वच-तन कर पूज हूँ, शिखर सम्मेद यजेह।

पूर्वभव में जो विदेह की पुण्डरगिरी नगरी के राजा रतिषेण थे, पश्चात् मुनि होकर अहमिन्द्र हुए और अन्त में अनन्तलक्ष्मी के धारक तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त किया उन भगवान सुमतिनाथ को जो जानेगा, वह भव्यजीव सम्यक् मति को प्राप्त करके मोक्ष को साधेगा।

[इति पंचमतीर्थंकर सुमतिनाथ चरित्र समाप्त]

[६]

जन्म
कौशाम्बी नगरी
卐




मोक्ष
सम्मेद शिखर
卐

**पद्म में रहनेवाली लक्ष्मी तो चंचल और नाशवान है, जबकि पद्म-चिह्न वाले भगवान पद्मप्रभजिनके आश्रय में रहनेवाली कैवल्यलक्ष्मी तो स्थिर-शाश्वत है; ऐसी शाश्वत लक्ष्मी को प्राप्त करने हेतु हे भव्य जीवो! तुम पद्मप्रभदेव का आश्रय करो।**

धातकी खण्ड के पूर्व विदेह में सीतानदी के दक्षिण किनारे वत्स देश में सुन्दर सुसीमानगरी है; वहाँ सदा तीर्थंकर प्रभु विचरते हैं और वह अनेक तीर्थंकरों को उत्पन्न करनेवाली है। अपने चरित्रनायक भगवान पद्मप्रभ-तीर्थंकर भी पूर्वभव में उस सुसीमा नगरी के महाराजा थे; उनका नाम था अपराजित। वे वास्तव में अ-पराजित थे, क्योंकि न तो बाह्य में किसी शत्रु द्वारा पराजित होते थे और न ही अंतर में मोह द्वारा पराजित होते थे। महान आत्म पराक्रम द्वारा मोह शत्रु पर भी वे विजय प्राप्त कर रहे थे। वे राजा इतने सदाचारी एवं सत्यनिष्ठ थे कि उनके प्रताप से वर्षा भी कृषकों की इच्छानुसार होती थी; इच्छित मेह बरसने से कभी अकाल नहीं पड़ता था। वर्ष के प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में - तीनों मौसम की फसलें बराबर होती थीं। उनकी दानमें उदारता के कारण प्रजा में कोई दरिद्र नहीं मिलता था। सब वैभवसम्पन्न थे। वैभवसम्पन्न होने पर भी राजा या प्रजा कोई कुमार्गगमन नहीं करते थे और न किसी को कोई दुर्व्यसन था। वैभव की वृद्धि के साथ उनको सदाचार की भी वृद्धि होती थी। वे अनेक भवों के उपार्जित पुण्यकर्म के फल को भोग रहे थे, तथापि उनके मात्र कर्मफल चेतना नहीं थी, साथ ही कर्मरहित ज्ञानचेतना भी थी - जोकि मोक्षको साध रही थी और कर्म से अलिप्त रहती थी।

वह ज्ञानचेतना अनन्त चैतन्यवैभव को ही अपना सच्चा वैभव मानती थी और उसमें से प्राप्त होने वाले अतीन्द्रिय आनन्द को भोगती थी। ज्ञानचेतनावंत वे महाराजा अपराजित सदा विचारते थे कि -इन्द्रियसुख तो शरीर द्वारा भोगे जाते हैं और क्षणभंगुर हैं। शरीर के वियोग से इन्द्रियविषयों का भी वियोग हो जाता है - तो ऐसे इन्द्रियविषयों के भरोसे क्यों रहना? - इस प्रकार उनका चित्त विषयों से सदा विरक्त और अतीन्द्रिय आत्मसाधना में तत्पर रहता था।

महाराजा अपराजित एकबार विशेष वैराग्यचिंतन करते थे, ठीक उसी समय उनकी नगरी में पिहितास्रव जिनराज का आगमन हुआ। जिन्होंने आस्रवों को सर्वथा पेल डाला है - ऐसे उन जिनेन्द्र भगवान के चरणकमल में आकर अपराजित महाराजा ने सकल संसार का संग छोड़ा और मुनिदीक्षा अंगीकार की। मुनि होकर वे रत्नत्रयसहित तीव्र आत्मसाधना करने लगे; उन्हें द्वादशांग ज्ञान प्रगट हुआ, इतना ही नहीं, दर्शनविशुद्धयादि भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी हुआ...निश्चित हो गया कि अब एक भवके पश्चात् वे तीर्थंकर होंगे और मोक्ष प्राप्त करेंगे।

मुनिराज अपराजित चतुर्विध आराधनापूर्वक संल्लेखना धारण करके उत्तम ग्रैवेयक के प्रीतिंकर विमान में अहमिन्द्ररूप से अवतरित हुए। उस विमान की रमणीयता अद्भुत होने के साथ ही उसमें एक भावी तीर्थंकर का आगमन होने से उसकी शोभा और बढ़ गई। उस विमान में निवास करनेवाले अनेक जीव मोक्षगामी थे और उनमें भी अनेक एकावतारी जीव तो भावी तीर्थंकर थे...जो वहाँ से सीधे तीर्थंकर के रूपमें अवतरित होनेवाले थे। ऐसी सुन्दर उस देवनगरी में अपने चरित्रनायक पद्मप्रभतीर्थंकर का आत्मा असंख्य वर्षों तक रहा; उनकी आयु इकतीस सागर थी। वे ४६५ दिन में एक बार श्वास लेते थे, आहार तो बिलकुल करते ही नहीं थे, क्योंकि तीव्र पुण्योदय के कारण उनको क्षुधा या तृषा की कोई वेदना ही नहीं थी; मात्र मानसिक अमृत के आहार से ही वे तृप्त हो जाते थे। उनके अवधिज्ञान का तथा विक्रिया का विस्तार सातवें नरक तक था। ऐसे दिव्य देवलोक में जब उनकी आयु छहमास शेष रह गई और मध्य लोक में तीर्थंकर रुप से अवतार लेने की तैयारी हुई तब जहाँ वे अवतरित होनेवाले थे उस नगरी में रत्नों की वर्षा होने लगी...कौन थी वह धन्य नगरी!! चलो, उसे देखने चलें।

## कौशम्बी नगरी में तीर्थंकर का अवतार

यह है अपने भरतक्षेत्र की कौशम्बी नगरी, जहाँ महावीर मुनिराज पधारे थे और राजकुमारी चन्दनबाला ने उन्हें आहारदान दिया था। उस कौशाम्बी नगरी में असंख्य वर्षों पूर्व इक्ष्वाकुवंशी धरण-महाराजा राज्य करते थे, उनकी महारानी थीं, सुसीमादेवी; वे रूप-गुण में तो महान थीं, तदुपरान्त एक तीर्थंकर की माता बनने का महान सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। भगवान पद्मप्रभ का जीव अहमिन्द्र पर्याय छोड़कर माघ कृष्णा छट्ठी के दिन उनके उदर में अवतरित हुआ...रत्नकुक्षिधारिणी माताने उनके गर्भागमनसूचक सोलह मंगलस्वप्न देखे...एकसाथ ऐसे सोलह मंगलस्वप्न मात्र तीर्थंकर की माता ही देखती है। तत्पश्चात् सवानी मास बीत गये और कार्तिकी शुक्ला त्रयोदशी के शुभदिन माता सुसीमा देवी ने जगत्पूज्य तीर्थंकर को पुत्र रुप में जन्म दिया और स्वयं जगत्पूज्य माता बनीं। इन्द्र-इन्द्राणी ने ठाटबाट से आकर प्रभुके जन्म कल्याणक का महान उत्सव किया, उनके सन्मुख आनन्दपूर्वक नृत्य किया और साथ ही भगवान के माता-पिता का भी सन्मान किया - तथा बालतीर्थंकर को 'पद्मप्रभ' नाम से सम्बोधन करके स्तुति की। पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ के मोक्षगमन के नब्बे हजार-करोड़ सागरोपम के अंतर से छठवें तीर्थंकर पद्मप्रभ हुए। (यह अंतर हर जगह दोनों तीर्थंकरों के मोक्षगमन के बीच का

समझना।) उनकी आयु तीस लाख पूर्व थी, उनका चरणचिह्न 'कमल' था।



पुत्रजन्म तो कौशाम्बी राजमहल में हुआ, परन्तु उसका हर्ष तीनों लोक में छा गया। बालतीर्थंकर की सेवा में रही दिक्कुमारी देवियाँ प्रभुके साथ चर्चा;-विनोद भी करती थी और बालप्रभु के मधुरवचनों में निकलते तत्त्वज्ञान द्वारा आत्मज्ञान भी प्राप्त कर लेती थीं। माता सुसीमा तो बालक पद्मकुमार की चेष्टाएँ देख-देखकर अनुपम तृप्ति का अनुभव करती थीं। अहा, एक बालतीर्थंकर जिसकी गोदमें लोटते हों उनके परमहर्षका क्या कहना! माता कहती बेटा, तू भले जगत का नाथ है, परन्तु मेरा लाड़ला पुत्र है! तेरे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देने का मुझे अधिकार है! बेटा! तू छोटा है परन्तु तेरी चेष्टाएँ स्वानुभूति से भरी हुई महागम्भीर हैं! देवियाँ कहती थीं - अहो, माता! आप तो मोक्षगामी तीर्थंकर की माता हो...आप भी अवश्य मोक्षगामी हो। - इस प्रकार बालक पद्मप्रभ सबको आनन्दित करते हुए वृद्धिंगत हो रहे थे।

कुमार पद्मप्रभने युवावस्था में प्रवेश किया...उनका रूप कामदेवसे भी सुन्दर था, इसलिये कामदेव अपना शरीर छोड़कर उनके शरीर में आकर रहने लगा था। संसार में तो सामान्यत: स्त्री पुरुष का रूप देखना चाहती है, और पुरुष स्त्री का रूप देखने की इच्छा रखती है, परन्तु कुमार पद्मप्रभ कारूप ऐसा अद्भुत मनोहर था कि स्त्री-पुरुष सब उसे देखने की इच्छा करते थे... उसे देखकर तृप्ति का अनुभव करते थे। जिन्हें संसार में कहीं सन्तोष न मिला हो ऐसे जीव भी बालतीर्थंकर के दर्शन से परमसन्तोष का अनुभव करते थे। संसार के समस्त पुण्य उन प्रभुको प्राप्त थे। उनके युवा होते ही, बिना इच्छा के वंशपरम्परा से उन्हें कौशम्बी का राज्य प्राप्त हुआ। साढ़े सात लाख 'पूर्व की आयु में कुमार पद्मप्रभ का राज्याभिषेक हुआ तब समस्त प्रजाजनों को इतना हर्ष हुआ मानो उन्हें स्वयं को राज्य मिल गया हो! उनके राज्य में धन तथा धर्म दोनों की वृद्धि होती थी। कोई नया दानी नगर में आकर पूछे कि किसे किस वस्तु की इच्छा या आवश्यकता है? तो सब लोग उत्तर देते कि यहाँ किसी को किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। हाँ, इच्छा एक ही है - मात्र मोक्ष साधने की! - परन्तु वह मोक्ष कहीं दान में थोड़े ही मिलता है! वह तो 'स्वयंभू' भीतर से - आत्मा में से ही प्रगट होता है...वह किसी अन्य से माँगा नहीं जाता।

महाराजा पद्मप्रभ के राज्य में एकदम जागृति आ गई। गृहस्थ दशा में रहे हुए उस 'तीर्थंकर-द्रव्य' के दर्शन से भी भव्य जीवों में अनुपम धर्म जागृति आती थी; कौशाम्बी नगरी एक तीर्थरूप थी, क्योंकि वहाँ साक्षात् तीर्थंकररूप आत्मा विराज रहे थे। प्रतिदिन देश-विदेश से कितने ही मुमुक्षु जीव वहाँ उस जीवन्त-तीर्थ के दर्शन करने आते थे...और प्रभु के दर्शन करके महान तीर्थयात्रा का आनन्द प्राप्त करते थे।

## भगवान पद्मप्रभ - वैराग्य और दीक्षा

इस प्रकार महाराज पद्मप्रभ को राज्य करते हुए दीर्घ काल बीत गया। जब एक लाख पूर्व जितनी आयु शेष रही तब एक वैराग्यप्रेरक घटना हुई।



पद्मप्रभ महाराज एक बार राजमहल में बैठे थे...महल के प्रांगण में एक भव्य विशालकाय अतिसुन्दर हाथी था...हजारों हाथियों में वह पट्टहस्ती था, महाराज उस पर सवारी करते थे और उन्हें वह अत्यन्त प्रिय था। अचानक उस हाथी को कुछ हो गया...उसका शरीर शिथिल हो गया, उसने खाना-पिना छोड़ दिया...आँखें बन्द करके लेट गया और उसका प्राणान्त हो गया। हाथी की अचानक मृत्यु हो जाने से महाराज को आश्चर्य हुआ, जीवन की क्षणभंगुरता देखकर वे वैरागचिंतन में डूब गये; उन्होंने अवधिज्ञान से हाथी के पूर्वभवों को जाना, और जातिस्मरण से अपने पूर्वभवों का भी ज्ञान हुआ। तुरन्त ही उनका चित्त संसार से विरक्त हो गया। महा पुरुषों के जीवन में कोई छोटी सी घटना भी महान वैराग्य का निमित्त बन जाती है। महाराज पद्मप्रभ तत्त्वज्ञानी तो थे ही, वे सुखमय आत्मा का तथा दुःखमय संसार का स्वरूप जानते थे इसलिये-

अशुचिता विपरीतता को आस्रवों का जानकर,
अरु जानकर कारण दुःखों का, प्रभुने छोड़ा उन्हें।

भेदज्ञानी भगवान संसार से विरक्त होकर विचारने लगे कि - अरे, इस संसार में इन्द्रियविषयरूप ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसे मैंने पूर्वकाल में देखा न हो...जिसका मैंने स्पर्श नहीं किया हो...जिसे सूँघा न हो, जिसे सुना न हो और जिसे खाया न हो! समस्त इन्द्रियविषयों को जीव पूर्वकाल में अनन्तबार भोग चुका है...इसलिये भोगे हुए-उच्छिष्ट पदार्थों को ही वह पुनः पुनः भोग रहा है। अरेरे! इच्छा के समुद्र में पड़े हुए इस जीव का उद्धार कैसे हो?-जब रत्नत्रय-नौका में बैठकर वह केवलज्ञान प्राप्त करे और उसके उपयोग में विश्व के समस्त पदार्थों का एकसाथ ग्रहण हो-तभी उसकी इच्छाएँ शांत होंगी...और तभी वह तृषित इन्द्रिय-विषयों से छूटकर पूर्ण वीतराग सुखको प्राप्त करेगा। इसलिये अब शीघ्र ही

केवलज्ञान का उद्यम मेरा कर्तव्य है।

वैरागी प्रभु विचारते हैं कि-यह शरीर तो रोग और मृत्यु का घर है; जीव प्रत्यक्ष देखता है कि रोगरूपी सर्प द्वारा इष्ट जन मरण को प्राप्त होते हैं; तथापि यह अविनाशी आत्मा विनाशीक शरीर में क्यों मोहित हो रहा है? यह एक आश्चर्य है। क्या आज तक किसी जीवने शरीर के साथ सदा सहवास किया है?-नहीं; तो फिर शरीर का मोह तोड़कर अशरीरी सिद्धपद में शाश्वत निवास करना ही कर्तव्य है।

जो हिंसादि पापों में धर्म मानते हैं और पाप के हेतुरूप ऐसे इन्द्रियविषयों में जो सुखकी कल्पना करते हैं-ऐसे मिथ्यामार्गी मूर्ख जीवों को ही यह संसार रुचिकर प्रतीत होता है; सुहितकारी बुद्धिमान जीव तो उसे असार जानकर चैतन्यसुख को ही साधते हैं। जिस कार्य से (जिन शुद्ध भावों से) पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मलेप का नाश हो उसीकी धर्मात्मा जीव निरंतर उपासना करते हैं।

इस प्रकार भवरूप संसार, शरीर और विषयभोग (भव-तन-भोग) तीनों का अनित्य-अशरण-असाररूप चिन्तवन करके प्रभु उनसे सर्वथा विरक्त हो गये और जिनदीक्षा हेतु तत्पर हुए। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर स्तुतिपूर्वक प्रभुके वैराग्य का अनुमोदन किया-

भव-भोग-तन वैराग्य धार निहार शिव तप तपत हैं,
तिहुं जगतनाथ अराध साधु सु पूजनीक गुण जपत हैं।

इन्द्रादि देव भी प्रभुके दीक्षा-कल्याणक का उत्सव करने आ पहुँचे। संसार से निवृत्त हुए प्रभु 'निवृत्ति' नामक देव-शिविका में आरूढ़ होकर 'मनोहर' दीक्षावन में पहुँचे। जिस तिथि को जन्म हुआ था, उसी तिथि (कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी) को दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेकर प्रभु आत्मध्यान में लीन हो गये।

परिवर्जता हूँ ममत को, निर्ममत में स्थिति करूँ,
अवलम्ब ले निज आत्म का, अवशेष सबको परिहरूँ।

प्रभु का वैराग्य देखकर भव्य जीव मुग्ध हुए और अनेक जीवों ने प्रभु के साथ महाव्रत या अणुव्रत धारण किये। वन के तिर्यंच भी प्रभुकी शांत-वीतराग मुद्रा देखकर मुग्ध हो गये। सिंह और खरगोश, सर्प और मोर-सब प्राणी शांतिसे चित्त लगाकर प्रभुकी शरण में बैठकर आत्महित करने लगे।

मुनियों में श्रेष्ठ ऐसे पद्मप्रभ स्वामी को तुरन्त ही मनःपर्ययज्ञान तथा अनेक लब्धियाँ प्रगट हुईं; शुद्धरत्नत्रयधारी उन तीर्थंकर - मुनिराज - को सर्व प्रथम आहारदान वर्धमान नगरी के सोमदत्त राजाने दिया और उस उत्तमदान के प्रभाव से पंचाश्चर्यरूप महान सन्मान प्राप्त किया। भगवान को मुनिदशा में यद्यपि शुभ-आस्रवरूप पुण्यसंचय होता था; परन्तु उत्तम गुप्ति-समिति - क्षमादि धर्म - वैराग्य चिंतन-परिषहजय तथा आत्मध्यानादि तपके द्वारा उन्हें अति विशेष कर्मों की निर्जरा होती थी, - कर्मों का व्यय अत्याधिक था और आय अत्यल्प थी...इसलिये वह अतिशीघ्रता से मोक्षको साध रहे थे।

ऐसी उग्र आत्मसाधना सहित वे मुनिदशा में छद्मस्थरूप से मात्र छह मास तक रहे; छह महीने के पश्चात् क्षपक श्रेणी द्वारा चारों घाति कर्मों का सर्वथा क्षय करके, चैत्रशुक्ला पूर्णिमा के दिन पूर्ण ज्ञान प्रगट करके प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा हुए...अरिहंत हुए, तीर्थंकर हुए। इन्द्रों तथा नरेन्द्रोंने प्रभुके केवलज्ञान की पूजा की। प्रभुके समवसरण में चामरसेन आदि एक सौ दस गणधर थे; एक साथ बारह हजार सर्वज्ञ परमात्माओं का मंगल मेला वहाँ लगा था। लाखों मुनि-आर्यिकाएँ तथा लाखों श्रावक-श्राविकाएँ वहाँ मोक्ष की साधना कर रहे थे। अरे, लाखों की संख्या में तिर्यंच जीव भी वहाँ धर्मसाधना द्वारा जीवन

को धन्य बनाकर मोक्षमार्ग में चल रहे थे। इस प्रकार तीर्थंकर पद्मप्रभ भगवान ने धर्मोपदेश द्वारा अनेक भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में लगाया। करोड़ों-अरबों वर्ष तक भरतक्षेत्र में मंगलविहार करके सर्वत्र धर्मचक्र प्रवर्तन किया। अन्त में सम्मेदशिखर की मोहन टोंकपर पधारकर, मोहरहित वे भगवान फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी के दिन सर्व कर्मों से मुक्त होकर सिद्धपद को प्राप्त हुए और तत्क्षण ही लोकाग्र में विराज गये।

निर्वाण है वह सिद्ध है, अरु सिद्ध वह निर्वाण है,
सब कर्म से प्रविमुक्त आत्मा, लोक-अग्र सु जाय है।

पद्मप्रभ जिनराज की मोहनकूट है श्रेष्ठ,
मन-वच-तन- कर पूज हूँ शिखर सम्मेद यजेह।

प्रभुके मोक्षकल्याणक द्वारा इन्द्रोंने भी सिद्धपद का बहुमान किया...और हमें भी उस परमपद की प्राप्ति हो ऐसी भावना भायी। जिनमार्ग की उपासना ही परमपद की प्राप्ति का उपाय है -ऐसे समझकर हे भव्य जीवो! तुम परमभक्तिपूर्वक जिनमार्ग की उपासना करो।

[छठवें पद्मप्रभ तीर्थंकर का मंगल जीवन-चरित्र यहाँ समाप्त हुआ।]

[छठवें तथा सातवें तीर्थंकरों के बीच कोई शलाका पुरुष नहीं हुए हैं।]



मेरी माँ मुझे रोज मजेदार कहानी सुनाती है। भगवान की कहानियाँ सुनने में मुझे मजा आता है। और मुझे भी भगवान जैसे बनने का मन होता है।

# [७]




अब, भगवान सुपार्श्वनाथ का मंगल चरित्र प्रारम्भ होता है। उसमें मंगलरूपसे स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्रस्वामी कहते हैं कि-'पदार्थ एकान्त सत् है अथवा असत् है-ऐसे किसी एकान्तरूप से जीवादि तत्त्वों का निर्णय जिन्होंने नहीं किया है, परन्तु जो सर्व तत्त्वों के स्वरुप के ज्ञाता हैं, अर्थात् एकसाथ सत् तथा असत् ऐसे दोनों स्वरुपसे अनेकान्त मय समस्त तत्त्वों को जाना है,-ऐसे भगवान सुपार्श्वनाथ हमारे परम गुरु हैं।' जीवादि प्रत्येक तत्त्व अपने गुण-पर्यायरूप निजधर्मों से परिपूर्ण सत्‌रूप है और अन्य पदार्थों से वह भिन्न होने के कारण परधर्मरूप नहीं है -असत् है; इस प्रकार समस्त पदार्थ अस्ति-नास्ति, द्रव्य-पर्याय इत्यादि अनेकान्त स्वरुप है,-ऐसे जिनोपदेश को स्वीकार करनेवाला जीव जिनमार्ग का उपासक होकर निजपद को अर्थात् जिनपद को प्राप्त करता है।

इस प्रकार जगप्रसिद्ध अनेकान्त तत्त्वों का उपदेश करनेवाले भगवान सुपार्श्वनाथ पूर्वभव में धातकीखण्ड द्वीप में क्षेमपुरी नगरी के राजा नन्दिषेण थे। वह नगरी और राजा दोनों महान थे और जैनधर्म से सुशोभित थे। धर्मप्रताप से दैव सदा उनके अनुकूल था। राजा नन्दिषेण के शरीर की रक्षा कोई वैद्यजन और उनके राज्य की रक्षा कोई सेना नहीं करती थी; उनके शरीर और राज्य दोनों की रक्षा तो उनका पुण्योदय ही करता था; वैद्य और सेना तो मात्र उनकी शोभा के लिये थे। जिसने अपने आत्मा को जाना है और शत्रुओं को जीता है ऐसे उन नन्दिषेण महाराजा को मात्र इसी लोक की विजय की इच्छा हो ऐसा नहीं, परलोक को भी वे जीतना चाहते थे, इसलिये वे धर्म-उपासना में सदा तत्पर रहते थे, धर्म की उपासना भूलकर वे कभी राजवैभव में मोहित नहीं होते थे...इसलिये उनका अंतर संसार से विरक्त रहता था। उन्होंने दर्शन मोहरुपी महाशत्रु का नाश तो कर दिया था, किन्तु अभी चारित्रमोह को जीतना बाकी था...उसकी चिन्ता के कारण उनका चित्त राजभोगों में नही लगता था। वे जानते थे कि

सम्यक्त्व द्वारा मैंने मोक्षमार्ग तो प्राप्त कर लिया है, परन्तु अभी चारित्रमोह मुझे धन, स्त्री आदि में आसक्ति के कारण अनेक पापक्रीडाएँ कराता है। अरे, ऐसी मोहदशा को धिक्कार हो! इस मोह से छूटकर मोक्षप्राप्ति हेतु रत्नत्रय धर्म की आराधना मेरा कर्तव्य है।

ऐसे वैराग्य के विचारपूर्वक महाराजा नन्दिषेण राजभोगों से अत्यन्त विरक्त हुए और अर्हन्नन्दन-जिनेश्वर के शिष्य बन गये। ज्ञान-ध्यान में तत्पर उन योगिराज को बारह अंग का ज्ञान प्रगट हुआ तथा दर्शनविशुद्धि आदि उत्तम भावनाओं द्वारा उनको बिना इच्छा के भी तीर्थंकर प्रकृति बँधने लगी। उनके जीवन में धर्म की महान क्रान्ति हुई...वीतरागता का विकास हुआ।

अनेक वर्षों तक मुनिराज नन्दिषेण ने शुद्ध चारित्र का पालन किया। परन्तु कषाय का किंचित् कण शेष रह जाने से आयु के अन्त में उन्हें मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र का भव मिला। वहाँ उन्होंने असंख्य वर्षों तक महान पुण्योदय के बीच रहकर भी भेदज्ञान के बल से आत्मा को उस पुण्योदय से विभक्त रखा। दूसरे अहमिन्द्रों के साथ धर्मचर्चा करके वे महान आनन्द प्राप्त करते थे। अमृत के स्वाद की अपेक्षा उन्हें धर्मचर्चा विशेष रसप्रद लगती थी, इसलिये वे धर्मरसका पान तो प्रतिदिन करते थे; परन्तु अमृतरस का स्मरण तो सत्ताईस हजार वर्ष में मात्र एक बार करते थे। कहावत है, कि-'सुख में समय कहाँ बीत जाता है उसकी खबर भी नहीं पड़ती' तदनुसार अहमिन्द्र पर्याय में दिव्यसुख के बीच असंख्य वर्षों का दीर्घकाल कब बीत गया, उसकी खबर भी नहीं पड़ी! अब मात्र छह मास आयु शेष रह गई तब ध्यान आया कि अब यहाँ से मनुष्यलोक में तीर्थंकर रुप से मेरा अवतार होगा। प्रभुका अवतार कहाँ होते है! वह हम देखें।

## वाराणसी (काशी) नगरी में तीर्थंकर-अवतार

यह बात आज-कल की या हजारों लाखों वर्ष पहले की नहीं, परन्तु असंख्यात वर्ष पहले की है। उस समय काशी देश में गंगा नदीके किनारे अति रमणीय वाराणसी (बनारस) नगरी थी। उस नगरी में सुप्रतिष्ठ महाराजा राज्य करते थे। उनकी महारानी पृथिवीसेना के महान रूप-गुण-सौभाग्य की महिमा किस प्रकार की जाय! इतना ही कहना बस होगा कि वे एक जगत्पूज्य तीर्थंकर की जननी हैं। भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को उन्होंने सुखनिद्रा में १६ मंगल स्वप्न देखे और एक श्वेत हस्ती को मुखमें प्रवेश करते देखा...कितना महान स्वप्न! उसी समय अहमिन्द्र का जीव सुपार्श्व तीर्थंकर का अवतार लेकर उनकी कुक्षि में आया। किसी महान अपूर्व हर्ष से वे रोमांचित हो उठीं। तीर्थंकर आत्मा के समागम से वे किसी अनुपम सुख का अनुभव कर रही थीं। उनके आत्मभाव उज्ज्वल हुए और मिथ्यात्वादि दूर हो गये। अहा, जहाँ तीर्थंकर का निवास हो वहाँ मिथ्यात्वादि कैसे रह सकते हैं? वहाँ तो सम्यक्त्वादि अचिन्तय आत्मविभूति प्रगट होती है। ऐसा ही मंगल फल माता पृथिवीसेना को प्राप्त हुआ। गर्भावस्था होने पर भी उन्हें किसी प्रकार का कष्ट या कुरूपता नहीं हुई। उनके आँगन में प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वर्षा होती थी; इन्द्र-इन्द्राणी ने भी दैवी वस्त्रों की भेंट देकर उनका सन्मान किया; भवनवासी देवियाँ वाराणसी में रहकर माताजी की सेवा करती थीं; अनेक प्रकार की चर्चा एवं विनोद द्वारा उन्हें प्रमुदित करतीं और उनके गर्भस्थ पुत्र की अपार महिमा एवं गुणगान करके हर्ष व्यक्त करती थीं। गर्भस्थ शिशु को गर्भावस्थाजनित कोई असाता नहीं थी; तीर्थंकरत्व और ज्ञानचेतना के प्रताप से उन्होंने गर्भावस्था के सवा नौ महीने भी सुखपूर्वक व्यतीत किये।

तत्पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के सुप्रभात में तीनों लोक खलबला उठें ऐसी मंगल बधाई आयी

-वाराणसी में पृथिवी माताने सातवें तीर्थंकर को जन्म दिया। छठवें तीर्थंकर पद्मप्रभ के मोक्षगमन के नौ हजार करोड़ सागरोपम के अंतराल के पश्चात् सुपार्श्व तीर्थंकर हुए। इन्द्रोंने काशी-वाराणसी नगरी में आकर प्रभु के जन्म का भव्य महोत्सव मनाया। सुपार्श्वकुमार की आयु बीस लाख पूर्व थी, शरीर की ऊँचाई २०० धनुष (दो हजार फुट० थी। उनका चिह्न 'स्वस्तिक' था।

उन बाल तीर्थंकर की चेष्टाएँ अद्भुत थी; परिवार एवं प्रजाजन उन्हें देखकर तृप्ति का अनुभव करते थे। उनका सहवास इतना आह्लादक था कि स्वर्गलोक से कितने ही देव उनके पास आते और बालकों का रूप धारण करके उनके साथ खेलते, उन्हें आनन्दित करते और स्वयं भी आनन्द प्राप्त करते थे। बलिहारी है सत्पुरुष के सत्संग की! इन्द्र भी अनेकों बार प्रभु के पास आकर स्वर्ग लोकके श्रेष्ठ संगीत एवं नृत्य नाटकादिका प्रदर्शन करने के बहाने प्रभुकी भक्ति-स्तुति करके अपने पुण्य की वृद्धि करते थे। स्वर्ग के उत्तमोत्तम पदार्थ वे बाल तीर्थंकर की सेवा में रख जाते थे; परन्तु अरे! स्वयं सुखी भगवान को उन इन्द्रभोगों की कहाँ आवश्यकता थी? श्रेष्ठ पुण्योदय के कारण स्वर्गलोक के उत्तम पदार्थ उनके पास आते थे, परन्तु भगवान तो पुण्य से भी पार आत्मा के साधक थे, उस आत्मसाधना के समक्ष श्रेठ पुण्य भी बेचारे तुच्छता को (हेयपने को) प्राप्त होते थे। और मानो तीर्थंकर के भी शुभकर्म का विषैलापन बताने के लिये उसके साथ किंचित् अशुभ कर्म का अनुभाग भी साथ रहता था।

वाराणसी में महाराज सुप्रतिष्ठ का राजमहल गंगा नदी के किनारे था। वहाँ की शोभा अति



सुन्दर थी; बालतीर्थंकर के सान्निध्य से वह गंगा का प्रवाह भी पवित्र हो जाता था। राजकुमार सुपार्श्वनाथ अनेक प्रकार की बालक्रीडाएँ करते थे...कभी कभी विशाल गंगा नदी में जलविहार करते थे। एकबार जब वे राजकुमार गंगानदी में नौकाविहार कर रहे थे; उस समय एक अद्भुत घटना हुई - एक बड़ा मगरमच्छ शीघ्रता से उनकी नौका के पीछे-पीछे आ रहा था...नौका तक पहुँचने के लिये वह उछलता था। लोगों ने उसे देखा और भयभीत हुए कि यह मगरमच्छ प्रभु की नौका को उलट देगा क्या! प्रभुने भी उसे देखा, परन्तु वे तो निर्भयता से विहारका आनन्द ले रहे थे...मानों मगरमच्छ के अंतरका रहस्य जान गये हों! थोड़ी देर में नौका के निकट पहुँचकर उस मगरमच्छ ने एक डुबकी लगायी और दूसरे

ही क्षण नौका से आगे निकलकर वह नौका के सामने आने लगा...सब आश्चर्य से देख रहे थे कि इतने में उस मगरमच्छने सिर ऊँचा करके अपने अगले दो पैर पानी से बाहर निकाले और मानो हाथ जोड़ रहा हो ऐसी मुद्रा में प्रभु को भावसे नमस्कार करने लगा...उसकी चेष्टा शांत एवं भक्तिपूर्ण थी। उसने नौका को कोई हानि नहीं पहुँचायी...वह तो तीर्थंकर प्रभुके दर्शन हेतु नौका के पीछे दौड़ रहा था...प्रभु की अपार तेजस्वी शांत सुन्दर मुद्रा देखकर उसे लगा कि अहा, इस गंगानदी के बीच ऐसे तीर्थंकर प्रभु के दर्शन का सद्भाग्य मुझे कहाँ से? नदी में प्रभुदर्शन का ऐसा सुयोग कब होगा! ऐसे अति उल्लासपूर्वक, प्रभुके सन्मुख आकर वह दर्शन कर रहा था। मगर जैसे तिर्यंच पर भी प्रभुका ऐसा प्रभाव देखकर सब लोग प्रसन्न हुए। प्रभुने भी प्यार भरी मीठी नजरसे मगरमच्छ के सामने देखा। इतनेमें तो वहाँ मगरमच्छ के बदले एक देव दिखायी दिया जो अति प्रसन्न हो रहा था। वास्तव में वह कोई मगरमच्छ नहीं किन्तु एक देव था जो प्रभुके साथ जलक्रीड़ा एवं भक्ति करने हेतु मगरमच्छ का रूप धारण करके आया था। उसीकी यह सब लीला थी। उस समय गंगानदी में उस मगरमच्छ के साथ अन्य हजारों जलचर प्राणी भी प्रभुदर्शन के लिये नौका के आसपास एकत्रित हुए थे...मानो गंगानदी के बीच समवासरण में तिर्यंचोंकी की सभा भरी हो! इस प्रकार सब आनन्दपूर्वक किल्लोल कर रहे थे...और प्रभुके दर्शन के कोई अद्भुत तृप्ति का अनुभव करते थे। अहो देव! तिर्यंच जीवभी आपके दर्शन से आनन्द प्राप्त करते हैं तो फिर हम जैसे मनुष्य आपके दर्शन से अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त कर लें - उसमें क्या आश्चर्य है!

राजकुमार सुपार्श्व जब आठ वर्ष के हुए तब उन्होंने देशसंयम धारण किया...यद्यपि उनका जीवन पापरहित संयमरुप ही था, तथापि आठ वर्ष में उन्होंने अप्रत्याख्यानरूप चार कषायों का नाश करके पंचम गुणस्थान प्रगट किया। सर्व तीर्थंकर आठ वर्ष की आयु में देशसंयमी हो जाते हैं। मात्र प्रत्याख्यान तथा संज्वलनरूप कषाय शेष रहे, परन्तु वे भी अति मन्दरूप थे। उन बालतीर्थंकर को पुण्यजनित भोगोपभोग की सामग्री तो अपार थी, परन्तु उनके कषाय अतिअल्प थे, आठ कषाय तो थे ही नहीं और शेष आठ भी अत्यतमन्द थे; इसलिये अमर्यादित भोग सामग्री के बीच रहकर भी अपने आत्मा को संयमित रखते थे; उनकी बाह्य वृत्तियाँ अति मर्यादित थीं और परिणाम विशुद्धिद्वारा उनको कर्मोंकी निर्जरा होती रहती थी। उनके श्रम-खेद-शोक-प्रस्वेद या मल-मूत्रादि अशुचि नहीं थी; आत्मा की भाँति उनका शरीर भी स्वभावत: पवित्र था। उनके सान्निध्य में सदा प्रसन्नता छायी रहती, उनके मधुर वचन सबको प्रिय लगते थे। उनका शारीरिक बल अतुल्य था, परन्तु वे कभी उनका प्रयोग नहीं करते थे। उन्हें किसी प्रकारका भय नहीं था। हाँ, पहले वे जन्म-मरण से भयभीत थे परन्तु अब तो जन्म-मरण का भी नाश करके वे निर्भय हो गये थे। उनको पहले से ही आत्मज्ञानसहित अतीन्द्रिय ज्ञान तो था ही, साथ ही लौकिक विद्याओं में भी वे ऐसे पारंगत थे कि विद्या पढ़ने के लिये किसी गुरुके पास जाने की आवश्यकता ही नहीं थी... वे स्वयं ही जगत के गुरु थे और स्वयं सम्बुध्द थे। मोक्ष विद्या का निवास तो उनके हृदय में ही था; जब वे बोलते तब उनके मुख से मोक्षमार्ग के पुष्प झरते थे।

राजकुमार सुपार्श्व धीरे-धीरे युवावस्था को प्राप्त हुए। जब वे पाँच लाख पूर्व के हुए तब काशी देश के राज सिंहासनपर उनका राज्याभिषेक हुआ; इन्द्रने भी उस उत्सव में भाग लिया। भगवान को कहीं साम्राज्य का वैभव बढ़ाने की इच्छा नहीं थी, उनका पुण्यप्रताप ही उन्हें सर्व सुयोग प्राप्त करा देता, परन्तु वे तो उदारता पूर्वक दानादि में उनका त्याग कर देते थे। उनका राज्य कल्याण राज्य था। इस प्रकार सुखपूर्वक राज्य करते-करते १९ लाख पूर्व व्यतीत हो गये।

एक बार सुपार्श्व महाराजा का जन्मदिवस होने से वे हाथी पर बैठकर वनविहार करने गये; तब उन्होंने एक वृक्ष देखा, - जो कुछ समय पहले हराभरा फल-फूल युक्त था, और पतझड़ ऋतु आने पर उसके सब पत्ते झर जाने से ऐसा सूखा हुआ - उदास लगने लगा जैसे किसी साधुने



केश लुंच कर लिया हो। ऐसा ऋतु-परिवर्तन तथा वृक्षकी ऐसी दशा देखकर महाराजा सुपार्श्वनाथ समस्त पदार्थों की क्षणभंगुरता का चिंतवन करने लगे कि - अरे, ऋतु की भाँति इस संसार में कोई संयोग स्थिर नहीं है; इस वृक्ष की भाँति यह राजभोग एवं शरीरादि भी विनश्वर - क्षणभंगुर हैं; जीवन में पुण्य के कारण हरे-भरे लगनेवाले विषयोंरूपी वृक्ष भी पुण्यरूपी पत्ते झर जाने पर क्षणभर में सूख जाते हैं। अरे, मेरी आयु का दीर्घकाल इनमें बीत गया...अब अपनी आत्मसाधना पूर्ण करके परमात्मापद प्राप्त करने के लिये रत्नत्रयरूपी बोधि प्राप्त करने का समय आ गया है। मैं आजही इन राजभोगों को छोड़कर मुनिदशा धारण करूँगा और शुद्धोपयोग द्वारा चिदानन्द स्वरूप में लीन होऊँगा।

इस प्रकार प्रभुके अंतर में वैराग्य का समुद्र उमड़ पड़ा...उसकी लहरें ठेठ लौकांतिक स्वर्ग तक पहुँची और वैराग्य में सराबोर वे देव भी तुरन्त बाराणसी नगरी में आकर प्रभुके वैराग्य का अनुमोदन करने लगे कि - धन्य आपका वैराग्य! दीक्षा ग्रहण करनेका आपका निश्चय अति उत्तम है! उसी समय इन्द्र भी दीक्षा कल्याणक के लिये स्वर्गलोक से 'मनोगति' नामक दिव्य शिबिका लेकर आ पहुँचे और भगवान उसमें विराजमान हुए। पहले मनुष्य और फिर देव उस पालकी को लेकर दीक्षावन की ओर चलने लगे, परन्तु प्रभुकी मनोगति तो अति शीघ्रता से मोक्ष तक पहुँच गई थी...वे वैराग्य भावना पूर्वक मोक्षसुख का चिंतन कर रहे थे।

दीक्षावन में पहुँचकर प्रभुने वस्त्राभूषनादि सर्व परिग्रह उतार दिया और 'सिद्धेभ्यो नमः' का मंगलोच्चार करके वे सुपार्श्व मुनिराज शुद्धात्मध्यानमें लीन हो गये। तत्क्षण शुद्धोपयोग के परम आनन्द की अनुभूति सहित सातवाँ गुणस्थान एवं मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ। मुनिदशा में उनको प्रथम आहार दान सोमखेटनगर में महेन्द्रदत्त राजाने दिया। अहा, तीर्थंकर मुनि के हाथ में अपने हाथ से आहारदान देते हुए उनके हर्षानन्द का पार नहीं रहा...उन्होंने मात्र भिक्षा ही नहीं साथ-साथ प्रभुसे स्वयं भी मोक्षका

दान लिया।

सुपार्श्व प्रभु नौ वर्ष तक मुनिदशा में आत्मसाधनापूर्वक विचरे। तलवार आदि किसी भी प्रकार के हिंसक शस्त्र द्वारा अथवा मुँह से एक भी शब्द बोले बिना, नौ वर्षतक वे मोह शत्रु से युद्ध करते रहे...और अंत में शांत आत्मध्यान में बारम्बार शुद्धोपयोग के प्रहारों द्वारा उन्होंने मोहको सर्वथा नष्ट करके अनंत-चतुष्टय सम्पदा को प्राप्त कर लिया। इस प्रकार वे महान विजेता, अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा हो गये। वाराणसी के जिस वनमें उन्होंने दीक्षा ली थी उसी दीक्षा वनमें फाल्गुन कृष्णा षष्ठी के दिन वे सर्वज्ञपद को प्राप्त हुए...और नौ वर्षका मौन तोड़कर दिव्यध्वनि द्वारा धर्म तीर्थके प्रवर्तक तीर्थंकर हुए उनकी धर्मसभा में ११००० केवली भगवंत उनके सहगामी थे; बलदेव आदि ९५ गणधर थे; लाखों मुनि-आर्यिकाओं, श्रावक-श्राविकाओं का चतुर्विध संघ वहाँ आनन्दपूर्वक मोक्षसाधना कर रहा था। इस प्रकार चतुर्विध संघके नायक तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ भगवान भरत क्षेत्र में धर्मामृत की वर्षा करते करते करोड़ों-अरबों वर्ष तक अर्हंतरूप से विचरे। जब एक मास आयु शेष रही तब वे सम्मेदशिखर शाश्वत मोक्षधामकी प्रभास टूंकपर पधारे और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन योगनिरोध करके शाश्वत निर्वाणपुरी में जाकर अनंत सिध्द भगवन्तो के साथ विराजमान हो गये। उनको नमस्कार हो! इन्द्रने मोक्ष का महोत्सव मनाया और 'अहो, यह प्रभुके निर्वाण का क्षेत्र है' ऐसे कहकर सम्मेदशिखर निर्वाण धाम का भी सन्मान किया।

सुपार्श्वनाथ जिनराजकी प्रभास कूट है जेह,
मन-वच-तन कर पूज हूँ शिखर सम्मेद यजेह।

आज भी अनेकों भव्य जीव उस निर्वाण धाम में जाकर मोक्ष की भावना भाते हैं।

पूर्व भव में जो क्षेमपुरी नगरी में नन्दिषेण नामके राजा थे; पश्चात् मुनि होकर ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए; वहाँ से काशी देश की वाराणसी नगरी में अवतरित होकर, भवका अन्त करके, सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर हुए और मोक्ष पधारे, उन सातवें भगवन्तका मंगल चरित्र यहाँ पूर्ण हुआ।

❋ ❋ ❋ ❋

[काशी-वाराणसी (बनारस) में गंगानदी के भदैनीघाट पर जिनमन्दिर में सुपार्श्वनाथ भगवान के चरणचिह्न हैं; वहाँ भगवान का जन्म स्थान माना जाता है। उनके असंख्य वर्ष पश्चात् पार्श्वनाथ भगवान (तेईसवें तीर्थंकर) भी इसी नगरी में अवतरित हुए, उनका जन्मस्थान भी आज एक मन्दिर में माना जाता है। पार्श्वप्रभुने इसी नगरी में कमठ तापसके अविवेकी (हिंसायुक्त) पंचाग्नि तपको असार बतलाकर लकड़ियों में सुलगते सर्प-युगल को धर्मश्रवण कराया था; तथा इसी नगरी में प्रभुका धर्मोपदेश सुनकर उनके माता-पिताने जैनदीक्षा धारण की थी। आठवें तथा ग्यारहवें तीर्थंकर-चन्द्रप्रभ एवं श्रेयांसनाथ भी इसी काशी राज्य की चन्द्रपुरी और श्रेयपुरी (सिंहपुरी-सारनाथ) नगरी में अवतरित हुए थे। चार तीर्थंकरों के गर्भ-जन्म-तप कल्याणकों से पावन इस काशीतीर्थ की यात्रा आज भी लाखों जैनयात्री प्रतिवर्ष करते हैं।

समन्तभद्रस्वामी ने शिवपिण्डी के समक्ष जिनबिम्ब का ध्यान करके अद्‌भुत स्तुति करते थे; शिवपिण्डी फटने पर चन्द्रप्रभप्रभुकी प्रतिमा प्रगट हुई, यह घटना भी इसी नगरी में हुई थी-ऐसा कुछ

इतिहासकार मानते हैं। (कुछ लोग यह घटना भुवनेश्वर में होना मानते हैं।) काशी में 'फटे महादेव का मन्दिर' आज भी विद्यमान है, वह अभी तक 'समन्तभद्रेश्वर-मन्दिर' कहलाता था। आजकल वाराणसी जाएँ तब 'काशी के ठग' से सावधान रहना जरूरी है।]

**गजराज...वनराज और कपिराज**

गजराज जैनधर्म की कथा पढ़ रहे हैं। कपिराज और वनराज शांति से सुन रहे हैं।



- गजराज बने पार्श्वनाथ;
- वनराज बने महावीर;
- कपिराज बने गणधर।

यह तीनों जीव वर्तमान मोक्षपुरीमें विराज रहे हैं।

तीनों की कथा आप इस महापुराण में पढ़ना, और जैनधर्म के संस्कारों द्वारा अपना तथा अपने परिवार का कल्याण करना।

## (८)




**आनन्दरस से भरपूर ज्ञानगंगा प्रवाहित करनेवाले और जगत को शान्ति प्रदान करने वाले अद्वितीय चन्द्र, भगवान चन्द्रप्रभ जिनको नमस्कार हो!**

भगवान चन्द्रप्रभने पूर्व श्रीवर्मा के भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया, तबसे लेकर केवलज्ञान प्राप्त करते तीर्थंकर हुए तब तक के सात भवों का वह मंगल पुराण है।

चन्द्रप्रभ का जीव दूसरे पूर्वभव में 'पद्मनाभ' नामक राजा था, तब श्रीधर मुनिराज के निकट धर्मश्रवण करके अपने भूत एवं भविष्य के भव पूछता है। मुनिराज उसे भूतकाल के चार भव, वर्तमान पद्मनाभका भव और भविष्यकाल के दो भव - इस प्रकार कुल सात भव की बात करते है। वे सात भव संक्षेप में इस प्रकार हैं:-

१. श्रीवर्मा राजा: सम्यक्त्व की प्राप्ति (पूर्व भव छठवाँ)

२. प्रथम स्वर्ग में देव.... (पूर्व भव पाँचवाँ)

३. अजितसेन चक्रवर्ती; मुनिदीक्षा (पूर्वभव चौथा)

४. सोलहवें स्वर्ग में अच्युत इन्द्र...(पूर्व भव तीसरा)

५. राजा पद्मनाभ; दीक्षा; तीर्थंकर प्रकृति (पूर्व भव दूसरा)

६. वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र... (पूर्व भव १)

७. चन्द्रपुरी (काशी) में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का अवतार और मोक्ष

अब उनकी मंगलकथा सुनो।

## भगवान चन्द्रप्रभ : पूर्वभव : महाराजा पद्मनाभ

धातकी खण्ड के विदेहक्षेत्रमें रत्नसंचयपुर नामका नगर है। सम्यग्दर्शनादि उत्तम रत्नों से विभूषित ऐसे सज्जन-पुरुषों द्वारा उस नगरी की अद्भुत शोभा है। वहाँ सदाचारी श्रावक उत्तम जैनधर्म का पालन करके स्वर्ग में या मोक्षमें ही जाते थे। 'अरे, स्वर्ग में तो क्या है! वह तो यहाँ जैसा ही है'- ऐसा विचारकर सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षहेतु ही धर्मसाधन करते थे, स्वर्ग की इच्छा से नहीं।

उस रत्नसंचयपुर के राजा कनकप्रभ और रानी सुवर्णमाला; उनके पद्मनाभ नामका पुत्र है। वे पद्मनाभ ही अपने चरित्रनायक श्री चन्द्रप्रभका जीव है। (पद्मनाभ वह उनका दूसरा पूर्वभव है।)

एकबार राजा कनकप्रभ राजमहल की छतपर बैठे-बैठे नगर का अवलोकन कर रहे थे। इतनेमें देखा कि एक बूढ़ा बैल गहरे कीचड़ में धँस गया है और तड़पकर मर रहा है। वह देखकर राजा को वैराग्य जागृत हुआ और विचारने लगे कि-अरे! अभी भी मैं इस संसार के मोहरूपी कीचड़ में धँसा हुआ हूँ। मैने जिनागम जाने हैं, उत्तम साधुओं की संगति की है और संसार को असार जाना है; तो अब मैं इन इन्द्रिय सुखों में कहाँ तक आसक्त रहूँगा? -ऐसा विचार करने पर वे धर्मात्मा कनक राजा संसारसुखों से अत्यन्त विरक्त हो गये और तत्काल ही उनका चित्त मुनिमार्ग में प्रविष्ट हुआ, मानो मुक्ति के दूतने आकर गुप्तरूपसे उनके कानमें मुनि होने को कहा हो! उन्होंने तुरन्त अपने पुत्र पद्मनाभ को राज्य सौंपकर, श्रीधर मुनिराज के समीप मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली।

अब, वह रत्नसंचयपुर का राज्य अपने चरित्रनायक धर्मात्मा पद्मनाभने सँभाल लिया। एक दिन की बात है-राजा पद्मनाभ राजसभा में बैठे थे; वहाँ मालीने आकर हर्षपूर्वक बधाई दी कि-हे स्वामी! मनोहर बागमें श्रीधर मुनिराज पधारे हैं; उनकी मुद्रा अति शांत एवं तेजस्वी है; उनके आगमन से सारा वन ऐसे खिल उठा है मानो प्रफुल्लित होकर हँस रहा हो। हिरन और सिंह बाघ और हाथी, सर्प और मोर जैसे पशुपक्षी भी वैरभाव छोडकर शान्तिपूर्वक मुनिराजकी चरणछाया में हिलमिलकर मित्रता से बैठे हैं।...

इस प्रकार श्रीधर मुनिराज के आगमन के समाचार सुनते ही राजा पद्मनाभ के हृदय में हर्षका समुद्र उमड़ पड़ा, उसने हर्षित होकर अपना रत्नहार माली को पुरस्कार में दे दिया। 'अहा! मैं जिनके दर्शन को जाना चहाता था वे भगवान स्वयं मेरे आँगन में पधारे हैं ऐसा कहकर तुरन्त ही मुनिराज के साक्षात् दर्शन वन्दन हेतु प्रस्थान किया।

राजा पद्मनाभने मुनिराज के समीप आकर जयजयकारपूर्वक दर्शन-वन्दन किया और उनके चरणों में बैठ गया। राजा को अत्यन्त प्रसन्नता हो रही थी। मुनिराजने उसे धर्म का आशीर्वाद दिया।

राजाने विनयपूर्वक तत्त्वोपदेश की प्रार्थना की कि-हे स्वामी! वर्तमान में अनेक जीव नास्तिक बन रहे हैं, जीव के अस्तित्व को नहीं जानते, इसलिये आप युक्तिपूर्वक जीवके अस्तित्व की सिद्धि करके समझाइये जिससे जीवोंका कल्याण हो, क्योंकि जीवका अस्तित्व सिद्ध हो तभी धर्म और मोक्ष की सिद्धि होगी।

श्री मुनिराजने कहा: हे बुध्दिमान राजन्! आपने अच्छा प्रश्न पूछा है। सुनो, मैं जीव की सत्ता सिध्द करके बतलाता हूँ-

★ 'जीव नहीं' है' यह बात प्रत्यक्षादि प्रमाणों से खण्डित है।

★ 'जीव नेत्र द्वारा दिखायी नहीं देता इसलिये नहीं है' ऐसा कहना तो मूर्खता है। 'इस मकान आदि सबको मैं देखता हूँ'-ऐसा कौन कहता है?-देखनेवाला जो विद्यमान है वही ऐसा कहता है कि 'मैं देखता हूँ'-इसलिये जीव विद्यमान है।

★ चाहे जैसे अंधकारमें भी जीव कहता है कि "मैं यहाँ विद्यमान हूँ"-ऐसा स्वयं स्वसंवेदन के अपने अस्तित्व को प्रसिद्ध करता है, वही जीव है। 'मैं हूँ' ऐसा वेदन जीव में होता है, शरीर में नहीं।

★ शरीर के हाथ-पैर आदि अवयव कट जायें तथापि ज्ञान नहीं कट जाता, कम नहीं हो जाता; इससे सिद्ध होता है कि चेतनसत्ता शरीर से भिन्न है कि जिसके आधार से ज्ञान रहा है। ज्ञान यदि शरीर के आधार से होता तो शरीर के कटने से ज्ञान भी कट जाता।

★ जगतमें जितने प्राणी हैं उन (मनुष्य, हाथी, सिंह, चींटी आदि) सबमें 'जीव' का अस्तित्व स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध है, क्योंकि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ'-ऐसा सुख-दुःखका वेदन (ज्ञान) प्रत्येक जन्तु को होता है। जीव के बिना सुख-दुःखका वेदन कौन करेगा? स्वको तथा परको जाने ऐसा ज्ञान का स्वभाव है, और ऐसा जो ज्ञान स्वभाव है वही जीवसत्ता है।

इस प्रकार मुनिराजने ज्ञानलक्षण द्वारा जीवके अस्तित्व को सिद्ध करके कहा कि-हे राजन्! जीवके ऐसे अस्तित्व को जो जानता है वह स्वर्ग-नरकादि परभव को भी स्वीकारता है, इसलिये पाप से डरता है और धर्म का सेवन करता है।

शरीर से भिन्न जीवकी सिद्धि करते हुए मुनिराज कहते हैं कि-अचेतन शरीरसे जीव भिन्न है: शरीर तो ज्यों का त्यों हो, तथापि जीवमें विकार (दुःख, क्रोधादि) होते देखे जाते हैं; तथा शरीर में रोगादि विकार होने पर भी अथवा उनके जलने पर भी जीवके चित्त में शान्ति रह सकती है; इस प्रकार जीव और शरीर के कार्य (धर्म) भिन्न-भिन्न हैं। तथा हे राजन! शरीर चेष्टाएँ तो आँखो से दिखती हैं, परन्तु आत्माके भाव आँखो से दिखायी नहीं देते;-इस प्रकार दोनों के धर्म (मूर्तपना तथा अमूर्तपना) भिन्न हैं।

इस प्रकार श्रीधर मुनिराज ने स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे तथा अनुमान द्वारा चेतनस्वरूप जीवका अनादि-अनन्त अस्तित्व सिद्ध करके समझाया; प्रत्येक जीव ऐसा अनुभव करता है कि पाप-पुण्य, दुःख-सुखादि रुप अपने भाव सदा बदलते रहते हैं, और उस बदलती दशा के द्वारा वह धर्म एवं मोक्ष को साध सकता है। इस प्रकार नित्य-अनित्य (गुण-पर्याय) स्वरूप जीवतत्त्व में ही बंध-मोक्षादि की सिद्धि होती है। जीव सर्वथा अकर्त्ता या अपरिणामी नहीं है। विचारणीय बात है कि-जीव यदि अच्छे-बुरे कार्यों को (शुभ-अशुभ भावोंको) न करे तो उसे पुण्य-पाप क्यों होंगे? और स्वर्ग-नरक भी क्यों होंगे? और यदि पुण्य-पाप का बंधन न हो तो उससे छूटनेरूप मोक्ष या मोक्षका उपाय (धर्म) भी किसलिये करे? जीव दयादि शुभकार्यों द्वारा पुण्यबंध करता है और हिंसादि अशुभ-कार्यों द्वारा पापबंध करता है; वीतराग भावरूप धर्म द्वारा वह बंध को छेदकर मोक्ष करता है। इस प्रकार जीव अपने भावका कर्ता होता है और उसके फलका (सुख-दुःखका) स्वयं ही भोक्ता होता है।

जीवको बंधन या मुक्ति यदि दूसरा कोई करे, तो उसका फल भी आत्मा क्यों भोगे? जीव स्वयं ही अपने बंध-मोक्ष को करता है और स्वयं ही उसके फलको भोगता है। जब रत्नत्रयरूप शुद्धभाव करता है तब वह रागादि विभावका अकर्ता होता है, परन्तु सर्वथा अकर्ता नहीं है। ऐसा स्वतंत्र, स्वयंसिद्ध जीवतत्त्व है और वह अपने अंतरंग स्वसंवेदन से अनुभवगोचर होता है।

श्री मुनिराज के उपदेश से राजा पद्मनाभ को तथा सभाजनों को अत्यन्त प्रसन्नता हुई; अनेक जीव जीवतत्त्व को अनुभव गोचर करके सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान को प्राप्त हुए।

तत्पश्चात् सर्वज्ञता की सिद्धि करते हुए मुनिराज ने कहा कि-सर्वज्ञतारूप मोक्षपद है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और उस ज्ञान की पराकाष्ठा वह सर्वज्ञता है। उस सर्वज्ञता की सिद्धि अंतरके आत्मानुभवपूर्वक जो युक्ति-अनुमानादि से होती है।

★ जो 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' है वह अतीन्द्रिय पदार्थ की सिद्धि में न तो साधक हो सकता है, और न बाधक।

★ सर्वज्ञता अतीन्द्रिय है; इसलिये इन्द्रियज्ञान उसके सद्भाव को या अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता। जिस ज्ञान का जो विषय हो वही उसमें विधि या निषेध कर सकता है; जिसका जो विषय न हो वह उसमें विधि या निषेध नहीं कर सकता।

★ जगत में ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि जो सर्वज्ञता के अस्तित्व को बाधक हो सके।

कोई कहे कि-पुरुषपना सर्वज्ञता का बाध्य है! तो वह बराबर नहीं है; पुरुषपना होने पर भी किसीमें ज्ञानके अतिशयरूप सर्वज्ञता हो सकती है। (जैसे कि-अरिहंत देव।)

"सर्वज्ञ हैं" ऐसे वाक्य के बोध द्वारा उत्पन्न हुई बुद्धि वह प्रमाण है, और वह बुद्धि सर्वज्ञके अस्तित्व को स्वीकार करती है। सर्वज्ञ के स्वीकार से आत्मा के ज्ञानस्वभाव का स्वीकार और रागादि विभावों से भेदज्ञान होता है, इसलिये आत्मा निज स्वभाव की सन्मुखता द्वारा सर्वज्ञपद का साधक होता है। यह बात प्रसिद्ध है कि-

जो जानता जिनराज को चेतनमयी शुद्ध भावसे;
वह जानता निज आत्म को सम्यक्त्व ले आनन्द से।

श्री मुनिराजने इस प्रकार सर्वज्ञता की सिद्धि पूर्वक गंभीर उपदेश दिया और मोक्षमार्ग की रीति समझायी।

श्रीधर मुनिराज के मुखारविन्दसे ऐसी अद्भुत धर्मचर्चा सुनकर, चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के जीव राजा पद्मनाभने भक्तिपूर्वक कहा-प्रभो! आपने जैन सिद्धान्त के जो गंभीर तत्त्व-जीव मोक्ष, सर्वज्ञता आदि समझाये वे वैसे ही हैं; उसी प्रकार हमारे श्रद्धा-ज्ञान में आते हैं और वही मोक्षका मार्ग है। इतना कहकर राजा पद्मनाभने विनय से पूछा-हे प्रभो! आप दिव्यज्ञान के धारी हैं; अपने भूत-भविष्यके भव जानने की मुझे उत्कण्ठा है, इसलिये कृपा करके कहिये।

श्री मुनिराजने दिव्यज्ञान द्वारा जानकर कहा कि हे भव्य, सुनो! अब एक भवके पश्चात् तुम्हारा आत्मा भरतक्षेत्र में आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ होगा। तुम्हारे पूर्व के भव भी मैं कहता हूँ...

मुनिराजके श्रीमुख से यह बात सुनते ही सभाजनों में हर्ष छा गया कि-अहा, एक तीर्थंकर का आत्मा यहीं अपने बीच विराजमान है...और उन तीर्थंकर के पूर्व भव की बात मुनिराज हमें सुना रहे हैं। -इस प्रकार सभाजन महान हर्षपूर्वक सावधानी से सुनने के लिये आतुर हो गये...और श्री मुनिराजने पद्मनाभ राजा अर्थात् चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के पूर्वभवों की मंगल कथा प्रारम्भ की...तुम भी आनन्द से सुनो।

# श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का पूर्वभव (छठवाँ)

## श्रीवर्मा राजा : सम्यक्त्व-प्राप्ति

मुनिराज कहते हैं-हे राजा पद्मनाभ! प्रथम तो इस भवमें ही एक हाथी के निमित्तसे तुम मुनि होगे, और दर्शनविशुद्धि आदि १६ उत्तम भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म बाँधोगे। भरतक्षेत्र की इस चौबीसीमें अभी तक ऋषभादि सात तीर्थंकर हो चुके हैं; वर्तमान में वहाँ कोई तीर्थंकर विचरण नहीं करते। एक भव पश्चात् तुम वहाँ आठवें तीर्थंकर रूप में अवतरित होगे और धर्मचक्रका प्रवर्तन करोगे।

अहा, एक तीर्थंकर का जीव अपने भूत-भविष्य के वर्णन की कथा मुनिराज के श्रीमुखसे सुन रहा है :

हे राजन्! अब से पूर्व पाँचवें भव में तुम पुष्करार्द्ध द्वीप के विदेहक्षेत्र में श्रीषेण राजा के पुत्र श्रीवर्मा थे। वे राजा श्रीषेण श्रीपुर नामके नगरमें राज्य करते थे; उनकी रानी का नाम श्रीकान्ता था। तुम्हारे जन्मसे पूर्व उनके कोई पुत्र न होने से वह रानी चिन्ता में रहती थी। उसे उदास देखकर राजा समझाते कि हे देवी! "जो वस्तु भाग्य के आधीन है उसके लिये चिन्ता करना उचित नहीं है; इसलिये तुम चिन्ता छोड़ो और धर्म में अपना चित्त लगाओ। जीवने पूर्वभव में जो भले-बुरे कर्म बाँधे हों तदनुसार फल मिलता है; उसमें हर्षशोक करना वह वृथा दुःखका कारण है। और हे देवी! भाग्य अनुकूल होने पर पुत्रप्राप्ति भी अवश्य होगी।"

इस प्रसंग के पश्चात् एक दिन श्रीषेण राजा फल और पुष्पों से आच्छादित एक उद्यान में क्रीड़ा करने गये थे। महान भाग्योदय से एक ऋद्धिधारी मुनिवर आकाशमार्ग से वहाँ उतरे। वे अनंत मुनिराज अवधिज्ञानी थे। उन्हें देखते ही राजा के हर्ष का पार नहीं रहा। उन्हें वन्दन करके राजा ने भक्तिपूर्वक कहा- अहो! किसी महान पुण्योदय से आपके दर्शन हुए। प्रभो! आपकी रत्नत्रयविभूति सर्व मंगल का कारण है। हे स्वामी! जैनधर्म के प्रताप से स्व-पर का भेदज्ञान मैंने किया है: इस राजवैभव में कहीं सुख नहीं है; ऐसा अनुभव होने पर भी मेरा मन संसार से विरक्त क्यों नहीं होता?

श्री मुनिराज उनके मन की बात जान गये...और कहा-हे राजन्! तुम्हारा मन पुत्रप्राप्ति की चिन्ता से घिरा हुआ है। अब कुछ ही काल पश्चात् तुम्हारे यहाँ एक भावी तीर्थंकर का जीव पुत्ररूप में अवतरित होगा; तत्पश्चात् उसे राज्यभार सौंपकर तुम जिनदीक्षा ग्रहण करोगे और अष्ट कर्मों का नाश करके सिद्धपद पाओगे। तुम्हारी रानी श्रीकान्ता ने पूर्वजन्म में एक गर्भवती स्त्री की पीड़ा तथा कुरूपता देखकर ऐसा निदान किया था कि मुझे यौवनावस्था में गर्भधारण न हो। उस अशुभनिदान के कारण ही उनका यौवन पुत्ररहित व्यतीत हुआ। अब उनके अशुभ कर्मका अन्त आया है; वे अल्पकाल में ही पुत्रवती होंगी...भावी तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीव उनकी कूख से अवतरित होगा और उन्हें आनन्दित करेगा।

मुनिराज के वचन सुनकर राजा का चित्त अति प्रसन्न हुआ; धर्मोपदेश से प्रभावित होकर उन्होंने पाँच अणुव्रत अंगीकार किये। घर आकर रानीसे मुनिराज की बात की, तो रानी भी अति सन्तुष्ट हुई और उल्लासपूर्वक धर्मसाधन करने लगी। अहा! जिसके उदर में भावी तीर्थंकर का जीव विराजता हो उसके महाभाग्य का क्या कहना!

योग्य समय पर श्रीकान्ता रानी ने एक अद्भुत तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया...जो सातवें भव में भरत क्षेत्र में आठवें तीर्थंकर होनेवाले हैं...उनके जन्म से सर्वत्र आनन्दमंगल होने लगा। राजाने याचकों को यथोचित इच्छानुसार दान दिया। जिनेन्द्र-पूजा आदि मंगलविधिपूर्वक उस पुत्रका 'श्रीवर्मा'

ऐसा शुभनाम रखा। (यह श्रीवर्मा ही भावी आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ हैं।)

## चन्द्रप्रभ को श्रीवर्मा के भवमें सम्यक्त्वप्राप्ति

एक बार उस श्रीपुर नगरी में पद्मजिनराज का आगमन हुआ। राजा श्रीषेण अपने पुत्र श्रीवर्मा सहित उनका धर्मोपदेश सुनने गये। अद्भुत-आश्चर्यकारी-आनन्दमय आत्मतत्त्व का स्वरूप सुनकर वे मुग्ध हो गये। अपने चरित्रनायक चन्द्रप्रभ का जीव (युवराज श्रीवर्मा) तो वह जिनोपदेश झेलकर तुरन्त ही अंतर्मुख हुआ; उसकी ज्ञानचेतना जागृत हो उठी और मिथ्यात्वरूपी महा अंधकार नष्ट हो गया; चैतन्य की स्वानुभूति से अपूर्व सम्यक्त्व प्राप्त करके वह चतुर्थ गुणस्थान में आरूढ़ हुआ...अंतरात्मा होकर मोक्षमहल का प्रथम सोपान चढ़ गया; उसने अपने में ही परमात्मा के दर्शन कर लिये। इस प्रकार अपूर्व निधान पाकर उसका जीवन पलट गया। सम्यक्त्व के सहयोग से जो विशिष्ट पुण्यकर्मों का संचय होता है वह स्वयमेव इच्छित पदार्थों का समागम करता रहता है; इसलिये धर्मात्मा श्रीवर्मा भी बाहरमें इच्छित पदार्थों की प्राप्ति करते थे; अंतर का सत्य अतीन्द्रिय सुख उनको सम्यक्त्व-परिणति देती थी।

अहो, जिन चरणों में सम्यक्त्व के प्रताप से आत्मा की अपूर्व आराधना प्रारम्भ हुई वह अब वृद्धिंगत होती-होती सातवें भव में परमात्मा पद प्राप्त करायगी। चैतन्यसुख का आस्वादन किया होने से उन राजकुमार श्रीवर्मा का चित्त राज-सुखों से उदासीन रहता था। धन्य था उनका आत्मजीवन!

महाराज श्रीषेण का चित्त भी केवलीप्रभु का उपदेश सुनने के बाद संसार-भोगों से उदासीन एवं भव से भयभीत रहता था। एक दिन आकाश से नक्षत्र को खिरते देखकर वे महाराजा श्रीषेण संसार-भोगों से विरक्त हुए और वैराग्यपूर्वक चिंतवन करने लगे कि-'अरे, इस अस्थिर संसार-परिवार या राजलक्ष्मी का मोह कैसा? एक मोक्षलक्ष्मी और दूसरी यह जड़लक्ष्मी-उन दोमें से अज्ञानी लोग मोक्षलक्ष्मी की साधना छोड़कर जड़लक्ष्मी का मोह करते हैं। अरे, उनकी बुद्धि की बलिहारी है कि चैतन्य का अमृतपान छोड़कर वे विषयों का विष पीने जाते हैं। सच्ची लक्ष्मी तो मोक्षलक्ष्मी ही है। विषयरहित निग्रर्न्थ वीतराग दशामें ही परमसुख है।'

ऐसा विचारकर उन्होंने राजकुमार श्रीवर्मा को बुलाया और विरक्तभाव से कहा-हे वत्स! घास की झोंपड़ी समान इस शरीर को वृद्धावस्थारूपी पवन बिखेर न दे, धर्मश्रवण के लिये कानों की शक्ति तथा नेत्रों की ज्योति मन्द न हो जाये, तथा स्मरणशक्ति नष्ट न हो जाय, उसके पूर्व मैं निर्ग्रन्थ दीक्षा लेकर अपने आत्मा को भवचक्र से छुड़ाना चाहता हूँ। अभी तक तो संसार का स्वरूप जानने पर भी मैं परिवार के मोहवश जंजाल में फँसा रहा; अब मैंने शीघ्र आत्मकल्याण साध लेने का निश्चय किया है। हे पुत्र! इस धर्मकार्य में तुम मेरा अनुमोदन करना। अब यह राज्यभार तुम सँभालो। सदा प्रशांत भावसे रहना; धर्मात्मा-सज्जन-विद्वानों का आदर करना; प्रजाजनों को पुत्रवत् समझकर उन्हें कोई कष्ट हो तो तुरन्त उसका निवारण करना। धर्म की रक्षापूर्वक राज्य करना।

इस प्रकार हितोपदेश सहित श्रीवर्मा का राज्याभिषेक करके श्रीषेण महाराजाने मुनिदीक्षा अंगीकार की। शुद्धभाव से रत्नत्रय की साधना करके अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट किया और सर्वकर्मों का क्षय करके मोक्ष पधारे।

❖ ❖ ❖

इधर श्रीपुरनगरी में राजा श्रीवर्मा (जो कि चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का जीव हैं) आत्मसाधना को भूले

किया, न्याय-नीतिपूर्वक कुशलता से राज्य करने लगे। जो तीसरे भवमें चक्रवर्ती होनेवाले हैं, पाँचवें भवमें तीर्थंकर प्रकृति बाँधनेवाले हैं और सातवें भवमें तीर्थंकर होनेवाले हैं-ऐसे वे श्रीवर्मा राजा जब दिग्विजय के लिये निकले तब अनेक राजा तो भयभीत होकर शरण में आ गये; कितने ही राजा युद्ध की हिंसासे डरकर संसार से विरक्त हुए और राजपाट छोड़कर जिनेश्वर भगवान की शरण में चले गये। इस प्रकार विजय करते-करते राजा श्रीवर्मा समुद्रकिनारे पहुँचे तब उनके पुण्यप्रभाव से समुद्र की लहरों के साथ चमचमाते मोती-रत्न भी खिंचकर किनारे आने लगे...मानो समुद्रभी उनकी आधिनता स्वीकार करके, मोती-रत्नों की भेंट रखकर भावी तीर्थंकर का सन्मान कर रहा हो।

दिग्विजय करके वे राजा श्रीवर्मा पुनः नगरी में आये और सुखविलासपूर्वक राज्य करने लगे। एक मोक्ष पुरुषार्थ के अतिरिक्त धर्म, अर्थ और काम यह तीनों पुरुषार्थ उनको सिद्ध हो चुके थे और चौथे मोक्षपुरुषार्थ का उद्यम कर रहे थे।

एक बार शरदऋतु के क्षणभंगुर बादलों को देखकर संसार की क्षणभंगुरता का चिन्तवन करके वे संसार से विरक्त हो गये और श्रीप्रभ मुनिराज के निकट जिनदीक्षा अंगीकार कर ली; रत्नत्रय की आराधनापूर्वक समाधिमरण करके वे राजा श्रीवर्मा सौधर्मस्वर्ग में श्रीधर नामक देव हुए।

❋ ❋ ❋

## श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का पूर्वभव : चौथा धातकी खण्ड में अजितसेन चक्रवर्ती

श्री मुनिराज कहते हैं-हे राजा पद्मनाभ! पहले जो श्रीवर्मा राजा था; वर्तमान में जो पद्मनाभ है और,एक भव बाद जो चन्द्रप्रभ तीर्थंकर होनेवाला है-ऐसा तुम्हारा आत्मा पाँचवें पूर्वभव में सौधर्म स्वर्ग में था; वहाँ से चयकर चौथे पूर्व भव में धातकी खण्ड की कौशल नगरी में राजकुमार अजितसेन के रुप में अवतरित हुआ। उनके पिता का नाम महाराज अजितंजय और माता अजितसेना। गुणवान तेजस्वी पुत्रको देख कर वे अति प्रसन्न हुए। अहा, भावी तीर्थंकर को अपने घरमें देखकर कौन प्रसन्नता का अनुभव नहीं करेगा ? !

अपने चरित्रनायक राजकुमार अजितसेन एकबार राज सभा में बैठे थे...आनन्दमय चर्चा चल रही थी; इतने में उनके पूर्वभव का शत्रु कोई दुष्ट देव वहाँ आया और सभाजनों को मूर्च्छित करके उन राजकुमार का अपहरण कर ले गया।

मूर्च्छा दूर होने पर राजाने घबराकर सभा में देखा तो वहाँ राजकुमार को न देखकर उन्हें चित्तभ्रम हो गया कि अरे, यह क्या हुआ ? राजकुमार कहाँ गया ? उनकी महारानी भी पुत्रके वियोगमें हाहाकार करके रोने लगीं; पुत्र के वियोग से दोनों का संसार नीरस हो गया। अरे, हमारा पुत्र कहाँ चला गया...अब हम उसे कब देखेंगे! ऐसी चिन्ता में क्षणभर तो दोनों मूर्च्छित हो गये।

थोड़ी देर में मूर्च्छा दूर होने पर राजाने आँखें खोल कर ऊपर दृष्टि की...तो...अहा हा! उसके आश्चर्य का पार नहीं रहा। उसने देखा कि आकाश में से,एक महान तपस्वी ऋद्धिधारी मुनिराज उनकी ओर आ रहे हैं...पूर्णिमा के चन्द्र समान उन मुनिराज को देखते ही राजा सब दुःख भूल गये। मुनिराज ज्यों-ज्यों निकट आते गये त्यों-त्यों राजा के हृदय में आनन्द का सागर उमड़ने लगा...सच ही है-मुमुक्षु आत्मा, धर्मात्मा का संग होने से दुनिया के दुःख भूल जाता है। उन राजा को अपने प्राणप्रिय पुत्र के

वियोग का उतना शोक नहीं हुआ था जितना मुनिराज के पधारने से सन्तोष और हर्ष हुआ। वास्तव में इतने सन्तोष का अनुभव उसे जीवन में प्रथम बार हुआ था।

श्री मुनिराज ने राजा को मंगल आशीर्वाद दिया और कहा कि-'हे भव्य! तुम चरमशरीरी हो।' अहा, उनके वात्सल्य की क्या बात! वह वात्सल्यपूर्ण आशीर्वाद लेकर राजा का हृदयकमल आनन्द से खिल उठा। अहा! मुनि के श्रीमुख से अपने मोक्ष की बात सुनकर किसे आनन्द नहीं होगा?!

राजाने आनन्दित होकर कहा: प्रभो! मुझे कल्पना भी नहीं थी कि अभी किन्हीं मुनिभगवन्त के दर्शन होंगे! जब मैं पुत्रवियोगरुपी दुःखसमुद्र में डूब रहा था और मेरा मन मूढ़ हो गया था उस ठीक समयपर आपके आगमन से तथा दर्शन से मुझे नवजीवन मिला है; आपने मुझे दुःख के सागर से बाहर निकाला है; आप मेरे परम हितैषी बन्धु हो!

श्री मुनिराज ने कहा-हे भव्य! मैं आकाशमार्ग से जा रहा था, तब मैंने देखा कि तुम पुत्रवियोग से दुःखी हो रहे हो...तुम्हारे गुणों के अनुराग से प्रेरित होकर मैं यहाँ आया हूँ। हे राजन्! तुम तत्त्वज्ञानी हो, तुम्हें स्व-पर का भेदज्ञान है और संसार का स्वरुप जानते हो। तुम्हें इस असार संसार की स्थिति बतलाना वह तो '*इन्द्र के निकट स्वर्ग का वर्णन*' करने समान है। तथा तुम इसी भव में मोक्षगामी चरम शरीरी हो; इसलिये तुमसे अधिक क्या कहना? चित्तमें से इष्टवियोग का विषाद दूर करो। हे राजन्! इस प्रसंगपर कायरता छोड़कर धैर्य धारण करो...और वीरपुरुष की भाँति धर्म में सावधान होओ।

तथा हे राजन्! (मुनि कहते हैं -) अवधिज्ञान से जानकर मैं कहता हूँ कि तुम्हारा पुत्र कुशल है, उसका कुछ भी अमंगल नहीं होगा। वह भावी तीर्थंकर है और कुछ ही दिनों में अनेक प्रकार की समृद्धिसहित आकर तुमसे मिलेगा।

इतना कहकर आशीर्वाद देकर मुनिराज आकाश मार्ग से विहार कर गये। मुनिराज के वचनों से राजा का चित्त शांत हुआ और धर्मध्यान में विशेषरुप से उद्यमी हुआ।

❖ ❖ ❖

दूसरी ओर, जो दुष्ट देव अजितसेन राजकुमार का अपहरण कर ले गया था, उसने उन राजकुमार को मगरमच्छ से भरे हुए एक सरोवर में फेंक दिया। परन्तु पुण्यप्रताप से राजकुमार किनारे आ गये। चारों ओर घोर जंगल था। सिंह, बाघ और हाथियोंसे भरे हुए उस वनमें चलते-चलते वे एक सुन्दर पर्वत पर पहुँचे। वहाँ हिरण्य नामका एक देव रहता था; वह उनकी शूरवीरता देखकर प्रसन्न हुआ और बोला-हे पुण्यात्मा! मैं आपका सेवक हूँ, इसलिये आपसे कुछ माँगने के लिये तो कैसे कह सकता हूँ? परन्तु जब आप याद करोगे तब मैं आपकी सेवा में उपस्थित होऊँगा...क्योंकि पूर्वजन्म में आपने मुझ पर उपकार किया है।

'किस प्रकार?' ऐसा राजकुमारके पूछने पर उस देवने कहा पूर्वभवमें मैं सूर्य नामका किसान था, तब चन्द्र नामके किसानने मेरा धन चुरा लिया था; वह धन आपने मुझे वापिस दिलाया था और चन्द्र को मृत्युदण्ड दिया था। वह चन्द्र मरकर भवमें भटकते भटकते चण्डरुचि नामका असुर देव हुआ है, और वही पूर्व भव के बैर से आपका अपहरण करके आपको यहाँ लाया है। मैं जो सूर्य नाम का किसान था वह अब हिरण्यदेव हुआ हूँ और अपने पर किये गये आपके उपकार का बदला देने आया हूँ। ऐसा कहकर, राजकुमार को उस वन के बाहर रखकर वह देव अदृश्य हो गया।

राजकुमारने आश्चर्यपूर्वक एक नगरी में प्रवेश किया; उसका नाम था विपुलनगरी; वहाँ के नगरजन

धन-धान्यादि से सुखी थे, परन्तु एक शत्रु राजा के भयसे अत्यन्त भयभीत थे। अजितसेन राजकुमार ने उस राजा को पराजित करके उनके भयको निर्मूल कर दिया और वहाँ की राजकुमारी से विवाह करके अपनी कौशलनगरी लौट आये। प्रतापी पुत्र के पुनरागमन से माता-पिता को अपार हर्ष हुआ। स्नेहपूर्ण स्वागत करके भावी तीर्थराज उन राजकुमार का राज्याभिषेक भी कर दिया। उनके महान पुण्यप्रताप से कुछ काल पश्चात् उनके राजभण्डार में सुदर्शनचक्र तथा तलवार आदि सात अजीव रत्न प्रगट हुए; तथा सेनापति आदि सात जीवरत्न भी उन्हें प्राप्त हुए; इस प्रकार १४ रत्नधारी चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ; और धर्मकी आराधना के प्रताप से अब तीन भव के पश्चात् वे धर्मचक्री होंगे।

१४ रत्नों के उपरान्त नवनिधियाँ भी प्राप्त हुई थीं-जो उन्हें इच्छित सामग्री प्रदान करती थीं। इस प्रकार नवनिधि और १४ रत्न प्राप्त होने पर भी वे धर्मात्मा अपने चैतन्यनिधान में से प्राप्त सम्यक्त्वादि रत्नों के समक्ष उस बाह्यवैभवको तुच्छ समझते थे। वे चक्रवर्ती अजितसेन अपने बंधुजनों सहित प्रतिदिन धामधूमसे अरिहंत देव की पूजा करते और धातकी खण्ड द्वीप के भरतक्षेत्र का छह खंड का राज्य भी सँभालते थे। आश्चर्यजनक थी उनकी परिणति!

एक बार उन अजितसेन चक्रवर्ती की राजधानी कौशल (अयोध्या) नगरी में धर्मचक्री स्वयंप्रभतीर्थंकर का पदार्पण हुआ। 'प्रभुजी पधारे हैं' यह सुनते ही चक्रवर्ती को महान हर्षोल्लास हुआ...और तुरन्त ही धामधूम से प्रभुदर्शन के लिये चल दिये। साक्षात् तीर्थंकर के दर्शन से भावी तीर्थंकर को कैसा आनन्द हुआ? कि जैसा आनन्द स्वानुभूति में परमात्मा को देखने से धर्मात्मा को होता है। वैसा यद्यपि दो तीर्थंकरों का मिलन नहीं होता तथापि यहाँ तो,एक 'भाव-तीर्थंकर' और दूसरे 'भावी तीर्थंकर' (एक वर्तमान भावनिक्षेपरुप और दूसरे द्रव्यनिक्षेपरूप)-ऐसे दो तीर्थंकरों का मिलन हुआ। द्रव्यतीर्थंकर ने भावतीर्थंकर को वन्दन किया।

अहा, उन तीर्थस्वरुप सर्वज्ञ परमात्मा की आराधना गणधर और इन्द्र भी करते थे; मनुष्यों के इन्द्र ऐसे चक्रवर्ती भी प्रभुके आराधक थे। वह देखकर लोग समझ जाते थे कि इन्द्रपद या चक्रवर्ती पद के वैभव की अपेक्षा से आत्मा के इस सर्वज्ञ पद का वैभव महान है। उस आत्मवैभव के समक्ष संसार के समस्त वैभव तुच्छ हैं।

अपने चरित्रनायक चक्रवर्ती अजितसेन तथा उनके पिता अजितंजय महाराज भी स्वयंप्रभ तीर्थंकर के दरबार में प्रभुदर्शन करके जिनवाणी का श्रवण करने बैठे। तीन काल तीन लोक के समस्त पदार्थ जिनके ज्ञान में स्पष्ट झलक रहे हैं ऐसे उन परमात्मा की वाणी में तत्वों का अद्भुत स्वरुप आया; और सर्वतत्त्वों में श्रेष्ठ शुद्धात्मा की अनुभूति ही जीव को मोक्षका कारण है-ऐसा उपदेश प्रभुने दिया।

पश्चात् राजा अजितंजयने हाथ जोड़कर पूछा: हे देव! इस संसार में जीव शुभाशुभकार्यों से क्यों बँधता है? और उनसे कैसे छुटकारा होगा?

भगवान ने आश्चर्यकारी दिव्यध्वनि द्वारा उसका उत्तर दिया; परन्तु विशेषता यह थी कि भगवान की दिव्य वाणी खिरने पर भी उनके ओष्ठ नहीं हिलते थे; सम्पूर्ण शरीर में से कोई अद्भुत ध्वनि उठती थी। उसमें भगवान ने कहा-

हे भव्य! जीव का स्वभाव उपयोगमय है; उस उपयोग में क्रोध नहीं है, क्रोधकरनेका उसका स्वभाव नहीं है; तथापि जीव जो क्रोधादि कषायभाव करता है उसके कारण वह पुण्य-पापरूप कर्मोंसे बँधता है; फिर चाहे वह कषाय अशुभ हो या शुभ हो; उन कर्मों के द्वारा संसार भ्रमण करके जीव दुःखी होता है। और जब जैनधर्म पाकर वह उपयोग और क्रोध का भेदज्ञान करता है तब, क्रोध से

किन्तु ऐसा शुद्ध उपयोग ही वह करता है; उस शुद्ध उपयोग द्वारा नवीन कर्मों का बंध नहीं होता और पुराने बँधे हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है इसलिये जीव मोक्षसुख प्राप्त करता है। इस प्रकार कषायों द्वारा जीव बँधता है और वीतरागी शुद्धोपयोग द्वारा वह मोक्ष प्राप्त करता है:-

जीव रागी बांधे कर्म को, वैराग्यगत मुक्ति लहे।
ये जिनप्रभु उपदेश है नहिं रक्त हो तू कर्म से।

कषाय और उपयोग की भिन्नता के भेदज्ञान द्वारा जीव को आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं। भेदज्ञान होने के पश्चात् भी जब तक जीव स्त्री-पुत्र-परिवारादि के मोह में फँसकर अव्रती रूप से रहता है तब तक वह सर्व कर्मों से छुटकर मोक्ष प्राप्त नहीं करता। इसलिये संसार-दुःख से भयभीत होने वाले मोक्षार्थी जीव को रत्नत्रयधर्म की पूर्ण आराधना कर्तव्य है। चारित्र रहित सम्यग्दर्शन, अथवा सम्यग्दर्शन रहित चारित्र, वह मोक्ष को नहीं साध सकता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों की सम्पूर्णता ही मोक्षको साधती है। इसलिये वह मुमुक्षु जीव का कर्तव्य है।

इस प्रकार जिनेन्द्र देव की वाणी में बँध का तथा मोक्ष का स्वरूप सुनकर, उन राजा अजितंजय का चित्त संसार से विरक्त हो गया; राजपाट छोड़कर उन्होंने साक्षात् मोक्षमार्गरूप श्रामण्य अंगीकार किया और शुद्धोपयोग में लीन हो गये।

अपने चरित्रनायक चक्रवर्तीको सम्यग्दर्शन तो पहलेसे था; उनके परिणामों में विशुद्धि हुई, उनका ज्ञानोद्यान खिल उठा; परन्तु चक्रवर्ती पद को छोड़कर वे मुनि नहीं हो सके। मुनिपद की भावना पूर्वक जिनदेव की वन्दना करके तथा अभी मुनि हुए अपने पिताश्री के चरणों की पूजा करके, भावि तीर्थंकर ऐसे उन चक्रवर्ती ने अपनी कौशलनगरी में पुनः प्रवेश किया और राज्य का संचालन करने लगे। देश के समस्त राजा-महाराजा उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करते थे; मात्र राजा ही नहीं, किन्तु छह खण्ड में रहनेवाले व्यन्तर देवों को भी उन्होंने वश कर लिया था। यद्यपि हजारों देव उनकी सेवा करते थे परन्तु वे स्वयं तो "दास भगवन्तके उदास रहें जगत सों" ऐसा जीवन जीते थे। उन्हे चौदह रत्नोंकी नहीं, चौदह गुणस्थानोंकी इच्छा थी; नवनिधानों में उनका चित्त नहीं लगता था, उन्हे तो नव क्षायिकलब्धि की आकांक्षा थी।

[हम पढ़ रहे हैं चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की कथा-और उसमें उनके चौथे भव के यह वर्णन चल रहा है-जिसमें वे अजितसेन नामके चक्रवर्ती हैं।]

भावी भगवान ऐसे वे अजितसेन चक्रवर्ती छह खण्ड की दिग्विजय करने पर भी अंतर में अपने अखण्ड चैतन्यतत्त्वको नहीं भूले थे। छह खण्ड की प्रजा के हृदय में बसने पर भी उनके हृदय में तो पंचपरमेष्ठीका ही निवास था... बाह्य में पंचेन्द्रिय-विषयोंकी पूर्णता होनेपर भी उनसे उनका चित्त विरक्त था, वह तो पंच परमपद की पूर्णता को साधने में अनुरक्त था। गृह-स्थ होने पर भी उनकी चेतना तो चैतन्यस्थ थी, इसलिये गृही होनेपर भी वे मोक्षमार्गी थे। अब मात्र तीन भव के पश्चात तो वे तीर्थंकर होकर सिद्धालय में पहुँचने वाले थे।

उन आत्म साधक धर्मात्माको चक्रवर्तीपद का अभिमान नहीं था; देव गुरु के प्रतिपरम विनय बहुमान उनके चित्तमें सदैव जागृत रहते थे। भोजन के समय महल से बाहर आकर प्रतिदिन मुनिवरोंकी प्रतीक्षा करते थे। एक बार अरिन्दम मुनिराज के पधारनेसे उन्हे भक्तिपूर्वक आहारदान दिया... वहाँ देवोंने रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्रगट किया।

## राजसभा में चक्रवर्तीकी वैराग्य भावना

एक दिन चक्रवर्ती अजितसेन राजसभा में बैठे हैं; हजारो राजा मुकुट झुकाकर उनका अभिवादन कर रहे हैं; नगरजन भी उनके दर्शनों से प्रसन्न हो रहे हैं; तथापि चक्रवर्ती की दृष्टी इस राज्य से पार किसी अमूल्य निधान पर लगी है... उनके अंतर की गहराई में वैराग्य का चिन्तन चल रहा है की कब इससब उपाधिसे छूटकर निरुपाधि चैतन्य ध्यान में स्थिर होऊँ! कब वनवासी मुनि होकर वीतराग भाव में विचरुँ!!

राजसभा व्यस्थित चल रही थी; इतने में राजाकी दृष्टी प्रांगण में एक भव्य हाथी पर पड़ी; उस विशालकाय हाथी को कुछ योध्दा अनेक प्रकारसे ताड़ना देकर युध्द की शिक्षा दे रहे थे। चारो ओर शस्त्रप्रहार की प्रतिकुलता के बीच किस प्रकार बहादुरीसे लड़ना वह सिखा रहे थे। वह देखकर राजा को लगा कि- अरे, इस दुःखमय संसार में चारो ओर की प्रतिकुलता में भी शूरवीरतापूर्वक आत्मसाधनामें किस प्रकार विजय प्राप्त करना - उसंकी शिक्षा परमगुरु भव्य मुमुक्षुओंको देते हैं... और उसमें मुमुक्षुको आनन्द होता है। यह युध्द की शिक्षा हाथी को ताड़ना है। हाथी की वह ताड़ना देखकर राजा का चित्त संसार से अत्यन्त उदास हुआ। इतने में उस हाथी ने एक सिपाही को सूँढ में जकड़ लिया और पछाड़ पछाड़कर उसका चूरा कर दिया... बस, जीवन की ऐसी क्षण भंगुरता देखकर और हाथी की ताड़ना देखकर महाराजा अजितसेन का चित्त अत्यन्त विरक्त हो उठा और वैराग्य से वे चिन्तवन करने लगे कि -

अरे, यह संसार तो घोर दुःखोंसे भरे हुए गहरे कुएँ जैसा है; उसमें यह मनुष्य जीवन बिजली की चमक जैसा अस्थिर है। यह शरीर, धन, यौवन, परिवार या राज्य कोई जीव के साथ रहने वाले नहीं हैं; वे जीव के है ही नहीं, तथापि उनमें मोह कर-करके जीव संसार में फँसा रहता है। ' आज यह करना है, कल वह करुँगा, फिर वह करना है... ' इस प्रकार परायी चिन्ता में ने चिन्ता में वह मृत्यु को भुल जाता है कि मैं आज मरुँगा या कल मरुँगा!-

करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामि इति चिन्तया!
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामि इति विस्मृतम्!!

'करुँगा... करुँगा... करुँगा...' ऐसी चिन्ता में लीन हुआ मूढ़ जीव 'मरुँगा... मरुँगा... मरुँगा... ' यह बात तो भूल ही जाता है! मानो मृत्यु कभी आना ही न हो - इस प्रकार निश्चिन्ततासे मुर्ख जीव बाह्य विषयों में लगा हुआ है और मनुष्य जीवन गवाँ रहा है।

विरागी चक्रवर्ती चिन्तवन करते है कि- अरे रे। सत्पुरुषोंने जिनका निषेध किया है एसे पापोंसे मूढ़ जीव डरता ही नहीं है; नरकादि के घोर दुखोंका भी उसे भय नही है और इन्द्रियविषयों तथा क्रोधादि कषायों में वह फँस रहा है। संसार में बन्धु-बाँधव सब धन के साथी हैं, धर्म में साथ देने वाले धर्मात्मा तो कोई बिरल ही होते हैं।

अरे, इस छह खण्ड के परिग्रह में सुख कहाँ है? वह तो सब कर्म का फल है। क्रोधादि कषायों से सुलगते हुए इस संसार-दावानल में जीव जल रहा है; शांत वीतरागी ज्ञानजल से सींचने पर ही उसे शान्ति होगी।

इस प्रकार निजस्वभाव के वीतरागी चिन्तन द्वारा चक्रवर्ती कहते हैं - हे सभाजनो! मेरा चित्त अब इस संसार से विरक्त हुआ है। संसार में ऐसे कोई इन्द्रियविषय शेष नहीं रहे जिन्हें यह जीव न

भोग चुका हो! परन्तु उन विषयों से कदापि तृप्ति नहीं होती; वीतराग भाव द्वारा ही जीवको सच्चा अतीन्द्रिय सुख - शान्ति एवं तृप्ति का अनुभव होता है। उस सुख के लिये वीतरागी संत मुझे पुकार-पुकार कर मोक्ष में बुला रहे हैं। जिन मार्ग के प्रताप से मैंने अपने चैतन्य सुख की प्रतीति कर ली है और विषय-भोगों के चित्त को विमुख कर लिया है। मेरी वृत्ति अब अन्तरोन्मुख हो रही है। संसाररूपी लता को छेदने के लिये अब मैं शुद्धोपयोग रूपी तलवार धारण करता हूँ। चक्रवर्ती का चन्द्रहास खड्ग बाहरी शत्रुओं पर भले विजय प्राप्त कर ले परन्तु अंतर के क्रोधरुपी शत्रुको वह कहाँ जीत सकता है? समताभाव रुपी वीतरागी खड्ग द्वारा अब में क्रोध शत्रुपर विजय प्राप्त करके अपना मोक्ष साम्राज्य प्राप्त करूँगा। बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ यह मनुष्यभव, उसमें जो आत्महित नहीं साधते वे मूर्ख अज्ञानी जीव पुनः संसार समुद्रमें डूबते हैं। पुण्य के फलरूप इन सांसारिक सुखों की प्रशंसा मूर्ख लोक ही करते हैं; वास्तव में तो वे विषाक्त मिष्टान्न जैसे हैं। जिस प्रकार मैं यहाँ शत्रुओं को जीतकर चक्रवर्ती हुआ हूँ उसी प्रकार अब मुनिदशा में समस्त पर भावरूप शत्रुओं को परास्त करके धर्म चक्रवर्ती बनूँगा और अखण्ड मोक्षसाम्राज्य को प्राप्त करके सदा आत्मा के शुद्ध स्वरुप में निवास करूँगा।

वाह! चक्रवर्ती की उस भावना को सभाजन मुग्ध होकर सुन रहे हैं और वैराग्यरस में निमग्न हो रहे हैं...मानो महान धर्मसभा चल रही हो। वैराग्य परायण भावी तीर्थंकर महात्मा अजितसेन कहते हैं - इस पुत्र परिवार एवं छह खण्ड के वैभव की अपेक्षा मुझे वन-जंगल में चारित्रवैभव से अधिक सुख मिलेगा। मैं हेय-उपादेय का ज्ञाता, जन्म-मरण से भयभीत मुक्त जीवों की रत्नत्रय सम्पत्ति का हृदय से अभिलाषी, - मैं भी यदि विषयों में आसक्त रहा और इन्द्रिय विषयों की सेनाको जीतकर मोक्ष को नहीं साधा तब तो मुक्तिकन्या कुँवारी ही रह जायगी! (यदि मुमुक्षु जीव मुक्ति सुन्दरी का वरण नहीं करेंगे और विषय-भोगों में ही आसक्त रहेंगे तो फिर कौन मुक्ति का वरण करेगा?) बस, आज ही मैं इस राजलक्ष्मी का मोह छोड़कर, मुक्तिरमा का वरण करने हेतु तपोवन में प्रयाण करूँगा और अपने आत्मा को मोक्ष की साधना में लगाऊँगा। बुद्धिमान पुरुष अपने हितके अवसर में आलस्य नहीं करते।

राजसभा में चक्रवर्ती अपने वैराग्य की घोषणा कर ही रहे थे...इतने में क्या हुआ?...वह अगले प्रकरण में पढ़िये।

## श्री मुनिराज का आगमन और चक्रवर्ती की दीक्षा

अपने चरित्रनायक भगवान चन्द्रप्रभ का जीव पूर्वके चौथे भवमें अजितसेन चक्रवर्ती है; वह वैराग्य प्राप्त करके राजसभा में तपोवन में जाने के अपने निश्चय की घोषणा करता है...इतने में...

उद्यान का माली हर्षपूर्वक राजसभा में आकर सूचित करता है कि - हे महाराज! गुणप्रभ नामके महा गुणवान आचार्य संघसहित अपने नगर के उद्यान में पधारे हैं; उनके आगमन से सारा उद्यान फलफूलों से खिल उठा है। चारों ओर मानो कोई अद्‌भुत चमत्कार हो रहा है!

वाह! राजा जो चाहते थे वही सामने आ गया! यह शुभ समाचार सुनकर वे अत्यन्त हर्षित हुए...अहा, मानो वे मुनि भगवन्त उन्हें मोक्ष में ले जाने के लिये ही पधारे हों। - ऐसी प्रसन्नतापूर्वक अपना रत्नहार उतारकर उन्होंने माली को दे दिया और आचार्य महाराज को परोक्ष नमस्कार किया - अहो प्रभो! आज आपके मंगल आगमन से मैं कृतार्थ हुआ...मैं जिसका चिन्तवन करता था वह परमश्रेष्ठीपद सामने चलकर मेरे आँगन में आ गया...मुझे चिन्तामणि प्राप्त हुआ! - इस प्रकार अति प्रमोदसहित वे चक्रवर्ती महाराजा नगरजनों के साथ मुनिराज के दर्शन हेतु तपोवन की ओर चले। विदेश

में भटकता हुआ व्यक्ति स्वदेश में आकर प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार विभावों में से स्वभाव के साधक साधुजनों के सत्संग में आने पर उन चक्रवर्ती को अति प्रसन्नता हो रही थी।

वाह! महात्मा का सद्भाग्य तो देखो! पहले चक्रवर्ती पद में इच्छित सामग्री प्राप्त होती थी, अब मोक्षसाधन हेतु चिंतित साधन स्वयमेव प्राप्त हो रहे हैं। वास्तव में, मोक्ष के साधक को सारा विश्व अनुकूल ही परिणमित हो रहा है, उसे जगत में कोई प्रतिकूलता है ही नहीं।




महाराजा अजितसेन तपोवन में पहुँचे...दृष्टि डालते ही मुग्ध हो गये। अहाहा! जहाँ देखो वहाँ मुनि...मुनि! कोई ध्यान में लीन हैं, कोई स्वाध्याय में मग्न हैं...कोई धर्मचर्चा करके भव्य जीवों को अपूर्व चैतन्यतत्त्व बतला रहे हैं। चारों ओर मानो रत्नत्रय मोक्षमार्ग का वातावरण छा गया है। कषायों का या विषयों का तो नामनिशान भी वहाँ नहीं है। अहा, यह तो पंचपरमेष्ठि की वीतराग नगरी बस गई है...और मैं भी अब संसारनगरी से छूटकर इस वीतराग नगरी में पंचपरमेष्ठी भगवंतों के साथ रहने आ गया हूँ! अहा, कैसी अपूर्व शान्ति है इस नगरी में! इस प्रकार राजा को अपूर्व आह्लाद हुआ।

एक ओर आचार्य श्री गुणप्रभस्वामी ध्यान में स्थिर थे। अहा, कैसी शांत मुद्रा! मोक्षमार्ग में कैसी शान्ति होती है वह उनकी मुद्रा दरशा रही थी; वचन के बिना भी उनकी मुद्रा वचनातीत शान्ति की प्रतीति कराती थी। चक्रवर्ती उनके सन्मुख बैठकर चैतन्य की अपार महिमापूर्वक मुनिजीवन की भावना

करने लगे कि - 'बस, अब मैं भी ऐसा मुनि बनूँगा और मुनिवरों के साथ रहकर आत्मसाधना करूँगा।'

मुनिवरों का आश्रम परम शांत है। चारों ओर वीतरागता छा रही है। वृक्ष भी हर्षसे प्रफुल्लित हो रहे हैं। पशुपक्षी शांत होकर मुनिचरणों में बैठ गये हैं...और उत्सुकता से उनकी मुद्रा को देख रहे हैं। जीव-जन्तुओं का कोई उपद्रव नहीं है। गाय का बछड़ा सिंहनी का दूध पी रहा है और सिंहन का बच्चा गाय को माता समझकर उसका स्तनपान कर रहा है; किसी को किसी का भय नहीं है. सर्प और नेवला, शेर और खरगोश - सब वैरभाव छोड़कर हिलमिलकर बैठे हैं। शांत-शीतल वन की अद्भुत शोभा खिल रही है। मानो समवसरण ही हो - इस प्रकार जीवों में सर्वत्र रत्नत्रय धर्म का विस्तार हो रहा है। सब जिनमार्ग में गमन हेतु तत्पर है...मोक्ष की साधनामें लीन हैं। संसार तो मानों कहीं दूर दूर चला गया है!

कुछ काल पश्चात् निर्मोही आचार्य महाराज का ध्यान समाप्त हुआ..उन्होंने नेत्र खोले...राजाने वन्दना की। मुनिराज ने प्रसन्नदृष्टि से धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। राजाने स्तुति करते हुए कहा:-

हे प्रभो! जो बुद्धिमान पुरुष आपके स्वरुप का क्षणभर चिन्तन करता है उसके भी परिणाम विशुद्ध हो जाते हैं; तब फिर आपके साक्षात् दर्शन की तो बात ही क्या! जिस प्रकार चैतन्य-परमतत्व का स्मरण भी मोह का नाश करके शान्ति प्रदान करता है तब उस चैतन्य के साक्षात् अनुभव के आनन्द का तो क्या कहना! प्रभो, आज आपके दर्शनों से मैं कृतार्थ हो गया। मैं मुनिदशा की भावना भा रहा था, इतने में आपकी साक्षात् प्राप्ति हुई...मानो मुझे साक्षात् रत्नत्रय मिल गये! मिथ्यात्व-अंधकार में डूबा हुआ यह जगत आपकी ज्ञानकिरणों द्वारा ही सम्यक मार्ग पाता है। अधोगति में गिरे हुए जीवों को आप ही शरण हैं और मोक्षमहल में जाने के लिये आप ही सोपान हैं। अरे, ऐसा कौन अभागा जीव होगा जो आपको पाकर भी धर्म को अंगीकार नहीं करेगा?

इस प्रकार हर्षोल्लाससे मुनिराज की स्तुति करते हुए चक्रवर्ती कहते हैं कि - प्रभो! आपके मार्ग को अंगीकार करते ही भव-भव के पाप क्षणभर में दूर हो जाते हैं। अन्य कुमार्गों का दीर्घकाल तक सेवन करके भी जीव जिस मुक्ति को नहीं देख पाते, वह मुक्ति आपके दर्शन से क्षणभरमें निकट आती है और जीवको आनन्दित करती है। मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति में शत्रु ऐसे क्रोध-मान-माया-लोभ को आपने जीत लिया है, इसलिये आप जिन हो। इस प्रकार विनयपूर्वक स्तुति करके वे वैराग्यवान राजा मुनिराज के समीप धर्मश्रवण करने बैठे।

गुणप्रभ मुनिराज और अजितसेन चक्रवर्ती दो महात्माओं के मिलन से तपोवन में धर्म का गम्भीर वातावरण छा रहा था। हजारों सभाजन उन दोनों की धर्मचर्चा सुनने को आतुर हो रहे थे। श्री मुनिराज ने कहा - देखो, जगत में, राजपद तो अनेकों को मदका कारण बनता है...परन्तु आश्चर्य है कि इन भव्यात्मा के पास चक्रवर्ती का राजवैभव होने पर भी इन्हें राज का मद नहीं है और धर्म के प्रति इनकी नम्रता प्रशंसनीय है। तथा शुद्ध सम्यकत्वादि गुणों से सुशोभित हैं। इन्हें छह खण्ड प्राप्त करने की इतनी चिन्ता नहीं थी जितनी मोक्ष साधने की है। इन्हें संसारसुख की चाह नहीं है, इन्हें तो मोक्षसुख की ही आकांक्षा है,-इतना ही नहीं, यह महात्मा एक भावी तीर्थंकर हैं और चौथे भवमें भरतक्षेत्र में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर होंगे।

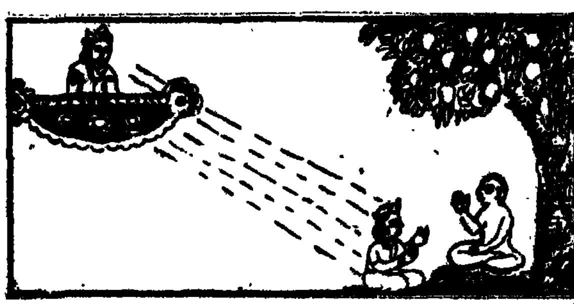
मुनिराज की अद्भुत बात सुनकर सबको हार्दिक प्रसन्नता हुई; सब जन आश्चर्य से उन भावी तीर्थंकर के दर्शन करने लगे। तब अत्यन्त नम्रीभूत होकर उन अजितसेन चक्रवर्ती ने कहा: हे स्वामी! आपकी महान कृपा पाकर मैं धन्य हो गया। प्रभो! मुनि होने का मेरा मनोरथ है; प्रसन्न होकर मुझे

जिनदीक्षा दें और मेरा मनोरथ पूर्ण करें। इस भरतक्षेत्र का छोटा राज्य छोड़कर अब मैं तीन लोक के ज्ञान से भरपूर सर्वज्ञता का साम्राज्य प्राप्त करने के लिये रत्नत्रय से शोभायमान शुद्धोपयोग रूप धर्मचक्र को धारण करूँगा।

अजितसेन चक्रवर्ती के उत्तम वैराग्य भाव जानकर श्री आचार्य महाराजने उन्हें जिनदीक्षा दी। चक्रवर्ती पद छोड़कर उन्होंने दिगम्बर दशा धारण की और आत्मध्यान द्वारा शुद्धोपयोगी होकर आत्मा को रत्नत्रयरुप परिणमित किया। धन्य वे मुनिराज! लोग आश्चर्य से उन्हें निहार रहे थे। छह खण्ड के परिग्रह को क्षणभर में छोड़कर अपरिग्रही हुए उन मुनिराज के चरणों में देव भी नमस्कार करने लगे। जो हजारों देव पहले चक्रवर्ती राजा के रुपमें उनकी सेवा करते थे, वे देव अब परमेष्ठी के रुप में पूजने लगे।

जिनमुनि होकर उन महात्मा ने उग्र आत्मसाधना प्रारम्भ कर दी। ध्यान चक्र का मोह पर प्रहार करके पहली ही बार में शेष बचे बारह में से आठ कषायों को नष्ट किया और अन्तिम चार को भी मरणासन्न स्थिती में ला दिया। वे सहज तप करते, स्वाध्याय में रत रहते, उपसर्गों को धैर्य से सहन करते, परीषह में भी आत्मसाधना से च्युत हुए बिना मोक्षमार्ग में निश्चल रहते: उनको मरणादि सम्बंधी कोई भय नहीं था। घोर गीष्म हो, शीत हो, या वर्षा हो, क्षुधा हो या तृषा हो,-उनका शुद्धोपयोग एकसमान रहता था। उनका चित्त स्वकार्य में ही लीन था। अनित्य, अशरणादि बारह वैराग्य भावनाओं के चिन्तन में उनका चित्त सदा तत्पर रहता। इस प्रकार छह खण्ड छोड़कर अखण्ड चैतन्य की साधना पूर्वक समाधिमरण करके वे (चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के आत्मा, अजितसेन चक्रवर्ती की पर्याय छोड़कर) अच्युत स्वर्ग में इन्द्ररुप से 'शांतकार' विमान में उत्पन्न हुए। वे शांतिमूर्ति जीव अपूर्व आत्मशान्तिसहित जिस विमान में उत्पन्न हुए उसका नाम भी शांत-कार था। प्रकृति का कैसा सुयोग! स्वर्गलोक के दिव्यवैभवों में आसक्त हुए बिना उन महात्माने अपनी आत्मसाधना को असंख्य वर्षों तक अखण्ड रखा। तत्पश्चात् वे आराधनासहित कहां अवतरित हुए? वह अब सुनो।

## चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का पूर्वभव (दुसरा) पद्मनाभ राजा



श्रीधर मुनिराज पद्मनाभ राजा को उनके पूर्वभवों की यह कथा सुनाते हुए कहते हैं कि-हे भव्य! उस अच्युत स्वर्ग से चयकर तुम्हारा आत्मा यहाँ रत्नसंचयपुर में पद्मनाभरूप में उत्पन्न हुआ है; अब इस भव में तीर्थंकर प्रकृति बाँधकर एक भव पश्चात् तुम भरत क्षेत्र में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर होगे।

मुनिराज ने विशेष कहा-हे राजन्! आजसे दसवें दिन तुम्हारी नगरी में एक विशाल उन्मत्त हाथी आकर उपद्रव करेगा; वह उपद्रव तुम्हारे निमित्त से शांत होगा और उस घटना से तुम्हें इन सब बातों का विश्वास दृढ़ होगा।

अहा, मुनिराज के श्रीमुख से अपने पूर्वभवों की आत्मसाधना की ऐसी सुन्दर बात सुनकर तथा अब एक ही भव के पश्चात् तीर्थंकर होकर मोक्ष जाने की मधुर बात सुनकर उन पद्मनाभ राजा का चित्त

हर्ष से रोमांचित हो गया; हजारों श्रोताओं में आनन्दोल्लास का वातावरण छा गया और सर्वत्र हर्षमय उत्सव होने लगा। पद्मनाभ राजाने मुनिराज के समक्ष श्रावक के व्रत अंगीकार किये; और भक्तिपूर्वक पुनः पुनः प्रणाम करके वे अपनी राजधानी में लौट आये। अब वे अपनी आत्मसाधना में किस प्रकार आगे बढ़ते हैं वह हम देखें।

वे धर्मात्मा और पुण्यवान राजा पद्मनाभ किसी के सिखाये बिना ही पंचपरमेष्ठी के प्रति स्वाभाविक विनयवान थे; उनका ज्ञान इन्द्रियों को जीतकर मात्र अतीन्द्रिय आत्मा के साथ ही प्रेम करता था; आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई विषय उनको प्रिय नहीं थे। वे व्रतपूर्वक विद्याभ्यास करते और अध्यात्मविद्यासहित सर्व विद्याओं में अत्यन्त कुशल थे। जिनेन्द्र उपासना के साथ ही अनेकान्तरूप जिनविद्या की भी सम्यक् रूप से उपासना करते थे; मुनिजनों को भक्तिपूर्वक आहारदान देते और उनका सत्संग करते थे विद्वानों का सन्मान करते थे, वे बारम्बार आत्मध्यान करते और निरंतर परमात्म तत्व की भावना में रहते थे।

अभी-अभी श्रीधर मुनिराज के श्रीमुख से अपने सात भवों की उत्तम कथा सुनकर राजा पद्मनाभ को अति प्रसन्नता हो रही थी...अहा! अपने मोक्ष की बात सुनकर किसे हर्ष नहीं होगा? राजा पद्मनाभ आनन्दपूर्वक धर्माराधनसहित जीवन बिताते हैं; मुनिराज की कही हुई बात पुनः पुनः स्मरण करते हैं। चक्रवर्तीपद या इन्द्रपद की विभूति भी यह जीव पूर्वभव में प्राप्त कर चुका है, तो इन राजभोगों की क्या बिसात?-ऐसे वैराग्य परिणाम करते हैं।

इस बात को नौ दिन बीत गये; दसवें दिन नगरी में अचानक कोलाहल मच गया और 'बचाओं...बचाओं...' की पुकारें आने लगी; हाथी-घोड़े भी भयसे चिल्ला-चिल्ला कर भागने लगे। क्या हुआ...क्या हुआ? इस प्रकार चारों ओर से टेरें आने लगीं।

इतने में राजाने देखा कि एक विशाल अति सुन्दर गजराज नगर की ओर दौड़ता आ रहा है; वह मदोन्मत्त होकर भाग रहा है और जो चपेट में आये उसे सूँढ़ में कसकर फेंक रहा है या पैरों से कुचल रहा है। लोग भयभीत होकर कोलाहल कर रहे हैं। उस हाथी को देखकर राजा को मुनिराज की बात का स्मरण हुआ; उनके कहे अनुसार ही हो रहा था। मन में मुनिराज को नमन किया और हाथी को वश में करने के लिये कटिबद्ध हुए। उन्होंने युक्तिपूर्वक हाथी को वश में कर लिया। हाथी भी मानो पुण्यवन्त राजा को पहिचान गया हो इस प्रकार शांत होकर उनकी आज्ञा मानने लगा। उस पर बैठकर राजा पद्मनाभ नगरी में आये और नगरजनों ने विजयोत्सव के रूप में उनका भव्य स्वागत किया। हाथी भी सूँढ़ उठा-उठा कर सबको प्रणाम कर रहा था मानो नगरजनों से क्षमायाचना कर रहा हो। उस हाथी का नाम 'वनकेलि' था। राजा को पुण्ययोग से ऐसे गजराज की प्राप्ति हुई। अब वह हाथी ही उनको महा वैराग्य का निमित्त होगा।

एक बार महाराज पद्मनाभ राजसभा में बैठे थे; इतने में पृथ्वीपाल राजा की ओर से एक राजदूत आया और नमस्कार करके कहने लगा कि-हे महाराज! हमारा प्रिय गजराज 'वनकेलि' आपके राज्य की सीमामें आया है और आपने उसे पकड़ कर अपनी सवारी के लिये रख लिया है। हम तो मानते थे कि आप हमारे हाथी को सम्मान पूर्वक हमें लौटा देंगे; उसके बदले आपने हमारे हाथी को अपना समझकर रख लिया है; ऐसा करके आपने हमारे राजा का अपमान किया है; अब आप उस हाथी को वापिस दे जाइये।

दूत के कथन में गर्भित रूप से धमकी थी। राजा पद्मनाभ समझ गये कि राजा पृथ्वीपाल युद्ध

के लिये ललकार रहा है; परन्तु उन धीर-गम्भीर पुरुष का चित्त किंचित् व्याकुल नहीं हुआ। दूत को उत्तर देने के लिये उन्होंने युवराज की ओर आँख का संकेत किया।

कुशल युवराज सुवर्णनाभ पिता के भाव को समझ गया; उसने दूतको सम्बोधन कर कहा-हे दूत! ऐसे वचन तू ही कह सकता है, क्योंकि तू दूत है; दूसरों के द्वारा मुँह में भरे गये शब्द ही तू बोल सकता है। सुन, तेरे राजा चाहे जितने शक्तिशाली हों, परन्तु उनका अभिमान ही उनका विनाश करेगा। क्या तेरे राजा के पास दूसरे हाथी नहीं हैं कि इस हाथी की भीख माँगने के लिये तुझे भेजा है? जब तुम्हारा हाथी पागल होकर हमारे प्रजाजनों को कुचल रहा था तब कहाँ गया था तेरा राजा? उस समय हमारे महाराजा ने महान पराक्रम से उस हाथी को जीतकर वशमें किया है। हमारे पुण्ययोग से ही वह हाथी हमारे नगर में आ पहुँचा है। पुण्ययोग से प्राप्त हुई हमारी वस्तु को छीन लेने का तुम्हें क्या अधिकार है?-इस प्रकार उलाहना देकर दूत को लौटा दिया।

हाथी नहीं लौटने से दोनों राजाओं में युद्ध की तैयारी होने लगी। युद्ध के लिये प्रस्थान करते समय भी धर्मात्मा पद्मनाभ अपनी आत्मसाधना को नहीं भूले थे। प्रतिदिन प्रातः राग द्वेषरहित चिदानन्दतत्त्व की अंतर में आराधना करते थे। पंचपरमेष्ठी भगवंतों को अंतर में विराजमान करके उनके वीतरागी स्वरुप का चिंतन एवं बहुमान करते थे। मार्ग में कहीं वन-पर्वत में किन्हीं मुनिराज के दर्शन प्राप्त हों तो उन्हें परम हर्ष होता था और भक्तिपूर्वक आहारदान देते थे। किंचित् मानकषाय के कारण युद्ध करने जा रहे थे, तथापि कषायरहित आत्मशान्ति भी साथ थी। सचमुच उन महात्मा का जीवन अनोखा था। रात्रि को सेना के वीर पुरुषों से मात्र युद्ध नहीं, धर्म की चर्चा भी करते थे। उनकी चेष्टा सेना को भी मुग्ध करती थी। सायंकाल जब सामायिकयोग में निश्चल होकर बैठे हो तब ऐसा लगता था कि यह तो राजा हैं या योगी? कभी सेना के पड़ाव में घूमकर और लोगों से हिलमिलकर वे सेना को प्रसन्न करते थे; इतना ही नहीं, उन्हें देखकर सेना के हाथी-घोड़ा आदि भी आनन्दित होकर हर्षनाद करते थे।

इस प्रकार वन की प्राकृतिक शोभा देखते-देखते सेना आगे बढ़ रही थी। एक बार एक मनोहर पर्वत की तलहटी में पड़ाव डाला। उस पर्वत से अनेक मुनिवरों ने निर्वाण प्राप्त किया था। ऐसा शांत-निर्वाण धाम देखकर राजा को हर्ष हुआ और कुछ दिन वहाँ शांतिपूर्वक रहने का विचार किया। इस बीच राजा पृथ्वीपाल के गुप्तचरों ने राजा को सूचना दी कि राजा पद्मनाभ युद्ध के लिये आ रहे हैं और उनके साथ विशाल सेना है।

यह सुनते ही राजा पृथ्वीपाल क्रोध से आगबबूला हो गया और तुरन्त अपनी सेना लेकर पद्मनाभ से युद्ध करने चल पड़ा। जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि के नाद से मुमुक्षु की वीरता जाग उठती है उसी प्रकार रणभेरी के नाद से योद्धाओं की वीरता जाग उठी; घोड़े हिनहिनाने लगे और हाथी पृथ्वीपर सूँढ़ पछाड़ते हुए चिंघाडने लगे। आत्मसाधना के अवसर पर वीर मुमुक्षु हर्ष से रोमांचित हो जाता है उसी प्रकार युद्ध की तैयारी देखकर वीर योद्धा शौर्य से रोमांचित हो रहे थे। युद्ध तो मात्र एक हाथी के लिये हो रहा था! -हाथी तो मात्र निमित्त था, वास्तव में तो दोनों राजाओं के मानकषाय का युद्ध था। उस समय भी राजा पद्मनाभ की ज्ञानचेतना मानकषाय से अलिप्त रहकर मोक्षको साध रही थी। धर्मात्माओं की यही विशेषता है कि किसी भी प्रसंग में उनकी ज्ञानचेतना मोक्षसाधना का कार्य नहीं छोड़ती और संसार को बढ़ने नहीं देती। (पाठको! तुम्हें याद होगा ही कि राजा पद्मनाभ ही अपने चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का आत्मा हैं।)

दोनों राजाओं की सेना युद्ध के लिये आमने-सामने आ गयी। जिस प्रकार मुमुक्षु मोक्ष के लिये शरीर तथा संसार का मोह छोड़ देता है, उसी प्रकार युद्ध के लिये तत्पर उन योद्धाओं ने शरीर का तथा स्त्री का मोह छोड़ दिया था। कितने ही योद्धाओं ने बख्तर-कवच पहने, तो कितने ही योद्धाओंने ऐसा मानकर वे नहीं पहिने कि पुण्यरूपी कवच ही हमारी रक्षा करेगा, फिर दूसरे कवच की क्या आवश्यकता ?

राजा पद्मनाभ के सेवकों ने 'वनकेलि' गजराज को खूब सजाया था। सबकी दृष्टि उसी पर लगी थी जिसके लिये यह युद्ध हो रहा था। गजराज 'वनकेलि' भी मानो अपने सन्मान से प्रसन्न हो रहा था।...और जब राजा पद्मनाभ (एक भावी तीर्थंकर) उसपर आरूढ़ हुए हों, तब उसकी शोभा का क्या कहना? वह गजराज पहले तो रणमैदान में अपने पूर्वपरिचित राजा पृथ्वीपाल को तथा अन्य हाथियों को देखकर, अर्जुन की भाँति चौंका; परन्तु राजा पद्मनाभ ने उसके मस्तक-पर प्रेमपूर्वक हाथ फेरकर उसे थपथपाया और शांत किया, तब वह उनकी आज्ञानुसार वर्तने लगा।

दोनों सेनाओं में युद्ध प्रारम्भ हो गया। यद्यपि राजा पृथ्वीपाल शूरवीर था, बुद्धिमान था, परन्तु उस समय क्रोध ने उसकी चेतना पर प्रभुत्व जमा लिया था; उसे युद्ध के सिवा कुछ भी सूझता नहीं था। युद्ध में कितने ही मरे, कितने ही घायल हुए; घोर संग्राम चला; परन्तु विशेषता यह थी घायल होकर गिरे हुए योद्धा पर कोई पुनः प्रहार नहीं करता था; इतना ही नहीं; कभी कभी तो मृत्युशय्या पर पड़े हुए योद्धा को उसे मारनेवाला योद्धा ही धर्म ( नमस्कार मंत्र ) सुनाता था और पानी पिलाता था। इसप्रकार दोनो योद्धा शत्रुता के संस्कार को भूल जाते थे।

अचानक पृथ्वीपालके सेनापति चन्द्रशेखरने पद्मनाभके सेनापति भीमरथ को मस्तक में बाण मारकर मूर्च्छित कर दिया। जब तक वह मूर्च्छित रहा तब तक सामने वाले सेनापति ने युद्ध रोक दिया। थोड़ी देर बाद उसकी मूर्च्छा दूर हुई और जिस प्रकार अचेत मुमुक्षुवीर की चेतना सद्गुरु के वचन से जागृत हो उठती है और मोक्षका पराक्रम करके वह मोह को जीत लेता है, उसी प्रकार भीमरथ की चेतना जाग उठी और घोर पराक्रम द्वारा उसने सेनापति चन्द्रशेखर को बाण से बेध डाला। उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।

पृथ्वीपाल का सेनापति मरते ही उसकी सेनामें हाहाकार मच गया...तुरन्त ही उसका युवराज युद्ध करने आ गया। परन्तु वीर युवराज सुवर्णनाभने उसे युक्तिपूर्वक जीवित ही बन्दी बना लिया।

सेनापति चन्द्रशेखर के मरने और युवराज सुवर्णनाभ के बन्दी होने से पृथ्वीपाल क्रोधित होकर स्वयं युद्ध करने को तैयार हुआ। वह अपने हाथी को राजा पद्मनाभ के पास ले गया और शस्त्रप्रहार किया। राजा पद्मनाभ तो तैयार थे ही; उन्होंने बड़ी सावधानी से पृथ्वीपाल के शस्त्र का वार चुका दिया और अपने हाथी वनकेलि को पृथ्वीपाल के हाथी से टकराकर ऐसा शस्त्र प्रहार किया कि पृथ्वीपाल का मस्तक पृथ्वी पर लौटने लगा।

बस, राजा पृथ्वी पाल के मरते ही उसकी सेना परास्त होकर भागने लगी। राजा पद्मनाभने तुरन्त ही युद्ध रोक देने का आदेश देकर सबको अभयवचन दिया। कुछ ही देर में युद्धभूमि में सर्वत्र शान्ति और स्तब्धता छा गई। इतने में एक सैनिक राजा पृथ्वीपाल का मस्तक भाले में पिरोकर पद्मनाभ के पास लाया...वह करुण दृश्य देखते ही राजा पद्मनाभ चौंक उठे, उनका चित्त संसार से एकदम विरक्त हो गया और वे विचारने लगे—



रणभूमि में राजा पद्मनाभ का वैराग्य और मुनिराज का आगमन।

अरे, इस एक हाथी के लिये इतनी हिंसा! थोड़े से मान के लिये इस राजा ने प्राण गँवा दिये! ऐसा कषाययुक्त गृहस्थ जीवन मुझे शोभा नहीं देता। परम शांत अकषाय मुनि जीवन ही श्रेष्ठ है।

अरे, पूर्वभव में मैं चक्रवर्ती था तब मैंने चौरासी लाख श्रेष्ठ हाथियों को एक क्षण में त्याग कर दीक्षा ले ली थी, और आज इस एक हाथी के मोह में क्यों फँस गया? मोक्ष के साधक को यह मोहबंधन शोभा नहीं देता। ऐसी भावना से पश्चातापपूर्वक क्षमाभाव धारण करके उन्होंने पृथ्वीपाल के पुत्र धर्मपाल को (जो युद्ध में जीवित बन्दी बना लिया गया था) मुक्त कर दिया और प्रेम से उसके सिर पर हाथ फेरकर बोले: बेटा, अपने पिता की राजगद्दी तू सँभाल। मेरे युवराज सुवर्णनाभ का मित्र बनकर रहना और धर्म का पालन करना। इस प्रकार महाराजा पद्मनाभ ने बैरभाव को छोड़कर प्रेमसहित उसका राज्य वापिस लौटा दिया। युवराज सुवर्णनाभ का राज्याभिषेक करके स्वयं मुनिदीक्षा हेतु तत्पर हुए। अरे!—

**जीवको प्रेम जैसा कोई बंधन नहीं और विषयों जैसा कोई विष नहीं है;**
**क्रोध जैसा कोई शत्रु नहीं और जन्म जैसा कोई दुःख नहीं है।**

इसलिये चारों का नाश करके मैं मोक्ष के परमसुख को साधूँगा। क्योंकि—

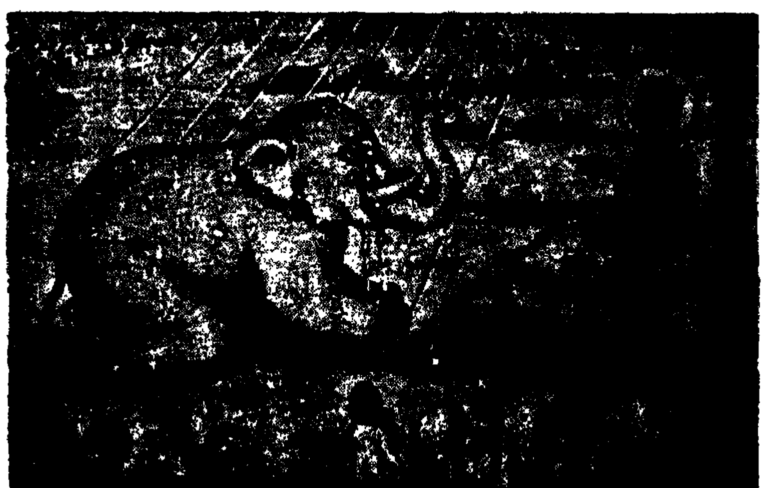
**वीतरागता जैसा कोई मोक्षमार्ग नहीं और ज्ञान जैसा कोई अमृत नहीं है;**
**शान्ति जैसा कोई मित्र नहीं और मोक्ष जैसा कोई सुख नहीं है।**

## आकाशमार्ग से मुनिराज का आगमन

राजा ऐसी वैराग्य भावना में तत्पर हैं...इतने में प्रकृति के उत्तम योग से वहाँ आकाश मार्ग से श्रीधर मुनिराज उतरे। अहा! उपादान निमित्त का सुयोग बना। मानो गुरु अपने शिष्य को बुलाने आ पहुँचे। ये वही श्रीधर मुनिराज हैं कि जिनसे कुछ काल पूर्व राजा पद्मनाभने अपने पूर्वभवों की तथा भविष्य में तीर्थंकर होने की कथा सुनी थी। अभी ठीक समयपर उन्हीं गुरुके पुनः दर्शन होने से राजा कृतकृत्य हो गये। परम भक्तिसहित हर्षपूर्वक उनके चरणों में वन्दन किया और उनके निकट जिनदीक्षा अंगीकार करके मुनि हो गये। मुनि होकर ध्यान में बैठते ही शुद्धोपयोगसहित सातवाँ गुणस्थान प्रगट हुआ, रत्नत्रय प्रगटे। राजपद में जैसा सुख नहीं था वैसा मुनिपद में प्रगट हुआ; इतना ही नहीं, बारह अंग का ज्ञान भी उसी समय उनके अंतर में प्रस्फुटित हो गया...इस भव में श्रुतकेवली हुए और तीसरे भवमें केवली-परमात्मा होंगे। अब, दूसरी ओर वनकेलि गजराज की बात सुनो।

## वनकेलि गजराज का वैराग्य

पूर्व के स्वामी राजा पृथ्वीपाल की मृत्यु और वर्तमान के स्वामी राजा पद्मनाभ की दीक्षा;-यह दोनों दृश्य देखकर बुद्धिमान गजराज वनकेलि भी वैराग्य को प्राप्त हुआ...उसका चित्त सर्वत्र से बिलकुल उदास हो गया। मुनिराज के दर्शन से तथा धर्मोपदेश से उसकी चेतना जागृत हो उठी...'मैं पशु नहीं हूँ, यह क्रोधादि भी मैं नहीं हूँ, मैं तो मुनि भगवन्त समान शान्त स्वरूप आत्मा हूँ'-ऐसा वेदन उसे होने लगा और सम्यग्दर्शन से अलंकृत होकर वह भी अपने स्वामी (भावी तीर्थंकर चन्द्रप्रभ) के चरणचिह्नों पर मुक्तिमार्ग की ओर चलने लगा। अहा, जिसे भावी तीर्थंकर की सेवा का सुयोग प्राप्त हुआ हो उसका कल्याण क्यों नहीं होगा? होगा ही।



श्री मुनिराज पद्मनाभ जहाँ-जहाँ विहार करते, वहाँ गजराज वनकेलि भी शिष्य की भाँति उनके साथ जाता; जब मुनिराज ध्यान मे लीन होते तब वह उनके समीप चुपचाप बैठकर आत्मचिन्तन करता;

मुनिराज के सांनिध्य में रहकर वह अदभुत वैराग्यमय जीवन बिताता। मुनिराज के दर्शनोंको आनेवाले मुमुक्षु श्रावक उस हाथी की चर्या को देखकर आश्चर्यमुग्ध हो जाते और उनके अंतर में धर्म की अपार महिमा जागृत होती...कि अहा, यह हाथी भी मुनिराज के उपदेश से जैनधर्म प्राप्त करके ऐसा वैराग्यमय जीवन जीता है, वह तो अपने लिये अनुकरणीय है। इसप्रकार अनेक जीव हाथी को देखकर वैराग्य प्राप्त करते थे। हाथी जब अपनी सूँढ झुकाकर मुनिराज को नमस्कार करता और मुनिराज की दृष्टि उसपर पडती तब हाथ उठाकर वे उसे आशीर्वाद देते.. और वह हाथी अपने को धन्य मानता था।

## दर्शनविशुध्द आदि १६ भावनाएँ और तीर्थंकर प्रकृति

मुनिराज श्री पद्मनाभ को सम्यकदर्शन सहित निम्नोक्त १६ उत्तम भावनाएँ निरंतर वर्तती थीं—

(१) सम्यकदर्शन सहित अष्ट मूलगुण के निरतिचार पालन रूप दर्शन विशुद्धि थी;

(२) देव-गुरू-धर्म-जिनागम के प्रति आदररूप विनयसम्पन्नता थी;

(३) शीलव्रतों का निरतिचार पालन, करते थे;

(४) निरंतर नियमपूर्वक ज्ञानाभ्यास में उपयोग लगाना,उसमे प्रमाद नही करता था;

(५) संसार दुखों से भयभीत एवं मोक्ष की साधना के प्रति उत्साहित रहते थे;

(६-७) त्याग और तप में अपनी शक्ति लगा रहे थे;

(८-९) साधुजनों की आराधना में विघ्न न हो, समाधि हो, इस प्रकार उनकी सेवा तथा वैयावृत्य करते थे;

(१०-१३) अरिहंतों के प्रति, आचार्यों के प्रति, बहुश्रुतधारी साधुओं के प्रति तथा रत्नत्रयवंत साधर्मी जनों एवं जिन प्रवचन के प्रति परम आदररुप भक्ति थी;

(१४) सामायिकादि आवश्यक क्रियाएँ नियमित सावधानीपूर्वक करते थे, उनमें आलस्य नहीं करते थे;

(१५) विशेष ज्ञान-तप द्वारा रत्नत्रय मार्ग की प्रभावना तथा उपदेश देकर जिनधर्म का विस्तार करते थे; और

(१६) साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्यभाव रखते थे।

इस प्रकार मोक्षसुख की भावना सहित ऐसी १६ भावना के विशुद्ध परिणाम उनको सहजरुप से वर्तता था और इससे उन आसेन्नभव्य महात्मा की सेवा करने हेतु तीर्थंकर प्रकृतिरुप श्रेष्ठ नामकर्म आ रहा था। यद्यपि उन्हें तो आत्मविकास में उस तीर्थंकर प्रकृति की कोई आवश्यकता नहीं थी; परन्तु उस बेचारी श्रेष्ठ प्रकृति को ऐसे भव्य महात्मा की शरण के अतिरिक्त कोइ स्थान ही कहाँ था? वे भगवन्त निष्पाप थे, धीर थे, गंभीर थे, रत्नत्रय के धारक एवं चारों आराधना में तत्पर थे; अब उनको भवसमुद्र का किनारा आ चुका था; वे बारम्बार निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाते थे। वर्षों तक अखण्ड आराधना करते हुए आयु का अंत निकट जानकर उन्होंने संल्लेखना धारण की और आत्मचिन्तन में उपयोग लगाकर देह त्याग किया। भावी चन्द्रप्रभ तीर्थंकर ऐसे वे पद्मनाभ मुनिराज १६ स्वर्ग, के ९ग्रैवेयक तथा नौ अनुदिश विमानोंसे या उपर एवं मोक्ष नगरी बिलकुल निकट ऐसे पाँच अनुत्तर विमानों

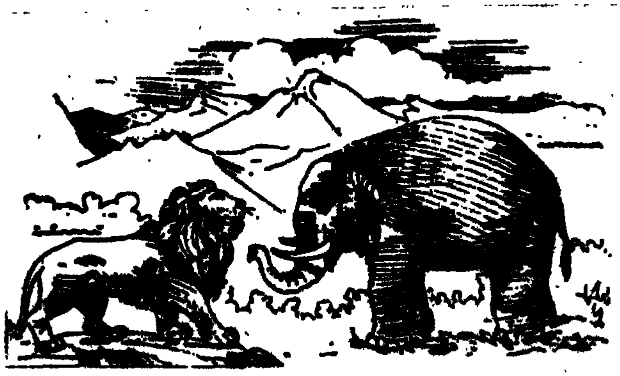
में से वैजयन्त विमान में उत्पन्न हुए।

## चन्द्रप्रभ भगवान : वैजयन्त विमान में

अपने चरित्र नायक चन्द्रप्रभ की आयु वैजयन्त विमान में तेतीस सागर थी; स्वर्गलोक का यह अन्तिम भव था; अब मात्र एक मनुष्य भव शेष रहा था। वैजयन्त विमान में वे अहमिन्द्ररूप से निर्दोष जीवन जीते थे और आत्मसाधना करते थे। उनके गमनशक्ति तो बहुत थी परन्तु व्याकुलता नहीं थी इसलिये स्वस्थान को छोड़कर वे इधर-उधर भ्रमण नहीं करते थे। चित्त में अपार जिनेन्द्रभक्ति होने पर भी वे मनुष्य लोक में तीर्थंकरों के पंचकल्याणक में भी नहीं आते थे। उनके अवधिज्ञान में जानने की शक्ति तो बहुत थी, परन्तु बारम्बार इधर-उधर उपयोग नहीं भ्रमाते थे...कभी-कभी तीर्थंकर भगवान को देख लेते थे। अमृत को उनके कण्ठ में ही भरा था, तथापि हजारों वर्ष तक उन्हें अमृतपान की भी इच्छा नहीं होती थी। अहा, चैतन्यरसमय वीतरागी अमृत से उनका जीवन ऐसा तृप्त था कि देवलोक का दिव्यअमृत भी उन्हें ललचा नहीं सकता था। उनके देवविमान में करोड़ों देव रहते होने पर भी उनमें कोई बड़े-छोटे नहीं थे;-सभी समान थे, स्वयं ही अपने इन्द्र (अहमिन्द्र) थे; सभी सम्यग्दृष्टि, आत्मज्ञानी एवं स्वानुभूतिवान थे, और साथ मिल-बैठकर उसीकी चर्चा करते थे।-इस प्रकार अपने चरित्रनायक आत्मिक शान्ति की प्रधानता सहित उस देवलोक में, सिद्ध भगवन्तों के पड़ौस में असंख्य वर्षों तक रहे।

पश्चात्, इस भवचक्र के अन्तिम भव में, वे महात्मा कहाँ अवतरित हुए और किस प्रकार अपनी आत्मसाधना पूर्ण करके सर्वज्ञ परमात्मा (चन्द्रप्रभ तीर्थंकर) हुए-वह अब हम देखेंगे।

[इति श्री चंद्रप्रभ-चरित्र में, पूर्वभव में पद्मनाभ राजा, वैराग्यपूर्वक मुनिदीक्षा, सोलह भावना, तीर्थंकर प्रकृति और देवलोकगमन उनका वर्णन समाप्त हुआ।]



एक हैं वनराज, एक हैं गजराज; दोनों आत्मज्ञान करके किस प्रकार जिनराज बन गये,-उनकी आनन्दकारी कथा आप इस महापुराण में पढ़ेंगे-कथा २३ और २४ वीं।

# चन्द्रपुरी में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का अवतार

**जिस प्रकार चन्द्र-किरणों के संसर्ग से चन्द्रकान्त मणि से अमृत झरता है, उसी प्रकार हे चन्द्रस्वामी! आपके वचन-किरणों के संसर्ग से हम जैसे भव्यात्माओं के अंतर में वीतराग धर्मरूपी अमृत झरता है...शांत रस का समुद्र आपके दर्शन से उल्लसित होता है। अहा, दूरसे भी आप हमें शान्ति देते हो, तब हे प्रभो! आप स्वयं कितने शान्तिमय हो!-और हमारे अंतर में आकर वास करने से हमें जो शान्ति प्राप्त होती है-अहो! वह तो वचन अगोचर एवं कल्पनातीत है। ऐसे हे चन्द्रप्रभ! आपकी इस मंगल जीवनकथा का आलेखन करते हुए हमारा चित्त परम हर्षित होता है।**

## यह है काशी देश की चन्द्रपुरी नगरी

इक्षु वंश के महा प्रतापी राजा महासेन वहाँ राज्य करते हैं। वे उदार एवं गंभीर हैं, पराक्रमी एवं क्षमावान हैं, विद्वत्ता के साथ विनयवान हैं और धनवान होने के साथ दानी भी हैं। उनके कितने गुणों का वर्णन किया जाय? संक्षेप में इतना ही बस होगा कि वे भव्य जीवों को मोक्षमार्ग बतलाकर भव से पार करनेवाले ऐसे जगत्गुरु अष्टम तीर्थंकर के पिता होनेवाले हैं और उनकी महारानी लक्ष्मणादेवी जगत्माता के रूपमें पूजनीय होंगी। अहा, जिनके उदर में महा पवित्र तीर्थंकर देव का मंगल आत्मा आनेवाला है उनके गुणों का क्या कहना?

## चन्द्रप्रभ-गर्भकल्याणक

अपने चरित्रनायक जो पहले पद्मनाभ राजा थे और अब चन्द्रप्रभ तीर्थंकर होंगे, उन्हें वैजयन्त विमान में असंख्य वर्ष बीत गये; पश्चात् जब उनकी छहमास आयु शेष रही तब, चन्द्रपुरी नगरी में प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वृष्टि होने लगी; तथा इन्द्र ने दिक्कुमारी देवियों को लक्ष्मणा माता की सेवा के लिये भेजी। उन्होंने माताजी का शरीर अशुचिरहित शुद्ध कर दिया...अहा! जहाँ तीर्थंकर जैसे पवित्रात्मा सवानी महीने तक रहनेवाले हैं वह स्थान अपवित्र क्यों होगा!

देवियों का आगमन, रत्नों की वर्षा आदि आश्चर्यकारी घटनाओं के साथ छह मास बीत गये। एक रात्रि (चैत्र कृष्णा पंचमी) को महारानी लक्ष्मणादेवी सुखनिद्रा में शयन कर रही थीं तब-रात्रि के पिछले प्रहरमें तीर्थंकर के आगमन सूचक अतिमंगल १६ स्वप्न देखे—

(१) ऐरावत हाथी, (२) वृषभ-बैल, (३) सिंह, (४) लक्ष्मी, (५) दो मंगल मालाएँ, (६) चन्द्र, (७) सूर्य (८) मीन युगल, (९) दो मंगल कलश, (१०) सरोवर, (११) समुद्र, (१२) सिंहासन, (१३) देव विमान, (१४) नागेन्द्र भवन, (१५) रत्नराशि, (१६) निर्धूम अग्नि। अहा, तीर्थंकर का आत्मा उनके उदर में प्रविष्ट हुआ उस समय दिखायी दिये इन १६ महादिव्य स्वप्नों से महारानी महान हर्षपूर्वक पुलकित हो गईं।



प्रात:काल महाराजा महासेन से मंगल स्वप्नों की बात कही। उनका फल पूछने पर महाराजा ने कहा-हे देवी! तुम्हारी कुक्षि में अष्टम तीर्थंकर का अवतरण हुआ है, उसकी सूचना रूप यह मंगल स्वप्न हैं। हे देवी! तुम कल्याणकारिणी हो...अपना परम सौभाग्य है कि जगत्पूज्य आत्मा अपने यहाँ अवतरित होगा। अहा, मोक्षगामी आत्मा हमारा पुत्र होगा तो हम भी अवश्य मोक्षगामी ही हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त हर्षानन्द व्यक्त करने लगे।

उस अवसर पर इन्द्र ने आकर तीर्थंकर के माता-पिता रूपसे उनका सन्मान किया, स्तुति की। अपनी नगरी में तीर्थंकर प्रभु का जन्म होगा-ऐसा जानकर चन्द्रपुरी के समस्त प्रजाजन खूब आनन्दोत्सव करने लगे। सर्वत्र तीर्थंकर की महिमा एवं उनका गुणगान होने लगा कि-'अरे, अभी तो गर्भ में हैं, उनका मुख भी हमने नहीं देखा, तथापि इतना आनन्द दे रहे हैं, तो फिर उनका मुख देखने पर अपने को जो आनन्द होगा उसका तो कहना ही क्या!!वाह रे वाह! एक बालतीर्थंकर के जब हम अपनी नगरी में चलते-फिरते-बोलते देखेंगे...धन्य हो जायगा हमारा जीवन!' आकाश से प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वर्षा हो रही थी...परन्तु प्रजा अब उन रत्नों से तृप्त हो गई थी...अब तो वह तीर्थंकर के पास से सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के रत्न लेने को आतुर थी, इसलिये उसे रत्नवृष्टि का आश्चर्य नहीं होता था।

वैजवन्त विमान से प्रभु यहाँ पधारने पर उस विमान की शोभा घट गई और इस चन्द्रपुरी की शोभा बढ़ गई। पुद्गल के पिण्ड में कहाँ शोभा है? वह शोभा तो चिदानन्द प्रभु की समीपता के कारण ही है। इस विश्व की शोभा चैतन्यतत्त्व के कारण ही है। विश्व में जो भी शोभा या सुन्दरता है वह जिनधर्म की आराधना के कारण ही है। जिनधर्म के बिना क्या स्वर्ग का देवपद भी शोभता है?-नहीं रे नहीं, वह तो मुरदे जैसा अथवा नरक समान है।

सामान्यतः स्त्रीपर्याय निंद्य मानी जाती है, तथापि लक्ष्मणादेवी तीर्थंकर के आत्मा के स्पर्श से स्त्रीपर्याय में सुशोभित हो उठीं और जगत में पूज्य हुईं इन्द्र ने भी उनका सन्मान किया। वाह! 'द्रव्य-तीर्थंकर' का ऐसा प्रताप! तो केवलज्ञान प्राप्त करके साक्षात् भावतीर्थंकर होंगे उस समय की महिमा का तो क्या कहना!-ऐसी महिमा के चिंतन द्वारा आत्मा के अगाधस्वरूप को लक्षगत करके अनेक जीव सम्यक्त्व प्राप्त करने लगे। इस प्रकार भगवान चन्द्रप्रभ का गर्भकल्याणक प्रसंग अनेक जीवों को कल्याण का कारण हुआ और सर्वत्र आनन्द मंगल का वातावरण फैल गया।

## 卐 चन्द्रप्रभ-जन्मकल्याणक 卐



चन्द्रपुरी में आनन्दपूर्वक दूसरे नौ मास बीत गये। पौष कृष्णा एकादशी आयी...सर्व उत्तम ग्रहों का सर्वोत्कृष्ट सुयोग था। अभी मध्यरात्रि व्यतीत हुई थी, अँधेरी रात थी; परन्तु अचानक ही चन्द्रपुरी किसी दिव्य प्रकाश से जगमगा उठी। समस्त प्रजाजन आश्चर्यचकित हो गये कि-अरे, यह क्या! अँधेरी रात्रि में यह दिव्य प्रकाश कैसा!...इतने में तो देवों का आगमन होने लगा और ज्ञान हुआ कि अहा! इस भरतक्षेत्र के आठवें तीर्थंकरने यहीं चन्द्रपुरी में लक्ष्मणादेवी की कूख से अवतार लिया है...प्रभु का जन्म कल्याणक हुआ है उसीका यह प्रकाश है। प्रभु के प्रताप से जगत का मिथ्यात्व-अंधकार भी दूर होगा। इस प्रकार प्रजाजनों में आनन्द का कोलाहल छा गया।

दूसरी ओर स्वर्ग में देवों के दरबार में रत्नमय मंगलघंट अपने आप बज उठे, शंखनाद एवं सिंहनाद होने लगे, तथा देवों की दुंदुभि बजने लगी;-इस प्रकार समस्त स्वर्गलोक में प्रभुजन्म की मंगल बधाई पहुँच गई। देवों के आसन डोल उठे। अरे, तीर्थंकर-विभूति के समक्ष इन्द्र-विभूति काँप उठी; क्योंकि तीर्थंकर भगवान जगत को जो चैतन्य विभूति बतलाएँगे, उसके सामने अब जगत के जीव हमें (इन्द्र की विभूति को भी) तुच्छ मानेंगे;-ऐसी चिन्ता के कारण वह इन्द्रासन भी काँप उठा, तब इन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि-अहा! यह तो हमसे विशेष महिमावान ऐसा त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर का भरतक्षेत्र में अवतार! चलो उनका जन्मोत्सव मनाने हेतु मध्यलोक में चलें।

इस प्रकार इन्द्र की आज्ञा से स्वर्गपुरी के देव चन्द्रपुरी में जन्मोत्सव मनाने के लिये धामधूम से चल पड़े। देवों की इतनी अधिक भीड़ से आकाश छा गया और सूर्य-चन्द्र भी छिप गये..कदाचित् चन्द्रप्रभ के आत्मतेज के समक्ष निस्तेज होकर वे सूर्य-चन्द्र छिप गये होंगे। देवों के मुकुटों की जगमगाहट से वहाँ दिन-रात्रिका भेद नहीं रहा। असंख्य द्वीप-समुद्रयुक्त इस मध्यलोक के ऊपर सर्वत्र सौधर्म-ईशान स्वर्ग फैले हुए हैं; सौधर्म स्वर्ग में एक लाख विमानों की ३२ श्रेणियाँ हैं; उनमें दक्षिण दिशा की अन्तिम श्रेणी के १८ वें कल्पविमान में सौधर्म इन्द्र का निवासस्थान है; वह यद्यपि यहाँ से असंख्य योजन दूर है, परन्तु उल्लास के कारण इन्द्र इतनी शीघ्रता से आया कि एक क्षण में असंख्य योजन का अंतर पार करके चन्द्रपुरी में आ पहुँचा।

इन्द्र की दिव्यसेना के एक देवने देव के बदले तिर्यंच का (ऐरावत हाथी का) रूप धारण किया, तथापि उसे खेद नहीं हुआ, किन्तु उल्लास हुआ कि-'अहा, बाल तीर्थंकर प्रभु मेरी पीठ पर आरूढ़ होंगे...उन मोक्षगामी महात्मा के निकट स्पर्श से मैं धन्य बनूँगा और मैं भी अवश्य मोक्षगामी होऊँगा...अहा, तीर्थंकर की सेवा का ऐसा भाग्य इस देवपर्याय में मुझे कहाँ से? पहले तो महान गौरव

से उस देवने एक लाख योजन विशाल हाथी का रूप बनाया...परन्तु ज्यों-ज्यों चन्द्रपुरी के निकट आता गया त्यों-त्यों भगवान की भव्यता के समक्ष अपनी तुच्छता का भास हुआ इसलिये अपने आकार को लघु-लघु करता गया और चन्द्रपुरी के ऊपर आकाश में आकर रुक गया। इन्द्र उस पर से नीचे उतरा और इन्द्रानी को माताजी के पास जिन-बाल (द्रव्य तीर्थंकर) को ले आने के लिये भेजा।

भीतर आकर इन्द्रानी ने जब प्रभु का रूप देखा तब वह आश्चर्य चकित हो गई। यद्यपि वह स्वर्गलोक में इन्द्र के दिव्य रूप को प्रतिदिन देखती थीं, तथापि तीर्थंकर के रूप के समक्ष तो वह भी निस्तेज लगा। सच ही है, चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख के समक्ष इन्द्रियसुख निस्तेज ही लगेंगे न! अब, इन्द्रानी विचार में पड़ गई कि इन बालभगवान को मैं यहाँ से ले जाऊँगी तो माता-लक्ष्मणा पुत्र को न देखकर व्याकुल हो जायँगी; इसलिये उन बुद्धिमती इन्द्रानी ने अपनी उत्तम विक्रिया से बाल-भगवान जैसी ही प्रतिकृति का मायामयी बालक बनाकर माताजी की गोद में सुला दिया और बाल-भगवान को लेकर इन्द्र के पास चलीं।

अहा, उन बाल तीर्थंकर को गोद में लेते ही इन्द्रानी का आत्मा इस प्रकार आनंद से आह्लादित हो उठा मानों मोक्षसुख की अनुभूति कर रही हो! उन्हें चैतन्यसुखकी प्रतीति हो गई और एक भवमें मोक्ष प्राप्त करने का आज्ञा-पत्र मिल गया। बाल-तीर्थंकर की माता उन्हें गोद में उठायें उससे पूर्व ही इन्द्रानी को गोद में लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।....धन्य है!

अद्भुत आनन्द से प्रभु के रुप का अवलोकन करते और खेलाते हुए इन्द्रानीने प्रभु को इन्द्र के हाथ में दे दिया...और इन्द्र भी प्रभुका रूप देखकर आनन्दविभोर होकर नाच उठा...प्रभुका दिव्य-आश्चर्यजनक रूप देखने के लिये उन्होंने अपने एक हजार नेत्रों की शक्ति का एकसाथ उपयोग किया...प्रभु का रुप देखकर वह तृप्त-तृप्त हो गया! वह विचारने लगा कि-अंतरमें अतीन्द्रिय ज्ञानचक्षु से दिखनेवाला चैतन्यरूप सर्वश्रेष्ठ है तो बाह्य में सहस्र नेत्रों से देखते हुए यह जिन रूप सर्वश्रेष्ठ लग रहा है! इन्द्र स्वयं तो उन दोनों रूप को निहारनेवाले हैं! भक्ति द्वारा उन्होंने घोषित किया कि जगत में जिनपद श्रेष्ठ है, इन्द्रपद नहीं।

इन्द्र उन बाल-जिनप्रभु को गोदमें लेकर ऐरावत हाथी पर बैठे। करोड़ों देव-देवियाँ आनन्द से नाच उठे। आकाशमार्ग से प्रभुकी जन्माभिषेक-यात्रा मेरुपर्वतकी ओर चली। प्रभु के जन्मोत्सव की धुन में आनन्दविभोर वह यात्रा पचास हजार योजन (तीस करोड़ किलोमीटर) की दूरी पार करके और ६० करोड़ कि. मि. उंचे मेरु पर्वत पर कब आ पहुँची उसकी खबर तक नहीं पड़ी..क्षणभर में मेरुपर्वत पर पहुँच गये। अनेक आकाशगामी मुनिवर तथा विद्याधर मेरुवन्दना हेतु वहाँ आये थे, वे सब प्रभुका जन्माभिषेक देखने के लिये रुक गये अद्भुत् जिनमहिमा देखकर चैतन्य महिमा के चिंतनसे अनेकों देव तथा विद्याधर सम्यक्त्व को प्राप्त हुए। 'धन्य अवतार!'

अब, देवगण प्रभुका जन्माभिषेक करने को उत्सुक थे; इस लिये मेरुपर्वत से लेकर करोड़ों योजन दूर ऐसे क्षीरोदधि नामके पंचम-समुद्र तक देवगण पंक्तिबद्ध खड़े हो गये...और १००८ स्वर्ण एवं रत्नों से निर्मित कलश भर-भरकर एक-दूसरे को हाथोंहाथ देने लगे। इन्द्रने तो अपने १००८ हाथ बनाकर उन १००८ कलशों से एकसाथ बाल-तीर्थंकर का अभिषेक किया। चारों ओर दैवी बाजा बज उठे...अभिषेक के पश्चात् इन्द्रानीने प्रभु का देवलोक के दिव्य वस्त्रालंकारों से प्रभुका श्रृंगार किया; साथही साथ अपने आत्मा को दिव्य पुण्य से अलंकृत किया। यहाँ कटाक्षयुक्त अलंकारसे पुराणकार कवि कहते हैं कि अरे, इन्द्रानी की जड़ता तो देखो कि वस्त्ररहित निर्ग्रन्थ-दिगम्बर बाल तीर्थंकर को उन्होंने सग्रन्थ

किया। अहा, तीर्थंकर की महिमा तो देखो! देव जिनके स्नान हेतु पानी भरते हैं, इन्द्र जिन्हें स्नान कराते हैं और उसके लिये ढाई करोड़ योजन (१५० अरब किलोमीटर) दूरसे क्षीरसमुद्र का जल भरकर लाते हैं; क्षीर समुद्र जिसकी नींद है, पाण्डुक शिला जिनका पाटा है, स्नान का दैवी रत्नकलश तो आश्चर्य उत्पन्न करे इतना बड़ा (आठ योजन का) है। स्नान के पश्चात् स्वर्ग के आभूषणों से इन्द्रानी जिनका श्रृंगार करती हैं;-ऐसा अलौकिक जिनका पुण्य है, उनके अंतर की आत्मसाधना का क्या कहना!!

आनन्दमय जन्माभिषेक के पश्चात् इन्द्र ने मेरुपर्वत पर ताण्डवनृत्य किया और उन बालतीर्थंकर को 'चन्द्रप्रभ' नाम से सम्बोधन करके स्तुति की:-

'चन्द्र की प्रभा समान शोभायमान हे देव! आप इस भरतक्षेत्र के आठवें तीर्थंकर हो...भव्य जीवों के अंतर में सुखसमुद्र को तरंगायमान करने में आप चन्द्ररूप हो...आपके रत्नत्रयधर्म का आश्रय करके अनेक जीव भवसमुद्र से पार हो जायँगे। भवसागर में डूबते हुए जीवों को आप नौका समान हैं। प्रभो! आपके दर्शन तथा आपके मार्ग का सेवन जीवों को विषयकषाय के पापों से छुड़ाता है और वैराग्यमय सुखमें लगाता है। प्रभो! आपकी सेवासे जीवों को बिना इच्छाके भी सुख की प्राप्ति होती है। जिसके हृदय में आप विराजते हो उस भव्यात्मा को मोक्ष की साधना में कोई विघ्न नहीं आता; जगत की सम्पदा बिना बुलाये आकर उसकी सेवा करती है। अहा, देवों और मनुष्यों की तो क्या बात! परन्तु पशु भी आपकी सेवा से अपना कल्याण करेंगे। जिन्हें आपके प्रति भक्ति नहीं है उनका जीवन पशुओं की अपेक्षा से भी तुच्छ है।'

इन्द्र कहते हैं-'हे चन्द्रप्रभ देव! अब आपके भवका अभाव हो गया है...आप जन्मरहित हो गये; अब आप मोक्षको ही धारण करोगे, भवको नहीं (स्वानुभूतिगम्य आपकी महिमा वास्तव में अद्भुत एवं अचिन्त्य है।) इस प्रकार सहस्र जिह्वासे स्तुति करते-करते थककर अन्त में कहते हैं-अरे, आपके समस्त गुणों की स्तुति करनेवाला मैं कौन? आपके सम्पूर्ण गुणोंकी स्तुति तो दूर रही, जो भव्य आपके प्रति श्रद्धा से मात्र 'नमः' ऐसे दो अक्षर कहता है उसके भी सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं और आप समान गुण प्राप्त होते । (वन्दे तद्गुणलब्धये..) ऐसा विचारकर इन्द्रने प्रभुचरणों में अत्यन्त भक्तिपूर्वक साष्टांग नमस्कार किया और फिर प्रभु के जन्माभिषेककी शोभा यात्रा के साथ चन्द्रपुरी आये।

अहा, चन्द्रपुरी के हर्षोल्लास का क्या कहना! जब सामान्य देव-विमान आने पर भी लोग आश्चर्यमुग्ध हो जाते हैं. तब यहाँ तो देवलोककी विभूति लेकर इन्द्र स्वयं चन्द्रपुरीमें आया और तदुपरान्त बाल-जिनेन्द्र का आगमन हुआ...फिर आनन्दाश्चर्य का क्या कहना!! तथा दूसरा आश्चर्य यह हुआ कि पन्द्रह-पन्द्रह मास से चन्द्रपुरी में प्रतिदिन जो करोड़ों रत्नों की वर्षा हो रही थी वह रत्नवृष्टि भी आज से रुक गई। 'भगवान अवतरित नहीं हुए थे तब तक रत्नों की वर्षा होती थी, और भगवान का अवतार होते ही वह रुक क्यों गई?...हाँ, बराबर है!-क्योंकि भगवान तीर्थंकर जगत को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के जो रत्न देंगे उनके सामने अब इन जड़ रत्नों की क्या बिसात? मोक्ष के रत्न छोड़कर इन जड़ रत्नों को कौन लेगा? इन तीर्थंकर-रत्न की साक्षात् प्राप्ति के पश्चात् उन जड़रत्नों की ओर अब कौन देखेगा? बस, इसीलिये वह रत्नवर्षा शरमाकर रुक गई थी।

इन्द्रने भगवान के माता-पिता का सन्मान किया, उनके समक्ष आनन्दपूर्वक विभिन्न नाटकादि तथा ताण्डव नृत्य किया। इस प्रकार चन्द्रपुरी में चन्द्रप्रभ भगवान का जन्मोत्सव मनाकर वे स्वर्गपुरी लौट गये। कहते हैं कि-इन्द्रने जाते समय बालतीर्थंकर के अँगूठे में अमृत भर दिया था... जिसे भगवान चूसते थे। अरे भाई! तीर्थंकर के तो स्वयं सर्व आत्म-प्रदेशों में चैतन्यामृत भरा था...उसे वे चूसते थे...उस

चैतन्यामृत की मिठास के समक्ष स्वर्गलोक के जड़ अमृत की क्या गिनती? इसलिये इन्द्र बेचारे शरमाकर वह अमृत प्रभुके चरण में रख गये होंगे!

बाल-तीर्थंकर चन्द्रप्रभ शुक्लपक्ष के चन्द्र की भाँति दिन प्रतिदिन वृद्धिंगत होने लगे। सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर के मोक्षगमन पश्चात् ९०० करोड़ सागरोपम बीत जाने पर भगवान चन्द्रप्रभ तीर्थंकर हुए। उनकी आयु दस लाख पूर्व थी, १५० धनुष (=१५०० फुट, ४५० मीटर) ऊँचा उनका शरीर था। चन्द्रलक्षण से चिह्नित चन्द्रप्रभ का वह शरीर चन्द्र से भी अधिक कान्तिवान एवं अधिक सौम्य था, और उनके भीतर की भावलेश्या तो उससे भी अधिक उज्ज्वल थी। उन अमृतभोजी महात्मा के शरीर से मानो अमृत झरता था। देवियाँ उन्हें आनन्द से क्रीड़ा करातीं, झुलाती, मंगलगीत गातीं और मधुर वार्तालाप द्वारा उनके अमृतसमान वचन सुनकर अपने को धन्य मानती थीं।



झूले झूलो रे झूलो, प्रभुजी झूलो रे झूलो
नानकड़ा हे जिन-राजा, ज्ञानझूले झूलो...प्रभु झूलो रे झूलो
माता झुलावे, देवी झुलावे, हाथी भी झुलावे...कुंवर झूलो रे झूलो
केवलज्ञान में कूदका मारकर समकित झूले झुलावो...प्रभुजी...
आकाशे ज्यों चंद्र झूले, प्रभु चैतन्यझूले झूलो...प्रभु झूलो रे झूलो

अहा, तीर्थंकर के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा का सौभाग्य मिलने से अपनी देवी पर्याय को भी वे धन्य मानती थीं। ऐसा सौभाग्य क्या स्वर्ग की सारी देवियों के प्राप्त होता है?-नहीं; महाभाग्यवती कुमारिका मोक्षगामिनी देवियों को ही वह लाभ मिलता है। स्त्रीपर्याय को निंद्य माना गया है, परन्तु वह बात न देवियों को इन्द्रानी को या लक्ष्मणामाता को लागू नहीं होती थी। माता-लक्ष्मणादेवी तो तीर्थंकर की माता बनकर जगत की सर्वश्रेष्ठ नारी बन गई थीं; और उनकी पर्याय धन्य है-ऐसा इन्द्रोंने भी स्वीकार किया था।

चन्द्रकुमार सबको आनन्दित करते हुए पल रहे थे। जिस प्रकार मूल्यवान रत्न जौहरियों के बीच एक हाथ से दूसरे हाथ में फिरता रहता है और जौहरी उसे देखकर प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार उस तीर्थंकर रत्न को भी राजपरिवार के लोग हाथोंहाथ लेकर आनन्दित होते थे। उन बाल-चन्द्र के साथ देव-बालक (बालक का रूप धारण किये हुए देव) आनन्दकारी खेल-कूद करते; कभी छोटे-से हाथी का रूप धारण करके उन्हें सूँड़ में लेकर झुलाते; कभी भगवान स्वयं भी देवों के दिये हुए वाद्य बजाते और मंगल

चैतन्यगीत गाते, तब श्रोताजन मंत्रमुग्ध हो जाते थे कि-'अहो रूप अहो ध्वनि!' क्या अद्भुत था उनका रूप और कितनी मधुर थी उनकी वाणी!! -मानो तीर्थंकर बनने से पूर्व ही लोगों को उनकी दिव्यध्वनि का स्वाद मिलने लगा। अहा, तीर्थंकर के साथ रहकर उन्हें हँसते-खेलते बोलते देखना यह कोई साधारण बात है! सातवें तीर्थंकर के मोक्षगमन पश्चात् असंख्यात वर्षों में भरतक्षेत्र के जीवों को उन आठवें तीर्थंकर के दर्शन का सद्भाग्य प्राप्त हुआ। मात्र चन्द्रपुरी के ही नहीं दूर देशान्तर से भी हजारों भव्य जीव प्रतिदिन उनके दर्शन हेतु राजमहल के प्रांगण में उमड़ते थे। प्रसन्नचित्त राजकुमार कभी-कभी राजमहल के झरोखे में खड़े रहकर उन्हे दर्शन देते, तो कभी महल के बाहर आकर उनसे मिलते और प्रसन्नतासे वार्तालाप भी करते। अहा, छोटे-से परमात्मा के दर्शन पाकर भारत के लोग कृतार्थ हो जाते थे। वे तीर्थंकर राजकुमार कभी-कभी हाथी पर चढ़कर नगर में घूमने निकलते तब नगरवासी उन्हें देखकर अनुपम आनन्द प्राप्त करते। अहा, चलते-फिरते भगवान...उनके साक्षात् दर्शनों से जो आनन्द प्राप्त होता होगा उसका क्या कहना!! बचपन में 'जलक्रीड़ा' तो करते, परन्तु 'जड़क्रीड़ा' कभी नहीं करते थे।गंगा नदी तो राजमहल को छूकर ही बहती थी; कभी-कभी चन्द्रकुमार उसमें नौका विहार करते। प्रभु चरणों के स्पर्श से *गंगानदी* पावन बनती; और संभवत: तभी से लोग *गंगाजल* की महिमा गाने लगे। वे लाड़ले राजकुमार कभी-कभी महल में चुपचाप छिप जाते, तब माता लक्ष्मणा उन्हें ढूंढने आतीं और 'बेटा चन्द्र...ओ चन्द्र!' ऐसा कहकर बुलातीं उन्हें हैरान करके फिर अचानक 'माँ...माँ...' कहते हुए चन्द्रकुमार बाहर आकर उनसे लिपट जाते। इस प्रकार बाललीला द्वारा माता को आनन्दित करते थे। माँ उन्हें उठाकर अतिवात्सल्य से चूमकर, सिरपर हाथ फेरकर अपार स्नेह की वर्षा करती थीं।

## चन्द्रप्रभ का पंचम गुणस्थान-आरोहण और राज्याभिषेक

बाललीलाओं तथा किल्लोलों द्वारा सबको आनन्दित करते-करते जब वे आठ वर्ष के हुए तब सहजवृत्ति से स्वयमेव देशव्रत धारण करके पंचम गुणस्थान में पहुँचे। पहले चार कषायों का तो अभाव किया ही था, अब दूसरे चार कषायों का नाश करके आत्मसाधना में आगे बढ़े। अभी आठ वर्ष की आयु में तो आठ कषायों को तोड़ दिया। उनका जीवन निष्पाप-पवित्र तो था ही, उसीमें देशव्रत धारण करने से उनकी विशुद्धि विशेष बढ़ गई।

गुणों में वृद्धिंगत होते-होते वे उन बालप्रभु ने अब युवावस्था में प्रवेश किया और राजसभा के कार्यों में भी भाग लेने लगे। महाराजा ने उनका विवाह भी कर दिया; यद्यपि उनको इन्द्रियविषयों की इच्छा नहीं थी और न प्रजा से कोई कर लेने की आवश्कता थी; उनका मन तो मोक्षलक्ष्मी में ही आसक्त था।

राजकुमार चन्द्रप्रभ की आयु का चतुर्थ भाग अर्थात् ढाई लाख पूर्व व्यतीत हो गये तब महाराजा महासेनने धामधूम् से उनका राज्याभिषेक किया। प्रजाजन अति प्रसन्न हुए; वास्तव में तो वे प्रजा के हृदय-सिंहासन पर विराजते थे। अरे, जन्म से ही इन्द्र जिनका सेवक रहा हो ऐसे वे भगवान मात्र चन्द्रपुरी अथवा काशीदेश के ही नहीं, त्रिलोकाधिपति थे। राज्य-शासन के साथ-साथ वे धर्मशासन भी करते थे।

## अब चलो...चन्द्रप्रभ महाराजा के राजदरबार में...

अहा, महाराजा चन्द्रप्रभ का राजदरबार कैसा भव्य है! उसकी शोभा अद्भुत है! परन्तु उनकी

राजसभा में राजकार्य की चर्चा कम ही होती है, क्योंकि प्रजाजन सर्व प्रकार से सुखी हैं। कहीं भी युद्ध, अकाल, रोग या लूटपाट आदि कोई दुःख या भय नहीं है, इसलिये प्रजा को कोई शिकायत करना नहीं रहा है। राज्य सुव्यवस्थित चल रहा है; इसलिये तत्सम्बन्धी विशेष चर्चा की राजसभा में आवश्यकता ही नहीं होती। अस्तु राजसभामें भी अधिकांश धर्मचर्चा होती है; सब जिनधर्म की महिमा गाते हैं, और कभी-कभी तो महाराजा चन्द्रप्रभ स्वयं चैतन्यतत्त्व की सुंदरता का अद्भुत वर्णन करते हैं तब उनके श्रीमुख से चैतन्य महिमा सुनकर सभा के लोग मुग्ध हो जाते हैं। चलो, हम भी उनके एक मधुर गीत का रसास्वादन करें—

आतमा आतमा आतमारे...अहो अद्भुत चिदानन्द आतमा..
जिसे देखने से होगा परमातमारे...अहो अद्भुत चिदानन्द आतमा..
धर्मात्मा जीव बन, अपने में लीन हो...स्वरूप से बाहर भटक ना रे..अहो०
सम्यक् दृष्टि बन, भ्रमणा को दूरकर, आनन्द स्वरूप में लीन हो रे..अहो०
ज्ञानस्वरूपी आनन्द का सागर, उछला है उसमें तू मग्न हो रे..अहो०
अवसर आनन्द का प्राप्त हुआ है, शांत स्वरूप में स्थिर हो रे..अहो०
आतमराम यह सुंदर स्वरूपी देखो-देखो निज अंतर में रे..अहो०

मानो मधुर चैतन्य की बंशी बज रही हो इस प्रकार प्रभु आत्मगीत गाते थे। प्रभु के श्रीमुख से चैतन्यमहिमा सुनते-सुनते कुछ जीव अंतरकी गहराई में उतरकर आत्मानुभव भी कर लेते थे...मानो भगवान ने अभी से धर्मतीर्थ का प्रवर्तन प्रारम्भ कर दिया हो! इस प्रकार उनके प्रताप से राजसभा भी धर्मसभा की भाँति शोभायमान हो उठती थी। चन्द्रपुरी में सचमुच धर्मराज्य था। वहाँ के नागरिक वास्तव में भाग्यशाली थे कि जिन्हें तीर्थंकर के दर्शन का और उनके साथ वार्तालाप करने तथा धर्मश्रवण का महाभाग्य भी प्राप्त होता था।

## महाराजा चन्द्रप्रभ का वैराग्य

इस प्रकार सुखपूर्वक राज्य करते-करते दूसरे पाँच लाख पूर्व बीत गये। दस लाख में से साढ़े सात लाख पूर्व की आयु बीत गई; तब एक दिन चन्द्रप्रभ महाराजा का दरबार लगा था, आज उनका जन्मदिन (पौष कृष्णा एकादशी) था; इसलिये आनन्दोत्सव हो रहा था...इतने में अचानक एक आश्चर्यजनक घटना हुई। क्या हुआ? वह सुनो।

एक अत्यन्त वृद्ध भयभीत पुरुष लकड़ी के सहारे राजसभा में आया और महाराज चन्द्रप्रभ को नमस्कार करके काँपते-काँपते दुःखपूर्वक कहने लगा-हे महाराज! आप देवों से भी पूज्य हैं, आपका हृदय दयालु है, आप शरणागत-प्रतिपालक हो; प्रजा के दुःख दूर करने वाले हो। हे देव! मैं अति दीन एवं भयभीत हूँ; आप मेरी रक्षा करो, मुझे बचा लो!

महाराजा ने दयाभरी दृष्टि से पूछा-भाई! क्या दुःख है तुझे! किसका भय है?



वृद्ध ब्राह्मण बोला : हे स्वामी एक निमित्तज्ञानी ने मुझसे कहा है कि आज रात्रि को ही मेरी मृत्यु हो जायगी; इसलिये मैं मृत्यु से भयभीत हूँ; किसी विषयमें मुझे मृत्यु से बचा लिजिये। अरे! क्या आपके देखते हुए मृत्यु मुझे मार डालेगी? हे स्वामी! यदि आप मुझे मृत्यु से नहीं बचा सके तो फिर आप 'मृत्युंजय' कैसे कहलायेंगे?

एक मंत्री ब्राह्मण की उस बात का उत्तर देने लगा : हे भाई! धैर्य रखो! आयु पूर्ण होने पर मृत्यु तो सभी प्राणियों की होती ही है। उस मृत्यु से इन्द्र नरेन्द्र या जिनेन्द्र भी नहीं बचा सकते। भगवान चन्द्रप्रभ महाराजा ने आत्मसाधना द्वारा मोक्षको साधकर मृत्यु पर विजय प्राप्त की है, इसलिये वे 'मृत्युंजय' हैं-न कि दूसरे जीवों को मृत्यु से बचा लेने के लिये? हाँ, इतना अवश्य है कि उनके बतलाये हुए मोक्षमार्ग की जो उपासना करे वह मृत्यु को जीतकर अमरपद प्राप्त कर सकता है। भगवान तो जगत को मार्ग बतलानेवाले हैं परन्तु जगत के कर्ता-हर्ता नहीं हैं।

मंत्री का उत्तर पूरा होने से पूर्व ही वह ब्राह्मण वेशधारी पुरुष अचानक अंतर्धान हो गया...सभाजन एकदम आश्चर्यचकित हो गये; परन्तु महाराज चन्द्रप्रभ तो अतिगंभीर होकर किसी गहरे विचार में उतर गये थे।

तब अवधिज्ञान द्वारा सब वृत्तांत जाननेवाले महाराज चन्द्रप्रभ धीर-गम्भीर स्वर में बोले-सुनो! हे सभाजनो! यह जो वृद्ध ब्राह्मण आया था, वह कोई मनुष्य नहीं, किन्तु स्वर्ग; से एक देव मुझे वैराग्य जागृत करने के लिये वह वेश धारण करके आया था और जीवन की क्षणभंगुरता बतलाने के लिये उसने यह युक्ति की थी; वह अपना कार्यपूर्ण करके चला गया। सच ही है-संसारी प्राणियों का जीवन अनित्य है। अरे, स्वर्गलोक के देव भले ही असंख्य वर्षों की आयुवाले होते हैं; परन्तु अन्त में तो वह भी विनश्वर है; आयु पूर्ण होने पर उन देवों को या इन्द्र को भी कोई बचा नहीं सकता। इसलिये इस जीवन में आत्मसाधना पूर्ण करके इस भवचक्र के जन्म-मरण का अन्त कर लेना है। उसी के गहरे विचार में मैं तल्लीन था। मेरा यह अवतार पूर्ण परमात्मपद की साधना के लिये है, इस संसार में रहने के लिये नहीं। मैंने राजपद में बहुत वर्ष बिता दिये हैं इन्द्र की आज्ञा से वह धर्मरुचि नामका देव ब्राह्मण का रूप धारण करके मुझे राजभोगों से विरक्त करने के लिये आया था; मुझमें वैराग्य जागृत करके वह चला गया। अभी तक मुझे जिन शुभाशुभ कर्मों ने संसार-भ्रमण कराया है उन सर्व कर्मों को छेदकर अब मैं मोक्षरूप परमपद की साधना करूँगा...उसके लिये मैं आज ही जिनदीक्षा धारण करूँगा।

सभाजन तो प्रभु की बात सुनकर एकदम चकित हो गये कि-अरे, यह कैसी बात!! बस, प्रभु का चित्त क्षणभर में संसार से विरक्त हो गया; अब उन्हें कोई रोक नहीं सकेगा। उन वनराज को अब गृहवास के पिंजरे में कैद करके नहीं रखा जा सकता। अनेक प्रजाजन तो प्रभु की परमशांत वैराग्य मुद्रा देखकर प्रसन्न हो उठे और स्वयं भी वैराग्य प्राप्त करके प्रभुके साथ जिनदीक्षा लेने की भावना भाने लगे। सारी राजसभा क्षणमात्र में वैराग्यसभा में परिवर्तित हो गई। प्रभु के जन्मोत्सव का दिन वैराग्यमय जिनदीक्षाका दिन बन गया।

श्री चन्द्रप्रभ के वैराग्य का प्रसंग उत्तरपुराणमें अन्य रीति से आता है; वह ऐसा है-



महाराज चन्द्रप्रभ एक दिन दर्पण में अपना मुख देख रहे थे...उस दिन प्रभु का जन्मदिन था। प्रभु को दर्पण के प्रतिबिम्ब में विशेषता दिखायी दी...मानो एक साथ दो प्रतिबिम्ब दिखायी दे रहे हों! आश्चर्य से विचारने पर उन्हें जातिस्मरण हुआ, अपने पूर्वभव दिखायी दिये। चक्रवर्ती का भव, मुनिदशा एवं देवलोक का दिव्यभव उन्होंने देखे। वे चिन्तवन करने लगे कि-अरे, चक्रवर्ती और देवलोक के दिव्य भव भी क्षणभंगुर हैं-नश्वर हैं, वहाँ अन्य भोगों की क्या बिसात? अरे, ऐसे सुखको सुख कैसे कहा जाय कि जो आत्मा में से उत्पन्न नहीं हुआ हो और पराधीन हो? ऐसी लक्ष्मी को लक्ष्मी कौन कहे कि जिसका मोह केवलज्ञान-लक्ष्मी को रोकता हो? ऐसे बन्धुजन किस काम के जिनका वियोग हो जाय! आत्मा से उत्पन्न हुआ सहजसुख ही सच्चा सुख है; केवलज्ञान-सम्पदा ही आत्मा की सच्ची सम्पदा है और सम्यक्त्वादि अनन्त गुणपरिवार ही आत्मा का सच्चा परिवार है। अरेरे! ऐसा संसार जीवन किस कामका कि आयु का अंत होने पर जिसका अंत हो जाय! जो आयु के आधीन नहीं है ऐसा अनंत सिद्ध जीवन ही आत्मा का सच्चा जीवन है। भव-भवमें देहादि संयोग कैसे बदलते रहते हैं!-तथापि मैं तो वही हूँ,-चैतन्य स्वरूप मेरा आत्मा ही मेरे लिये ध्रुवरूप है; अन्य सर्व संयोग मेरे लिये अध्रुव हैं—

मेरा सुशाश्वत एक दर्शन-ज्ञान लक्षण जीव है;<br>
शेष सब संयोग लक्षण भाव मुझसे बाह्य हैं।

और पुण्यफल का उपभोग भी अध्रुव है, वह जीव को खिन्न एवं व्याकुल करता है; वीतरागी केवलज्ञानमें ही खेद और थकान रहित ध्रुवसुखका उपभोग है। उसे प्राप्त करने हेतु मैं आज ही चारित्र अंगीकार करके मोक्षको साधूँगा। भगवान चन्द्रप्रभ ऐसा विचार रहे हैं कि इतने में मोक्षकी दूती जो दीक्षा, वह प्रभुको बुलाने आ पहुँची। प्रभु मोक्षसुन्दरी के वरण हेतु दीक्षा लेने को तैयार हुए। उसी समय अवधिज्ञान से वह जानकर लौकांतिक देव वहाँ आ पहुँचे। ब्रह्मलोक नामके पाँचवें स्वर्ग में आठ प्रकार के लाखों लौकान्तिक देव रहते हैं। वे देवर्षि उपशांत परिणामी, बारह अंग ज्ञानधारी, वैरागी, ब्रह्मचारी तथा एकावतारी हैं। वे एकमात्र तीर्थंकर देवके दीक्षा कल्याणक के अतिरिक्त अन्य किसी अवसर पर मध्यलोक में नहीं आते। चन्द्रप्रभ की दीक्षा के अवसर पर वे लौकान्तिक देव चन्द्रपुरी में आये और प्रभु को वन्दन करके स्तुतिपूर्वक वैराग्य की अनुमोदना करने लगे

सुख-दुःख में जीव अकेला, जन्मे-मरे जीव अकेला;<br>
है भवभ्रमण में अकेला, अरु मोक्ष में भी अकेला।

हे जिनेन्द्र प्रभो! आत्मा के एकत्व को जानकर आप जो वैराग्य भावना भा रहे हैं वह प्रशंसनीय है। आपका चारित्रदशा सम्बन्धी निश्चय अति प्रशंसनीय एवं मंगलकारी है; आपका चारित्र जगत के

जीवोंको, भी कल्याणकारी है; हम भी उसी चारित्रदशा की भावना भाते हैं। प्रभो! आप मुनि होकर शुद्धोपयोग द्वारा अल्पकालमें ही केवलज्ञान प्राप्त करेंगे और दिव्यध्वनि द्वारा भरतक्षेत्र के भव्यजीवों के लिये मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करेंगे।—धन्य है आपका अवतार!

इस प्रकार वैराग्य की अनुमोदना करके वे लौकांतिक देव चले गये और उसी ही समय दीक्षा हेतु दैवी शिबिका लेकर इन्द्रादि देव भी वहाँ पहुँचे। जन्मोत्सव की अपेक्षा इस बार के उत्सव की धामधूम भिन्न प्रकार की थी। शांतरसमय वह उत्सव देखकर अनेक राजा तथा प्रजाजन वैराग्य को प्राप्त हुए और प्रभु का अनुसरण करके वनमें जाने को तैयार हुए।



प्रभु वनगमन हेतु जब पालकी में आरूढ़ हुए उस समय इन्द्र ने उन्हें अपने हाथ का सहारा दिया...अरे, नहीं। प्रभुके हाथ में अपना हाथ देकर इन्द्र ने भव से पार होने के लिये उनका अवलम्बन लिया।' हे प्रभो! आपकी सेवा का ऐसा सौभाग्य हमें कहाँ से? भवचक्र से छूटकर मोक्षपुरी की ओर प्रयाण करने के लिये यह आपका अन्तिम वाहन - सवारी है। इस वाहन को अपने कन्धों पर उठाकर हमारा जीवन धन्य हो गया!' - ऐसी भावना भाते-भाते पहले राजा पालकी उठाकर चले और फिर देवों ने वह लेकर आकाशमार्ग से गमन किया। चैतन्यसाधना के विमल कार्य हेतु प्रभु वनगमन के लिये जिस पालकी में आरूढ़ हुए वह पालकी 'विमला' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसमें बैठे-बैठे भगवान वैराग्यभावना भाते थे।

## भगवान चन्द्रप्रभ की भायी हुई बारह वैराग्य भावनाएँ



[राग-हरिगीत]

(१) जे ज्ञान-दर्शन माहरा ते ध्रुव मारुं रुप छे;
एकत्व छुं ने शुद्ध छुं, बस, जे ज मारुं रूप छे।
(२) चेतनमयी मुज आत्ममां रक्षित थई रहेनार हुं;
नथी शरण जोतुं कोईनुं बस, शरण आतमरामनुं।
(३) एकत्व जाणी आत्मनुं बस! लीन हुं मुज आत्ममां;
अन्यत्व सौ परभावथी, संयोगनुं तो नाम क्यां?
(४) आ देह ने वली राग ते सौ चेतनाथी अन्य छे;
जेमां नथी कंई सुख मारुं, चिन्तवुं मुज आत्मने।
(५) भवचक्रमां भमवा छतां परमातमा मुज पासमां;
हुं ध्यावतो निज आत्मने बस, जई रह्यो छुं मोक्षमां।
(६) शुचिरुप मारो आतमा, हुं मलिनने स्पर्शुं नहीं;
भावो अशुचि रागना, ते आत्ममां लावुं नहीं।

[हरख हवे तुं हिन्दुस्तान-राग]

(७) ज्ञानतणी नौकामां बेठो, आस्रव सर्वे दूर थया;
भवथी छूटी मोक्षे चाल्यो, दुःखडा मारा दूर थया।
(८) संवर छे मुज परममित्र ने हुं ज स्वयं बस संवर छुं;
सम्यक्रुपी ढाल धरीने, आस्रवने अटकावुं छुं।
(९) रत्नत्रयमां वृद्धि करतां, कर्मो झर-झर तूटी पडे;
परीषहोने सहतो आतम मुक्तिपुरीमां आवी रहे।
(१०) लोकभ्रमण हवे नथी-नथी, बस! लोकशिखरमां जावुं छे;
सादि-अनंत बस सुख ज वेदी, सिद्धपुरीमां वसवुं छे।
(११) मुज आतमनो धर्म ज चेतन, दर्शन-चरित-ज्ञान छे;
क्षमा धरम छे मुज आतमनो, राग रहित वीतराग छे।
(१२) भले बोधि छे दुर्लभ पण ते प्राप्त थती जिनमारगमां;
धन्य बन्यो हुं बोधि पामी आनंद जाग्यो आतममां।
नथी सुंदर कंई जगमां बीजुं, बोधि मारी सुंदर छे;
जे बोधिना परम बोधथी मुक्ति मारी अंदर छे।

[इति तीर्थंकर-वैराग्य चिन्तन]

[उपरोक्त भावनाओं को मुमुक्षु कण्ठस्थ कर लें, जीवनमें सदा उपयोगी हैं।]

ऐसी वैराग्य भावनाएँ भाते हुए भगवान 'सकलऋतु' नामक वनमें पधारे। जिस प्रकार सकलऋतुओं में सर्व प्रकार के फूलोंफलों से खिला रहता था, उसी प्रकार भगवान के अंतर-वन में भी सर्व ऋतुओं में सुन्दरता से खिला हुआ रत्नत्रय-पुष्पमय चैतन्य-उद्यान सुशोभित हो रहा था। अहा, चैतन्य की अद्‌भुत शोभा से सारा जगत सुशोभित हो उठता है!

दीक्षावन में हजारों-लाखों देव और मनुष्य, और वन के पशु भी, प्रभुकी वैराग्यप्रवृत्ति को अति आश्चर्यपूर्वक निहार रहे थे...इन्द्रिय विषयों को तथा उत्तम राजभोगों को भी छोड़कर यह महात्मा कोई दिव्य साधना कर रहे हैं, तो उस साधनामें इन्द्रिय विषयों से पार कोई अचिन्त्य-अतीन्द्रिय परम सुख प्राप्त होता होगा! इस प्रकार अनेक जीवों को आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की प्रतीति हो जाती थी और उनका चित्त विषयों से विरक्त होता था। प्रभुने समस्त राजवैभवसहित वस्त्रादि सर्व परिग्रह का त्याग किया और 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' ऐसे सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके स्वयं मुनिदीक्षा अंगीकार की। उनके साथ दूसरे एक हजार मुमुक्षु जीव भी जिनदीक्षा लेकर मुनि हुए। मुनिराज चन्द्रप्रभ को ध्यानरूप शुध्दोपयोग में तुरन्त सातवाँ गुणस्थान, मनःपर्ययज्ञान तथा अनेक लब्धियाँ-सब एकसाथ प्रगट हुए। मुनिपने का अभ्यास तो उन्होंने पूर्वभवों में किया ही था, तदुपरान्त विशेष शुद्धिपूर्वक वे केवलज्ञान साधने को तत्पर हुए।

## धन्य चन्द्रप्रभ-मुनि भगवन्त...उन्हें नमस्कार हो!

मुनिदशा में दो उपवासों के पश्चात् प्रथम पारणा कराने का (-आहारदान का) महान लाभ नलिनपुरके सोमदत्त राजाके प्राप्त हुआ; उस समय रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य द्वारा देवों ने भी उस दान की महिमा की। ध्यान के बल से प्रभुने उत्तमक्षमादि धर्मों की आराधना प्राप्त की और क्रोधादि कषायों को मृततुल्य कर दिया। पश्चात् शुक्लध्यान द्वारा पुकार कर प्रभुने केवलज्ञान को बुलाया; इसलिये वह केवलज्ञान नवलब्धि तथा तीर्थंकर पद को साथ लेकर, अति शीघ्रता से निकट आ रहा था। उनका वैराग्य-कवच इतना दृढ़ था कि कोई उपसर्ग या परीषह उनकी आत्मसाधना को प्रभावित नहीं कर सकता था।

मुनिदशा में भी प्रभुका प्रभाव अचिन्त्य था। अनेक मुनि उनकी शरण में आते और बिना बोले प्रभुके दर्शनामात्र से भी उनको सूक्ष्म तत्त्वों का समाधान हो जाता। प्रभुको स्वयं तो कोई शंका थी नहीं और उसके निकट आनेवाले जीवों के अंतर में तत्त्वसम्बन्धी कोइ शंका नहीं रहती थी। अरे, उनके शरीर का स्पर्श करके जो वायु आती थी...उसके द्वारा भी रोगी के सर्व रोग दूर हो जाते थे;-ऐसी अनेक लब्धियाँ होनेपर भी प्रभुको उनका लक्ष नहीं था, उनका चित्त तो कैवल्यलब्धि की साधना में लीन था।

साधक मुनिदशा में चन्द्रप्रभ तीन मास तक रहे...पश्चात् चैत्र कृष्णा सप्तमी को केवलज्ञान प्राप्त करने को कटिबद्ध हुए...क्षपकश्रेणी चढ़ने को तत्पर हुए। क्षायिक सम्यक्त्व तो वे पहले से ही प्राप्त कर चुके थे; अब चैतन्य के परम-आनन्द को तन्मयता से ध्याते हुए मुनिराज चन्द्रप्रभ मोक्ष की श्रेणी चढ़ने लगे। चारित्रमोह का क्षय करने के लिये शुक्लध्यानचक्र को धारण किया और शुद्धता का 'अपूर्व परिणाम' द्वारा अष्टम गुणस्थान में प्रवेश किया। कर्मों का बंधन शीघ्रता से टूटने लगा...तुरन्त वे नववें गुणस्थान में पहुँचे। अहा, अब उनकी वैराग्य परिणति इतनी बढ़ गई कि अभी तक (असंख्य वर्षों से सतत रूप से) तीर्थंकर प्रकृति का जो कर्म बँध रहा था वह भी अब रुक गया। जिसकी परिणति अति शीघ्रता से मुक्ति की ओर जा रही हो उस मुमुक्षु को तीर्थंकर प्रकृति का भी बंधन क्यों रुचेगा? वहीं

क्रोध, मान और मायारूप कषायों का तो उन्होंने सर्वथा अभाव किया और फिर दसवें गुणस्थानों में सूक्ष्म लोभ को भी छोड़कर सर्व कषायरहित अकषाय-वीतराग हुए। उसी क्षण, बीचमें ग्यारहवें गुणस्थान को स्पर्श किये बिना सीधे क्षीणमोहरूप बारहवें गुणस्थान में आये और अतिशीघ्रता से (पलक झपकने मात्र में) शेष घाति कर्मों को तोड़कर तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर सर्वज्ञ-परमात्मा बन गये। अहाहा! धन्य था वह क्षण! कृत्यकृत्य था वह परमात्मपद!- जहाँ सर्वभाव अत्यन्त शुद्ध एवं ज्ञाता-द्रष्टारूप वर्तते थे, और साथ ही अतीन्द्रिय सुख भी पूर्णतारूप पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ था; वे 'स्वयंभू' भगवान थे, क्योंकि सर्वज्ञता के लिये उन्होंने अपने आत्मस्वभाव के अतिरिक्त किसी अन्य का अवलम्बन नहीं किया था। महान सन्त भी उस दशा की अनुमोदना करते हैं कि—

अतिशय आत्म समुत्थित, विषयातीत, अनुपम और अनन्त।
तथा अविच्छिन्न सौख्य, शुद्धोपयोगप्रसिद्धों को।।

यों वह लब्धस्वभावी, हो सर्वज्ञ, सर्वलोकपति पूजित।
स्वयमेव आप बनता 'स्वयंभू' यों कहा जिनवर ने।।

प्रक्षीणघातिकर्म जो, अनन्त, उत्तमवीर्य, अति तेजमय।
अतीन्द्रिय हुआ है सो ज्ञान-सौख्यरूप परिणमता।।

अहा, उस ज्ञान और सुख की महिमा का क्या कहना!-जिसकी पहिचान और प्रतीति करने पर मुमुक्षु जीवको स्वयं भी अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख का स्वाद आ जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन हो जाता है।

चन्द्रप्रभ भगवान सर्वज्ञ हुए। सर्वज्ञ होते ही उनका महान आनन्दसागर मानो समस्त लोकमें उमड़ पड़ा हो तद्नुसार क्षणभर के लिये तीनों लोकके सर्व जीवों में दो घड़ी के लिये साता का वातावरण छा गया...नरक के जीव भी उस साता के वेदन से आश्चर्यचकित हो गये और जिनेन्द्रमहिमा का चिंतवन करते-करते सुखस्वभावी आत्मा की प्रतीति करके कितने ही जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया...उसी प्रकार देवों में, मनुष्यों में तथा तिर्यंचो में भी अनेक जीव धर्म को प्राप्त हुए...आठवें तीर्थंकर के धर्मचक्रका प्रवर्तन होने लगा।

केवलज्ञानी तीर्थंकर प्रभु की महिमा के समक्ष मानो नम्रीभूत हुआ जा रहा हो तद्नुसार इन्द्र का आसन डोल उठा...उस काल इन्द्र ने तीर्थंकर प्रभु के केवलज्ञान कल्याणक का प्रसंग जानकर, तुरन्त इन्द्रासन से नीचे उतरकर अद्भुत महिमासहित आनन्दपूर्वक उन सर्वज्ञदेव को नमस्कार किया और अनेक देवोंसहित चन्द्रप्रभ के केवलज्ञान की पूजा करने मध्यलोक में आया।

प्रभुने चन्द्रपुरी के जिस वनमें मुनिदीक्षा ग्रहण की थी उसी वनमें (चैत्रकृष्णा सप्तमी के दिन) केवलज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेरने अद्भुत शोभायमान समवसरण की रचना की; मानो स्वर्गलोक की समस्त शोभा को यहाँ प्रभु की सेवा में उतार दिया हो...और तीर्थंकरदेव के सुयोग से उस समवसरण-धर्म दरबार की शोभा ऐसी बढ़ गई कि उसे देखकर स्वयं इन्द्र को भी आश्चर्य हुआ कि-ऐसी अद्भुत-सुन्दर रचना करने की हमारी शक्ति नहीं है, यह अद्भुत रचना तो तीर्थंकरदेव के पुण्यप्रताप से ही हुई है। अहा इन्द्र भी जिसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाय उस समवसरण की और उन भगवान की शोभा कैसी होगी!! जिसकी महिमा विचारने से मुमुक्षु को चैतन्य की महिमा लक्ष में आवे और सम्यग्दर्शन हो जाय-ऐसी!

वाह रे वाह!...समवसरण क्या है...वह तो रत्नत्रय धर्म की दूकान है, जहाँ 'आत्मगवेषी मुमुक्षु' को मन चाहे चैतन्यरत्न मिलते हैं। चन्द्रप्रभ की वह धर्मनगरी साढ़े आठ योजन विस्तार में फैली थी; बीचोंबीच समवसरण का स्पर्श किये बिना ही वीतराग प्रभु चैतन्य के सौन्दर्य पिण्डरूप से विराज रहे थे। ऊपर रत्नत्रय समान सुशोभित 'तीन छत्र' ऐसा प्रगट कर रहे थे कि भगवान ने रत्नत्रय द्वारा यह परमात्म पद प्राप्त किया है...इसलिये हे भव्य जीवो! तुम भी उस रत्नत्रय का सेवन करो।

'अशोक वृक्ष' प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कह रहा था कि-सर्वज्ञ भगवान की निकटता पाकर मैं 'अशोक' बन गया हूँ। हे भव्य जीवो! तुम भी भगवान के सान्निध्य में आओ! प्रभुका सान्निध्य प्राप्त करके तुम भी अ-शोक (शोकरहित, आनन्दरूप) बन जाओगे।

तथा 'दुंदुभि वाद्य' दिव्य नाद द्वारा ऐसी घोषणा कर रहे थे कि-इन जिनेन्द्र भगवान ने मोह शत्रु को जीतकर कैवल्य-साम्राज्य प्राप्त किया है...तुम भी मोहविजेता होने के लिये इन प्रभुके मार्ग में आओ।

देव-मनुष्य-तिर्यंचो की समूह चन्द्रप्रभ भगवान के दर्शन हेतु उमड़ रही थीं। यद्यपि समवसरण की शोभा अद्भुत थी, तथापि मुमुक्षु जीवों का चित्त उसमें नहीं लगता था, क्योंकि उनका मन तो भगवान के दर्शनों में ही लगा था और सब उनकी दिव्यध्वनि सुनने को आतुर थे।

प्रथम, इन्द्र ने हाथ जोड़कर तीर्थंकर-सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति की-अहो देव! आज आपने परमात्मदप प्राप्त किया, चार घाति कर्मों का नाश करके आप 'अरिहंता' बने। उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य रुप अनंत चतुष्टय आत्मामें से प्रगट किये। उस चैतन्य चतुष्टय द्वारा आप निरंतर प्रकाशमान हो। हे देव! मैंने आपका नाम 'चन्द्र-प्रभ' बिना विचारे ही रख दिया है, क्योंकि चन्द्र तो मात्र रात्रि में ही प्रकाशित होता है जबकि आप तो चैतन्यप्रकाश द्वारा निरंतर दिनरात प्रकाशमान हो, इसलिये आपका नाम 'सूर्य-चन्द्रप्रभ' रखना चाहिये, मात्र चन्द्रप्रभ नहीं। प्रभो! आप इस भरतक्षेत्र के अष्टम तीर्थंकर हो। आपकी दिव्यध्वनि द्वारा धर्मामृत का पान करने के लिये हम सब सभाजन आतुर है, इसलिये हे जिनेश्वर देव! अपने दिव्य उपदेश द्वारा हमें कृतार्थ कीजिये!

## तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की धर्मदेशना

इन्द्र द्वारा प्रार्थना किये जाने पर जिस प्रकार चन्द्रमासे शीतल अमृत झरता है वैसे ही चन्द्रप्रभ भगवान के सर्वांग से अति मधुर दिव्यध्वनि खिरने लगी...वीतरागी अमृत झरने लगा...सारी सभा आनन्दमय वातावरण में स्तब्ध होकर प्रभुसन्मुख दृष्टि से एकाग्र होकर दिव्यवाणी सुनने लगी। चारों दिशाओं से प्रभुके साक्षात् दर्शन हो सकते थे; चारों ओर बैठे हुए सभाजनों को ऐसा लगता था कि भगवान हमारे ही सन्मुख विराजमान हैं...हमारी भाषामें हमें ही उपदेश दे रहे हैं। भगवान ने उपदेश में जीवादि तत्त्वों का स्वरूप बतलाया, उसमें शुद्ध चैतन्य का अपार निजवैभव दरशाकर उसका अनुभव करना कहा।

(१) 'सत्' जगत में जीव और अजीव ऐसे दो प्रकार के तत्त्व हैं।

(२) वे प्रत्येक अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व सहित है।

(३) उनमें जो चेतन है वह जीव है।

(४) जीव अनन्तानन्त हैं; उनमें अनन्त जीव मुक्त हैं, और उनसे अनन्तगुने जीव संसारी हैं।

(५) प्रत्येक जीव अपने शुद्ध या अशुद्ध भाव का कर्ता-भोक्ता है।

(६) संसारी जीव मिथ्यात्व और कषायभावों के कारण दुःखी है और नरक-तिर्यंच-मनुष्य तथा देव ऐसी चार गतियों में जन्म-मरण करता है।

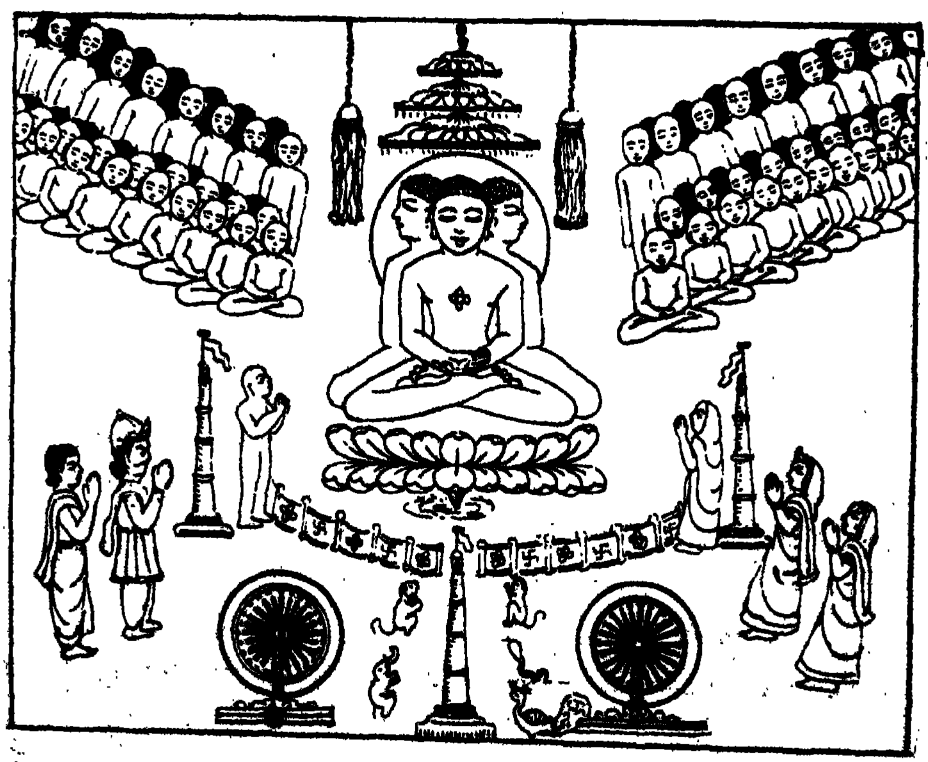
(७) उनमें से जीव जैनमार्ग को पाकर शरीर और कषाय से भिन्न अपने आत्मस्वरूप को जान लेता है वह सम्यक्त्वादि भावों द्वारा मोक्ष का साधक होता है...भेदज्ञान द्वारा अंतरात्मा होकर वह जीव संसारसे छूटने लगा और मोक्ष को साधने लगा।

(८) मोक्ष की साधना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव द्वारा होती है; रागभाव मोक्षका साधक नहीं किन्तु बाधक है।

(९) बन्ध और मोक्ष के कारण संक्षेप में इस प्रकार है —

रागी बांधता कर्म, विराग संप्राप्त जीव छूटता है।
ऐसा 'जिन'-उपदेश, अतः मत रच तू कर्मों में।
अतः निवृत्ति-मुमुक्षु, न करो राग किंचित् भी सर्वत्र।
होय यों वीतरागी, वह भव्य भवसमुद्र तर जाता।।

(१०) हे भव्य जीवों! तुम चैतन्य-महिमा को जानो और वीतराग भाव का सेवन करो। वीतरागता ही सुख है, वीरागता ही जैनमार्ग का सार है और वीतरागता ही मोक्षमार्ग है।



श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की धर्मसभा में वीतरागमार्ग का सुन्दर उपदेश सुनकर तत्क्षण उसी समय अनेक जीव संसार छोड़कर मुनि हुए; अनेक जीवों ने ध्यान में सम्यग्दर्शन प्राप्त किया; अनेक जीवों के भेदज्ञान के अतिरिक्त अवधि मनःपर्ययज्ञान तथा बारह अंग ज्ञान विकसित हो उठा। अद्भुत था वह धर्म का मेला! अहा, जिस मेले में धर्म की साधना करनेवाले लाखों-करोड़ों धर्मी जीवों के उपरान्त दस हजार तो केवलज्ञानी अरिहंत परमात्मा आकाश में विराजते थे; उनकी शोभा का क्या कहना!! श्री चन्द्रप्रभदेव आठवें तीर्थंकर थे; उनके समवसरण में श्रीदत्तादि ९३ गणधर थे; २००० पूर्वधारी-श्रुतकेवली थे; ८००० अवधिज्ञानी थे, ८००० मनःपर्ययज्ञानी थे; विक्रियालब्धि आदि अनेक ऋद्धिधारी हजारों-लाखों मुनिवर थे। तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ, तीन लाख धर्मात्मा श्रावक तथा पाँच लाख श्राविकाएँ थीं। इसे अतिरिक्त सम्यग्दृष्टि देवो और तिर्यंचो तो अलग-ऐसे महान चतुर्विध संघ के बीच शासन नायक तीर्थंकर देव विराजमान थे।चन्द्रप्रभ के शासन में ऐसा महान चतुर्विध संघ मोक्षमार्ग में आनन्दपूर्वक सिद्धपुरी की यात्रा कर रहा था। एकसाथ इतना महान धर्मवैभव देखकर जीवों का चित्त सहज ही धर्म के प्रति आकृष्ट हो जाता था। सभा में सर्वत्र हर्ष-आनन्द छा रहा था; वैर-विरोध या खेदका कहीं नाम-निशान नहीं था।

ऐसी गौरवपूर्ण धर्मसभा के मध्य तीर्थंकर चन्द्रप्रभ प्रतिदिन चारबार छह-छह घड़ी तक (प्रतिदिन लगभग दस घन्टे तक) परमहितकारी धर्मोपदेश देते थे। तीर्थंकर प्रकृति की निर्जरा हेतु तथा देश-देशान्तर के भव्यजीवों के भाग्योदय से करोड़ों-अरबों वर्षतक भरतक्षेत्र में भगवान का श्रीविहार हुआ...और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप सत्तत्त्व तथा अनन्त धर्मस्वरूप अनेकान्त तत्त्व का प्रभुने उपदेश दिया। जो नित्यस्थायी रहकर परिणमता हो ऐसा जीव ही कर्मों का छेदन करके (संसार भावों से छूटकर) मोक्षको साध सकता है। यदि जीव पर्यायरूप से परिणमित न हो तो वह मोक्ष को नहीं साध सकता; (संसारी-दुःखी ही बना रहेगा); और यदि जीव नित्य न रहे तब भी वह मोक्षसुख प्राप्त नहीं कर सकता; (-उसका अभाव हो जायगा।) इसलिये 'नित्यपरिणामी' ऐसे अनेकान्त रुप स्वभाव मानने से ही मोक्षकी सिद्धि है। ऐसा अनेकान्तरूप जिनशासन प्राप्त करके अनेक जीवों ने एकान्तरूप मिथ्यामत का त्याग कर दिया, वे अनेकान्ती-सम्यग्दृष्टि जैन हो गये और जिनधर्म के वैभव को जानकर ज्ञायक भावके सुखका वेदन करके मोक्षसुख का आस्वादन करने लगे। प्रभु के उपदेश से भरतक्षेत्र में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग, आनन्दमार्ग, विदेहक्षेत्रकी भाँति धारावाही रूप से चलने लगा। ज्ञान एवं रागादि कषायों की भिन्नता को भव्य जीव बराबर समझने लगे।

'ज्ञान' की आत्मा के साथ एकता है; वह ज्ञान कषायों से तथा कर्मों से विरुद्ध स्वभाववाला है, इसलिये ज्ञानरस के वेदन द्वारा कषायों एवं कर्मों का क्षय हो जाता है।

जीव के सम्यग्ज्ञानादि भाव ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं त्यों-त्यों कषाय शांत होते जाते हैं और सर्वथा कषायरहित भी ज्ञानमय जीवन विद्यमान रहता है; परन्तु बिना ज्ञान के जीव कभी विद्यमान नहीं रहता।-इस प्रकार ज्ञान वह जीव का स्वरुप है और कषाय वह स्वरूप नहीं है।

कषाय में शान्ति नहीं है, ज्ञान में शान्ति है; कषायों में थकान है, ज्ञान में थकान नहीं है। सिद्ध भगवन्त केवलज्ञानरूप से अनंतकाल तक परिणमते हैं और लोकालोक को जानते हैं तथापि उन्हें कभी थकान नहीं लगती, बल्कि परम अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है;-जबकि क्रोधादि कषाय में तो जीव क्षणभर में थक जाता है और उसमें दुःखका अनुभव होता है।

ऐसे स्पष्ट भेदज्ञान द्वारा कषाय से भिन्न उपयोग स्वरूप आत्मा का अनुभव करना वह मुक्ति का

उपाय है, वह जिनशासन का आदेश है। जो अनंत जीव सिद्ध हुए हैं वे सब ऐसे भेदज्ञान द्वारा ही सिद्ध हुए हैं। भेदज्ञान के बिना चाहे अन्य जितना करे तथापि कोई जीव सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता-सम्यक्त्व भी प्राप्त नहीं कर सकता।-इस प्रकार प्रभु के श्रीमुख से भेदज्ञान का उपदेश सुनकर अनेक जीव मोक्षमार्ग में लग गये...नगर-नगर में तथा घर-घर में भेदज्ञान की चर्चा होने लगी।

भगवान चन्द्रप्रभ तीर्थंकर का विहार अद्भुत था। आकाश में ही उनका गमन था; उनके चरणों तले दैवी कमलों की रचना होती थी, डग भरे बिना ही उनका गमन होता था और ओष्ठ हिले बिना ही उनकी दिव्यध्वनि सर्वांग से खिरती थी। प्रभुकी दिव्यवाणी का मधुर स्वर बत्तीस कोस (करीब सौ किलो मीटर) के घेरे में स्पष्ट सुनाई देती थी। धर्मचक्र और देवदुंदुभी का नाद चारों ओर से भव्यजीवों को मोक्षसुख लेने के लिये बुलाते थे कि-हे जीवों! आओ...रे...आओ! तुम्हें संसार-दुःखों से छूटकर 'मोक्षसुख' प्राप्त करना हो तो यहाँ आओ...इन भगवान के दर्शन करो और इनकी वाणी सुनकर निजवैभव का अपने में अवलोकन करो। दूसरे कार्यों को एक ओर रखकर, प्रमाद छोड़कर शीघ्र यहाँ आओ और इन प्रभुके चरणों की सेवा करो। देखो, इन प्रभुने रत्नत्रय द्वारा आत्मतत्त्व की अद्भुत सम्पदा सिद्ध की है...और जगत को भी वह आत्मसम्पदा बतला रहे हैं। जो भव्यजीव प्रभुको पहिचानकर भक्तिपूर्वक अपने चित्तमें धारण करते हैं वे भी आत्मसिद्धि प्राप्त करके प्रभुसमान हो जाते हैं। भवदुःखों से भरा हुआ यह भववन भी प्रभुके मार्ग में चलनेवाले को तो नन्दनवन बन जाता है। प्रभु तो सबके ज्ञाता हैं परन्तु सर्वजीव प्रभुको नहीं जानते, कोई विरल ही स्वानुभव द्वारा प्रभुके अतीन्द्रिय स्वरूप को पहिचान पाते हैं। अरिहंतपद पर करोड़ों-अरबों वर्ष तक शरीर के संयोग में रहने पर भी प्रभुको कभी आहार लेना नहीं पड़ता; पानी पीना नहीं पड़ता। रोग नहीं होता; मल-मूत्र तो प्रभु को जन्म से ही नहीं। जगत के उत्तम परमाणु स्वयमेव प्रभुके शरीर में प्रविष्ट होकर उसका पोषण करते थे...इस प्रकार पूर्व के पुण्यकर्म आ-आकर प्रभुकी सेवा करते थे। प्रभुको शुभकर्म छूटने के लिये इतने अधिक उदय में आते थे कि उनके साथ कोई अशुभ कर्म हो तो वह भी शुभरूप हो जाता और समस्त कर्मों की निर्जरा ही हो जाती थी।उनकी सर्व क्रियाएँ कर्मक्षय का ही कारण थीं।

श्री प्रभु के विहारकाल में सर्वत्र सुकाल था; कहीं दुष्काल या रोगादि नहीं थे,; सब जीवों में वैर-विरोध शांत हो जाते थे; हिंसक पशु भी शांत और अहिंसक बनकर एक-दूसरे के मित्र बनकर वर्तते थे; गाय का बच्चा सिंहनी का दूध अपनी माता की भाँति पीता था और गाय भी सिंह के बच्चों को बछड़े की भाँति चाँटती थी; किसी को भय नहीं था; कहीं क्रूरता नहीं थी। अहा! तीर्थंकर का परमशांत आत्मा जहाँ विचर रहा हो वहाँ अशांति कैसी? प्रभुके समीप आकर अनेक क्रोधी जीवों को आश्चर्य होता था कि अरे! ऐसी शांति हममें कहाँसे आ गयी! फिर वे गहरे विचार में उतरकर क्रोध से भिन्न अपने शांतस्वभाव को देख लेते...और उस शान्ति के अनुभव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को साध लेते थे। अहा! 'चन्द्र' का उदय होने से मोक्षमार्ग का समुद्र उल्लसित हुआ और सम्यक्त्वादि रत्न बाहर आये।

अति दीर्घकाल-करोड़ों-अरबों वर्ष तक (-ढाई लाख पूर्व अर्थात् १७६४००००,०००००००,००००० वर्ष तक) धर्मचक्र प्रवर्तन द्वारा देश-देशान्तर के करोड़ों-अरबों जीवों का कल्याण करके भगवान चन्द्रप्रभ तीर्थंकर सम्मेदाचल पर्वत पर पधारे। वहाँ एक मास प्रतिमायोग में स्थिर रहे; विहार रुक गया, वाणी रुक गई...पश्चात् फाल्गुन शुक्ला सप्तमी के दिन वे अरिहंत प्रभु योगनिरोध करके अयोगी दशा को प्राप्त हुए, तेरहवें से चौदहवें गुणस्थान में (मोक्ष महेल की अंतिम

सीढ़ीपर) आये...और तुरन्त सिद्धपद प्राप्त करके मोक्षमहल में प्रवेश किया। इन्द्रादिक देवोंने उनके मोक्ष कल्याण का महोत्सव किया। इस प्रकार आत्मसाधना द्वारा आठ कर्मों का अभाव करके, आठमतीर्थंकर, आठगुणसहित, आठम पृथ्वीपर सिद्धालय में विराजमान है। [चन्द्रप्रभ भगवान के मोक्षकल्याणक के दिन, उनकी मोक्ष टूंक की यात्रा, पूज्य श्री कहानगुरु ने संवत् २०१३ में हजारों यात्रियों के संघसहित अति उल्लास एवं भक्तिपूर्वक की थी। उसका आनन्दकारी वर्णन लेखक की मंगल तीर्थयात्रा पुस्तक (गुजराती) में पढ़ें; तथा सोनगढ़ में पूज्य गुरुदेव की श्रीसम्मेदशिखर यात्रा की फिल्म में देखें।]

चन्द्रप्रभ जिनराज की ललित टूंक है जोह,
मन-वच-तन कर पूज हूँ शिखर सम्मेद यजोह।

अब हम लोग सम्मेद शिखर तीर्थ की यात्रा करते हैं तब चूं-चूं की ललित टूंक पर जाकर चन्द्र-चरण का स्पर्श करने से संसार की थकान उतर जाती है। उस टूंक के ठीक ऊपर सिद्धालय में आज भी विराज रहे वह सिद्धप्रभु ध्यान द्वारा अपने अंतर में पधारकर किसी अपूर्व शान्ति का वेदन कराते हैं और अपने को भी सिद्धालय में ले जाते हैं।

—सिद्धपदकी साधनासहित उन सिद्धभगवन्तों को नमस्कार हो !

[श्री गुणनन्दि आचार्य की शिष्य परम्परा में वीरनन्दिस्वामी ने चन्द्रप्रभ चरित्र रचा है, तथा वीरसेन और जिनसेनस्वामी के शिष्य गुणभद्रस्वामी के उत्तर पुराण में चन्द्रप्रभ चरित्र की रचना की है; उन पुराणों का अनुसरण करके यह चन्द्रप्रभ चरित्र की रचना की है; उन पुराणों का अनुसरण करके यह चन्द्रप्रभ चरित्र लिखा है। उसमें शारीरिक अलंकारादि शृंगार रसका वर्णन छोड़कर, शांतरसमय आध्यात्मिक अलंकारोंसहित आत्मार्थपोषक रचना की है। वह भव्यजीवों के हृदय में तीर्थंकर परमात्मा के प्रति भक्ति जागृत करे और उनकी बतलायी हुई आत्ममहिमा द्वारा सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग की प्राप्ति कराये। श्री वीरनिर्वाण संवत् २५०८, अश्विन कृष्णा चतुर्थी को सोनगढ़ के परमागम-मन्दिर में आत्म-साधक ब्र. हरिलाल जैन ने , परमोपकारी गुरु-कहान की मंगलस्मृति-पूर्वक यह कथा लिखकर समाप्त की। 'जैनं जयतु शासनम्।']

१. प्रथम जो श्रीवर्मा राजा थे और सम्यक्त्व प्राप्त किया;

२. पश्चात् प्रथम स्वर्ग में देव हुए;

३. पश्चात् अजितसेन चक्रवर्ती हुए और छह खण्ड का राज्य छोड़कर मुनिदशा धारण की;

४. पश्चात् अच्युतस्वर्ग में इन्द्र हुए;

५. पश्चात् राजा पद्मनाभ हुए और मुनि होकर दर्शनविशुद्धि आदि १६ भावना पूर्वक तीर्थंकर नामकर्म बाँधा;

६. पश्चात् वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र हुए; और

७. अन्तिम भव में चन्द्रपुरी में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर होकर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग बतलाया...और अन्त में भव का अभाव करके सम्मेदशिखर से सिद्धालय में सिधारकर वहाँ सिद्धरूप में विराज रहे हैं,-ऐसे भगवान चन्द्रप्रभदेव को हमारा नमस्कार हो।

[इति श्री चन्द्रप्रभ चरित्र समाप्त]

(९)




जो स्वयं रत्नत्रयरूप सम्यक्‌विधिसहित मोक्षमार्ग में गमन करने से स्वयं 'सुविधि' हैं, तथा अन्य जीवों को भी मोक्षमार्ग की सु-विधि में लगाने वाले हैं - ऐसे तीर्थंकर सुविधिनाथ का मंगल जीवन-चरित्र अब सुनो, और हे भव्य जीवों! तुम भी सुविधिपूर्वक मोक्षमार्ग में आओ।

## सुविधिनाथ-पूर्वभव : विदेहक्षेत्र में महापद्म राजा

जिसप्रकार अपने इस जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह में सीता नदी के उत्तर किनारे पुष्कलावती देश और पुण्डरीकिणी नगरी है और वहाँ सीमंधर महाराजा राज्य करते थे,-जो वर्तमान में तीर्थंकर रूप से विचर रहे हैं; उसीप्रकार तीसरे पुष्करद्वीप के पूर्वमेरू के पूर्व विदेह में भी सीता नदी के उत्तर किनारे पुष्कलावती देश और पुण्डरीकिणी नगरी है। अपने चरित्रनायक भगवान सुविधिनाथ पूर्वभवमें वहीं के राजा थे- उनका नाम महापद्म।

जिस प्रकार गोपाल अपनी गायोंका पालन करता है उसी प्रकार महाराजा महापद्म अपनी प्रजा का वात्सल्यपूर्वक पालन करते थे। उसके पालन से पृथ्वी भी प्रसन्न होकर श्रेष्ठरत्न तथा अन्नादि उत्पन्न करती थी। राजा और प्रजा सब जैन धर्मका पालन करते थे और उत्तम शास्त्रों के अध्ययन द्वारा तत्त्वज्ञानसे सुशोभित होते थे। मुनिजनों के सत्संग से उनका जीवन सदाचारी था; श्रावकों उत्तम व्रतोंका पालन करते थे; रात्रिभोजन आदि महादोष कोई नहीं करता था। वह एक आदर्श नगरी थी और वहाँके राजा-प्रजा का सम्बन्ध भी आदर्श रूप था; उनके बीच कदापि कोई क्लेश नहीं होता था; तथा प्रजा को राजा की ओर से कोई भय नहीं था; वे एक दूसरे के सहयोग से राज्य की शोभा बढ़ाते थे और साथ ही साथ सम्यक्त्वादि आत्मगुणों द्वारा धर्म की वृद्धि करते थे।

इस प्रकार महापद्म राजा का जीवन धर्ममय था; राज्यकाल में रहने पर भी वे सम्यक्त्वसहित मोक्षमार्ग में गमन करते थे; साथ ही उनका पुण्ययोग भी महान था। एकबार वे राज्यसभा में बैठे थे, वहाँ वनपालने आकर शुभसमाचार दिया कि-हे स्वामी! अपने मनोहर उद्यान में सर्व जीवोंको हितकारी, सर्वभूतहित जिनराज पधारे हैं, साथ में चतुर्विध संघ है; उनके आगमन से उद्यान सुशोभित हो उठा है, फूल खिल गये हैं और पशुपक्षीयों में भी प्रसन्नता व्याप्त हैं।

प्रभुके पधारने की बधाई सुनकर राजा को अति प्रसन्नता हुई; वे धामधूमसहित जिनवंदना करने चले। अहा जिनेश्वर देव को निरखते ही उनके चित्त में अपार हर्षसहित उपशमरस उल्लसित होने लगा। प्रभुकी वन्दना करके उपदेश सुनने बैठे।आत्मा अज्ञान से स्वयं ही भवदुःख उत्पन्न करता है और आत्म ज्ञान द्वारा वह स्वयं अपना मोक्षसुख प्राप्त करता है।भवदुःख और मोक्षसुख तथा उनके कारण, उन सबका वर्णन सुनकर राजा का चित्त भवदुःखसे उदासीन एवं मोक्षसुख के प्रति उत्साहित हो उठा। वैराग्य पूर्वक वे राजा महापद्म विचारने लगे कि-अनादि मिथ्याभावोसे दुषित आत्मा स्वयं, अपने में ही, अपने ही मिथ्यादि भावोद्वारा, अपने को उन्मत्त की भाँति भववन में भ्रमाता है और दुःखी होता है; मानो भूत लगाहो ऐसी अविचारी चेष्टाएँ करता है; विषय कषायरूप अहितकर कार्योंको वह हितकर मान लेता है और मोक्षके उपायसे भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संसार से भयभीत हुआ मै, अब उन से छूटने लिये मोक्षका उपाय करूँगा।

ऐसा विचारकर, पुण्डरीकिणी नगरीका राज्य अपने पुत्रको सौंपकर महाराजा महापद्मने सर्वजीवहितकारी जिनराजके चरणोंमे मुनिदीक्षा ग्रहण की। मुनि होकर आत्मध्यान करने लगे; उन्हे बारह अंगका ज्ञान प्रगट हुआ और दर्शनविशुध्दि आदि भावनाओं द्वारा महापुण्यरूप तीर्थंकर प्रकृति बंधने लगी। अंतमे समाधिमरण करके प्राणतस्वर्ग में अहमिन्द्र हुए। वहाँ दिव्य एश्वर्य में २० सागरोपम रहे। असंख्यवर्ष तक देवलोक के दिव्य वैभव का सुख भोगनेपर भी वे महात्मा उन इन्द्रियसुखों द्वारा तृप्त नही हुए, इसलिये उन असार सुखों को छोडकर अतीन्द्रिय मोक्ष सुखकी साधना के लिये वे मनुष्य लोक में आने को तत्पर हुए। देवलोक में उनकी आयु छह मास शेष रही और भरत क्षेत्र में तीर्थंकर रूप से अवरित होने का समय आगया।

## किष्किन्धा नगरीमें नव वें तीर्थंकर का अवतार

उस समय इस भरतक्षेत्र में काकन्दी नगरी (किष्किन्धा पुरी) में सुग्रीव महाराजा राज्य करते थे; उनकी महारानी जयरामा के उदर में तीर्थंकर का जीव अवतरित होनेवाला है ऐसा जानकर देव उनके आँगनके रत्नवृष्टि करने लगे। फाल्गुन कृष्णा नवमीं की रात्रि के पिछले प्रहर में बैल हाथी, पुष्पमाला, लक्ष्मी आदि मंगल स्वप्नसहित अहमिन्द्रके जीवन स्वर्गलोक छोडकर माता जयरामा के उदर में प्रवेश किया; उसी समय इन्द्र-इन्द्रानीने काकन्दी नगरी में आकर प्रभुके माता-पिताका सन्मान किया। महाराजा सुग्रीव स्वयं भी अवधिज्ञानी थे; उन्होंने अवधिज्ञान से स्वप्नफल जानकर कहा-हे देवी! तुम्हारे उदर में जगत्पूज्य आत्मा का आगमन हुआ है; तुम महा कल्याणरूप हो, अपना यह पुत्र भी सर्वज्ञ-तीर्थंकर होकर जगत का कल्याण करेगा और हम भी नियमसे मोक्षगामी है। महाराजा के मुख से ऐसा उत्तम फल सुनकर जयरामा देवी के हर्षका पार नहीं रहा। उसी काल मानों मोक्षसुख की प्राप्ति हुई हो!-ऐसी तृप्ति का अनुभव उन्हें हो रहा था। स्वर्गलोक की देवियाँ उनकी सेवा करती थीं। मगसिर शुक्ला प्रतिप्रदा के दिन उन महादेवीने अति तेजस्वी अवधिज्ञानी पुत्रको जन्म दिया। अवधिज्ञानी पिता के यहाँ

जयरामारानीपुत्र का अवतार हुआ नौवें तीर्थंकर का अवतार होने से समस्त पृथ्वीपर हर्ष छा गया। देवलोक के दिव्य वाद्य अपने आप बजने लगे और प्रभुजन्मकी बधाई गाने लगे। वह सुनकर सारा स्वर्गलोक हर्षपूर्वक प्रभुके जन्मकल्याणक का महोत्सव मनाने के लिये काकन्दीनगरी में आ पहुँचा। उस समय काकन्दी नगरी देवों की अमरपुरी से भी विशेष शोभायमान हो रही थी। पंचमसमुद्र क्षीरोदधिके दुग्धसमान उज्ज्वल जल से इन्द्रने जिनेन्द्र का अभिषेक किया। समस्त पर्वतों में श्रेष्ठ-इन्द्रसमान मेरुपर्वत इन्द्र द्वारा जिनेन्द्र का अभिषेक करने के कारण जगतपूज्य तीर्थ बन गया। अहा, तीर्थंकर के स्पर्श से पत्थर भी जगत्पूज्य बनते हों, तो प्रभुके स्पर्श से चेतनवन्त भव्य जीव क्यों परमात्मा नहीं बनेंगे? जन्माभिषेक के समय भगवान का अति सुन्दर रूप देखकर मुग्ध हुए हरिने एक हजार नेत्र बनाकर उस दिव्य रूप का अवलोकन करते हुए वहीं मेरु पर्वतपर ताण्डव नृत्य किया। और उन बाल तीर्थंकार को 'पुष्पदन्त' ऐसे मंगल नाम से सम्बोधित करके स्तुति की; तथा मोक्षमार्ग की सम्यक्‌विधि के प्रवर्तक होने से दूसरा नाम 'सुविधिनाथ' रखा। [सुविहिं च पुप्फदन्तं'-लोगस्ससूत्र में इन एक ही तीर्थंकर के दो नामों का उल्लेख करके स्तुति की है।]

आठवें चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के मोक्षगमन के पश्चात् नब्बे करोड़ सागरोपम के अंतर से नौवें सुविधिनाथ-पुष्पदन्त तीर्थंकर हुए। उनकी आयु दो लाख पूर्व (अर्थात् १४११२००,००,००,०००,०००,००० इतने वर्ष थी;) उनका चिह्न मगर-मच्छ था।

उन बाल तीर्थंकर की कुमारावस्था भी अनुपम थी। यद्यपि देवों को भी दुर्लभ ऐसी भोगसामग्री उन्हें प्राप्त थी, परन्तु उनकी ज्ञानचेतना अंतर से किसी विशेष प्रकार के परमात्मसुख का उपभोग करती थी। स्वर्ग के देव बालक का रूप धारण करके उनके साथ क्रीड़ा करने आते थे...और भवनवासी कुमारिका देवियां अनेक प्रकारसे उन बाल तीर्थंकर को खेलाती गोद लेतीं और पालने में झुलाकर लोरियाँ गाती थीं-

उपशमरसमें झूल रहे हैं पुष्पदन्त भगवान, पालना झुला ओ रे...।
समकित रसका स्वाद ले रहे सुविधिनाथ भगवान, पालना झुलाओं रे...।
मुक्तिमार्ग बतलाकर प्रभुजी लेंगे केवलज्ञान, पालना झुलाओ रे...।
जयरामा माता के प्यारे करेंगे जग-कल्याण, पालना झुलाओं रे...।



कभी वे छोटी-छोटी देवियाँ हाथ फैलाकर प्रभुको बुलाती थीं-कुँवर जी, आइये...इधर आइये! तब वे बालकुँवर भी डगमग चाल से मुस्कराहट बिखेरते हुए अपने कोमल हाथ उन देवियों की हथेली

में रख देते: अहा! मानो प्रभुजीने उनके हाथमें मोक्ष ही रख दिया हो।-इस प्रकार बालतीर्थंकर के मंगलस्पर्श से वे देवियाँ अपने को धन्य मानतीं-और दो देवियाँ उनका एक-एक हाथ पकड़कर आनन्द पूर्वक उन्हें झुलाती थीं।

ऐसे दृश्य देखकर माता जयरामा भी अतिशय तृप्ति का अनुभव करती थीं। आनन्द-किल्लोल में समय बिताते हुए पुष्पदन्तकुमार ने बचपन को छोड़कर युवावस्था में प्रवेश किया। कामदेव उनकी सेवा में उपस्थित था...अनेक सुन्दर राजकन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। राजकन्याओंसहित उनका सुख देखकर विद्वानों को प्रश्न उठता था कि महाराजा सुविधिनाथ के द्वारा उन स्त्रियों को जो सुख मिल रहा है उसे महान कहा जाय, अथवा उन स्त्रियों द्वारा महाराजा को जो सुख प्राप्त हो रहा है उसे महान कहें? महाराजा पुष्पदन्त तो महापुण्यवान थे ही, और वे स्त्रियाँ भी पुण्यवान थीं, क्योंकि मोक्षसुख जिनके अति निकट है ऐसे उन सुविधि-महाराजा को भी वे रानियाँ प्रसन्न करके अपने साथ क्रीड़ा कराती थीं। भगवान सुविधिनाथ तो असंख्य वर्षों के दिव्य स्वर्ग सुखों के उपभोग से भी असन्तुष्ट रहकर अन्त में मोक्षसुख की साधना के लिये इस मनुष्यलोक में अवतरित हुए थे, इसलिये पुण्यजनित उत्तम भोग्य पदार्थों में भी उन्हें आश्चर्य नहीं लगता था...वे तो अनंत बार भोगे हुए जूठन समान लगते थे। हां, बिना प्रयत्न के प्राप्त हुई वह भोगोपभोग की महान सामग्री मूर्ख नास्तिक लोगों को स्पष्ट बतलाती थी कि-देखो, यह पूर्वभव में किये हुए जीव के पुण्यकर्मों का फल है; कारण के अनुसार कार्य होता है; यदि पूर्वभव में जीव न हो और पुण्य-पाप के फल न हों तो यह पुण्यफल कहाँ से आया? और हमें ही क्यों आया? दूसरे को क्यों नहीं आया? इसलिये समझो कि जीव का अस्तित्व है, पूर्व भव है, पुण्य-पाप हैं और उनका फल भी है। ऐसा समझकर, प्रभुके पुण्यफल को देखकर, अनेक नास्तिक जीव भी (जो पहले आत्मा को तथा परलोक को नहीं मानते थे और पापभय से रहित पापों में स्वच्छन्द प्रवर्तन करते थे वे भी) आस्तिक बन गये और पाप से डरकर आत्मसाधना करने लगे।

महाराजा पुष्पदन्त को राज-भोगों के बीच अलिप्त ज्ञान चेतनासहित दीर्घकाल बीत गया। उनको पुण्यजनित राजभोग महान था...तो...आत्मजनित आनन्द का भोग उससे भी महान था...इसलिये पुण्यभोगों में उनकी रुचि नहीं थी। एक बार मगसिर शुक्ला प्रतिपदा के दिन वे राजमहल की छत पर आत्मचिन्तन कर रहे थे...इतने में-



इतने में अचानक आकाश में उल्कापात हुआ...तीव्र गर्जना के साथ बिजली गिरी...बिजली की चमक देखते ही उन्हें वैराग्य जाग उठा कि-'अरे, यह मात्र बिजली नहीं है, यह तो मेरे चारित्रमोहरूपी अंधकार को हटानेवाला महान दीपक है।' प्रभुकी चेतना जागृत हो उठी...अहा, ऊर्ध्वगामी उज्ज्वल आत्माओं को एक छोटा-सा प्रसंग भी महान कार्य का निमित्त बन जाता है!! प्रभु तो स्वयंबुद्ध हैं; मात्र एक बिजली की क्षणभंगुर चमक देखकर वे महान साम्राज्य, राजभोग और रानियों को छोड़ने के लिये तत्पर हो गये। दीक्षा ग्रहण करने के निश्चयपूर्वक वे वैराग्य भावनाओं का चिंतन करने लगे।

अरे, अनन्तबार अहमिन्द्रपद का दिव्य वैभव पाकर भी यह जीव सन्तुष्ट नहीं हुआ तो इस मनुष्य लोक के वैभव में तृप्ति कैसी? चैतन्य से आये हुए सुख के सिवा जीव को अन्यत्र कहीं तृप्ति नहीं होती। बाह्यसुखों का संयोग तो बिजली की चमक समान क्षणभंगुर है; चैतन्य का स्वाभाविक सुख ही संयोगरहित सच्चा एवं शाश्वत सुख है। यह सांसारिक विषय तो इन्द्र जाल के समान छलनेवाले हैं; उनमें जीव असत् पदार्थ को सत् मान बैठता है। इस संसार में किसी वस्तु का संयोग न तो स्थिर है, और न सुख देनेवाला। उसमें मेरा कोई नहीं है, मेरा आत्मा ही मेरा है—

जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपनो कोय,
घर संपति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय।
पर हैं परिजन लोय, होय नहि वस्तु जाति कुल थारा;
मोहकर्मवश परको अपना समझै सोइ गँवारा।
तू है दर्शन-ज्ञानमयी चैतन्य आत्मा न्यारा;
तातैं पर जड़ त्याग आपगहि, जो होवे निस्तारा।

-जगत मुझसे भिन्न है और मैं जगत से भिन्न हूँ-बस, इन दो शब्दों से होनेवाला भेदज्ञान ही सत्य है। आश्चर्य है कि शरीर से भिन्न आत्मा का ऐसा भेदज्ञान होने पर भी मैं अभी तक शरीर में मूर्च्छित होकर क्रोधादि युक्त संसार में रहा। दुःखदायी परभावों से भरे हुए इस संसार समुद्र से निकल कर अब मैं सिद्धपद को साधूँगा।

इस प्रकार भगवान पुष्पदन्त ने दीक्षा लेने का निर्णय करते ही लौकान्तिक देवों ने आकर स्तुतिपूर्वक प्रभुके वैराग्य की प्रशंसा की और इन्द्रोंने आकर प्रभुके दीक्षाकल्याणक का भव्य महोत्सव किया। दीक्षा कोई खेद का प्रसंग नहीं है, वह तो मोक्ष की साधना का मंगल महोत्सव है...आनन्द का अवसर है। 'सूर्यप्रभा' नामकी देव-शिबिका में प्रभु आरूढ़ हुए और राजाओं तथा इन्द्रोंने वह शिबिका उठाकर दीक्षावन की ओर प्रयाण किया। अहा, स्वयं इन्द्र जिनकी पालकी उठाये उनके दिव्य प्रताप का क्या कहना!! उनके वैराग्य की क्या बात!! अपूर्व वैराग्य का वह दृश्य नगर के लोग आश्चर्यमुग्ध होकर देखते रहे। प्रभुके साथ अनेक भव्य जीवों का चित्त भी संसार से विरक्त हो गया। मगसिर शुक्ला प्रतिपदा के सायंकाल एक हजार राजाओं के साथ भगवान सुविधिनाथ दीक्षा लेकर दिगम्बर मुनि हुए और आत्मध्यान में शुद्धोपयोग द्वारा परम वीतरागी सुखका अनुभव करने लगे; उसी समय मनःपर्ययज्ञान भी प्रगट हुआ...परन्तु प्रभुका उपयोग मनःपर्यय में नहीं लगा था, उनका उपयोग तो शुद्ध आत्मा की अनुभूति में ही लग रहा था। अनेक महान ऋद्धियाँ उन्हें प्रगट हुईं, परन्तु अनन्त चैतन्यऋद्धि के अवलोकन में निमग्न प्रभुको बाह्य ऋद्धियों का कोई उपयोग नहीं था।

पुष्पदन्त मुनिराज ने प्रथम पारणा शैलपुरी नगरी के राजा पुष्पमित्र के घर किया। और वहाँ

रत्नवृष्टिआदि पंचाश्चर्य हुए।-देवों ने जयजयकार किया। सुविधिमुनिराज ने मोक्षमार्ग की सम्यक्‌विधि पूर्वक चार वर्ष तक मौन रहकर विहार किया; फिर काकन्दीनगरी के दीक्षावन में पधारे और अप्रतिहतभाव से आत्मध्यान में एकाग्र हुए; ४७ घातिकर्मों की बड़ी सेना को उन्होंने अकेले ही एकमात्र शुद्धोपयोग रुपी शस्त्र द्वारा नष्ट कर दिया, और अपना अनन्त चतुष्टयरूप साम्राज्य प्राप्त करके परमात्मा बन गये...वीतराग-सर्वज्ञ-शुद्धबुद्ध-जिन अरिहंत तीर्थंकर हो गये।

देवों ने आकर अचिन्त्य शोभायुक्त समवसरण की रचना की; परन्तु आश्चर्य यह था कि ऐसे अचिन्त्य शोभामय समवसरण में प्रभु विराजते नहीं थे; प्रभु तो उसे छोड़कर उससे चार अंगुल ऊपर, आकाश में निरालम्बीरूप से विराज रहे थे। प्रभुका आत्मा तो रागादि से अलिप्त था, और शरीर भी समवसरणादि से अलिप्त!-कैसी आश्चर्यकारी परमात्मदशा!

''ऊँचे चतुरांगुल जिन राजे, इन्द्र-नरेन्द्र-मुनि ध्यावें।
जैसा निरालम्बी आत्मद्रव्य, वैसा ही निरालम्बी जिन
देह।''

उस समवसरण में ओष्ठ हिले बिना ही प्रभु की दिव्यध्वनि खिरने लगी। उस दिव्यध्वनि में सर्वतत्त्वों का स्वरूप समझकर भव्य जीव आनन्द से झूम उठे और भगवान के चरणों में लाखों जीवों ने रत्नत्रय अंगीकार किये। उस धर्मसभा में सात हजार केवलज्ञानी भगवन्त और डेढ़ हजार श्रुतकेवली थे। सप्तऋद्धियों के धारी विदर्भ आदि अठासी गणधर थे। आठ हजार अवधिज्ञानी तथा साढ़ेसात हजार मन:पर्यायज्ञानी मुनिवर थे, कुल दो लाख मुनि एवं चार लाख अर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ-ऐसे महान संघ के बीच नौवें तीर्थंकर शोभायमान हो रहे थे। तदुपरान्त असंख्य देव और तिर्यंच भी प्रभुकी देशना सुनकर धर्म को प्राप्त हुए।

इन्द्र ने परम भक्तिपूर्वक उन सर्वज्ञ परमात्मा की स्तुति करते हुए कहा: हे देव! आप स्वयं अतीन्द्रिय हुए हो और अन्य जीव भी अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही आपको पहिचान सकते हैं; इन्द्रियों द्वारा आप नहीं पहिचाने जाते। प्रभो, आपका उपदेश और आपका जीवन अतीन्द्रिय आत्मा को बतलानेवाला है। जो जीव अपने हृदय में आपका वीतराग धर्म धारण करता है, वचन में आपके अनेकान्त वचनों को बसा लेता है, तथा जिसके शरीर की प्रवृत्ति में आपकी प्रवृत्ति बस जाती है;-इस प्रकार अपने मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को आपके मार्ग में ही प्रवर्तन कराता है वह प्राणी आप जैसा होकर परम आनन्द को प्राप्त करता है।

हे परमात्मा! 'मनमें' आपका स्मरण करते हुए यद्यपि कुछ विकल्प का क्लेश तो होता है, परन्तु 'ज्ञानमें' आपके चिन्तन का फल त्रिलोक में अति महान है,-तो फिर अपना हित चाहनेवाले जीव आपका चिन्तन क्यों नहीं करेंगे? मूर्ख जीव ही ऐसे महान फल की इच्छा नहीं करेंगे!

सर्वज्ञ-तीर्थंकर के रूप में पुष्पदन्त भगवान ने लाखों-करोड़ों वर्ष तक भरतभूमि में विहार किया। वह धर्मकाल था, भरतक्षेत्र के भव्य जीवों हेतु मोक्षका राज मार्ग खुला था और रत्नत्रय द्वारा भव्य जीवों के समूह आनन्दपूर्वक उस मार्ग पर चल कर मोक्षपुरी में जा रहे थे।

अंत में, भगवान के मोक्षगमन का समय आ पहुँचा। वे अनंत तीर्थंकरों की मोक्षभूमि सम्मेदशिखर पर पधारे; वहाँ सुप्रभ नामकी टूंक पर तीसरे-चौथे शुक्लध्यान द्वारा योगनिरोध करके, आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन स्वाभाविक उर्ध्वगमन करके सिद्धालय में पधारे। आज भी वहाँ विराज

रहे हैं...उन्हें नमस्कार हो!

पुष्पदन्त जिनराज की, सुप्रभ टूंक है जेह,
मन-वच-तन कर पूज हूँ, शिखरसम्मेद यजेह।

जिन्होंने स्वयं 'सुविधि' (सम्यक्‌विधि) पूर्वक मोक्षमार्ग में चलकर अन्य जीवों के लिये वह मार्ग सरल और शुद्ध कर दिया; उपशांत भाववान भक्तों के लिये जिन्होंने स्वर्ग-मोक्ष की 'सुविधि' बतलायी; 'पुष्प' से भी सुशोभित जिनकी 'दन्त' पंक्ति थी-ऐसे पुष्पदन्त-सुविधिनाथ, रत्नत्रय के आनन्द पुष्पों द्वारा एवं मोक्षमार्ग की विधि से हमारे आत्मा को अलंकृत करो! हे प्रभो! संसार के घोर मरुस्थल के बीच विशाल घटादार वृक्ष समान आपका आश्रय लेकर हम अपने भवताप को शांत करते हैं।

[प्रथम जो पुष्कर द्वीप के विदेहक्षेत्र में महापद्म राजा थे, पश्चात् चौदहवें स्वर्ग में इन्द्र हुए और उस इन्द्र वैभव को भी छोड़कर, भरतक्षेत्र की काकन्दीपुरी में तीर्थंकर रूप से अवतरित होकर मोक्षको प्राप्त हुए; उन भगवान सुविधिनाथ (पुष्पदन्त स्वामी) का मंगलचरित्र यहाँ पूर्ण हुआ।

⌘ ⌘ ⌘

[इस भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभदेव से लेकर चन्द्रप्रभ तक के आठ तीर्थंकरों का शासन अखण्डरूप से चला। पश्चात् भगवान सुविधिनाथ तीर्थंकर के शासन में चतुर्थकाल के मध्यसमयरूप धर्मकाल होने पर भी, शीतलनाथ तीर्थंकर से पूर्व १/४ पूर्व तक (अर्थात् १७६४००० x एक करोड़ = १७६४०००/००००००० इतने वर्षों तक) जैनधर्म के वक्ता-श्रोता के धर्मात्मा भरतक्षेत्र में नहीं थे, अर्थात् धर्म का विच्छेद हो गया था। भगवान शीतलनाथ के अवतार से पुन: धर्म की धारा प्रवाहित हुई। (धर्म का यह विच्छेद विजयार्द्ध पर्वत की श्रेणी में लागू नहीं होता।)

इस प्रकार भगवान सुविधिनाथ से धर्मनाथ तक के तीर्थंकरों के काल में कुल सात बार भरतक्षेत्र में धर्म का विच्छेद हुआ। भगवान शान्तिनाथ के पश्चात् महावीर भगवान तक धर्म की धारा अखण्डरूप से चली जो पंचम काल के अंत तक चलेगी। जिस धर्म का चौथे काल में भी करोड़ों वर्षतक विच्छेद हुआ वह धर्म आज हमें इस पंचम काल में भी अखण्ड धारा प्रवाह रुप से अविच्छिन्न प्राप्त हो रहा है; अहा, अपने लिये वर्तमान में भी धर्मकाल है।]

## [१०]




नौवें तीर्थंकरके तीर्थ के अंत भागमें लाखों-करोडों वर्षतक भरतक्षेत्र में धर्मका जो विच्छेद था वह जिन के अवतार से दूर हुआ और पुनःधर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ-ऐसे भगवान शीतलनाथ की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र महाराज कहते हैं कि- हे 'शीतल जिनेश!इन संसार से संतप्त जीवोंको जो परम शीतलता आपके दर्शन और वाणी प्रदान करते हैं, वैसी शीतलता चन्दन या चन्द्रमा, गंगाजल या मणि का हार भी नहीं दे सकते। इसलिये मै आपका आश्रय करता हूँ।' जिसप्रकार ग्रीष्मके तीव्र ताप में सुन्दर वृक्षकी शीतल छायामें आनेवाले जीव शीतलता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार उत्तम वृक्ष-चिन्हवाले भगवान शीतल जिनके धर्मवृक्ष का जो आश्रय करते हैं वे सम्यक्त्वादी परमशीतलता को प्राप्त होते हैं और संसार के आतपसे मुक्त हो जाते हैं।-ऐसे भगवान शीतलनाथ का पवित्र जीवन चरित्र हे भव्य जीवो! तुम भक्ति से सुनो!

### भगवान शीतलनाथ : पूर्वभव : सुसीमानगरी में पद्मगुल्म राजा

पुष्कर द्वीपके पूर्वभाग में मंदारगिरी नामक मेरुपर्वत है; उसकी पूर्वदिशा में विदेह क्षेत्रमें सीतानदी के किनारे वत्सदेश और सुसीमानगरी है। अपने चरित्रनायक भगवान शीतलनाथ पूर्वभव में उस सुसीमानगरी में पद्मगुल्म नामके राजा थे। राजवैभव के बीच भी वे आत्मज्ञानी एवं वैरागी थे; अचिन्त्य आत्मवैभव के ज्ञाता होने से वे राजवैभव से अलिप्त रह सकते थे; चैतन्यसुख के समक्ष अन्य किन्हीं इन्द्रियसुखों को वे सुख नहीं मानते थे, परन्तु दुःख ही समझते थे; तथापि अभी राग के कारण राज्य में रहनेसे भोग-विषयों में भी किंचित् प्रवृत्ति होती थी। इस प्रकार द्विविध परिणतिमें एक साथ प्रवर्तमान होनेपर भी भेदज्ञानशक्ति के कारण उनका आत्मा मोक्षपुरी की ओर गमन कर रहा था, और अब मोक्षपुरी पहुँचने में बीच का एक ही भव शेष था।....

राजा पद्मगुल एकबार वसन्तऋतु का आगमन होते ही फल एवं पुष्पाच्छादित सुन्दर उद्यान में

अपनीरानियों सहित वसन्तोत्सव मनाने गये; वहाँ दो महिने तक नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ की; वसन्त ऋतु कब बीत गई और कब ग्रीष्म ऋतु की प्रारम्भ हो गई उसका भी उन्हें पता नहीं चला। परन्तु वसन्त ऋतु की क्षणभंगुरता देखकर उनका चित्त संसार भोगों से उदास हो गया कि-अरे, यह सब भोग सामग्री भी वसन्त ऋतु की भाँति क्षणभंगुर है; कोई भी संयोग जीव के साथ ध्रुवरूप से नहीं। रहता ऐसे अध्रुव संयोगों में आसक्त रहना मुझे शोभा नहीं देता-इस प्रकार संसार से विरक्त होकर उन्होंने आनन्द नामक मुनिराज के निकट जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। रत्नत्रयसहित तप-आराधना करते-करते उनको ग्यारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान हुआ। सम्यक्त्व की विशुद्धतासहित सोलह उत्तम भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति बँधने लगी। एक ओर निरन्तर तीर्थंकर प्रकृति का कर्म बँध रहा था तो दूसरी ओर रत्नत्रय की शुद्धि द्वारा वे प्रतिक्षण मोक्षको साध रहे थे; ऐसी द्विविध धारा में मोक्षधारा प्रबल और बंध धारा क्षीण होती जा रही थी...इस प्रकार मुनिराज पद्मगुल्म आराधक भावसहित आयु पूर्ण करके पन्द्रहवें आरण-स्वर्ग में इन्द्ररूप से उत्पन्न हुए।

उन महात्मा भावी तीर्थंकरने स्वर्ग के वैभव के बीच भी मोक्षकी साधना अनवरत चालू रखी और असंख्यात वर्ष एक क्षण की भाँति व्यतीत कर दिये। स्वर्गलोक में उन्हें अनेक कल्पवृक्ष प्राप्त थे, परन्तु उनके फल खाने की लालसा उनको नहीं थी; बाईस हजार वर्ष में मात्र एक बार 'अमृत' का स्मरण करके मानसिक आहार से वे तृप्त हो जाते थे। उनकी वासनाएँ ऐसी शांत हो गई थीं कि प्राप्त हुए उत्तम विषयों को भोगने की वृत्ति भी उनको नहीं होती थी; उन्हें तो बाह्य विषयों से रहित चैतन्य का आनन्द ही अधिकाधिक भोगने की लालसा रहती थी। इसलिये उस पूर्ण आनन्द को प्राप्त करने के लिये वे स्वर्ग छोड़कर मनुष्य लोक में आने को तैयार थे; क्योंकि स्वर्ग में तो उस पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब स्वर्ग की आयु में उनके छह मास शेष रहे और मनुष्य लोक में तीर्थंकर रूप से अवतरित होने का समय आ गया, उस समय मध्यलोक में क्या-क्या तैयारियाँ होने लगीं वह हम देखें।

## भद्रिलापुरी में शीतलनाथ अवतार

यह बात आज-काल की नहीं, असंख्यात वर्ष पूर्व की है; तब भरतक्षेत्र में भद्रपुर (भद्रिलापुरी) नाम की नगरी थी। वहाँ दृढ़रथमहाराजा तथा सुनन्दा महारानी के राजमहल में छह मास से रत्नवर्षा होने लगी...मानों तीर्थंकर की सेवा करने के लिये स्वर्ग से लक्ष्मी स्वयं पहले से आ पहुँची। छह मास पश्चात् चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में सुनन्दा देवी ने अतिमंगल सूचक सोलह स्वप्न देखे...और उसी काल स्वर्ग से चयकर वह इन्द्र का जीव (शीतलनाथ भगवान का मंगल-आत्मा) उनके उदर में आ गया। भरतक्षेत्र के लिये यह एक आश्चर्यकारी मंगल घटना थी....जो असंख्य वर्षों पश्चात् हो रही थी। धन्य हुए वे माता-पिता और धन्य हुई वह भद्रिलानगरी!

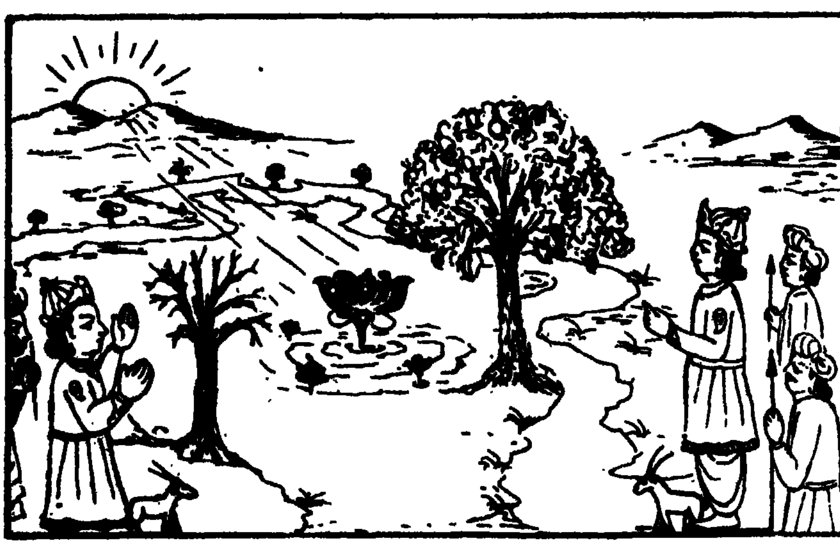
स्वर्ग से उन होनहार तीर्थंकर और आत्मज्ञानी महात्मा (शीतलनाथ) का भरतक्षेत्र में अवतरण होते ही करोड़ों वर्ष से धर्म का जो विरह था उसका अंत हुआ...धर्म की धारा पुनः प्रवाहित हुई। वह आत्मा तीर्थंकर तो अब आगे होगा, उससे पूर्व ही उनकी उपस्थिति मात्र से भरत क्षेत्र का धर्मतीर्थ जीवंत हो उठा। धन्य है धर्मात्मा का प्रभाव! देवों ने भी उस अवसरपर भद्रिलापुरी में आकर मंगल-उत्सव मनाया और गर्भस्थ तीर्थंकर सहित माता-पिता का भी सन्मान करते हुए इन्द्रानी ने कहा: "अहो माता! विश्व का सर्वोत्तम रत्न आपके उदर में विद्यमान है...जो मोक्षमार्ग को प्रकाशित करके

जीवों का कल्याण करेगा! धन्य रत्नकुक्षिधारिणी माता! जगत में आप भी वंद्य हो!"

सुखपूर्वक नौ महिने बीत गये...गर्भावस्था में उन तीर्थंकर आत्मा को या उनकी माता को कोई कष्ट या पीड़ा नहीं थी। अहा, स्वर्ग के देव जिनकी सुविधाओं का ध्यान रखते हों और सेवा करते हों उनके पुण्योदय का क्या कहना!! गर्भवास में भी मानो सुन्दर रत्नमहल में रहते हो ऐसी सातापूर्वक, आत्मज्ञान-सम्यग्दर्शन तथा अवधिज्ञान सहित गर्भकाल व्यतीत किया और माघकृष्णा द्वादशी के दिन सुनन्दामाता की कुक्षि से बालतीर्थंकर का जन्म हुआ। उस समय सब नक्षत्र उत्तम योगमें वर्त रहे थे...क्षणभर के लिये सारा जगत मानो सुखी था। ऐसा उत्तम योग भरत क्षेत्र में चौवीस तीर्थंकरों के कल्याणक-काल में ही आता है..अहा! प्रकृतिका परिणमन भी मोक्षसाधक-महात्माओं के आधीन होता है।

भरतक्षेत्र में दसवें तीर्थंकर का जन्म होते ही इन्द्रासन डोल उठा और आनन्दपूर्वक प्रभुजन्म का उत्सव मनाने के लिये देवगण भद्रिलापुरी में आ पहुँचे..धामधूमपूर्वक बालतीर्थंकर को मेरु पर ले जाकर विश्वकल्याणकारी अभिषेक किया। भगवान के अवतार से जगत के जीवों को शीतलता प्राप्त हुई, इसलिये इन्द्रने 'शीतलनाथ' के सम्बोधन से उनकी स्तुति की-हे शीतलनाथ! कल्पवृक्ष भी जीवों को जो शीतलता नहीं दे सकता ऐसी वीतरागी शान्तिरुप शीतलता आपने जगतके जीवों को प्रदान की है; इसलिये वह कल्पवृक्ष भी आपकी शीतलता का आश्रय लेने के लिये आपकी चरणछाया में (चिह्न रुपमें) निवास करने लगा है।

भगवान शीतलनाथ की आयु एक लाख पूर्व तथा शरीर की ऊँचाई नव्वे धनुष (२७० मीटर) थी। पच्चीस हजार पूर्व की आयु में उनका राज्याभिषेक हुआ था। प्रतापी तीर्थंकर के राज्य में प्रजा सर्व प्रकार से सुखसम्पन्न एवं धर्मपरायण थी। पचास हजार पूर्व तक उन्होंने राज्यभोग किया। अब उनको संसार में रहने का काल मात्र पच्चीस हजार पूर्व शेष रहा था...भव के अंत की तैयारी थी तब एक वैराग्य प्रेरक घटना हुई—



महाराज शीतलनाथ एकबार प्रातः वनविहार करने गये थे; चारों ओर फलफूलों से प्रफुल्लित प्रसन्नकारी वातावरण था; रंगबिरंगे पुष्पोंपर गिरे हुए ओसविन्दु सच्चे मोती समान चमक रहे थे। उनकी अद्भुत शोभा निहारते हुए शीतल-महाराजा प्रसन्नता से वनविहार कर रहे थे। कुछ ही समय पश्चात् लौटते हुए उन्होंने देखा तो समस्त ओसविन्दु क्षणभर में नष्ट हो गये हैं...प्रभात का सौन्दर्य भी अब पहले जैसा नहीं रहा था। वह देखकर महाराज शीतलनाथ को वैराग्य जागृत हुआ कि-अरे, यह मनुष्य जीवन और यह राजा-रानी के संयोग सब ओसविन्दुओं के समान क्षणभंगुर हैं; उनकी शोभा और संयोग क्षणभर में विलीन हो जाते हैं। संसार के सर्व पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे हैं; जीव के विभाव भी क्षण-क्षण में पलट जाते है; उन पर पदार्थों या परभावों के भरोसे रहना योग्य नहीं हैं। स्थिर एवं अवियोगी तो अपना असंयोगी आत्मा है। कर्म भले ही पुण्यरुप हो अथवा पापरूप हो, उसके द्वारा जीव को सुख कैसे मिल सकता है?-पुण्य के फलरुप विषयों में यदि सुख होता तो, मुझे पुण्य की पराकाष्ठा रूप उत्कृष्ट सामग्री प्राप्त होने पर भी मेरा मन संतुष्ट क्यों नहीं है? इसलिये विषयसामग्री का सुख वह सच्चा सुख है ही नहीं, उसमें जगत सुख मानता है वह मिथ्या है; विषयों के प्रति उदासीनता और निज चैतन्यस्वरुप में रति वही सच्चा सुख है। परन्तु जहाँ मोह है वहाँ विषयों के प्रति उदासीनता अथवा चैतन्य में लीनता कहाँ से होगी? इसलिये मैं मोह का सर्वथा नाश करके शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करूँगा और परमात्मा बनूँगा।

महाराजा शीतलनाथ ऐसा वैराग्य चिन्तन कर रहे थे उसी समय परिणामविशुद्धि से उनको जातिस्मरण ज्ञान हुआ कि मैं पूर्वभव में पद्मगुल्म राजा था; उस समय भी ऋतु का परिवर्तन देखकर मेरा चित्त संसार से विरक्त हो गया था; और इस समय भी ओस विन्दुओं की क्षणभंगुरता देखकर मेरा मन संसार से विरक्त हो गया है। इस प्रकार प्रभु की दीक्षा का अवसर जानकर ब्रह्मलोक से लौकान्तिक देव वहाँ आये और प्रभुकी स्तुति करके उनके वैराग्य की प्रशंसा की। उसी समय इन्द्र 'शुक्रप्रभा' नाम की पालकी लेकर आ पहुँचे। उसमें आरूढ़ होकर विरागी प्रभुने संसार का त्याग करके मोक्ष साधने के लिये वन की और प्रयाण किया। माघ कृष्णा द्वादशी (अपनी जन्मतिथि के दिन) को शीतलनाथ प्रभुने स्वयं दीक्षा धारण की। एक हजार राजाओं ने भी उनके साथ दीक्षा ले ली। बाह्य में वस्त्रादि समस्त परिग्रह और अंतर में बारह कषायों में से आठ कषायों छोड़कर 'शुद्ध' हुए वे महात्मा आत्मध्यान में एकाग्र हुए। अहा, धन्य वह 'शुद्ध' पद! जिसकी महिमा करते हुए महात्मा कुन्दकुन्द उसे नमन करते हैं—

**रे 'शुद्ध' ने श्रामण्य भाख्युं, ज्ञान-दर्शन 'शुद्ध' ने**
**छे 'शुद्ध' ने निर्वाण, 'शुद्ध' ज सिद्ध, प्रणमुं तेहने।**

प्रभु शीतल ऐसे 'शुद्ध' श्रमण हुए और सिद्धसमान सुशोभित हो उठे...वे 'शीतल' तो थे ही, चैतन्य के शांतरस में लीनता द्वारा मुनि होकर वे परम शीतल हो गये; कषायों की कलुषता को ध्यान द्वारा धो डाला। तीन रत्न-चार ज्ञान-पाँच महाव्रत तथा छह आवश्यक के धारी वे मुनिराज दो उपवास के पश्चात् तीसरे दिन अरिष्ट नगरी में पधारे, और वहाँ के राजा पुनर्वसु ने नवधाभक्ति से अत्यन्त हर्षपूर्वक खीर का आहारदान देकर उन्हें पारणा कराया। तीर्थंकर को मुनिदशा में प्रथम आहारदान देनेवाले उन राजा के महाभाग्य की देवों ने भी प्रशंसा की-अहो दानं...महादानं...कहकर आकाश से पुष्पवृष्टि करके दिव्य वाद्य बजाये।

शीतलनाथ प्रभुने तीन वर्ष तक मुनिदशा में रहकर आत्मध्यान द्वारा परमात्म साधना की और अंत में पौष कृष्णा चतुर्दशी के सायंकाल केवलज्ञान प्रगट करके स्वयं परमात्मा बन गये। देवों तथा मनुष्यों ने परमात्मपद प्राप्ति का महान उत्सव किया। अरे, तिर्यंच भी उन परमात्मा को देखकर आनन्दित हो उठे। नरकगति के जीव यद्यपि यहाँ आ नहीं सके थे, परन्तु प्रभु के तीर्थंकरत्व के प्रभाव से उन्हें नरक में भी दो घड़ी साता का अनुभव हुआ और आश्चर्यचकित होकर तीर्थंकर की महिमा करके उनमें से कितने ही जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। शीतलप्रभु के प्रताप से नरक में भी उनको सम्यक्त्व की अपूर्व शीतलता प्राप्त हुई। धन्य है तीर्थंकरत्व की दिव्यता! धन्य उनके कल्याणक!

देवों ने धर्मसभा के रुप में अद्भुत समवसरण की रचना की...और इन्द्र स्वयं आकर प्रभुकी पूजा करके धर्मोपदेश श्रवण करने बैठा। शीतलनाथ प्रभुके उस धर्म-दरबार में 'अनगार' आदि ८१ गणधर थे- जो आश्चर्यकारी सप्त ऋद्धि के धारक थे। वह सात ऋद्धियां इस प्रकार हैं:- १. बुद्धि, २. तप, ३. विक्रिया, ४. रस, ५. बल, ६. औषधि और ७. अक्षीण।-ऐसी ऋद्धि सम्पन्न ८१ गणधरों के अतिरिक्त १४०० श्रुतकेवली मुनिवर थे; ६९००० उपाध्याय मुनि थे; ७२०० अवधिज्ञानी थे; १२००० विक्रियालब्धि धारी मुनिवर थे; ७५०० मन:पर्ययज्ञानी थे;-कुल मिलाकर एक लाख मुनिवर मोक्ष की साधना कर रहे थे। जिनमें ७००० तो प्रभु जैसे ही केवलज्ञानधारी अरिहंत थे...वह भी समवसरण के श्रीमण्डप में ५००० धनुष ऊपर, प्रभु के समकक्ष गगन में विराजते थे। अहा! एक साथ हजारों केवली भगवन्त और लाखों मुनिभगवन्तों से उमड़ते हुए मेले का वह मंगल दृश्य मुमुक्षु के चित्त में मोक्षसाधना की ऊर्मियाँ जागृत करता था। वहाँ तीन लाख जितनी आर्यिकाएँ और पाँच लाख श्रावक-श्राविकाएँ भी प्रभुका उपदेश सुनकर आनन्दपूर्वक मोक्षमार्ग में गमन कर रहे थे। देवों का तो क्या कहना! कितने ही तिर्यंच भी प्रभु के दर्शन करके तथा धर्मोपदेश सुनकर आत्मज्ञान प्राप्त करते और अंतरात्मा होकर परमात्मपद की साधना करते थे। (मोक्ष के मेले का दृश्य पृष्ठ १४५ पर देखें।)

इस प्रकार करोड़ों वर्ष तक धर्मोपदेश देकर अरबों जीवों का मिथ्यात्व छुड़वाते हुए तथा सम्यक्त्वादि रत्नों की प्राप्ति कराते हुए, तीर्थंकर शीतलनाथ सम्मेदशिखर पधारे। अब मोक्षपुरी जाने में उनको मात्र एक मास शेष रहा था, इसलिये उन्होंने सम्मेदशिखर की विद्युतवर टूंकपर स्थिर योग धारण किया। विहार एवं वाणी रुक गये। पश्चात् अन्तिम शुक्लध्यानपूर्वक अनुक्रम से सम्पूर्ण योगनिरोध करके, आत्मप्रदेशों की सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा अशेषरूप से कर्मों का क्षय करके, तथा सर्वगुणसम्पन्न होकर प्रभु सिद्धालय में सिधारे। आश्विन शुक्ला अष्टमी के दिन देवों ने दसवें तीर्थंकर भगवान के मोक्षगमन का मंगल-महोत्सव मनाया। उस अवसर पर भी अशरीरी सिद्धों का तथा उनके अतिन्द्रिय सुख का चिन्तन करके, कितने ही जीवों ने सम्यग्दर्शन द्वारा अपने में वैसे सिद्धसुख का आस्वादन किया और वे भी सिद्धपुरी के पथिक बन गये...

**शीतलनाथ जिनराज की विद्युतवर टूंक जेह,**
**मन-वच-तन कर पूज हूँ शिखरसम्मेद यजेह।**

इस प्रकार भव्य जीवों के परम शीतलता प्रदान करनेवाले भगवान शीतलनाथ तीर्थंकर के पंचकल्याणक पूर्ण हुए...वे भव्यजीवों को मंगलरूप हों।

[इति श्रीशीतलनाथ पुराण समाप्त]

## [११]




**श्रेयहेतु भव्यजीवों को आश्रय लेने योग्य-ऐसे भगवान श्रेयांसनाथ तीर्थंकर का मंगलचरित्र सर्व जीवों को श्रेयरूप हो।**

### [श्रेयांसनाथ-पूर्वभव : नलिनप्रभ राजा]

तीसरे पुष्कर द्वीप के पूर्वविदेह में क्षेमपुर नगर हैं। महाराजा नलिनप्रभ वहाँ राज्य करते थे। वे जैनधर्म के प्रेमी तथा आत्मस्वरुप के ज्ञाता थे; संसार में रहकर भी मोक्ष के साधक थे; धर्म, अर्थ, काम इन तीन पुरुषार्थोंके साथ मोक्ष का पुरुषार्थ भी उनके निरन्तर चल रहा था। राजवैभव के मध्य रहने पर भी उनकी कोई प्रवृत्ति धर्म से विरुद्ध नहीं थी। उनका जीवन एक आदर्श श्रावक समान उज्ज्वल था।

उनके राजउद्यान में हजारों आम्रवृक्षों से सुशोभित एक रमणीय उपवन था। एक बार वहाँ अनन्त जिनेन्द्र का आगमन हुआ। मोर नाच उठें, कोयलें कुहुकने लगीं, आम्रवृक्ष हजारों फलों से झुक गये-मानो हाथ में फल लेकर प्रभुजी की पूजा कर रहे हों! वनपाल ने आकर राजा को बधाई दी कि-हे महाराजा! अपनी नगरी के उद्यान में भगवान अनन्त जिनका पदार्पण हुआ है।

सर्वोत्कृष्ट बधाई सुनते ही राजा के हर्ष का पार नहीं रहा...तपोवन में पहुँचकर प्रभुके दर्शन एवं उपदेश से उनका आत्मा प्रसन्न हो उठा। आत्मज्ञान तो उन्हें था ही, तदुपरान्त महान वैराग्य जागृत हुआ...और जिनचरणों में दीक्षा लेकर मुनि हो गये। उनको ग्यारह अंग का ज्ञान उदित हुआ और रत्नत्रय की शुद्धि के उपरान्त सोलह प्रकार की विशुद्ध भावनाओं द्वारा बिना इच्छा के तीर्थंकर प्रकृति का आगमन हुआ-मानो केवलज्ञान की दूती उसके आगमन के समाचार लेकर आ पहुँची। वे नलिन मुनिराज विशुद्ध-चारित्र का पालन करते हुए, आयु पूर्ण होने पर समाधिमरण करके सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र हुए। वहाँ उनकी आयु बाईस सागर की थी। अनेक दिव्य देवियों तथा देवलोक का आश्चर्यकारी वैभव के

बीच असंख्यात वर्ष तक रहने पर भी वे सम्यक्त्व के प्रताप से चैतन्य की महिमा को कभी क्षणमात्र भी भूले नहीं थे। राग होने पर भी उनकी चेतना राग से विरक्त थी। स्वर्गलोक के उत्तम सुखों को भी चैतन्य के वीतरागी सुखके समक्ष वे दुःख ही समझते थे। 'धन्य वीतराग-मुनिदशा और धन्य परमात्मदशा!-उसे हम कब प्राप्त करेंगे?' ऐसी मोक्ष भावना वे भावी तीर्थंकर स्वर्ग में बैठे-बैठे भाते थे। अन्तमें, स्वर्ग के दिव्यसुखों से संतुष्ट न होकर मोक्षसाधना हेतु वे महात्मा स्वर्ग पुरी छोड़कर मनुष्यलोक में आये।

## सिंहपुरी (काशी) में श्रेयांसनाथ-अवतार

भरत क्षेत्र में काशी देश अत्यंत रमणीय है; वहाँ अनेक महापुरुष हुए। अभी तक सातवें और आठवें (सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ) भगवन्तों के कल्याणकों से जो देश पावन हुआ, उस काशी देश में (वर्तमान बनारस से दस किलोमीटर दूर) सिंहपुरी नामक सुन्दर नगरी थी। (वर्तमान में उसे 'सारनाथ' कहते हैं और वहाँ भगवान श्रेयांसनाथ का सुन्दर मन्दिर है।) वहाँ इक्ष्वाकुवंशी राजा विष्णु राज्य करते थे; उनकी महारानी का नाम था सुनन्दा। उन सुनन्दा माता के गर्भ में सोलह मंगल-स्वप्न के साथ भगवान श्रेयांस-तीर्थंकर का जीव अवतरित हुआ...(ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी)...तत्पश्चात् सवा नौ मास बीतने पर फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन भरतक्षेत्र के ग्यारहवें तीर्थंकर का अवतार हुआ। इन ज्ञानके धारी और तीन लोक के नाथ ऐसे तीर्थंकर का अवतार होने से तीनों लोक के जीव हर्षित हो उठे। सर्व ऋतुएँ एक साथ खिल उठीं और जीवों को शान्ति का अनुभव हुआ। पापी जीव भी धर्मात्मा बन गये। इन्द्रों ने आनन्दपूर्वक धामधूमसे दिव्यतासहित प्रभुका जन्मोत्सव मनाया-जो जगत के उत्कृष्ट मंगल-महोत्सव में अद्वितीय था। प्रभु के जन्मोत्सव की महिमा देखकर अनेक जीवों ने आश्चर्यकारी चैतन्य तत्त्व की महिमा का चिन्तन करके सम्यग्दर्शन द्वारा अपना श्रेय प्राप्त किया। अहा! श्रेयांसनाथ तीर्थंकर का अवतार होते ही जीवों के श्रेय का प्रारम्भ हो गया। उनसे पूर्व भरतक्षेत्र में अनेक वर्षों तक जैनधर्म की धारा विच्छिन्न हो गई थी जो पुनः प्रवाहित हो गई। इन्द्र उन्हें 'श्रेयांसनाथ' नाम दे उससे पूर्व ही प्रभुने जीवों का श्रेय प्रारम्भ कर दिया था। उनके चरण में 'गेंडा' का चिह्न था-जिस प्रकार गेंडा का शरीर शस्त्रों से नही भिदता, उसी प्रकार श्रेयांसनाथ प्रभुके अभेद्य अनेकान्त शासन को किसी एकान्तवादी कुचक्र से नहीं भेदा जा सकता। इन्द्र ने प्रभु का जन्माभिषेक करने के पश्चात् स्तुति करते हुए कहा कि-हे देव! आप इस अवतार में ही सर्वज्ञ परमात्मा होंगे और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का उपदेश देकर अनेक जीवों का श्रेय करेंगे। आप जीवों के हितरूप श्रेयमार्ग के रक्षक तथा पोषक हैं, इसलिये सचमुच आप 'श्रेयांसनाथ' हैं।

कुमार श्रेयांसनाथ मात्र सिंहपुरी के नहीं परन्तु समस्त काशी देश के गौरवरूप थे और उनके कारण काशी देश सारी दुनिया में प्रसिद्ध था। काशी देश की प्रजा ने सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ के पश्चात् इन तीसरे बालतीर्थंकर को अपनी नगरी में क्रीड़ा करते और किलकिलते देखा। उन्हें देखते ही प्रजाजनों के हृदय आनन्द से बोल उठते थे कि-अहा! जहाँ ऐसे महात्मा प्रभु विचरते हैं उस देश को धन्य है! हमारे नेत्र सफल हुए जो हमें ऐसे भगवान के दर्शन हो रहे हैं; हमारा जीवन धन्य है कि ऐसे प्रभु के साथ हम जी रहे हैं!-'वाह प्रजाजनों! आपको धन्य है।'

हजारों प्रजाजन प्रतिदिन सुप्रभात में श्रेयांसकुमार के दर्शन करने आते...और परमात्मा के दर्शन जैसा आनन्द प्राप्त करते; क्योंकि श्रेय प्रभु एक मंगल-आत्मा थे...उनका द्रव्य भी परमात्म द्रव्य

था...अर्थात् वे स्वयं द्रव्य-परमात्मा थे। उनके साथ दो शब्द बोलने से भी परम आनन्द होता था। एक बार एक श्रेष्ठ नागरिकने प्रभु से पूछा-हे देव! इस चौबीसी में इस काशी देश में सुपार्श्वनाथ एवं चन्द्रप्रभ-इन दो तीर्थंकरों के पश्चात् आप तीसरे तीर्थंकर अवतरित हुए हैं..क्या अब भविष्य में इस काशी देश में और किसी तीर्थंकर का अवतार होगा? ! यह प्रश्न सुनकर प्रभु कुछ मुस्कराये और कहा-हे सुभागी प्रजाजनो! अभी एक चौथे तीर्थंकर भी इस काशी देश को पावन करेंगे। इस चौवीसी के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का भी इस काशी देश की वाराणसी नगरी में अवतार होगा; वे कुमारअवस्था में सर्पयुगल को धर्मोपदेश देकर उनका उद्धार करेंगे...

अहा, छोटे-से श्रेयकुमार के श्रीमुख से ऐसी आनन्दकारी बात सुनकर प्रजाजन अति हर्षित हुए और उल्लासपूर्वक 'श्रेयास तीर्थंकर की जय हो...पार्श्वनाथ तीर्थंकर की जय हो'...ऐसे आनन्दकारी जय-जयकार से समस्त नगरी गूँज उठी। वह गगनभेदी जयनाद सुनकर महारानी सुनन्दादेवी ने महल के झरोखे से देखा तो उनका लाड़ला पुत्र श्रेयकुमार प्रजाजनों से बातें करके उन्हें आनन्दित कर रहा है! वह दृश्य, देखकर माताजी प्रसन्न हुईं और उसी क्षण माताजी को झरोखे में देखकर प्रजाजनों ने पुनः आनन्दपूर्वक 'सुनन्दामाता की जय'...ऐसे जयकार से आकाश गुँजा दिया।

किशोर अवस्थामें उन बाल तीर्थंकर का विनोद भी पुण्यानुबंधी शुभ था। आनन्द-किल्लोलपूर्वक वृध्दिंगत होते-होते राजकुमार श्रेयांसनाथ युवावस्था को प्राप्त हुए। पिताने उनका विवाह किया और राज्याभिषेक करके उन्हें सिंहपुरी के राजसिंहासनपर बिठाया पुण्यकर्म उत्तम भोगसामग्री द्वारा उनकी सेवा करते थे। यद्यपि वे धर्मात्मा राजकुमार तो चैतन्यसुख की श्रेष्ठता के समक्ष उन उत्तम भोगों को तुच्छ ही समझते थे। मात्र बाह्य समृद्धि में ही नहीं अपितु अंतरंग श्रेयमार्ग में भी वे वृद्धिगत थे। पुण्य प्रताप से समस्त उत्तम अर्थोंकी प्राप्ति उनको स्वयमेव होती थी, इसलिये उन्हें अर्थ प्राप्ति हेतु कोई पुरुषार्थ करना नहीं था, मात्र मोक्ष हेतु ही पुरुषार्थ करना था,-जो वे राज्य संचालन के साथ भी गुप्त रुपसे करते ही रहते थे। इस प्रकार महाराजा श्रेयांसनाथ ने अपनी गुप्त ज्ञाननिधी की सुरक्षापूर्वक ब्यालीस लाख वर्षोंतक सुखसे राज्य किया। चौरासी लाख वर्ष की आयु में से तीन भाग अर्थात् त्रेसठ लाख वर्ष बीत गये।

एक बार महाराजा श्रेयांसनाथ वनक्रीड़ा हेतु उद्यान में गये... माघ का महिना था, वसन्तऋतु का आगमन निकट होने से वृक्षों के पत्ते खिर गये... पुष्प-पत्रों से रहित वृक्षों की शोभा लुप्त होगई... मानो वृक्ष अपना शृंगार और वैभव छोड़कर विरक्त हो गये हो!! ऐसा ऋतु-परिवर्तन देखकर महाराजा श्रेयांसनाथका चित्त भी अचानक संसार से विरक्त हो गया।वे सोचने लगे-यह पुण्यवैभव भी क्षणभंगुर है। पतझड़ आनेपर इन वृक्षों की भाँती मेरे भी यह संयोग छूट जायँगे। संयोगो से पार ऐसे अपने असंयोगी सिध्दपद की साधना जब तक मैं नहीं करूँगा तब तक इस संसार में कहीं स्थिरता नहीं है; आज ही ऐसे अस्थिर संसार को छोड़कर मैं मुनि होऊँगा और अपने सिध्दपद की साधना करूँगा। पत्तों जैसे इस पुण्य के भरोसे मैं बैठा नहीं रहूँगा! ध्रुवपद तो मेरा सिध्दपद है, उसे साधकर सादि अनन्त काल उसमें बैठूँगा। इस प्रकार महाराजा की वैराग्यधारा वेगवान होती गई; उनकी चेतना सातवें गुणस्थान में आरोहण करने हेतु तत्पर बनी और 'श्रेयस्कर' नामक पुत्र को राज्य सौंपकर बारह वैराग्य भावनाओं का चिंतवन करते हुए जिनदीक्षा हेतु उद्यमी हुए...

उसी समय ब्रम्हलोक से लौकांतिक देव उतर आये। मानो वैराग्य का शृंगार सजा हो ऐसे श्वेतदिव्यवस्त्रोंसे वे सुसज्ज थे। उन्होंने वैराग्यवन्त महाराज को वंदन किया और वैराग्यवर्धक स्तुति करते हुए कहा: अहो देव! आपका नाम 'श्रेयांसनाथ' है और आप स्वयं श्रेयरुप हैं... तथा इस समय आप

त्रयरूप उत्तम श्रेयमार्गपर विचर रहे हैं।-ऐसी आपकी वीतरागता देखकर हम प्रसन्नता पूर्वक उसका ुमोदन करने हेतु ब्रम्हलोक से यहाँ आये हैं। [अहा, यह भी एक आश्चर्य की बात है कि तीर्थंकरों समवसरण में भी कभी नहीं आनेवाले वे विरागी देव मात्र भगवान के वैराग्य प्रसंगपर ही उनके वैराग्य अनुमोदना करने मनुष्यलोक में गृहस्थ-तीर्थंकरके पास आते हैं।]

वास्तवमें तीर्थंकरोंका वैराग्य वह जगतका कल्याण करनेवाला महान मांगलिक अवसर है। उस ासर के अनुरूप 'विमलप्रभा' नामक पालकी लेकर देवोंसहित इन्द्र वहाँ आ पहुँचे...और ुभूतिसहित तीन ज्ञानकी विमलप्रभा से शोभायमान भगवान श्रेयांसनाथ उस पालकी में आरूढ़ हुए उसका 'विमलप्रभा' नाम सार्थक हुआ। पालकी में आरूढ़ होते समय,स्वयं इन्द्रने अपने हाथ का ारा देकर प्रभु का सन्मान किया और इस प्रकार ना भी सम्मान बढ़ाया। प्रभु को कहीं इन्द्र के धार की आवश्यकता नही थी, परन्तु वह तो प्रभुकी ़मा बढ़ाने की एक विधि थी-जिसे देखकर वैभवी की अपेक्षा उन वैराग्यवन्त तीर्थंकर की अपार ़मा को जगत जान सके! वाह, इन्द्र भी हाथ ाकर जिनकी सेवा में तत्पर हो उन भगवन्त के ंकी महिमा का क्या कहना!!



वह कल्याणकारी दिन था फाल्गुन कृष्णा ादशीका मनोहर उद्यान में पहुँचकर महाराजा-ंसनाथने वस्त्राभूषण, मुकुट आदि समस्त राजवैभव का त्याग किया, स्फटिक समान उज्वल शीलापर क़र 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' ऐसे उच्चार पूर्वक सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके स्वयंगुरु ऐसे उन प्रभु अपने दृढ़ हाथ से कोमल केशोंका लुंचनं किया। उसी समय एक हजार राजा भी प्रभुका अनुकरण के सर्वसगंत्यागी दिगम्बर मुनि बन गये। उन एक हजार मुनियों के बीच सूर्य समान तेजस्वी एसे वे ंसनाथ मुनिराज एकत्वभावनामें झूलते-झूलते आत्मचिन्तनमें एकाग्र हुए और उसी क्षण अनंत गम्भीर चिदानन्दतत्त्वमें लीन होकर शुद्धोपयोगरुप परिणमित हुए, साक्षात् श्रमण हुए, सर्वत्र समभावी । अहा, उन परम वीतरागी मुनिराजकी अचिन्त्य शांत मुद्रा देखकर उस समय इन्द्र, देव, मनुष्य और च भी अपने चित्तमें अनुपम शान्तिका अनुभव करने लगे। सिंह और शशक प्रभुचरणोंमें एकसाथ त्रित हुए थे तथापि किसीके हृदय में क्रूरता अथवा भय नहीं था, दोनों अत्यन्त शान्तिसे प्रभुकी वीतरागी छबि निहार रहे थे...और मन में विचारते थे कि-'वाह, यह महात्मा कैसा सुन्दर ध्यान लगाये बैठे हैं!! उस समय हजारो प्रजाजनोंने भी वैराग्य भावना पूर्वक श्रावकव्रत अंगीकार किए और अनेक जीव अपूर्व सम्यकदर्शन को प्राप्त हुए। धन्य था उन तीर्थंकर प्रभुका दीक्षा कल्याणक का महोत्सव!



दीक्षा लेकर आत्मध्यानमें विराजमान उन श्रेयांस मुनिराजको शुध्दोपयोगके साथ ही सातवाँ गुणस्थान, चौथा दिव्यज्ञान तथा सात महान ऋध्दियाँ प्रगट हुई,

संज्वलन के अतिरिक्त सर्व कषायों का अभाव होगया; वीतराग रत्नत्रयरुप के तेज से उनका आत्मा दीप्तमान हो उठा। दो दिन उपवास के पश्चात् वे मुनिराज सिध्दार्थनगर मे पधारे...वहाँ नन्दराजाने भक्तिसहित विधीपूर्वक प्रथम पारण कराया। राजाके महान पुण्ययोगसे वहाँ देवों ने दुंदुभि वाद्य बजाये और रत्न वृष्टिकी इस प्रकार मोक्षमार्गी मुनिवरोंको आहार दान की अलौकिक महिमा जगत में प्रसिद्ध हुई।

महामुनि श्रेयांसनाथने लगभग दो वर्षतक मौनदशापूर्वक विहार किया। तत्पश्चात् पुनः अपनी जन्म-नगरी सिंहपुरीमें पधारे; जिस मनोहर उद्यान में दीक्षा ली थी उसी में एक वृक्ष के नीचे दो दिन उपवास रखकर विराजमान हुए और आत्मध्यान की उग्र श्रेणी लगायी। शुध्दोपयोग की तलवार को शुक्लध्यान द्वारा सजाकर भयंकर मोहशत्रुपर प्रहार करने लगे। मोहशत्रु काँप उठा, उसकी सेना नष्ट होने लगी। बाह्य में परमशांत दिखनेवाले वे श्रेयांस मुनिराज अंतरमे मोहशत्रुके साथ कल्पनातीत शूरवीरतासे युध्द कर रहे थे और ध्यानचक्र द्वारा उसे छेद रहे थे। मात्र कुछ ही समय के युध्द में प्रभुने मोह का सर्वथा नाश कर दिया। अनादि से जो मोह अविजित था उसे सम्पूर्णतया जीतकर भगवान परिपूर्ण विजेता-जिन हुए, वीतराग हुए और दूसरे ही क्षण अपने केवलज्ञान-निधान को प्राप्त करके सर्वज्ञ परमात्मा हुए... वह मंगल दिवस एवं मंगल घड़ी थी माघ कृष्णा अमावस्याकी संध्या! अमावस्या होनेपर भी प्रभुके आसपास अंधकार नहीं था, वहाँ तो अमावस्याकी रात्रि में भी किसी दैवी प्रकाश का पूंज फैला हुआ था।

ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसप्रभुको केवलज्ञान होनेपर उस चौथे कल्याणक का उत्सव करने के लिये काशी देश की सिंहपुरी नगरी में स्वर्ग से इन्द्रादि भी चौथीबार आ पहुँचे। एक ही नगरी में प्रभुके चार कल्याणक! धन्य वह नगरी!! दो घड़ी में तो समवसरण की रचना हो गई। उसकी शोभा ऐसी अद्‌भुत थी कि अरे, यह रचना इन्द्रोंने की है या तीर्थंकर के सातिशय पुण्य से हुई है?-ऐसा निर्णय नहीं हो सकता था। तीर्थंकर प्रभु के धर्म दरबार में भव्यजीवों की टोलियाँ आयीं। मात्र देव नहीं, मनुष्य तथा सिंह और शशक, वाघ और बन्दर, हाथी और सर्प आदि प्राणी आये और शान्तिसे धर्मोपदेश सुनने लगे। वे मात्र सुनकर नहीं बैठे रहे परन्तु उसमें कहे हुए अपने चैतन्यतत्त्व की सुन्दरता को अपने में देख लिया और आत्मज्ञान करके मोक्ष के मार्ग में चलने लगे; अपने भीतर विद्यमान 'परमात्मा' के उन्होंने दर्शन कर लिये।

श्रेयांसनाथ तीर्थंकर की दिव्य धर्मसभा में कुन्थुराज आदि सतत्तर धर्म-मंत्री (गणधर) थे; वे सब बारह अंग के धारी श्रुत केवली थे तथा महान लब्धियोंके धारक थे। करोडों श्लोक मात्र दो घड़ी में शुध्द उच्चारण पूर्वक बोल सके -ऐसी उनकी वचन शक्ति थी; हजारो लोग एकसाथ बोलकर कोलाहल कर रहे, है तथापि उन सब में से प्रत्येक की भिन्न-भिन्न बात एकसाथ सुन सके ऐसी उनकी श्रवणशक्ति थी; उन प्रभुके समवसरण में मुनिवरोंकी सभा के श्रीमण्डप के ऊपर (पांच हजार धनुष ऊँचे निरालम्बी आकाश में) साढ़े छह हजार केवलज्ञानी भगवन्त, प्रभुसमान ही अर्हंतपदपर विराजते थे। अहा, ऊपर दृष्टि करते ही जहाँ एकसाथ ६५०१ परमात्मोओं के साक्षात दर्शन हों, उस धर्मसभा की शोभा का क्या कहना!! तथा वहाँ तेरह सौ श्रुतकेवली भगवन्त थे, उन सबका सम्यक्त्व अप्रतिहत था, तथा उनमें सें अनेक तो क्षायिक सम्यकदृष्टि और चरमशरीरी थे;....हजार अवधिज्ञनी, छह हजार मन:पर्यय ज्ञानी थे; ११ हजार मुनिवर विक्रयाऋध्दिधारी थे। ४८ हजार दो सौ उपाध्याय-शिक्षक थे; पाँच हजार मुनि वाद-विवाद में कुशल थे-जो अनेकान्त विद्याके द्वारा किसी भी कुतर्कका खण्डंन करके जिनधर्म की

सत्यता सिद्ध कर सकते थे।-इस प्रकार उन तीर्थंकर प्रभुके परिवार में ८४००० मुनिवर सुशोभित थे। वे क्रिया शुद्धरत्नत्रय सहित थे। एक लाख बीस हजार आर्यिकाएँ पंचम गुणस्थान में उत्तम आत्म साधना करती थी; तथा देव देवियों की संख्या का तो कोई पार नहीं था। धर्मप्रेमी तिर्यंच भी वहाँ हजारों-लाखों की संख्या में एकत्रित हुए थे और प्रभुकी धर्मदेशना श्रवण करने में लीन थे। दिव्य ध्वनि द्वारा श्रेयमार्ग का अर्थात रत्नत्रयरुप मोक्षमार्ग का उपदेश देते हुए श्रेयांसनाथ तीर्थंकरने कहा कि-हे भव्य जीवों जैसा चेतनस्वभाव हमारे आत्मा का है वैसा ही तुम्हारे आत्मा का है; सुख के निधान उसी में भरे हैं, सुख की अनुभूति हेतु स्वयं अपने आत्मा में देखो।

'अहा, हम आत्मा ही स्वयं परमात्मा हैं' ऐसा प्रभु कह रहे है; वह सुनते ही भव्यजीव अपूर्व आश्चर्यसे चौंक उठते और दूसरे ही क्षण अपने परमात्मास्वरुपका अवलोकन कर लेते थे। कोई सम्यकदर्शन प्राप्त करते, तो किन्हीं को एक साथ सम्यकदर्शन-ज्ञान चारित्र तीनो की प्राप्ति हो जाती और इसप्रकार वे श्रेयमार्गमें लग जाते।

श्रेयांस प्रभुने भरत क्षेत्र के अनेक देशोंमें इक्कीसलाख वर्ष तक विहार किया; धर्मदेशना द्वारा अनेक जीवोंको श्रेय मार्ग की प्राप्ति करायी और अपने तीर्थंकर प्रकृति आदि कर्मोंकी निर्जरा की। अन्त में एक मास आयु शेष रहने पर प्रभु सम्मेद शिखर की 'संकुल टूंक' पर पधारे और वहाँ स्थिर हुए। विहार और वाणी का उदय रुक गया... योग भी कम होने लगे...श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन अन्तिम दो शुक्ल ध्यानों द्वारा शेष कर्मोंका भी क्षय किया। प्रथम शुक्ल ध्यान द्वारा मनयोग, वचनयोग तथा स्थूल काययोगका भी निरोध करके ७२ कर्मप्रकृतियोंका क्षय किया, पश्चात् समुद्र घातकी एक अलौकिक-अचिन्त्य विधीद्वारा चारों अघातिकर्मों की स्थिती एकसमान कर दी और अंत में चौदहवें गुणस्थान के अंतभाग में अन्तिम शुक्लध्यान द्वारा शेष १३ कर्म प्रकृतियोंका भी सम्पूर्ण क्षय करके द्रव्य कर्म-भाव कर्म-नोकर्म से रहित हुए वे प्रभु, अपने केवलज्ञानादि अनन्त चैतन्य वैभव को साथ लेकर मुक्ति पुरी में पधारे। देवोंने उनके मोक्षका महोत्सव मनाया। आज भी प्रभु मुक्तिपुरी में सिद्धस्वरुपमें विराज रहे है; उन्हे नमस्कार हो!

**श्रेयांसनाथ जिनराजकी, संकुल कूट है जेह,**
**मन-वच-तन कर पूज हूँ शिखरसम्मेद यजेह।**

पूर्वभव में जो विदेहक्षेत्र में नलिनप्रभ राजा थे, वहाँ से सोलहवें स्वर्गमें अहमिन्द्र हूए; पश्चात् ग्यारहवें तीर्थंकर रुपसे सिंहपुरीमें अवतार लेकर जीवोंका श्रेय किया और अन्त में सम्मेद शिखर से सिध्दालय में सिधारे...उन भगवान श्रेयांसनाथ तीर्थंकर का मंगल पुराण यहाँ पूरा हुआ।

## चैतन्य वैभव और पुण्यवैभव

भगवान आदिनाथ तो तीसरे युग के अंत भाग में अवतरित हुए और मोक्ष भी तीसरे युगमें ही प्राप्त किया। तत्पश्चात् शेष २३ तीर्थंकर चौथे युगमें हुए। चौथे युग के प्रारम्भ से श्रेयांस भगवान तक अभी तो १० तीर्थंकर हुए, उतने में तो जीवोंकी आयु, शरीर प्रमाण आदि वैभव तो कितनी शीघ्रता से कम होने लगे! -वह परिवर्तन देखो-भगवान ऋषभदेव की आयु ८४ लाख पूर्व की (अर्थात ८४ लाख x ८४ लाख x ८४ लाख = ५९२७०४०००,०००,०००० इतने वर्ष की) थी, जब कि ११ वें श्रेयांसनाथ तीर्थंकर की आयु मात्र ८४ लाख वर्ष की ही थी। कितना विशाल गुणाकार घट गया! प्रथम तीर्थंकर का शरीर प्रमाण ५०० धनुष था जब की ११वें तीर्थंकर का शरीर प्रमाण ८० धनुष था। इस

प्रकार अन्य भी अनेक बाह्य प्रकारों में क्रमश: हानि होती गई; परन्तु भगवन्तोंके रत्नत्रयमार्ग में या केवलज्ञानादि आत्मवैभव में कोई हानि नहीं हुई; सर्व भगवन्तोंका वीतरागी आत्मवैभव तो एकसमान ही था। उसीसे प्रगट होता है कि आत्मवैभव ही जीवोंका सच्चा वैभव है; देह वैभव अथवा आयु वह जीव का वैभव नहीं है। इसलिये हे भव्य जीवों! तुम भी तीर्थंकरोंके बाह्य वैभव में मोहित मत होना, उनकी सर्वज्ञता-वीतरागता आदि गुणवैभव द्वारा उनकी महानता को पहिचानना; तो तुम्हे भी वैसे गुणों की प्राप्ति होगी। चैतन्य वैभव के समक्ष पुण्यवैभव सेवकरुप से हो तो भले हो, उसका हम तिरस्कार न करें, परन्तु उसमें मोहित होकर सन्तुष्ट भी न हो जायें और चैतन्यवैभव को न भूल जाये; अर्थात् उस पुण्यवैभवको अपने चैतन्य वैभव से बाह्य जानकर, उसमें मूर्च्छित हुए बिना अपने चैतन्यवैभव में ही लीन रहे और अन्त में उस बाह्य वैभव को छोड़कर सिध्द-परमात्मपद में स्थिर रहें। वही अपना इष्ट, ध्येय और साध्य है;-ऐसा तीर्थंकर भगवन्तोंका जीवन हमे शिक्षा देता है।

## भगवान श्रेयांसनाथ का मोक्षगमन होने के पश्चात-

प्रथम बलदेव-वासुदेव-प्रतिवासुदेव (विजय, त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव) हुए, प्रत्येक चौवीसी में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव तथा ९ प्रतिवासुदेव होते हैं; इन कुल ६३ महापुरुषोंको ६३ शलाका पुरुष कहते हैं। वे सब यद्यपि मोक्षगामी तो होते हैं परन्तु उनमें से २४ तीर्थंकर नियमसे उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं; १२ चक्रवर्तियोंमें से अनेक तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं; कोई स्वर्ग में जाते हैं तो कोई नरक में भी जाते है बलदेव या तो उस भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा स्वर्ग में जाते हैं, नरक में नहीं जाते; ९ वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव (पूर्व काल में किये हुए भोग निदान के कारण) नरकमें जाते है और पश्चात अल्पभवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं। महापुराण में ऐसे ६३ शलाका पुरुषों के जीवन चरित्र का तथा उनके पूर्व भवोंका वर्णन है; उनमें से अभी तक ११ तीर्थंकरोंका वर्णन पूरा हुआ। प्रथम दो चक्रवर्ती (भरत और सगर) का भी संक्षिप्त वर्णन हुआ। अभी तक एक भी बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव नहीं हुए थे। (वे तीनों एक साथही होते हैं।) ११ वें श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के मोक्षगमन के पश्चात् उनके तीर्थ में कितने ही वर्षों बाद, इस चौवीसी के प्रथम बलदेव-वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव हुए। वासुदेव वे तीन खण्डके स्वामी अर्धचक्रवर्ती होते हैं। प्रथम वासुदेव का नाम 'त्रिपृष्ठ'; वह अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जीव और वही भगवान ऋषभदेवका पौत्र मरीचि। इस प्रकार ऋषभदेव, उनका पुत्र भरत और पौत्र मरीचि-यही जीव अनुक्रम से इस चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर, प्रथम चक्रवर्ती और प्रथम अर्ध चक्री (तथा अन्तिम तीर्थंकर) हुए। उन त्रिपृष्ठ वासुदेव आदिका चरित्र इस पुस्तक में महावीर भगवान के पूर्वभवों में तथा शान्तिनाथ प्रभुके पूर्वभवके वर्णन में पढ़ना।

(भगवान श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के मोक्षगमन के पश्चात ५४ सागरोपम तक उनका शासन चला; परन्तु अन्तिम पल्य के तीसरे भाग जितने काल तक धर्म-परम्पराका विछेद हो गया। यह तिसरी बार धर्म विच्छेद हुआ। यह विच्छेद विजयार्द्ध-श्रेणीयों में लागू नहीं होता।

**एक मजे की बात-श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की प्रधानमंत्री होनेपर भी दादी माँ के रुप में अपने पौत्रों को आनन्द से कहानियाँ सुनाती थी; तो हे मम्मी! और हे दादी! तुम भी अपने पुत्र पौत्रों को प्रतिदिन धर्म की कहानियाँ सुनाना... तुम्हें और बच्चोंको खूब आनन्द आयगा।**

[१२]




**इस तीर्थंकर-चौबीसी के पाँच बाल ब्रम्हचारी तीर्थंकरोंमें जो सर्व प्रथम थे, जिनके पाँचो कल्याणक अंगदेश के चम्पापुरी राज्य में हुए और सर्वज्ञ होकर जिन्होंने समस्त विश्वका ज्ञान साम्राज्य प्राप्त किया, ऐसे हे वासुपूज्य देव! मैं अपने अल्प तथापि सम्यक् मति-श्रुत ज्ञान द्वारा आपके महान सर्वज्ञपद की पूजा करता हूँ। आपकी स्तुति करते हुए समन्तभद्र स्वामी कहते हैं।**

**'मयापि पूज्योल्पधिया मुनीन्द्रः दिपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः'**

**-हे देव! लोकमें अल्प प्रकाशी दीपक द्वारा महाप्रकाशी सूर्य की पूजा क्या नहीं होती?-होती है, क्योंकि प्रकाश स्वरुप दोनों एक ही जाति के हैं; तो मेरा ज्ञान अल्पप्रकाशी होनेपर भी, वह आपके अतीन्द्रिय महाप्रकाशी केवलज्ञान की जाति का ही है इसलिये उस ज्ञान द्वारा मैं आपकी पूजा करता हूँ।**

## भगवान वासुपूज्य : पूर्वभव : रत्नपुरीके पद्मोत्तर राजा

चम्पापुरी के महाराजा वसु के पुत्र और वासव (इन्द्र) द्वारा पूजित, ऐसे हे वासुपूज्य स्वामी! तीर्थंकर से पूर्वके भवमें आप पुष्करद्वीप में रत्नपुरी नगरी के महाराजा थे; तब आपका नाम पद्मोत्तर था। आपकी रत्नपुरी नगरी में सम्यक्त्वादि रत्न के धारक धर्मात्मा जीव निवास करते थे; आप प्रजा के लिये कल्पवृक्ष समान थे; शास्त्र के ज्ञाता थे और जैनधर्मकी उपासना द्वारा आत्मतत्वको जानकर मोक्षके मार्ग में गमन करते थे। आपकी नगरी में धर्म का साम्राज्य था। आपकी बुध्दि नीतिमार्ग में और आपका धन दान में लगा हुआ था। आपकी भक्ति जिन भगवान में ही थी, और आपका प्रचण्ड़ प्रताप शत्रुराजाओं के प्रति था, धर्मात्मा गुणीजनों के प्रति तो आप शांत एवं नम्र थे। आपके ऐसे सुन्दर गुणों

से आकर्षित होकर लक्ष्मी भी आपके पास ही रहती थी।

यद्यपि आत्मानुभूतिके कारण आपका जीवन शांत और संतुष्ट रहता, तथापि मोक्षकी पूर्ण साधना के लिये संयम दशाकी भावना आपके चित्त में सदैव रहती थी और उपादान के अनुसार निमित्त होता है- इस न्याय सें आपको भी एक बार ऐसे उत्तम निमित्तका सुयोग मिला। आपकी रत्नपुरी के मनोहर उद्यान में 'युगंधरा' जिनराज पधारे। परमभक्ति पूर्वक जिनराज के दर्शन करने से आपका चित्त अति प्रसन्न हुआ। प्रभुकी वाणीमें आपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुप मोक्षमार्ग का उपदेश सुना। उसमें रत्नत्रयवन्त साधु की वीतरागता का स्वरुप सुनकर आप वैराग्य में झूलने लगे और देहादि संयोगकी -अनित्यता, अशरणता आदिका चिन्तन करने लगे। "इस संसार भ्रमण के दुःखसे अब बस होओ, हमारे चैतन्य के एकत्व में जो परमसुख है उसी को अब साधेंगे। अरे, ऐसे अस्थिर, क्षण भंगुर तथा आकुलता के ही निमित्त इन इन्द्रिय विषयोंका क्या प्रेम करना? वे कभी तृप्ति देनेवाले नहीं हैं, तृप्ति तो अंतर्मुख उपयोग द्वारा चैतन्य की शान्ति में ही है।"-ऐसे वैराग्यपूर्वक, हे वासुपूज्य देव! पूर्वभव में युगंधर स्वामी के चरणों में आपने जिनदीक्षा ली; पद्योत्तर महाराजा मिटकर आप मोक्षपदके साधक महात्मा बने, रत्नत्रयधारी साधु बने। अन्य अनेक राजाओंने भी राजपाट छोड़कर मोक्षमार्ग में आपका अनुसरण किया। प्रभो! रत्नत्रयसे आर्कषित होकर आपके मोक्षकी काललब्धि एकदम निकट आगई।

दीक्षा लेकर आप आत्मध्यान में लवलीन रहने लगे। आपका ज्ञान भी विकसित होने लगा और केवलज्ञान से भेट करने हेतु दौड़ने लगा। आपके परिणामों की विशुध्दता भी वृध्दिगत होने लगी। दर्शन विशुध्दि आदि सोलह भावनाओं की उत्तम सम्पत्ति द्वारा तीर्थंकर प्रकृत्ति भी आपने क्रय कर ली। अहा, जगत के जितने उत्तम पदार्थ थे उन सबको आपके गुणोंके साथ रहने का मन हुआ; तब फिर हम भी आपके साथ ही क्यों नहीं रहें!?

हे वासुपूज्य स्वामी! फिर तो आपने रत्नत्रय की अखण्ड आराधना सहित समाधिमरण किया और पद्योत्तर मुनि की पर्याय छोड़कर आप महाशुक्रस्वर्ग में इन्द्र हुए। हे देव! फिर जब तीर्थंकर रुप मे आपका गर्भकल्याणक उत्सव हुआ और इन्द्र आपके माता-पिता का सन्मान करने आये तब उन इन्द्रोंमें आप (महाशुक्र इन्द्र) भी साथ थे!!

इन्द्र पर्याय में आप सोलह सागर तक रहे; आपको पद्मलेश्या थी; सोलह हजार वर्ष में मात्र मानसिक अमृत का आहार लेते थे। सदैव चैतन्यामृत का अनुभव होने से पौद्‌गलिक अमृत की अभिलाषा शान्त होगई थी; इतना ही नहीं, अनेक देवांगनाओंके साथ रहनेपर भी उनके साथ शारिरीक कामभोग आपको कदापि नहीं था। मात्र परस्पर मधुर शब्दोंसे ही आपकी वासनाएँ शांत हो जाती थीं।-इस पर से सिध्द होता था कि जिसका चित्त स्वयं तृप्त है उसको बाह्य विषय भोग निरर्थक हैं। विषय भोगों की ओर तो दुःखी आकुलित जीव ही दौड़ लगाते है। वहाँ नेत्रों के बिना चौथे नरक तकका ज्ञान कर सकें ऐसा शक्तिवान सम्यक् अवधिज्ञान आपको वर्तता था, इसलिये वहाँ बैठे-बैठे भी आप मध्यलोक के तीर्थंकरों को देख सकते थे। वहाँ आपको कोई रोग-शोक नहीं थे; आपका आत्मिक जीवन भी सुखी था और बाह्य जीवन भी। शास्त्र कहते हैं कि चारों गतियों में दुःख ही है, यह बात सच है... किन्तु अज्ञानियों के लिये; आत्मज्ञानी को तो सर्वत्र सुख है; क्योंकि सुख का भण्डार अपने में है वह उसमें जान लिया है। प्रभो! वहाँ आपने असंख्य तीर्थंकरों के पंचकल्याणक महोत्सव मनाये और स्वर्ग में धर्म चर्चा द्वारा कितने ही देवोंको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करायी। हे प्रभो! इस प्रकार आत्मसाधना सहित आपने महाशुक्र पर्याय में असंख्य वर्ष व्यतीत किये। जब उस देव पर्याय में छह

मास आयु शेष रही तब, मानो मुक्ति सुन्दरी अपने स्वयंवर हेतु आपको बुला रही हो, इस प्रकार आप मध्यलोकमें आने के लिये तैयार हुए। देवगति के भव पूर्ण करके, शेष रहे अन्तिम मनुष्यभवका भी अभाव करके परमात्मा बनने के लिये आप उत्सुक हुए। भव के अभाव का यह अन्तिम भव चम्पापुरी नगरी में था।

## वासुपूज्य भगवानके पंचकल्याणक

प्रभो! महाशुक्र के इन्द्रविमानमें बैठे-बैठे आप देख रहे हैं कि-यह है चम्पापुर नगरी। उसकी शोभा अद्भुत तो थी ही; उसमें भरतक्षेत्र के बारहवें तीर्थंकर रूपसे आपका अवतार होना था इसलिये उसकी शोभा में दिव्यता आ गयी। स्वयं कुबेर उस नगरी का शृंगार करने लगा, इतना ही नहीं...वहाँ प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी। वह चम्पापुरी नगरी अंगदेश की राजधानी थी और वहाँ के महाभाग्यवान महाराजा थे वसुपूज्य। वे इक्ष्वाकुवंशी थे; उनकी महारानी का नाम जयावती था! आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के उत्तम दिन जब उन जयावती महारानी ने सोलह मंगलस्वप्न देखे और आप स्वर्गलोक को छोड़कर माता जयावती की कुक्षि में अवतरित हुए उस समय इन्द्रोंने आकर महाराजा वसु तथा महारानी जयावती का तीर्थंकर के माता-पिता होने के कारण सन्मान किया। हे देव! आपके कारण आपकी माता रत्नकुक्षिधारिणी बनीं, इतना ही नहीं, समस्त चम्पानगरी रत्नवती बन गई। आपके अवतार से बाह्य दरिद्रता तो दूर हुई, तथा जो धार्मिक दरिद्रता भरत क्षेत्र में आ गई थी वह भी नष्ट हो गई; क्योंकि आपके अवतार से पूर्व श्रेयांसप्रभु के शासन के अन्तभाग में करोड़ों-अरबों वर्ष तक भरतक्षेत्र में जैनधर्म का जो विच्छेद था वह दूर हुआ और पुन: धर्मशासन प्रारम्भ हो गया।

हे देव! फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन चम्पापुरी में आपका जन्म हुआ। आपके जन्म के हर्षोल्लास से देवलोक भी कंपित हो उठा और इन्द्रासन डोलने लगा। इन्द्रोंने आकर आपके जन्म का महोत्सव मनाया। धन्य हुई चम्पानगरी और धन्य हुआ भारतदेश! वासु ऐसा जो इन्द्र, उसके द्वारा पूजित होने से आप सचमुच 'वासुपूज्य' थे...और इन्द्र ने आपका नाम भी 'वासुपूज्य' रखा। आपका चरणचिह्न 'भैंसा' था। आपकी आयु बहत्तर लाख वर्ष, तथा शरीर की ऊँचाई सत्तर धनुष (७०० फुट) थी। जन्माभिषेक के पश्चात् स्वयं इन्द्रानीने स्वर्गलोक के आभूषणों से आपका श्रृंगार किया; अरे आपका शरीर तो स्वयमेव सर्वोत्कृष्ट सुन्दरता को प्राप्त था ही, उसकी शोभा के लिये कहाँ आभूषणों की आवश्कता थी? परन्तु इन्द्रलोक में उत्पन्न हुए उत्तम आभूषणों को अन्यत्र कहाँ रखा जाय? उनके योग्य कोई उत्तम स्थान नहीं मिलने से, अन्त में इन्द्रानी ने वे आपको पहिनाकर सन्तोष माना। आपकी शोभा कहीं उन आभूषणों से नहीं थी, उलटे आपके स्पर्श से वे आभूषण भी सुशोभित हो उठे! माता-पिता के हर्ष की तो कोई सीमा नहीं थी। आप जैसे तीर्थंकर जिसकी गोदमें विराजते हो और आँगनमें खेलते हों, उनके परम भाग्य की क्या बात! समस्त राज्य में गुण वैभव की वृद्धि होने लगी। जिस प्रकार 'मघा' नामक नक्षत्र की उत्तम वर्षा होने से ढेरों अनाज उत्पन्न होता है उसी प्रकार आपका अवतार होने से धर्मवृद्धि होने लगी थी; प्रजाजन सद्गुणों का पालन करते थे।

हे देव! धीरे-धीरे बाल्यकाल व्यतीत करके आपने युवावस्था में प्रवेश किया। आपका अद्भुत रूप सबको मुग्ध करता था और उससे आकर्षित होकर कामदेव भी आपके शरीर में प्रवेश करना चाहता था, परन्तु आपके हृदय में स्थित वैराग्यादि सद्गुणोंने उस दुष्ट कामदेवको अंतर में प्रविष्ट नहीं होने दिया; इसलिये आप कामवासना से मुक्त बालब्रह्मचारी ही रहे। यद्यपि आपके माता-पिता को पुत्रवधू का सुख

देखने की अति लालसा थी, परन्तु उन्हें आपने निराश किया; निराश करने पर भी आपने अकेले ही अपने दिव्य रुप-गुणों द्वारा माता-पिताको ऐसी तृप्ति दी कि उन्हें कोई खेद नहीं हुआ। विषय-भोगों के बिना ही सुख और आनन्द होता है-वह आपने अपने जीवन द्वारा जगत को बतला दिया। चम्पा नगरीके युवराज के रुपमें आप अठारह लाख वर्ष तक रहे; तथापि चैतन्यवैभव से रंगा हुआ आपका चित्त राजवैभव से नहीं रँगा था, उससे अलिप्त ही रहता था। अपने श्रीमुख से अनेक प्रकार की धर्मचर्चा द्वारा तथा अपनी दिव्य मुद्रा के दर्शनों से माता-पिता एवं प्रजाजनों में आपने सर्वत्र आनन्द प्रसारित किया।

तत्पश्चात् एक बार फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी आयी। वह आपके जन्म का मंगल दिवस था। प्रजाजनों ने आपका जन्मोत्सव खूब धामधूम से मनाया। स्वर्गलोक से अनेक पूर्वपरिचित देवमित्र भी जन्मोत्सव में आये। उस समय चम्पानगरी का श्रृंगार वास्तव में अद्भुत था। लोग नृत्य-गान द्वारा अपना हर्षोल्लास व्यक्त कर रहे थे। आप यह सब ठांट बाट देख रहे थे परन्तु आपका चित्त कहीं अंतर की गहराई में उतर रहा था। इतने में वह शोभा देखते-देखते अचानक पूर्वभव में इन्द्र लोक में देखी हुई अद्भुत शोभा का स्मरण हुआ; जातिस्मरण ज्ञान में अपने पूर्वभव का इंद्रभव तथा उससे पहले के पद्मोत्तर राजा का भव आपको साक्षात् जैसा ही दिखाई दिया। तुरन्त ही आपका चित्त संसार से विरक्त हुआ कि-''अरे; कहाँ गये स्वर्ग लोक के वे दिव्य वैभव! और कहाँ गये वे दिव्य शरीर!! इन क्षणभंगुर विषयों तथा शरीर में आसक्ति कैसी? निर्बुद्धि जीव व्यर्थ ही विषयों में आसक्त होकर संसार में भ्रमण करते हैं। शरीर भले ही चाहे जितना सुंदर हो, निरोगी शोभायमान हो, असंख्य वर्ष की आयु वाला हो, तथापि वह चैतन्य से तो भिन्न ही है, उसका वियोग निश्चित ही है, फिर उसमें आसक्त होकर स्वयं ही अपने आत्मा को बंधन किस लिए करना। मैं शरीर और संयोगों के मोह बंधन को तोड़ कर अपने आत्मा को इस भव भ्रमण से मुक्त करूँगा...मेरी चेतना अब जागृत हो उठी है, इसलिए आज ही संसार को त्याग कर मोक्ष की साधना के लिए मैं मुनिदशा अंगीकार करूँगा...''

अहो देव! ऐसे उत्तम वैराग्य विचारों द्वारा आपने तो जन्मदिन को दीक्षा का दिन बना दिया, हर्ष के अवसर को परम वैराग्य का अवसर बना दिया; तुरंत जिन दीक्षा लेने का आपने अटल निर्णय किया। लोग आश्चर्य में पड़ गये कि-अरे, अचानक यह कैसा महा परिवर्तन हुआ? माता-पिता भी विस्मित हो गये। आपकी वैराग्य-परिणति को वे जानते ही थे और यह भी जानते थे कि आप तीर्थंकर होने के लिए अवतरित हुए हैं। इस लिए मुनि मार्ग में जाते हुए आप को रोकने की उन्होंने कोई चेष्टा नहीं की। हमारा पुत्र अब परमात्मा बनने के लिये मोक्षमार्ग में आगे बढ़ रहा है-ऐसा समझ कर वे अनुमोदना सहित मौन रहे; उन्होंने न खेद किया...न हर्ष!

हे वासुपूज्य देव! आप तो चैतन्यरस में निमग्न होकर बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन कर रहे थे; उसी समय ब्रम्हलोक से लौकान्तिक देव चम्पापुरी में आये और आप के वैराग्य की प्रशंसा करके स्तुति की। उसी समय स्वर्ग के देव 'रत्नमाला' नामक पालकी लेकर दीक्षाकल्याणक मनाने के लिए आ पहुँचे और दीक्षा प्रसंग का अभिषेक, श्रृंगार आदि मंगलविधि की। आप ''रत्नमाला'' पालकी में आरूढ़ होकर ''रत्नत्रय'' की माला पहनने के लिये वन में चल दिये। मनोहर वनमें जाकर आपने सर्वसंग का परित्याग किया-मुकुट छोड़ा और हार छोड़े, वस्त्र भी छोड़े और सिर के केशों को भी स्वहस्त से उखाड़ दिया; उस समय दिगम्बर दशा में आपकी वीतरागता किसी अनुपम स्वरुप में खिल उठी। आपकी निर्विकार शान्त मुद्रा देखकर हजारों-लाखों जीवों को निर्विकार चैतन्य सुख की प्रतीति

हो गयी। आप तो "ॐ सिद्धेभ्य: नम:" ऐसे उच्चारण पूर्वक आत्मध्यान में लीन हुए; शुद्धापयोग से निज परम तत्व की अनुभूति में एकाग्र हुए। उसी समय प्रत्याख्यान कषाय दूर हो गये; आपको सातवाँ गुणस्थान तथा मन:पर्याय प्रकट हुआ, अनेक लब्धियाँ भी प्रकट हुई। सैकड़ों राजाओं ने तथा अन्य कितने ही मुमुक्षु जीवों ने भी आपके साथ ही संसार छोड़कर संयम दशा अंगीकार की और धर्म का महान उद्योत हुआ। दो उपवास के पश्चात् फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा के दिन आप नगरी में पधारे और "सुन्दर" नाम के राजा ने आपको प्रथम आहारदान देकर अपने आत्मा में "तद्भवमोक्षगामी" की मुद्रा लगा दी। उस समय देवों ने भी आश्चर्य कारी मंगल वाद्य तथा पुष्पवृष्टि आदि द्वारा अपना हर्ष प्रकट किया।

हे वासुपूज्य देव! आत्मध्यान सहित मुनिदशा में विचरते हुए आप आत्मशुद्धि में अत्यंत वृद्धि कर रहे थे। इसलिए आप पूरे एक वर्ष भी छद्मस्थ दशा में नहीं रहे; फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को आप मुनि हुए और भाद्र पद् कृष्णा द्वितीया को आप केवलज्ञान प्रकट करके सर्वज्ञ परमात्मा बन गये। चम्पापुरी के जिस मनोहर वन में आपने दीक्षा ली थी उसी दीक्षा वन में आपने केवलज्ञान प्रकट किया। जिस वन में चौथा ज्ञान प्रकट हुआ था उसी वन में पाँचवाँ ज्ञान प्रकट हुआ। जिस वन में छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान प्रकट हुआ था उसी वन में ८-९-१०-१२ और १३ वाँ गुणस्थान आपने प्रकट किया। धन्य हुई चम्पानगरी कि जहाँ आपके पाँचो कल्याणक मनाये गये। वाह प्रभो! आप सर्वज्ञ हुए वह देखकर हम जैसे साधकों का हृदय अतीन्द्रिय आनन्द के प्रति उल्लासित हो जाता है। हे सर्वज्ञ परमात्मा ! इन्द्र अपने वैभव सहित आपकी पूजा करने आ पहुँचे। इन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी कि हे कुबेर! इन्द्रलोक के उच्च से उच्च वैभवों का उपयोग करके तीर्थंकर प्रभु के समवसरण (धर्म सभा) की रचना करो। तद्नुसार आपके दिव्य समवसरण की ऐसी अद्भुत रचना हुई कि उसे देखकर इन्द्र भी आश्चर्यचकित हो गये। अरे ऐसी अलौकिक रचना करने का सामर्थ्य हमारा नहीं था, यह तो तीर्थंकर के अचिंत्य पुण्य का ही प्रताप है! अहो देव! उदयभाव जनित समवसरण की ऐसी अद्भुतता है, तो क्षायिक भाव जनित आपके केवलज्ञान की अचिंत्य महिमा का क्या कहना!!

उस अद्भुत समवसरण के बीच, उससे भी अद्भुत शोभावान आप विराजते थे। देव, मनुष्य और तिर्यंच आपकी धर्मसभा में आ पहुँचे। आपके दर्शन करके जीव वीतरागता की प्रेरणा प्राप्त करते थे और क्रूर प्राणी भी हिंसक भाव छोड़कर शांत हो जाते थे। हे तीर्थंकर वासुपूज्य! आप पुन: वासु-पूज्य (इन्द्र द्वारा पूजित) बने...और सहज दिव्य ध्वनि द्वारा आपने जगत के भव्य जीवों को मोक्षमार्ग बतलाया। पहले बाल ब्रह्मचारी रहकर लाखों वर्ष तक आपने चम्पापुरी का राज किया, अब सर्वज्ञ होकर सारे जगत में ५४ लाख वर्ष तक धर्मसाम्राज्य, का प्रवर्तन किया और कितने ही जीवों को मोक्ष के मार्ग में लगाया। अहा, आपने जीवों को मोक्षमार्ग का जो सुख प्रदान किया उसकी महिमा का क्या कहना! हे देव! आपकी धर्म सभा में "धर्म वीर" आदि ६६ गणधर आपको वन्दन करते थे; १२००० पूर्वधारी-श्रुत केवली थे; ३९२०० शिक्षक उपाध्याय थे; १०,००० विक्रिया ऋद्धिधारी तथा ४२०० वादी थे। तथा ५४०० अविधि ज्ञानी और ६००० मन:पर्ययज्ञानी मुनिवर थे। तथा ६००० केवलज्ञानी-अर्हंत परमात्मा भी गगन-मंडल में आपके साथ ही धर्मसभा को सुशोभित कर रहे थे। अहा, एक साथ हजारों अर्हंत देवों के समूह सहित आप तीर्थंकर रूप में अद्भुत शोभायमान होते थे। आपके श्री मण्डप में कुल ७२००० मुनिवर और १०६००० आर्यिकायें थीं। आपका वह वैभव देखकर अनेक जीवोंका मान तथा मिथ्यात्व मिट जाता था और वे सम्यक्दर्शन प्राप्त करते थे। ऐसे धर्म प्राप्त दो लाख श्रावक और

चार लाख श्राविकायें समवसरण में आपकी उपासना कर रहे थे; देवों का तो कोई पार नहीं था और सिंह, सर्प, शशक, हिरण आदि तिर्यंचों की संख्या भी बड़ी विशाल थी।

हे तीर्थंकर वासुपूज्य देव! ऐसे महान धर्मवैभवसहित आपने ५४ लाख वर्ष तक भरत क्षेत्र में बिहार किया और धर्मोपदेश द्वारा लाखों-करोड़ों जीवों को मोक्ष के मार्ग मे लगाया आपके चतुर्विध संघ से मोक्षमार्ग की सरिता प्रवाहित हो रही थी। इस प्रकार देश-देश में बिचरण करके धर्मचक्र का प्रवर्तन करते-करते जब एक हजार वर्ष की आयु शेष रही तब आप पुन: चम्पापुरी राज्य में पधारे और अंतिम मास में रजतमाला नदी के किनारे मंदार गिरि के मनोहर उद्यान में स्थिर हुए...आपका बिहार एवं वाणी रुक गये...और भाद्र पद शुक्ला चतुर्दशी (अनंत चतुर्दशी) को सायंकाल संपूर्ण योग निरोध करके ९४ मुनिवरों सहित आप लोकाग्र में-सिद्धालय में सिधारें।

**वासुपूज्य जिन सिद्ध भये चम्पापुर के देश,**
**मंदारगिरि पर पूज हूँ बालब्रह्म जिनेश।**

प्रभो! आपको मोक्ष की परमदशा प्राप्त हुई; विजय के अभिलाषी सामान्य राजा संधि, विग्रह आदि छह गुणों द्वारा भी विजय प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर जिन्होंने ८४ लाख शीलगुण पूर्ण किये हैं ऐसे आपको सिद्धि (मुक्ति) क्यों प्राप्त नहीं होगी? प्रभो, परम मोक्षपद प्राप्त करके आप सिद्धालय में विराजमान हैं, तथापि हे सिद्ध प्रभो! हम जैसे साधकों के हृदय में भी आप विराज रहे हैं। देवों ने आपका निर्वाणमहोत्सव मनाया। आपका पंचमकल्याणक मनाने हेतु इन्द्रादिदेव इस चम्पापुरी राज्य में पाँचवीं बार आये। आपके पाँचों कल्याणकों से 'चम्पा' धन्य-धन्य हुई...और हम साधक भी आपकी उपासना से धन्य हुए!

प्रभो! आपने स्व-पर तत्त्वों की भिन्नता बतलायी और प्रत्येक तत्त्व को सत्-असतरूप तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप बतलाया। तदनुसार आप भी भव-पर्यायों से असत् (व्ययरूप) होने पर भी मोक्षपर्यायों से सत्रूप हो; ध्रुव भी आप हो और उत्पादव्यय भी आप ही हो। हे ब्रह्मचारी देव! ऐसा अनेकान्त तत्त्व बतलाकर आपने हमें मिथ्यामार्ग से हटाकर मोक्ष के मार्ग में लगाया...फिर हम क्यों आपको नहीं पूजे? धर्मात्माओं द्वारा आप पूज्य हो। पहले आप पद्मोत्तर राजा थे तब भी युगंधर जिनराजके उपदेश द्वारा विरक्त होकर आपने राज्य छोड़ा और रत्नत्रय में उपयुक्त हुए; फिर महाशुक्र स्वर्ग की दिव्य विभूति में भी आप मूर्च्छित नहीं हुए; अन्त में चम्पापुरी का साम्राज्य छोड़कर तथा समस्त संसार को भी छोड़कर आपने अक्षय मोक्षसाम्राज्य को प्राप्त किया। 'वासव' द्वारा पूजित ऐसे हे वासुपूज्य! आप मात्र वासव द्वारा नहीं, 'हरि' द्वारा भी पूज्य हो..आपके चरणों में 'हरि' वन्दन करता है।

[इतिश्री वासुपूज्य तीर्थंकर का मंगल पुराण पूर्ण हुआ।]

## चम्पापुरी (मन्दारगिरि) परिचय

चम्पापुरी अंग देश की मुख्य नगरी; वासुपूज्य भगवान के पाँचों कल्याणक यहाँ हुए। निर्वाणप्राप्ति चम्पापुरी के उद्यानमें (भागलपुर से ३० मील दूर) मन्दारगिरि पर्वत के ऊपर हुई। "वोंसी" रेल्वे स्टेशन से दो मील दूर मंदारगिरि सिद्धक्षेत्र है। यह शुद्ध दिगम्बर जैन तीर्थ है। मंदारगिरि पर्वत अखण्ड एक पत्थर का, अतिसुन्दर है। पर्वत के समीप "पापहारिणी" नामक मनोहर सरोवर है।

- उपसर्ग विजेता और मोक्षगामी महात्मा सुदर्शन भी इस चम्पानगरी में ही हुए।
- मिथिलानगरी के राजा पद्मरथ दृढ़ सम्यकत्वी थे; उन्होंने चम्पापुरी में विराजमान वासुपूज्य तीर्थंकर की महिमा सुनी और तत्काल दर्शन करने चल पड़े। मार्ग में भिन्न-भिन्न प्रतिकूलताओं द्वारा देव ने उनकी भक्ति की परीक्षा की, परन्तु पद्मराजा डिगे नहीं...और अन्त में चम्पापुर वासुपूज्य प्रभु के चरणों में पहुँचे; वहाँ प्रभु के दर्शन करके तथा उपदेश सुनकर संसार से विरक्त होकर प्रभुचरणों में मुनिदीक्षा ली, और प्रभु के गणधर होकर मोक्ष प्राप्त किया...
- चम्पानगरी में राजकुमारी रोहिणी जो हस्तिनापुरी के राजपुत्र अशोक की रानी थी; वे दोनों वासुपूज्य प्रभु के दर्शन करने चम्पापुर आये; वहाँ महाराज अशोक तो भगवान का उपदेश सुनकर मुनि हो गये, और प्रभु के गणधर बने। रोहिणी भी आर्यिका बनकर अच्युत स्वर्ग में देवरूप से उत्पन्न हुई।
- चम्पापुरी में धर्मघोष मुनिको एक महीने के उपवास थे; पारणे के समय उपसर्ग आया; उस उपसर्ग को जीतकर केवलज्ञान प्राप्त करके वहींसे मोक्ष प्राप्त किया।
- पाँच पाण्डवों का ज्येष्ठ भ्राता कर्ण चम्पापुरी का राजा था।
- जिसके शील के प्रताप से घड़े में बन्द नाग हार बन गया था, वह सती सोमा;
- नि:कांक्ष गुण में प्रसिद्ध सती अनन्तमती;
- कुष्ठरोगी से वैरागी बने राजा श्रीपाल;

—वे सब भी इसी चम्पानगरी के रत्न थे। जिनके गुणों के सौरभ से आज भी चम्पानगरी गौरवान्वित होती है।

- भगवान महावीर भी चम्पानगरी में पधारे थे।
- सोनागढ़ के संत कानजीस्वामी ने हजारों मुमुक्षु भक्तोंसहित चम्पापुरी-मन्दारगिरि की यात्रा की थी तथा वासुपूज्य के जिनबम्ब का अभिषेक किया था।

[इतिश्री चम्पापुरी तीर्थ-महिमा]

## वासुपूज्य भगवान के समय में हुए, द्वितीय वासुदेव- द्विपृष्ठ, बलदेव-अचल, प्रतिवासुदेव-तारक

ग्यारहवें श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के मोक्षगमन पश्चात् उनके शासन में प्रथम वासुदेव-बलदेव हुए; तत्पश्चात् वासुपूज्य तीर्थंकर के समय में द्वितीय वासुदेव आदि हुए; उनकी कथा भव्य जीवों को जीव के परिणाम की विचित्रता बतलाकर संसार के प्रति वैराग्य जागृत करती है।

दूसरे वासुदेव का नाम द्विपृष्ठ था; पूर्वभव में वह भरतक्षेत्र के कनकपुर का राजा सुषेण था। उसके राज दरबार में गुणमंजरी नामकी एक अति सुन्दर नर्तकी थी। विंध्यशक्ति नामक राजा उस नर्तकी पर मोहित हुआ और युद्ध में सुषेण को पराजित करके उस नर्तकी को ले गया। अरेरे, पुण्य क्षीण हो जाने पर प्रिय वस्तु भी क्षण में छूट जाती है।

जिस प्रकार हाथी के दन्तशूल टूट जाने पर उसकी शोभा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मानभंग हुए राजा सुषेण का हृदय टूट गया; राज्य में कहीं भी चैन नहीं मिला। अंत में, एक बार सुव्रत जिनेन्द्र

का धर्मोपदेश सुनकर उसका चित्त संसार से विरक्त हुआ और उसने जिनदीक्षा धारण कर ली। परन्तु एक बार शत्रु को देखकर क्रोध आया और स्वधर्म को भूलकर मिथ्यात्वशाल्यपूर्वक उसने धर्म के फल में भोगों की इच्छा की, तथा 'परभव' में मैं अपने शत्रु को मारूँगा'-ऐसा पाप-संकल्प किया। वह मरकर संयम-तप के कारण प्राणत नामके १४ वें स्वर्ग में देव हुआ।

जिन सुव्रत-जिनेन्द्र के धर्मोपदेश से उस सुषेण राजाने दीक्षा ली थी, उन्हीं सुव्रत-जिनेन्द्र के धर्मोपदेश से वायुरथ नामके राजाने भी जिनदीक्षा ली थी और समाधिमरण करके वह भी प्राणत स्वर्ग में ही उत्पन्न हुआ। दोनों जीव असंख्यात वर्षतक प्राणत स्वर्ग में रहे।

वहाँ से आयु पूर्ण होने पर वे दोनों जीव, भरतक्षेत्र में जब भगवान वासुपूज्य विचरते थे तब, द्वारावती नगरी में ब्रह्मराजा के पुत्र द्विपृष्ठ वासुदेव तथा अचल बलदेव हुए। दोनों का मिलन गंगा-यमुना जैसा था। जिस प्रकार एक गुरु द्वारा दी जा रही विद्या का सेवन शिष्य जन बिना किसी भेदभाव के भाग किये बिना करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों भाई बिना किसी भेदभाव के राज्य का उपभोग करते थे; परन्तु उनमें विशेषता यह थी कि-अचल बलभद्र तो आत्मज्ञान के संस्कारसहित होने से विषय-भोगों में कहीं सुख माने बिना मोक्ष को साध रहे थे; जबकि द्विपृष्ठ वासुदेव पाप के निदान द्वारा आत्मज्ञान से भ्रष्ट हुआ होने से विषय-भोगों में लवलीन रहता था और नरकगति के पापों का बंध करता था। देखो, दोनों भाई साथ रहकर एकसमान भोगोपभोग करते हुए भी परिणाम में कितना अंतर!! एक तो मोक्ष की साधना कर रहा है और दूसरा नरक की ओर जा रहा है!! यह जानकर भव्य जीवों का चित्त विषय-भोगों से भयभीत होकर मोक्षसाधना में लगता है।

अब, द्विपृष्ठ वासुदेव का पूर्वभव का शत्रु विंध्य राजा का जीव भी भवभ्रमण करता हुआ किसी कारणवश वैराग्यको प्राप्त हुआ और धर्म अंगीकार करके पुन: भोगों की आकांक्षा द्वारा धर्म से भ्रष्ट हुआ; वह भरतक्षेत्र में 'तारक' नामका अर्धचक्री हुआ; उसे दैवी सुदर्शनचक्र प्राप्त हुआ था और तीन खण्ड के हजारों राजाओं को उसने अपना दास बना लिया था; परन्तु अभी द्विपृष्ठ अभी अविजित था, इसलिये वासुदेव-बलदेव को भी अधीनस्थ करने की इच्छा से उसने द्वारावती को दूत भेजकर कहलाया कि-हमारी आज्ञा स्वीकार करके तुम्हारे पास गंधहस्ती नाम का जो विशाल हाथी है वह शीघ्र हमारे पास भिजवा दो, नहीं तो युद्ध के लिये तैयार रहो।

दूत की बात सुनते ही पूर्वभव के वैर के संस्कारवश द्विपृष्ठका क्रोध भड़क उठा और उन दोनों के बीच महान युद्ध हुआ। राजा तारक ने द्विपृष्ठ पर सुदर्शनचक्र फेंका; परन्तु द्विपृष्ठ के पूर्वपुण्य के कारण उस चक्रने उसका वध नहीं किया, उलटा शांत होकर उसके आधीन हो गया। उत्तेजित द्विपृष्ठने भयंकर क्रोधवश उसी चक्रद्वारा तारक-प्रतिवासुदेव का शिरच्छेद करके तीन खण्ड का राज्य प्राप्त कर लिया। तारक का जीव मरकर सातवें नरक में गया।

इस प्रकार द्विपृष्ठ तथा अचल दोनों भाई इस भरतक्षेत्र में द्वितीय वासुदेव-बलदेव हुए। उन्होंने तीनों खण्ड की दिग्विजय की; लौटते समय मार्ग में चम्पापुरी नगरी आयी; वहाँ वासुपूज्य तीर्थंकर विराजमान थे; उनके दर्शन करके दोनों को अत्यन्त हर्ष हुआ। वहाँ से द्वारावती आकार दोनों भाइयों ने अनेक वर्ष तक तीन खण्ड का राज्य भोगा। अन्त में, द्विपृष्ठ का जीव तीव्र भोगलालसापूर्वक रौद्रध्यान से मरकर सातवें नरक में गया। भाई के वियोग से अचल बलभद्र को अति शोक हुआ। द्वारावती में भगवान वासुपूज्य का आगमन होने पर उनके धर्मोपदेश से उनका चित्तशांत हुआ और संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण कर ली, आत्मसाधना द्वारा केवलज्ञान प्रगट किया और गजपंथा सिद्धक्षेत्र से उन्होंने

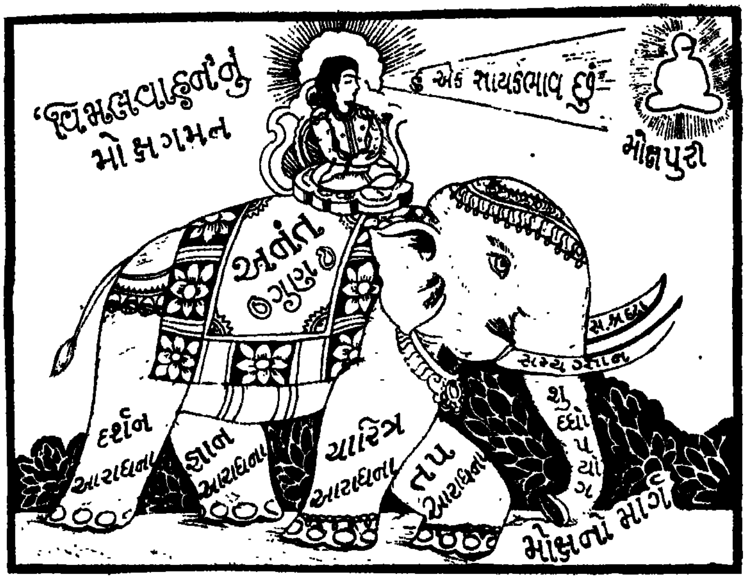
मोक्षप्राप्त किया।

अरे, देखो तो सही विचित्रता! दो भाइयोंने पुण्य द्वारा तीन खण्ड की विभूति का एक साथ उपभोग किया, परन्तु एक तो ऊर्ध्वपरिणाम द्वारा उस पुण्यविभूतिको छोड़कर मोक्षमें गये और दूसरा अधोपरिणाम द्वारा उस पुण्यविभूति को छोड़कर सातवें नरक में गया! इसलिये अपनाहित चाहनेवाले बुद्धिमान जीवों को विषयों की वासना तथा पापभाव छोड़कर मोक्षसुख हेतु धर्म का सेवन करना चाहिये। तीर्थंकर का योगप्राप्त होने पर भी हृदय से विषयभोगों का शल्य नहीं छूटा तो वह त्रिखण्डाधिपति भी भयंकर दुर्गति को प्राप्त हुआ...इसलिये हे जीव! तू जागृत हो, धर्म का सुअवसर प्राप्त करके विषयों में मत अटक जाना; आत्मा का वीतरागी सुख विषयरहित है, उसका विश्वास करके उसकी साधना करना।

[इतिश्री वासुपूज्य तीर्थंकर के समय में हुए द्वितीय वासुदेव-द्विपृष्ठ, बलदेव-अचल, तथा प्रतिवासुदेव-तारक की कथा यहाँ समाप्त हुई।]

हे परमोपकारी गुरु कहान! चौवीस तीर्थंकर भगवन्तों का यह महापुराण लिखते हुए प्रत्येक पृष्ठ में आपका स्मरण होता है। आपने मुझे जैन धर्म दिया इसलिये ऐसे तीर्थंकर भगवन्तों की मुझे प्राप्ति हुई और आपने जो उत्तम बोध दिया उसीसे तीर्थंकर भगवन्तों का जीवनरहस्य जानने में आया। आपके प्रताप से ही यह सब हुआ है, इसलिये यह तीर्थंकरों का महापुराण भी आपके द्वारा ही लिखा जा रहा है-ऐसा मैं मानता हूँ। तीर्थंकरों का मार्ग देकर आपने परम उपकार किया है। आप भी भावी तीर्थंकरों की पंक्ति में ही विराजमान हो न!

त्रिकालवर्ती तीर्थंकर भगवंतों को नमस्कार!




हे विमल-वाहन देव! आपका नाम सार्थक है, क्योंकि "विमल वाहन पर आरूढ़ होकर आपने मोक्षपुरी में प्रयाण किया। कैसा है आपका विमल-वाहन?

सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्ज्ञान यह दो जिसके दंतशूल है; अनन्त पवित्र गुण जिसका शरीर है, चार आराधना जिसके चार पग हैं, शुद्धोपयोग रूप धर्म जिसकी विशाल सूँढ़ है; ऐसे महान निर्दोष-विमल हाथी को वाहन बनाकर, तथा "ज्ञायक भाव" को ध्येय रुप रखकर, आपने रत्नत्रयरूप सन्मार्ग में गमन किया और पाप-शत्रुओं को जीतकर मोक्षपुरी में प्रवेश किया...इसलिये सचमुच आप 'विमल-वाहन' हैं। (पहले आप धातुकी-द्वीप में पद्मसेन राजा थे और पश्चात मुनि होकर आठवें स्वर्ग के इन्द्र हुए, उस इन्द्रपद को भी छोड़कर आप विमल तीर्थंकर हुए, और वर्तमान सिद्धपद में विराज रहे हैं।)

परम इष्ट ऐसे हे प्रभो! इस महापुराण द्वारा आपको वन्दन करता हूँ।

[१३]




**शुद्ध सम्यक्त्वादि विमल रत्नत्रय द्वारा विमल ऐसे मोक्ष पद को प्राप्त हे विमल जिन! विमलभाव से आपके स्वरूप का चिन्तन करते हुए हमारे रत्नत्रय भी विमल होते हैं; इसलिये इष्ट रूप हे विमल देव! आपको विमल भाव सें नमस्कार करके आपका विमल चरित्र कहता हूँ।**

## (विमलनाथ-पूर्वभव: विदेह में राजा पद्मसेन)

मध्य लोक में मनुष्य क्षेत्र और मोक्ष प्राप्त करने की भूमि ढाईद्वीप है-एक जम्बूद्वीप; एक धातुकी खण्डद्वीप और आधा पुष्कर द्वीप। उनमें से दूसरे द्वीप के पश्चिम भाग में विदेह क्षेत्र की सीतोदा नदी के किनारे "रम्यक" नाम का सुन्दरदेश है। अपने चरित्र नायक भगवान विमलनाथ पूर्वभव में रम्यक नगरी के राजा थे। उनका नाम था पद्मसेन। उस सुन्दर नगरी में एक दिन सर्वगुप्त नाम के केवली भगवान पधारे। राज्य का उद्यान एकदम फलफुलोंसे खिल उठा, चारों ओर शीतलता और शान्ति छा गई। राजा पद्मसेन भक्तिपूर्वक केवलीप्रभु की वन्दना करने गये; उनका धर्मोपदेश सुना। संसार के दुखोंका वर्णन सुनकर उनका चित्त भव से भयभीत हो गया और अब इस भवचक्र का अन्त कब आयेगा? ऐसा चिन्तवन करने लगे। इतने में भगवान की वाणी में आया कि "यह पद्मसेन राजा निकटभव्य है, और अब इस संसार में उनको मात्र दो भव शेष है। एक भव पश्चात वे तीर्थंकर होंगे और उसी भव में मोक्ष जायेंगे।

सर्वज्ञ परमात्माके श्रीमुख से अपने भविष्य की ऐसी महान मंगल बात सुनते ही राजा पद्मसेन को अपार आनन्द हुआ। अहा, अपने मोक्ष की बात सुनकर भव्य को जो प्रसन्नता होगी उसका क्या कहना!! दो भव के बाद मोक्ष..... और वह भी तीर्थंकर होकर..... फिर उन महात्मा को हर्ष क्यों नहीं होगा!! *"अहा, मानों वर्तमान में ही मैं तीर्थंकर होऊँ"- ऐसा महान उत्सव उन्होंने मनाया।* लाखो

प्रजाजनों ने भी अपने महाराजा को भावी तीर्थंकर के रूप में देखकर अपार हर्षपूर्वक उत्सव में भाग लिया। अहा, हम एक भावी तीर्थंकर के साथ रहते है ऐसे उत्तम भावपूर्वक "द्रव्य तीर्थंकर रूप में" उनके दर्शन करते हुए अनेक जीवों की धर्मभावना पुष्ट हुई। वास्तव में रम्यक नगरी के प्रजाजनों के लिये एक गौरव की बात थी कि एक ही भव पश्चात तीर्थंकर होनेवाले महात्मा की छत्रछाया में वे निवास करते थे। (और गुजराती में इस पवित्र पुराण के लेखक हरि को भी ऐसा ही महान पुण्य गौरव प्राप्त हुआ है कि-तीन ही भव पश्चात तीर्थंकर-गणधर होने वाले महात्माओं के सहवास में रहकर आत्मसाधना सहित यह पुराण लिखा जा रहा है।)



भवचक्र से अति भयभीत तथा मोक्ष के लिये परमउत्सुक ऐसे उन राजा पद्मसेन ने सर्वगुप्त केवली के निकट जिन दीक्षा ग्रहण की। बारह अंग का ज्ञान किया, दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनायें भायी; उनको तीर्थंकर-प्रकृति सहित उत्तम पुण्यकर्मोंका संचय हुआ। यद्यपि जीव को कर्मों का संचय हो वह अच्छा नहीं है, परन्तु आराधकभाव सहित वर्तते हुए उस जीव को जिस पुण्य कर्म का संचय हुआ वह ऐसा था कि जो उदय काल में आत्मसाधना में विघ्नरूप न हो; और तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो नियम से केवलज्ञान के साथ अविनाभावी है, इसलिये तीर्थंकर प्रकृति का आगमन तो केवलज्ञान की दूती के समान है..... वह आकर कहती है कि अब शीघ्र केवलज्ञान महाराजा पधार रहे है!!

इस प्रकार, जिन्होंने केवलज्ञान को निकट बुला लिया है ऐसे वे पद्ममुनिराज चार आराधना सहित समाधिमरण करके सहस्रार नामक देवलोक में इन्द्र हुए। स्वर्गलोक की विभूतियाँ देखकर "अरे यह सब क्या है"- ऐसा आश्चर्य हुआ और अवधिज्ञान से उन्होंने जान लिया कि मैंने पूर्वभव में धर्म की उपासना की थी उसके पुण्य का यह फल है। ऐसा जानकर उनका चित्त धर्म में तत्पर हुआ और भक्तिपूर्वक जिनपूजा आदि करने लगे यद्यपि उनके अनेक देवांगनायें थी, परन्तु कामवासना इतनी मन्द थी कि देवांगनाओं को मात्र देखने से उनका चित्त शांत हो जाता था; और देवांगनाओं का चित्त भी उनका अद्भुत रूप देखकर तृप्त हो जाता था। इस प्रकार कामभोग न होने पर भी बिचले देवोंकी अपेक्षा वे अधिक सुखी थे; इससे सिध्द होता है कि जीव को इन्द्रिय-विषयों से सुख नहीं है परन्तु उन विषयोंकी निवृत्ति से सुख है। सुखरूप से जीव स्वयं अपने भाव से ही परिणमता है, क्योंकि सुख वह जीव का ही स्वभाव है। शरीर में कहीं सुख नहीं है, और शरीर कहीं सुख रूप नहीं होता।

ऐसा भेदज्ञान उन महात्मा को देव पर्याय में भी निरन्तर वर्तता था; इसलिये स्वर्गलोक के दिव्य वैभव में रहते हुए भी उनकी चेतना अरिक्त रहकर मोक्ष की ओर गमन कर रही थी। इस प्रकार स्वर्गलोक में असंख्य वर्ष बीतने के बाद जब उनकी आयु छह मास ही शेष रही तब भरत क्षेत्र में १३ वें तीर्थंकर के अवतार की पूर्व तैयारी होने लगी।

## भगवान विमलनाथ : पंचकल्याणक

यह है भरत क्षेत्र की कम्पिलानगरी! 'कृतवर्मा' इस नगरी के महाराजा भगवान ऋषभदेवके वंशज

हैं, उनकी महारानी का नाम जयश्यामा-वे ही तेरहवें तीर्थंकर के माता-पिता। ज्येष्ठ कृष्णा दशम से छहमास पूर्व कुबेरने रत्नवृष्टि प्रारम्भ करके उस नगरी का तथा माता-पिता का सन्मान किया। नगर जन तो आश्चर्यचकित हो गये कि अरे, अपनी नगरी में प्रतिदिन यह रत्नवृष्टि कैसी! अवश्य ही कोई अद्भुत घटना हो रही है! अब लाखों- करोड़ों वर्षसे मिथ्याज्ञानमें जलती हुई भरत क्षेत्र की, जनता को निर्मल ज्ञानवृष्टि द्वारा शान्ति प्रदान करनेवाले प्रभु के आगमन की तैयारी हो रही है; अधर्म में डूबी हुई जनता का उध्दार करने के लिये एक महात्मा, तीर्थंकर परमात्माके रूपमें अवतरित हो रहे हैं। चौवीस अवतारों में से यह तेरहवें तीर्थंकर का अवतार है।

छह मास पश्चात ज्येष्ठकृष्णा दशम के दिन, वह राजा पद्मका जीव स्वर्गलोकसे इन्द्र पर्याय छोड़कर, तीर्थंकर होने के लिये मनुष्यपर्याय में अवतरित हुआ। उसी समय महारानी जयश्यामाने अति उत्तम हाथी-वृषभ-सिंह-लक्ष्मीदेवी-माला-चन्द्र-सूर्य-मीन-कुम्भ-सरोवर-समुद्र- सिंहासन- देवविमान- नागभवन- रत्नराशि तथा निर्घूम अग्नि— ऐसे १६ मंगल स्वप्न देखे....देवोंने आकर प्रभुके गर्भकल्याणकका उत्सव मनाया, और माता-पिता की स्तुति करते हुए कहा— 'अहो! आपके आँगनमें तेरहवें तीर्थंकर का आगमन हुआ है। हे माता! आपकी कुक्षि में एक तीर्थंकर का आत्मा विराजता है इसलिये आप जगत्माता हैं। हे पिता! आप जगत्पुज्य हो, आप भी नियमसे मोक्षगामी हो।' अहा, जिनके यहाँ तीर्थंकर अवतरित होता हैं उनकी इन्द्र भी स्तुति करें उसमें क्या आश्चर्य!! गर्भवृध्दि होनेपर भी महादेवी जयश्यामा के न तो उदरवृध्दि हुई और न रूप में कोई हानि हुई, इसके विपरीत उनकी शोभामें वृध्दि होती गई।

इस प्रकार कम्पिलानगरी में अवतरनेवाले तीर्थंकर का गर्भागमन जानकर माता-पिता तथा प्रजाजन उन तीर्थंकर का दिव्यमुख देखने को अधीर हो उठे.... नौ महीने तक सर्वत्र उन्होंकी महिमा का गान होता था कि— अहा, अपनी नगरीमें जो तीर्थंकर अवतरित होंगे वे कैसे अद्भुत होंगे! उन्हें देखकर हम सब धन्य हो जायँगे! इस जीवन में एक तीर्थंकर को प्रत्यक्ष देखने का परम सौभाग्य हमें प्राप्त होगा!

तीर्थंकर आत्मा के सम्पर्क से माता जयश्यामा अति प्रसन्न रहती थीं; उनके अंतर में कोई अचिन्त्य परिवर्तन हो रहा था; उनकी ज्ञानकला शीघ्रतासे विकसित होने लगी थी, परिणाम अधिकाधिक उज्ज्वल हो रहे थे; मिथ्याभाव दूर होकर सम्यक्-विमलभाव जागृत हो रहे थे। भवनवासी छप्पन दिग्कुमारी देवियाँ माताकी सेवा करती थीं... जगतके लोग तो उन तीर्थंकरको अभी नौ महीने बाद देखेंगे, परन्तु उन कुमारी देवियोंको तो अभी से माता के उदरमें विद्यमान तीर्थंकर की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त होता था... जिससे उनकी स्त्रीपर्याय भी धन्य हो गई और स्त्रीवेद का छेदन करके भविष्यमें मोक्ष प्राप्त करना निश्चित् हो गया! वाह! देखो, तीर्थंकर के सान्निध्य का अचिन्त्य प्रताप!!

वे देवियाँ कभी-कभी तात्त्विक प्रश्नोत्तर द्वारा माताजी के साथ विनोद करती थीं:-

- एक देवीने पूछा-हे माता! सेवा किसकी करें?
  —माताने कहा-मेरे पुत्रकी, अर्थात् तीर्थंकर की।
- हे माता ग्रहण किसका करें?
  —जिनदेवके वचनोंका।
- हे माता! सर्वप्रथम कौनसा कार्य करना?
  —आत्माका ज्ञान... आत्माका कल्याण... रत्नत्रयकी उपासना



- हे माता ! किसका नाश करें ?
  —भवभ्रमण के कारण ऐसे मिथ्यात्वका और कषायोंका।
- हे माता ! पवित्र कौन है ?
  —जिसके हृदयमें अरिहंतदेव एवं शुध्दात्माका वास है वह।
- हे माता ! मलिन कौन है ?
  —कषायोंसे जिसका चित्त मलिन है वह।
- हे माता ! निर्धन कौन है ?
  -अपने परमात्मवैभवको जो नहीं जानता और दूसरोंके पास सुखकी याचना करता है वह निर्धन है।
- हे माता ! धनवान-संतोषी कौन है ?
  —जिसके पास सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप आत्मवैभव है वह।
- हे माता ! विषसमान क्या है ?
  —विषय-भोग विष के समान है।
- हे माता ! अमृत समान क्या है ?
  —वीतरागता वह अमृत समान हैं।
- हे माता ! आपका चित्त सदा प्रसन्न क्यों रहता है ?
  —क्योंकि मेरे हृदयमें तीर्थंकर प्रभु विराजते हैं इसलिये।

—इस प्रकार १००८ भिन्न-भिन्न प्रश्नोंद्वारा देवियाँ माताको आनन्द प्राप्त कराती थी और माताजी भी अद्‌भुत उत्तर देकर उन देवियोंको हर्षित कराती थी। ऐसे प्रश्नोत्तरोंद्वारा वे तीर्थंकर-महिमा को प्रगट करते हुए तत्त्वज्ञान का मंथन करती थी।

माघ शुक्ला चतुर्थीके दिन महारानी जयश्यामाने तीन ज्ञानके धारी और त्रिलोकपूज्य ऐसे तीर्थंकर को जन्म दिया। प्रभुकी दिव्य देह से पृथ्वी जगमगा उठी....सर्वत्र प्रकाश फैल गया.... तीनों लोकमें आनन्दकारी विस्मय छा गया... देवगण हर्षित हो उठे और कम्पिलानगरीमें आकर तीर्थंकर के जन्मकल्याणकका कल्पनातीत उत्सव मनाया। बाल तीर्थंकर को विराजमान करने के लिये एक देव ने ऐरावत हाथी का अद्‌भुत रूप धारण किया, जिसकी १०० सूँढोंमें सरोवरोंके बीच कमल खिल रहे थे

और उनकी प्रत्येक पंखुरीपर देवियाँ नृत्य कर रही थीं... आश्चर्यजनक था वह दैवीदृश्य!! ऐसे ऐरावत हाथीपर प्रभुको विराजमान करके मेरूपर्वत पर ले गये; वहाँ इन्द्रोंने हजार हाथसे प्रभुका जन्माभिषेक किया। उस आनन्दकारी अवसर पर इन्द्र-इन्द्रानी भी एक-दूसरे के हाथ पकड़कर नाच रहे थे। इन्द्र ने उन तेरहवें तीर्थंकर को "विमलवाहन" नाम दिया। बाल तीर्थंकर के शरीर में अनेक मंगल-चिन्ह थे, चरणोंमे शूकर का शुभ चिन्ह था। जन्माभिषेक के पश्चात स्तुति करते हुए इन्द्र ने कहा-हे देव! आपकी महिमा का क्या कहना! इस आकाश का कागज, मेरू पर्वत की लेखनी, तथा स्वयंभूरमण समुद्र को स्याही बनाऊँ तब भी आपकी गुण महिमा का आलेखन नहीं हो सकता। स्वानुभवज्ञान द्वारा ही आपकी अगाध महिमा जानी जा सकती है। हे देव! आपके अवतार से पूर्व भगवान वासुपूज्य के शासन के अन्त भाग में लगभग एक पल्य तक भरत क्षेत्र में धर्म का जो विच्छेद था वह आपका जन्म होते ही दूर हो गया और परमकल्याणकारी जैनधर्म का सूर्य अपनी सम्पूर्ण कलाओं सहित जगमगा उठा। अपनी नगरी में तीर्थंकर के जन्म का ऐसा महोत्सव देखकर कम्पिलानगरी के प्रजाजनों के हर्ष का कोई पार नहीं था। अद्‌भुत तीर्थंकर महिमा देखकर कितने ही जीवोंने चैतन्य महिमा के चिन्तन द्वारा उसी दिन सम्यक्‌दर्शन प्राप्त कर लिया।

भगवान विमलनाथ की आयु ६० लाख वर्ष थी। बचपनमें भी उनकी कलायें अद्‌भुत थी; देव भी बालक समान बनकर उनके साथ क्रीड़ा करने आते थे। खेलते समय भी वे महात्मा अनुभूतिसंपन्न थे। सम्यक्त्व का शृंगार तो वे पूर्वजन्म से ही साथ लेकर आये थे। अद्‌भुत था उन अन्तरात्मा का जीवन! सचमुच वे चलते-फिरते छोटे से परमात्मा ही थे। उन्हें किसी के पास विद्या पढ़ने नहीं जाना पड़ा, स्वयं ही स्वयंबुध्द जगत्‌गुरू थे।

युवावस्था में अनेक राजकुमारियाँ के विवाह उनके साथ हुए। और पंद्रह लाख वर्ष की आयु में कम्पिलानगरी में उनका राज्याभिषेक हुआ...यों तो जन्म के समय ही लोक में श्रेष्ठ मेरू पर्वत पर उनको स्नान कराके इन्द्र ने तीन लोक के राज्यपर उनका अभिषेक किया था। अहा, उसी भव में त्रिलोकपति तीर्थंकर होनेवाले महात्मा जिस नगरी के महाराजा हों उस नगरी के लोगों के सुख सौभाग्य का क्या कहना!! बढते हुए विशुध्द परिणामों से कुछ ही काल में जिनको अनन्त मोक्ष सुख की प्राप्ति होना है, उनको राजसुख की क्या गिनती!! अनेक बार इन्द्र भी उनके साथ गोष्ठी करने आते और तीर्थंकर के सम्पर्क से इन्द्रपुरी की अपेक्षा से भी अधिक आनन्द प्राप्त करते। इस प्रकार राज्यअवस्था में तीस लाख वर्ष बीत गये।

माघ शुक्ला चतुर्थी कम्पिलानगरी के महाराजा विमलनाथ आज अपने जन्मदिन पर प्रात:काल वनक्रीडाके लिये गये थे। एक तालाब के किनारे अतिरम्य शान्त वातावरण था। रंगीन प्रभात की आभा विकसित होने वाली थी... मानो बाल प्रभु के दर्शन से रंगबिरंगा शृंगार सजकर आकाश अपनी प्रसन्नता व्यक्त कर रहा हो। तालाब मे खिले हुए पुष्पों की पखुडियो पर मोती समान ओस बिन्दु अपनी सप्त रंगी आभा से जगमगा रहे थे, मानो प्रभु के दर्शन पाकर वे पुष्प हँस रहे हो और प्रभु के जन्मदिन का हर्ष मना रहे हों। वह दृश्य विमल महाराजा के चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न कर रहा था... पूर्वाकाश में सूर्योदय हो रहा था। थोडी देर में रंगबिरंगी उषा के बदले आकाश ने लाल रंग धारण किया... और महाराजाने क्षणभर पश्चात तालाब में देखा तो वहाँ सच्चे मोती जैसे वे रंगबिरंगी ओस बिन्दु गलकर विलीन हो गये थे... और उन पुष्पों की शोभा भी अदृश्य हो गयी थी, अरे, ऐसी क्षणभंगुरता देखते ही विमलमहाराजा का चित्त बिजली के झटके की भाँती वैराग्य से झनझना उठा; उसी समय उनको

अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण ज्ञान हुआ।



वे संसार का असार स्वरुप विचारने लगे-अरे, यह पुण्य का ठाट भी ओस बिन्दुओं के समान क्षणभंगुर है जिस प्रकार ओस बिन्दुओं पर महल नहीं बनाया जा सकता उसी प्रकार पुण्य वैभवद्वारा कहीं आत्मशांति की साधना नहीं हो सकती। मुझे तो इस भव में परमात्मा होकर मोक्ष प्राप्त करना है। ४५ लाख वर्ष तो इस राजपाट में बीत गये, अब ऐसे मोह में रहना मुझे शोभा नहीं देता। यद्यपि मुझे तीन ज्ञान हैं, परन्तु वे तो मर्यादित जानने वाले हैं, ऐसे अधूरे ज्ञान से भवका अन्त कैसे आयेगा? तथा सम्यक्त्व होने पर भी अभी चारित्र अतिअल्प है अभी मुझे प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन कषायोंको जितना हैं और चारित्र की वीतराग दशा प्रकट करना है। अभी तो मुझे प्रमाद और परिग्रह भी है, पुण्य कर्म के भोग से कर्मोंका आस्रव भी होता है; निर्जरा अभी अल्प है। जब तक कषायोंका तथा पुण्य कर्म का भी अन्त नहीं करूँगा तब तक मुझे मोक्ष सुख की प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये मोक्ष हेतु मुझे शीघ्र उद्यमी होना चाहिए।

तीर्थंकर महाराज विमलनाथ वैराग्य से दीक्षाभावना भा रहे हैं कि- इस संसार में प्रत्येक जीव अपने-अपने भावों का ही फल भोगता है। राग-द्वेष द्वारा जीव संसार में दुःख प्राप्त करता है और वीतरागता द्वारा मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। चाहे जैसे इन्द्रिय विषय हों तथापि उनके सेवन में सुख तों नहीं मिलता, मात्र पाप का बंध होता है। मेरे इस इक्ष्वुवंश में मुझसे पूर्व कितने ही राजा-महाराजा-चक्रवर्ती हो गये... कहाँ गया उनका राज्य? मेरे वे पूर्वज तो उस राज्य सम्पदा का त्याग करके मोक्ष में चले गये। मैं भी उनके मार्ग पर चलूँगा। भगवान ऋषभदेव ने जो मार्ग परम्परा प्रारंभ की है उसी परम्परा का में अनुसरण करूँगा। आज मैं भव-तन-भोग का मोह छोड़कर वीतरागी रत्नत्रय को धारण करूँगा और आत्मध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रकट करूँगा। आज अपने जन्मदिन पर पुनः जन्म का अभाव करने के लिये मैं मुनि बनूँगा और मोक्ष साधूँगा।

इस प्रकार महाराजा विमलनाथ ने दीक्षाका निश्चय किया की तुरन्त पाँचवे ब्रम्हस्वर्गसे सारस्वत

आदि ४०७८२० लौकांतिक देव कम्पिला नगरी में आये और विनयपूर्वक शांत रसभरे वचनोंद्वारा प्रभु के; वैराग्य का अनुमोदन करने लगे की -"हे देव! आपके विचार श्रेष्ठ हैं... दीक्षा सम्बन्धी आपकी वैराग्य भावना जगत के लिये भी कल्याणकारी है। जिस प्रकार चन्दन वृक्ष के सम्पर्क से अन्य वृक्ष भी सुगन्धमय हो जाते हैं उसी प्रकार हे परम वीतराग देव! आपके सम्पर्क से अन्य जीव भी मोक्ष मार्ग प्राप्त कर लेंगे। प्रभो! लाखो वर्ष से भरत क्षेत्र के जीव मुक्तिमार्ग के लिये लालायित हो रहे हैं, आपकी दीक्षा से उनकी वह लालसा शीघ्र पूर्ण हो जायेगी।" ऐसा कहकर वे 'देव-पण्डित' लौकान्तिक देव ब्रम्हलोक में चले गये और उसी समय इन्द्रादिदेव 'देवदत्ता' नामक पालकी लेकर दीक्षा कल्याणक मनाने आ पहुँचे। प्रभु सर्वत्र समभाव धारण करके पालकी में आरुढ होने चले उस समय इन्द्र महाराजने हाथसे प्रभुको सहारा दिया। प्रभुको कहाँ सहारे की आवश्यकता थी? परन्तु उस बहाने उन्होंने प्रभुका स्पर्श कर लिया और अपनी भक्ति व्यक्त की। भक्ति के बहाने उन्होंने प्रभुके हाथ में अपना हाथ सौंप दिया और प्रभुके सीधे स्पर्श द्वारा अपना एकावतारी पना निश्चित कर लिया। ऐसा सौभाग्य तो इन्द्र जैसोंको ही प्राप्त होता है... हाँ, उनकी इन्द्रानी को जन्माभिषेक के समय प्रभुको गोद में लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और प्रभुके स्पर्श से कृतकृत्य होकर वे मोक्ष की अधिकारीणी बन गयीं थीं। पारस के स्पर्श से लोहे को तो मात्र 'सुवर्णपना' प्राप्त होता है, जब की परमात्मा के स्पर्श से तो आत्मा को परमात्मापने की प्राप्ति हो जाती है!



सहेतुक नामके दीक्षावन में पहुँचकर महाराजा विमलनाथने अंतर्-बाह्य समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया... दैवी वस्त्राभूषण रहित सर्वथा अपरिग्रही दिगम्बर दशा में सुशोभित हो उठे। दैवी वस्त्रोंकी अपेक्षा वस्त्र रहित दशा में वे अधिक शोभा दे रहे थे। देव, मनुष्य तिर्यंच भी भगवान का वीतरागी रुप देखकर मुग्ध हो गये... उन्हें भी परिग्रह नीरस लग रहे थे। कितने ही भव्य मुमुक्षु तो उसी समय परिग्रह छोड़कर प्रभु के साथ दीक्षाग्रहण करने हेतु तैयार हो गये, अन्य कितनों ने श्रावक व्रत अंगीकार किये और अनेक जीवोंने आत्मसुखकी श्रध्दाद्वारा सम्यकदर्शन प्रगट किया। अत्यन्त मंगलकारी था प्रभुके वैराग्यका वह प्रसंग!

विमल प्रभुने 'ॐ सिध्देभ्य: नम:' ऐसे उच्चार सहित सिध्दोंको नमस्कार किया और अपने सिध्दस्वरुप में चित्त लगाया; तुरन्त ही शुध्दात्मध्यानरूप शुध्द उपयोग हुआ, साथ ही मन:पर्याय ज्ञान भी प्रगट हुआ। प्रभुका आत्मा रत्नत्रयरूप होकर मोक्षमार्ग में विहरने लगा। दीक्षा के पश्चात् केवलज्ञान होने तक उन्होंने मौन धारण किया।

दीक्षा के दो दिन पश्चात विमल मुनिराज नन्दन नगर में पधारे और जयराजाने उन्हें भक्ति पूर्वक पारणा कराया। अहा, तीर्थंकर मुनिके हाथ में आहार देते समय उनके चित्त में परमात्मपद की प्राप्ति समान महान हर्ष हुआ और तीर्थंकर के साथ इतने निकट सम्बन्ध के कारण वे भव्यात्मा उसी भव में मोक्षगामी हुए। (तीन वर्ष पश्चात जब भगवान विमलनाथ को केवलज्ञान हुआ तब उन जयराजाने प्रभुके चरणों में दीक्षा ग्रहण की और कर्मोंका क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया)

भगवान विमलनाथने मुनिदशामें तीन वर्ष तक विहार किया। मुनिदशामे यद्यपि वे मौन थे, तथापि उनकी परमशांत ध्यानमुद्राके दर्शन से कितने ही जीव धर्म का स्वरूप समझ जाते थे; कषाय रहित शान्ति कैसी होती है?...वह प्रभु की मुद्रामे जीवन्त दिखायी देती थी और विभावोंसे चैतन्य भावोंका भेदज्ञान हो जाता था। इसप्रकार तीन वर्ष तक मुनिदशा में छद्मस्थरुप से विहार करते हुए, ठीक दीक्षा के दिन वे पुन: कम्पिलानगरी के दीक्षावन में पधारे और वहाँ दो दिन का ध्यानयोग धारण किया। भगवान का मात्र नाम ही 'विमल'नहीं था, उनके भाव भी विमल थे; शुध्दोपयोगकी धारा से ऊनका मोहमल धुल गया था। इस प्रकार परिणामोंकी विशुध्द श्रेणी द्वारा मोहका सर्वथा नाश करके प्रभुने माघ शुक्ल षष्ठी के दिन केवलज्ञान प्रगट किया; वे सर्वज्ञ परमात्मा- अरिहंत हुए; उसीकाल तीर्थंकर प्रकृति का उदय प्रारम्भ हुआ। इंद्र भक्तिसे दौडे आये और केवलज्ञानी प्रभुकी पूजा की। दिव्य समवसरण की रचना हुई। प्रभु के उपदेश से अनेक जीव धर्म को प्राप्त हूए और भरत क्षेत्र पुन: विदेह क्षेत्र समान धर्म क्षेत्र बन गया प्रभु विमलनाथ तीर्थंकरने गुजरात-सौराष्ट्र, अंग-बंग आदि अनेक देशों मे विहार किया।

विमलनाथ तीर्थंकर की धर्मसभा में मेरू-मंदर आदि ५५ गणधर थे: ऊपर आकाशमें निरालम्बी (पाँच हजार धनुष ऊँचे तीर्थंकर की समकक्षा में) ५५०० केवली भगवन्त विराजते थे। तदुपरान्त ११०० श्रुतकेवली, ३६५३० शिक्षक उपाध्याय मुनि, ४८०० अविधीज्ञानी मुनि, ५५०० मन:पर्याय ज्ञानी, ९००० विक्रिया ऋध्दिधारी, ३६०० वाद-विद्यामें निपुण मुनिवर थे; एक लाख तीन हजार आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक तथा चार लाख श्राविकाएँ थी। देवदेवियों का तो कोई पार नहीं था; सिंह, चिते, हाथी, हिरन आदि तिर्यंचोंके झुंड भी धर्म श्रवण करने आते और आत्मज्ञान प्राप्त करते थे। भगवान विमलनाथ १५ लाख वर्ष तक तीर्थंकर रूप से भरत भूमि में विचरे और धर्मचक्र का प्रर्वतन किया।

## मथुरा के राजकुमार: मेरु तथा मंदर गणधर

एक बार भगवान विमलनाथ उत्तर-मथुरानगरी में पधारे उस समय वहाँ राजा अनन्तवीर्य राज्य करते थे; उनके मेरू तथा मंदर नामके दो श्रेष्ठ पुत्र थे; दोनो राजकुमार चरमशरीरी, महाबुध्दिमान, धर्मरसिक और एक-दूसरे पर अतिस्नेह रखते थे। मथुरापुरी में भगवान विमलनाथ के दर्शन से दोनों भाइयोंको परम हर्ष हुआ; मानो उन्हे कोई अचिंत्य निधान प्राप्त हुआ! मानो भगवान उनको मोक्ष में ले जाने के लिए ही आये हों। वे बारम्बार भगवानके समवसरणमें जाकर उपदेश सुनते और आत्मध्यान करते थे। भगवान की वाणी में श्रावकधर्म तथा मुनिधर्मका उपदेश सुनकर दोनों भाइयोंने अपने परिणामोंको अति विशुध्द बनाया। 'मेरू और मंदर, तुम दोनों भाई इसी भवमें मोक्षगामी हो' ऐसा भगवान की वाणी मे सुनकर उन दोनों भाइयोंको अपार हर्ष हुआ। अहा, अपने मोक्ष की बात से विशेष आनन्द मुमुक्षुको और किस बात में होगा! प्रभुकी वाणी सुनकर उन दोनों राजकुमारों को अपने अनेक पूर्व भवोंको भी ज्ञान हुआ। पश्चात् वैराग्य प्राप्त करके विमलनाथ प्रभुके समीप जिनदीक्षा लेकर वे मेरु और मंदर दोनों मुनिवर भगवानके गणधर बने।

मेरू गणधर का जीव पूर्वभवमें लांतव स्वर्ग में आदित्याभ नामक देव था। उससे पूर्व वह विदेहक्षेत्र में वीतभय नामक बलभद्र था तब उसका भाई विभीषण (मंदर गणधर का जीव) वासुदेव था और दूसरे नरकमें गया था। उसे आदित्याभ देने (मेरू गणधर के जीवने) नरक में जाकर प्रतिबोध दिया था। वही दोनों बलदेव-वासुदेव भाई अन्तिम अवतार में मेरु और मंदर नामके भाई हुए और विमलनाथ तीर्थंकरके गणधर होकर मोक्ष प्राप्त किया।

भगवान विमलनाथ जब सौराष्ट्र में पधारे तब द्वारामती नगरीमें त्रिखण्डाधिपति 'धर्म' बलभद्र और 'स्वयंभू' नारायण ने उनकी वन्दना की थी। (उनकी कथा आप अब पढ़ेंगे।)

इस प्रकार लाखों वर्ष तक करोड़ों जीवोंको प्रतिबोधकर भगवान विमलनाथ को जब एक मास संसार अवशेष रहा तब वे सम्मेदशिखर की सुवीर टूंक पर पधारे... उनका विहार और वाणी थम गये। वैशाख कृष्णा अष्टमी के प्रात: काल अतिशीघ्र (एक सेकण्डके असंख्यातवें भाग में) समुद्घात करके वे तीर्थंकर सर्वज्ञ प्रभु एक समय के लिये सर्वलोकव्यापी हुए और तीन अघाति कर्मोंकी स्थिति, आयुस्थितिसे जितनी अधिक थी उतनी खिरादी। दूसरे ही क्षण तृतीय शुक्ल ध्यानद्वारा योगकी सूक्ष्म क्रियाका भी अभाव करके अयोगी हुआ और तत्क्षण चोथा शुक्ल ध्यानद्वारा सर्व कर्मोंका सर्वथा क्षय करके 'स्वास्थ्य' (अर्थात् स्वरूप में अवस्थिति) रूप सिध्दपद को प्राप्त हुए।

हे विमलदेव! आपके विमल चैतन्यभाव अतीन्द्रिय हैं, उन्हें जानकर सम्यग्दृष्टि जीव ही आपकी उपासना कर सकते हैं। इन्द्रियोंमें लुब्ध जीव अतीन्द्रिय ज्ञानमय ऐसे आपको कैसे जान सकेंगे? --इसप्रकार देव-देवेन्द्रों तथा राजा-महाराजाओंने सिध्द प्रभुके गुणोंकी स्तुतिपूर्वक मोक्षकल्याणक उत्सव मनाया और सम्मेदशिखर को सिध्दभूमि समझकर भक्तिसहित वन्दना की:-

विमलनाथ जिनराजका कूट सुवीर है जेह;
मन-वच-तनकर पूजहूँ शिखरसम्मेद यजेह।

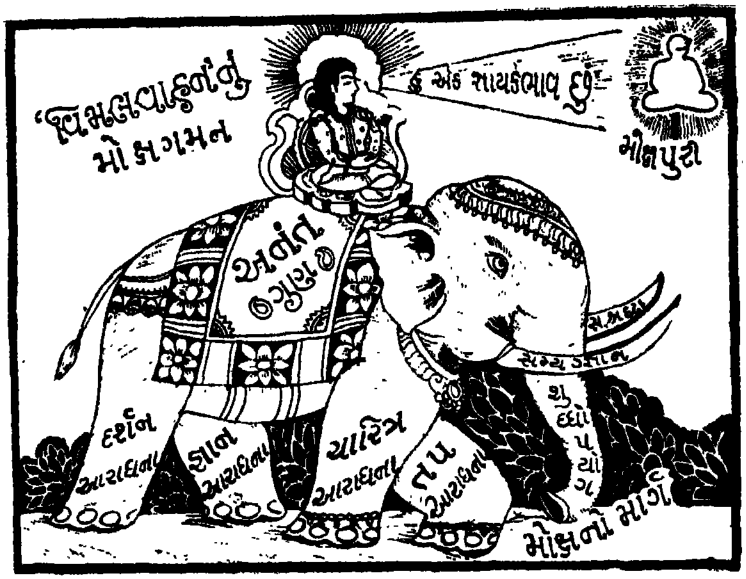
आज असंख्य वर्षों के बाद भी उस निर्वाणभूमिपर जाकर हम जैसे साधक जीव सिध्दपदका स्मरण और भावना करते हैं। हे विमलदेव! वीतरागता से सुशोभित आपका विमल जीवन यह दरशाता है कि-जिस प्रकार पापकषाय द्वारा मलिन हुआ जीव संसार में भटकता है, उसी प्रकार पुण्यराग द्वारा मलिन हुआ जीव भी संसारभ्रमण करता है; इसलिये उन पाप या पुण्य दोनों विकल्पोंसे रहित आत्मगुणों को ऐसे विशुध्द बनाना चाहिये ताकि उपयोग 'शुध्द' होकर सिध्दपदको प्राप्त करे। आपके दरशाये हुए जिनमार्गका यही सिध्दान्त है कि:-

रे 'शुध्द' ने श्रामण्य भाख्युं, ज्ञान दर्शन 'शुध्द' ने,
छे 'शुध्द' ने निर्वाण, 'शुध्द' ज सिध्द; प्रणमुं तेहने।

ज्यम लोहनुं त्यम कनकनुं जंजीर जकड़े पुरुष ने,
तेवी रीते शुभ के अशुभ कृत कर्म बांधे जीवने।

जीव रक्त बांधे कर्मने, वैराग्य प्राप्त मुकाय छे;
ऐ-जीनतणो उपदेश, तेथी न राच तुं कर्मो विषे।

शुध्दोपयोगी जीव ही श्रमण है, वही मोक्ष तथा मोक्षका मार्ग है—ऐसा बतलानेवाले हे विमलजिन! हम भी अपने ज्ञानको विमल करके आपके विमल-मार्गपर आ रहे हैं।




**चार आराधना जिसके पग हैं और शुद्धोपयोग जिसकी सूँड है-ऐसे 'विमल' गजराजरूपी श्रेष्ठ वाहनपर आरूढ़ होकर जो मोक्षपुरीमें पहुँचे, ऐसे भगवान 'विमल-वाहन' का पवित्र पुराण यहाँ समाप्त हुआ।**

## तृतीय वासुदेव-स्वयंभू, बलदेव-धर्मराज और प्रतिवासुदेव-मधुराजा

इस भरतभूमिमें जब विमलनाथ तीर्थंकर धर्मचक्रसहित विचरते थे उस समय सौराष्ट्रकी द्वारावती नगरीमें स्वयंभू नामके वासुदेव और धर्मनामक बलदेव राज्य करते थे। वे त्रिखण्ड के स्वामी अर्धचक्रवर्ती थे। सोलह हजार राजा उनकी सेवा करते थे और अड़तालीस करोड़ ग्राम उनके आधीन थे। दोनों भाई जैनधर्म में तत्पर थे और उनमें अद्वितीय स्नेह था। उनमें बलभद्र का चित्त विशेष रूपसे आत्मसाधनामें लीन रहता था, जब कि वासुदेव स्वयंभूका चित्त पूर्वभवके निदानका मिथ्या संस्कारवश विषय-परिग्रहोंमें लगा रहता था।

भगवान विमलनाथ एक बार सौराष्ट्र में द्वारावती नगरी में पधारे; सर्वत्र आनन्द व्याप्त हो गया। वन-उपवन फलफूलोंसें आच्छादित हो गये! दूसरों की तो क्या बात, पशु-पंखी भी प्रभुके दर्शनसे आनन्द-किल्लोळ करने लगे। मालीने आकर महाराजा स्वयंभू तथा धर्मराजको प्रभुके आगमन की मंगल बधाई दी; वे अतिप्रसन्न हुए और मालीने रत्नहार आदिका पारितोषिक दिया तथा नगरजनोंसहित धामधूमसे प्रभुदर्शन के लिये चले। अहा, जिस नगरी में साक्षात् तीर्थंकर प्रभुका पदार्पण हुआ हो उसके पुण्योदय एवं हर्षका क्या कहना!!

दूर से समसवरणकी अचिन्त्य शोभा देखकर बलदेव-वासुदेव भी आश्चर्यचकित हो गये। प्रभुके

उस बाह्य दिव्य वैभवके समक्ष तीनों खण्डका वैभव भी उन्हें तुच्छ भासित हुआ, और उस दिव्यवैभवसे भी अलिप्त ऐसे परमात्मा-वैभववान भगवान विमलनाथके दर्शन-पूजन-स्तवन करके उनका धर्मोपदेश सुना। भगवानने संसारके बाह्य पदार्थोंसे आत्माकी भिन्नता, राग-द्वेष मोहादि विभावोंकी असारता और चैतन्यवैभवकी अचिन्त्य महिमा बतलायी। 'आत्मा नित्य रहकर अपने किये हुए भावों का फल भोगता है। विषय-कषायोंमें लीन जीव नरकादिके दुःख भोगते हैं और आत्मसाधनामें रत जीव मोक्षसुख प्राप्त करते हैं। इसलिये हे जीवों! तुम विषयोंमें सुखबुध्दि छोड़ो और आत्माके अतीन्द्रिय सुख स्वभावकी श्रध्दा करो, उसमें लीनता करो।' भगवानके श्रीमुखसे ऐसा धर्मोपदेश सुनकर सब आनन्दित हुए; अनेक जीव संसारसे विरक्त हुए. अनेक जीवोंने आत्मज्ञान प्राप्त किया।

उस समय बलदेव-वासुदेव दोनों को अपने पूर्वभव जानने की उत्कण्ठा हुई कि—'हे प्रभो! हमने पूर्वभव में कौन से पुण्य किये थे कि जिससे हमें यह तीन खण्ड की विभूति प्राप्त हुई?' भगवान की वाणी में ऊनके पूर्वभव इस प्रकार आये:-

## ('धर्मराज' बलदेव का पूर्वभव)

हे धर्मराज! पूर्वभव में तुम विदेह क्षेत्र में मित्रनन्दिनामके राजा थे। एक बार तुम्हारी नगरी में केवली भगवान का आगमन होने पर तुमने अत्यन्त हर्षपूर्वक उनके दर्शन किये और उनके उपदेश से वैराग्य प्राप्त करके जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि होकर तुमने उत्तम आराधना की और समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर सर्वार्थसिध्दि में उत्पन्न हुए; वहाँ से चयकर इस द्वारावती नगरी के भद्रराजा की रानी सुभद्रा की कोख से धर्मनामक बलभद्र के रूपमें अवतरित हुए हो; तुम चरमशरीरी हो।

## ('स्वयंभू' वासुदेव का पूर्वभव)

वह जीव पूर्वभव में भरत क्षेत्र की श्रावस्ती नगरी में सुकेतु नामका राजा था। अनेक सद्गुण होनेपर भी उसमें जुएका दुर्व्यसन था। मांसभक्षणादि सात व्यसनों में जुएका व्यसन भी महान दुर्गुण है; सत्य आदि अन्य गुणों का भी वह नाश कर देता है। जुआरी जुए में जीते या हारे, परन्तु जुआ खेलने के लिये बैठते ही वह अपने उत्तम आचरण को तथा धर्म को गँवा बैठता हैं। एक बार शत्रुराजा के साथ जुआ खेलने में वह राजा सुकेतु अपनी समस्त राजसम्पदा हार बैठा; जिससे आर्त्तध्यान करके वह दुःखी रहने लगा और शत्रुराजा के प्रति वैरबुध्दि रखकर वनमें भटकने लगा। दुःखी राजा सुकेतु उस समय पाप में तथा वैभवकी वासना में लिप्त होने पर भी, वह जीव भव्य था, भविष्य में मोक्षगामी, शलाका पुरूष था; इसलिये एकबार उसके सौभाग्य से उसे वन में सुदर्शन नामक मुनिराज के दर्शन हुए; उनके निकट रत्नत्रयधर्म का उपदेश सुनकर उसने रत्नत्रय अंगीकार किये।

एक बार वे सुकेतु मुनि वन में बैठे थे; उस समय उनकी सम्पत्ति को जीत लेनेवाला शत्रुराजा वैभवसहित वहाँ से निकला; उसे देखकर मूर्खतापूर्वक उसने निदान किया कि—अपने धर्म के फल में मैं भविष्य में महान वैभवप्राप्त करूँ और अपने शत्रु का नाश करके उसकी विभूति छीन लूँ! (अरेरे! रत्नत्रय के निधान बेचकर उनके फल में मूर्ख जीव ने भोग-वासना की इच्छा की।) वह सुकेतु का जीव मोक्षमार्गी था, परन्तु धर्म के फल में विषयों की अभिलाषा करके वह धर्मभ्रष्ट हो गया और उसने नरक का बीजारोपण किया। इसलिये हे जीवो! धर्मके फल में विषयों की अभिलाषा कदापि नहीं करना। विषयों की अभिलाषा से धर्म को गँवाकर मिथ्यादृष्टि हुआ वह राजा सुकेतु का जीव वहाँ से मरकर,

शेष रहे अल्प पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में देव हुआ, और वहाँ से चयकर इस द्वारावती नगरीमें स्वयंभू वासुदेव के रूपमें उत्पन्न हुआ है।

पूर्वभव में जिस शत्रुराजा ने उसकी राजसम्पदा जुए में जीत ली थी वह राजा भी पश्चात् किसी कारणवश वैराग्य प्राप्त कर रत्नत्रय धारण करके मुनि हुआ; परन्तु उसने भी मूर्खतासे धर्मके फलमें भोगप्राप्तिका निदान किया, इसलिये धर्म से भ्रष्ट होकर अल्प पुण्यके कारण स्वर्ग में गया और वहाँ से चयकर वर्तमान में रत्नपुरका राजा मधु हुआ है; उस मधुराजा को चक्र की प्राप्ति होने से इस समय वह तीन खण्ड का राजा है। वह 'प्रतिवासुदेव' है।

-इस प्रकार विमलप्रभु की वाणी में अपने पूर्वभव सुनकर वे धर्म और स्वयंभू दोनों भाई (बलदेव-वासुदेव) अपने महल में आये। एक बार कुछ राजसेवक मधुराजा के लिये उत्तम रत्नों की भेंट लेकर आ रहे थे, तब पूर्वभव के वैर संस्कारवश स्वयंभू राजाने वे रत्न छीन लिये। उनके भाई धर्म-बलभद्रने ऐसा अन्याय नहीं करने के लिये समझाया; परन्तु परिग्रह की तीव्र लालसा के रौद्र परिणाम के कारण उसने धर्म की बात नहीं मानी।

जब प्रतिनारायण मधुराजाने जाना कि उसके बहुमूल्य रत्न स्वयंभू राजाने छुड़ा लिये हैं तब चक्रसहित सेना लेकर उसने स्वयंभू के साथ महान युध्द किया। स्वयंभूको मारने के लिये उसने अपना दैवी सुदर्शनचक्र फेंका; परन्तु पूर्वपुण्य का प्रभाव समाप्त हो जाने से उसका चक्र निष्फल गया और वह स्वयंभू के हाथ में आ गया। स्वयंभूने भयंकर क्रोध पूर्वक उसके चक्र द्वारा उसीका शिरच्छेद कर दिया।घोर रौद्र परिणाम सहित मरकर वह तमतम नामके सातवें नरकमें जा पड़ा! कुछकाल पश्चात स्वयंभू वासुदेव भी विषयवासना के रौद्र परिणामों से मरा और मानो अब भी अपने शत्रु को मारने के लिये उसके पीछे लगा हो तद्नुसार वह भी सातवे नरक में पहुँचा। दोनो जीव वहाँसे निकलकर अमुक भव में पुन: धर्म प्राप्त करके मोक्ष में जायँगे।

वासुदेव स्वयंभू की मृत्युसे बलदेव धर्म को पहले तो अति शोक हुआ; परन्तु विमलनाथ भगवान के समवसरण में जाकर धर्मोपदेश सुननेसे उनका चित्त शांत हुआ, और संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा अंगीकार की; पश्चात उत्तम ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रकट करके गजपंथा क्षेत्र से सिध्ददशा प्राप्त कर ली।

[इस प्रकार भगवान विमलनाथ के समयमें तृतीय बलदेव धर्म, वासुदेव स्वयंभू और प्रतिवासुदेव मधु की कथा समाप्त हुई; यह कथा जीवोंको धर्मके फलमें उत्साहित करके विषय-भोगोंके प्रति वैराग्य जागृत करती है।]

[१४]




**ज्ञान-आनन्दमय चैतन्यत्त्व का अनन्त वैभव बतानेवाले अनन्त तीर्थंकर को नमस्कार करके उनका मंगल जीवन कहता हूँ।**

हे अनन्तनाथ! आप केवलज्ञानादि अनन्त गुणोंका भण्डार हो; अनन्त गुण पर्यायरुप आपका जो शुध्द अस्तित्व है वही आपका सम्यक स्वरुप है। हे देव! आपके ऐसे अनन्त भावरुप अस्तित्व को जानते ही हमे अपने में अनन्त गुण पर्यायोंसे भरपूर चेतनवैभव दृष्टि गोचर होता है, अनन्त गुणों के सम्यक स्वाद का अनुभव होता है और मिथ्यात्वादि अनन्त दोष दूर हो जाते हैं।

हे भगवान! 'आप ऐसे हैं, आप वैसे हैं'- ऐसे अपने अल्पमति के किंचित प्रलाप द्वारा क्या आपके अनन्त गुणों की पूर्ण महिमा प्रगट हो सकती है? तथापि, जिस प्रकार अमृत के समुद्र को पूरा नहीं पिया जा सकता, परन्तु उसके किंचित अमृतपान से भी क्या तृषा शांत होकर तृप्ति नहीं होती? उसी प्रकार हे अनंत गुणसागर! आपके अल्प गुणों के चिन्तन सें भी हमारा हृदय तृप्त हो जाता है।

जो अनन्त गुणसम्पन्न भगवान अनन्तनाथ अपने हृदयमें विराजमान होते ही सर्व विभाव चैतन्यसे बाहर रह जाते है; अनन्त भवोंका अन्त होकर, अनन्त ऐसी सिद्धदशा प्रारम्भ हो जाती है; ऐसे प्रभु अनन्तनाथका मंगल जीवन, हे भव्य जीवो! तुम आदरपूर्वक सुनो।

## भगवान अनन्तनाथ : पूर्वभव : राजा पद्मरथ

अनन्त भवचक्रका अंत करनेवाले भगवान अनन्तनाथ पूर्वके तीसरे भव में धातकी खण्ड में अरिष्ट नगरीका राजा पद्मरथ थे। वह नगरी रत्नमालाओंसे सुशोभित थी, तो उसके राजा भी सम्यक्त्वादि रत्नोंसे विभूषित थे। पुण्योदयसे बाह्यमें सर्व सुखसामुग्री उन्हें प्राप्त थी, परंतु चैतन्यसुखके वेदनमें उन्हें वैसी किसी

सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। राज्यवैभवके बीच रहते हुए भी उनका चित्त पापोंसे अलिप्त और सदा पंचपरमेष्ठी की भक्तिमें लिप्त रहता था। उनके महान भाग्यसे मुनिवरों तथा केवली भगवन्तोंका कई बार उनकी नगरीमें आगमन होता था।

एक दिन भगवान स्वयंप्रभ उनकी नगरीमें पधारे; चारों ओर आनन्द - मंगल छा गया। भावी तीर्थंकर समान राजा पद्मरथ बड़ी धामधूमसे गाजेबाजे के साथ भगवान के दर्शन करने गये। अत्यन्त भक्तिपूर्वक केवली प्रभुके दर्शन किये। प्रभुका रूप देखकर उनका चित्त परमशांत हुआ, इतना ही नहीं, ज्ञानकी निर्मलता होनेसे उन्हें अपने कुल सात भवोंका ज्ञान हुआ; उनमें यद्यपि भविष्यके तो दो ही भव शेष थे, इसलिये वे दो भव जाने और भूतकाल के चार भवोंको भी जान लिया;-इस प्रकार वर्तमानसहित उन्हें कुल सात भवोंका ज्ञान हुआ और उनमें अपना अन्तिम भव तीर्थंकर का है—ऐसा जानकर उनका चित्त हर्षसे रोमांचित हो गया। अहा, अपने मोक्षका ज्ञान हो, उससे विशेष आनन्द की बात और क्या होगी ?

भावी तीर्थंकर ऐसे राजा पद्मरथने भगवानके समवसरणमें बैठकर धर्मोपदेश सुना; उसे सुनते ही वैराग्यपूर्वक वे चिन्तवन करने लगे कि—इस जीवको शरीर के साथका सम्बन्ध कहीं नित्य रहनेवाला नहीं है, अनन्त शरीरों के साथ सम्बन्ध हुआ, किन्तु एक शरीर स्थायी नहीं रहा, सब पृथक् हो गये; क्योंकि जीव और शरीर पृथक् ही हैं। उसी प्रकार पाँच इन्द्रियाँ और उनके विषयोंका सम्बन्ध भी नित्य रहनेवाला नहीं है, क्षणभंगुर है, दो में से कोई एक छूट जाता है—या तो इन्द्रियाँ छूट जाती हैं या विषयोंका संयोग छूट जाता है। इस प्रकार जीव, शरीर-इन्द्रियों से तथा उनके विषयोंसे पृथक् है। (वैराग्यवन्त राजा विचारते हैं—) अन्य मतके मोहासक्त जीव भले उसमें मोहित रहें, परन्तु मैंने तो अरिहन्त भगवानके मतकी शरण लेकर जड़-चेतनका भेदज्ञान किया है, इसलिये मैं बाह्यविषयोंमें कहीं मोहित नहीं होऊँगा; अरिहंतदेवने मेरा अनन्त चैतन्यवैभव मुझे बतलाया है... उसीकी मैं साधना करूँगा।

इस प्रकार राजा पद्मरथका चित्त संसारसे विरक्त हुआ। जैसे-दीर्घकाल से अपने पुराने स्थानमें रहनेवाला शशक वनमें आग लगने पर उससे बचने के लिये उस स्थान को छोड़कर दूर भाग जाता है; पुराने स्थानका ममत्व नहीं करता; उसी प्रकार अतिदीर्घकाल से संसार में रहने पर भी, कषायोंकी आगसे भयभीत हुए भव्यात्मा पद्मरथ, संसार-राजपाट को छोड़कर मोक्षकी साधनाके लिये तत्पर हुए। उन्होंने स्वयंप्रभ केवली भगवानके चरणोंमे जिनदीक्षा ग्रहण की; ग्यारह अंगका ज्ञान प्रगट किया और दर्शनविशुध्दि आदि उत्तम भावनाएँ भाकर तीर्थंकर नामकर्म बाँधा। चार प्रकारकी उत्तम आराधनासहित प्राण त्यागकर अच्युतस्वर्गके इन्द्र हुए। वहाँ असंख्य वर्षोंतक सम्यक्त्वपूर्वक निवास किया। पश्चात अभी मनुष्य लोक में अवतरित होनेमें उनको छहमास शेष थे कि उनके पुण्यप्रतापसे मनुष्य लोकमें दिव्यपरिवर्तन होने लगा।

## अयोध्यानगरीमें अनन्तनाथका अवतार

भरतक्षेत्रकी अयोध्यानगरीमें अब तक चार तीर्थंकर (ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ और सुमतिनाथ) अवतरित हो चुके हैं; अब पाँचवेंके अवतारकी तैयारी हैं; इसलिये कुबेरने पुरानी अयोध्यानगरीकी नवरचना करके उसे पुनः अतिसुन्दर बना दिया। उस समय अयोध्या नगरीके महाराजा सिंहसेन थे; उनकी रानीका नाम था जयश्यामा। अचानक ही नगरीमें परिवर्तन होने लगा; राजमहलके प्रांगणमें प्रतिदिन करोड़ों रत्नोंकी वर्षा होने लगी। प्रजाजन हर्षित हो उठे। महादेवी जयश्यामाको धर्मके

उत्तम विचार आने लगे...और कार्तिक कृष्णा प्रतिपदाके पूर्वकी पिछली रात्रिमें उन्होंने सिंह, हाथी, रत्नोंकी राशि आदि १६ उत्तम स्वप्न एकसाथ देखे। वे स्वप्न तीर्थंकरके जीवका आगमन सूचित करते थे। उन स्वप्नोंका फल जानकर माता-पिता को अपार हर्ष हुआ। स्वर्गसे इन्द्रोंने आकर माता-पिताका तथा गर्भस्थ तीर्थंकर के जीवका सन्मान किया और गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया।

जेष्ठ कृष्णा द्वादशी को अयोध्यामें तीर्थंकर भगवान अनन्तनाथ का जन्म हुआ। तेरहवें विमलनाथ तीर्थंकर के पश्चात नौ सागरोपम के असंख्यात वर्षो बाद चौदहवें तीर्थंकर का अवतार हुआ। उनके अवतार से पूर्व लाखों-करोडों वर्ष तक भरत क्षेत्र मे जैनधर्म का विच्छेद हो गया था; उनका अवतार होने से वह विच्छेद दूर हुआ और पुन: जैनशासनका धर्मचक्र चलने लगा । तीर्थंकरों का अवतार धर्म की वृध्दि के लिये ही है।

मेरूपर्वत पर महा महोत्सव से इन्दोंने चौदहवें तीर्थंकर का जन्माभिषेक किया। भरत क्षेत्रमें असंख्यात वर्षों बाद भगवान के जन्म कल्याणक का यह अवसर आया था। जन्माभिषेक के पश्चात् 'अनन्तनाथ' ऐसे सम्बोधनपूर्वक इन्द्रने बालतीर्थंकर की स्तुति की, इतना ही नही, प्रभुके दर्शन-से उसे ऐसा महान आनन्द हुआ कि उसने ताण्डवनृत्य किया;- जगतके सर्व नृत्योंमें इन्द्र-इन्द्रानीका यह ताण्डवनृत्य सर्वश्रेष्ठ है-जिसमें इन्द्र स्वयं हजार हाथों द्वारा हावभावसहित भक्ति करके नाचता है।

भगवान अनन्तनाथ की आयु तीस लाख वर्ष थी। उनके चरणमें सेही का चिह्न था। उनका बाल्यकाल अद्‌भुत था। शरीर की बाल्यावस्था होनेपर भी उनका आत्मा तो सम्यक्त्वादि अनन्त गुणोंद्वारा प्रौढ़ था। सात लाख पचास हजार वर्ष तक वे युवराज रूपमें रहे; सर्वोत्कृष्ट पुण्यसामग्री उनकी सेवामें उपस्थित होनेपर भी भगवान तो अपने चिदानन्द परमात्मा का ही सेवन करते थे; यह अवतार परमात्मा होनेके लिये है-ऐसा लक्ष उनको निरन्तर वर्तता था।

कुछ समय पश्चात् महाराजा सिंहसेनने युवराज अनन्तनाथका राज्याभिषेक किया। अयोध्याके राजसिंहासनपर उन्होंने १५ लाख वर्ष तक राज्य किया। अयोध्या तो पूरे भरतक्षेत्रकी राजधानी, वहाँसे अनेक तीर्थंकर-चक्रवर्ती भारतका राज्य करते आये हैं.... इतना ही नहीं, वह राज्य छोड़कर तीन लोकके राज्य की साधना कर-करके अयोध्यापुरी के असंख्यात राजा इस चौबीसी में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। ऐसे ही मोक्षगामी, तदुपरान्त तीर्थंकर ऐसे भगवान अनन्तनाथ के राज्यमें प्रजाजन धर्म एवं धन दोंनों में वृध्दिगत थे। इतने में अचानक एक घटना हुई।



**ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी :** अयोध्याके महाराजा अनन्तजिनका आज जन्मदिन था। आज उनकी आयु २२ लाख ५० हजार वर्षकी हुई थी। एक तो अयोध्यापुरी के महाराजा और वे भी तीर्थंकर इसलिये उनका जन्मोत्सव मनाने के लिये देश-देशके हजारों राजा सुंदर भेट लेकर आये थे। एक दिन पूर्वसे ही सारी नगरी अद्‌भुत श्रृंगारसे शोभायमान हो रही थी। महाराजा अनन्तजिन राजमहलकी छतसे उस दिव्य शोभा का अवलोकन कर रहे थे....

—इतने में आकाशमें भारी गड़गड़ाहट के साथ प्रकाश की एक तेजरेखा खिंची और एक तारा खिर गया-उल्कापात हुआ। उसे देखते ही महाराजा अनन्तनाथके चित्तमें भी वैराग्यकी चमक के साथ चेतना जागृत हो उठी-उन्हें पूर्वभवका जातिस्मरण हुआ और वे वैराग्यपूर्वक चिंतवन करने लगे कि-अरे, जिसप्रकार यह उल्का क्षणभंगुर है, उसी प्रकार रागादि समस्त विभाव तथा यह राजसम्पदा के संयोग भी क्षणभंगुर हैं; जीवके साथ यह कोई स्थिर रहनेवाले नहीं हैं, मात्र अपना सिध्दपद ही स्थिर है, इसलिये वही साधने योग्य है। इस जीवन में मुझे मोक्षकी साधना पूरी करना है, इसलिये अब प्रमाद करना उचित नहीं है। मैं शीघ्र ही यह संसार छोड़कर मुनि बनूँगा और मोक्षको साधूँगा।

भगवान के दीक्षा सम्बन्धी निर्णय से चारों ओर खलबली मच गई; देव भी जान गये और दीक्षा महोत्सव मनाने आ पहुँचे। जन्मका उत्सव मोक्षके महोत्सवमें परिवर्तित हो गया। देवोंमें गुरूसमान ब्रह्मर्षि ऐसे लौकान्तिक देवोंने प्रभुकी स्तुति करके अचिन्त्य वैराग्यका अनुमोदन किया। उसी समय इन्द्र 'सागरदत्ता' नामक पालकी लेकर आ पहुँचे। सागर समान गंभीर प्रभुने सागरदत्ता पालकी में बैठकर तपोवनकी ओर प्रयाण किया।जन्मोत्सव हेतु आये हुए एक हजार राजा भी प्रभुके साथ तपोवन की ओर चले और प्रभुके साथ ही दीक्षा ले ली। अहा, एक तीर्थंकर के साथ हजारों राजा दीक्षा लेकर आत्मध्यान करते होंगे तब उन हजारों ध्यानस्थ मुनियोंका वह सामूहिक दृश्य कैसा अद्‌भुत, अद्वितीय, शांत और वैराग्यप्रेरक होगा! वह दृश्य देखकर वनके हिंसक पशु भी शांत हो जाते थे।




इस प्रकार भगवान अनन्तनाथ अपने जन्मदिन पर ही दीक्षा लेकर आत्मध्यानमें लीन हो गये। उनको तुरन्त अनेक लब्धिसहित मन:पर्ययज्ञान प्रगट हुआ; उसमें भी शुध्द परिणामोंकी लब्धिने तो निकट में ही केवलज्ञानादि नवक्षायिक भावोंकी महालब्धिके आगमन की सूचना दी। दो दिन तक उपवास के पश्चात् मुनिराज अनन्तनाथ साकेतपुरीमें पधारे, तब राजा विशाखने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रथम पारणा कराया। उसी समय पारणा करानेवाले को मोक्षसूचक दैवी वाद्य बजने लगे और आकाश से रत्नवृष्टि हुई।

मुनिदशामें विचरण करते-करते प्रभु अनन्तनाथ दो वर्ष पश्चात् पुन: अयोध्यानगरीमें पधारे और जिस तपोवनमें दीक्षा ली थी उसी में चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट

किया; चौदहवें तीर्थंकर तेरहवें गुणस्थानमें-परमात्मपद में विराजमान हुए। देवेन्द्रोंने पंचमज्ञान प्राप्त प्रभुके चौथे कल्याणक का महोत्सव मनाया, और समवसरणकी रचना की। अनन्तनाथ भगवानकी अनन्तभावोंसे भरी दिव्यध्वनि सहजरूपसे खिरने लगी। 'जय' आदि ५० गणधर एकसाथ उस दिव्यवाणी को झेल रहे थे; तदुपरान्त कितने ही मुनिवर समवसरणमें ही आत्मलीन होकर केवलज्ञान प्राप्त करते और पृथ्वी को छोडकर आकाश में निरालम्बरूप से पाँच हजार धनुषकी ऊँचाई पर स्थिर होते थे। ऐसे पाँच हजार केवली-अरिहंत भगवान उस समवसरण में विराजते थे।

अहा, एक तीर्थंकर और अन्य पाँच हजार केवली भगवन्त;-हजारों अरिहंतों के मेलेका वह दृश्य कैसा अद्भुत होगा!! एक क्षेत्रमें दो तीर्थंकर साथ नहीं होते, परन्तु केवली भगवन्त -अरिहंत तो समवसरण में हजारों एक साथ होते हैं! वाह, मानो केवलज्ञान उगने का खेत! वहाँ पाँच हजार केवलियोंके उपरान्त पाँज हजार मन:पर्ययज्ञानी, चार हजारसे अधिक अवधिज्ञानी मुनिवर, एक हजार बारह अंगधारी श्रुतकेवली, तीन हजार से अधिक वादविद्यामें निपुण मुनिवर, चालीस हजार जितने उपाध्याय-शिक्षक तथा आठ हजार विक्रिया ऋध्दिधारी मुनिवर विद्यमान थे। —कुल ६६ हजार मुनिवर, एक लाख आठ हजार आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाओंका चतुर्विध संघ प्रभुके साथ मोक्षमार्गमें चल रहा था। तदुपरान्त तिर्यंचोंका राजा सिंह, हाथी, सर्प, बन्दर, मोर आदि लाखों प्राणी भी प्रभुके दर्शन से हर्षित होते दिव्यध्वनिका श्रवण करके आत्मज्ञान प्राप्त करते थे। तेरहवें गुणस्थानमें विराजमान चौदहवें तीर्थंकर प्रभु अनन्तनाथ दिव्यध्वनि द्वारा आत्माका अनन्त चैतन्य वैभव बतलाते थे। उस अद्भुत अचिन्त्य वैभवके साथ समक्ष देव भी अपने स्वर्ग लोक के वैभवको तुच्छ समझकर आत्मवैभवकी उपासना करते थे। इस प्रकार समवसरण में आकर कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव भी सम्यग्दृष्टि बन जाते थे।

भगवान अनन्तनाथ ने लाखों वर्षतक धर्मोपदेश देकर धर्मचक्रका प्रवर्तन किया। वे दिव्यध्वनिमें कहते थे कि— हे जीवो! आत्मामें एक ही नहीं, किन्तु अनन्तधर्म एकसाथ विद्यमान हैं। एक ही समयमें सत्पना और असत्पना, एकपना और अनेकपना, नित्यपना और अनित्यपना, ज्ञान और आनन्द, कर्तृत्व और अकर्तृत्व,-ऐसे अनन्तधर्म किसी प्रकारके विरोध बिना एक साथ वस्तुमें विद्यमान हैं और वही वस्तुका स्वरूप है। वस्तुमें उसके सर्व शुध्दधर्म एकसमान, तन्मयरूपसे विद्यमान हैं, उनमें कोई गौण नहीं है। वक्ता अपने अभिप्रायानुसार उनमें से किसी को मुख्य करके कथन करता है तब दूसरे धर्म भी गौणरूपसे उसकी स्वीकृतिमें हैं, उनका निषेध नहीं है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप तथा उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप स्वाधीन है, उसके द्रव्य -गुण-पर्यायमें किसीका हस्तक्षेप नहीं है। अपने स्वाधीन स्वरूप को समझनेवाला जीव अपने अनन्त धर्म स्वभावोंसे ही परितृप्त रहता है और सम्यक्त्वसे लेकर मोक्ष तक के सुखका अपनेमें ही अनुभव करते है।

धर्मोपदेशमें ऐसी सत् वस्तुकी प्ररूपणा करते-करते भगवान अनन्तनाथने साढ़ेसात लाख वर्षतक विहार किया और करोड़ों जीवोंको मोक्षमार्गमें लगाया... अन्तमें जब एक मास आयु शेष रही तब सम्मेदशिखर की स्वयंभू टूंक पर आकर स्थिर हुए; विहार और वाणी रूक गये... और जिस दिन केवलज्ञान प्रगट हुआ था उसी तिथि (चैत्र कृष्णा अमावस्या) को सम्पूर्ण योग निरोध करके, भगवान अनन्तनाथ तीर्थंकर अनन्तधर्मोंकी शुध्दिसहित मोक्षपदको प्राप्त हुए। इन्द्रोंने मोक्षकल्याणक महोत्सव मनाकर पूजा की—

**अनन्तनाथ जिनराजका, कूट स्वयंभू जेह;**
**मन-वच-तनकर पूज हूँ शिखरसम्मेद यजेह।**

अनेकान्त स्वरूप आत्माके अनन्त धर्मोंको प्रकाशित करके अपने अनन्तधर्मोंकी शुध्दिसहित जो सिध्दालयमें विराजमान हैं--ऐसे 'समयसार' रूप शुध्दात्माको स्वानुभूतिसहित नमस्कार हो। प्रत्येक आत्मामें अपने अनन्तधर्म हैं, वे परसे भिन्न हैं; ऐसे एकत्व-विभक्त आत्मस्वरूपको दरशानेवाली तथा अशुध्द भावोंको छुडाकर शुध्द भावों को प्रगट करनेवाली भगवान अनन्तनाथ की अनेकान्त वाणी सदा प्रकाशमान हो। हे देव! आपकी अनेकान्त सहित सम्यक्नयोंकी किरणोंने जगतके जीवोंको मिथ्यात्व अंधकारसे छुड़ाकर सम्यक्त्वका अपूर्व प्रकाश दिया है। अनन्तनयात्मक स्वानुभव-प्रमाण द्वारा अनन्तभवचक्रसे छुड़ानेवाले तथा अनन्तचैतन्य निधान की प्राप्ति करानेवाले अनन्तनाथ जिनको नमस्कार हो!

[इति श्री चौवीस तीर्थंकरोंके महापुराण में
अनन्तजिन तीर्थंकर की मंगलकथा समाप्त हुई।]

[भरतक्षेत्रमें भगवान अनन्तनाथका धर्मशासन चार सागरोपम (असंख्यात वर्ष) तक चला, और उसमें असंख्य जीव मोक्षको प्राप्त हुए। पश्चात् अन्तभागमें अर्ध्दपल्योपम तक धर्मका विच्छेद रहा। भरत क्षेत्रमें यह छठवीं बार धर्मविच्छेद हुआ।]

## अनन्तचतुर्दशी (भाद्रपद शुक्ला चौदस)

दसलक्षण पर्वका अन्तिम दिवस भाद्रपद शुक्ला १४ 'अनंतचतुर्दशी' के रूप में प्रसिद्ध है। भगवान अनन्तनाथके साथ उसका सम्बन्ध जोड़कर कुछ कथाकार एक कथा कहते हैं, जो इस प्रकार है:- सोमशर्मा नामके एक मनुष्यने पूर्वभवमें किसीप्रकार धर्मकी निन्दा करके महान पापका बंध किया था; उस पापके उदयसे वह अत्यन्त निर्धन तथा कुष्ठ व्याधिसे ग्रस्त था; वह जहाँ भी जाता उसका तिरस्कार होता था; उससे वह बहुत खेदखिन्न और अशांत रहता था। एक बार भाद्रपद शुक्ला १४ के दिन उसने भगवान अनन्तनाथका समवसरण देखा उनके अचिन्त्य वैभवके दर्शन किये। समवसरणमें जाते हुए लोग बड़े उत्साहित एवं प्रसन्न थे; इसलिये वह भी उनके साथ भगवान के समवसरणमें जा पहुँचा। प्रवेश करते ही उसका रोग दूर हो गया, दरिद्रता मिट गई और भगवानके दर्शन तथा उपदेशसे उसे धर्मकी श्रध्दा हुई; व्रताचरण पूर्वक मरकर वह सोमशर्मा स्वर्गलोकमें महान विभूतिवान देव हुआ! (इसीसे उस दिनको 'अनन्तचतुर्दशी' मानकर जिनेन्द्रपूजा-अभिषेक-उपवासादि विधिपूर्वक १४ वर्षतक 'अनन्तचतुर्दशी' व्रत करनेका लोगोंमें प्रचार हुआ है।) तत्पश्चात सोमशर्माका वह जीव स्वर्गलोकसे असंख्य वर्ष पश्चात् निकलकर भरतक्षेत्रमें विजयनगरका राजकुमार 'अरिंजय' हुआ। उसने राजगृही जाकर विपुलाचलपर समवसरणमें भगवान महावीर तीर्थंकर का उपदेश सुना, और उसे अपनी पूर्वभवकी आराधना का स्मरण हुआ; उसने संयम धारण कर लिया और कर्मक्षय करके अनन्त मोक्षसुख प्राप्त किया।

(इति अनन्तचतुर्दशी-व्रत-कथा)

卐 卐 卐

[१५]




**हे भगवान धर्मनाथ! आप वीतरागी उत्तम क्षमादि दस धर्मोंके धारक हो; तथा उन धर्मोंका उपदेश देकर अनेक जीवोंके तारक हो; इसलिये उन धर्मोंकी उपासना पूर्वक मै आपको नमस्कार करता हूँ, और रत्नत्रयादि उत्तम धर्मोंसे शोभायमान आपके मंगल जीवन का आलेखन करता हुं।**

## भगवान धर्मनाथ : पूर्वभव-वर्णन

भरतक्षेत्र के चौवीस तीर्थंकरों मे भगवान धर्मनाथ १५ वें तीर्थंकर थे और उनका चरणचिन्ह 'व्रज' का था। पूर्व भव में वे दशरथ नामके राजा थे और धातकी खण्डकें विदेहक्षेत्रमें सुसीमा नगरीका राज्य करते थे। धर्मप्रधान सुखों को भोगते हुए, पुण्य वैभव के बीच भी उनका चित्त जैनधर्म की उपासनामें लीन रहता था। एकबार चैत्री पूर्णिमा की रात में वे पूर्ण चन्द्र की शोभा निहार रहे थे... अहा, कितना सुन्दर है चन्द्रमा! इतनेमें उस जगमगाते हुए चन्द्र की शोभा एक काले धब्बे से ढँकने लगी। अरे, यह क्या? कहाँ गई व्रह शोभा? उसके बदले यह काला धब्बा कैसा?-यह चन्द्रग्रहण था। (देखो, चित्र पृ.२०८)वह देखते ही राजा दशरथ को वैराग्य भावना जागृत हुई कि—अरे, ऐसे सुन्दर चन्द्रमा को भी क्षण में राहु ग्रस लेता है और उसकी शोभा नष्ट हो जाती है; तो पुण्योदयसे प्राप्त हुए यह सब राजवैभव भी कहाँ स्थिर है?। जिस प्रकार विशाल समुद्रके बीच जहाज पर बैठे हुए पंखी को उस जहाज के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है; वह उड़-उड़कर अन्त में तो जहाज पर ही आयगा; उसी प्रकार संसार रुपी समुद्रमें जीवको अपने आतमाके सिवा अन्य कोई शरण नही है; सर्व संयोग पृथक् हो

जानेवालेअध्रुव है; शान्ति के लिये अन्त में तो अपनी चैतन्य- नौका की ही शरण लेना है। यह जीव परिवार के निमित्त से जो पाप करता है उनका फल तो वह स्वयं अकेला ही भोगता है। पाप करके परिवार के लिए धन एकत्रित करना वह तो अपने शरीर के ऊपर गुड़का लेप करके चीटों को सौप देने जैसा है,- जिसमे अपने को तो दुख: ही भोगना पडता है। ऐसे संसार से और धन- परिवार के मोह से बस होओ। तृषा शांत करने के लिये मृगतृष्णा के पिछे तो मूर्ख हिरन ही दौडते है, बुध्दिमान नही; मुमुक्षु-धर्मात्मा तो ऊसे छोडकर अपने चैतन्य सुखको साधते हैं। मैं भी कल प्रात:काल मुनिदीक्षा ग्रहण करूँगा और स्वानुभव से देखे हुए अपने चैतन्य सुखको साधूँगा। इसप्रकार उन वैरागी दशरथ महाराजाने निश्चय किया...मानो मोक्षपुरीमें जाने हेतु धर्म के दश- रथ तैयार किये।

दूसरे दिन प्रात:काल महाराजा दशरथने राजसभा में मंत्रियों के बीच जिनदीक्षा धारण करने की घोषणा की। अनेक लोगोंने महाराजा के वैराग्य की प्रशंसा की, परन्तु विचित्रमति नामके मंत्रीने जो कि नास्तिक जैसा था, और जिसे आत्माका या मोक्षका कोई ज्ञान नहीं था; उसने कहा कि- हे महाराज! पाँच इन्द्रियोंके सर्व सुख आपके समक्ष उपस्थित है; इन प्रत्यक्ष सुखोंको छोडकर, अनदेखे अर्थात परोक्ष (अतीन्द्रय) सुखको प्राप्त करनेका उद्यम किस लिये करते हो? शरीर से भिन्न आत्मा किसने देखा है? परलोक और मोक्षसुख किसने देखे हैं?...और आपको कौन से सुख की कमी है कि यह सब छोडकर दूसरे सुखके लिये वन में जाते हो? इसलिये आप, व्यर्थ परिश्रम न करके यह जो राजसुख प्राप्त हुआ है इसीको भोगिये!

नास्तिक मंत्रीके विचित्र वचनोंका भावी तीर्थंकर महाराजा के मन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ; उन्होने शांति एवं गंभीरतासे वैराग्य की दृढतापूर्वक मंत्रीको उत्तर दिया -'हे मंत्री, सुनो! राज्य व्यवस्था में तुम्हारी बुध्दि जितनी चलती है उतनी आत्मतत्व के निर्णय में नही चलती। श्री जिनेश्वर भगवन्तोंने प्रत्यक्ष ज्ञानपूर्वक आत्माका स्वरूप सिध्द किया है, और जैनधर्म के प्रतापसे मुझे भी अपने स्वानुभव द्वारा देह से भिन्न आत्माकी सिध्दि हुई है, तथा विषय रहित मोक्षसुखके आस्वादन से उसकी प्रतीति हुई है। आत्मा में जैसा सुख है वैसा विषयों में कहीं नहीं है। कोई भी विषय सुख आत्माको कदापि तृप्ति नहीं दे सकते, परन्तु आकुलता ही उत्पन्न करते है, इसलिये वे वास्तमें सुख नहीं किन्तु दु:ख ही है। -ऐसा कहकर फिर महाराज दशरथने देह से भिन्न आत्माकी सिध्दि की :-

## देह से भिन्न आत्माकी सिध्दि

३६ जीवको अंतर में जो सुख-दु:ख की अनुभूति या विचार होते हैं उन अनुभूतियों या विचारोंको जीव स्वयं अतंरमें अपने वेदन से स्पष्ट जानता है कि'-मुझे एसे विचारआये।' उसी समय दूसरा जीव पास बैठा हो और इस शरीर को देख रहा हो, तथापि इस जीवके विचारों को वह इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकता, क्योकि विचारो की उत्पत्ति शरीरमें नही होती किन्तु शरीर से भिन्न जीवमें होती है। जीव अरूपी है इसलिये उसके विचार एवं अनुभूतियाँ भी अरूपी है; वे नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा दृष्टिगोचर न होनेपर भी इन्द्रियरहित स्वसंवेदनरुप ज्ञानसे जाने जा सकते हैं। इस प्रकार स्वसंवेदन करनेवाला जो तत्त्व है वही जीव है। शरीर की चेष्टाएँ इन्द्रियों द्वारा दिखायी देती है, क्योकी वे मूर्त है; वही रहनेवाले जीवके विचार इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नही होते क्योकी वे अमूर्त है; इस प्रकार अरुपी एवं ज्ञानमय ऐसे जीवका अस्तित्व प्रत्येक को अपने स्वसंवेदनसे सिध्द हो सकता है। 'मैं हूँ' ऐसी अपनी अस्तिका जो वेदन है वही जीव है। 'मै नहीं हूँ' ऐसी अपनी नास्ति किसी प्रकार सिध्द नही हो सकती।

※ तथा एक मनुष्यको अमुक ज्ञान है; हाथ-पैर कट जानेसे कहीं उसका ज्ञान उतना कट नहीं जाता, ज्योंका त्यों रहता है; क्योंकि ज्ञान शरीर मे नहीं था किन्तु शरीरसे भिन्न ऐसे जीव में ही था। वह ज्ञानमय जीव यदि शरीर से भिन्न नहीं होता तो, शरीर कटने से उतना ज्ञान भी कट जाता! -परंन्तु ऐसा नही होता। इसप्रकार ज्ञान वह जीव का लक्षण है, शरीरका नही। शरीर संयोगी वस्तु होने से उसके दो टुकड़े हो सकते हैं; जीव असंयोगी होने से उसके दो टूकड़े किसी प्रकार नहीं हो सकते।

※ तथा कई बार देखा जाता है कि- किसी जीव को शरीर में रोगादि प्रतिकूलता होनेपर भी अथवा शरीर अग्निमें जलता होनेपर भी शान्ति रखता है और धर्म ध्यान करता है; तथा किसी जीव को बाह्यमें स्वस्थ-सुन्दर शरीर होनेपर भी अंतर मे वह किसी भंयकर चिन्तामें जल रहा होता है। -इस प्रकार दोनों तत्त्वोंकी क्रिया बिलकुल भिन्न -भिन्न होती है। -ऐसी तभी हो सकता है यदि जीव और शरीर दोनों पदार्थ बिलकुल भिन्न हों।

----इसप्रकार महाराजाने जीव का अस्तित्व और शरीर से उसकी भिन्नता समझायी; उसे सुनकर सभाजन तथा मंत्री भी प्रसन्न हुए।

मंत्रीने पूछाः हे महाराज! आपने स्वसंवेदन से जीवकी सिध्दि की तथा शरीर और जीव की भिन्नता युक्तिपूर्वक समझायी, वह तो बराबर है; किन्तु इन बाह्य विषयों के बिना आत्मा में सुख कैसे होगा? वह समझाइये।

महाराजने कहा: सुनो; **विषयोके बिना ही आत्मामें सुख होता है उसकी सिध्दिः-**

अनादि से अभी तक जीव बाह्य विषयों मे मोहित होकर उनसे सुखी होना चाहता है, समस्त विषयों को वह भोग चुका है, परंन्तु अभी तक सुखी नही हुआ, किन्ही विषयोंमे से सुख या तृप्ति नहीं मिली;- कर्योकि उनमे सुख है ही नही; उनके पीछे दौडनेमें मात्र दुःख और आकुलता ही है। जब किसी धर्मात्मासे सुनकर या जानकर मुमुक्षु जीव अपने आत्मस्वरुप का शान्तिपूर्वक विचार करता है उस समय वह पाँच इन्दिंयोंके किसी भी विषयको वह भोगता नही हैं या उसका चिंतवन भी नही करता, आत्मविचार ही करता है कि- 'मेरा आत्मतत्त्व शरीर से भिन्न है, उसे साधकर मैं मोक्ष प्राप्त करूंगा' ...ऐसे विचार के समय पाँच इन्द्रिंयोंके बाह्य विषय यद्यपि छूट गये हैं, परंतु वह जीव कहीं दुःखी नहीं होता,, परन्तु अंतर मे उसे एकप्रकार की शान्तिका-सुखका वेदन होता है। वह आत्मा में अधिक गहराई तक उतरकर तन्मय हो तो उसे अतीन्द्रिय सुखका वेदन होगा; वही मोक्षसुखका स्वाद है। इस प्रकार विषयोंके बिना अकेले आत्मा से मोक्षसुख का अनुभव होता है। आत्मा व्दारा होनेवाला ऐसा सुख वह नित्य रहनेवाला परमार्थ सुख है। स्वसंवदेन से मुझे ऐसे सुखकी प्रतीति हुई है, और उसकी पूर्ण साधना के लिये सर्व परिग्रह छोड़कर मैं आज वन में जाता हूँ। जिन्हे मोक्षसुख साधने की अभिलाषा हो वे भी मेरे साथ चलो!

वैराग्यवन्त महाराजाकी ऐसी सरस बात सुनकर समस्त सभाजन प्रसन्न हुए; और जब भावी तीर्थंकर उन महाराजा दशरथने जिनदीक्षा हेतु वनगमन किया तब हजारो प्रजाजन भी उनके साथ वन में गये। वहाँ श्री विमल वाहन भगवानके निकट सबने जिनदीक्षा धारण की। पश्चात दशरथ मुनिराज ने रत्नत्रयसहित उत्तम तप किया; उत्तम क्षमादि दसधर्मोंकी आराधना पूर्वक, दर्शनविशुध्दि, पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदि गुणों का भी पालन किया और तीर्थंकर प्रकृति बांधी। अन्त में समाधि मरण करके सर्वार्थ सिध्दिमें देव हुए।

वे महात्मा आत्मज्ञानी थे, मुनिदशा कि वीतरागी शान्ति का उन्होंने अनुभव किया था; इसलिये सर्वार्थ सिध्दि की देवविमान में असंख्य वर्षोंतक रहनेपर भी उनकी चित्तवृत्ति शांत थी; देवियों के बिना भी वे महान सुखी थे। विषयों की वासना अथवा बाह्य विषयों के बिना भी आत्मा स्वयं उकृष्ट सुखरुप परिणमित हो सकता है—यह बात उनको तो 'अनुभव सिध्द' थी, और वह सुख दूसरों को 'अनुमानसिध्द'कराने के लिये वे 'साधन' हो रहे थे। अपने जैसे सर्वार्थ सिध्दिके देवोंसे वे सदा आत्मतत्त्वकी अद्भुत महिमाकी चर्चा और उसका चिन्तन करते थे। आत्मिकसुख से ही सुखी थे। उनका जीवन शुक्ललेश्यायुक्त अत्यन्त शांत था। अनेक असंख्यात वर्षो तक आत्माकी आराधना सहित वे सर्वार्थसिध्दिमें- सिध्दालयके पडोसमें रहे।

भावी तीर्थंकर ऐसे उन महात्माको सर्वार्थसिध्दिमें जब आयुके छहमास शेष रहे तब भरतक्षेत्र की रत्नपुरी नगरीमें एक सुन्दर घटना हुई...उसकी कथा अब सुनो।

## रत्नपुरी में धर्मनाथ तीर्थंकर का अवतार

इस भरत क्षेत्र में अयोध्याके निकट 'रत्नपुरी' नामकी सुन्दर नगरी है। असंख्य वर्षो पूर्व वहाँ के महाराजा भानुसेन (जिनका दूसरा नाम महासेन) और महारानी सुप्रभा (जिनका दूसरा नाम सुव्रता) था। वे भानु और सुप्रभा सम्पूर्ण राजवैभव सहित एवं गुणसम्पन्न होने पर भी एक बात से दुःखी थे... अभी तक उनको पुत्रप्राप्ति नहीं हुई थी। पुत्रके बिना उन्हें राजभोग निरस प्रतीत होते थे। जिस प्रकार सम्यक्त्व रहित ज्ञानवैभव से या तपसामग्री से मुमुक्षु जीवका चित्त सन्तुष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मातृहृदया महादेवीका चित्त महान राजभोग के बीच भी अतृप्त रहता, उन्हें कहीं चैन नही पडता था। भयसे भयभीत मुमुक्षु जिस प्रकार सम्यकदर्शन के लिये लालायित रहता है उसी प्रकार वह महारानी पुत्रप्राप्ति की लालसा रखती थी। दिन प्रतिदिन उसकी लालसा बढ़ती गई, और उसे उदास देखकर महाराजा भानु भी चिंतीत रहने लगे। जिस प्रकार सम्यक्त्व के लिये लालायित सच्चे मुमुक्षु को उसकी प्राप्ति अवश्य होती है, उसी प्रकार महापुण्यवंत महाराजा और महारानी को भी पुत्रप्राप्ति के सम्बन्धमें एक अद्भुत घटना हुई...

एक बार (कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी के दिन) वे राजसभा में बैठे थे। इतने में अचानक वनपाल उत्साह पूर्वक वहाँ आया और महाराजाके चरणो में आम्रफल भेट किये। पके हुए सुन्दर आम्रफल देखकर सभाजन भी आश्चर्यचकित होगये; (क्योंकि अभी आम्रफल पकने का मौसम नहीं था।) फिर मालीने हर्षपूर्वक बधाई दी- हे महाराज! आज अपने उपवनमें मैंने अद्भुत- आश्चर्यकारी दृश्य देखे -(चित्र सामनेवाले पृष्ठपर देखें )

एक सिंह का और एक गायका बच्चा साथ-साथ खेल रहे थे। सिंह और गाय एक साथ तालाब में पानी पी रहे थे; सिंह का बच्चा गाय को अपनी माँ समझकर उसका दूध पी रहा था और गाय का बच्चा निर्भय होकर सिंहनी का दूध पी रहा था; सिंहनी गाय के बच्चे को और गाय उस सिंहनी के बच्चे को दुलार रही थी। अभी मेरा आश्चर्य समाप्त हो इतने में मैंने देखा कि शेर और खरगोश दोनों एक साथ बैठे हैं, इस कार्तिक मासमें भी आम्रवृक्ष अचानक ही फलाच्छादित होकर झुक गये हैं; सचमुच असमयमें ही आम्र पक गये। यह सब आश्चर्यजनक घटनाएँ देखकर मैं विस्मय विमूढ होगया! मैं आसपास खोज कर रहा था तो मैने देखा कि-आकाशमार्ग से एक दिगम्बर मुद्राधारी साधु उपवनमे उतरे और शुध्द-स्वच्छ स्थान में बैठकर आत्मध्यान करने लगे। उनकी शांतमुद्रा अद्भुत है, उनके दर्शनसे अलौकिक शान्तिका अनुभव होता है;- मोर और सर्प, शेर और बन्दर, हाथी और सिंह एक साथ

मुनिराजके निकट बैठकर मानो शान्ति का अनुभव कर रहे है; कोई किसीकी हिंसा नही करता और न किसीको किसीका भय है। हे महाराज! ऐसे ऋध्दिधारी मुनि महाराज का अपनी नगरी मे पदार्पण हुआ उसकी बधाई देने मैं आया हूँ।

टिप्पणी:—यहाँ धर्मनाथ स्वामी के अवतारसे पूर्व पन्द्रह मास पहले रत्नपुरी में ऋध्दिधारी मुनिराजके आगमन की जो सुन्दर घटना आप पढ रहे हैं वह भगवान धर्मनाथ के एक पुराण में से ली है। यद्यापि इस घटना का उल्लेख उत्तर पुराण में नहीं है, क्योंकी उसमें धर्मनाथ प्रभुके अवतारसे पूर्व कुछ काल तक भरत क्षेत्र में जैन धर्म का विच्छेद कहा है। ऐसा होने पर भी मुनिसमागम का यह प्रसंग धार्मिक रोमांच से भरपूर होने के कारण यहाँ लिया है। कथा साहित्य में इस प्रकार की छूट ली जा सकती है।

मुनिराज के आगमन की बधाई सुनते ही रत्नपुरी के महाराजा भानु आनन्दविभोर हो गये कि - अहा, मेरी नगरी में ऐसे मुनि भगवन्त का आगमन!-ऐसे हर्षोल्लास में पुत्र के अभाव की चिन्ता को भूलकर महारानी को साथ लेकर अत्यंत भक्तिपूर्वक उन मुनिराज के दर्शन हेतु तपोवन की ओर चले...लाखो प्रजाजन भी उनके साथ थे...




उपवन के निकट आते ही वहाँ की शोभा देखकर वे मुग्ध हो गये। सर्व ऋतुओं के रंग-बिरंगे पुष्पों एवं फलों की सुन्दरता को देखकर महारानी को ऐसा रोमांच हुआ मानो अब अपने जीवन-उद्यान में भी सुन्दर पुत्ररूपी पुष्प खिल उठेगा! आगे बढ़ने पर ध्यानस्थ 'प्रचेतस' मुनिराज को देखा...,अहा, कैसी तृप्ति! जिनके चरणों की शीतल छाया में हिरन और शेर एकसाथ बैठे हैं और शान्ति से मुनिराज की मुद्रा निहार रहे हैं....नेवला और सर्प एक-दूसरे से सटकर शांति से बैठे हैं-न कोई भय है न वैरभाव!

वनके समस्त वृक्ष उत्तम फल-फूलों से झुक रहे हैं-मानो मुनिराज को वन्दन करके फलों द्वारा पूजा कर रहे हों! मुनिराज तो अपने परमतत्त्व के अवलोकन में तल्लीन हैं, मानो सिद्ध लोक से आकर सिद्ध भगवान ही विराजमान हों!-ऐसे आनन्द का अनुवभव वे कर रहे हैं। अहा, ऐसे साधु-संतका साक्षात् योग मुमुक्षु को इन्द्रपद की अपेक्षा विशेष हर्ष देनेवाला हैं।

रत्नपुरी के राजा-रानी के हर्ष की कोई सीमा नहीं थी। कुछ देर तो मुग्ध होकर वे मुनिराज को देखते ही रहे...मानो मोक्ष का अमृत पी रहे हों!-इस प्रकार वे समस्त संसार दुःख को भूल गये थे। मुनिराज का ध्यानयोग पूर्ण होने पर उन्होंने नेत्र खोले; उन नेत्रों से धर्म का अमृत झर रहा था। राजा-रानीने नमस्कार किया और मुनिराजने उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। रानी सुप्रभा का हृदय आज किसी कल्पनातीत प्रसन्नता का अनुभव कर रहा था, उनके आत्मा में धर्म की एक नई झंकार हो रही थी।

भानुराजाने विनयपूर्वक हाथ जोड़कर मुनिराज की स्तुति की-हे प्रभो! आज अचानक आपके दर्शनों से हमें महान कल्याण की प्राप्ति हुई, हमारे पाप धुल गये; आप आकाशमार्ग से यहाँ पधारे वह हमारे किसी महाभाग का संकेत है। आपके दर्शन से हो रहा परम हर्ष हमारे अंतर में नहीं समाता, और आपके श्रीमुख से धर्मकथा सुनने की उत्कण्ठा जागृत हुई है।

मुनिराज ने कहा-हे भव्य! तुम दोनों जीव मोक्षगामी हो। संसार के चाहे जैसे पुण्यसंयोग भी जीवको तृप्ति नहीं दे सकते; जीवको तृप्ति दे ऐसा स्वभाव आत्मामें है; निजस्वभाव में सुखका जो भण्डार है उसे देखते ही अपूर्व सुखानुभव और तृप्ति होती है; उस सुखके लिये किसी बाह्यसामग्री की अपेक्षा नहीं होती। राजवैभवादि चाहे जितने होने पर भी जीव मानसिक चिन्ताओं से दुःखी रहता है। देखो, तुम्हें स्वयं ही अनुभव है कि अपार बाह्य पुण्यसामग्री होने पर भी तुम मानसिक चिन्ता से कितने दुःखी हो!!

राजा को लगा जैसे मुनिराज उनके मन की बात समझ गये हों! इसलिये उन्होंने अपना हृदय खोलकर कहा-हे स्वामी! आपकी बात सत्य है; सर्व प्रकार का राजवैभव होने पर भी हम पुत्र के बिना बहुत दुःखी हैं; पुत्रकी चिन्ता के कारण धर्मकी साधना में भी हमारा चित्त नहीं लगता; तो हे स्वामी! हमारी पुत्रसम्बधी चिन्ता कब दूर होगी?

श्री मुनिराज बोले-हे राजन्! हे सुप्रभा माता! सुनो! तुम कोई सामान्य मनुष्य नहीं हो, तुम्हारे महान पुण्यका उदय आजसे ही प्रारम्भ होता है। तुम्हारी पुत्रेच्छा शीघ्र पूर्ण होगी,-इतना ही नहीं, तुम्हारा होनहार पुत्र तीन लोक को आनन्दित करेगा। आजसे ठीक छह मास पश्चात् महारानी के गर्भ में एक भव्य जीव आयगा, और वह भरतक्षेत्र में पन्द्रहवाँ तीर्थंकर होकर जगत का कल्याण करेगा। जगत के गुरु ऐसे तीर्थंकर के माता-पिता होने से तुम भी जगतपूज्य बनोगे।

वाह! हमारे यहाँ पुत्र होगा और वह भी तीर्थंकर! -यह बात मुनिराजके श्रीमुखसे सुनकर दोनों के हर्षका पार नहीं रहा। पन्द्रह मास पश्चात् अपनी रत्नपुरी में तीर्थंकर का अवतार होगा-यह जानकर समस्त प्रजाजन भी आनन्दित हो गये और सर्वत्र महान धर्मोत्सव का वातावरण छा गया। पुत्र के बिना दुःखी महारानी को एक साथ दो उत्तम पुत्रों की प्राप्ति हुई-एक तो सिद्धसुख का दाता ऐसा सम्यक्त्व-पुत्र उनके आत्मा में प्रगट हुआ, और दूसरा त्रैलोक्यपूज्य तीर्थंकर समान पुत्र की निकट भविष्य में प्राप्ति होगी! अहा, उनके हर्ष का क्या कहना! और यह हर्ष से भी जो राग बिना अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव हुआ उनका तो क्या कहना! उन्हें प्रतीति हो गई कि संसार में पुत्रसुख की अपेक्षा (भले ही

वह पुत्र तीर्थंकर होनेवाला हो) सम्यक्त्व का सुख महान है और वही सच्चा सुख है। ऐसे अतीन्द्रिय सुख के विश्वास पूर्वक उसी क्षण उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। स्त्री पर्याय में जन्म लिया तब तो वे मिथ्यादृष्टि थीं; परन्तु आज तीर्थंकर की माता बनने की विशिष्ट पात्रता होनेसे वे सम्यक्त्व प्राप्त करके पवित्र हुईं। तीर्थंकर समान धर्मरत्न जिस पात्र में रखा हो, वह तो सम्यक्त्व से पवित्र होगा ही न! उनका आत्मा और शरीर दोनों पवित्र थे, अशुचिरहित थे।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि माता और उसकी कोख में सम्यग्दृष्टि पुत्र का अवतरण,-यह जानकर धर्मात्मा भानुराजा को महान प्रसन्नता हुई; साथ ही उन्हें एक जिज्ञासा जागृत हुई, इसलिये मुनिराज से पूछा-हे स्वामी! हमारे घरमें तीर्थंकररूप से अवतरित होनेवाला वह जीव वर्तमान में कहाँ विराजमान है? और पूर्वभव में उसने ऐसी कोनसी साधना की, जिससे वह तीर्थंकर होगा? -कृपा करके अपने दिव्य ज्ञान से जानकर हमें बतलायें।

श्री मुनिराज ऐसे तो अवधिज्ञान का उपयोग जहाँ-तहाँ नहीं ले जाते; परन्तु विशिष्ट प्रयोजन समझकर एक तीर्थंकर आत्मा के पूर्वभव जानने के लिये उन्होंने क्षणभर अवधिज्ञान का उपयोग लगाया, और प्रसन्नतापूर्वक कहा: हे राजन्; सुनो! वे होनेवाले तीर्थंकर वर्तमान में 'सर्वार्थसिद्धि' स्वर्गलोक में विराजते हैं, और वहाँ उनकी छह मास आयु शेष है। छह मास पूर्ण होने पर वे वहाँ से चयकर रत्नपुरी में तुम्हारे यहाँ अवतरित होंगे। तुम शीघ्र ही अनेक आश्चर्यजनक चिह्न देखोगे।

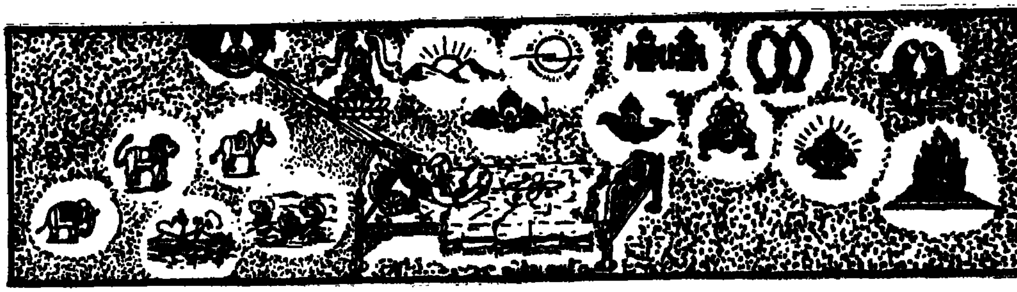
राजा-रानी तथा लाखों प्रजाजन अति हर्षपूर्वक मुनिराज के श्रीमुख से धर्मनाथ तीर्थंकर की आनन्दकारी कथा सुन रहे हैं। मुनिराज ने कहा: हे राजन्! इससे पूर्व भवमें वे भव्यात्मा विदेहक्षेत्र की सुसीमा नगरी में दशरथ नाम के राजा थे। एक दिन चैत्रशुक्ला पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण देखकर वे संसार से विरक्त हुए और दीक्षा लेकर दर्शनविशुद्धि आदि १६ उत्तम भावनाओंपूर्वक तीर्थंकरनामकर्मरूप सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति का बंध किया। अब वे तुम्हारे पुत्ररूप में अवतरित होकर भरतक्षेत्र के पन्द्रहवें तीर्थंकर होंगे और जैनधर्म का महान उद्योत करेंगे।

इस प्रकार प्रचेतस मुनिराज के श्रीमुख से अपनी नगरी में अवतरित होनेवाले धर्मनाथ तीर्थंकर के तीन भव की कथा सुनकर रत्नपुरी के प्रजाजनों में सर्वत्र आनन्द व्याप्त हो गया। राजा-रानी मुनिराजके धर्मोपदेश से तथा पुत्रप्राप्ति के समाचारों से तृप्त होकर नगर में लौटे। रत्नपुरी नगरी में तीर्थंकर का अवतार हो गया हो -इस प्रकार सर्वत्र आनन्द छा गया और उत्सव होने लगे।-वह दिन था कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी का।

महाराजा भानु और महारानी सुप्रभा हाथी पर बैठकर अभी तो राजमहल के मुख्य द्वार में प्रवेश कर रहे थे कि उन्होंने आश्चर्यजनक घटना देखी-आकाश में से दिव्य रुप धारी देवियाँ उतर रही हैं और चारों और रत्नों की वर्षा हो रही है! रत्नपुरी की शोभा में अचानक वृद्धि हो गई है! कभी नहीं देखे अनुपम दृश्य देखकर प्रजा के हर्ष का पार नहीं था। उन देवियों ने राज महल में प्रवेश किया और राजा-रानी को वन्दन कर कहने लगीं-हे देव! हे माता! आप धन्य हैं! आप तो जगत के माता-पिता हो। छह मास पश्चात् आपके यहाँ तीर्थंकर का आगमन होना है, इसलिये इन्द्र महाराजने हमें आपकी सेवामें भेजा है। हम दिक्कुमारी देवियाँ हैं, और तीर्थंकर की माता एवं बालतीर्थंकर की सेवा करने का महान लाभ हमें प्राप्त होता है-जिसके प्रताप से हम भी मोक्षगामी हैं। रत्नपुरी में प्रारम्भ होनेवाली यह रत्नवृष्टि भी आपके घर में तीर्थंकर के आगमन की पूर्वसूचना है; यह रत्नवृष्टि पन्द्रह मास तक होती रहेगी!

महाराजा भानु और महादेवी सुप्रभा यह सब सुनकर तथा दृश्य देखकर परमतृप्त हुए! एक तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और पश्चात् तीर्थंकर के कल्याणकों की प्राप्ति का सुअवसर! सोने में सुगन्ध! इससे अच्छा और क्या होगा?

## भगवान धर्मनाथ : पंचकल्याणक

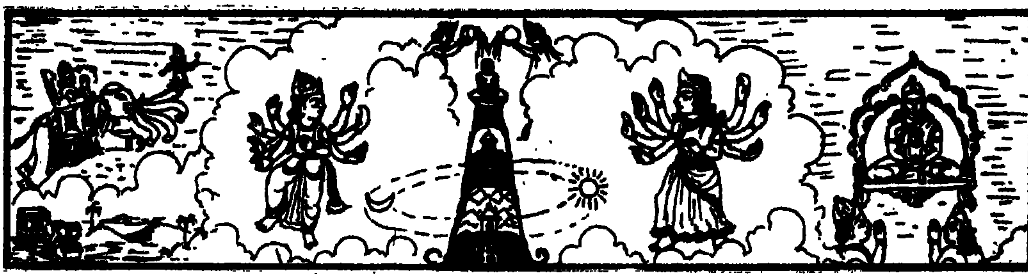


उपरोक्त घटना को छह मास बीत गये...इतने में वैशाख शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि को एक उत्तम घटना हुई। महादेवी सुप्रभा मीठी नींद में सो रही थीं कि उन्हें-दिव्य हाथी, सिंह, वृषभ, लक्ष्मी, पुष्पमालाएँ, मंगल घट, किल्लोल करती मछलियाँ, चन्द्र, सूर्य, सरोवर, देवविमान, नागभवन, सिंहासन, रत्नराशि एवं निर्धूम अग्नि-ऐसे सोलह मंगलस्वप्न दिखायी दिये; वे आनन्दविभोर हो गईं। अन्त में ऐसा लगा जैसे एक हाथी उनके मुखमें प्रवेश कर रहा हो! ठीक उसी क्षण सर्वार्थसिद्धि विमान में आयु पूर्ण करके तीर्थंकर के जीव ने उनके उदर में प्रवेश किया। स्वर्गलोक के वैभव से असंतुष्ट वे धर्मात्मा मोक्ष की साधना के लिये मनुष्य लोक में अवतरित हुए। 'धर्म' का अवतार हुआ। उसी समय पन्द्रहवें तीर्थंकर के गर्भकल्याणक का महोत्सव मनाने हेतु देव-देवेन्द्र आ पहुँचे। उत्तम वस्त्रालंकारों की भेट द्वारा माता-पिता का सन्मान करके उन्हें 'जगतमाता' एवं 'जगत-पिता' कहकर बहुमान किया। रत्नपुरी की शोभा दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी, प्रजाजनों में धर्मभावना जागृत हुई; माता सुप्रभा के विचारों में भी उच्च परिवर्तन हुआ। उन्हें ऐसी इच्छा हुई कि राज्य के कारागार में तथा पिंजरों में बन्द समस्त मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों को बंधन से मुक्त किया जाय! उनकी कोख में मुक्त होनेवाला जीव पल रहा था, इसलिये उन्हें इच्छा भी वैसी उत्पन्न हुई कि-सर्व जीवों को मुक्ति मिले! भगवान धर्मनाथ भी अवतार लेकर जीवों को मुक्ति का मार्ग बतलाकर बंधन से मुक्त करानेवाले हैं।

आश्चर्य है कि नौ महिने गर्भ में रहने पर भी उन बाल तीर्थंकर का शरीर अशुचिमय -मैला नहीं हुआ था। तीन ज्ञानधारी उन महात्मा का शरीर गर्भ में भी पवित्र था। देवियाँ गर्भ में भी उनकी सेवा करती थीं। उन पुत्र को गर्भावस्था के कोई दुःख नहीं सहना पड़ते थे; इतना ही नहीं, उनकी माता को भी कोई कष्ट नहीं होता था। देवियाँ चर्चा, विनोद, नाटक, संगीत आदि द्वारा सर्व प्रकार से उन्हें प्रसन्न रखती थीं। आकाश से प्रतिदिन करोड़ो रत्नों की वर्षा होती थी।

माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन...अचानक १४ ब्रह्माण्ड में हर्ष छा गया...स्वर्ग के वाद्य अपने आप बज उठे...माता सुप्रभाने धर्मपुत्र को अवतार देकर तीनों लोक को प्रकाशित कर दिया। अभी रत्नपुरी मे राजा-प्रजा को उसकी बधाई मिले उससे पूर्व ही तीर्थंकर के अवतार स्वर्गलोक में तथा नरक में भी पहुँच गया। नरक में कभी नहीं देखी गई शान्ति का अनुभव करके नारकी जीव भी दो क्षण

चकित हो गये...और तीर्थंकर के अवतार का प्रभाव जानकर कितने ही जीवों ने सम्यक्त्व प्राप्त किया। सिंह, शशक, हाथी, बन्दर आदि तिर्यंचों के समूह आश्चर्यचकित होकर राजमहल की ओर आने लगे। स्वर्गलोक के देवेन्द्रों ने तीर्थंकर के जन्म की खबर पड़ते ही सिंहासन से उतरकर नमस्कार किया और भक्तिपूर्वक बाल तीर्थंकर के दर्शन करने रत्नपुरी में आ पहुँचे।



पश्चात् बाल प्रभु को सौ सूँढ़वाले ऐरावत हाथीपर विराजमान करके विदेहक्षेत्र के मध्य मेरु पर्वत पर ले गये...'अहा! सर्व तीर्थंकरों को मैं अपने सिरपर धारण करता हूँ'-ऐसे महान गौरवपूर्वक वह मेरुपर्वत अपना मुँह एक लाख योजन (६४ करोड़ किलोमीटर) ऊँचा करके ठेठ सौधर्म स्वर्ग तक पहुँच गया। ऐसे उन्नत मेरुपर्वतपर उससे भी महान तीर्थंकर का जन्माभिषेक करके इन्द्रने आनन्दकारी ताण्डवनृत्य किया, और पश्चात् स्तुति करके प्रभुका नाम 'धर्मकुमार' रखा। उनके चरण में वज्र का चिह्न था। वह वज्र मात्र उनके चरणों में ही था-हृदय में नहीं था, हृदय तो फूल-सा कोमल था। प्रभुके जन्माभिषेक से मेरुपर्वत की शोभा इतनी अद्भुत हो गई थी जिसे देखकर देवों को भी शंका उत्पन्न होती थी कि-पहले हमने जो मेरुपर्वत देखा था वह यही है या कोई दूसरा नवीन मेरु प्रगट हुआ है! सचमुच, तीर्थंकर के सान्निध्य का प्रभाव कोई आश्चर्यजनक है। इन्द्र तो प्रभु को सम्बोधन कर कहता है-हे देव! स्वर्ग के देव कोई इष्ट देव नहीं हैं; आप ही इष्ट देव हैं। आप मनुष्य हो-ऐसा मानकर यदि स्वर्गका कोइ देव आपका अनादर करे तो वह अद्वितीय मूर्ख है, उस जैसा मूर्ख कौन होगा? हे धर्म प्रभो! आपके धर्मका स्वीकार करते ही स्वर्ग तो एकदम निकट आ जाता है; और आपके धर्मपर जो आरोहण करता है वह तो भवाटवी को पार करके मोक्षपुरी में पहुँच जाता है। हे प्रभो! जिसने आपके वचनों का आस्वादन किया उसे अमृत का क्या काम है? जिसने आपकी प्रार्थना की उसे अब कल्पवृक्ष से क्या माँगना है? जिसने हृदय में आपका चिन्तन किया वह अब चिन्तामणि से क्या याचना करेगा? जिसने आपका कहा हुआ अनेकान्तमय तत्त्वज्ञान प्रगट किया उसे अब अज्ञान-अंधकार दूर करने के लिये चन्द्र-सूर्य की क्या आवश्यकता है? और हे देव! आपके द्वारा कथित स्वानुभूति का सुख जिसने प्राप्त कर लिया उसे सुख के लिये अब विषयों का क्या काम है? प्रभो! आप ही हमें धर्म के दाता तथा धर्म के रक्षक हो; इसलिये आप सचमुच धर्मनाथ है। इस प्रकार 'धर्मनाथ' नामसे सम्बोधन करके इन्द्रने बालतीर्थंकर की स्तुति की।

इस प्रकार आनन्दपूर्वक मेरु पर अभिषेक और स्तुति करने के पश्चात् जिनेन्द्रप्रभु की शोभायात्रासहित इन्द्र रत्नपुरी में लौटा; वहाँ माता-पिता एवं प्रजाजनों के समक्ष पुनः बालतीर्थंकर के जन्म का भव्य महोत्सव मनाया और आनन्दकारी अद्भुत नाटक का प्रदर्शन किया। साथ ही ताण्डव नृत्य भी किया। अहा, इन्द्र-इन्द्रानी स्वयं आकर जिस नगरी में नाचते हों उसके महाभाग्य का क्या

कहना!!

धर्मनाथ का अवतार होने से रत्नपुरी के हर्ष का कोई पार नहीं है; आज वह इन्द्रपुरी की अपेक्षा विशेष गौरव का अनुभव कर रही है! इन्द्रपुरी के इन्द्र भी जिनके चरणों में झुक रहे हैं ऐसे तीर्थंकर देव का अवतार आज हमारे आँगन में हुआ है और वे बाल-तीर्थंकर लाखों वर्षतक हमारी नगरी में रहेंगे, लाखों वर्ष तक हम उनके साथ रहकर उन बाल-तीर्थंकर को हँसते-खेलते-बोलते प्रत्यक्ष देखेंगे।-इस प्रकार रत्नपुरी के प्रजाजनों को हर्ष का पार नहीं था। जबकि उन अवधिज्ञानी एवं आत्मज्ञानी बालतीर्थंकर की ज्ञान चेतना तो हर्ष से पार तथा पुण्ययोग से भी अलिप्त वर्तती थी। धन्य थी उन धर्म कुमार की धर्मचेतना! उनका अवतार होते ही देश के प्रजाजन निरोग हो गये थे। इतना ही नहीं, अब वे तीर्थंकर होकर भव्य जीवों के भवरोग को भी दूर करेंगे। अहा, तीर्थंकर का अवतार जगत में किसे सुख का निमित्त नहीं होता? सचमुच तीर्थंकर का जन्म त्रिलोक आनन्दकारी है; उस समय सर्व जीव वैरभाव छोड़कर एक-दूसरे के मित्र बन गये थे। तीर्थंकर रुपी धर्मरत्न के समागम से उन नगरी का 'रत्नपुरी' नाम वास्तव में सार्थक हो गया था। उनके प्रताप से नगरी में चारों ओर रत्न बिखरे पड़े थे, तथापि सब लोगों का चित्त उन जड़रत्नों में नहीं किन्तु चेतनवन्त 'धर्मरत्न' में ही लगा हुआ था। इन्द्र तो एकसाथ हजार नेत्र बनाकर प्रभु को निरखता हुआ आनन्द से नाच उठता था। बालतीर्थंकर धर्मनाथ को देख-देखकर सर्व जीव परमतृप्ति का अनुभव कर रहे थे।

कविगण 'भगवान का मुख चन्द्र जैसा है'-ऐसा अभी तक कहते थे जब तक उन्होंने भगवान के श्रीमुख की शोभा अपनी आँखों से नहीं देखी थी। प्रभु के दिव्य मुख को साक्षात् देखने के पश्चात् तो उसे चन्द्र की उपमा देते हुए संकोच होता था। जैसे-दिव्य देवलोक के वैभव तभी तक सुखकारी या आश्चर्यकारी लगते हैं जब तक चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का साक्षात्कार नहीं हुआ है। चैतन्यसुख का रसास्वादन करने के पश्चात् वे विषयसुख चैतन्य सुख से विपरीत भासित होते हैं।



प्रभुका मुख कहीं चन्द्र जैसा तेजस्वी नहीं, किन्तु उससे भी अधिक तेजस्वी-आभावान था। उनकी आँख कहीं हिरन जैसी नहीं किन्तु उससे भी अधिक सुन्दर थी, मानो उसमें शांत रसका सरोवर भरा हो! उनकी नाक कहीं तोते की नाक जैसी टेढ़ी नहीं थी, उससे अतिसुन्दर थी; उनके हाथ कहीं हाथी की सूंढ़ जैसे नहीं थे, उससे अति बलवान थे। उनका कण्ठ कहीं कोयल जैसा नहीं था, किन्तु उससे अति मधुर था...मोर भी उनकी ध्वनि सुनकर नाच उठते थे!-इस प्रकार भगवान के बाह्य शरीर-अवयवों को भी अन्य अवयवों की उपमा लागू नहीं होती थी तो उनके अंतरंग अनुपम आत्मिक गुणों का तो क्या कहना?

धर्मकुमार धीरे-धीरे बड़े होने लगे। नन्हें से पुत्र को सुप्रभा माता जब गोद में लेतीं तब उनके स्पर्श-सुख की तृप्ति से क्षणभर उनके नेत्र मुँद जाते! और कभी-कभी तो उन बालतीर्थंकर के स्पर्शसुख के साथ अंतरमें चैतन्य स्पर्श के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद भी ले लेती थीं; नन्हा

धर्मकुमार भी आनन्दित होकर माता के हाथ का चुम्बन कर लेता और हँस-हँसकर उन्हें अनुपम-सुख देता था। माता भी पुत्रको चूम-चूम कर वात्सल्य का स्रोत बहाती थीं। वे बाल-तीर्थंकर मात्र माता की आँखो के नहीं किन्तु समस्त नगरजों के भी ध्रुवतारे थे। नगरजनों की दृष्टि उनपर केन्द्रित थी। जिस प्रकार समुद्र के बीच ध्रुवतारा मार्गदर्शक होता है, उसी प्रकार संसार समुद्र के बीच बालतीर्थंकर का जीवन ध्रुवतारे की भाँति मोक्षका मार्ग प्रदर्शित करता था। प्रतिदिन प्रात:काल वे राजमहल के झरोखें में आते और लाखों प्रजाजन उनके दर्शन करके अपने जीवन में धर्म की प्रेरणा प्राप्त करते। उन द्रव्य तीर्थंकर के दर्शन भी मंगलकारी थे...क्योंकि वह आत्मा त्रिकाल मंगल था:

**'बेटा, जन्म तुम्हारा रे...जगत को मंगलकारी है।'**

धर्म कुमार को पूर्वभव से ही आत्मज्ञान था, अवधिज्ञान था; उनकी बुद्धि सर्व विषयों में पारंगत थी; अब उन्हें कौनसी विद्या पढ़ना बाकी थी जो दूसरे गुरु उन्हें पढ़ाते? हाँ एक कैवल्यविद्या अधूरी थी, परन्तु उसके लिये तो स्वयं ही अपने गुरु-स्वयंबुद्ध थे। जगत्गुरु होने के लिये उनका अवतार था, इस भव में उन्हें किसी का शिष्यत्व करना पड़े ऐसा नहीं था।



धर्म कुमार अपनी समान आयु के बालकों के साथ जब खेलते-क्रीड़ा करते तब उनकी आनन्दमय चेष्टाएँ देखकर मोर भी हर्षित हो, पंख फैलाकर नाच उठते; हिरन और खरगोश भी निर्भयता से निकट आकर उछलकूद करने लगते; हाथी का बच्चा उन बालकुँवर को अपनी सूँढ़ से उठाकर मस्तक पर बैठाता और सूँढ़ में झुलाता था। यह देखकर वृक्षों पर बैठे हुए बन्दर चिल्ला-चिल्लाकर आनन्द से कूदते थे। नन्हीं सी देवियाँ उन्हें टिंगाटोली करके हाथों में झुलाती और इस बहाने बालप्रभु का स्पर्श पाकर किसी अनुपम रोमांच का अनुभव करती थीं।

धीरे-धीरे धर्म कुमार ने यौवनावस्था में प्रवेश किया। चोर की भाँति कामने भी उनके शरीर में किंचित् प्रवेश कर लिया; यद्यपि उनकी चेतना जागृत थी इसलिये वह कामचोर उनके सम्यक्त्वादि गुणों को लूट नहीं सकता था, तथापि उसने अपना किंचित् कार्य तो किया। एक बार विदर्भ देश के राजा की ओर से दूत आया और अपनी पुत्री का विवाह राजकुमार धर्मनाथ के साथ करने का आमंत्रण लेकर आया। महाराजा भानुने वह आमंत्रण स्वीकार कर लिया और यथा समय धामधूमसे बारात लेकर दूल्हा धर्मकुमार विवाह के लिये चले। उनका वैभव अद्भुत था। कितने ही देवमित्र भी साथ रहकर उनकी सेवा करते थे। विदर्भ की ओर जाते समय बीच में गंगानदी आयी, परन्तु सेवक-देवों ने क्षण में ऐसे

दैवी सेतु की रचना कर दी कि किसी प्रकार की असुविधा के बिना धर्मकुमार का हाथी और सेनासहित सारी बारात गंगा के उस पार पहुँच गई। पश्चात् आगे चलने पर मार्ग में रमणीय विंध्याचल पर्वत और सुन्दरी-नर्मदा नदी आयी; वहाँ के अधिपतिने दूल्हाराजा धर्मकुमार से प्रार्थना की कि यहाँ विश्राम करके हमें पावन करें। तीर्थंकर होने के पश्चात् तो प्रभु विहार करेंगे, परन्तु उससे पूर्व धर्मराजकुमार पृथ्वीपर विहार करते-करते हमारी नगरी में पधारे और साक्षात् दर्शन देकर हमें पावन किया-इस प्रकार सर्वत्र अति प्रसन्नता से हर्षविभोर होकर प्रजाजन उनका स्वागत-सत्कार करते थे। उनके वैभव की दिव्य शोभा देखकर लोग चकित हो जाते थे। सामान्य लोगों के लिये तो यह एक आश्चर्य की बात थी कि-अरे! मुक्तिसुन्दरी का वरण करने के लिये अवतरित यह धर्मराजा एक राजकन्या का वरण करने जा रहे है!! परन्तु उन्हें भगवान के हृदय का कहाँ पता था? इसलिये राजकुमार धर्मनाथ जब विवाह के लिये बारात लेकर जाने को तैयार हुए तब किसी सखीने ईर्षावश मुक्ति सुन्दरी से कहा कि -तुम्हारे पति तो दूसरी स्त्री से विवाह करने जा रहे हैं! यह सुनकर मुक्तिसुन्दरी को किंचित् भी आघात नहीं लगा, उसने नि:शंक होकर उत्तर दिया: हे सखी! मैं अपने स्वामी के हृदय को जानती हूँ...मैंने तो पहले से ही निश्चय कर लिया है कि विवाह करूँगी तो इन परमात्मा से ही करूँगी; और उन्होंने भी पूर्व के तीसरे भवमें ही मुझसे विवाह करने का वचन दिया है...तीर्थंकर प्रकृति उसकी साक्षी है। वर्तमान में भले ही वे पुण्ययोग से किसी अन्य स्त्रीसे विवाह कर लें, परन्तु उनके हृदय में तो मेरा एकका ही स्थान है, अन्य किसी का नहीं। और अभी वे महान 'परमात्मा' नहीं हुए हैं, यह तो उनके बचपन का खेल है; जब वे बड़े परमात्मा होंगे तब मेरे सिवा किसी के साथ परिणति नहीं जोड़ेंगे। -इस प्रकार मुक्तिसुन्दरी ने भगवान के अंतरंग जीवन की अद्भुत बात समझायी और इस प्रकार उदयभाव तथा धर्मभावों की भिन्नता भी बतलायी। वास्तव में विवाह के समय भी महाराजा धर्मनाथ अपनी मुक्तिसाधक चेतना को नहीं भूले थे, वह तो उनके हृदय में तन्मयरुप से विद्यमान ही थी। साधक की लीलाएँ अलौकिक होती हैं; उनमें एकसाथ दो-दो भाव क्रीड़ा करते हैं; उन दो भावों की भिन्नता कोई विरले ही जान सकते हैं।

चलते-चलते विदर्भ देश में पहुँचे। वहाँ के महाराजा ने अतिभव्य स्वागत किया-अहा, एक भावी तीर्थंकर हमारे आँगन में पधारे हैं! और ऐसे उत्कृष्ट पुण्यात्मा के समागम से राजकुमारी शृंगारवती ने अपना परम सौभाग्य माना। विवाह करके कुछ दिन वहाँ रहे। इतने में रत्नपुरी से महाराजा भानुने उन्हें बुलाने के लिये विशेष दूत भेजा, और दैवी-विमान में बैठकर युवराज धर्मकुमार अपनी रानी सहित रत्नपुरी पहुँचे। माता-पिताने परम हर्षपूर्वक उन्हें आशीर्वाद दिया। योग्य समयपर धर्मनाथ की रानी शृंगारवती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया; जिसका नाम रखा गया 'सुधर्मकुमार'।

महाराजा धर्मकुमार की आयु दस लाख वर्ष की थी; दो लाख पचास हजार वर्ष की आयु में रत्नपुरी के राजसिंहासनपर उनका राज्याभिषेक हुआ। पाँच लाख वर्ष तक धर्म की प्रधानता सहित भली भाँति राज्य का संचालन किया। समस्त राजा उनका सन्मान करके उत्तम भेट देते थे; उन्हें कहीं युद्ध नहीं करना पड़ा, शान्ति पूर्वक राज्य किया। उनकी छत्रछाया में प्रजाजन सर्व प्रकार से सुखी थे। वह प्रजा प्रशंसनीय है जो अपने चित्त में सदा जिनेन्द्र का चिन्तवन करती है; जबकि यहाँ: तो स्वयं जिनेन्द्र ही सदा प्रजाहित का चिन्तवन करते थे...तो उस रत्नपुरी की प्रजा के पुण्य का क्या कहना!! उनके देश में कहीं दुर्भिक्ष, चोरी-डकैती या महामारी नहीं थी। जिनके जन्म से पूर्व आकाश से रत्नों की वर्षा हुई, तो उनके शासनकाल में उत्तम जलवृष्टि हो उसमें क्या आश्चर्य! इससे प्रजाजन सदा नये-नये मंगल-उत्सव करते थे। राज्य की सम्पत्ति के लिये प्रजा के उपर किसी करका भार नहीं डाला जाता

था। प्रजाजन स्वेच्छा से उत्तम वस्तुएँ ला-लाकर राज्यभण्डार छलका देते थे तथा राज्य का भंडार भी प्रजाजनों के लिये सदा खुला रहता था। प्रभु धर्मनाथ का राज्य वास्तव में धर्मराज्य था; उनके राज्य में मात्र रत्नपुरी में नहीं, समस्त भरतक्षेत्र में जैनधर्म को पुनर्जीवन मिला था और जैनधर्म की समृद्धि दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी।

धर्मकुमार को राजभोग दशामें आयु के सात लाख पचास हजार वर्ष बीत गये...एक बार माघशुक्ला त्रयोदशी को उनके जन्मदिन का भव्य उत्सव मनाने की तैयारियाँ चल रही थीं...देवों ने आकर रत्नपुरी का अद्भुत श्रृंगार किया था। रात्रि को चन्द्रमा के प्रकाश में महल की छत से रत्नपुरी की अनुपम शोभा निहारते हुए अपने जीवन का विचार कर रहे थे...इतने में अचानक खर...खर...खर की ध्वनि के साथ एक चमत्कार हुआ...क्या हुआ? उल्कापात हुआ...विशाल तारा प्रकाश की तेज



रेखा खींचता हुआ खिर गया! तुरन्त ही महाराज के चित्त में भी वैराग्य की बिजली कौंध गई, दिव्य चेतना का चमत्कार हुआ। उनका आत्मा पुकार उठा-अरे, अपने शुद्ध आत्मा को जानकर भी अब उसे इस संसार के कारागृह में पड़ा हुआ कैसे देखा जा सकता है? अब मैं अपने आत्मा को संसाररूपी कारागृह से शीघ्र ही छुड़ाऊँगा। मेरा आत्मा भवभ्रमण कर-करके बहुत थक गया है, अब एक भी भव में भ्रमण करना सहन नहीं कर सकता; अब तो बस, इस भवचक्रका अंत करके, मोक्षपुरी में जाकर सदाकाल-शाश्वत सिद्धसुखमें रहना है; उस सिद्धपदकी साधना पूर्ण करने हेतु मैं मुनिदशा अंगीकार करूँगा। यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति होने से इसी भव में मोक्ष निश्चित् है, किन्तु उससे क्या? शुद्धोपयोगी होकर स्वरूप में लीन होऊँगा तब केवलज्ञान होगा; कहीं तीर्थंकर प्रकृति मुझे केवलज्ञान नहीं देगी। अस्तु, कषाय है तभी तक (आठवें गुणस्थान तक ही) वह बँधेगी, और मुझे केवलज्ञान होने तक तो वह तीर्थंकर प्रकृति छूटकर मेरे आत्मा में से भागने लगेगी। उसका और मेरा क्या सम्बन्ध? मेरा केवलज्ञान तो मेरा क्षायिकस्वभाव है, और तीर्थंकर प्रकृति तो विभावकृत है वह जड़ है, मैं चेतन हूँ! हम में अत्यन्त भिन्नता है। देखा तो सही, भेदज्ञानी प्रभुका वीतरागी चिन्तन! -ऐसा वैराग्यचिन्तन करते-करते प्रभु को जातिस्मरण ज्ञान हुआ-पूर्वभव में आकाश में चन्द्रग्रहण देखकर वैराग्य हुआ था और इस भव में आकाश से खिरते हुए तारे को देखकर वैराग्य हुआ।

इस प्रकार जन्मदिन के उत्सव के समय वैराग्य प्राप्त करके धर्मनाथ प्रभु दीक्षा लेने को तैयार हुए; राजमहल से तपोवन में जाने को और रागी से वीतरागी होने को तत्पर हुए; प्रभुने जिनदीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया कि तुरन्त पंचम स्वर्ग से लौकान्तिक देवों ने आकर स्तुति करते हुए कहा: हे देव! आप साक्षात् धर्म हैं, आप दीक्षा हेतु जो वैराग्यचिन्तन कर रहे हैं, वह मात्र आपको ही नहीं किन्तु जगत के भव्य जीवों को भी कल्याणकारी है। अहा, वैराग्यमय दीक्षा का यह अवसर धन्य है! आपकी जिनदीक्षा वह मोहशत्रु का सर्वनाश करने के लिये अमोघ कृपाण है। आपकी यह दीक्षा आपको तथा जगत को रत्नत्रय-निधान प्राप्त करायगी; हम भी उस धन्य अवसर की भावना भाते हैं और आपका अनुमोदन करते हैं। इस प्रकार स्तुति करके वे देव ब्रह्मस्वर्ग में चले गये। उसी समय इन्द्र महाराज धर्मनाथ भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाने के लिये 'नागदत्ता' नामकी दिव्य पालकी लेकर आ पहुँचे। जन्म कल्याणक की भाँति दीक्षा के समय भी इन्द्रने प्रभुका अभिषेक किया, किन्तु ताण्डवनृत्य नहीं किया, क्योंकि प्रभुके वैराग्य-समुद्र में उसका चित्त भी वैराग्य से भीग गया था। यद्यपि देवों ने दिव्यवाद्य बजाये, परन्तु उनमें से हर्ष की ध्वनि के बदले शान्ति के प्रशांत स्वर निकल रहे थे। प्रभु ने सर्व जीवों के प्रति प्रशांत रस झरती हुई अमृतदृष्टि से देखा, सर्वत्र रागद्वेषका शमन करके समभाव धारण किया; प्रभुकी परम शांतदृष्टि को लोग स्तब्ध होकर देख रहे थे। उनसे क्या कहा जाय...उसकी किसी को कोई सूझ नहीं पड़ती थी। "अब हमें छोड़कर भगवान अपने जीवन का एक अति उत्तम कार्य कर रहे हैं, और कुछ ही काल में वे परमात्मा होकर रत्नपुरी में पधारेंगे!" ऐसी महान भावनापूर्वक सब लोग अब क्या होता है वह कौतूहल से देख रहे थे। जिनदीक्षा का यह प्रसंग उनके लिये बिलकुल नवीन था; वैराग्य के नये-नये दृश्य देखकर उन्हें आश्चर्य तथा आनन्द भी होता था-अहा, ऐसे महान वैभवशाली महाराजा यह सब छोड़कर तपोवन में आत्मा की साधना के लिये जा रहे हैं! धन्य है उनकी शुरवीरता को! धन्य है उनके वैराग्य को!!



इधर संसार की अनित्यता आदि बारह भावनाओं के चिन्तन में तत्पर महाराज धर्मनाथ वनगमन हेतु पालकी में विराजमान हुए...उस समय इन्द्रने हाथ बढ़ाकर प्रभु को सहारा देने की व्यर्थ चेष्टा की; तथापि उसको अपने लिये तो वह सफल हुई -अहा, उस बहाने त्रिलोकीनाथ ने उसका हाथ पकड़ा!... मानों प्रभुको हाथ देकर वह कहता था कि-'हे देव! मैं विवश हूँ कि देवपर्याय में होने के कारण आपके साथ दीक्षित नहीं हो सकता, परन्तु अपना हाथ आपके हाथ में देकर, यह देवपर्याय पूर्ण होते ही आपके मार्ग में-मोक्षमें आ रहा हूँ।'

पालकी में आरूढ़ होकर प्रभु रत्नपुरी के मनोहर वन में पहुँचे। सिर मुकुट उतारा, गलेसे हार निकाला, वस्त्राभूषण छोड़े और सिरके केशों का लुंचन किया। सिद्धों को वन्दन करके प्रभु आत्मध्यान में अेकाग्र हुआ और शुद्धोपयोग द्वारा रत्नत्रय प्रगट करके मुनि बने। अन्य कितने ही राजा तथा प्रजाजन भी वैराग्य प्राप्त कर प्रभु के साथ दीक्षित हो गये; कितने ही धर्मात्मा मनुष्य तथा तिर्यंचोंने भी उस समय श्रावक के देशव्रत धारण किये और कितने ही जीव वह दृश्य देख कर विषयों से तथा राग से भिन्न आत्मा के शांत स्वरुप की पहिचान करके सम्यग्दृष्टि हुए। चारों ओर धर्म का प्रभाव फैल गया;

रत्नपुरी मानो धर्मपुरी बन गई।

महाराज धर्मनाथ ने रत्नहार छोड़कर रत्नत्रय अंगीकार किये। अब वे बाह्य में वस्त्रालंकार रहित होने पर भी उन्होंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से निर्मित सुन्दर रत्नाहार द्वारा अंतर में अपने आत्मा का ऐसा श्रृंगार किया कि मोक्षसुन्दरी भी उनपर मोहित होकर उनका वरण करने को उत्सुक हुई।

केशलुंच के समय प्रभुने मात्र काले बालों को नहीं किन्तु अंतर के काले कर्मों को भी जड़ से उखाड़कर फेंक दिया था। अरे, यह बाल पहले प्रभुके सिर पर शोभायमान थे, ऐसा विचार कर इन्द्रने उन बालों को आदरपूर्वक रत्नमणि की पेटी में रखा और फिर लाखों योजन दूर पवित्र क्षीरसागर में उनका क्षेपण कर दिया।

भगवान का आज ही जन्म हुआ हो इस प्रकार वे निर्वस्त्र एवं निर्विकार थे...तथापि वीतरागता से अद्‌भुत शोभायमान हो रहे थे। भव्य जीवों ने देखा कि जीव की सच्ची शोभा बाह्य अलंकारों द्वारा नहीं किन्तु सम्यक्त्वादि वीतरागभाव द्वारा ही है।

मुनिराज धर्मनाथ जब ध्यानयोग में स्थिर होते, तब देखनेवालों को ऐसा लगता था कि-क्या यह भगवान की मूर्ति है? उनका चरित्र ऐसा उत्तम था कि-शंकर-महादेव सहित समस्त विश्व को जीतनेवाला बेचारा कामदेव उनके सामने दृष्टि भी नहीं डाल सकता था! शंकर के तो क्रोधसे खुला हुआ तीसरा नेत्र था, उसके सामने वह भस्म हो गया था, तब फिर जिन-मुनिराजको तो वीतरागता से खुले हुए चार नेत्र थे, उनके समक्ष वह कैसे टिक सकता था?

अरे, उन शांत मुनिराज के समीप एकेन्द्रिय ऐसे वायु और वनस्पति भी अनुकूल प्रवर्तन करते थे, प्रतिकूल नहीं होते थे, और प्रभुके सान्निध्य में प्रसन्नता से खिल उठते थे; तो फिर सिंह या सर्प जैसे पंचेन्द्रिय जीव अपना दुष्टभाव छोड़कर, प्रभुके निकट शांत एवं अनुकूल वर्तन करें-इसमें क्या आश्चर्य! वे धर्ममुनिराज यद्यपि बोलते नहीं थे तथापि सबको मोक्षमार्ग समझाते थे; स्वयं प्रयोग से साक्षात् मोक्षमार्ग दरशाते थे; वे स्वयं मोक्षमार्ग थे।

भगवान का चारित्र आश्चर्यकारी था-यद्यपि वे समभावी थे, तथापि चिर-परिचित राग के प्रति अनादरबुद्धि और नवीन परिचित ऐसी मुक्ति के प्रति पक्षपात रखते थे, क्योंकि अभी पूर्ण वीतराग नहीं हुए थे। उनका चित्त स्फटिक जैसा नहीं किन्तु उससे भी अधिक निर्मल था, क्योंकि स्फटिक पत्थर तो बाह्यविषयों के संसर्ग से विकृत हो जाता था, परन्तु इन धर्ममुनिराज का चित्त किन्हीं भी बाह्यविषयों द्वारा विकृत नहीं होता था, अपने स्वरूप में ही स्थिर और शुद्ध रहता था।

इस प्रकार मुनिराज धर्मनाथ उपवासपूर्वक दो दिन तक आत्मध्यान में रहे। तीसरे दिन पारण हेतु पाटलीपुत्र नगरी में पधारे, वहाँ उत्तम दाता ऐसे महाभागी धन्यसेन राजाने उन उत्तम सुपात्र को आहारदान दिया। उत्तम दान के अवसर पर देवोंने भी आनन्दित होकर वहाँ पुष्पवृष्टि, मंगलवाद्य आदि पंचाश्चर्य प्रगट किये और 'अहो दानं...महादानं'-ऐसी आकाशवाणी द्वारा उस दान की प्रशंसा की। धर्म मुनिराज मौन ही रहते थे; मौन होने पर भी उनका श्रुतज्ञान तो अंतर में केवल ज्ञान को पुकार-पुकार कर बुला रहा था...और उस श्रुतज्ञान के अतीन्द्रिय नाद को सुनकर केवलज्ञान अति शीघ्रता से उनके पास आ रहा था।

इस प्रकार स्वानुभव से चैतन्य की मस्ती में झूलते-झूलते करीब एक वर्ष तक विहार के पश्चात् प्रभु धर्म मुनिराज पुनः रत्नपुरी के उसी दीक्षावन में पधारे और ध्यान योग में स्थिर हुए। उनके शुद्धोपयोग की धारा एकदम वृद्धिगत होने लगी। उन्होंने अपूर्व शुक्लध्यान द्वारा क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया और

अति शीघ्रता से चौथे कल्याणक के हेतुभूत ऐसा पंचमज्ञान प्रगट करके तीर्थंकर परमात्मा बन गये। 'पौष शुक्ला पूर्णिमा' को इन्द्रोंने प्रभुके केवलज्ञान-कल्याणक का भव्य महोत्सव मनाया। प्रभुके केवलज्ञान से प्रभावित होकर जड़- आकाश भी प्रसन्नता से वाद्य बजाने लगा और सर्वत्र निर्मल हो गया, तो फिर चेतनवंत जीवों का चित्त प्रसन्न एवं निर्मल हो जाय उसमें क्या आश्चर्य!!

रत्नपुरी के भाग्यवान जीवों ने अपनी नगरी में तीर्थंकर प्रभुके चार कल्याणक प्रत्यक्ष देखे। उनमें भी जन्म कल्याणक की अपेक्षा केवलज्ञान-कल्याणक की विशेषता थी, क्योंकि जन्मकल्याणक के समय रत्नपुरी के प्रजाजन मेरुपर्वत पर नहीं जा सके थे, जबकि इस केवलज्ञान कल्याणक के समय तो धर्मनाथ भगवान की धर्मसभा में देवों के साथ मनुष्य और तिर्यंच भी आये और प्रभु की वाणी सुनकर धर्म प्राप्त किया। पहले मुनिदशा के समय मौनव्रत था, अब केवलज्ञान होने पर भगवानने उस मौन को भंग कर दिया, उनकी दिव्यध्वनि खिरने लगी। यद्यपि वाणी निकलने पर भी भगवान तो मौन ही थे, क्योंकि एक तो उन्हें वचन सम्बन्धी कोई विकल्प नहीं था, और दूसरे उनके सर्वांग से ध्वनि उठती थी इसलिये ओष्ठ नहीं खुलते थे; -इस प्रकार एकसाथ सात सौ भाषाएँ बोलने पर भी भगवान तो मौन ही थे...वास्तव में यह एक आश्चर्यजनक बात है! ऐसा आश्चर्यकारी अतिशय हे तीर्थंकर देव! आपके अतिरिक्त अन्य किसी का नहीं हो सकता। एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तुस्वभाव का प्रकाशक आपका केवलज्ञान सर्व जीवों को आनन्दकारी है। एक ही प्रदेश में तथा एक ही समय में एकसाथ वस्तुका उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना,-उसे जानने की शक्ति हे सर्वज्ञदेव! आपके ही ज्ञान में है; इसलिये आपके द्वारा उपदेशित अनेकान्तमय वस्तुधर्म ही सत्य है। प्रभुकी वीतरागवाणी सुनकर अनेक देव, मनुष्य एवं तिर्यंच आत्मज्ञान को प्राप्त हुए; -उनमें व्रत-महाव्रत ग्रहण करने के लिये तो देवों की अपेक्षा मनुष्य विशेष अधिकारी थे। उस अधिकारी की विशेषता से अरिष्ट सेन आदि भव्यात्मा, प्रभुके निकट ही पंचमहाव्रत अंगीकार करके उनके गणधर बने और उन्हें तत्काल ही बारहअंगरुप श्रुतकेवलीपना तथा मनःपर्ययज्ञान एवं आकाशगामित्वादि अनेक लब्धियाँ प्रगट हुईं। ऐसे तेतालिस गणधर प्रभुकी सभा को सुशोभित करते थे। उस समवसरण में तीर्थंकर प्रभुके समकक्ष अन्य साढ़े चार हजार अरिहंत-केवली भगवंत श्रीमण्डप के ऊपर आकाश में विराजते थे...अद्भुत था वह दृश्य! उस परमात्मसमूह को देखते ही आत्मा शांतरस में निमग्न हो जाता था। तदुपरान्त अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, वादी, विक्रियालब्धिधारी, बारह अंगधारी तथा उपाध्याय,-ऐसी विशेषताओं से विभूषित हजारों मुनिवरों सहित कुल चौंसठ हजार मुनिवर, बासठ हजार चारसौ आर्यिकाएँ; दो लाख श्रावक एवं चार लाख श्राविकाओं के धर्मसंघसहित प्रभुकी धर्मसभा अतिशय सुशोभित होती थी। अहा, वह तो प्रभुकी नगरी में मोक्षगामी जीवों का विशाल मेला था।

इस प्रकार धर्म तीर्थंकर के सान्निध्य में चेतनवंत भव्यजीव तो धर्म प्राप्त करके आनन्द से खिल उठे थे, तथा आकाश और पृथ्वी, वायु और वृक्ष-यह भी सब हर्ष से रोमांचित हो गये थे। आकाश में वाद्य बजने लगे और पुष्पवर्षा होने लगी, वायु सुगन्धित हो गई, वृक्ष भी कल्पवृक्ष बनकर इच्छित पदार्थ देने लगे। अरे, वहाँ की वापिकाओं का जल भी इतना उज्ज्वल-स्वच्छ हो गया कि उसमें मात्र अपना मुँह नहीं किन्तु पूर्वभव भी दिखने लगे। प्रभुके आसपास का जल भी जब इतना पवित्र हो गया तब वहाँ के जीवों का ज्ञान कितना पवित्र हुआ होगा!! वहाँ पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण चारों दिशाओं में बैठे हुए जीवों को ऐसा लगता था कि हम प्रभुके सन्मुख ही हैं। भगवान का मुख चारों दिशाओं से एकसमान ही दिखता था। प्रभुका मुख चारों दिशाओं में होने पर भी उनका उपयोग कहीं चारों

दिशाओंमें नहीं फिरता था, उपयोग तो अपने स्वरुप में ही लीन था। स्वमें लीन रहकर ही वे समस्त स्व-पर को जानते थे। ऐसा केवलज्ञान वह प्रभुका सर्वोत्कृष्ट अतिशय था। उसके अतिरिक्त अन्य अनेक अतिशय थे।

भगवान को क्षुधा-तृषा नहीं थे इसलिये आहार-जल का ग्रहण भी नहीं था। लाखों वर्ष तक आहार-जल के बिना पुण्य-अतिशय के कारण उनका शरीर ज्यों का त्यों तेजस्वी था। आत्मामें से प्रगट होते पूर्ण आनन्द के आहार से, तथा परमशान्ति के पानसे वे परमात्मा सम्पूर्ण तृप्त थे। उनका मोहरूपी रोग सम्पूर्ण दूर हो गया था इसलिये अन्य रोगों को भी कोई अवकाश नहीं था। शेष बचे चार कर्म तो कथन मात्र ही थे; कहीं उन कर्मों का उदय उनको बंध का कारण नहीं होता था; अपितु भव्यजीवों को धर्मप्रभावना का ही हेतु था। भगवान के अनंत चेतनचक्षु एकसाथ खुल गये, वहाँ इन बेचारे दो जड़ नेत्र तो हताश होकर ऐसे स्तब्ध हो गये कि पलक झपकने की शक्ति भी गँवा बैठे। प्रभु के पाप तो दूर हो गये थे, परन्तु उनके प्रभाव से अन्य जीवों के पाप भी ऐसे दूर भाग गये कि उनके आसपास दो सौ योजन में (अर्थात् ढाई हजार किलो मीटर में) रहनेवाले किसी जीव को रोग, हिंसा, चोरी, दुर्भिक्ष आदि कोई उपसर्ग नहीं होता था। सिंह और हिरन, नेवला और सर्प एक-दूसरे के मित्र होकर शान्तिपूर्वक साथ रहते थे। रोगियों का रोग दूर हो जाता था; वहाँ कोई अपाहिज या दरिद्र नहीं रहता था...मात्र बाह्य नहीं अंतर के चैतन्यवैभव को भी अनेक जीव प्राप्त करते थे।

अहा, प्रभुकी महिमा का कितना वर्णन किया जाये! उन परमात्मा की पूर्ण महिमा जानने के लिये तो उनके जैसा होना पड़ेगा, क्योंकि वह ज्ञानगोचर है वचनगोचर नहीं है। अहा, इन्द्र जिनकी सेवा करने आये और इन्द्रलोक की सामग्री लाकर भक्तिसहित पूजा करे उन परमात्मा की महिमा का क्या कहना!! इससे ऐसा सिद्ध होता था कि-जो जीव इन्द्रपद की विभूति का भी अनादर कर सकता हो वही अपने चित्त में जिनदेव की उपासना कर सकता है। इन्द्र के वैभव की भी अभिलाषा छोड़कर जिनपद की भावना में जो अपना चित्त लगाता है वही मोह को जीतकर मोक्षको प्राप्त करता है। अहा, एक क्षणभर भी प्रभु का दर्शन भव्य जीवों के लिये मनोहर मंगल महोत्सव है; प्रभुकी सर्वज्ञता देखते ही परमात्मभावना जागृत हो उठती है, इसलिये मिथ्यात्वरुपी पाप दूर भागते हैं और सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है; सर्व प्रकार से मंगल होता है। प्रभु के समवसरण में यद्यपि दस प्रकार के कल्पवृक्ष हैं जो इच्छित पदार्थ देते हैं, परन्तु वे कहीं धर्म नहीं देते। धर्मरूपी रत्नत्रय प्रदान करनेवाले महान कल्पवृक्ष तो धर्मजिनेन्द्र हैं। उन चेतन कल्पवृक्ष को छोड़कर अचेतन पदार्थ देनेवाले कल्पवृक्षों के पास कोई मुमुक्षु भिक्षा माँगने के लिये नहीं रुकता था। 'अरे, मोक्षफल देनेवाले महान कल्पवृक्ष जिनदेव यहाँ साक्षात् विराजमान हैं और हम यहाँ अपनी शाखाएँ फैलाकर उनके सामने खड़े हैं!-इस प्रकार उन कल्पवृक्षों को लज्जा भी नहीं आती थी..सच ही है, अचेतन को लज्जा कैसी? अथवा ऐसा मानो कि अमृत फल-अमृतपानादि द्वारा जिनदेव के भक्तों का स्वागत करने के लिये देव ही उन कल्पवृक्षों का रूप धारण करके वहाँ खड़े थे, और इस प्रकार जिनदेव की दासानुदासता घोषित करते थे।

देवों के दुंदुभिवाद्य अति मधुर स्वर में जगत के समक्ष जिनेन्द्र महिमा प्रसिद्ध कर रहे थे कि-अरे जीवों! देखो...देखो! कहाँ यह समवसरण की आश्चर्यकारी दिव्यविभूति! और कहाँ यह जिनपरमात्मा की निःस्पृहता! जगत में कहाँ है ऐसा ज्ञान और कहाँ है ऐसी वीतरागता! तुम वीतरागी शान्ति का मार्ग जानना चाहते हो तो यहाँ आओ और इन सर्वज्ञ-वीतराग परमात्मा की सेवा-उपासना करो! और फिर, समवसरण में आकर मुमुक्षु जीव जहाँ उन जिनेश्वर की परम शांत मुद्रा का अवलोकन करते वहाँ

मुग्ध हो जाते; तथा दिव्यध्वनि में सुनते कि-अहो, जीवों! आत्मा के परमात्मपने का ऐसा वैभव (हमारे जैसा ही) तुममें भी है...उसे तुम देखो...यह सुनते ही मुमुक्षु जीवों की दृष्टि अन्तर्मुख हो जाती और अपने परम निधान को देखकर वे कल्पनातीत तृप्ति-शान्ति एवं आनन्द का अनुभव करते। पश्चात् वे जीव उल्लास पूर्वक कहते-अहा, हे धर्मजिनेश्वर! हमें आपके शासन का रंग लगा है, उसमें अब कभी भंग नहीं पड़ने देंगे; प्रभो! आपके बतलाये धर्म के सिवा अन्य किसी धर्म को अपने मनमन्दिर में स्थान नहीं देंगे। आपके मार्ग को स्वानुभव से ग्रहण किया है, अब हमें भवभ्रमण नहीं हो सकता; अब हमारी मोक्षकी साधना प्रारम्भ हो गई है...और हम आपके परिवार के हो गये; आपकी भाँति हम भी अल्पकाल में परमात्मा होंगे और मोक्ष प्राप्त करेंगे।

परमात्मपने का वैभव बतलानेवाली वह दिव्यवाणी वास्तव में अद्‌भुत आश्चर्यकारी थी...और प्रभु के निकट एक आश्चर्य तो देखो! उनका समवसरण पृथ्वी से बीस हजार सीढ़ियाँ ऊपर था और उसे समवसरण में विशाल मानस्तम्भ, मन्दिर, वापिकाएँ, कल्पवृक्ष, पर्वतों की रचना तथा बारह सभाओं में लाखों-करोड़ों देव, मनुष्य, तिर्यंच बैठते हैं, तथापि उस समवसरण को नीचे पृथ्वी का कोई आधार नहीं है अथवा कोई खम्भा आदि नहीं है; सम्पूर्ण समवसरण पृथ्वी से अस्पर्शी-निरालम्बी है और उस समवसरण में अद्‌भुत दैवी गंधकुटी है, परन्तु तीर्थंकर देव तो उसका भी स्पर्श किये बिना निरालम्बीरूप से विराजते हैं। अद्‌भुत...सचमुच आश्चर्यजनक!! स्वयंभू सर्वज्ञ हुए आत्माने अपने ज्ञानसुख के लिये रागका और इन्द्रियों का अवलम्बन छोड़ दिया और निरालम्बी हो गये...वहाँ उनका शरीर भी निरालम्बी होकर आकाश में स्थित हुआ! वाह प्रभो! परालम्बन से रहित आपका स्वाश्रित मार्ग! वह वास्तव में प्रशंसनीय है।

इस प्रकार निरालम्बी समवसरण में विराजमान उन निरालम्बी धर्मनाथ भगवान ने, जिसमें शुभरागका भी आलम्बन नहीं है ऐसे परम निरालम्बी रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्गका उपदेश दिया कि-हे जीवो! तुम्हारे आत्मा का मोक्षमार्ग तुम्हारे आत्मा के ही आश्रित है; इसलिये आत्मा में से ही मोक्षमार्ग प्रगट करो। पर द्रव्य का अवलम्बन लेने मत जाओ, उपयोग को परद्रव्यों में मत घुमाओ; अपने आत्मस्वरुप में ही एकाग्र करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित होओ!-

**चारित्र-दर्शन-ज्ञानमां तुं जोड रे निज आत्मने;**
**चारित्र-दर्शन-ज्ञानने बस! मोक्षमार्ग जिनो कहे।**
**-तुं स्थाप निजने मोक्षपंथे, ध्या-अनुभव तेहने;**
**तेमां ज नित्य विहार कर, नहि विहर परद्रव्यो विषे।**

जिनोपदेश को अंतर में उतारकर अनेकों जीव स्वाश्रय से रत्नत्रय धर्मरुप परिणमित हुए और अपने आत्मा को मोक्ष मार्ग में लगाया। इस प्रकार लाखों वर्ष तक भगवान धर्मनाथ ने धर्मचक्रप्रवर्तन किया। वे धर्म साम्राज्य के नायक थे; वे पृथ्वीपर पाँव नहीं रखते थे। आकाश में ही (पचास हजार फुट ऊँचे) विहार करते थे। समवसरण में पहुँचने के लिये देवों द्वारा निर्मित वीस हजार सीढ़ियाँ थीं और भव्य जीव अंतर्मुहूर्त में ही वे बिना किसी थकान के चढ़ जाते थे...अरे, प्रभु के ध्यान द्वारा मोक्षकी साधना भी दो घड़ी में हो सकती है तो वीस हजार, सीढ़ियों की क्या गिनती?! भगवान के समवसरण में प्रवेश करते ही 'मानस्तम्भ' की दिव्यता देखकर उस आश्चर्यजनक जिनवैभव के समक्ष भव्यजीवों का हृदय नम्रीभूत हो जाता और अंतर में जिनमहिमा जागृत होकर उसे जिनदेव की तथा जिनशासन की प्रतीति

हो जाती थी। भगवानने दिव्यध्वनि में जिस मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है उस मोक्षमार्गरूप धर्मकी मुख्य उपासना निर्ग्रन्थ मुनिवरों को होती है और उसके एक अंश की उपासना श्रावक-गृहस्थ को होती है। उस मुनिधर्म या श्रावकधर्म दोनों में सम्यग्दर्शन तो मूलभूत होता ही है। जीवअजीवादि नवतत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान और उसमें शुद्ध द्रव्य-पर्यायरूप जीवतत्त्व की अनुभूतिरूप श्रद्धान, वह सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है।

भगवान धर्मनाथ ने सम्यग्दर्शन जिसका मूल है ऐसे चारित्रधर्म का उपदेश दिया। सम्यग्दर्शन की पात्रतावाले जीवको उसकी भूमिका रूप से देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा होती है तथा मांस-मदिरा-अण्डा आदि महापापकारी अभक्ष्यका त्याग होता है। जिनमें मांसभक्षण, मदिरापान या वेश्यागमन, बलात्कार, चोरी, हत्य आदि महापापके दृश्यों द्वारा उन पापों की पुष्टि अथवा अनुमोदना होती हो ऐसे दृश्य (नाटक-सिनिमादि) मुमुक्षु धर्मात्मा जीव नहीं देखते; त्रसहिंसा के कारणरूप रात्रिभोजन नहीं करते; अनछना पानी नहीं पीते। धर्मी श्रावक के परिणाम संसार से तथा विषय-भोगों से विरक्त होते हैं; परिणामों की शुद्धिपूर्वक यह 'सामायिक' भावना द्वारा वीतरागता का अभ्यास करता है; उसके द्वारा वह गहरे संसारसमुद्र को मात्र घुटनेभर पानी जितना कर देता है। पश्चात् मोक्षमार्ग की पूर्णता के लिये वह घर-परिवार, धन-वस्त्रादि समस्त परिग्रहों को तथा कषायों को छोड़कर शुद्धोपयोगपूर्वक मुनि होता है; रत्नत्रयवंत मुनिदशा तो त्रिलोकपूज्य परमेष्ठी पद है। उन शुद्धोपयोगी मुनि में और सिद्धभगवन्त में क्या कोई अन्तर है?-नहीं; दोनों परमात्मसुख में ही लीन हैं।



तीर्थंकर धर्मनाथ प्रभु का धर्मोपदेश सुनकर कितने ही जीव तुरन्त संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये, कितने ही जीव सम्यक्त्वसहित व्रत धारण करके श्रावक हुए...अरे, सिंह शशक, बैल, बन्दर, सर्प, हाथी आदि कितने ही तिर्यंच जीव भी आत्मज्ञानसिहत व्रत धारण करके श्रावक हो गये। इन्द्रादि देव जो दशा (पंचम गुणस्थान) प्रगट नहीं कर सके वह दशा तिर्यंच जीवों ने प्रगट कर ली। भगवान ने भारत में विहार किया। गुजरात में और सौराष्ट्र में, बिहार में और बंगाल में, हिमाचल प्रदेश में और नेपाल में, श्रीलंका में और ब्रह्मदेश में, नर्मदा के किनारे और विंध्यप्रदेश में, राजस्थान में और महाराष्ट्र में, कर्नाटक में और आन्ध्र में-सर्वत्र धर्मविहार करते हुए उन गगनविहारी प्रभुको कोई नदी या पर्वत बीच में बाधक नहीं होते थे। उनके विहार समय आगे-आगे एक हजार दिव्य आरोंवाला धर्मचक्र चलता था; जो कुचक्र को जीतकर ऐसा प्रसिद्ध करता था कि जगत में धर्म के राजा यह धर्मनाथ तीर्थंकर ही हैं, उनकी धर्माज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। मोक्ष के हेतु हे मुमुक्षु जीवों! इन धर्मनाथ प्रभु के शासन का सेवन करो और निर्भय होकर मोक्ष को साधो।

केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान धर्मनाथने ढाई लाख वर्ष तक तीर्थंकर रूप से विचरण किया। अन्त में, शाश्वत मुक्तिधाम ऐसे सम्मेदाचल पधारे और एक मास तक वहाँ स्थिर रहे। यद्यपि प्रभुका उपयोग तो स्थिर था ही, अब उनके योग भी कम्पन छोड़कर स्थिर होने लगे। चैत्र शुक्ला चतुर्थी आयी; अब प्रभु का संसार मात्र दो घड़ी शेष रहा था...बस! मोक्ष की तैयारी हो गई। प्रभु की आयु तो एक मुहुर्त की ही शेष थी, परन्तु अन्य तीन अघाति कर्म लम्बी स्थिति के थे, इसलिये प्रभुने

आत्मप्रदेशों के लोकव्यापी विस्तार द्वारा उन कर्मों की स्थितिको तोड़कर बराबर आयु जितनी ही कर डाली। क्षणमात्र में आयुसहित चारों अघाति कर्मों ने अपना कर्मपना छोड़ दिया और निष्कर्म दशा को प्राप्त हुए। उसी समय धर्मनाथ का आत्मा 'धर्मनाथ या तीर्थंकर' ऐसे नामों को भी छोड़कर, सर्व विभावरहित परम शुद्ध सिद्धपदरुप परिणमित हुआ; वे सिद्धप्रभु अनंत सिद्ध सदाकाल जहाँ विराजते हैं ऐसी परम-आनन्दमय सिद्धभूमि में जाकर विराजमान हुए। उन सिद्ध भगवन्त को नमस्कार हो।—

**धर्मनाथ जिनराज का कूट सुदत्तवर जेह;**
**मन-वच-तन कर पूजहूँ शिखर सम्मेद यजेह।**

प्रभु धर्मनाथ के मोक्ष प्राप्त करते ही इन्द्रादि देवों ने तथा सुधर्म आदि राजा-महाराजाओंने उस मुक्त आत्मा की स्तुति करके मोक्षका महोत्सव मनाया।

**श्रमणो-जिनो-तीर्थंकरो अे रीत सेवी मार्गने,**
**सिद्धि वर्या, नमुं तेमने; निर्वाणना ते मार्गने।**

अहा...जयवंत वर्तो वीतराग भावरूप वह मोक्षमार्ग...कि जिसके प्रसाद से भव्यजीव सिद्धि को प्राप्त हुए...हो रहे हैं...और होंगे! नमस्कार हो उन भगवन्त धर्मजिनेश्वर को, जिन्होंने उत्तमक्षमादि दस धर्मों के वीतराग-रथ को मोक्षमार्ग में चलाकर भव्यजीवों को शाश्वत आनन्दपुरी में पहुँचाया।

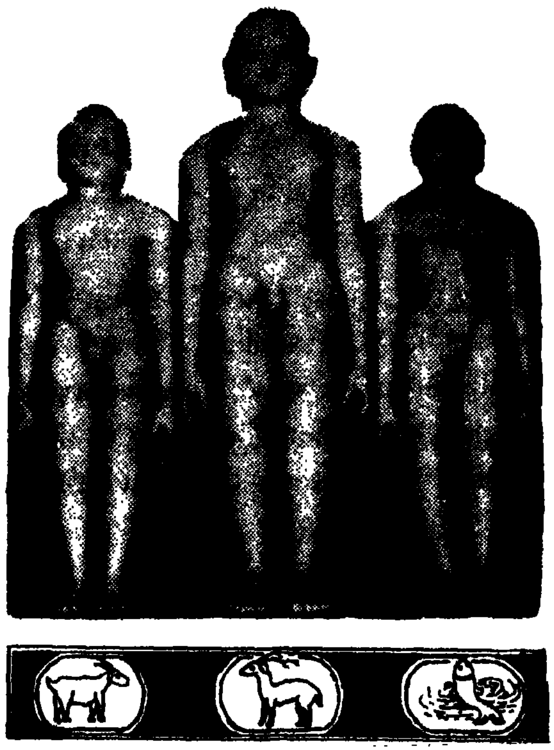
[इतिश्री धर्मनाथ भगवान-पन्द्रहवें तीर्थंकर-का मंगल पुराण पूर्ण हुआ।]

[१६]

# भ ग वा न शा न्ति ना थ

चक्रवर्ती त्रिपुटी
शांतिनाथ
कुन्थुनाथ
अरहनाथ

(जन्म)
हस्तिनापुर



तीर्थंकर त्रिपूटी
शान्तिनाथ
कुन्थुनाथ
अरहनाथ

(मोक्ष)
सम्मेद शिखर

ध्रुव अचल ने अनुपम गति पामेल शांतिनाथ ने,
करुं याद मारा आत्म मां सम्यकत्वभाव जगाडीने।
छे सुख साचुं आत्मनुं, धारवी अहो मुज आत्ममां,
अे सिद्धसुखने साधतो आवी रह्यो तुज पासमां।

हे प्रभो! शान्तिनाथ! वर्तमान में तो आप साध्यरुप सिद्ध होकर सिद्धालय में विराज रहे हैं; इससे पूर्वभूतकाल में जब आप संसारमें थे उस समय के आपके अन्तिम बारह भवों का विचार करने पर आपकी आत्मसाधना दृष्टि-समक्ष तैरती है। संसार की सर्वोत्कृष्ट पदवियाँ-इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद तथा तीर्थंकर पद की अचिंत्य विभूति प्राप्त करनेपर भी आप उसमें कहीं आसक्त नहीं हुए; मात्र चैतन्य के अतीन्द्रिय बैभव को ही आपने इष्ट माना, और किसी भी बाह्यवैभव से संतुष्ट हुए बिना अंतर के

आत्मवैभव की साधना में ही आगे बढ़ते गये। आपका जीवनचरित्र पढ़ते-विचारते हुए हमारे आत्मा में भी आत्मसाधना का रंग चढ़ जाता है...और सांसारिक विभूतियों से उठ जाता है। इस प्रकार आपका आदर्श जीवन हमें आत्मसाधना का मार्ग बतलाता है।

हे शान्तिनाथ देव! ऐसे सुन्दर आदर्शरूप से आपको ध्यान में लेते हुए भी हमें अपने चित्त में कैसी शान्ति का अनुभव होता है! ऐसी आत्मस्पर्शी शान्ति संसार के किन्हीं विषयों में कभी प्राप्त नहीं हुई थी। देव! आप 'शान्तिके नाथ' हो,...आपके धर्मशासन में हमें जो शान्ति प्राप्त हुई है उसके आप रक्षक हो, और उसमें वृद्धि करके पूर्णशान्ति प्राप्त करानेवाले हो; इसलिये आप सचमुच हमारे शान्तिनाथ हो। आपका नाम भी शान्ति है; आप स्वयं शान्त भावरूप हो; और आपका स्मरण हममें भी शान्ति जागृत करनेवाला हैं; इसलिये आपको नमस्कार करते हैं।

अहा, त्रिलोक को प्रतिबिम्बित करने वाला आपका केवलज्ञानदर्पण महान उज्ज्वल एवं आश्चर्यकारी है, उसमें हमें अपने मोक्षका सुन्दर प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है; वह ज्ञान और ज्ञेय दोनों महामंगलरूप हैं। हे प्रभो! ऐसे अपूर्व मंगल-विधानपूर्वक, अब आपके अन्तिम बारह भवों के वर्णन द्वारा आपकी आत्मासाधना की महिमा का वर्णन करते हैं और ऐसी उत्तम आत्मसाधना हेतु अपने आत्माको भी उल्लसित करके आपके मार्गपर आते हैं।

[इति श्री मंगलाचरण]

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव बारहवाँ

### श्रीषेण राजा (भावी तीर्थंकर) और अनिन्दिता रानी (भावी गणधर)

हे भव्य जीवो! अपने अंतर में भगवन्त पंचपरमेष्ठी को विराजमान करके, शान्तभाव पूर्वक भगवान शान्तिनाथ की यह मंगल-कथा सुनो-भगवान शान्तिनाथ पूर्वके १२ वें भव में जम्बूद्वीप के रत्नसंचयपुर नगर में श्रीषेण नामक राजा थे। उनके सिंहनन्दिता तथा अनिन्दिता नाम की दो रानियाँ थीं। (अनिन्दिता का जीव बारहवें भव में शान्तिनाथ प्रभु का भाई-चक्रायुध गणधर होगा।) उन दोनों रानियों के इन्द्र तथा उपेन्द्र नामके राजकुमार थे।

उस नगर में सात्यकि ब्राह्मण के सत्यभामा नामकी पुत्री थी। उसका विवाह कपिल ब्राह्मण के साथ हुआ था (जो वास्तव में ब्राह्मण नहीं किन्तु शूद्र-दासीपुत्र था।) सत्यभामा ने जाना कि उसका पति कोई कुलीन ब्राह्मण नहीं परन्तु हीन संस्कारों का है; इसलिये उस शीलवती स्त्रीने कपिलका त्याग कर दिया और श्रीषेण राजा की शरण लेकर उनकी रानी के साथ रहने लगी। इससे दुष्ट कपिल श्रीषेण पर क्रोधित हो गया और सत्यभामा के प्रति आसक्ति रह गई।

एक बार राजा श्रीषेण के महाभाग्य से दो मुनिवर उनके घर पधारे; उन्हें भक्तिपूर्वक आहारदान देकर श्रीषेणने भोगभूमि की आयु का बंध किया। उस समय दोनों रानियों ने तथा सत्यभामाने भी उन मुनिराज का आदर-सत्कार करके आहारदान का अनुमोदन किया और उन तीनों ने भी भोगभूमिका पुण्य बाँधा।

एक बार राजा श्रीषेण के दोनों पुत्र एक दासी पर मोहित होकर परस्पर झगड़ने लगे; जिससे राजा श्रीषेण अत्यन्त दुःखी हुए, और भोग में आसक्त यह दोनों पुत्र मेरी आज्ञा नहीं मानेंगे-इस प्रकार मानभंग से दुःखी होकर उन्होंने विषफल सूँघकर प्राणत्याग किया। उनके साथ उनकी दोनों रानियों तथा

सत्यभामानेभी प्राण छोड़े...वे चारों जीव कहाँ उत्पन्न हुए?-वह अब देखें।

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव ११ वाँ (भोगभूमि में)

अज्ञानभाव से प्राणत्याग करके, दान-पुण्य के प्रताप से वे चारों जीव धातकी खण्ड की भोगभूमि में अवतरित हुए।

श्रीषेण राजा और अनिन्दिता रानी वे दोनों भोगभूमि के आर्यपुरुष हुए और सिंहनन्दिता तथा सत्यभामा वे दोनों उनकी आर्या-स्त्रियाँ हुई। यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि-देखो, पात्रदान की महिमा!-यह चारों जीव विष सूँघकर अपमृत्यु (आत्महत्या) से मरे थे, तथापि दान के प्रभाव से इस भोग भूमि की शुभगति में उत्पन्न हुए और देवों जैसे सुख भोगने लगे।

[पश्चात्-वे श्रीषेणराजा के दोनों पुत्र (इन्द्र और उपेन्द्र) तो दासी कन्या के लिये लड़ रहे थे, तब मणिकुण्डल विद्याधरने (जोकि पूर्वभव में उनकी माता थी) आकर कहा: 'अरे, तुम लोग क्यों लड़ रहे हो? जिस दासीकन्या के लिये तुम लड़ रहे हो वह तो पूर्वभव में तुम्हारी छोटी बहिन थी!' यह सुनते ही दोनों राजकुमार वैराग्य को प्राप्त हुए; उन्होंने मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली और शुद्धभाव से आत्मा की साधना द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके तथा मोक्षदशा प्राप्त की। जीव के परिणामों का आश्चर्य तो देखो! कि जिन पुत्रों के झगड़े से दुःखी होकर राजा श्रीषेणने आत्महत्या की और ग्यारह भव पश्चात् मोक्ष प्राप्त करेंगे- वे दोनों राजकुमार तो उसी भव में भवका अन्त करके मोक्ष में चले गये।]

पात्रदान के प्रभाव से भोगभूमि में उत्पन्न हुए उन श्रीषेण आदि चारों जीवों ने असंख्य वर्षों तक कल्पवृक्षों के वचनातीत सुख भोगे। वहाँ के दस प्रकार के कल्पवृक्ष इच्छानुसार (१) अमृतसमान निर्दोष मादक पेय, (२) उत्तम वाद्य, (३) हार आदि दिव्य आभूषण, (४) सुगन्धित पुष्पमालाएँ, (५) रत्नमणि के दीपक, (६) दिव्य प्रकाश, (७) राजभवन-नृत्यशाला, (८) अमृतसमान स्वादिष्ट भोजन, (९) सुवर्ण एवं रत्नों के बरतन और (१०) अति सुन्दर वस्त्र,-इत्यादि उत्तम भोगसामग्री वहाँके पुण्यवान जीवों को देते हैं। वे कल्पवृक्ष कोई वनस्पति काय के वृक्ष नहीं हैं, तथा देवकृत भी नहीं हैं, अनादिनिधन पृथ्वी की रचना ही वैसी है और जीवों के पुण्यप्रभाव के कारण अन्य किसी निमित्त के बिना स्वभाव से ही वैसे उत्तम फल देनेवाले हैं। हे भव्य पाठक! ऐसी सुन्दर भोगभूमिका वर्णन पढ़कर तु एक बात ध्यान में रखना कि वह जड़ रत्नभूमि एवं जड़ कल्पवृक्ष चाहे जैसे सुन्दर हो तथापि, मात्र बाह्य इन्द्रियविषयों के भोग ही देते हैं; कहीं चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख या सम्यक्त्व वे नहीं दे सकते; अतीन्द्रिय सुख तो अपना चैतन्य कल्पवृक्ष ही प्रदान कर सकता है इसलिये उसीका सेवन करने योग्य है।

भोगभूमि के जीवों को व्रत-संयम दशा या मोक्षप्राप्ति नहीं होती; किन्हीं जीवों को सम्यग्दर्शन; आत्मज्ञान तथा चौथा गुणस्थान हो सकता है। कोई जीव मनुष्यायु का बंध करके पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह भी भोगभूमि में उत्पन्न होता है। तथा आत्मज्ञान के बिना पात्रदान देनेवाले अत्यन्त भद्रजीव भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ किसी पशुका भय नहीं है, रात-दिन अथवा ऋतु-परिवर्तन नहीं है, शीत-उष्णता नहीं है, कोई एक-दूसरे को दुःख नहीं देते; सर्व जीव शान्त एवं भद्रपरिणामी हैं; वहाँ के सिंह आदि पशु भी मांसाहारी नहीं हैं, अहिंसक हैं। वहाँ कीड़े-मकोड़े-मच्छर आदि तुच्छ जीव नहीं होते। वहाँ के सर्व जीव सर्वांगसुन्दर होते हैं। कभी-कभी ऋद्धिधारी मुनिवर भी उस भोगभूमि में पधारते हैं और उनके उपदेश से अनेक जीव आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। पापी जीवों

का वहाँ अभाव है। वहाँ के सब जीव मरने के पश्चात् स्वर्ग में ही उत्पन्न होते हैं, अन्य किसी गति में नहीं जाते। वहाँ कोई जीव दुराचारी नहीं है; किसी जीव को इष्ट वियोग नहीं होता; वहाँ किसी जीव को निद्रा, आलस्य या मल-मूत्र नहीं है; थूक या पसीना नहीं है; सब जीव मृदुभाषी, मन्दकषायी और वज्रशरीरी हैं। उस भोगभूमि के जीवों को जो निश्चित् सुख है वह चक्रवर्ती के वैभव में भी नहीं है। वे स्वयं अपने-अपने राजा हैं, उनके ऊपर दूसरा कोई राजा नहीं होता। जन्म के पश्चात् छह सप्ताह में वे पूर्ण युवा हो जाते हैं, मृत्यु के समय भी उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती, अंतकाल में मात्र छींक या जँभाई आने पर वे सुखपूर्वक प्राण छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में जाते हैं।

हे वैरागी पाठक! तुम तीर्थंकर जैसे उत्तम पुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ रहे हो; उसमें पुण्यफलरूप से भोगभूमि के भोगों का या स्वर्गलोक के वैभव का जो वर्णन है वह कोई उसमें राग कराने हेतु नहीं है, परन्तु पुण्यफलरूप ऐसे भोगों में भी आत्मा का सच्चा सुख नहीं है-ऐसा समझाकर उनका मोह छुड़वाने के लिये तथा आत्मा की वीतरागी धर्म की साधना में लगाने के लिये यह वर्णन है। सर्व जैन-उपदेश का अंतिम सार तो यही है कि -

''तेथी न करवो राग जरीये क्यांय पण मोक्षेच्छुओ,
वीतराग थईने ओ रीते ते भव्य भवसागर तरे।''

अज्ञान से तू ऐसे पुण्यफल की या राग की इच्छा मत करना-जोकि संसार में परिभ्रमण कराता है; राग और ज्ञान की भिन्नता का भेदज्ञान करके तू आत्मस्वभाव के सुखको ही अनुभव में लेना,-जोकि संसार से छुड़ाकर सिद्धपद की प्राप्ति कराता है।

अपने चरित्रनायक तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीव-जोकि पूर्वभव में श्रीषेण राजा था-वह इस भोगभूमि में उत्पन्न हुआ है...दूसरे तीन जीव भी उसके साथ उत्पन्न हुए हैं। असंख्य वर्षों तक भोगभूमि में रहने के पश्चात् आयु पूर्ण होने पर वे चारों जीव सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए।

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव १० वाँ सौधर्मस्वर्ग में श्रीप्रभ देव

- राजा श्रीषेण (भावी शान्तिनाथ) का जीव श्रीप्रभ देव हुआ।
- रानी सिंहनन्दिता का जीव उसकी देवी विद्युत्प्रभा हुई।
- रानी अनिन्दिता (भावी चक्रायुधगणधर) का जीव विमलप्रभ देव हुआ।
- ब्राह्मणकन्या सत्यभामा का जीव उसकी शुक्लप्रभा देवी हुई।

स्वर्गलोक में वे चारों जीव जिनभक्ति करते थे, जिनेन्द्रदेव के पंचकल्याणक में जाते थे, समवसरण में जिनवाणी सुनते थे, तथा मेरु-नन्दीश्वर आदि की यात्रा करते थे और स्वर्गलोक के दैवी वैभव का भोग करते थे। अभी तक वे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर पाये थे। असंख्य वर्षों तक देवलोक के दिव्यवैभव में रहकर भी अन्त में तो वे चारों देवलोक से पदभ्रष्ट हुए, क्योंकि पुण्य भी अध्रुव एवं अशरण है, उसका फल नित्य नहीं रहता। सिद्धपद ही जीवका ध्रुवपद है; संसार के शेष सर्वपद अध्रुव हैं।

देवलोक से निकलकर वे चारों जीव भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए:-

(१) राजा श्रीषेण (भावी तीर्थंकर) का जीव विजयार्द्ध पर 'अमिततेज' विद्याधर हुआ।

(२) रानी अनिन्दिता (भावी गणधर) का जीव त्रिपृष्ठ वासुदेव का पुत्र 'श्रीविजय' हुआ।

(३) रानी सिंहनन्दिता का जीव वह अमिततेज की पत्नी 'ज्योतिप्रभा' हुई। (श्रीविजय की बहिन)।

(४) सत्यभामा का जीव वह अमिततेज की बहिन (और श्रीविजय की पत्नी) 'सुतारा' हुई। (सत्यभामा का पति दुष्ट कपिल भव में भटकते-भटकते 'अशनिघोष' विद्याधर हुआ।)

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव ९ वाँ
## भरतक्षेत्र में अमिततेज-विद्याधर और सम्यक्त्व-प्राप्ति

इस मध्यलोक में जम्बूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्य द्वीप-समुद्र हैं; उसमें बीचोंबीच अपना यह जम्बूद्वीप है, वह सर्व द्वीपों में चक्रवर्ती समान सुशोभित होता है। उसके मध्य में एक लाख योजन ऊँचा सुदर्शन मेरु है। उसके चार वनों की चार दिशाओं में शाश्वत जिनालय हैं; इन्द्रादि देव तथा विद्याधर वहाँ दर्शन-पूजन करने आते हैं। वहाँ के पाण्डुक वन में अतिसुन्दर सिद्धशिला समान चार दिव्य शिलाएँ हैं; उस पाण्डुक शिलापर भरत-ऐरवत तथा विदेहक्षेत्र के अनन्त तीर्थंकरों का जन्माभिषेक इन्द्रने किया है, इसलिये वह पावन तीर्थ है।

उस मेरुपर्वत की दक्षिण दिशा के छोर पर अपना यह भरतक्षेत्र है। इस भरतक्षेत्र में २४ तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा मोक्षगामी जीव उत्पन्न होते हैं। भरतक्षेत्र के पूर्व-पश्चिम छोर पर बीच में वैताढ्य-विजयार्द्धपर्वत पर उत्तर श्रेणी में ६० और दक्षिण श्रेणी में ५०-इस प्रकार कुल ११० अति सुन्दर नगरियाँ हैं, जिनमें विद्याधर-मनुष्यों का वास है; वे जैनधर्म के उपासक हैं; वहाँ विधर्मी नहीं बसते और सदा सुकाल वर्तता है। जब छठवें आरे में भरतक्षेत्र के अन्य समस्त भागों में महाप्रलय होगा तब भी विजयार्द्धपर्वत के ऊपर की नगरियाँ ज्योंकी त्यों शाश्वत रहेगी। वहाँ एक शाश्वत जिनमन्दिर भी है; वहाँ के मनुष्य सदा जिनपूजा, शास्त्र स्वाध्याय तथा पात्रदान करते हैं। वहाँ अनेक मुनिवर भी विचरते हैं।

उस विजयार्द्ध पर रथनूपुर-चक्रबाल नामकी एक सुन्दर नगरी है। अपने चरित्रनायक भगवान शान्तिनाथ (श्रीषेण राजा) का जीव स्वर्गलोक से चयकर उस नगरी में 'अमिततेज' नामका विद्याधर हुआ। उस काल भरतक्षेत्र में ११ वें तीर्थंकर का शासन चल रहा था।

उस रथनूपुर नगरी में 'ज्वलनजटी' नामक राजा थे। वे जैनधर्म के प्रेमी सम्यग्दृष्टि और चरमशरीरी थे। उनका पौत्र 'अमिततेज।'

❀ राजा ज्वलनजटी का अर्ककीर्ति नामक गुणवान पुत्र था; वह अर्ककीर्ति का विवाह पोदनपुर के राजकुमार त्रिपृष्ठ वासुदेव (महावीर का जीव) की बहिन ज्योतिमाला के साथ हुआ था। उन अर्ककीर्ति-ज्योतिमालाका पुत्र अमिततेज; उसका विवाह मामा त्रिपृष्ठ की पुत्री ज्योतिप्रभा के साथ हुआ था।

❀ यह त्रिपृष्ठ ही महावीर प्रभु का जीव (पूर्व के १४ वें भवमें) है और अमिततेज वह शान्तिनाथ भगवान का जीव (पूर्व के ९ वें भवमें) है;-इस प्रकार दोनों तीर्थंकरों के जीव उस भवमें मामा-भानजा, (अथवा तत्कालीन रीति के अनुसार श्वसुर-जमाई) थे।

❀ त्रिपृष्ठ के पुत्र 'श्रीविजय' (जो कि भावी शान्तिनाथ के भाई चक्रायुध गणधर का जीव है) के साथ अमिततेज की बहिन 'सुतारा' का विवाह हुआ। (अमिततेज के जीव ने पूर्वभव में सत्यभामा ब्राह्मणी के प्रति वात्सल्य दिखाया था, इसलिये इस भव में वह उसकी बहिन हुई।)

❀ 'अमिततेज' की बहिन का विवाह श्रीविजय से हुआ और श्रीविजय की बहिनका अमिततेज से;-इस प्रकार बारह भव तक साथ रहनेवाले वे दोनों (तीर्थंकर-गणधर के) जीव इस नौवें पूर्वभव में परस्पर बहनोई थे। (श्रीविजय वे ऋषभदेवकी वंशपरम्परा के थे और अमिततेज नमि-विनमि विद्याधर की वंशपरम्परा के थे; वंश परम्परा से दोनों कुल का विवाह-सम्बन्ध चला आता था।)

ऐसे उम पुत्र-पौत्र के परिवार सहित महाराजा ज्वलनजटी विजयार्द्ध के विद्याधरों पर राज्य करते थे। राज्य का संचालन करते हुए भी वे धर्मात्मा आत्मसाधना को नहीं भूलते थे। धर्मजीवन जीनेवाले उन महाराजा ज्वलनजटी के महाभाग्य से एकबार जगनन्दन तथा अभिनन्दन नामके दो गगनगामी मुनिवर उनकी नगरी में पधारे। राजा ने अत्यन्त भक्तिभाव से वहाँ जाकर वन्दना के पश्चात् स्तुति की-देव! आप रत्नत्रय के वीतरागी वैभव से सुशोभित हो, आपके पास बाह्य में धन-वस्त्रादि कोई वैभव न होने पर भी आपके वीतरागी वैभवपर मुग्ध होकर मुक्ति सुन्दरी भी आपसे भेट करने के लिये लालायित है। हे प्रभो! आपका वीतरागी जीवन ही सुखी जीवन है। इस प्रकार राजाने स्तुति की और मुनिराजने उनको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। राजाने सम्यक्त्वसहित व्रत अंगीकार किये।

एकबार महाराजा ज्वलनजटी राजसभा में बैठे थे। वहाँ एक दूत समाचार लाया कि त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता (पोदनपुर के राजा प्रजापति) दीक्षा लेकर मुनि हुए और केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया है; वह सुनकर राजा ज्वलनजटी वैराग्य को प्राप्त हुए और जगनन्दन मुनिराज के निकट मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली; पश्चात् शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके वे भी मोक्षको प्राप्त हुए।

तत्पश्चात्, त्रिपृष्ठ वासुदेव तो मरकर सातवें नरक में गया; उसके भाई विजय बलभद्र दीक्षा लेकर मोक्षको प्राप्त हुए; तथा अर्ककीर्ति (अमिततेज के पिता) भी वैराग्य प्राप्त करके दीक्षा लेकर मोक्षको प्राप्त हुए। रथनूपुर में तो अब अपने चरित्रनायक 'अमिततेज' विद्याधरों के राजा बन गये, और पोदनपुर के राजा श्री विजय हुए। उन दोनों में परस्पर अति स्नेह है, दोनों एक-दूसरे के बहनोई हैं और आठभव के पश्चात् वे तीर्थंकर तथा गणधर होनेवाले हैं।

एक बार राजा श्रीविजय अपनी रानी सुतारा के साथ विमान में बैठकर वन विहार करने गये थे। वहाँ उनका पूर्वभव का शत्रु कपिल-जोकि वर्तमान अशनिघोष नामक बलवान विद्याधर राजा था, वह सुतारा पर मोहित होकर उसका अपहरण कर ले गया। इससे अमिततेज तथा श्रीविजय विशाल सेनासहित अशनिघोष से युद्ध करने चले। अशनिघोष भयभीत होकर भागा। उसके सद्भाग्य से ठीक उसी समय विजय बलभद्र मुनि-जोकि केवलीरूप से विचर रहे थे वे-गंधकुटी सहित वहाँ पधारे। अशनिघोषने उन भगवान की धर्मसभा में प्रवेश किया और प्रभुके दर्शन से उसका चित्त शांत हुआ।

अमिततेज तथा श्रीविजय भी क्रोधाविष्ट होकर उसे मारने के लिये उसके पीछे दौड़े; परन्तु केवलीप्रभु की धर्मसभा में आते ही उनका क्रोध दूर हो गया। इस प्रकार प्रभु के समीप सबके परिणाम बिलकुल शांत हो गये और परस्पर का वैरभाव भूल गये; उसी समय अशनिघोष की माता भी सुताराको लेकर वहाँ आ पहुँची और सुतारा को उसके पति को सौंपकर अपने पुत्रके अपराध हेतु क्षमायाचना की। अहा, जिनेन्द्रदेव के सान्निध्य में क्रूर पशु भी वैरभाव छोड़कर शांत हो जाते हैं वहाँ मनुष्यों की तो बात ही क्या!!

प्रभु की परमशांत मुद्रा के दर्शन से सब अत्यन्त प्रसन्न हुए और सबने विजयप्रभु के समवसरण में बैठकर धर्मोपदेश श्रवण किया...(श्री विजय राजा वे त्रिपृष्ठ वासुदेव के पुत्र हैं; त्रिपृष्ठ वासुदेव के भाई

विजयबलभद्र दीक्षा लेकर केवली हुए हैं।)

दिव्यध्वनि में प्रभुने कहा: हे जीवो! आत्मा ज्ञानस्वरुप है, क्रोध उसका स्वभाव नहीं है। जीव का स्वभाव शांति एवं ज्ञान-आनन्दमय है। क्रोधादि कषायों द्वारा जीव की शांति का घात होता है। अंतर में चैतन्य परमतत्त्व है; उस स्वतत्त्व की महिमा का चिन्तन करने से क्रोधादि भाव शांत हो जाते हैं और सम्यक्त्वादि भाव प्रगट होते हैं; भव्य जीव ऐसे सम्यक्त्व को प्रगट करके भवदुःख से छूट जाते हैं और सिद्धिसुख प्राप्त करते हैं।

अमिततेज (जो कि भावी तीर्थंकर है) को प्रभु का उपदेश सुनकर अंतर्मुख दृष्टि जागृत हुई...उसकी चेतना एकदम शांत होकर कषायों से भिन्न हो गई और अंतर में अपने परमात्मतत्त्व का अनुभव करके उसी समय उसने अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट किया। अहा, आठ भव पूर्व एक तीर्थंकर की आत्मसाधना प्रारम्भ हुई।

श्रीविजयने भी उसी समय सम्यग्दर्शन धारण किया। यहाँ से अपने चरित्रनायक (शान्तिनाथ तीर्थंकर तथा उनके भाई चक्रायुध गणधर) का धर्मसाधनामय मंगल जीवन प्रारम्भ होता है। धन्य वह सम्यक्त्व जीवन! सम्यक्त्व-प्राप्ति से उनको मोक्षप्राप्ति जैसा महान सुख हुआ।

तत्पश्चात, सम्यक्त्वप्राप्ति से जिनके चैतन्यप्रदेशों में अपूर्व आनन्द तरंगे उछल रही हैं और जिन्होंने देशव्रत धारण किये हैं-ऐसे उन अमिततेज विद्याधर को अपने पूर्वभव जानने की जिज्ञासा हुइ। इसलिये उन्होंने विनयपूर्वक पूछा-हे सर्वज्ञदेव! मुझे और इस श्री विजय को एक दूसरे के प्रति परम स्नेह क्यों है? तथा इस अशनिघोषने मेरी बहिन (सुतारा) का अपहरण क्यों किया?

भगवान ने दिव्यध्वनि में उनके पूर्वभव बतलाये:-

❀ हे अमिततेज! पूर्व भव में तू श्रीषेण राजा था; वहाँ आत्महत्या से मरकर, पात्रदान के पुण्य से भोगमूमि में उत्पन्न हुआ; पश्चात् श्रीप्रभ देव और वहाँ से यह अमिततेज हुआ है।

❀ यह श्रीविजय का जीव पूर्वभव में तेरी (श्रीषेण की) अनिन्दिता रानी थी; भोगभूमि में भी वह जीव तेरे साथ था, देव के भवमें भी वह तेरे साथ विमलप्रभ देव था; और वहाँ से तेरा स्नेही (बहनोई) श्रीविजय हुआ है।

तेरी बहिन सुतारा पूर्व में सत्यभामा नामकी ब्राह्मण कन्या थी; तब यह अशनिघोष का जीव उसका पति (कपिल) था; परन्तु सत्यभामा उसे छोड़कर तेरी (श्रीषेण की) शरण में आ गई थी। वह सत्यभामा पात्रदान का अनुमोदन करके भोगभूमि में तथा स्वर्गलोक में तेरे साथ ही थी...वही यहाँ पूर्वभव के स्नेह के कारण तेरी बहिन हुई है।

❀ पूर्वभव के मोह के कारण अशनिघोष ने सुतारा का अपहरण किया था; परन्तु अन्त में तुझसे भयभीत होकर वह यहाँ (धर्मसभा में) आया; उसके पीछे तू भी यहाँ आया और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्षकी साधना प्रारम्भ की।

इस प्रकार पूर्वभव बतलाकर केवली प्रभुने कहा: हे अमिततेज! अब आत्मसाधना में उन्नति करते-करते ९वें भवमें तुम्हारा आत्मा भरतक्षेत्र में पंचमचक्रवर्ती तथा १६ वाँ तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेगा...और तब यह श्रीविजय तुम्हारा भाई होकर चक्रायुध गणधर होगा। अब शेष भवों में वह तुम्हारे साथ ही साथ रहेगा।

अहा, केवली प्रभु के श्रीमुख से अपने तीर्थंकर पद की और मोक्ष की 'आज्ञा' सुनकर राजा

अमिततेज अतिशय आनन्द में निमग्न हो गये और मानो वर्तमान में ही उन्हें अरिहंतपद की विभूति प्राप्त हो गई हो इस प्रकार संतुष्ट हुए। अपने गणधर पदकी बात सुनकर श्रीविजय को भी महान आनन्द हुआ।

अशनिघोष को अपने पूर्वभव की कथा सुनकर जातिस्मरण हुआ और वैराग्य प्राप्त करके उसने दीक्षा ले ली। सुतारादेवी तथा ज्योतिप्रभा भी अपने पूर्वभव सुनकर संसार से विरक्त हो गई और दीक्षा लेकर आर्यिका बन गईं। इस प्रकार सब जीवों ने केवली प्रभु के उपदेश से आत्महित किया।

अपने चरित्र अभिनेता अमिततेज और श्रीविजय दोनों ने अपूर्व सम्यग्दर्शन द्वारा चैतन्यनिधान प्राप्त किये और देशव्रत अंगीकार करके अपनी-अपनी नगरी में लौटे।

अब राजा अमिततेज के अंतरंग जीवन में, एक महान परिवर्तन हो गया। 'दास भगवन्त के उदास रहें जगत सों'-ऐसा आदर्श श्रावकजीवन वे जी रहे थे। विद्याधरों की दोनों श्रेणी के स्वामी होने से वे 'विद्याधरों के चक्रवर्ती' थे, तथापि इतने महान राजवैभव में रहते हुए भी अपनी आत्मसाधना को क्षणभर नहीं भूलते थे। अनेक लोगों को प्रश्न उठता कि- 'क्या, ऐसे राजवैभव में रहकर भी धर्म की साधना हो सकती है?' महाराजा अमिततेज का जीवन देखकर उनके इस प्रश्न का समाधान हो जाता कि-हाँ, गृहस्थ दशा में भी आत्मज्ञान के बलसे धर्मसाधना (मोक्षमार्ग) चलती रहती है; क्योंकि ज्ञानी की चेतना राग से तथा संयोग से अलिप्त रहती है। महाराजा अमिततेज ऐसा धर्मजीवन जीते थे, और उनका वह मंगलजीवन अन्य जीवों को भी आत्महित की प्रेरणा देता था।

एक बार राजा अमिततेज तथा श्रीविजय रमणीय तीर्थों की यात्रा करने निकले। वहाँ एक शांत उद्यान में अमरगुरु तथा देवगुरु मुनिराजों को देखा। अहा, वीतरागी आत्मतेज से प्रकाशित उन मुनिवरों की शांतमुद्रा देखकर वे दोनों मुग्ध हुए। मुनिराजने उनको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपदेश दिया और तीर्थंकारादि महापुरुषों का चरित्र सुनाया।

तब श्रीविजयने अपने पिता त्रिपृष्ठ वासुदेव के पूर्वभव पूछे।

मुनिराज ने कहा-हे भव्य, सुन! तेरे पिता इस चौवीसी में अन्तिम तीर्थंकर (महावीर) होंगे। पूर्वभव में वह जीव ऋषभदेवका पौत्र (मारीचिकुमार) था, परन्तु उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होने से, दीर्घकाल तक संसार में भटक-भटककर नरक-निगोद के असंख्य भव किये। पश्चात् विश्वनन्दि राजकुमार हुआ, उद्यान के निमित्त से वैराग्य धारण करके धर्म प्राप्त किया और मुनि हुआ; परन्तु भोगों के निदान से धर्मभ्रष्ट हुआ, और अनुक्रम से त्रिपृष्ठ वासुदेव हुआ। वह तीन खण्ड की श्रेष्ठ विभूति का भोक्ता था; उसका वैभव अपार था; तीनों खण्डों के हजारों देव और सोलह हजार राजा उसकी सेवा करते थे; परन्तु धर्मको भूलकर विषय-भोगों की तीव्र लालसामें जीवन गँवाकर वह नरक में गया है और महा दुख भोग रहा है। (नरक से निकलकर अगले भवों में सिंह होकर वह धर्म प्राप्त करेगा; फिर अनुक्रम से चक्रवर्ती होकर अन्त में महावीर तीर्थंकर होगा।)

राजा श्रीविजय अपने पिता की तीन खण्ह की विभूति का वर्णन सुनकर आश्चर्यचकित हो गया और स्वयं भी धर्म के फल में ऐसी विभूति की लालसा करके उसका निदान बंध कर बैठा! अरेरे! हाथ में आये हुए धर्म का अमृत छोड़कर उसने विषयों के विषकी वांछा की!

वहाँ से घर आकर दोनों ने अनेक वर्षों तक राजसुख भोगा। उनके पुण्ययोग से एकबार पुनः दो मुनिराजों के दर्शन हुए। धर्मकथा के पश्चात् मुनिराज ने कहा: हे भद्र! अब तुम दोनों की आयु का एक मास शेष है, इसलिये धर्मसाधना में चित्त लगाओ।

वह बात सुनकर अमिततेज तथा श्रीविजय दोनों वैराग्यभावना का चिंतवन करने लगे। यह

शरीर-संसार-भोग अस्थिर और क्षणभंगुर हैं; उनमें सुख नहीं है; चैतन्यतत्त्व ही स्थिर अविनाशी एवं सुखका धाम है। ऐसे चिंतन द्वारा वैराग्य में वृद्धि करके वे संसार से विरक्त हुए; दोनों ने अपने-अपने पुत्रों को राज्य सौंपकर सिद्धकूट चैत्यालय में जाकर महान पूजा की, दान दिया और पश्चात् वहाँ के चन्दनवन में नन्दन मुनिराज के निकट जिनदीक्षा धारण कर ली। अन्त में, प्रायोपगमन संन्यासपूर्वक शरीर का त्याग करके कहाँ उत्पन्न हुए? वह अब देखें।

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव ८ वाँ : आनतस्वर्ग में

अपने चरित्रनायक तीर्थंकर शान्तिनाथ तथा उनके भाई चक्रायुध गणधर-दोनों जीव पूर्व नौवें भव में अमिततेज और श्रीविजय राजा थे; उन्होंने मुनि होकर संन्यासपूर्वक शरीर छोड़ा और १३ वें आनतस्वर्ग में देव पर्याय में उत्पन्न हुए। उनके नाम रविचूल और मणिचूल थे। उस देवविमान में सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और पचहत्तर योजन ऊँचा रत्नमय अकृत्रिम जिनमन्दिर है और उसमें १०८ जिन प्रतिमाएँ है। वहाँ जाकर दोनों देवों ने जिनबिम्ब की पूजा की। उस स्वर्ग लोक में आश्चर्यकारी वैभव थे; उन्हें अवधिज्ञान तथा अनेक लब्धियाँ थीं; वहाँ प्रतिदिन नये-नये उत्सव होते थे। स्वर्गलोक में उन दोनों देवों ने पुण्य के फल में असंख्य वर्षों तक उत्तम दैवी सुख भोगे; परन्तु वे पुण्यवैभव उन्हें तृप्त नहीं कर सके, मात्र आकुलता ही दी। अन्त में थककर वे मनुष्य लोक में आने को तैयार हुए; तब उनके शेष बचे पुण्य भी मनुष्य लोक में उनके साथ आये। मनुष्यलोक में वे कहाँ अवतरित हुए? वह अब देखें।

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव ७ वाँ
## विदेहक्षेत्र में अपराजित बलभद्र और अनन्तवीर्य वासुदेव

जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में वत्सकावती देश है, जहाँ सदा अनेक केवली भगवन्त और मुनिवर विचरते हैं तथा जैनशासन का धर्मचक्र सदा चलता रहता है। वहाँ के लोग जैनधर्म में तत्पर हैं और स्वर्ग के देव भी वहाँ धर्मश्रवण करने आते हैं। उस देश की प्रभाकरी नगरी में धर्मात्मा स्मित सागर महाराजा राज्य करते थे। अपने कथानायक 'तीर्थंकर-गणधर'-यह दोनों जीव (रविचूल देव तथा मणिचूल देव) स्वर्गलोक से निकलकर उन राजा के पुत्र हुए; उनके नाम-अपराजित और अनन्तवीर्य थे। वे अपने साथ महान पुण्य लेकर आये थे इसलिये वे बलदेव-वासुदेव हुए।

राजा स्मित सागर दोनों पुत्रों को राज्य सौंपकर संसार से विरक्त हुए और स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के निकट दीक्षा लेकर मुनि हो गये; परन्तु एक बार धरणेन्द्रदेव की दिव्यविभुति देखकर उन्होंने उसका निदान किया, इसलिये चारित्र से भ्रष्ट होकर पुण्य को अति अल्प करके, मृत्यु के पश्चात् धरणेन्द्र हुए। अरेरे! निदान वह वास्तव में निन्दनीय है जोकि जीव को धर्म से भ्रष्ट करके दुर्गति में भ्रमण कराता है।

यहाँ प्रभाकरी नगरी में अपराजित तथा अनन्तवीर्य के राज्यवैभव में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। उनकी राजसभा में बर्बरी और चिलाती नामकी दो राजनर्तकियाँ थीं; वे देशविदेश में प्रख्यात थीं। उन दिनों शिवमन्दिर नाम की विद्याधर नगरी में राजा दमितारी राज्य करता था; वह प्रति वासुदेव था; उसने तीन खण्ड पृथ्वी जीत ली थी और उसके शस्त्रभण्डार में एक दैवी चक्र उत्पन्न हुआ था। उस दमितारी राजाने दो नर्तकियों की प्रशंसा सुनी; उसने बलदेव-वासुदेव को आदेश दिया कि दोनों नर्तकियाँ मुझे सौंप दो और मेरी आज्ञा में रहकर राज्य करो।

दोनों भाइयों ने युक्ति सोची; वे स्वयं ही नर्तकी का रुप धारण करके दमितारी के राजमहल में गये और उसकी पुत्री कनकश्री का अपहरण कर ले गये।

कनकश्री के अपहरण की बात सुनते ही राजा दमितारी सेना लेकर उन दोनों के साथ युद्ध करने गया। वह जब किसी प्रकार जीत नहीं सका तब उसने अपना दैवी चक्र अनन्तवीर्यको मारने के लिये उस पर फैंका; परन्तु अनन्तवीर्य के पुण्यातिशय के कारण वह चक्र उसके निकट आते ही शांत हो गया और उलटा उसका आज्ञाकारी बन गया। अनन्तवीर्य ने क्रोधपूर्वक उस चक्र द्वारा दमितारी का शिरच्छेद कर दिया। अरेरे! उसीके चक्रने उसीका वध कर दिया! मरकर वह नरक में गया। [दमितारी प्रति वासुदेव के पिता कीर्तिधर मुनि हुए थे और केवलज्ञान प्रगट करके अरिहंत रुप में विचर रहे थे। अरे, पिता तो केवली हुए और पुत्र नरक में गया! पुत्री कनकश्री अपने दादा कीर्तिधर भगवान के समवसरण में अपने पूर्वभव जानकर, संसार से विरक्त होकर आर्यिका हुई और समाधिमरण करके स्वर्ग में देवीरूप से उत्पन्न हुई।]

अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों भाई (अर्थात् शान्तिनाथ तीर्थंकर तथा चक्रायुध गणधर के जीव, पूर्व के सातवें भव में) विदेहक्षेत्र में बलदेव-वासुदेव रूप में प्रसिद्ध हुए। हजारों राजा तथा देव उनकी सेवा करते थे; तीन खण्ड की उत्तम विभूति उन्हें प्राप्त हुई थी, अनेक दैवी विद्याएँ भी उनको सिद्ध थीं। यह सब जिनधर्म की सेवा-भक्ति का फल था। शास्त्रकार कहते हैं कि-हे भव्य जीवो! तुम मोक्षके हेतु जैनधर्म की उपासना करो। अहा, जैनधर्म की उपासना तो मोक्षफल प्राप्त कराती है; वहाँ बीच में स्वर्गादिकी तो गिनती ही क्या!

विदेह क्षेत्र की प्रभाकरी नगरी में बलदेव-वासुदेव सुखपूर्वक तीन खण्ड का राज्य करते थे। एक बार अपराजित बलदेव की पुत्री सुमतिदेवी के विवाह की तैयारियाँ चल रही थी; अति भव्य विवाह-मण्डप के बीच सुमति कुमारी सुन्दर शृंगार सजकर आयी थी कि इतने में आकाश से एक देवी उतरी और सुमति से कहने लगी-हे सखी! सुन, मैं तेरे हितकी बात करती हूँ। मैं स्वर्ग की देवी हूँ, तू भी पूर्व भव में देवी थी और हम दोनों सहेलियाँ थीं। एक बार हम दोनों साथ नन्दीश्वर जिनालयों की पूजा करने गये थे। पश्चात् हम दोनों ने मेरु जिनालय की भी वन्दना की; वहाँ एक ऋद्धिधारी मुनि के दर्शन किये और धर्मोपदेश सुनकर हमने उन मुनिराज से पूछा कि हे स्वामी! इस संसार से हम दोनों की मुक्ति कब होगी?

मुनिराज ने कहा-तुम चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करोगी। देवी कहने लगी-हे सुमति! यह सुनकर हम दोनों अति प्रसन्न हुए थे और हम दोनों ने मुनिराज के समक्ष एक-दूसरे को वचन दिया था कि-हम में से जो पहले मनुष्य लोक में अवतरित हो, उसे दूसरी देवी संबोधकर आत्महित की प्रेरणा दे, इसलिये हे सखी! मैं स्वर्ग से उस वचन का पालन करने आयी हूँ। तू इन विषय-भोगों में न पड़कर संयम धारण कर और आत्महित कर ले!

विवाह-मण्डप के बीच देवी की यह बात सुनते ही भावी तीर्थंकर ऐसे बलदेव की वीरपुत्री सुमति को अपने पूर्वभव का स्मरण हुआ और वैराग्य को प्राप्त हुई; उसने अन्य सात सौ राजकन्याओं के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की और आर्यिका व्रत का पालन करके, स्त्रीपर्याय छोड़कर उस सुमति का जीव १३ वें स्वर्ग में देव हुआ।

अचानक विवाह-मण्डप में ही राजकुमारी को 'विवाह के समय वैराग्य' की घटना से चारों ओर

आश्चर्य फैल गया। बलभद्र का चित्त भी संसार से उदास हो गया। यद्यपि उनको संयम भावना जागृत हुई, किन्तु अपने भ्राता अनन्तवीर्य के प्रति तीव्र स्नेह के कारण वे-संयम धारण न कर सके। ऐसा महान वैराग्य प्रसंग प्रत्यक्ष देखकर भी अनन्तवीर्य वासुदेवके (पूर्व काल के निदानबंध के मिथ्या संस्कार वश) किंचिंत भी वैराग्य नहीं हुआ; उसका जीवन दिन-रात विषय-भोगों में ही आसक्त रहा। तीव्र विषयासक्ति के कारण सदा आर्त्त-रौद्र ध्यान में वर्तता हुआ वह पंचपरमेष्ठी को भी भूल गया। अरे, जिस धर्मानुराग के कारण वह ऐसे पुण्यभोगों को प्राप्त हुआ था, उस धर्म को ही वह भूल गया था! अपने भाई के साथ अनेकों बार वह प्रभु के समवसरण में भी जाता था और धर्मोपदेश भी सुनता था; परन्तु उसका चित्त तो विषय-भोगों से रंगा हुआ था। अरे रे! जिसका चित्त ही मैला हो उसे परमात्मा का संयोग भी क्या कर सकेगा? तीव्र आरम्भ परिग्रह के कलषित भाव के कारण वह अनन्तवीर्य रौद्रध्यानपूर्वक मरकर नरक में गया।

नरक में उत्पन्न होते ही वह अर्धचक्रवर्ती का जीव महाभयंकर बिल में से औंधे सिर नीचे की कर्कशभूमि पर जा गिरा। नरकभूमि के स्पर्शमात्र से उसे इतना भयंकर दुःख हुआ कि पुनः पाँचसौं धनुष उपर उछला और फिर नीचे गिरा। उसे असह्य शारीरिक वेदना थी; उसे देखते ही दूसरे हजारों नारकी मारने लग गये। ऐसे भयंकर दुःख देखकर उसे विचार आया कि अरे, मैं कोन हूँ? कहाँ आकर पड़ा हूँ? मुझे अकारण ही इतना दुःख देनेवाले यह क्रूर जीव कौन हैं? मुझे क्यों इतनी भयंकर पीड़ा दी जा रही है? अरे रे! मैं कहाँ जाऊँ? अपना दुःख किससे कहूँ? यहाँ कौन मुझे बचायगा? भीषण ताप और भूख-प्यास के कारण मुझे मृत्यु से भी अधिक वेदना हो रही है; मुझे बहुत प्यास लगी है, लेकिन पानी कहाँ मिलेगा? इस प्रकार दुःखों से चिल्लाता हुआ वह जीव इधर से उधर भटकने लगा। वहाँ उसे कुअवधिज्ञान हुआ और उसने जाना कि-अरे, यह तो नरक भूमि है; पापों के फलसे मैं नरकभूमि में आ पड़ा हूँ और यह सब नारकी तथा परमाधामी असुर देव मुझे भयंकर दुःख देकर मेरे पापों का फल चखा रहे हैं। अरेरे! दुर्लभ मुनष्यभव विषयभोगों में गँवाकर मैं इस घोर नरक में पडा हूँ! मुझ मूर्ख ने पूर्व भव में धर्म के फल में भोगों की चाह करके सम्यक्त्व रुपी अमृतको ढोल दिया और विषसमान विषयों की लालसा की। उस भूल के कारण मुझे वर्तमान में कैसे भयंकर दुःख भोगना पड़ रहे हैं! अरेरे, विषयों में से सुख तो मुझे किंचित् नहीं मिला, उलटा उनके सेवन से दुःखों के इस समुद्र में आ पड़ा हूँ! बाह्य विषयों में सुख है ही कहाँ? सुख तो आत्मा में है। अतीन्द्रिय आत्मसुख की प्रतीति करके मैं पुनः अपने सम्यक्त्व को ग्रहण करूँगा, ताकि फिर कभी ऐसे घोर नरकों के दुःख नहीं सहना पड़ें! -इस प्रकार पश्चाताप सहित नरक के घोरातिघोर दुःखों को सहन करते हुआ वह अनन्तवीर्य का जीव (भावी गणधर का जीव) अपनी असंख्यात वर्ष की नरकायुका एक-एक पल बड़ी कठिनाई पूर्वक रो-रोकर व्यतीत कर रहा था। अरे, उसके दुःख का अल्प वर्णन लिखते हुए भी कँपकँपी आती है तो वह दुःख सहन करनेवाले की पीड़ा को तो हम क्या कहें? वह तो वही वेदे और केवली प्रभु ही जानें!

अब, इस ओर प्रभाकरी नगरी में अपने भ्राता अनन्तवीर्य वासुदेव की अचानक मृत्यु हो जाने से अपराजित बलभद्र को तीव्र आघात लगा। 'मेरे भाई की मृत्यु हो चुकी है'-ऐसा स्वीकार करने को उसका मन तैयार नहीं था। यद्यपि स्वात्मतत्त्व के सम्बन्ध में उस समय उनका ज्ञान जागृत था, परन्तु वे भ्रातृस्नेह के कारण मृतक को जीवित मानने की परज्ञेय सम्बन्धी भूल कर बैठे। वे अनन्तवीर्य के

मृत शरीर को कन्धे पर उठाकर इधर-उधर घूमते फिरे; उसके साथ बात करने की तथा खिलाने-पिलाने की चेष्टाएँ कीं! उदयभाव की विचित्रता तो देखो!...कि-सम्यक्त्व की भूमिका में स्थित एक भावी तीर्थंकर स्वयं भावी गणधर के मृत शरीर को लेकर छह महीने तक फिरते रहे, किन्तु धन्य है उनकी सम्यक्त्व-चेतना को..,जिसने अपने आत्मा को उस उदयभाव से भिन्न का भिन्न ही रखा! भाग्ययोग से उसी काल उन बलभद्रजी को यशोधर मुनिराज का समागम हुआ; उन्होंने चैतन्यतत्त्व का अद्भुत उपदेश देकर कहा कि-हे राजन्! तुम तो आत्मतत्त्व के ज्ञाता हो। इसलिये अब इस बन्धुमोह को तथा शोक को छोड़ो और संयम धारण करके अपना कल्याण करो। छह भव के पश्चात् तो तुम भरत क्षेत्र में तीर्थंकर होगे; यह मोहासक्तिपूर्ण चेष्टाएँ तुम्हें शोभा नहीं देती; इसलिये अपने चित्त को शांत करो और उपयोग को आत्मध्यान में लगाओ।

मुनिराज का उपदेश सुनते ही बलदेव को वैराग्य उत्पन्न हुआ; उनकी चेतना चमक उठी-अरे! किसका शरीर और कौन भाई? जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है वहाँ दूसरा कौन अपना होगा!

**''नथी मोह ते मारो कंई, उपयोग केवल अेक हूं।''**

अरे, मैंने मोहचेष्टा में व्यर्थ ही समय गँवा दिया-ऐसा विचार कर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर उन अपराजित मुनिराज ने अपना मन आत्मसाधना में ही लगाया, और अंत समय में उत्तम ध्यानपूर्वक शरीर त्यागकर वे महात्मा १६ वें अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए।

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव छठवाँ अच्युतस्वर्ग में इन्द्र

अपने चरित्रनायक भगवान शान्तिनाथ जो अपराजित बलभद्र थे और पश्चात् मुनि दीक्षा लेकर समाधिमरण करके अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए; उनके अवतरित होते ही स्वर्गलोक में मंगलवाद्य बजने लगे। देव देवियाँ उन्हें वन्दन करके आदर सत्कार करने लगे। वहाँ की आश्चर्यजनक विभूति देखकर भी उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ; क्योंकि वे जानते थे कि मैंने पूर्वभव में आत्मा की आराधना की है और वह आराधना करते हुए साथ में जो राग शेष रह गया उसका यह फल है; इस वैभव का एक रजकण भी मेरे आत्मा का नहीं है, सब कुछ मुझसे भिन्न ही है...इस प्रकार निर्मोह रूप से धर्म की महिमापूर्वक सर्व प्रथम उन्होंने इन्द्रलोक में विराजमान जिनप्रतिमा की भक्ति सहित पूजा की और पश्चात् इन्द्रपद स्वीकार किया। ऐसा करके उन्होंने अपने ऐसा भाव प्रगट किया कि-हे जिनदेव! हमें यह स्वर्गवैभव इष्ट नहीं है, हमें तो आप जैसा वीतरागी आत्मवैभव ही इष्ट है। आश्चर्यकारी इन्द्रलोक के वैभव में भी लुभाना नहीं-यह कोई साधारण बात है? नहीं, यह तो असाधारण बात है। आत्मतत्त्व की अद्भुतता को जाननेवाले भगवान शान्तिनाथ जैसे सम्यग्दृष्टि महात्मा ही वह कर सकते हैं।

उन अच्युत इन्द्र को महान अवधिज्ञान तथा विक्रियादि ऋद्धियाँ थीं...वे बारम्बार तीर्थंकरों के पंचकल्याणक में जाते, भव्य इन्द्रसभा में सम्यग्दर्शन की चर्चा करके उसकी अपार महिमा प्रगट करते और चारित्रदशा की भावना भाते।-इस प्रकार सुखपूर्वक स्वर्ग की आयु व्यतीत करते थे।



अरे, जीवनभर तथा भव-भवान्तर से साथ रहनेवाले तथा भविष्य में भी तीर्थंकर-गणधर होनेवाले वे भाई पृथक् हो गये- एक स्वर्ग में और दूसरा नरक में! उसका नरक-दुःख देखा नहीं जाता, इसलिये कथा को आगे बढ़ाने से पूर्व उस अनन्तवीर्य के जीव को नरक से बाहर लायें और स्वर्ग में दोनों भाइयों का मिलाप करा दें।



पहले हम पढ़ चुके हैं कि अपराजित और अनन्तवीर्य के पिता स्मितसागर दीक्षा लेकर मुनि हुए थे और निदान बन्ध करके धरणेन्द्र पर्याय में उपजे थे। एक बार उन धरणेन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि पूर्वभव का मेरा पुत्र अनन्तवीर्य मरकर नरक में गया है; इसलिये तुरन्त वे धरणेन्द्र उसे प्रतिबोधने के लिये नरक में पहुँचे। धरणेन्द्र को देखते ही नारकी जीवों को आश्चर्य हुआ कि-यह कोई प्रभावशाली देव हमें मारने के लिये नहीं किन्तु शान्ति प्रदान करने आये हैं;-ऐसा समझकर वे सब नारकी क्षणभर के लिये एक-दूसरे के साथ लड़ना झगड़ना छोड़कर धरणेन्द्र की बात सुनने को आतुर हुए।

धरणेन्द्र ने अनन्तवीर्य के जीव को सम्बोधते हुए कहा-हे भव्य! इससे पूर्व के भवमें तू तीनखण्ड का स्वामी वासुदेव था और मैं तेरा पिता था। धर्मको भूलकर विषय-भोगों की तीव्र लालसा के कारण तुझे यह नरक मिला है। अब फिर से अपने आत्मा की सुरक्षा कर और अपने खोये हुए सम्यक्त्व-रत्न को पुनः प्राप्त कर ले! मैं धरणेन्द्र हूँ और तुझे प्रतिबोधने के लिये ही यहाँ आया हूँ।

अहा, मानो नरक में अमृत पीने को मिला हो!-तदनुसार धरणेन्द्र के वचन सुनकर उस नारकी जीव को महान शान्ति हुई। वह गद्‌गद होकर हाथ जोड़कर कहने लगा-हे तात! आपने इस नरक में भी मुझे धर्मोपदेश रुपी अमृत-पान कराके महान उपकार किया है! अरे, मनुष्यभव में मैं त्रिखण्डाधिपति था, और भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले महात्मा अपराचित बलदेव मेरे भाई आहर जीवन के साथी थे; उस काल जो मेरे साथ थे उनमें से अनेक जीवों ने तो मोक्ष प्राप्त कर लिया, अनेक जीव स्वर्ग में गये और मैं यहाँ नरक में पड़ा हूँ! पुण्यफल को भोगनेवाले तो कितने ही जीव मेरे साथी थे, अब इस पापफल को भोगने में कोई मेरा सहचर नहीं है; मैं अकेला ही पाप का फल भोग रहा हूँ—

जन्म-मरण एकहि करे, सुख-दुःख वेदे एक;
नरक गमन में अकेला, मोक्ष जाय जीव एक।

यहाँ अकेला मेरा आत्मा ही शरण है।-इस प्रकार एकत्व भावना द्वारा अंतर्स्वभाव की गहराई में उतरकर उसने पुनः सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया...इतना ही नहीं, उस समय और भी अनेक नारकी जीव शान्ति एवं सम्यक्त्व को प्राप्त हुए...और अति उपकार बुद्धि से हाथ जोड़कर धरणेन्द्र को नमस्कार करने लगे। अपना प्रयोजन पूर्ण हुआ जानकर वे धरणेन्द्र भी अपने स्थान पर चले गये।

देखो तो सही, जीवों के परिणाम की विचित्रता! त्रिखण्ड का राजवैभव भोगने में अपराजित और अनन्तवीर्य दोनो भाई साथ थे; तथापि एक तो विशुद्ध परिणाम के कारण स्वर्ग में गया और दूसरा

संक्लेशपरिणाम के कारण नरक में।-नरक में भी पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया। दो भाइयों में से एक असंख्य वर्षों तक स्वर्ग में और दूसरा असंख्य वर्ष तक नरक में, तथापि गहरी अंतर्दृष्टि से देखें तो दोनों जीव सम्यग्दृष्टि हैं, दोनो चतुर्थ गुणवास्थान वर्ती है और सम्यकत्व सुख दोनों को समान है। दोनों के संयोग में तथा उदयभाव में महान अंतर होनेपर भी स्वभावदशा की इस समानता को भेदज्ञानी जीव ही जान सकते हैं; उदय और ज्ञानको जो भिन्न देख सकते हैं वे ही ज्ञानियों की अंतर्दशा को पहिचान सकते हैं।

अन्त में वह अनन्तवीर्य का जीव सम्यक्त्व का पालन करते हुए नरक की घोर यातना से छूटकर भरतक्षेत्र में विद्याधरों का स्वामी मेघनाद राजा हुआ। एक बार वह मेघनाद मेरुपर्वत के नन्दनवन में विद्या साध रहा था; ठीक उसी समय अच्युतेन्द्र भी वहाँ जिनवन्दना हेतु आये; उन्होंने मेघनाद को देखकर कहा-हे मेघनाद! पूर्वभव में हम दोनों भाई थे; मैं अच्युतेन्द्र हुआ हूँ, और तू नरक में गया था, वहाँ से निकलकर मेघनाद विद्याधर हुआ। विषय-भोगों की तीव्र लालसा से तूने घोर नरक-दुःख भोगे; उनका स्मरण करके अब सावधान हो; इन विषय-भोगों को छोड़ और संयम की आराधना कर! तुझे सम्यग्दर्शन तो है ही, चारित्र धर्म को अंगीकार कर! तृष्णा की आग विषय-भोगों द्वारा शांत नहीं होती परन्तु चारित्रजल से ही शांत होती है; इसलिये तू आज ही भोगों को तिलांजलि देकर पारमेश्वरी जिनदीक्षा धारण कर। यह दीक्षा मोक्ष की जननी है, जिसकी पूजा देव भी करते हैं।

अपने भाई अच्युत इन्द्र के मुँह से चारित्रदशा की अपार महिमा तथा वैराग्य का महान उपदेश सुनकर उस मेघनाद को जाति स्मरण हुआ; तुरन्त उसका चित्त संसार से विरक्त हो गया और घर लौटने से पूर्व वहीं उसने एक मुनिराज के समीप वस्त्राभूषण एवं राजमुकुट आदि सर्व परिग्रह छोड़कर चारित्रदशा अंगीकार कर ली। 'धन्य मुनिदशा!' इस प्रकार प्रशंसापूर्वक उसे वन्दन करके अच्युतेन्द्र अपने स्वर्ग में चले गये। (देखो तो सही, गुण का बहुमान! एक तीर्थंकर के आत्माने गणधर के आत्मा को वन्दन किया।)




श्री मेघनाद मुनि आत्मध्यान पूर्वक विचर रहे थे। इतने में सुकण्ठ नामके एक असुरकुमार देवने उन पर उपसर्ग किया। धरणेन्द्र को उपसर्ग का ज्ञान होते ही उन्होंने उस उपसर्ग को टाला और असुर को भगा दिया। अन्त में वे मुनिराज शांतभाव से समाधिमरण करके सोलहवे अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुए। इन्द्र तो शान्तिनाथ तीर्थंकर का जीव और प्रतीन्द्र चक्रायुध गणधर का जीव-इस प्रकार दोनों भाइयों का पुनःमिलाप हुआ। अपने पूर्वभव के भाई, तथा भविष्य के भवके भी भाई की भेट होने से उस प्रतीन्द्र को अति प्रसन्नता हुई; उसने उनका बहुत उपकार माना। वे इन्द्र और प्रतीन्द्र दोनों असंख्यात वर्षों तक चैतन्य की अखण्ड साधनापूर्वक स्वर्ग लोक में साथ ही रहे। अब मोक्ष तक के शेष पाँचों उत्तम भवों में भी साथ ही रहेंगे और आत्मासाधना में वृद्धि करते करते, तीर्थंकर-गणधर होकर, मोक्षपद प्राप्त करेंगे। [हम इस कथा द्वारा मोक्ष तक उनके साथ ही रहेंगे। प्रथम विदेहक्षेत्र में- जहाँ वे क्षेमंकर तीर्थंकर के पुत्र होते हैं वहाँ चलें।]

# भगवान शान्तिनाथ : पूर्व भव पाँचवाँ
## क्षेमंकर-तीर्थंकर के पुत्र वज्रायुध-चक्रवर्ती (शांतिनाथ का जीव)
## वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध (चक्रायुध गणधर का जीव)

**अहा, चैतन्यरस से भरपूर शांत जीवन जीनेवाले हे शांतिनाथ प्रभु! तीर्थंकर होने से पूर्व पाँचवें तथा तीसरे दोनों अवतार में आप विदेहक्षेत्र में तीर्थंकर देव के पुत्र थे। दोनों बार स्वर्गलोक की इन्द्रसभामें इन्द्रने आपके उत्तम गुणों की प्रशंसा की थी और देव-देवी आपकी परीक्षा करने आये थे; तब जैनतत्त्वज्ञान एवं ब्रह्मचर्य में आप इतने अडिग थे कि देव भी आपको डिगा नहीं सके। ज्ञान-वैराग्य की दृढ़ता के प्रेरक आपके जीवन की उत्तम घटनाएँ हम जैसे मुमुक्षु जीवों को भी आत्मसाधना हेतु उत्साहित करती हैं। यहाँ आपके जीवन की उन घटनाओं का आलेखन करनेके मंगल-अवसर पर आपश्रीको अपने हृदय में विराजमान करके नमस्कार करते हैं...अहो, आपके मंगल-जीवन का आलेखन करते हुए हमें इतनी अपार प्रसन्नता होती है मानों आप स्वयं ही हमारे हृदय में बैठे-बैठे बोल रहे हों!**

अपने हृदयेश्वर भगवान शान्तिनाथ और उनके गणधर वे दोनों जीव छठवें पूर्वभव में अच्युतस्वर्ग में इन्द्र तथा प्रतीन्द्र हुए हैं; वहाँ से निकलकर अब जिस नगरी में तीर्थंकर के पुत्र-पौत्र रुप में अवतरित होनेवाले हैं उस पावननगरी में अपनी कथा प्रवेश करती है।

यह है जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में मंगलावती देश की रत्नसंचयपुर नगरी! जहाँ के महाराजा क्षेमंकर तीर्थंकर हों उस नगरी की शोभा का क्या कहना! जैनधर्म के उपासक पुण्यवन्त जीव वहाँ निवास करते हैं और उच्च शिखरों से सुशोभित जिनमन्दिर हैं। वह 'रत्नसंचयपुरी' बाह्य में तो जिन मन्दिरों के शिखर पर जड़े हुए रत्नों के प्रकाश से शोभायमान है, और अंतरंग में, धर्मात्माओं के हृदय में विद्यमान सम्यग्दर्शनादि रत्नों से सुशोभित हो रही है। महाराजा क्षेमंकर महापुण्यवान हैं, धीर-वीर हैं, शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, अवधिज्ञानी हैं, चरमशरीरी हैं और तीर्थंकर हैं।

उन क्षेमंकर महाराजा की महारानी कनकमाला की कोख से शान्तिनाथ प्रभुके जीवने (पूर्वके अपराजित बलभद्र के जीवने) अच्युतस्वर्ग में से अवतार लिया...उसका नाम वज्रायुध! [पाठक, तुम्हें स्मरण होगा कि शान्तिनाथ प्रभुने पूर्व १२ वें भव में भी इस रत्नसंचयपुर नगरी में ही 'श्रीषेण राजा' के रुप में अवतरित होकर राज्य किया था।] वाह, रत्नपुरी तो मानो तीर्थंकरों की खान! विदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर के घर भरतक्षेत्र के भावी तीर्थंकर पुत्ररुप में अवतरित हुए। वैसे तो, दो साक्षात् तीर्थंकरों का मिलन नहीं होता, परन्तु एक तीर्थंकर के घरमें दूसरे तीर्थंकर का अवतार हुआ; इसलिये एक वर्तमान और एक भावी-ऐसे दो तीर्थंकर-आत्माओं का पिता-पुत्र रुप में मिलाप हुआ।

卐 भावी गणधर का जीव, जोकि पूर्व में अपराजितका भाई अनन्तवीर्य वासुदेव था, पश्चात् नरक में गया था और वहाँ से निकलकर मेघनाद होकर अच्युतस्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वह वहाँ से निकलकर

रत्नसंचयपुरी में वज्रायुध का पुत्र हुआ। उसका नाम सहस्रायुध। (भावी तीर्थंकर और गणधर वर्तमान में पिता-पुत्र हुए।)

※ उस सहस्रायुध का एक चरमशरीरी पुत्र था जिसका नाम कनकशान्ति।

इस प्रकार शान्तिनाथ प्रभु के जीवन में एकसाथ चार पीढ़ियों के महापुरुषों का जीवन पढ़ रहे हैं-

(१) क्षेमंकर महाराजा (विदेहक्षेत्र के तीर्थंकर-रत्नसंचयपुरी के राजा)

(२) उन क्षेमंकर के पुत्र वज्रायुध कुमार (चक्रवर्ती; भावी तीर्थंकर शान्तिनाथ)

(३) उन वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध (भावी गणधर चक्रायुध)

(४) उन सहस्रायुध के पुत्र कनकशान्ति (जो चरमशरीरी हैं और केवलज्ञान प्रगट करके धर्मोपदेश द्वारा अपने दादाको भी वैराग्य का निमित्त होंगे।)

एक बार रत्नपुरी की राजसभा में वे चारों महात्मा बैठे हैं। तीर्थंकर क्षेमंकर महाराजा पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र सहित शोभायमान हो रहे हैं; इतने में उस राजसभा में एक पण्डित आया...और आश्चर्यजनक घटना हुई। क्या हुआ?-वह सुनें।



[इन्द्रसभा में वज्रायुध की प्रशंसा] और [देव द्वारा परीक्षा तथा स्तुति]

जब यहाँ रत्नपुरी में अद्‌भुत राजसभा भरी थी उसी समय अमरपुरी में अद्‌भुत इन्द्रसभा चल रही थी; उसमें इन्द्र महाराज ने वज्रायुधकुमार की प्रशंसा करते हुए कहा-'हे देवो! मैं मध्यलोक के एक धर्मात्मा की बात कहता हूँ सो सुनो!...यह बात सुख देनेवाली तथा धर्म की महिमा में वृद्धि करनेवाली है। देखो, इस समय विदेहक्षेत्र की रत्नसंचयपुरी नगरी में तीर्थंकर भगवान श्री क्षेमंकर महाराज की राजसभा में उनके पुत्र वज्रायुध कुमार बैठे हैं, वे भी भरतक्षेत्र के भावी तीर्थंकर हैं, महाबुद्धिमान हैं,

अवधिज्ञानी हैं, गुणों के सागर हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं, धर्मात्मा हैं, सम्यग्दर्शन के निःशंकतादि गुणों से शोभित हैं और जिनप्रणित तत्त्वार्थश्रद्धान में अडिग हैं...'' ऐसे अनेक प्रकार से इन्द्रने वज्रायुधकुमार की स्तुति की।

इन्द्रसभा में वज्रायुध कुमार की ऐसी प्रशंसा सुनकर 'विचित्र शूल' नामका एक देव परीक्षा करने के लिये रत्नपुरी में आया और एकान्तवादी पण्डित का रूप धारण करके वज्रायुध कुमार से पूछने लगा-'हे कुमार! आप जीवादि पदार्थों का विचार करने में चतुर हैं तथा अनेकान्त रुप जैनमत के अनुयायी हैं; परन्तु वस्तु या तो एकान्त क्षणिक होती है अथवा एकान्त नित्य होती है! तो फिर यह बतलाइये कि-जीव सर्वथा क्षणिक है? या सर्वथा नित्य है?

उत्तर में वज्रायुधकुमार अनेकान्त स्वभाव का आश्रय लेकर अमृतसमान मधुर एवं श्रेष्ठ वचनों द्वारा कहने लगे-'हे विद्वान! मैं जीवादि पदार्थों का स्वरुप पक्षपातरहित कहता हूँ; तुम अपने मन को स्थिर रखकर सुनो! जबतक तुमने अनेकान्तमय जैनधर्म का अमृत नहीं पिया तभी तक तुम्हारी वाणी में एकान्तवाद रूप मिथ्यात्व का विष आता है। अनेकान्त के अमृत का स्वाद लेते ही तुम्हारा मिथ्यात्वरुपी विष उतर जायगा और तुम्हें तृप्ति होगी। सुनो! जिन भगवान के अमृतसमान वचनों में ऐसा कहा है कि-जीवादि कोई पदार्थ सर्वथा क्षणिक नहीं हैं, और न सर्वथा नित्य हैं, क्योंकि यदि उसे सर्वथा क्षणिक माना जाय तो पुण्य-पाप का फल या बंध-मोक्ष आदि कुछ नहीं बन सकते, पुनर्जन्म नहीं बन सकता, विचारपूर्वक किये जानेवाले कार्य मकान-व्यापार-विवाहादि नहीं बन सकते; ज्ञान-चारित्रादि का अनुष्ठान या तपादि भी निष्फल जायेंगे, क्योंकि जीव क्षणिक होगा तो उन सबका फल कौन भोगेगा? तथा गुरु द्वारा शिष्य को ज्ञानप्राप्ति या पूर्वजन्म के संस्कार भी नहीं रहेंगे; और प्रत्यभिज्ञान, जातिस्मरण ज्ञान आदि का भी लोप हो जायगा। इसलिये जीवको सर्वथा क्षणिकपना नहीं है। और यदि जीवके सर्वथा नित्य माना जाय तो बंध-मोक्ष नहीं बन सकेंगे, अज्ञान दूर करके ज्ञान करना या क्रोधादि की हानि या ज्ञानादि की वृद्धि नहीं बन सकेगी, पुनर्जन्म भी नहीं बन सकेगा; गति का परिवर्तन भी किस प्रकार होगा? इसलिये जीव सर्वथा नित्य भी नहीं है।

एक ही जीव एकसाथ नित्य तथा अनित्य ऐसे अनेक स्वरुप है, (आत्मा द्रव्य से नित्य है, पर्याय से पलटता है।)-उसे अनेकान्त कहते हैं। उसी प्रकार जीवादि तत्त्वों में जो अपने गुण-पर्याय हैं उनसे वह सर्वथा अभिन्न नहीं है, तथा एकान्त से भिन्न भी नहीं है; अनेकान्त स्वरुप द्वारा ही सत्य की सिद्धि है। अनेकान्त यह अमृत है; इसलिये बुद्धिमानों को परीक्षापूर्वक अनेकान्त स्वरूप जैनधर्म का स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि वही सत्य है। एकान्त नित्यपना या एकान्त क्षणिकपना वह सत्य नहीं है।

इस प्रकार वज्रायुध कुमारने वज्रसमान वचनों द्वारा एकान्तवाद के तर्कों को खण्ड-खण्ड कर दिया। विद्वान पंडित के वेश में आया हुआ वह देव भी वज्रायुध की विद्वत्ता से मुग्ध हो गया। मनमें प्रसन्न होकर अभी विशेष परीक्षा के लिये उसने पूछा कि-हे कुमार! आपके वचन बुद्धिमत्तापूर्ण तथा विद्वानों को आनन्द देनेवाले हैं। अब, यह समझायें कि-

**क्या जीव, कर्मादिका कर्त्ता है? या सर्वथा अकर्त्ता है?**

उत्तर में वज्रायुद्ध ने कहा-जीव को घट-पट-शरीर-कर्म आदि परद्रव्य का कर्ता उपचार से कहा जाता है, वास्तव में जीव उनका कर्ता नहीं है। अशुद्धनय से जीव अपने क्रोध-रागादि भावों का कर्ता है, परन्तु वह कर्तापना छोड़ने योग्य है, शुद्धनय से जीव उन क्रोधादिका कर्त्ता नहीं हैं; वह अपने

सम्यक्त्वादि शुद्ध चेतनभावों का वास्तव में कर्ता है; वह उसका स्वभाव है। इस प्रकार जीव को कर्त्तापना तथा अकर्त्तापना समझना।

**विद्वान ने फिर पूछा-क्या जीव कर्म के फल का भोक्ता है? या नहीं?**

विदेह के वर्तमान तीर्थंकर की सभा में बैठे हुए भारत के भावी तीर्थंकर ने उत्तर दिया कि-'अशुद्धनय से जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है; शुद्धनय से वह कर्मफल का भोक्ता नहीं है; अपने स्वाभाविक सुखका ही भोक्ता है।'

**(देव-) जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का भोक्ता है? या कोई दूसरा?**

(वज्रायुध) एक पर्याय में जीव शुभाशुभ कर्म को करता है और दूसरी पर्याय में (अथवा दूसरे जन्म में) उसके फलको भोगता है; इसलिये पर्याय-अपेक्षासे देखने पर जो करता है वही नहीं भोगता; और द्रव्य-अपेक्षासे देखने पर जिस जीवने कर्म किये वही जीव उनके फल को भोगता है; एक जीव के सुख-दुःखको दूसरा नहीं भोगता।

**देवने फिर पूछा-जीव सर्वव्यापी महान है? या तिल्लीके दाने जितना सूक्ष्म है?**

वज्रायुध ने कहा-निश्चय से प्रत्येक जीव सदा असंख्य प्रदेशी है। केवली समुद्घात के समय वह सम्पूर्ण लोक में सर्वव्यापी हो जाता है (-जो मात्र एक समय ही रहता है।) उसके अतिरिक्त समय में छोटा-बड़ा जैसा शरीर हो वैसे आकारवाला होता है। उसका कारण यह है कि दीपक के प्रकाश की भाँति जीवमें संकोच-विस्तार होने की शक्ति है, इसलिये वह शरीर के आकार जैसा हो जाता है। मुक्तदशामें विद्यमान शरीररहित जीव भी सर्वथा निराकार नहीं है तथा सर्वव्यापी नहीं है, परन्तु लगभग अन्तिम शरीर-प्रमाण चैतन्य आकारवाला होता है।

**अन्तमें उस परीक्षा करने आये देवने पूछा-हे कुँवरजी! यह बतलायें कि-क्या जीव स्वयं ज्ञान से जानता है? या इन्द्रियों से?**

वज्रायुधकुमारने कहा-हे वत्स! जीव स्वयं ज्ञानस्वरुप है इसलिये वह स्वयं जानता है: इन्द्रियाँ कहीं जीवस्वरुप नहीं हैं; शरीर और इन्द्रियाँ तो अचेतन-जड़ हैं; उनसे जीव भिन्न है। अरिहंत एवं सिद्ध भगवन्त तो इन्द्रियों के बिना ही सबको जानते हैं; स्वानुभवी धर्मात्मा भी इन्द्रियों के अवलम्बन बिना ही आत्मा को अनुभवते हैं। इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है।

-इस प्रकार आत्मा का स्वरुप भली प्रकार समझाकर अन्तमें वज्रायुधकुमारने कहा-जीवका नित्यपना-क्षणिकपना, बंध-मोक्ष, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सब अनेकान्त-नयों से ही सिद्ध होता है, एकान्तनयसे वह कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये हे भव्य जीव! तुम अनेकान्तमय जैनधर्मानुसार सम्यक् श्रद्धा करके आत्मा का कल्याण करो!

-इस प्रकार पण्डित वेश में आये हुए उस देवने जो भी प्रश्न पूछे, उन सबका समाधान वज्रायुधकुमारने बड़ी गंभीरता और दृढ़ता से अनेकान्तानुसार किया। भारत के भावी तीर्थंकरके श्रीमुखसे ऐसी सुन्दर धर्मचर्चा सुनकर विदेह के समस्त सभाजन अति प्रसन्न हुए। उनके अमृतभरे वचन सुनकर तथा उनके तत्त्वार्थ श्रद्धान की दृढ़ता देखकर वह मिथ्यादृष्टि देव भी जैन धर्म का स्वरुप समझकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ और उसे इतना सन्तोष एवं प्रसन्नता हुई-मानो मोक्षपद मिल गया हो।

पश्चात्, तुरन्त ही उस देवने अपना मूल स्वरुप प्रगट किया और स्वर्ग में इन्द्र द्वारा की गई उनकी

प्रशंसा कह सुनाई। हे प्रभो! मुझे क्षमा करो, मैंने आपके तत्वज्ञान में शंका करके आपकी परीक्षा की। आपके प्रताप से मुझे जैनधर्म की श्रद्धा हुई और मैंने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया, इसलिये आपका मुझपर महान उपकार है। आपका तत्त्वज्ञान उज्ज्वल है और आप भावी तीर्थंकर हो...' इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की स्तुति करके महान भक्ति-सहित उसने स्वर्ग के वस्त्राभूषण भेंट देकर वज्रायुधकुमार का बहुमान किया।

अहा, जगत में वे धर्मात्मा जीव धन्य हैं कि जो सम्यक्त्वादि निर्मल रत्नों से विभूषित हैं, इन्द्र भी जिनकी प्रशंसा करते हों और देव आकर परीक्षा करें तथापि तत्त्वश्रद्धानसे जो किंचित् भी चलायमान नहि होते-ऐसे धर्मात्माओं के सम्यग्दर्शनादि गुण देखकर मुमुक्षुका हृदय उनके प्रति प्रमोद से उल्लसित होता है। भावी शान्तिनाथ ऐसे श्रीवज्रायुधकुमार का निर्मल तत्त्वज्ञान जिज्ञासु जीवों को अनुकरणीय है।

उपरोक्त घटना के कुछ समय पश्चात्, वज्रायुधकुमार के पिताश्री क्षेमंकर तीर्थंकर संसार से विरक्त हुए; वज्रायुधकुमार का राज्याभिषेक करके, बारह वैराग्य अनुप्रेक्षा के चिन्तनपूर्वक वे स्वयं दीक्षा लेकर मुनि हुए। आत्मध्यान द्वारा अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट करके तीर्थंकर हुए और समवसरण में दिव्यध्वनि द्वारा भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने लगे।

इधर, वज्रायुध महाराजा रत्नपुरी का शासन चला रहे थे; उनके शस्त्रभण्डार में अचानक सुदर्शनचक्र प्रगट हुआ, और छहों खण्डपर विजय पाकर उन्होंने चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। पिताजी धर्मचक्री तो पुत्र राजचक्री हुए। धर्म और पुण्य दोनों का कैसा उत्तम सुयोग! तथापि धर्मी के लिये एक सरस है तो दूसरा नीरस!

अब, उन वज्रायुध चक्रवर्ती का पौत्र (-क्षेमंकर तीर्थंकर का प्रपौत्र) कनकशान्ति जोकि चरमशरीरी है,-वह एक बार परिवार सहित वनविहार करने गया। जिस प्रकार मिट्टी खोदते हुए रत्नभण्डार प्राप्त हो जाय, तद्नुसार उसे वनमें रत्नत्रयवन्त मुनिराज के दर्शन हुए। उन मुनिराज के निकट धर्मोपदेश सुनकर वह कनककुमार वैराग्य को प्राप्त हुआ और दीक्षा ग्रहण करने की तैयारी करने लगा। तब उसके दादा वज्रायुध ने तथा सहस्रायुधने कहा: बेटा अभी तुम्हारी आयु छोटी है; अभी तुम राजभोग भोगो; फिर हम जब दीक्षा लेंगे तब तुम भी हमारे साथ दीक्षा ग्रहण कर लेना।

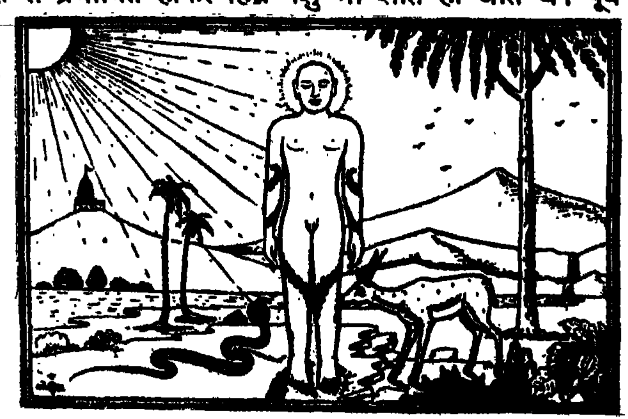
परन्तु वैरागी कनककुमारने कहा-हे दादाजी! हे पिताजी! जीवन का क्या भरोसा?...और मनुष्य भव के यह दुर्लभ दिन विषय-भोगों में गँवा देना मुमुक्षुको शोभा नहीं देता। मुमुक्षु को यमराज का विश्वास किये बिना, बचपन से ही धर्म की साधना कर्त्तव्य है; इसलिये मैं तो आज ही दीक्षा लूंगा।-ऐसा कहकर कनकशान्ति ने वनमें आकर जिनदीक्षा ले ली। वे कनक मुनिराज विद्याधर के अनेक उपसर्गों में भी आत्मध्यान में अडोल रहकर अल्पकाल में केवलज्ञान को प्राप्त हुए।

अपने पौत्र को केवलज्ञान होने के समाचार सुनते ही अति आनन्दित होकर वज्रायुध चक्रवर्ती ने 'आनन्द' नाम की गंभीर भेरा बजवाकर उत्सव किया और स्वयं धामधूम से उन जिनराज की वन्दना-पूजा के लिये गये। वहाँ स्तुतिपूर्वक प्रार्थना की- हे जिनराज! सांसारिक कषायों से डरकर मैं आपकी शरण में आया हूँ; मुझे धर्मोपदेश सुनाने की कृपा कीजिये। अनेक देव और विद्याधर भी केवलज्ञान के उत्सव में आये थे। प्रभु की दिव्य महिमा देखकर वह उपसर्ग करनेवाला विद्याधर भी उनकी शरण में आ गया और वैरभाव छोड़कर धर्मकी प्राप्ति की। श्रीकनक केवली ने दिव्यध्वनि में कहा-'संसार अनादिअनन्त है, अज्ञानी जीव उसका पार नहीं पा सकते; परन्तु भव्यजीव आत्मज्ञान द्वारा

अनादि संसार का भी अंत कर देते हैं। जो रत्नत्रयरूपी धर्मनौका में नहीं बैठते वे अनंतबार संसार-समुद्र में डूबते और उतराते हैं; परन्तु जो आत्मज्ञान करके एक बार धर्म नौका में बैठ जाते है; वे भवसमुद्र को पार करके मोक्षपुरी में पहुँचे जाते है। इसलिये मोक्षार्थीजीव को भवसमुद्रसे पार होने के लिये अवश्य धर्म का सेवन करना चाहिये। धर्म ही माता-पिता के समान हितकारी है, वही जन्म-मरण के दुःखों से उबारकर जीवों को उत्तम मोक्ष सुखों में स्थापित करता है।' (अहा, पौत्र तो केवली बनकर उपदेश दे रहा है और दादा-जोकि स्वयं भावी तीर्थंकर हैं वे भक्तिपूर्वक उपदेश सुनते हैं)इस प्रकार केवली भगवान का उपदेश सुनकर धर्मात्मा वज्रायुधचक्रवर्ती का चित्त संसार के विषय-भोगों से विरक्त हो गया। अरे, देखो तो सही, जिनके पिता तीर्थंकर, जो स्वयं भावी तीर्थंकर, वे इस समय अपने पौत्र के उपदेश से वैराग्य प्राप्त करते हैं। वैराग्य पाकर वे वज्रायुध महाराजा विचार करने लगे कि-अरे, इस संसार में विषय-भोगों की प्रीति प्रबल है; आत्म ज्ञानी को भी उसका अनुराग छोड़कर मुनिदशा धारण करना दुर्लभ है। आश्चर्य है की जो कनक शान्ति मेरा पौत्र था उसने तो अपने आत्मबल से बचपन में ही केवलज्ञान सम्पदा प्राप्त कर ली और परमात्मा बन गये। धन्य है उन्हें!



वैरागी वज्रायुध महाराजा ने राजभवन में आकर रत्नपुरी के राज्य का भार अपने पुत्र सहस्रायुध को सौंप दिया और अपने पिताश्री क्षेमंकर तीर्थंकर के समवसरण में जाकर जिनदीक्षा धारण की। वैराग्य पौत्र के उपदेश से प्राप्त किया था, और दीक्षा पिता के निकट ली। छह खण्ड का चक्रवर्ती वैभव छोड़कर दीक्षा पश्चात् श्री वज्रायुध मुनिराज सिद्धाचल पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमायोग धारण कर अचल मुद्रा में स्थित हुए। बाहुबलि भगवान की भाँति उन्होंने भी एक वर्ष तक अडोलरुप से ऐसा ध्यान तप किया कि लताएँ कण्ठ तक लिपट गईं; सिंह, सर्प, हिरन, खरगोश आदि प्राणी उनके चरणों में आकर शान्तिपूर्वक रहने लगे। उनकी शांत ध्यान मुद्रा से प्रभावित होकर हिंस्र पशु भी शांत हो जाते थे। पूर्व के वैरी असुर देव ने उन्हें ध्यान से डिगाने के लिये घोर उपसर्ग किया, तथापि वज्र मुनिराज तो ध्यान में वज्रसमान स्थिर रहे; उनका चित्त चलायमान नहीं हुआ। अंत में भक्त-देवियों ने आकर असुर देवों को भगा दिया; देवों ने स्तुति कर के उनसे क्षमायाचना की। मुनिराज वज्रायुध अनेक वर्षों तक रत्नत्रय की आराधना सहित विदेहक्षेत्र में विचरे।



इधर, वज्रायुध महाराज के पुत्र सहस्रायुधने कुछ काल तक रत्नपुरी का राज्य किया, फिर उनका चित्त भी संसार से विरक्त हुआ; वे विचारने लगे कि-मेरे दादाजी तो तीर्थंकर हैं, पिताजी भी चक्रवर्ती की सम्पदा छोड़कर, मुनि बनकर मोक्षकी साधना कर रहे हैं, मेरा पुत्र भी दीक्षा लेकर केवलज्ञानी हो गया, और मैं अभी तक विषय-भोगों में पड़ा हूँ! अरे, यह दुःखदायक एवं पापजनक विषय-भोग मुझे शोभा नहीं देते! इनमें कहीं शान्ति नहीं है; मैं तो मोक्ष की साधना हेतु आज ही मुनिदीक्षा लूँगा।-ऐसे निश्चयपूर्वक जिनदीक्षा लेकर वे भी वज्रायुध मुनिराज के साथ विचरने लगे। पिता-पुत्र (भावी तीर्थंकर-गणधर) दोनों मुनिराजों ने अनेक वर्षों तक साथ-साथ विहार किया। अन्त में विदेहक्षेत्र के वैभार पर्वत पर उन दोनों मुनिवरों ने रत्नत्रय की अखण्ड आराधनापूर्वक समाधिमरण किया और ऊर्ध्व ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए।

इस प्रकार क्षेमंकर तीर्थंकर और उनके पुत्र वज्रायुध चक्रवर्ती, उनके पुत्र सहस्रायुध और उनके पुत्र कनक शान्ति,-इन चार पीढ़ियों में से दो पीढ़ी के जीवों ने तो मोक्ष प्राप्त किया, और बीच की दो पीढ़ी के जीव अहमिन्द्र हुए; वे तीन भव के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करेंगे।

[इस प्रकार भगवान शान्तिनाथ के पंचम पूर्वभव-वज्रायुध चक्रवर्ती की कथा पूर्ण हुई।]

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव चौथा : ग्रैवेयक में अहमिन्द्र

अपने चरित्रनायक तीर्थंकर शान्तिनाथ और उनके गणधर चक्रायुध;-यह दोनों चौथे पूर्वभव में ग्रैवेयक में अहमिन्द्र देव हुए हैं। ग्रैवेयक के देवों के देवियाँ नहीं होतीं, तथापि पहले १६ वें स्वर्ग में इन्द्र पद के समय इन्द्रानियों के बीच या चक्रवर्ती पद के समय ९६००० सुन्दर रानियों के संग में उन्हें जो पुण्यजन्य सुख था, उसकी अपेक्षा अत्याधिक सुख यहाँ इन्द्रानियों के बिना ही उन्हें था। वही सिद्ध करता है कि सुख विषयों के भोगोपभोग में नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य है कि पूर्वकाल में मुनिदशा में उनको जो महान वीतरागी सुख था उतना सुख इस अहमिन्द्र पद में नहीं था, क्योंकि सच्चा सुख तो वीतरागता ही है। राग के फल में सच्चा सुख कैसे होगा?- नहीं हो सकता। यह बात वे अहमिन्द्र भलीभाँति जानते थे। और-

'तेथी न करवो राग जरीये क्यांय पण मोक्षेच्छुअे,
वीतराग थईने अे रीते ते भव्य भवसागर तरे।

-ऐसी मुमुक्षु भावना सहित स्वर्गलोक की असंख्य वर्ष की आयु पूर्ण करके वे दोनों महात्मा मनुष्य लोक में अवतरित होने को तैयार हुए।

[भगवान शान्तिनाथ के चौथे पूर्वभव का वर्णन पूरा हुआ।]

## भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव तीसरा
## विदेह में घनरथ तीर्थंकर के पुत्र : मेघरथ और दृढ़रथ

इस जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश और उसमें पुण्डरीकिणी नगरी है। वह विद्यमान सीमंधर भगवान आदि कितने ही तीर्थंकरों की जन्मनगरी है। वहाँ मोक्ष जाने के द्वार सदा खुले हुए हैं; इसलिये स्वर्ग के देवों को भी वहाँ अवतरित होने की इच्छा होती है। महाराजा घनरथ उस नगरी के राजा थे। नगरी अति सुन्दर थी और उसके राजा उससे भी अधिक सौन्दर्यवान थे, क्योंकि वे एक

तीर्थंकरथे। अहमिन्द्र हुए अपने दोनों चरित्रनायक वहाँ से चलकर घनरथ तीर्थंकर के पुत्र हुए-भगवान शान्तिनाथ का जीव मेघरथकुमार और गणधर चक्रायुध का जीव दृढ़रथकुमार हुआ। वे मेघरथ और दृढ़रथ दोनों भाई आत्मज्ञानी, शांत परिणामी, विद्वान तथा मनोहर रुपवान थे। भवोंभव के तथा मोक्ष तक के साथी होने से दोनों को एक-दूसरे के प्रति परमस्नेह था। दोनों साथ खेलते, साथ खाते; परस्पर धर्मचर्चा करते और भगवान के समवसरण में या राजदरबार में भी साथ ही जाते। उनकी चेष्टाएँ सबको आनन्द प्राप्त कराती थीं।

## दो कुक्कुटोंकें उद्धार का प्रसंग

एक बार महाराजा घनरथ तीर्थंकर राजसभा में सपरिवार बैठे थे; युवराज मेघरथ कुमार भी दरबार में उपस्थित थे और धर्म की महिमा के सम्बन्ध में अद्भुत चर्चा चल रही थी।अहा, जिस सभा में वर्तमान एवं भावी तीर्थंकर एकसाथ विराज रहे हों उस राजसभा में राज्यचर्चा के बदले धर्मचर्चा चले उसमें आश्चर्य ही क्या? परन्तु अचानक ही उस चर्चा में भंग पड़ा और एक अन्य घटना हो गई। महाराजा घनरथ की दृष्टी दो लड़ते हुए कुक्कुटों पर पड़ी; दोनों बड़े क्रोधपूर्वक एक दूसरे से लड़ रहे थे। वह युध्द दोनों कुक्कुटों को दुःखका कारण था और उसमें रुचि लेनेवालों को भी अशुभ ध्यान का कारण था। दयालु महाराजाने तुरन्त उन दोनों का युद्ध रोकने की भावना से मेघरथ को सम्बोध कर पूछा- हे मेघरथ! इन दोनों कुक्कुटों को एक- दूसरे के प्रति इतना वैरभाव क्यों है?

तब अवधिज्ञानी मेघरथ कुमार ने उन दोनों कुक्कुटों का पूर्वभव जानकर कहा- सुनिये! यह एक वैराग्य की बात है। इन दोनों का वैरभाव पूर्वभव से चला आ रहा है। यह दोनों कुक्कुट पूर्वभव में सगे भाई थे, परन्तु एक बैल के स्वामित्व को लेकर दोनों में लड़ाई हुई और दोनों ने एक-दूसरे को मार डाला। फिर दोनों जंगली हाथी हुए, वहाँ भी लड़कर मरे; फिर दोनों भैंसा हुए, वहाँ भी परस्पर लड़ मरे; पश्चात दोनों मेंढ़ा हुए और इसी प्रकार मरे। अब वे दोनों भाई इस भव में कुक्कुट होकर लड़ रहे हैं। अरे, एकबार के दो सगे भाई क्रोधवश संसार में भटकते हुए कितनी बार परस्पर लड़ मरे! कषाय के संस्कार जीव को कितना दुःख देते हैं! कषाय से छूटे तभी जीव को शान्ति मिलेगी।

मेघरथ की वाणी इतनी शांत एवं मधुर थी कि क्षणभर वे दोनों कुक्कुट भी युध्द करना भूलकर उसे सुनने में लीन हुआ। कुक्कुटों के पूर्वभव की कथा सुनकर सभाजन आश्चर्य से वैराग्य को प्राप्त हुए और मेघरथ के दिव्यज्ञान की प्रशंसा करने लगे। दोनों कुक्कुट भी अपने पूर्वभवों की बात सुनकर एकदम शांत हो गये; लड़ाई रोककर दोनों विचार में पड़ गये कि- 'अरे यह तो मेरा भाई!' उस समय उन दोनों को अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ; उनकी आँखो से अश्रुधारा बहने लगी; वैरभाव दूर हो गया और घनरथ तथा मेघरथ की ओर भक्ति भावसे देखने लगे। मेघरथने वैराग्यमय सम्बोधन किया हे भद्र! अब तुम हिंसकभाव छोड़ो अहिंसामय जिनधर्म की शरण लो, ताकि ऐसे दुःखमय जन्मों से तुम्हारा छुटकारा हो।दोनों ने हिंसकभाव छोड़कर जैनधर्म का स्वीकार किया और अहिंसकभाव पूर्वक शरीर का त्याग किया।

वे दोनों कुक्कुट मरकर व्यंतर देव हुए। देव होकर उन्होंने अपने उपकारी मेघरथ कुमार की कैसी भक्ति की वह अब आगे पढ़ेंगे; उससे पूर्व एक अन्य आश्चर्यजनक घटना राजसभामें हुई-वह पढ़िये।

उन दो कुक्कुटों की कथा सुनाने के पश्चात् मेघरथने दिव्य ज्ञान से जानकर सभाजनों से कहा कि-इस समय इस राजसभा में दो विद्याधर भी आये हुए है और गुप्तरुपसे कुक्कुटों के भव की बात

सुन रहे हैं।

सभाजनोंने आश्चर्य से पूछा-अरे, कौन हैं वे दो विद्याधर?.... और यहाँ किस लिये आये हैं?

मेघरथ ने कहाँ-सुनो, यह आनन्द की बात है। यहाँ आये हुए दोनों विद्याधर चरमशरीरी हैं और महाराजा घनरथ के साथ उनका पूर्वभव का सम्बन्ध है। [मेघरथ कुमार अपने पिता तीर्थंकर के पूर्व भव की बात करते हैं और घनरथ तीर्थंकर स्वयं अपने पुत्र के मुहँ से अपने पूर्वभव की सुन रहे हैं। एक वर्तमान तीर्थंकर के पूर्वभव की बात भावी तीर्थंकर कह रहे हैं] पूर्वभव में यह बात पिताश्री-घनरथ महाराजा ऐरवत क्षेत्र में 'अभय घोष' राजा थे, तब यह दोनों विद्याधर उनके पुत्र थे। एकबार वे तीनों जीव संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये और अभयघोष मुनिराजने तीर्थंकर नामकर्म बाँधा। वहाँ से समाधि मरण करके तीनों जीव १६ स्वर्ग में उत्पन्न हुए। वहाँ से चयकर पिता अभयघोष तो घनरथ तीर्थंकर हुए हैं और दोनों पुत्र विद्याधर हुए है। वे दोनों विद्याधर मेरूपर्वतपर जिनालयोंकि दर्शन हेतु गये थे; वहाँ अवधिज्ञानी मुनिराज के पास अपने पूर्वभवकी बात सुनी और जाना की हमारे पूर्वभव के पिता घनरथ तीर्थंकर रुप से अवतरित हुए हैं और इस समय पुण्डरगिरी नगरी के राजसभा में विराज रहे हैं; इसलिये वे दोनों विद्याधर अतिस्नेह वश अपने पूर्वभव के पिता (और वर्तमान तीर्थंकर देव) के दर्शन करने यहाँ आये हैं

मेघरथ की बात पूर्ण होते ही दोनों विद्याधर प्रसन्नता से प्रगट हो गये और अत्यन्त आदर सहित अपने पूर्वभव के पिताश्री घनरथ तीर्थंकर के दर्शन किये। 'अहा, हमारे पिता तीर्थंकर!' ऐसा जानकर उनका हृदय आनन्दित हुआ। पुनः पुनः घनरथ तथा मेघरथ दोनों 'द्रव्य तीर्थंकरों'की स्तुति की, सन्मान किया और प्रसन्नता से कहने लगे-अहो, अपने पूर्वभव के पिताश्री को तीर्थंकर रुपमें देखकर हमें महान हर्ष हो रहा है। हे देव! आप त्रिलोकपूज्य हो, मोक्षमार्ग के प्रदर्शक हो! प्रभो! हम भी आपके परिवार के हैं; जिस प्रकार इस भवमें मेघरथ और दृढ़रथ आपके पुत्र हैं उसी प्रकार हम भी आपके पूर्वभव के पुत्र ही हैं। आप विदेह के तीर्थंकर हैं और भाई मेघरथ भरत क्षेत्र का भावी तीर्थंकर हैं। आप दोनों को देखकर हमे अपार आनन्द हो रहा है।-इसप्रकार वे विद्याधर अति आनन्दित हुऐ और उन्हें अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण ज्ञान हुआ; इसलिये संसार से विरक्त होकर उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की... और केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद को प्राप्त हुए।

## [ढ़ाई द्वीपकी यात्रा]

अब, ज्यों ही वें विद्याधर विदा हुए की तुरन्त ही अचानक दो देव दिव्य विमान लेकर वहाँ आये, और मेघरथकुमार को दिव्यवस्त्राभूषणों की भेट देकर कहने लगे हे देव! पूर्वभव में हम दोनों कुक्कुट थे और अब देव हुए हैं। हम तो निर्दय, हिंसक, मांसभक्षी प्राणी थे; जैन धर्म के उपदेश द्वारा आपने हमारा उध्दार किया है। आप हमारे महान उपकारी हैं और भावी तीर्थंकर हैं। हमारे पूर्वभव बतलाकर आपने हमारा वैरभाव मिटाया और जैनधर्म की प्राप्ति करायी; जिससे हम देव हुए, और आपके उपकार का स्मरण करके हम आपकी सेवा करने आये हैं। आप हमारे देवविमान में विराजो, हम आपको ढ़ाई द्वीप की यात्रा करायेंगे। हमारे विमान में बैठकर आप मनुष्यक्षेत्र के पाँच मेरु तथा अन्य रमणीय तीर्थोंकि दर्शन करो। मनुष्य जहाँ तक जा सकते हैं उस मानुषोत्तर पर्वत तक के समस्त क्षेत्र हम आपको बतलायेंगे।

मेघरथ कुमारने देवों की बात स्वीकार कर ली, और देवोंने उन्हें सपरिवार उस सुशोभित देव

विमानमें बिठाया। विमान को आकाश में उड़ाते हुए वे देव एक के बाद एक क्षेत्र बताने लगे-( यद्यपि अवधिज्ञान द्वारा उन क्षेत्रों को जान लेने की शक्ति उनमें थी, तथापि परिवार सहित विमान में विहार करते हुए वे वह सब देख रहे थे।) देवने कहा-हे स्वामी! देखिये, यह जम्बूद्वीप के बीच में अपना विदेहक्षेत्र है और इसके मध्य भाग में यह सुन्दर सुदर्शनमेरुपर्वत है। जम्बूद्वीप के भरत, ऐरवत एवं विदेह क्षेत्रके सर्व तीर्थंकरों का जन्माभिषेक इस मेरुपर्वत पर होता है। आपके पिताश्री महाराजा घनरथ तीर्थंकर का जन्माभिषेक भी यही हुआ था, और आप स्वयं अब तीसरे भवमें भरत क्षेत्रमें शान्तिनाथ तीर्थंकर के रुप में अब अवतरित होंगे, तब आपका भी जन्माभिषेक इसी मेरुपर्वत पर होगा। इस मेरु की उत्तर दिशा में रम्यक्, हैरण्यवत तथा ऐरावत यह तीन क्षेत्र हैं, और दक्षिण में हरिवर्ष, हेमवत एवं भरत यह तीन क्षेत्र हैं। जम्बूद्वीप के यह सात क्षेत्र-विभाग करनेवाले छह महापर्वत है-हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी। उनके बीच महा सुदर्शन मेरु है; उसपर शाश्वत जिनमन्दिर है।

सबने विमान से उतरकर जिनबिंम्बों के दर्शन किये। अद्‌भुत शांत-वीतरागी जिनबिंम्बों के दर्शन से सबको अति प्रसन्नता हुई; मेघरथकुमारने तो क्षणभर आत्मध्यान करके शांतरसका पान कर लिया।

फिर विमान में बैठकर आगे बढे। देवों ने पुन: भरत क्षेत्रपर चक्कर लगाकर बतलाया कि-हे स्वामी! देखिये, यह अयोध्यापुरी दिख रही है...यहाँ ऋषभदेव आदि अनन्त तीर्थंकरों ने जन्म लिया है; उसके बाजू में वह हस्तिनापुरी है। भगवान ऋभदेव मुनिराज को इसी नगरी में राजा श्रेयांस ने सर्व प्रथम इक्षुरसका पारणा (एक वर्ष तक तप करने के पश्चात् प्रथम पारणा) कराया था; और आप (मेघरथ कुमार) भी तीसरे भव में इसी नगरी में तीर्थंकर रुपसे अवतरित होगें। और उधर जो ऊचाँ रमणीय पर्वत दिखायी देता है वह शाश्वत तीर्थं सम्मेद शिखर है; वहाँ से अनन्त जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है; आप भी वही से मुक्ति प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार भरतक्षेत्र दिखाकर उनका विमान लवणसमुद्र पार करके दूसरे धातकी खण्ड द्वीप में पहुँचा। वहाँ विराजमान स्वयंप्रभ आदि आठ तीर्थंकर भगवन्तों के दर्शन करके फिर तीसरे पुष्कर द्वीप में आये; वहाँ भी तीर्थंकर भगवन्तों के समवसरणादिके दर्शन किये। पाँचों मेरु के तथा बारम्बार तीर्थंकर भगवन्तों के दर्शनों से सबको अति आनन्द होता था। अन्त में पुष्कर द्वीप के मध्य स्थित मानुषोत्तर पर्वत पर चार दिशाओं में चार शाश्वत जिनालयों के दर्शन किये। फिर विमान को विदेह क्षेत्र की और मोड़ते हुए उन देवों ने कहा कि-हे स्वामी! यहाँ मनुष्यों के गमन की सीमा समाप्त होती है। हमने आपको भक्तिपूर्वक ढाई द्वीप के तीर्थों की तथा तीर्थंकरो की यात्रा करायी- यह हमारा सद्‌भाग्य है। अब यहाँ से आगे मनुष्यों का गमन नहीं है।

मेघरथ और दृढरथकुमार ढाई द्वीपकी यात्रा से प्रसन्न हुए और पुन: पुण्डरीकिणी नगरी में आये। दोनों देव उन्हे वन्दन करके स्वर्ग लोक चले गये। अहो, सज्जन पुरुष अपने ऊपर किये गये उपकार को नही भूलते...और उसमें भी अन्य उपकारों की अपेक्षा धर्म का उपकार तो सर्व श्रेष्ठ है।

[भगवान शान्तिनाथ : पूर्वभव में ढाई द्वीप की यात्रा समाप्त हुई]

घनरथ और मेघरथ- एक वर्तमान तीर्थंकर, दूसरे भावी तीर्थंकर एसे पिता-पुत्र ने अनेक वर्षों तक साथ रहकर पुण्डरीकिणी नगरी को सुशोभित किया। उत्तम धर्मशासन द्वारा प्रजाजनों को सुखी किया। एक बार मोक्षकी काललब्धि से प्रेरित हुए महाराजा घनरथ तीर्थंकर को स्वयंबुद्धरूप से संसार से वैराग्य जागृत हुआ; उन्होने मेघरथ को राज्य सौंपा और स्वयं वनमें जाकर जिनदीक्षा धारण की। देवोंने उनका

दीक्षाकल्याणक महोत्सव किया। घनरथ मुनिराज शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके तीर्थंकर हुए और दिव्यध्वनि द्वारा अनेक जीवोंको मोक्षमार्ग बतलाते हुए विदेह क्षेत्र में विचरने लगे।

इधर महाराजा मेघरथ महान पुण्योदय से पुण्डरीकिणी नगरी के राज्य का संचालन कर रहे थे। वे शुध्द सम्यकदर्शन के धारी एवं अवधिज्ञानी थे; व्रत एवं शील गुणों से शोभित थे; पंचपरमेष्ठी के प्रति विनयवान एवं जिनवाणी के भक्त थे; दानधर्म के ज्ञाता होने से सुपात्र जीवों को आदर पूर्वक दान देते थे।

भावी तीर्थंकर वे मेघरथ महाराजा एकबार आष्टाह्निका पर्वमें जिनपूजा करके उपवास पूर्वक सभामें बैठे थे और जैनधर्म के उपदेश द्वारा अहिंसा धर्म का स्वरूप समझा रहे थे। इतने में एक आश्चर्यजनक घटना हुई-

अचानक वहाँ एक कबुतर आया; वह भय से काँप रहा था। उसके पिछे एक भयंकर गिद्ध पडा था। भयभीत कबूतर ने गिद्ध से बचने के लिये महाराजा मेघरथ की शरण ली।

तुरन्त ही वह गिद्धपक्षी (मनुष्य की भाषा में) बोला- *हे महाराजा! आप दयालु है, दानेश्वरी है, मै बहुत भूखा हूँ और मांस ही मेरा भोजन है; इसलिये यह कबूतर मुझे दे दिजिये। नहीं तो मैं भूख से मर जाऊँगा। आपको कबूतर की रक्षा करना हो तो उसके जितने वजन का मांस मुझे अपने शरीर में से काट दीजिये।*

गिद्धपक्षी को मनुष्य की भाषा बोलते देखकर सभाजनों को आश्चर्य हुआ। छोटे भाई दृढरथने मेघरथ से पूछा *हे पूज्य बंधु! यह गिद्धपक्षी मनुष्य की भाषा क्यो बोलता है? इसमे क्या रहस्य है?*..तब मेघरथ ने अवधिज्ञान से सब जान लिया और कहा- सुनो, मै वह रहस्य बतलाता हूँ।

## कबूतर और गिद्ध की घटना; देव द्वारा परीक्षा, दानका स्वरूप

*यह कबूतर और गिद्ध दोनों जीव पूर्वभव में वणिक पुत्र थे और सगे भाई थे। वे अत्यन्त लोभी थे, इसलिये धन के लिये लडे और एक-दूसरे को मारकर यह कबूतर तथा गिद्ध हुए है।* कषायवश जीव को कैसे दुख: सहना पडते है। वह जानकर है भद्र जीवों! तुम कषाय छोडो, वैरभाव छोडो! [भावी तीर्थंकर के दर्शन तथा उनके मुँह से अपने पूर्वभव की बात सुनकर उन दोनों पक्षियों का चित्त शांत हुआ। वैरभाव छोडकर वे मेघरथ की बात सुनने लगे]

[राजा मेघरथ कहते हैं-] आज इन्द्रसभा मे इन्द्रमहाराज ने मेरी प्रशंसा की कि- 'राजा मेघरथ भावी तीर्थंकर है, आत्मज्ञानी है, जैनसिद्धांन्त मे कुशल है, दानधर्म का स्वरूप जाननेवाले विवेकी है, महान दाता है।'-*यह मेरी प्रशंसा सहन नही होने से* एक देव द्वेषवश मेरी परीक्षा करने यहाँ आया है गिद्ध के शरीर में प्रवेश करके मनुष्य की भाषा में यह कबूतर माँग रहा है।

-ऐसा कहकर मेघरथने उस देव के पूर्वभव भी बतलाये और फिर कहा- गिद्ध के शरीर में स्थित हे देव! सुन तेरी यह माँग अनुचित है। कबूतर वह कोई भक्ष्य नही है और न दान देने की वस्तु है। मांसादि अभक्ष्य वस्तुओ का दान देना धर्म में निषिद्ध है। मांस भले अपने शरीर का हो तब भी वह दान देने योग्य वस्तु नहीं है; तथा गिद्ध आदि मांसभक्षी जीव दान में देने के लिये पात्र भी नही है। [हाँ, पूर्वकाल में कबूतर के बदले अपने शरीरका मांस दान मे देनेवाले एक अज्ञानी राजा की कथा लोगों में प्रसिद्ध है, परन्तु वह बात धर्मसिद्धान्त में मान्य नही है; तथा वह राजा और वह दान प्रशंसनीय नही है। अरे क्या मांस का दान दिया जाता है? नही वह तो पाप है, हिंसा है, अविवेक है, लेने तथा

देनेवाले दोनों के लिये दुर्गति का कारण है।

'तो दान का सच्चा स्वरूप क्या है? -ऐसा पूछे जाने पर महाराज मेघरथ कहते हैं- हे गिद्ध, हे देव! हे सभाजनो! तुम दान का सच्चा स्वरूप सुनो!-

❋ दान ऐसी वस्तु का देना चाहिये जो निर्दोष हो; स्व-पर (देने लेने वाले) दोनों को हितकारी हो, और ज्ञान तथा संयम का साधन हो।

❋ मांसादि अभक्ष्य वस्तुओं का दान नही दिया जाता। आहार दान और औषधिदान भी मधु-मासं अण्डा- शराब- मछली का तेल आदि के सम्बन्ध से रहित होना चाहिये। ऐसी अभक्ष्य वस्तुओं का स्वयं भी भक्षण नहीं किया जाता और दूसरे को दान में नही दी जाती।

❋ दान सदा बदलेकी भावना या आशा के बिना देना चाहिये।

❋ दान ऐसे सुपात्र जीवों को आदर पूर्वक देना चाहिये जो कि धर्म के साधक हों। रत्नत्रयवन्त मुनि-श्रावक- धर्मात्मा- साधर्मी आदि सुपात्र जीवों को आदरपूर्वक दान देना वह श्रेष्ठ दान है और ऐसा सुपात्रदान वह गृहस्थ- श्रावकों का मुख्य कार्य है।

❋ योग्य वस्तु का दान ऐसी विधि से देना चाहिये जोकि स्व- पर को हितका कारण हो, और जिससे मोक्षमार्ग का लाभ हो।

यदि गिद्ध को कबूतर का दान किया जाय तो बेचारे कबूतर को कितना दुखः होगा? तथा गिध्द को भी उसका मांस भक्षण करने से कितना महान पाप लगेगा। दोनोंका अहित ही होगा। पुनश्च, मांस का दान देनेवाले के हृदय में से दयाधर्म का नाश हो जायगा और हिंसा का महान पाप लगेगा। इसलिये यह कबूतर या मांसादि अशुध्द वस्तुएँ दान देने योग्य नही है; मांसकी इच्छा करनेवाला जीव भी दान के लिये योग्य पात्र नही है, और ऐसा दान करनेवाला जीवदाता नहीं है। शुध्द भावना से, शुद्ध वस्तु, धार्मिक सुपात्र जीवको, निर्दोष विधि से देना ही सच्चा दान है उसका फल महान है।

इस प्रकार महाराजा मेघरथने युक्तिपूर्वक दान का स्वरुप समझाया।

तब गिद्ध के शरीर में स्थित (परीक्षा हेतु आया हुआ) वह देव, उनके वीतरागी उपदेश से अतिप्रभावित हुआ। उसने प्रगट होकर मेघरथ राजाकी स्तुति भी की कि- हे देव! आप दान धर्म के यथार्थ ज्ञाता हैं। भगवान ऋषभदेवके समय में भरत क्षेत्र की जिस भूमि मे (हस्तिनापुरी में) दानतीर्थ का प्रवर्तन हुआ है, उसी भूमि में आप तीसरे भव कें तीर्थंकर होनेवाले हैं। इन्द्रमहाराजने आपके गुणों की जो प्रशंसा की, उन गुणों को प्रत्यक्ष देखकर मैं धन्य हुआ! इस प्रकार स्तुति करके वह देव अपने स्थान पर चला गया।

गिद्ध और कबूतर के जीव भी मेघरथ राजा का उपदेश सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुए और धर्म के संस्कार सहित शरीर त्यागकर व्यन्तर देव हुए उन दोनों देवों ने आकर मेघरथ स्वामी का उपकार माना कि-हे देव! आपने हमें जैनधर्मका और दान का स्वरूप समझाकर महान उपकार किया है; आपकी कृपासे ही हम तुच्छ पशुपर्यायसे छूटकर देव हुए है।

इस प्रकार भावी तीर्थंकर ऐसे वे महात्मा, दो भव से अनेक देवों द्वारा पूजे जा रहे है; दोनो भवमें तीर्थंकर के पुत्र हुए और इन्द्रने उनकी प्रशंसा की; देवोंने आकर परीक्षा की; परन्तु वे महात्मा तो निन्दा-प्रशंसा से परे ऐसी धर्मसाधना में अग्रसर होते ही रहे। दो बार तीर्थंकर के पुत्र हुए, चक्रवर्ती भी हुए; तथापि अपने चैतन्यवैभव की महत्ता से वे कभी च्युत नही हुए; चैतन्यरसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं संतुष्ट नहीं हुए। इसप्रकार सर्वत्र निर्ममत्वरूप से आत्माको मोक्षमार्ग पर चलाते- चलाते अपने चरित्रनायक

अब तो भवसमुद्रके किनारे आ पहुँचे हैं। अहा उनतीर्थंकर का पूर्व जीवन भी अद्भुत आश्चर्यकारी एवं धन्य है... साक्षात् तीर्थंकर जीवन का तो कहना ही क्या?

महाराजा मेघरथ महान राज्य के बीच रहकर भी उत्तम श्रावकधर्म का पालन करते थे। सामायिकादि व्रतों के पालन पूर्वक वे अपनी आत्मशुध्दि में वृध्दि करते थे। उनका चित्त संयम भावना में रमण करता था। संयम धारी मुनिवरों को देखकर वे अतिप्रसन्न होते थे। एक बार आकाशमार्गसे चारणऋध्दिधारी मुनिवर पधारने पर उन्होंने महान भक्ति पूर्वक शुध्द आहारदान दिया...और आकाश में देवोंने बाजे बजाये तथा रत्नवृष्टि हुई। अहा, जिन मुनिवरों को आहार दान देने की इतनी महिमा है, उस मुनिदशा की महिमा का तो क्या कहना!-वे महाराजा रत्नवैभव में नही ललचाये, परन्तु मुनिदशा के रत्नत्रय प्राप्त करने को उनका मन लालायित था कि-अहो, मै कब ऐसी मुनिदशा प्राप्त करूँगा!

## इन्द्रसभा में प्रशंसा और देवियों द्वारा परीक्षा

आत्मसाधनामें तत्पर तथा संयम की भावना में तल्लीन रहने वाले महाराजा मेघरथ ने एकबार पर्वतिथि में प्रोषध उपवास किया था; दिनभर आत्मसाधना में रहकर रात्रि के समय एकान्त उद्यान में जाकर वे धर्मात्मा ध्यान में स्थित हुए। वे धीर-वीर महात्मा प्रतिज्ञापूर्वक प्रतिमायोग धारण करके एकाग्रचित्त मेरुसमान अचल होकर आत्मध्यान कर रहे थे; कभी- कभी निर्विकल्प शुध्दोपयोगी होकर मुनिसमान शोभा देते थे। इतने में एक विशेष घटना हुई...क्या हुआ?

ईशानस्वर्ग की इन्द्रसभा में इन्द्रने आश्चर्यपूर्वक उनकी प्रशंसा की कि-''अहो, उन महात्मा को धन्य है! वे सम्यक्त्वादि गुणों के सागर हैं, ज्ञानवान एवं विद्वान हैं, अत्यन्त धैर्यवान है; शीलवान है; इस समय वे मेरु समान अचल दशामें आत्मध्यान कर रहे हैं। आत्मचिन्तन में उनकी तत्परता देखकर आश्चर्य होता है। अहो! उन्हे नमस्कार हो!''

इन्द्र द्वारा प्रशंसा सुनकर देवों को आश्चर्य हुआ और पूछा- हे नाथ! इस समय आप किस सज्जन की स्तुति कर रहें है? मनुष्य लोक में कौन ऐसे महात्मा है- जिनकी प्रशंसा इस देवसभा में हो सकती है?

तब इन्द्रने कहा-हे देवो, सुनो!-

मनुष्य लोक के विदेहक्षेत्र में इस समय राजा मेघरथ ध्यान मग्न हैं, उन्हींकी प्रशंसा मैं कर रहा हूँ! एक भव के पश्चात वे भरतक्षेत्र में शान्तिनाथ तीर्थंकर होनेवाले हैं, उन्होने शरीर का भी ममत्व छोडकर इससमय प्रतिमायोग धारण किया है और आश्चर्यकारी आत्मध्यान में स्थित हैं... उनका शीलगुण भी अद्भुत है।

## इन्द्रसभामें प्रशंसा और देवियों द्वारा परीक्षा तथा स्तुति

इन्द्रकी बात सुनकर दूसरे सब देव तो प्रसन्न हुए; परन्तु दो देवियाँ उनकी परीक्षा करने के लिये पृथ्वी पर आयी और उन्हें ध्यान से डिगाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के हावभाव दिखलाकर उपद्रव करने लगीं। परन्तु महाराजा मेघरथ तो काया और माया दोनों से परे ऐसे समता भाव में ही लीन थे; अत्यन्त धीर-वीर एवं सागर समान गंभीर वे अपने परमात्म-तत्त्वके आनन्द में लीन थे। उनके परिणाम अत्यन्त शान्त थे; आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उनका चित्त नहीं लगा था। अहा, मानो उपसर्ग के कारण वस्त्रोंसे ढँके हुए कोई निर्ग्रन्थ मुनिराज खडे हो! -ऐसे लग रहे थे।



स्वर्ग से आयी हुई देवियोंने अनेक प्रकारके उपसर्ग प्रारम्भ किये-कायर मनुष्य का तो कलेजा कॉंप उठे ऐसे भयंकर दृश्य उपस्थित किये; तथा मनोहर हावभाव गीत-विलास-आलिंगनादि रागवर्द्धक कामचेष्टाएँ कर-करके उन्हे ध्यान से च्युत करने के लिये अनेक उपद्रव किये; परंन्तु मेघरथ तो मेरु समान अचल ही रहे। अरे! मोक्ष के आनन्द में जिनका मन लगा है वे कहीं विषयोंमें ललचायँगे? बाह्य में क्या- क्या चेष्टाएँ हो रही है- उनके प्रति उनका लक्ष ही कहाँ है? अन्तमें, देवियाँ थक गई और खीझकर तिरस्कार भरे वचन बोलीं, शरीर की अनेक बीभत्स चेष्टाएँ की, परन्तु वे ध्यानी वीर आत्मध्यानसे नहीं डिगे सो नही डिगे। दुष्ट देवियाँ उनके वैराग्य रुपी कवच को नही भेद सकी। जो उपयोग को निजपरमात्मा में एकाकार करके जो बैठे हैं उन्हे बाह्य उपद्रव क्या कर सकेंगे? परमात्मतत्त्वमें उनका प्रवेश ही कहाँ है? जिस प्रकार बिजली की तीव्र गडगडाहट भी मेरुपर्वत को हिला नहीं सकती उसी प्रकार देवियोंकी रागचेष्टा उन महात्मा के मन-मेरु को किंचित भी डिगा नहीं सकी। अन्तमें देवियाँ हार गई; उन्हे विश्वास होगया कि इन्द्रराजने जो प्रशंसा की थी वह यथार्थ है।. इस प्रकार उनके गुणों से प्रभावित होकर उन देवियोंने उन्हे वन्दन किया, क्षमायाचना की और उनकी स्तुति करके स्वर्ग लोक में चली गई। रात्रि व्यतीत होते ही महाराजा मेघरथ ने निर्विघ्नरुपसे अपना कायोत्सर्ग पूर्ण किया।

"अहा, सदा आत्मचिन्तन में तत्पर ऐसे धर्मात्माओं को धन्य है... कि जिनका ज्ञान, शील एवं ध्यान प्रशंसनीय है, और दोनों देवों द्वारा भी जिनका चित्त चलायमान नही होता। मोक्ष की साधना में लीन महात्माओंकी शूरवीरता वास्तवमें अद्भुत आश्चर्यकारी है।

भगवान शान्तिनाथ के तीसरे पूर्वभवकी कथा चल रही है। विदेह की पुण्डरीकिणी नगरीमें महाराजा मेघरथ, उनके भाई दृढरथ के साथ राज्य कर रहे है। दोनों भ्राताओं को धर्म- अर्थ-काम के साथ मोक्ष की साधना का पुरुषार्थ भी चल रहा है। मेघरथकी महारानी का नाम प्रियमित्रा है; वह भी

धर्मसाधना में साथ दे रही है; वह शीलवान, गुणवान तथा अतिशय रुपवान है।

एक बार इन्द्रसभामें इन्द्रानीने प्रियमित्रा के गुणोकी तथा रुप की प्रशंसा की; जिससे प्रभावित होकर दो अप्सराएँ उसका रुप देखने के लिये स्वर्गसे पुण्डरीकिणी नगरी में आयी। उस समय महारानी प्रियमित्रा अलंकार उतारकर सादे वेश में थीं; उन्हे अलंकार रहित सादा वेश मे देखकर भी वे अप्सराएँ आश्चर्यचकित हो गई; और कहने लगी कि-हे महारानी! हमने इन्द्रसभामें तुम्हारे रुप की जैसी प्रशंसा सुनी थी वैसा ही रुप प्रत्यक्ष देखा!

तब, 'इन्द्रसभा में मेरे सौन्दर्य की प्रशंसा हुई!'- ऐसे गर्वसे प्रियमित्राने कहा-हे देवियों! अभी नही, कुछ समय पश्चात जब मै शृगांर करके वस्त्राभूषण सहित तैयार होऊँगी तब तुम मेरा अद्‌भुत रुप देखना...!

कुछ ही समय पश्चात वस्त्राभूणों से सुसज्ज होकर जब महारानी सिंहासन पर बैठी, तब उसका रुप देखकर दोनों देवियोंने प्रसन्न होने के बदले निराशा से सिर हिलाया!

रानी ने पुछा-क्यो?

देवीने कहा-हे सुभागी! पहले शृंगाररहित तुम्हारा जो रुप हमने देखा था वैसा अब नही रहा; सोलह शृगार सजने पर भी अब तुम्हारे रुप में कोई विकृति उत्पन्न हो गई है!

यह सुनते ही रानी एकदम उदास हो गई। उसने अपने स्वामी मेघरथ की ओर देखा। उन्होने कहा- हां देवी! इन अप्सराओं की बात सच है; तुम्हारे चहेरे की कान्तिमें कुछ न्यूनता आ गई है! अरे, शरीर के सौन्दर्य की ऐसी क्षणभंगुरता देखकर रानी प्रियमित्रा को एकदम वैराग्य आ गया और वह दीक्षा लेने को तैयार हो गई।

तब महाराजा मेघरथने उसे धैर्य बँधाया कि हे देवी! अभी दीक्षा मत लो; कुछ समय ठहरो; मेरा चित्त भी अब इन राजभोगोंसे उदास हो गया है, इसलिये अल्पकाल में ही तीर्थंकर प्रभुका सुयोग मिलने पर हम दोनों साथ ही दीक्षा लेगे!

उपरोक्त घटना को कुछ समय बीत गया; इतने में एकबार परमपिता भगवान घनरथ तीर्थंकर का नगरी में आगमन हुआ। पिता और प्रभु पधारने की बधाई सुनते ही मेघरथके हर्षका पार नहीं रहा। -अहा, महान भाग्योदय से धर्मका कल्पवृक्ष हमारे आँगन में फलित हुआ! ऐसी आनन्द पूर्वक महाराजा मेघरथ सपरिवार महान उत्सवपूर्वक समवसरण में गये। एक तो उनके पिता और वे भी तीर्थकर!...उनके दर्शन से अति आनन्द हुआ। जैसा आनन्द परमपिता भगवान आदिनाथ के दर्शन से महाराजा भरत को हुआ था, वैसा ही आनन्द परमपिता घनरथ तीर्थकर के दर्शनों से राजा मेघरथ को हुआ। सबने भक्तिसहित परमात्मा की वन्दना करके उनकी दिव्यवाणी का श्रवण किया। अहा, एक तीर्थकर के श्रीमुख से उन्हीं के पुत्र (और भावी तीर्थंकर) धर्मोपदेश सुन रहे हैं, और साथ में उनके भ्राता (भावी गणघर) भी बैठे हैं। भगवान की वाणीमें सम्यक्त्व से लेकर मोक्षकी साधना तक का वर्णन आया। रागरहित शुध्दोपयोग द्वारा ही आत्मसाधना का प्रारम्भ और पूर्णता होती है- ऐसा भगवान ने बतलाया।

प्रभुकी वाणीमें मोक्षसाधना का अदभुत वर्णन सुनकर राजा मेघरथ के चित्त में मोक्ष साधना की उत्सुकता उत्पन्न होगई और वे संसार छोडकर मुनिदीक्षा लेने को तैयार हुए। उनके भ्राता दृढरथ भी उन्हींके साथ दीक्षित होने को तैयार होगये।

मेघरथने उनसे राज्य सँभालने को कहा, परन्तु वे बोले कि- हे पूज्य बंधुवर! जिस राजपाट और जिन विषयभोगोंको असार जानकर आप त्याग रहे हैं, मैं भी उनको असार ही मानता हूँ। आप जिन्हें

त्याग रहे हैं, उनका ग्रहण करनेको मुझसे क्यों कहते हैं? आप इन सबका मोह छोड़ रहे हैं तो मैं उनके मोहमें क्यों पड़ूँ? मैं तो आपका भव-भवान्तरका साथी-सहोदर हूँ और मोक्ष होने तक आपके साथ ही रहूँगा...इसलिये मैं भी आपके साथ दीक्षा लेकर परमपिता के चरणोंमें रहूँगा।

-इस प्रकार घनरथ तीर्थंकर के चरणोंमें उनके पुत्र मेघरथ तथा दृढरथ दोनोंने जिनदीक्षा अंगीकार कर ली; उनके साथ अन्य सात हजार राजाओंने भी दीक्षा ग्रहण की, तथा महारानी प्रियमित्रा आदि अनेक श्राविकाएँ भी दीक्षा लेकर आर्यिका बन गई

दीक्षा लेकर मेघरथ और दृढरथ दोनों मुनिवरोंने आत्मध्यान द्वारा शुध्दरत्नत्रय धारण किये, उत्तम तप किया और बारह अंग का ज्ञान प्रगट करके श्रुतकेवली हुए। वे सदैव उत्तम वैराग्य भावनाओंमें तत्पर रहते थे। घनरथ तीर्थंकर के चरणसान्निध्य में मेघरथ मुनिराजने क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट किया, तथा दर्शनविशुध्दि आदि सोलह उत्तम भावनाओं द्वारा सर्वोत्कृष्ट ऐसी तीर्थंकर प्रकृति बाँधना प्रारम्भ किया,-मानो एक तीर्थंकर पिताके पाससे उन्हींकि पुत्र ने तीर्थंकरत्व का उत्तराधिकार प्राप्त किया। पिता घनरथ प्रभु तो पूर्वकालमें बाँधी हुई तीर्थंकर प्रकृति को छोड़ रहे थे, जबकि पुत्र मेघरथ मुनिराज (भविष्य में तीर्थंकर होने के लिये) नवीन तीर्थंकर प्रकृति बाँध रहे थे। -तो क्या घनरथ तीर्थंकर द्वारा छोडे गये उसी तीर्थंकर प्रकृतिके परमाणु मेघरथ मुनि के आत्मामें प्रवेश करते होंगे?- आश्चर्य!

ज्ञानी-ध्यानी दोनों मुनिवर अनेक वर्षोंतक साथ-साथ विचरे। वे उपवासादि बाह्यतप तथा आत्मध्यानादि अंतरंग तप करते थे। वे शीत -उष्ण आदि समस्त परीषह सहते थे; -यद्यपि विशेष पुण्ययोग के कारण ऋतुएँ उनके अनुकूल रहतीं और बाह्य में भी अन्य उपसर्ग नहीं आते थे। चाहे जैसी परिस्थितिमें वे क्रोधादि कषाय नही होने देते थे; वीतरागी शांतभाव द्वारा उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य एवं ब्रम्हचर्य, -इन दस धर्मों का पालन करते थे। वैराग्य की वृध्दि तथा कर्मोंकी हानिके हेतु वे सदा अध्रुव- अशरण -एकत्व- अन्यत्व- अशुचि- संसार- आस्रव- संवर- निर्जरा- लोक- धर्म एवं बोधिदुर्लभ- इन बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करते थे; उन वैराग्य भावनाओंका चिन्तवन उनके चित्तमें आनन्द उत्पन्न करता था। और बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प मोक्ष सुखका वेदन करते थे। शुद्धोपयोगी मुनि और सिद्धमें क्या कोई अन्तर है? बाह्य स्थित जीव उनमें अन्तर देखते हैं तो देखे; उन्हे स्वयं तो निर्विकल्प आनन्द में लीनता होनेसे कोई द्वैत दिखायी नहीं होता।

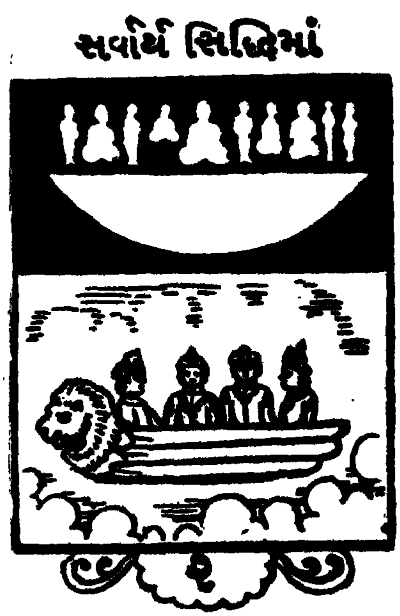
अहा, इससे विशेष उस मुनिदशा की क्या महिमा लिखें? उस अतीन्द्रिय सुखको इन इन्द्रियजन्य अक्षरों द्वारा कैसे बतलाया जा सकता है? ऐसी आनन्दमय दशामें झूलते झूलते वे मेघरथ-दृढरथ मुनिवर अनेक वर्षोंतक विचरे और धर्मोपदेश द्वारा अनेक जीवोंका कल्याण किया। चौंसठ महान ऋध्दियोंमें से केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य सर्व ऋद्धियाँ उनको प्रगट हुई थी, किन्तु उन लब्धियोंका उपयोग करना उनका लक्ष नही था; उनका लक्ष तो चैतन्य की साधना ही था। जब उनकी आयु एक ही मास शेष रही तब उन्होने विधिपूर्वक समाधि मरण करने हेतु प्रायोपगमन संन्यास धारण किया; शरीर की अत्यंत उपेक्षा करके वे ध्यान- स्वाध्याय में ही रहने लगे; उन्होने आहार- जल का सर्वथा त्याग कर दिया; वे अपने शरीर की किसी प्रकार की सेवा सुश्रुषा करते नही थे तथा दूसरों के पास कराते नही थे। महान शूरवीरतापूर्वक वे चार आराधना में तत्पर थे। परिणामों की विशुध्दि बढते-बढते वे शुक्लध्यान में आरुढ हुए और उपशम भाव से गुणस्थान श्रेणी चढने; लगे। राग-द्वेष-मोहका उपशम करके वे ११ वे वीतरागी गुणस्थान में पहुँचे ...और ...वीतरागी यथाख्यात चारित्र सहित उत्तम समाधिपूर्वक देहको त्याग कर,

संसार के सर्वोत्कृष्ट स्थान ऐसे 'सर्वार्थसिद्धि' स्वर्गलोक में उत्पन्न हुए।

[भगवान शान्तिनाथ के तीसरे पूर्वभव मेघरथ का वर्णन यहाँ समाप्त हुआ]

## भगवान शान्तिनाथ: पूर्वभव दूसरा

अपने चरित्र नायक भगवान शान्तिनाथ और उनके भ्राता यह दोनों जीव सर्वार्थसिद्धि में विराजते हैं...जब वे सर्वार्थसिध्दि में विराजते थे तब भगवान कुन्थुनाथ के आत्मा भी वहीं सवार्थ- सिद्धि में उत्पन्न हुए थे। वाह, यहाँ एक क्षेत्र में दो तीर्थंकर कभी साथ नही होते, परंतु वहाँ तो अनेक तीर्थंकर कभी साथ नहीं होते, परन्तु वहाँ तो अनेक तीर्थकर असंख्य वर्षोतक एकसाथ रहते हैं और एक-दूसरे से अदभुत -अचिन्त्य चैतन्य चर्चा करते हैं। अरे पाठको! तुम्हे यह जानकर आश्चर्य होगा कि स्वर्गलोकमें ( तथा नरक में भी) वर्तमान मे असंख्य तीर्थंकर जीव ऐसे हैं जो वहाँ की आयु पूर्ण होने पर सीधे तीर्थंकर रुप से अवतरित होंगे...और एक-एक तीर्थंकर करोड़ों अरबों जीवों को संसार से तारेगा। वाह, कैसी है जैनधर्म की विशालता! सर्वार्थसिध्दि-स्वर्गलोक सर्व श्रेष्ठ है; सिद्धशिलासे वह मात्र बारह योजन नीचे है; वहाँ के देव जिस प्रकार क्षेत्र से सिद्धालय के निकट हैं उसी प्रकार भावसे भी सिध्दपदके बिलकुल निकट हैं। शुद्धरत्नत्रयवान उत्तम मुनिवर ही सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होते हैं; इसलिये वहाँ भी उनका जीवन एकदम शांत होता है। धर्मात्मा जीवों में तीर्थंकर पद प्राप्त करनेवाले असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं तब सर्वार्थसिद्धिका पदमात्र एक जीव प्राप्त करता है। वे सर्वार्थसिध्दि देव मात्र संख्यात ही है; वे सब अप्रतिहत सम्यग्दृष्टि है और असंख्य वर्षों तक वीतराग विज्ञान के अमृत का पान करते है; मुक्तिरमणी उन्हे पुकार कर मोक्षपुरी में बुला रही है; और वे देव भी विषय भोगो में अनासक्त होनेपर भी मुक्तिरमणी में उनका चित्त आसक्त है। -दिव्य रत्नों की प्रभासे झलकते हुए देव विमानोमें उन अहमिन्द्र देवोंको उत्कृष्ट पुण्य जनित सर्व सुख विद्यमान होनेपर भी, उन सबसे परे अंतर के अतीन्द्रिय चैतन्य सुख को ही वे इष्ट मानते है। उनके शुक्ल लेश्या है, किसी प्रकार का पाप या प्रतिकूलता नही है, दुःख या रोग नहीं है; अहा, जहाँ के सर्व जीव पूर्वकालमें मुनिजीवनकी वीतरागता का अनुभव करके आये हों, सब सम्यदृष्टि हों, सब आत्मा अनुभवी हों और सभी एक भव पश्चात परमात्मा बनकर मोक्ष जानेवाले हों; उस स्वर्गलोक के धार्मिक वातावरण का क्या कहना!! वहाँ सबके परिणाम एकदम शांत है, बाह्य में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, कहीं ईर्ष्या या क्लेश नहीं है; एक क्षणमात्र में सर्वत्र जाने की शक्ति होनेपर भी अपने विमान के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं जानेकी आकुलता नही है। वे देव अपने देवविमान में विद्यमान शाश्वत जिनप्रतिमाओं को दर्शन-पूजन-स्तवन करते हैं। अवधिज्ञानद्वारा तीर्थंकरोका पंचकल्याणक देखकर जिन-महिमा करते है, और सदा मोक्षके कारणभूत तत्त्वचर्चा करते है। उन देवों के देवियाँ नहीं होती, तथापि इन्द्रोंकी अपेक्षा वे अधिक सुखी है। अंतर मे स्वयं साक्षात् अनुभव किये हुए आत्मतत्त्वके अगाध अपार-वैभव की अनन्त महिमा की चर्चा एवं चिन्तन वे असंख्य वर्षों तक करते रहते है; उसमें उन्हें कभी अरुचि नहीं होती; उनको निद्रा



नहीं है, आहार नहीं है, मात्र ३३००० वर्ष मे एक बार अपने ही कण्ठसे झरते अमृत के स्वाद का मनमें चिन्तवन करके तृप्त हो जाते है। उनको कभी इष्ट का वियोग या अनिष्ट का संयोग नही होता। पूर्वभव में वे रत्नत्रयके प्रताप से सुखी थे, वर्तमान में सुखी हैं और अगले भवमें मोक्षसुख प्राप्त करनेवाले है। उनको कोई चिंता या भय नहीं है, किसी के प्रति द्वेष या वैरभाव नहीं है; निचले देवोंकी अपेक्षा उनका शरीर छोटा है, परन्तु सुन्दरता महान है। उनको समस्त त्रसनाडी के असंख्यात योजनोंको जानने का अवधिज्ञान तथा उतनी ही महान विक्रिया ऋद्धि होती है परन्तु वे उस ऋद्धि का उपयोग कभी नहीं करते, क्योंकि वे मुनिसमान इच्छा रहित होते है। इस प्रकार मेघरथ और दृढरथ-जोकि सर्वार्थ सिध्दि में अहमिन्द्र हुए हैं वे दोनों भ्राता तेतीस सागर तक सुखसागर में निमग्न रहने पर भी, भवसागरको पार करके बाहर निकले और अब मोक्षपुरीमें जाने के लिये मनुष्य लोक में आने को तैयार हुए। [चलो, वे आयें उससे पूर्व उनका स्वागत करने तथा जन्मोत्सव देखने के लिये हम हस्तिनापुरी मे पहूँच जायें]

[भगवान शान्तिताथ के दूसरे पूर्वभव सवार्थसिद्धिका वर्णन पूरा हुआ]

## हस्तिनापुरी में शान्तिनाथ - अवतार

**निजवैभव कर प्राप्त, आपने पायी शान्ति अनन्त;**
**ध्याते हैं हे नाथ, माँगते हम भी भवका अन्त।**
**चक्रवर्ती-पद छोड प्रभो पहुँचे शिवपुर थान;**
**जीवों को शान्ति प्रदान कर, पाया पद निर्वाण।**

हे प्रभु शान्तिनाथ! आपका जीवन सचमुच अदभुत् है, संसार का अंत करते- करते आपने संसार के सर्वोच्च पद (चक्रवर्ती पद, सर्वार्थ सिद्धपद तथा तीर्थकर पद भी) प्राप्त कर लिये; और अंतमें उन सबसे परे ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करके मोक्षपुरी में विराज गये...इसलिये आपका जीवन आनन्द-मंगलकारी है।

अहा, प्रभु के उत्तम चारित्र की महिमाका क्या कहना! 'मै शातिनाथ भगवान का जीवन चरित्र पढता हूँ इस प्रकार इस कथा में उपयोग लगाने से भी संसार की सर्व अशांति दूर होकर आत्मा में कोई नवीन शान्ति प्रगट होती है। शान्ति प्रिय श्रोताओ! तुम भी भक्तिपूर्वक स्थिरचित्त से यह शान्तिनाथ प्रभु का चरित्र सुनो!

अपने इस भरतक्षेत्र में हस्तिनापुरीनगरी है; पूर्वकाल में भगवान ऋषभदेव उस नगरी में विचरे थे और दीक्षा के पश्चात् सर्व प्रथम (वर्षी तपका) पारणा उस हस्तिनापुरीनगरी में राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांस कुमार के हाथ से किया था, इसलिये इस चौवीस में उत्तम दान तीर्थ का प्रारम्भ उस नगरी में ही हुआ था। पश्चात् उन सोमराजा के पुत्र जयकुमार हस्तिनापुर के राजा हुए, वे भरत चक्रवर्ती के सेनापति थे, पश्चात दीक्षा लेकर ऋषभदेव भगवान के गणधर हुए और मोक्ष प्राप्त किया। तत्पश्चात उन सोमराजा के कुरुवंश में असंख्य राजा हुए और उन्होंने भी मोक्ष प्राप्त किया। तपश्चात उन सोमराजा के कुरुवंशमे असंख्य राजा हुए और उन्होने भी मोक्ष प्राप्त किया। अब,जिस समय की अपनी यह कथा है उस समय, उस हस्तिनापुरी के कुरुवंशमें विश्वसेन महाराज राज्य करते थे; उनकी महारानी ऐरादेवी (अचिरादेवी) उनकी कुक्षिसे से सोलहवे तीर्थकर का अवतार हुआ। उनका यह मंगल जीवन भव्य जीवों को अपूर्व शान्तिदायक है। हे सुभव्य साधर्मियों! अतीन्द्रिय शान्तिवान भगवान शान्तिनाथ को ध्यान द्वारा हृदय

में विराजमान करके, उनका यह मंगल चरित्र पढ़ो...सुनो!

अरे, जिससे कषायकी वृध्दि होकर वैराग्य का नाश हो- ऐसी विकथा, अपने आत्म कल्याणके इच्छुक जीवों को कभी नहीं सुनना चाहिये; क्योंकी वह कथा सुनने से पाप का बंध होता है और धर्म के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। जिस कथा के श्रवण से वैराग्य की वृध्दि हो और परिणाम शांत-उज्ज्वल हों, वही कथा सत्पुरुष के मुख से निरन्तर भक्तिपूर्वक श्रवण करना चाहिये; क्योंकी उसके श्रवण-पठन से धार्मिक संस्कार का पोषण होता है और पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये कर्ण-अंजलि द्वारा इस धर्म कथा के श्रेष्ठ अमृत कथा का पान करो।

**अहा तीर्थंकरादि महापुरुषों की धर्मकथा बड़े या छोटे, स्त्री या पुरुष सबको आनन्द प्राप्त कराती है और उत्तम संस्कारों के सिचंन द्वारा सन्मार्ग बतलाकर जीव को मोक्षमार्ग में लगाती है। अरे, मनुष्य तो ठीक... देवों को भी आनन्द प्राप्त कराये ऐसी यह धर्मकथा हे भव्य जीवो! तुम आत्म कल्याण हेतु सुन रहे हो, वह सचमुच तुम्हारे उत्तम भाग्य का संकेत है।**

भरतक्षेत्र में ऋषभदेव से लेकर धर्मनाथ तक १५ तीर्थंकर और भरतादि चार चक्रवर्ती हो गये; अब, उनके पश्चात् होनेवाले तीन तीर्थकर तथा वे ही तीन चक्रवर्ती जहाँ अविरत होने वाले हैं ऐसी सुन्दर हस्तिनापुरी में चले। यहाँ के राजा-प्रजा पुण्यवन्त है और देव-गुरू-धर्म की उपासना में तत्पर रहते है; व्यापार-धंधा तथा रसोई में आरम्भ से उन्हे जो थोडा पाप लगता है उस पापको जिनपूजा-स्वाध्याय-दानादि सत्कार्यो द्वारा प्रतिदिन धो डालते हैं। दुनिया की श्रेष्ठ वस्तुएँ इस नगरी में आती है। यहाँ के पुण्यवान लोगो कों भविष्य की कोई चिन्ता नहीं है इसलिये जितना कमाते है उतना दानादि में व्यय कर देते है; तथापि पुण्योदय से उनकी सर्व वस्तुओंमें वृध्दि होती रहती है। उत्तम दान के लिये तो यह नगरी भगवान ऋषभदेव के शासनकाल से जगप्रसिद्ध है।

माघ का महिना चल रहा था...अचानक ही हस्तिनापुरमें राजभवन के प्रांगण में करोडो रत्नोंकी वर्षा होने लगी; और छह मास पश्चात् भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को महारानी अचिरा देवी (ऐरादेवी) ने अति मंगल सूचक सिंह हाथी, माला, रत्नराशि आदि १६ उत्तम स्वप्न देखे। अहा, प्रकृति की रचना तो देखो! सर्व तीर्थकरोंकी माताएँ एक समान १६ मंगलस्वप्न नियम से देखती है। ऐसे उत्तम १६ स्वप्न तीर्थकर की माताके अतिरिक्त और किसीको नही आते। जिस समय अचिरा माताने स्वप्न देखे उसी समय, असंख्य योजन दूर ऐसे सर्वार्थसिद्धि स्वर्गसे प्रभु शान्तिनाथ का जीव तीर्थंकर-अवतारके रुपमें उनके उदर में अवतरि हुआ। महारानीने अल्पनिद्रा में देखा कि एक महासुन्दर सुगंध युक्त हाथी उनके मुखमें प्रविष्ट हो रहा है।

महारानी जाग उठी; अति हर्षपूर्वक पंचपरमेष्ठी का चिंतन किया। पश्चात् राजसभा में पहुँची और महाराजा से आनन्ददायक मंगलस्वपनों की बात कही। अवधिज्ञानी विश्वसेन महाराजाने जान लिया कि अहो! अपने यहाँ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का आगमन हुआ है। हे देवी! सोलहवें तीर्थंकर का जीव तुम्हारे गर्भ में अविरत हो चुका है। इतना ही नही, वह महान आत्मा चक्रवर्ती होकर सारा ये भरतक्षेत्र का राज्य करेगा और पश्चात् तीर्थंकर होकर समस्त विश्वमें धर्मका साम्राज्य चलायगा। उसका रुप अद्‌भुत सुन्दर होगा वह कामदेव, चक्रवर्ती एवं तीर्थंकर-ऐसी तीन उत्तम पदवियोंका धारी होगा।

वाह! ऐसी बात सुनकर किसे हर्ष नही होगा? महादेवी अचिरामाता के हर्षानन्दका पार नही रहा-'अहा, ऐसा धर्मात्मा और मोक्षगामी जीव मेरे उदर में!' ऐसे परम उल्लास से उनके अंतर में चैतन्य

महिमा के अपूर्वभाव जागृत हुए; असंख्य प्रदेशोंमे उन्हें किन्हीं अपूर्व चैतन्य भावोंका वेदन हुआ उनके अतंर से मोहांधकार दूर होकर चैतन्य प्रकाश खिल उठा। **अहो, धन्य तीर्थंकर महिमा! वह त्रिकाल मंगल आत्मा जिसके उदर में विराज मान हो उसके अंतर में मोहांधकार रह ही नही सकता।**

शान्तिनाथ प्रभुके गर्भावतार कल्याणक का उत्सव करने हेतु स्वर्ग से इन्द्र आ पहुँचे; उन्होने महाराजा विश्वसेन तथा महादेवी अचिरामाता का तीर्थंकर के माता पिता रुपमें सन्मान किया; दिव्यवस्त्राभूषण भेट किये और स्तुति की कि-अहो, आपके यहाँ सोलहवें तीर्थंकर का आगमन हुआ है... आप तीर्थंकर के माता पिता होने से जगत के माता-पिता है।

हस्तिनापुरीके भाग्य का उदय हुआ; उसे अयोध्यातीर्थ जैसा गौरव प्राप्त हुआ। वहाँ प्रतिदिन रत्नोंकी वर्षा होती थी; शान्ति एवं समृध्दि बढ़ती जा रही थी। कमलवासी श्री-ह्रीं-धृति-कीर्ति-लक्ष्मी-सरस्वती आदि देव कुमारियाँ भी इन्द्रकी आज्ञा से अचिरा माता की सेवा करने आ गई थीं। वे देवियाँ आनन्द-विनोदपूर्वक चर्चा करके माता को आनन्दित करती थी और उदरस्थ प्रभुकी महिमा प्रगट करती थी।

- *एक बार श्रीदेवीने पूछा-हे सखी! इन माताजी के आसपास सर्वत्र इतनी अधिक शान्ति क्यों है ?*
- तब लज्जावती ह्रींदेवीने कहा-सुन हे देवी! भगवान शान्तिनाथ स्वयं माताजीके उदर में विराज रहे है, उन्ही के प्रताप से इतनी अधिक शान्ति छा रही है!
- धैर्यदेवीने पूछा- हे सखी! महाराजा विश्वसेन एवं अचिरामाता की कीर्ति अचानक ही जगत में कैसे फैल गई ?



- कीर्तिदेवीने कहा-हे देवी! तीन लोककी कीर्तिको वश करनेवाला तीर्थंकरका आत्मा उनके यहाँ पुत्ररुपसे आया है इसलिये।
- लक्ष्मीदेवीने पूछा-हे देवी सरस्वती! आजकल अचिरामाता के अंतर से सरस्वती उमड़ रही है और सम्पूर्ण राज्य में लक्ष्मीकी खूब वृध्दि हो रही है-उसका क्या कारण है?
- सरस्वतीदेवीने कहा-हे लक्ष्मी! इस समय माताजीके उदर में जो तीर्थंकर विराज रहे हैं वे तीन लोककी लक्ष्मी तथा तीन लोक में श्रेष्ठ सरस्वतीके (केवलज्ञान के) स्वामी होनेवाले हैं, इसलिये यहाँ लक्ष्मी और सरस्वती दोनों उमड़ने लगी हैं।

-ऐसी उत्तम चर्चामें प्रसन्नतापूर्वक भाग लेकर माताजी भी देवियों को आनन्द प्राप्त कराती थी। इस प्रकार प्रसन्नता के वातावरण में सवानौ महीने बीत गये...तत्पश्चात्...

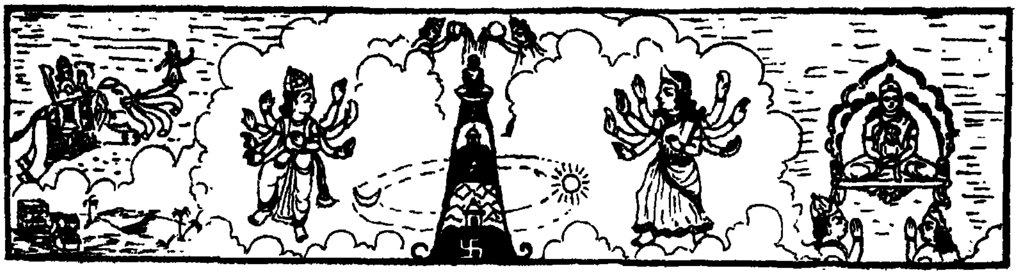
ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन माता अचिरादेवीने एक सर्वोत्कृष्ट पुत्रको जन्म दिया... मानो जगत् प्रकाशक दीपक प्रज्वलित हुआ। उसी क्षण उसके तेजसे तीन लोक प्रकाशित हो गये। अभी केवलज्ञान का दिव्यप्रकाश तो फिर होगा, उससे पूर्व ही पुण्योदय के महातेज से पृथ्वी जगमगा उठी; मात्र मनुष्यलोक का ही नहीं, स्वर्ग का तथा नरक का वातावरण भी दो क्षण के लिये शान्तिमय हो उठा; सर्वत्र ही एक प्रकार का नूतन आह्लाद छा गया। स्वर्ग के दिव्य वाद्य एकसाथ बजने लगे और दिव्य ऐरावत हाथी पर बैठकर इन्द्र महाराज हस्तिनापुरी में प्रभु का जन्मोत्सव मनाने देवो के ठाटबाट सहित आ पहुँचे। तीर्थंकर प्रभुके जन्मका ऐसा महान उत्सव हुआ कि मानो दुनिया भर का आनन्द यहाँ एकत्रित हुआ हो! 'शान्ति' प्रभुका अवतार होने से तीनों लोक के अंतर में 'शान्ति' अवतरित हुई।

उन बाल तीर्थंकर की गोद में लेकर इन्द्रानी धन्य हो गई। अहा, तीर्थंकर समान धर्मात्मा का सीधा स्पर्श होने से वह परम वात्सल्यपूर्वक रोमांचित हो गई। देव पर्याय में यद्यपि पुत्र नहीं होते परन्तु किसी सातिशय पुण्य योग से तीर्थंकर शिशु को अपनी गोद में लेते हुए उस इन्द्रानी को पुत्रसुख की अपेक्षा विशेष किसी लौकिक संतोषका अनुभव हुआ। वह भूल गई कि मैं इन्द्रानी हूँ; वह तो ऐसा वेदन करने लगी मानो वही बच्चे की 'माँ' हो... और प्रभुभक्ति में तल्लीन होकर स्वयं को ही प्रभुरुप से अनुभव करने लगी। अहा, बालतीर्थंकर भी अनेक जीवों को सम्यक्त्व में कारण होते हैं। मोक्षगामी बालक को गोद में लेनेसे वह इन्द्रानी भी मोक्षमार्गी बन गई। आनन्द के अपूर्व रोमांचपूर्वक इन्द्रानीने उन बालतीर्थंकर को इन्द्र के हाथ में दे दिया। इन्द्र तो उन बालतीर्थंकर का रुप देखकर मानो हर्षोन्मत्त ही हो गया! वह एक साथ हजार नेत्र बनाकर प्रभुका रुप निहार रहा था। उसे आश्चर्य हुआ कि इन्द्रलोक से भी सुन्दर वस्तु इस मनुष्यलोक में हो सकती है! अरे, सच बात है कि-मुनिदशा और मोक्ष समान सर्वश्रेष्ठ वस्तु इन्द्रलोक में कहाँ है? वह तो मनुष्यलोक में ही है न! इन्द्रका गर्व उतर गया और मनुष्यलोक की तीर्थंकर-विभूति के समक्ष स्वर्गलोक की इन्द्रविभूति भी उसे तुच्छ लगने लगी। हजार नेत्रोंवाला इन्द्र प्रभूका रुप देखकर में ऐसा तल्लीन था कि अपनी इन्द्रानी के दिव्य रुप को भी वह भूल गया...वह ऐसा सूचित करता है कि- वीतराग स्वरुप का अवलोकन करनेवाले मुमुक्षु भव्यात्मा का चित्त उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता था कि जगत के विषय कषायों से उसका चित्त सहज ही हट जाता है।



प्रभु को देवी ऐरावत हाथी पर विराजमान करके महान शोभा यात्रा सहित इन्द्र मेरुपर्वत पर ले गया और वहाँ अतिशय भक्तिपूर्वक अभिषेक किया। असंख्य वर्षों

पूर्व के इन्द्रने क्षीरसागर के पवित्र जल से भगवान आदिनाथका जैसा महाभिषेक किया था, वैसा ही इन इन्द्रने शान्तिनाथ भगवान का किया। बालतीर्थंकर प्रभुकी शोभायात्रा से वह हाथी भी धन्य हो गया! वास्तव में वह कोई हाथी नहीं था, वह तो सौधर्म स्वर्ग का एक देव था, और प्रभुको अपनी पीठपर विराजमान करने के लिये उसने स्वयं विक्रियाद्वारा हाथीका रुप धारण किया था...हाथी भी कैसा?



-दैवी! जिसका वर्णन कल्पनातीत है। एक लाखयोजन बड़ा, कितनी ही सूँढें; प्रत्येक सूँढ में सरोवर; सरोवर में कमल, और उन कमलों की प्रत्येक पंखुरी पर भक्तिसहित नृत्य करती हुई अप्सराएँ अद्भुत थी वह रचना! अहा, जिसकी पीठपर तीर्थंकर बैठे हों उसकी शोभा का क्या कहना!! पुराणकार कहते हैं कि उस समय ऐरावत हाथी के साथ इन्द्र की सात प्रकार की सेना में करोडों वाद्यों सहित अरबों हाथी घोड़े-रथादि थे। वास्तव में वे कोई तिर्यंचजीव नहीं थे, किन्तु देवों की ही उसप्रकार की अद्भुत विक्रिया थी। इन्द्रका ठाटबाट वैभव इतना विशाल और अचिन्त्य था कि सम्पूर्ण मनुष्यलोक में जिसका समावेश न हो; ऐसी अचिन्त्य विभूतिवान इन्द्र को भी ऐसी अदभुत् जिनभक्ति करता देखकर अनेक मिथ्यादृष्टि देव भी जैन धर्म की श्रध्दा से सम्यग्दृष्टि बन जाते थे। इसीसे 'जिनमहिमा-दर्शन' को सम्यगदर्शनका कारण कहाँ है। वे इन्द्र-इन्द्रानी, वह ऐरावत हाथी, वे देव-देवी-सब तीर्थंकर की भक्ति से जितने पुण्यकर्मोंका उपार्जन एवं पाप कर्मो का विसर्जन करते थे, उनमे अल्पता- अधिकता किसीकी थी वह हम नहीं कह सकते; परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि उस समय उस जिनमुद्राके दर्शन से वीतराग रसकी जो पुष्टि होती थी वह सबसे महान थी और मोक्षका कारण थी। शान्तिप्रभु के सान्निध्य में शान्ति का वह एक चमत्कार था। भक्ति की चेष्टाए सबकी भिन्न-भिन्न थी परन्तु उस भक्तिका फल तो सबको समान ही था। धन्य जिन महिमा!

उन शिशु भगवान का स्वरुप यद्यपि स्वयं सुशोभित था, शोभाके लिए किसी बाह्य अलंकार की आवश्यकता उनको नही थी; तथापि-''स्वर्गलोक स्थित मानस्तंभ के दिव्य पिटारोंमे उत्पन्न हुए सर्वोत्कृष्ट अलंकार मै तीर्थंकर के अतिरिक्त किसे पहनाऊ? इन दिव्य अलंकार को धारण कर सके ऐसा तो विश्वमे दूसरा कोई है नही....'' ऐसा सोचकर इन्द्रानीने स्वर्ग के दिव्य वस्त्राभूषण बालतीर्थंकर को पहिनाये...और साथ ही प्रभुके मस्तक पर रत्नो का मंगल तिलक लगाया; इस बहाने मानो उसने अपने आत्मा को ही मोक्षका तिलक लगा दिया। पश्चात वह इन्द्रानी इधरसे और उधरसे और मुँह फेर- फेरकर आश्चर्य पूर्वक प्रभुकी शोभा निहारने लगी।

उन प्रभु के दर्शन से सर्व जीवों को शान्ति हो रही थी, इससे इन्द्रने उन सोलहवें तीर्थंकर का नाम 'शान्तिनाथ' रखा। उनके चरण में मृग का चिन्ह था। जन्माभिषेक के पश्चात् १००८ मंगल नामोंसे

इन्द्रने प्रभुकी स्तुति की। अदभुत ताण्डव नृत्य किया और प्रभुकी शोभायात्रा के साथ हस्तिनापुर लौटे।

हस्तिनापुर के राजमहल में आकर इन्द्रने सन्मान पूर्वक भगवान के माता पिताको उनका पुत्र सौंपा और उनके समक्ष पुनः बालतीर्थंकर की भक्ति की। इन्द्र स्वयं इन्द्रानी के साथ थिरक थिरककर नाच उठा। अंतर में अपार उल्लास होनेपर कौन नहीं नाच उठता? अहा, इन्द्र के नृत्य का क्या कहना! वह एकसाथ हजार हाथ उठाकर और उस प्रत्येक हाथ पर उसी जैसा इन्द्र उसी जैसे हावभाव प्रदर्शित करके नृत्य कर रहा हो - ऐसी विक्रिया करके नाच रहा था। और उसका नृत्य इतना अधिक-गतिशील था कि - तबले पर धाधीन्...एवं धातीन्...इस प्रकार एक तालके पश्चात दूसरा ताल पड़े उससे पूर्व वह ( दो तालो के अन्तराल मे ) मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करके आ जाता था और ताल में ताल मिलाकर नृत्य करता था।

अहा, राजभवन के प्रांगण में करोड़ो प्रजाजनों कें समक्ष एक और इन्द्र ऐसा अदभुत् नृत्य कर रहा था और सामने अचिरामाता की गोदमें बैठा-बैठा वह शान्तिकुँवर उस नृत्यको देखकर अपने अतंर में इन्द्र के उस नृत्य से भी अदभुत् ऐसी आनन्दमय ज्ञानचेतनाको नचा रहा था। अंतर के उस नृत्य को देखनेवाले कोई विरले ही थे। हस्तिनापुरी के प्रजाजनों के हर्ष का कोई पार नही था, क्योंकि उन्हे तो एक ओर तीर्थंकर के साक्षात दर्शन तथा दूसरी ओर इन्द्रका नृत्य,-ऐसी दो अदभुत् वस्तुए एकसाथ देखने को मिल रही थीं। देव तो हस्तिनापुरमें एक ही वर्ष में यह दूसरी बार आये थे इसलिये उनके आनेका कोई आश्चर्य नहीं लगता था, परन्तु भगवान के दर्शनों से सबको हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था। पुत्र की ऐसी अदभुत् महिमा देखकर माता-पिता के तथा नगर जनों कें अंतर में अनुपम चैतन्य महिमा का उदय हुआ। अनेक जीव उस अवसर पर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। उस समय सातवे नरक के जीवों कों चित्तमें भी क्षणभर शान्ति का अनुभव हुआ तो दूसरों का क्या कहना! शान्तिनाथ का अवतार सर्व जीवों को शान्तिका कारण हुआ। वे जिस राजभवनमें विराजते थे उस नंद्यावर्त भवन की शोभा अदभुत् थी। उस भवन के प्रांगण में प्रति दिन प्रातःकाल हजारो लाखों की भीड प्रभुके दर्शन हेतु उमड़ी थी। उस भवन में 'जीवंत जिन' का निवास होने से वह एक साक्षात 'जिनमन्दिर' था दूसरे जिनमन्दिरोंमें तो जिनबिम्बरुप 'स्थापना-जिन' होते है, जब कि इस मन्दिरमें तो साक्षात् 'द्रव्यजिन' स्वयं विराज रहे थे, इसलिये वह जगत का एक मंगल तीर्थ था।

पन्द्रहवे तीर्थंकर भगवान धर्मनाथ का शासन लगभग तीन सागर तक चला; उसके अन्त भाग में पाव-पल्य (लाखों करोड़ों वर्ष) तक धर्मका विच्छेद हो गया था; तत्पश्चात् सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान का अवतार हुआ और धर्मकी धारा पुनः प्रवाहित हुई। उनकी आयु एकलाख वर्ष थी, शरीर की ऊँचाई ४० धनुष (लगभग १००मीटर) थी; उसमें चक्र-ध्वज-शंख-पद्म-मृग-तोरण आदि उत्तोमोत्तम १०८ चिह्न थे। जगत में श्रेष्ठ ऐसा चक्रवर्ती पद, सर्वार्थसिद्धि- इन्द्रपद या तीर्थंकर पद धर्माराधक जीवों को ही प्राप्त होते है; धर्मरहित जीवोंको ऐसा उत्तम पुण्य नहीं होता। ऐसी समस्त पदवियाँ धर्मसाधक भगवान शान्तिनाथ के जीव को धर्म की साधना युक्त उत्तम पुण्य द्वारा प्राप्त हुई थीं, तथापि अंत में तो उन सब कर्मजनित संयोगी पदवियों को छोड़कर प्रभुने स्वभावभूत ऐसे असंयोगी सिध्दपदको ही साधा। प्रभु का जीवन हमे ऐसा बतलाता है कि-भव में अविरत होना वह वास्तव में कृतार्थता नहीं है, परन्तु अवतार का अन्त करके अनंत सिद्धपद की प्राप्ति में ही कृतार्थता है।

कामदेव के रुप में चक्रवर्ती के रुपमें और तीर्थंकर के रुपमें उनके शरीर की सुन्दरता सर्वोत्कृष्ट थी, तो अतंर में अपूर्व भेदज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व और अवधिज्ञान द्वारा उनके आत्मा का सौंदर्य भी

महान था। उनकी दस अगुलियों की कोमलता में मानो उत्तमक्षमादि दस धर्मोंका वास था, इसलिये उनमें किंचित् कठोरता नही थी। उन बालतीर्थंकर शान्तिकुमार के मस्तक के कोमल-मरोड़दार बालोंसे लेकर पैरोंकि चमकदार नखों-तक शरीर के समस्त अवयवों की शोभा का भिन्न-भिन्न वर्णन करने की क्या आवश्यकता है? इतना कहना ही बस होगा कि-उस शरीर के सर्वांग में व्याप्त होकर एक महामंगलरुप तीर्थंकर प्रभु विराज रहे थे; शरीर के सर्व प्रदेशोंमें सर्वत्र एक धर्मात्मा-तीर्थंकर जीवके असंख्य प्रदेश (क्षायिकसम्यक्त्व-सहित) भरे हुए थे; इसलिये किसी निक्षेपसे तो वह शरीर स्वयं 'भगवान' तथापि, उन प्रभुके दर्शन से सम्यग्दर्शन उन्ही को प्राप्त होता था जो गहरे उतरकर शरीर से परे ऐसी अचिन्त्य शोभा द्वारा प्रभुकी पहिचान करते थे। धन्य तीर्थंकर अवतार!

भगवान शान्तिनाथ का अवतार होने के कुछ समय पश्चात् महाराजा विश्वसेन की दूसरी रानीने भी एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। पूर्वकालमे मेघरथ के भवमें जो दृढ़रथ नामका भाई था और जो सर्वार्थ सिद्धि में साथ था, वह जीव वहाँ से च्यवकर यहाँ शान्तिनाथ प्रभुके भ्राता रुप में अविरत हुआ, उसका नाम चक्रायुध।

दोनो भ्राता (जो कि *तीर्थंकर और गणधर की जोड़ी है*) दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत होने लगे; ऊनके गुणों का वैभव अधिकाधिक विकसित होने लगा। उनकी बालक्रीडाएँ भी आश्चर्यजनक थी। देव भी उनके साथ क्रीड़ा करने हेतु उन्ही जितने बालक का रुप धारण करके हस्तिनापुरी में रहते थे। अहा, तीर्थंकर का सहवास किसे अच्छा नही लगेगा? पुण्यजनित राज्यलक्ष्मी और धर्म जनित मोक्षलक्ष्मी दोनों के वे एकसाथ स्वामी थे, तथापि मोक्षलक्ष्मी का सन्मान करते और पुण्यलक्ष्मी के प्रति उदासीन रहते थे। (अर्थात् मोक्षलक्ष्मी जो महारानी के स्थान पर थी और पुण्यलक्ष्मी मात्र दासी समान थी।) दोंनो भ्राता आत्मानुभवी, चरमशरीरी तथा अत्यन्त आत्मरसिक थे। अनेक बार जब वे आत्मानुभव की गंभीर एवं आनन्दकारी चर्चा करते तब, तीर्थंकर-गणधरकी वह अदभुत् धर्मचर्चा सुनकर जिज्ञासु जीव मुग्ध हो जाते थे और तत्त्वस्वरुप को समझकर अनेक जीव आत्मानुभव कर लेते थे। 'वे आत्मानुभवकी कैसी अदभुत् चर्चा करते होगे?' हे पाठक! तुम्हारे अंतर की वह जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये यहाँ थोडीसी बानगी देता हूँ।

एक बार शान्तिकुमार और चक्रायुध कुमार दोनों भ्राता मनोहरउद्यान में पर्यटन हेतु गये; साथ में और भी अनेक लोग थे। आनन्द-प्रमोद में दिन पूरा हुआ। सायंकाल शान्तिताथ ने अपने भाईसे कहा-भाई चक्र! चलो, शान्तिसे दो घडी अंतरमे परमात्मतत्त्व का चिंतन करें। *यह बात सुनकर* चक्रकुमार प्रसन्न हुए, और दोनों भाई ध्यानमें बैठकर आत्मस्वरुप का चिन्तवन करने लगे। तुरन्त ही परिणाम शांत हुए और एक एक उपयोग निजस्वरुप में एकाग्र होनेसे स्वानुभूतिके निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हुआ। वे जीवन में बारम्बार ऐसा अनुभव करते थे...उस समय तो मानों कोई दो सिद्धभगवंत वहाँ विराजते हों! ऐसा लगता था। *योगी समान ध्यानस्थ उन दोनों राजकुमारों को देखकर सब लोग* भी प्रभावित हुए और सब प्रवृति छोडकर आत्मचिन्तनमें बैठ गये चारों ओर शान्ति का स्तब्ध वातावरण छा गया। अरे, वन के सिंह और शशाक, सर्प और मोर आदि पशुपक्षी भी उनकी शांत ध्यानमुद्रा देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए और वैर या भय छोडकर सब शांतपरिणामसे प्रभुसन्मुख बैंठ गये...मानो समवसरण में नही बैठे हों! किसी प्रकार के कोलाहल बिना अधिक समय ऐसे ही परमाशान्ति में बीत गया,-जिसे देखकर क्रोध से भिन्न चैतन्य शान्ति कैसी होती है-वह भव्य जीवो की प्रतीति में आ जाता था और परम शांत मोक्षतत्त्व की श्रद्धा हो जाती थी।

ध्यान पूर्ण होने पर तृप्त-तृप्त होकर जब दोनो राज्यकुमारोंने आँखे खोली तब आसपासका एकदम प्रशांत वातावरण देखकर तथा सर्व जीवोको आत्मशान्ति के विचारमें देखकर, दोनों को अत्याधिक प्रसन्नता हुई। अहा, मानो तीर्थंकर का समवसरण ही हो!

प्रभुकी मधुर दृष्टि से सब सभाजन प्रसन्न हुए। कुछ समय पश्चात नगर सेठ बोले-हे देव! आपका आश्चर्यजनक ध्यान देखकर हम सबको भी आत्मध्यान की प्रेरणा जागृत हो उठती है और बिना सीखे सहज ही आत्मध्यान आ जाता है। हे प्रभो! आप दोनों भ्राताओंने किस प्रकार आत्मध्यान किया? और उस ध्यान में क्या देखा? वह जानने की हम सबको उत्कण्ठा है...तो कृपा करके बतलाइये।

नगर सेठ का ऐसा उत्कंठा भरा प्रश्न सुनकर दोनों भाई प्रसन्न हुए और उनकी जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये साथ वे स्वानुभव की चर्चा करने लगे। (अहा, दो भाई...दोनों सम्यग्दृष्टि-चरमशरीरी-मोक्षगामी; एक तीर्थंकर और दूसरे गणधर; कैसी सुन्दर जोडी! उनकी स्वानुभूति की चर्चा सुनो।-)

शान्तिकुमार: हे भाई चक्रायुध! शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान कोन कर सकता है? और उसके लिये पात्रता कैसी होती है, वह कहो!

चक्रायुधकुमार: आत्म तत्व अति अदभुत् है, अचिन्त्य महिमावान है। प्रथम जिसने जैन धर्म के ज्ञाता-अनुभवी के निकट रहकर आत्मतत्व का यथार्थ स्वरूप समझा हो, उसके शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायों को रागसे विभक्त तथा चैतन्य स्वरुप से एकत्वरुप जाना हो, उसे जाननेपर चैतन्यरसकी मिठास-लगन लगी हो और रागरसके प्रति उदासीनता हो गई हो; ऐसा मुमुक्षु जीव विषय-कषाययोंसे विरक्त होकर शांतपरिणाम द्वारा चैतन्यानुभव के लिये चित्तको आत्मामें एकाग्र करनेका सतत प्रयास करता रहता है। -ऐसे सुपात्र जीवको जब चैतन्यरस की पराकाष्ठा होती है तब उसका उपयोग आत्मोन्मुख स्थिर हो जाता है, उसका नाम स्वानुभूति है। हे बन्धुवर! अनेक भवों से आपके उत्तम समागम के कारण मैने ऐसी स्वानुभूतिका स्वरूप जाना है।

शान्तिनाथ: हे बन्धु! तुम्हारी बात उत्तम है। उस स्वानुभूति के समय अतंरमे क्या दिखायी दिया?

चक्रायुध: अहो देव! उस समय आत्माने स्वयं अपने को देखा...दृष्टा और दृष्टिगोचर होनेवाली वस्तु (शुद्धनय और उसका विषय) ऐसे भाव- भेदरुप भिन्नता भी उसी समय नहीं था; एकाकार आत्मा सर्वगुणों के रस सहित स्वयं अपने को अनुभवता था वह आत्मानुभूति वचनातीत एवं विकल्पातीत थी! आश्चर्य से भी परे ऐसे परमशांतसरुप से आत्मा स्वयं ही प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान के स्वयंस्वाद में आता था। वहाँ इन्द्रियाँ नही थी, राग नहीं था द्रव्य-गुण-पर्याय के कोई भेद भी नही थे; अकेला ज्ञायक आत्मा स्वयं अपने आनन्द में लीन होकर सर्वोपरि परमतत्वरूपसे प्रकाशित हो रहा था।

शान्तिनाथ: वाह, अद्भुत है आत्मानुभूतिका वर्णन! प्रथम वार की अपूर्व स्वानुभूति के समय तो मानो आत्माके असंख्य प्रदेशोंमे आनन्द का कोई भारी भूकम्प हो रहा हो ऐसी उथल-पुथल हो जाती है, क्रोध रुपी पर्वतके टुकडे-टुकडे हो जाते हैं और उसके स्थानपर शान्तिका गंभीर समुद्र हिलोरे लेता है। दुःख के बदले परम सुखका वेदन होता है; भव के बदले आत्मा परम सुखमें बैठा हो -ऐसी तृप्ति का अनुभव होता है। अहा, उस अनुभूति में अपने सर्व गुणों का शांत- अतीन्द्रयरस एकसाथ स्वाद में आता है और सिद्धसमान वीतरागी तृप्ति का वेदन होता है इसलिये-

**आमां सदा प्रीतिवंत बन, आमां सदा संतुष्ट ने**
**आनाथी बन तुं तृप्त, तुजने सुख अहो! उत्तम थशे।**

(दो भाईयों के बीच स्वानुभव की सुन्दर चर्चा चल रही है और सभाजन वह स्वानुभूतिका रसपान करने में तल्लीन है।)

शान्तिनाथ: उस स्वानुभूति के समय निर्विकल्प उपयोग में स्व-पर प्रकाशकपना किस प्रकार होता है?

चक्रायुध: उस समय अंतर्मुख उपयोग में मात्र आत्मप्रकाशन; है, आत्मा ही स्वज्ञेय है; स्वयं ही ज्ञाता और स्वयं ही ज्ञेय-इस प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक की अभिन्नता है। उस समय उपयोग में परज्ञेय नहीं होता; क्योंकि साधक का उपयोग स्वमें तथा पर में-दोनों में एकसाथ नहीं लगता; एक समय एकमें ही उपयोग होता है।

शान्तिनाथ: तो क्या उस समय जीव को स्वपर का ज्ञान नहीं है?

चक्रायुध: है; परन्तु उपयोग स्वज्ञेय में ही वर्तता है। जिस भेदज्ञान द्वारा परवस्तु को पररूप जाना है वह ज्ञान उस पर्याय में वर्तता अवश्य है,-परन्तु लब्धरुप वर्तता है; उपयोग में तो आत्मा ही ज्ञाता और आत्मा स्वयं ही ज्ञेय है। परसे भिन्नता का ज्ञान करने के लिये कहीं परसन्मुख उपयोग होना आवश्यक नहीं है। अपने शुध्द आत्मा को ही स्वज्ञेय रुपसे जाना और उसमें राग की या जड़की मिलावट नहीं की, वही भेदज्ञान है। ज्ञानी को वह निरंतर वर्तता है।

शान्तिनाथ: धर्मीका उपयोग अतंर मे हो तब तो उस अतीन्द्रिय उपयोग में इन्द्रियविषय छूट गये है, परन्तु जब उसी धर्मीका उपयोग बाह्य में हो और इन्द्रियज्ञान हो तब उस बाह्य उपयोग के समय, क्या उसे मात्र इन्द्रियज्ञान ही होता, है?- अथवा अतीन्द्रियज्ञान भी होता है?

चक्रायुध: धर्मीको बाह्य उपयोग के समय इन्द्रियज्ञान होता है... तथा उसी समय उसे उस पर्याय में अतीन्द्रियज्ञान भी चलता ही रहता है; मात्र इन्द्रियज्ञान नही है। हां उस समय उपयोगरुप से अतीन्द्रियज्ञान नही है, तथापि उसी पर्याय में पहले जो आत्मज्ञान किया है उसकी धारणा वर्तती है...इसलिये अतीन्द्रियज्ञान का परिणमन (लब्धरुपसे) उसी पर्याय में चल रहा है। यदि मात्र इन्द्रियज्ञान हो तो सम्यग्ज्ञान स्थिर नहीं रह सकता और मोक्षमार्ग भी नहीं चल सकेगा। इसलिये **अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अनन्तानुबंधी कषाय के अभावरुप शान्ति, सम्यक् श्रद्धा आदि इन्द्रियातीत शुद्धभाव धर्मीकी पर्याय में सदा वर्तते ही होते है; और उन भावों द्वारा ही धर्मी जीव की सच्ची पहिचान होती है।**

अहा चैतन्यरस से परिपूर्ण ऐसी सरस तत्वचर्चा और वह भी तीर्थंकर-गणधर होनेवाले दो महात्माओं के श्री मुख से सुनकर सभाजन स्वानुभूति के गम्भीर रहस्य स्पष्टरुप से समझ गये और उसी समय अनेक जीवोंने शांत परिणाम द्वारा स्वानुभूति भी प्राप्त कर ली। तीर्थंकर-प्रकृति का उदय आने से पूर्व ही भगवान शान्तिनाथ ने धर्म तीर्थका प्रर्वतन प्रारम्भ कर दिया,-मानो उसके द्वारा प्रभुने ऐसा बतला दिया कि-धर्म को कर्मोदय के साथ कहाँ सम्बन्ध है?

(यह चर्चा स्वानुभूति प्रिय सज्जन मुमुक्षुओंको तथा ज्ञानियों को अति रुची है।) पाठक! स्वानुभव की इस सुन्दर चर्चा द्वारा तुम्हे यह जानकर प्रसन्नता होगी कि तीर्थकरों का समस्त जीवन कैसा महान, सुन्दर एवं गम्भीर भावोंसे भरा होता है! और उनके समागमसे जीवों को धर्मकी कैसी उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त होती रहती हैं! धन्य वह जीवन! सचमुच सत्पुरुषोंका संग जीवोंको कल्याण का कारण होता

है।

शान्तिनाथ और चक्रायुध, तीर्थंकर और गणधर-दोनों राजकुमार युवा हुए। उनकी उपस्थिती में हस्तिनापुरी के राज दरबार की शोभा बदल जाती थी। विश्वसेन महाराजाने अनेक उत्तम गुणवतीराजकन्याओं के साथ उनके विवाह किये। माता अचिरादेवी तो एसे पुत्रसुख प्राप्त करके इतनी तृप्त हो गई थी कि अब उन्हे संसार के किसी सुख की अभिलाषा नही रही थी, मात्र मोक्ष की ही अभिलाषा है।

एक लाख वर्ष की आयुवाले राजकुमार शान्तिनाथ जब पच्चीस हजार वर्ष के हुए तब महाराजाने उनका राज्याभिषेक करके उन्हें हस्तिनापुरीका साम्राज्य सौप दिया और चक्रायुधकुमार को युवराज पद दिया। 'अहा, यह तीर्थंकर जैसे स्वामी हमें कहाँ मिलेगे!' ऐसा विचारकर जगतकी समस्त विभूतियाँ उनके पास आने लगी उनके शासनमें सर्वत्र शान्ति थी। देश-देशके राजा उनका सन्मान करते थे।

जब महाराजा शान्तिनाथ को राज्य का संचालन करते करते-दूसरे पच्चीस हजार वर्ष बीते, अर्थात् वे पच्चास हजार वर्ष के हुए तब अचानक उनके शस्त्र भंण्डार में चक्रवर्ती पदका सूचक सुदर्शनचक्र प्रगट हुआ; उस चक्ररत्न के साथ ही दैवी छत्र, कृपाण, राजदण्ड, काकिणी, चर्म तथा चूडामणि-ऐसे कुल सात अजीव रत्न उन्हे प्राप्त हुए। उस प्रत्येक रत्न की एक-एक हजार देव रक्षा करते थे। तदुपरान्त उनके महान पुण्योदयसे विशेष पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुरीमें उपन्न हुए; छह खण्डमें श्रेष्ठ ऐसा कन्या रत्न, गजरत्न तथा अश्वरत्न विजयार्द्ध पर्वत में उपन्न हुए, और विद्याधर भक्तिपूर्वक से भेट वे गये। यह सातो रत्न शान्तिनाथ चक्रवर्ती की सेवा करने प्रगट हुए और एक एक हजार देव उस प्रत्येक रत्न की सेवा करते थे। इस प्रकार कुल चौदह रत्न प्राप्त हुए। तदुपरान्त उस पुण्य कालमें समुद्र एवं सरिताओ के संगम के निकट नौ महानिधियाँ प्रगट हुई। उन्हें लाकर देवों ने शान्तिनाथ महाराज की सेवा में अर्पित कर दी थीं। यद्यपि बाह्य में चौदह रत्न प्राप्त हुए, किन्तु उससे पहले प्रभुने तो हजारो वर्ष पूर्व मात्र आठ वर्ष की बाल्यावस्था में ही अतंर में चौदह श्रेष्ठ रत्न प्राप्त कर लिये थे...जिनमें (१) सुदर्शन चक्र जैसा क्षायिक सम्यकत्व तो पूर्वभवसे ही साथ लाये थे; उसके साथ नि:शंकितादि आठ गुण तथा पाचैं अणुव्रत-ऐसे चौदह रत्न प्रभु के पास पहले से ही थे, जो कर्मोंको जीतनेवाले तथा क्षायिकलब्धि के अखण्ड नवनिधान को प्राप्त करानेवाले थे; उस अखण्ड चैतन्य निधान के समक्ष छहखंण्डके नव निधान को प्रभु तुच्छ मानते थे, तथापि वे नवनिधियाँ प्रभुको महान समझकर उनकी शरण में आयी थीं। पुण्यरुपी लौहचुम्बक के कारण जगतकी सर्वोत्तम वस्तुएँ वहाँ खिंची चली आती थी। वे चक्रके बलसे नहीं किन्तु पुण्य के बल से चक्रवर्ती हुए...और चक्र भी पुण्य के प्रतापसे ही आया था न! परन्तु वे धर्मचक्री तो सम्यक्त्वरुपी सुदर्शन चक्र के बलसे हुए थे। छहखण्डकी विभूति प्राप्त करनेके लिये उन्हें किसी के साथ युध्द नही करना पड़ा, छहोंखण्डके राजा महाराजा तथा व्यंतरदेव भी उत्तमोत्तम वस्तुएँ ले लेकर स्वेच्छासे प्रभुको भेट देने आते थे और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। अरे, जिनका जन्म होते ही इन्द्र अपनी विभूति सहित सेवा करने आये और चरणों में झुक जाये, वहाँ दूसरों की तो बात ही क्या?

प्रभु शान्तिनाथ जब धर्म चक्री होंगे तब धर्मचक्र सहित भरत क्षेत्र के मात्र आर्यखण्ड में ही बिहार करेंगे, अनार्यखण्डों में नहीं जायेंगे। और वर्तमान में राजचक्रवर्तीरुप से उन्होंने सुदर्शन चक्रसहित छहों खण्ड में विहार किया, अनार्यखण्डों में भी गये। अभीतक कोई तीर्थंकर अनार्यखण्डों में नहीं गये थे। भाग्यशाली हुए भी अनार्यखण्ड भी...कि वहाँ के जीवों को भावी तीर्थंकर के दर्शन हुए। चक्रवर्ती के

रुप में प्रभु शान्तिनाथ सौराष्ट्र में भी पधारे थे और पश्चात धर्मचक्री तीर्थंकर के रुप में भी उनका सौराष्ट्र में पदार्पण हुआ था; शत्रुंजयगिरिके जिनमन्दिर में विराजमान जिनप्रतिमा आज भी उनका स्मरण कराती है।तीन खण्ड की विजय के पश्चात् प्रभु शान्तिनाथ चक्री जब विजयार्ध्दपर्वतपर गये तब वहाँ रहनेवाले विद्याधर राजाओंने अति हर्षपूर्वक उनका एक परमात्मा जैसा सन्मान किया और (१) विजयपर्वत नामका श्वेत हाथी, (२) पवनंजय नामका उत्तम अश्व तथा (३) सुभद्रानामक सुन्दर कन्या-यह तीनं उत्तमोत्तम रत्न उन चक्रवर्ती महाराजा को अर्पण करके महान आदरसहित उनके शासनका स्वीकार किया।विद्याधरों में तीर्थंकर उत्पन्न नहीं होते और सामान्य रुपसे वहाँ कोई तीर्थंकर जाते भी नहीं है, परन्तु इस विशेष चौवीसी में एक ही जीव एकसाथ तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती-दोनों पदवी के धारक होनेसे विजयार्ध्दपर्वतपर तथा अनार्यखण्डों में भी छद्मस्थ-तीर्थंकर का पदार्पण हुआ,-यह वहाँ के निवासियोंके लिये एक अति आश्चर्यकारी एवं महा आनन्दकारी घटना थी। प्रभुका सुदर्शन चक्र भी धर्मचक्र जैसा ही था, क्योंकि उसके द्वारा कभी किसी जीवकी हिंसा होने का प्रसंग नहीं आता था, इतना ही नहीं, वह चक्रधारी मात्र चक्रवर्ती ही नहीं थे, साथ ही तीर्थंकर भी थे, इसलिये उनके 'सु-दर्शन' से भव्यजीव धर्म भी प्राप्त करते थे। प्रभु कहीं हाथी-घोड़े या रत्न आदि देने के लिये छह खण्ड में नहीं गये थे, रत्नों के ढेर तो उनके जन्म से पूर्व ही राजभवन में लग गये थे। अहा, एक भावी तीर्थंकर, तीर्थंकर रुप से अवतरित होने के पश्चात छह खण्ड में विहार करके म्लेच्छ खंण्ड के लोगों को भी दर्शन दें वह उनका कितना महान भाग्य! हे शान्तिनाथ!आपने तो अनार्य जीवों को भी शान्ति प्रदान की...फिर आर्य जीवों की तो बात ही क्या! वास्तव में-

**प्रभु पुनित पगलां ज्यां थया ते देशने पण धन्य छे;**
**अेनां कर्यां दर्शन अहा! ते जीव सौ कृतपुण्य छे।**

पंचम चक्रवर्ती प्रभु शान्तिनाथ को छह खण्ड की दिग्विजय करने में ८०० वर्ष लगे थे। जब कि चक्रवर्ती भरतराजा को ६०,००० वर्ष लगे थे। प्रत्येक चक्रवर्ती अपनी विजयगाथा वृषभाचल पर्वतकी एक शिलापर उत्कीर्ण करता है, -परन्तु वह उत्कीर्ण करने के स्थान के लिये उसे पूर्वकाल के किसी एक चक्रवर्ती का लेख मिटाना पड़ता है; और तब उनका गर्व उतर जाता है कि-अरे, इस भरत क्षेत्र का में कोई सर्वप्रथम अधिपति नहीं हूं, मुझ से पहले तो असंख्य चक्रवर्ती इस पृथ्वी का उपभोग कर चुके हैं और उपभोग करके छोड़ दी है। आज इस शिला पर से उनका नाम भी मिट गया है, मेरा नाम भी मिट जायेगा।-परन्तु प्रभु शान्तिनाथ चक्रवर्ती की बात उन सब चक्रवर्तीयोंसे अलग थी, क्योंकि उन सब चक्रवर्तीयों में कोई तीर्थंकर नहीं थे...जबकि यह तो चक्रवर्ती के उपरान्त तीर्थंकर भी थे, उन्हें लेख लिखने के लिये किसीका नाम मिटाना नहीं पड़ा; उस शिला के अग्रभाग में उनके पुण्य प्रभावसे नाम लिखने का सुन्दर स्थान बन गया था। वहाँ "इस भरतक्षेत्र के भावी सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ महाराजा छह खण्ड की दिग्विजय करके भरतक्षेत्र के पाँचवें चक्रवर्ती हुए..." ऐसा शिलालेख स्वहस्ते वज्र द्वारा उत्कीर्ण किया। (आज भी प्रभुके हस्ताक्षर वहाँ विद्यमान होंगे।)

इस प्रकार हस्तिनापुरीके महाराजा शान्तिनाथ यह दूसरी बार चक्रवर्ती हुए। इससे पहले पूर्व पाँचवें भवमें भी वे विदहेक्षेत्र में क्षेमंकर तीर्थंकर के पुत्र वज्रायुध थे; तब चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था और पश्चात् उसे छोड़ दिया था; परन्तु वह चक्रवर्ती पद मानों अब भी प्रभुका संग छोड़ना नहीं चाहता हो इसलिये इस भव में भी उनके पास आया। सच ही है, तीर्थंकर समान उत्तम पुरुष का संग छोड़ना किसे

अच्छा लगेगा? देखो न, भगवान शान्तिनाथ तो राज्य छोड़कर तथा शरीर को भी त्यागकर मोक्ष में पहुँचे...उसे असंख्यवर्ष बीत जानेपर भी, वे चक्रवर्ती और तीर्थंकर पद आज भी उनका पीछा नहीं छोड़ते, इसलिये उनके साथ 'चक्रवर्ती' शान्तिनाथ, 'तीर्थंकर' शान्तिनाथ-इसप्रकार विशेषण रुप से लगे हुए ही हैं।

पंचम चक्रवर्ती प्रभु शान्तिनाथ महाराजाने भरतक्षेत्रपर २५००० वर्ष तक राज्य किया। वे मात्र बाह्यराज्य नहीं करते थे, अंतर में सम्यग्दर्शनरुपी 'सुदर्शन' चक्र द्वारा अपना चैतन्यसाम्राज्य भी बढ़ा रहे थे। यहाँ चक्रवर्तीपदकी उनकी बाह्य विभूतियों का अधिक वर्णन करने का हमें मन नहीं होता क्योंकि प्रभु जिन्हें स्वयं उपादेय नहीं मानते हों...और कुछ समय पश्चात् जिनको छोड देना हो-उनका क्या वर्णन करें? परन्तु...हाँ, प्रभुने कितनी विभूतियाँ एक क्षण में छोड दी थीं-उनकी जानकारी देने के लिये यहाँ उन विभूतियोंका संक्षिप्त वर्णन देखो-उन चक्रवर्ती को ९६००० सुन्दर रानियाँ, ६४००० राजकुमार, ९६ करोड गाम, ३२ हजार आज्ञाकारी राजा, लाखों-करोडों की संख्या में हाथी-घोडे-रथ-हल-उत्तम दूध देनेवाली गायें, पैदलसेना, मनवांछित रत्न-आभूषण-मिष्ट पदार्थ आदि देनेवाले अटूट नवनिधान, संसार में सर्वोत्कृष्ट राजकन्या-हाथी-घोडा-चक्र-कृपाण आदि १४ रत्न, नंद्यावर्त नामका भव्य राजभवन, स्वर्गलोक के दिव्य वस्त्राभूषण, १६००० सेवक-देव...आदि...यहाँ लिखने से जिसका पार न आये ऐसा अद्‌भुत अपार वैभव था...परन्तु वैराग्य होने से उस समस्त वैभव को एक क्षण में छोड़कर प्रभु वन में चले गये और उससे भिन्न प्रकार का रत्नत्रयरुपी अनन्त वीतरागी वैभव प्राप्त किया...उसका वर्णन आप अगले वैराग्य-प्रकरण में पढ़ेंगे।

## चक्रवर्ती शान्तिनाथ वैराग्य [हस्तिनापुर : ज्येष्ठ कृष्णा १४]



आज महाराजा शान्तिनाथ चक्रवर्ती का जन्म-दिवस मनाया जा रहा है। हस्तिनापुर में सर्वत्र महान धामधूम चल रही है। प्रभुके अवतार को आज ७५ हजार वर्ष पूरे हुए हैं। चारों ओर मंगलवाद्य बज रहे हैं; यत्र-तत्र ध्वजा-पताकाएँ और घर-घर तोरण-बन्दनवार शोभा दे रहे हैं। देश-देश से उत्तम भेट लेकर एक हजार राजा उत्सवमें सम्मिलित होने आये हैं। महाराजा शान्तिनाथ भी राजदरबार में जाने की तैयारी करके दर्पण में मुँह देख रहे हैं...इतने में तो....

'...अरे, यह क्या!' महाराजा अचानक चौंक पडे...दर्पण के प्रतिबिम्ब में पहले जो सुन्दर रुप दिखायी दिया वह दूसरे क्षण बदल गया दिखा! 'क्षणभर में ऐसा परिवर्तन!' शरीरकी ऐसी क्षण भंगुरता!' [अथवा चक्रवर्तीपद और मुनिदशा यह दोनों रुप उन्हें दिखायी दिये] उसीसमय उन्हें अपने निर्मल ज्ञानदर्पण में अपने अनेक भवों के अनेक रुप दृष्टिगोचर हुए...मैं ही सर्वार्थसिध्दि में था और मैं ही धनरथ तीर्थंकर का पुत्र

था...तथा विदेहक्षेत्र के क्षेमंकर तीर्थंकर का पुत्र वज्रायुध चक्रवर्ती भी मैं ही था। अरे, दूसरे भोगों की तो क्या बात! यह चक्रवर्तीपद की विभूति भी मेरे लिये कोई नवीन नहीं है,-पूर्वभवमें यह भी मैं प्राप्त कर चुका हूँ, इतना ही नहीं, उसे छोड़कर मैंने साधुदशा भी ग्रहण की है...मेरे रत्नत्रयनिधान के निकट अन्य किसी निधान का क्या मूल्य है!

इस प्रकार दर्पणकें दिखायी दिये प्रतिबिम्ब के निमित्तसे अपने पूर्व भवों का जातिस्मरण होते ही प्रभु शान्तिनाथ चक्रवर्ती वैराग्य को प्राप्त हुए, और विचारने लगे कि-अरे, मेरे जीवनके ७५ हजार वर्ष बीत गये...मुझे अभी केवलज्ञान की साधना करना है।अब इन क्षणभंगुर वैभवों में या राग में रुकना मेरे लिये उचित नहीं है। बस, मैं आज ही इस राजवैभव को छोड़कर'दीक्षा अंगीकार करूँगा और जिन बनूँगा। जन्म दिवसका उत्सव बन्द करो। जन्मसे आत्मा की शोभा नहीं हैं, जन्म तो आत्मा के लिये कलंक हैं; मुझे अब यह लज्जाजनक जन्म पुनः नहीं लेना है। अब शुध्दोपयोगी होकर हम केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षकी साधना करेंगे।-ऐसे चिन्तनपूर्वक प्रभु दीक्षा लेने को तैयार हुए।

राजसभामें खलबली मच गई। अरे इन्द्रसभा भी आश्चर्य में पड गई। प्रभु राजपाट छोडकर दीक्षा ले रहे हैं-यह जानते ही लोग स्तब्ध रह गये। नृत्यकारोंका नृत्य रुक गया और बजानेवालोंके वाद्य अटक गये। क्या किया जाय? किसी को कुछ सुझ नही रहा था। अरे, अभी जन्मोत्सव के समय प्रभु दीक्षा ग्रहण करेगे? क्या होता है उसकी प्रतिक्षा में सब आतुरतासे प्रभुकी ओर देख रहे थे।

महाराजा शान्तिनाथ तो अपने वैराग्य चिन्तन में एकाग्र है, बारह भावनाओं द्वारा संसार की असारता का चिंतवन करके, परम सारभूत निजपरमामतत्त्वमें उपयोग लगा रहे है। इतने में आकाशमें से ब्रम्हस्वर्ग के लौकान्तिक देव वहाँ उतरे। श्वेतवस्त्रधारी वे वैरागी देव जैनऋषियोंके समान शोभते थे; उन्होने आकर तीर्थंकर के चरणों में वंदन किया और उनके परमवैराग्यकी प्रशंसा की-अहो देव! आप इस भरत क्षेत्र के १६ वे तीर्थंकर है; दीक्षा सम्बधी आपके विचार उत्तम है; आप दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्रगट करेंगे और जगत के जीवों को मोक्षामार्ग दरशायेंगे। भरतक्षेत्र में अनेक वर्षोसे विच्छिन्न धर्मप्रवाह को पुनः अविच्छिन्न धारारुप करने का समय आ गया है, और वह आपके द्वारा ही होगा। धन्य है यह चारित्र का अवसर! हम भी इस अवसर के लिये लालायित है, इस लिये आपके चारित्र का अनुमोदन करने आये है। ऐसी स्तुति एवं वन्दनाके पश्चात वे लौकान्तिक देव पुनः ब्रम्हस्वर्ग में चले गये।

उसी समय करोंड़ो देवोंके साथ प्रभुका जयजयकार करते हुए स्वर्गसे इन्द्र आ पहुँचे। प्रभुको दीक्षावन में ले जाने के लिये स्वर्गलोकसे 'सर्वार्थसिद्धि' नामक दिव्य शिविका भी वे साथ लाये थे। उस अवसर एक ओर तो महाराजा शान्तिनाथ ने राजपुत्रको राज्य सौंपकर उसका राज्याभिषेक किया और दूसरी ओर इन्द्रोने भगवान शान्तिनाथ का दीक्षा अभिषेक करके स्वर्गलोकसे लाये हुए दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाये। आश्चर्य होता है कि जन्माभिषेक की भाँति प्रभुके दीक्षाकल्याणक के अवसर भी इन्द्रने क्षीरसागरके जलसे प्रभुका अभिषेक किया और स्वर्ग लोक के उत्तम वस्त्राभूषण पहिनाए! बस भगवान शान्तिनाथ का संसार में यह अन्तिम स्नान एवं अन्तिम वस्त्र थे!

दीक्षा से पूर्व भगवान की स्तुति करते हुए, इन्द्रने कहा-हे देव! मोक्षगमन हेतु आपकी तीव्र वैराग्य धारा देखकर बेचारा चारित्र मोह मृत्यु के डर से काँप रहा है... और आपसे मिलने को आतुर मोक्षसुन्दरी प्रसन्न हो रही है। हे प्रभो! संसार के धर्म, अर्थ और काम-यह तीन पुरुषार्थ तो आपने अनेक भावसे सिद्ध कर लिये है; अब मोक्ष पुरूषार्थ का अवसर आया है यह महान आनन्द की बात है। काम,पुरुषार्थ

द्वारा आप कामदेव हुए, अर्थपुरुषार्थ द्वारा आप चक्रवर्ती हुए और धर्म (पुण्य ) पुरुषार्थ द्वारा आप तीर्थंकर हुए; अब अन्तिम मोक्ष पुरूषार्थ द्वारा आप परमात्मा होंगे।

वैराग्यपूर्वक सबसे विदा लेकर प्रभु वनगमन हेतु शिबिका में आरुढ हुए। वाह, शिबिका भी कैसी? जिसका नाम 'सर्वार्थसिद्धि'। 'सर्वार्थसिद्धि' से आये हुए भगवान पुन: 'सर्वार्थसिध्दि' में आरुढ हुऐ और अपने 'सर्वअर्थ की सिद्धि' हेतु वनगमन किया। प्रभु जब शिबिका में आरुढ होने लगे तब इन्द्रने अपने हाथ का सहारा दिया। कुछ लोगोंको ऐसा लगा कि 'अरे, इन्द्र महाराज भूले; तीर्थंकर को कहीं उनके सहारे की आवश्यकता पड़ती होगी?'...परन्तु नही; वे भूले नहीं थे। वे इन्द्र भी महान बुद्धिशाली थे; वे जानते थे कि 'मैं भी अब यह इन्द्रपर्याय पूर्ण होनेपर मनुष्य होऊँगा और प्रभूके समान ही जिन दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करुँगा। मोक्षकी साधना तो चली ही रही है और अब मेरा भी भव का अन्त निकट है।' -यह बात इन्द्रने प्रभुको अपना हाथ देकर प्रसिद्धि की...इस प्रकार प्रभुके साथ मोक्षमार्ग में सहचर हुए। वाह इन्द्रराज! धन्य है तुम्हें ...तुम तीर्थंकर प्रभुके मात्र सेवक नही हो, तुम तो तीर्थंकर के सहचर हो।



शिबिका में बैठकर शान्तिनाथ भगवानने जब वनगमन किया तब प्रथम राजाओंने, पश्चात् विद्याधर राजाओंने और तत्पश्चात् इन्द्रोंने वह शिबिका कन्धोपर उठायी और आकाशमार्गमे चलने लगे। उस समय देवोंकें करोंडो वाद्य बज रहे थे; उनके द्वारा इन्द्र ऐसी घोषणा कर रहे थे कि-भगवान शान्तिनाथ अब मोहपर विजय प्राप्त करने जा रहे है; भगवान अब त्रिलोक का श्रेष्ठ साम्राज्य जीतने जा रहे है। भगवान विजयी हो! हे जीवों! तुम भी मोहको जीतने के लिये भगवान के मार्ग में आओ!' इन्द्र मी घोषणा सुनकर लोग वैराग्य की महिमा करते थे-अहा, छहखण्डका वैभव छोडकर भगवान मोक्षकी साधना करने जा रहे है... तो वह मोक्षसुख कितना महान होगा! इस प्रकार जीवों के परिणाम भोगोंसे विमुख और मोक्षके सन्मुख हो रहे थे ... और भोगी से योगी बनने जा रहे शान्तिनाथ भगवान पर सबकी दृष्टि केन्द्रित थी। उस समय लोग कोई शोक या रुदन न करके आनन्द पूर्वक मंगल आशीष दे रहे थे कि हे प्रभो! आप मुक्तिकी साधना हेतु जा रहे हैं...आपकी मोक्ष साधना शीघ्र सफल हो और हमे भी मोक्ष पथ की प्रेरणा दो। शांतरस में झूलते हुए वे वैरागी महाराजा शान्तिनाथ भी अतिमधुर शांत दृष्टिसे नगरजनोंको देख लेते थे। अहा, प्रभुकी पावन दृष्टि पडते ही वे प्रजाजन अपने को धन्य मानते थे कि 'प्रभुने हमारी ओर दृष्टि की!'

उन चक्रवर्ती महाराजाके वनगमन के समय उनकी हजारों रानियाँ क्या रुदन करके सिर पीटकर बैठ गई थीं?-नही; वे कोई सामान्य स्त्रियाँ नहीं थी, एक भावी तीर्थंकर के साथ हजारो वर्ष रहनेवाली वे रानियाँ शूरवीर थी, धर्मसंस्कारी थीं ओर कितनी ही सम्यग्दृष्टि भी थीं। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि अपने स्वामी के अचानक वैराग्य की बात सुनकर उन्हे आघात लगा। इन्द्रानी उन्हे आश्वासन देने का विचार कर रही थी, इतने में तो उन रानियोंने स्वयं विवेक बुद्धि से समाधान करके शूरवीरता से दृढनिश्चय किया कि-हम जिसप्रकार भोगमें स्वामी की सहचरी थी उसी प्रकार अब योग में भी स्वामी के साथ रहेंगी। प्रभु जब वनमें रहे तब हमारे लिये राजमहल में क्या उचित है?-नही; हम भी अब देशव्रत धारण

करके वैराग्य जीवन जियेंगे। हमारे स्वामीको जब केवलज्ञान होगा तब हम भी समवसरणमें आकर आर्यिका बनेंगे और प्रभुके चरणोंमें रहकर आत्मकल्याण करेंगे। इस प्रकार वे रानियाँ भी अब राजवैभव के प्रति बिलकुल उदासीन होगई थी और देशव्रत का पालन करते हुए उत्तम श्राविकाओं जैसा वैरागी जीवन जीने लगी थी। इन्द्रानीने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा-तुम्हें तो इस भवमें देशव्रत का अवसर है, परन्तु हमें इस देवीपर्याय में संयमका कोई अवसर नहीं है। तीर्थंकरके संग से तुम्हारा जीवन धन्य हुआ है।

हजारों वर्ष से चक्रवर्ती की सेवा करनेवाले १६००० देव, प्रभुका वैराग्य देखकर खेदखिन्न होकर हाथ जोड़े खड़े थे कि- अरे, जिनकी सेवासे हमें आनन्द मिलता था वे हमारे स्वामी तो दीक्षा ले रहे हैं; हम भी यदि मनुष्य होते तो अपने स्वामी के साथ ही दीक्षा ग्रहण करते! अब तो, जब वे केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मचक्री बनेंगे तब समवसरण में आकर उनकी सेवा करेंगे और दिव्यध्वनि सुनकर आत्मकल्याण करेंगे। पहले राजचक्री और फिर धर्मचक्री-इस प्रकार एक ही भव में दो चक्रवर्ती पद प्राप्त करनेवाले भगवान शान्तिनाथ की सेवा का अवसर हमें प्राप्त होगा-ऐसा मानकर उन देवों ने मन में संतोष किया।



प्रभुशान्तिनाथ

की

दीक्षायात्रा

ज्येष्ठ कृष्णा

चतुर्दशी

चक्रवती के १४ रत्नों में से सेनापति आदि रत्नों ने तो प्रभुके साथ दीक्षा ले ली; सुदर्शन चक्रादि अजीव रत्नों के अधिष्ठाता देव प्रभु को वंदन करके चले गये। अरे, पुण्यसंयोग तो कहाँ तक स्थिर रह सकते हैं?...मुमुक्षु जीव तो स्वेच्छासे उसे छोड़कर मोक्षमें चले जाते हैं। जिसकी एक हजार देव सेवा करते थे वह गजरत्न, अर्थात् चक्रवर्ती के ८४ लाख हाथियों में श्रेष्ठ हाथी,-वह भी विचारने लगा कि- अरे, मुझपर आरूढ़ होने वाले स्वामी तो सब छोड़कर वन में जा रहे हैं...फिर मैं यहाँ राज्य में रहकर क्या करूँगा?-ऐसा विचारकर वह विजय हाथी भी प्रभुके पीछे-पीछे वनमें चला गया और वैराग्यपूर्वक प्रभुके निकट ही रहने लगा। धन्य उस हाथी को!

प्रभु के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये हुए एक हजार राजा भी प्रभुके साथ ही दीक्षा लेने हेतु तैयार हुए; चक्रवर्ती के भाई चक्रायुध कुमार भी दीक्षा ग्रहण करने हेतु तत्पर थे;-इस प्रकार

अनेक राजपुत्र तथा हजारों मुमुक्षु जीव दीक्षा लेने के लिये वनकी ओर चले। अहा, हजारों जीवोंकी दीक्षा हेतु वनयात्रा अद्भुत लगती थी...मानो मोक्ष की शोभायात्रा निकाली

हो...जिसमें इन्द्रों द्वारा उठायी हुई सर्वार्थसिद्धि-शिबिका में मोक्षसुन्दरी के वर शान्तिनाथ (तीर्थंकर) शोभायमान हो रहे थे, साथ में उपवर समान चक्रायुध (गणधर) शोभा दे रहे थे...और मोक्ष के बराती जैसे हजारों राजा, लाखों प्रजाजन, हाथी आदि तिर्यंच तथा वैराग्यभावना में तत्पर देव उस दीक्षाकल्याणक की वैराग्ययात्रा को सुशोभित कर रहे थे। देवों के करोड़ों बाजे बज रहे थे और उनमें से वीतरागता के स्वर निकल रहे थे।




प्रभु की शिबिका दीक्षावन में आयी। वन भी कैसा?- जिसका नाम है 'सहस्राम्रवन!' (जिस प्रकार गिरनार में सहस्र-आम्रवन नेमिनाथ प्रभुकी दीक्षा का धाम है, उसी प्रकार हस्तिनापुर का यह सहस्राम्रवन शान्तिनाथ प्रभु की दीक्षाका धाम है।) जहाँ आमके वृक्ष हैं और उन पर अति सुन्दर हजारों आम्रफल झूल रहे थे। आम्रवृक्ष भी हर्षित हो रहे है कि-वाह, प्रभु जब मुनि होकर यहीं आत्मध्यानमें विराजमान होंगे...तब हम उनपर शीतल छाया फैलकर उनकी सेवा करेंगे और प्रभु शान्तिनाथ के सान्निध्य से हमारे वनमें सर्वत्र परमशन्ति फैल जायगी;-इस प्रकार वे आम्रवृक्ष 'अशोक वृक्ष' जैसे गौरव का अनुभव कर रहे थे।

वैरागी महाराजा शान्तिनाथ पालकी से उतरे और एक शुद्ध शिला पर उत्तराभिमुख बैठ गये। बाजे शांत हो गये, कोलाहल थम गया, विभाव भी शांत हो गये, सारे वनमें शान्ति छा गयी। प्रभु शान्तिनाथने शांतभाव धारण करके मस्तक से मुकुट उतारा, गले से हार निकाल दिया, वस्त्राभूषण उतार दिये...उपयोग को स्थिर करके, हाथ जोड़कर ॐ नमः सिद्धेभ्यः ऐसे उच्चारण पूर्वक सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया। (छद्मस्थ दशामें प्रभुका यह अन्तिम वाक्य...संसार दशामें यह उनका अक्षरात्मक वचन; पश्चात् छद्मस्थ मुनिदशा में वे सम्पूर्ण मौन रहे और केवली होनेपर वाणी निकली, वह तो निरक्षरी दिव्यध्वनि थी।) सिद्धों को वन्दन करके पश्चात् प्रभुने सिरके काले घुंघराले कोमल केशों का स्वहस्त से लोच किया, साथ ही साथ भीतरके मोह का लुंचन कर दिया। अहा, शरीर से उदासीनताकी वह चरमसीमा थी। बाह्य तथा अभ्यंतर परम दिगम्बर हुए वे निर्ग्रंथ-मुनिराज तत्क्षण शुद्धोपयोगी होकर आत्मध्यान में एकाग्र हो गये...उपयोग की विशुद्धता द्वारा अपने आत्मा को सामयिक चारित्र में स्थिर किया। (तीर्थंकर मुनिराज का चारित्र उत्तम सुविशुद्ध होता है, उसमें कोई दोष नहीं लगता, इसलिये उनको छेदोपस्थापना या प्रायश्चित नहीं होता।)

ध्यान में स्थिर होते ही उन परम श्रमण को सातवाँ गुणस्थान तथा चौथा ज्ञान प्रगट हुआ; ज्ञानके साथ सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रगट हुईं और कषायभाव दूर भागे। मिथ्यात्व एवं चार कषाय तो असंख्य

वर्ष पहले पूर्वभवों में ही सर्वथा नष्ट हो गये थे; दूसरे चार कषाय आठ वर्ष की बाल्यावस्था में ही प्रभुने छोड़ दिये थे; तीसरे चार कषाय अभी-अभी ध्यानके समय दूर हो गये और चौथे चार कषाय भी निर्जीव समान होकर मृत्युशैय्या पर पड़े हैं। प्रभु शान्तिनाथ वीतरागतासे सुशोभित हो उठे...चक्रवर्तीत्व के काल में जो शोभा थी उसकी अपेक्षा मुनिदशा में उनकी शोभा एकदम बढ़ गई। सच ही है कि-वीतरागता में जो शोभा है वैसी राग में कहाँ से होगी? निर्ग्रन्थता में जो सुख है वह परिग्रह में कहाँ से होगा?-नहीं हो सकता। इसलिये हे प्रभो! आपने चक्रवर्तीपद छोड़ा वह कोई दुःखकी बात नहीं है; आपने तो उससे भी महान ऐसा परमेश्वर पद प्राप्त करने के लिये चक्रवर्ती पद छोड़ा हैं; परम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करनेके लिये इन्द्रियसुखों का त्याग किया है; चंचल एवं अशुचिपूर्ण ९६००० रानियों को छोड़ कर स्थिर एवं पवित्र ऐसी मुक्तिसुन्दरी में आसक्त हुए हैं; मोक्षके तीन रत्नों को प्राप्त करके आपने संसार के चौदह रत्न छोड़े हैं। इस प्रकार हे प्रभो! आपने जो त्याग किया उसकी अपेक्षा अधिक ग्रहण किया है। वास्तव में आप ही हेय-उपादेयका परम विवेक करनेवाले हैं। आप स्वयं मोक्षमार्ग हो, आप स्वयं ही धर्म हो। क्योंकि-

*आगम में कौशल्य है अरु मोहदृष्टि विनष्ट है;*
*वीतराग चरितारूढ हैं...वे मुनिमहात्मा धर्म हैं।*

प्रभु शान्तिनाथने चक्रवर्ती पद से निकलकर परमेष्ठीपदमें प्रवेश किया। बारह भव के साथी ऐसे उनके भाई चक्रायुधकुमारने भी प्रभुके साथ ही जिनदीक्षा ग्रहण की; अन्य हजारों राजा भी मुनि हो गये। जो मुनि नहीं बन सके ऐसे लाखों जीवोंने वैराग्यपूर्वक श्रावक के व्रत लिये; कुछ तिर्यंच जीव भी वैराग्य पाकर व्रतधारी हुए।

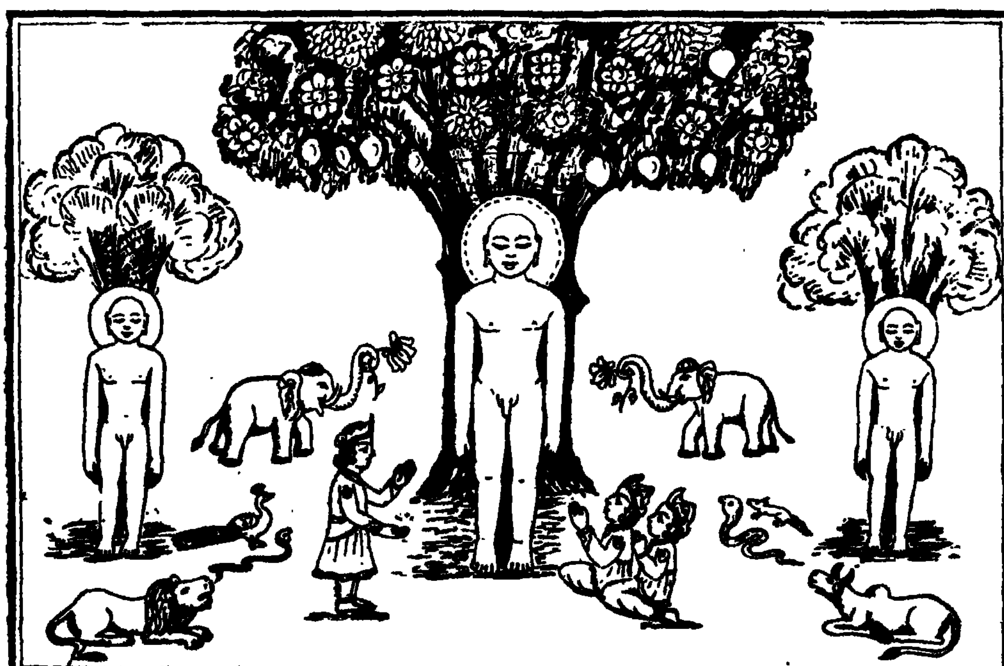
'अरे, यदि बाह्य विषयोंमें सुख होता तो इन चक्रवर्ती महाराजा के समक्ष तो जगतके सर्वोत्कृष्ट भोगोपभोग विद्यमान थे, फिर उन्हें स्वेच्छा से त्यागकर वे वनवासी मुनि क्यों होते? और आत्मध्यान क्यों करते? और उस चक्रवर्ती पद की अपेक्षा इस समय मुनिदशा में वे अधिक सुखी हैं-यह स्पष्ट दिखायी देता है; इसलिये निश्चित् होता है कि बाह्यसामग्री में, विषयभोगों में या उनके संग में कहीं सुख है ही नहीं। सुख तो चैतन्यस्वरुप की अनुभूति में ही है। सुख आत्मा का स्वभाव है और उसके ध्यान में जो अतीन्द्रिय शान्ति का वेदन होता है वही सच्चा पारमार्थिक सुख है।'

भगवान शान्तिनाथ की ध्यानदशा देखकर अनेक जीव आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की प्रतीति करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। तीर्थंकर प्रभु के दीक्षाकल्याणक का मंगल महोत्सव अनेक जीवों के कल्याण का कारण हुआ।

मुनिराज शान्तिनाथ बारम्बार शुद्धोपयोगी होते थे। दीक्षा के पश्चात् दो दिन के उपवास करके वे ध्यान के प्रयोग में रहे। पश्चात् तीसरे दिन पारणे हेतु मन्दिरपुरी में पधारे। अहा, साक्षात् मोक्षमार्गरुप ऐसे अद्‌भुत उत्तमसुपात्र को अपने प्रांगण में देखते ही राजा सुमित्र को अपार हर्ष हुआ; उसने भक्तिसहित पड़गाहन किया-'प्रभो! पधारो...पधारो...पधारो!' मुनिराज शान्तिप्रभु के खड़े रहने पर सुमित्र राजाने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रदक्षिणा करके पुनः पुनः नमस्कार किया; उस समय उन राजा का मन शुद्ध था, वचन शुद्ध था, काया शुद्ध थी, आहार-जल शुद्ध थे; उन्होंने भक्तिसे प्रभुके चरणों का प्रक्षालन किया, साथ ही अपने पाप भी धो डाले; मुनिराज को उच्चासन पर विराजमान करके अर्घ्य द्वारा पूजा की। इस प्रकार नवधाभक्तिसहित मुनिराज के कर कमल में आहारदान दिया। उस समय उन्हें परम प्रसन्नता

हो रही थी,-होगी ही न! क्योंकि तीर्थंकर को मुनिदशा में प्रथम आहारदान दाता के रूप में उन्हें तद्भवमोक्षगामीपना प्राप्त हुआ था। अपने मोक्ष से किसे आनन्द नहीं होगा?! उस आहारदान के हर्षोपलक्ष में उसी समय आकाश में (१) देवों के दुंदुभि वाद्य बज रहे थे; (२) रत्नवृष्टि हो रही थी; (३) अहो दानं...महादानं...कहकर देव उस दानकी प्रशंसा कर रहे थे; (४) शीतल वायुसहित सुगन्धित जल की बूँदें गिर रही थीं, और (५) देव पुष्पवर्षा कर रहे थे। वहाँ दान उत्तम था, दाता महान थे और सुपात्र तो सर्वोत्कृष्ट थे,-इसलिये पुण्यप्रभाव से तत्काल वहाँ पंचाश्चर्य प्रगट हुए।

अहा, कुछ ही समय पूर्व जो छहखण्ड के अधिपति थे और सुवर्ण एवं रत्न के थाल में भोजन लेते थे, वे आज सर्वथा वस्त्र-पात्रके परिग्रह रहित होकर, रागरहित होकर हाथ के पात्र में खड़े रहकर भोजन करते हैं। वाह, जैन मुनियों की वीतरागता! वह जगत में अद्वितीय है। २८ मूलगुणों के धारी उन शुध्द दिग्मबर मुनिराज का चित्त अतीन्द्रिय आनन्द के भोग में ऐसा प्रीतिवान बन गया था कि पूर्व में भोगे हुए चक्रवर्ती पद के भोगों का उन्हें स्मरण भी नहीं होता था। पाँच इन्द्रियों के विषयों का तथा क्रोधादि कषायों को उन्होंने जीत लिया था और बाईस प्रकार के परीषह सहन करने का उनमें सामर्थ्य था यद्यपि वे तीर्थंकर होने से दंशमशक-अदर्शन आदि अनेक उपसर्ग-परीषह तो उनके आते ही नहीं थे। पुण्य प्रताप से सर्व ऋतुएँ तथा धरती उनके अनुकूल बन जाती थी, इसलिये शीत-उष्ण या काँटे-कंकरादि परीषह उनके आते ही नहीं थे, तथा कोई क्षुद्र जीव-जन्तु उनको उपद्रव नहीं करते थे, उल्टे उनके सान्निध्य में दूसरों के उपद्रव भी दूर हो जाते थे।



परम साम्यभाव से कहीं भी रागके प्रतिबंध बिना आत्मसाधना करते-करते उन शान्तिनाथ मुनिराजने १६ वर्ष तक सुक्षेत्र में विहार किया। वे जहाँ-जहाँ आते वहाँ-वहाँ सैकड़ों कोस तक सर्व जीव

शांत परिणामी हो जाते थे; कहीं भी वैर-विरोध, अशान्ति या दुष्काल नहीं रहता था; सर्व जीवों के अंतरमें मैत्रीभाव का पवित्र झरना बहता था। वहाँ सिंह से लगकर शशक आराम से सोते थे; गायका बछड़ा सिंहनी को अपनी माता समझकर उसका स्तनपान करता था और सिंहनी उसे जिह्वा से चाँटकर प्यार करती थी। सिंहनी का बच्चा प्रेमसे गाय का दूध पीता और गाय निर्भय होकर प्रेमपूर्वक उसे देखती रहती थी। नेवला और सर्प दोनों साथ खेलते थे। प्रभुके साझिध्य में सर्व जन अति वात्सल्यपूर्वक एक-दूसरे की धर्मभावना पुष्ट करते थे। भगवान् शान्तिनाथ मुनिदशा में यद्यपि मौन रहते, तथापि उनके शांत नेत्रों एवं उपशांत मुद्रासे झरते हुए शांतरस को देखकर भव्यजीव आत्माके शांत स्वभाव का दर्शन कर लेते थे। आत्मा का स्वभाव क्रोधादि रहित कैसा शांत है-वह प्रभु की मुद्रा मौन रहकर भी दरशा रही थी। यद्यपि प्रभु एकलविहारी-जिनकल्पी थे, तथापि चक्रायुध आदि मुनिवर और वह हाथी भी उनके सानिध्य में ही रहा करते थे। तीर्थंकर का सहवास छोड़कर दूर रहना किसे अच्छा लगेगा?

इस प्रकार १६ वर्ष तक मौन रुप से आत्मसाधना करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ते-बढ़ते शान्तिनाथ मुनिराज पुनः हस्तिनापुरी के सहस्राम्रवनमें पधारे। हस्तिनापुरी के प्रजाजन अपने महाराजा को मुनिदशा में देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। जहाँ दीक्षा ली थी उसी वन में आकर मुनिराज शान्तिनाथ ध्यानस्थ हुए। साथ में चक्रायुध आदि हजारों मुनिवर भी वैराग्यवन में आत्मध्यान कर रहे थे...

[-फिर वहाँ जो महान आनन्दकारी घटना हुई-उसका वर्णन अब पढ़ेंगे।]



## के...व...ल...ज्ञा...न

पौष शुक्ला एकादशी का मंगल-दिन है; हस्तिनापुरी के सुन्दर उद्यान में हजारों आम्रवृक्ष असमयमें (पौष मासमें) ही आम्रफलों के भार से झुक गये हैं, क्योंकि मुनिराज शान्तिनाथ प्रभु उस वनमें विराजमान हैं और आत्मध्यान कर रहे हैं। पहले सुदर्शनचक्र द्वारा छह खण्ड को जीतने वाले प्रभु, अब मुनिदशा में शुद्धोपयोग द्वारा मोह पर विजय प्राप्त करने तथा अखण्ड ज्ञान को साधने के लिये तीन करण द्वारा सुसज्ज हो गये हैं। 'मोह का सर्वथा नाश करने तथा नव क्षायिकलब्धियों सहित केवलज्ञान-साम्राज्य की प्राप्ति में वह पुण्यजन्य ऐसा सुदर्शनचक्र काम नहीं आयगा'-ऐसा समझकर प्रभुने उस चक्र को छोड़ दिया और शुक्लध्यानरूपी धर्मचक्र धारण किया। उस चक्रके तेज से भयभीत होकर कर्मकी अनेक प्रकृतियाँ नष्ट हो गईं, अधिकांश कर्मप्रकृतियों का आना रुक गया; अरे, मेघरथके तीसरे भवसे प्रारम्भ

हुई और असंख्यवर्षों से सतत बँधती हुई ऐसी वह तीर्थंकर प्रकृति भी अब अटक गई थी। मोक्षकी सम्पूर्ण साधना में सतत उद्यमवंत उन महामुमुक्षु को अब किंचित् भी कर्मबंधन कैसे रुचता? वे मोह की अधिकांश सेना का नाश तो पहले शुद्धोपयोग द्वारा कर ही चुके थे, शेष रहे साधारण मोह को मारने में क्या देर? शुक्लध्यान चक्र द्वारा शीघ्रता से संज्वलन कषाय पर प्रहार करके उसे नष्ट कर दिया और वीतरागता प्राप्त कर ली। रागके अत्यंत अभाव के कारण अब उन्हें किसी कर्म का बंधन नहीं होता था, मात्र निर्जरा ही होती थी। इस प्रकार मोह के विशाल समुद्र को पार कर लेने के पश्चात् तुरन्त पुनः वह शुक्लध्यान चक्र चलाकर, शेष तीनों घातिकर्मरुपी 'अरि' को एकसाथ 'हनकर' प्रभु 'अरिहंता' हुए और नव क्षायिकलब्धियों के अक्षयनिधान सहित केवलज्ञान-साम्राज्य प्राप्त कर लिया। [नमो अरिहंताणं] पहले चक्र द्वारा छह खण्ड साधने में प्रभुको ८०० वर्ष लगे थे; जबकि साधु होकर शांत भावरूप इस धर्मचक्र द्वारा केवलज्ञान का अखण्ड साम्राज्य तो उन्होंने मात्र १६ वर्ष में ही साध लिया!

हे अरिहंता! हमें आश्चर्य तो इस बात का होता है कि-मोह जैसे महान शत्रुको तथा घातिकर्मों जैसे वैरियों का घात करने में आपने किंचित् क्रोध नहीं किया, क्रोध के बिना ही मात्र शांत वीतराग भाव द्वारा आपने उन्हें नष्ट कर दिया। वास्तव में वीतरागता की शक्ति कोई आश्चर्यकारी है...और आपका 'शान्ति' नाम सार्थक है। जिस प्रकार हिम-प्रपात अपनी शीतल शक्ति द्वारा भी बड़े-बड़े वृक्षोंको जला देते है, उसी प्रकार हे देव! आपने भी वीतरागी शांतभाव की अद्भुत शक्ति द्वारा महामोहशत्रु को क्षणमात्र में नष्ट कर दिया। उसके द्वारा आपने हमें ऐसा समझाया कि- 'शान्ति' में जितनी है उतनी शक्ति क्रोध में या राग में नहीं है। मोक्ष की साधना शांतभाव द्वारा ही होती है, क्रोध के या राग के द्वारा नहीं। इस प्रकार आपकी साधना ने हमें शान्ति और क्रोध बीच भेदज्ञान कराया है। जो महान कार्य आपने वीतरागता द्वारा किया वह कार्य क्या कोई क्रोधी या रागी जीव कर सकता है? -कदापि नहीं। अहो देव! आप वीतरागता के बलसे अपनेमें से ही केवलज्ञान निधान प्रगट करके स्वयंभू परमात्मा हुए; अनन्त चतुष्टय द्वारा आप धर्मसाम्राज्य के नायक धर्मचक्रवर्ती हुए; इन्द्रियों से पार होकर आप स्वयं परिपूर्ण ज्ञान एवं सुखरुप परिणमित हो गये। वह दशा परम इष्ट है...इसलिये आपकी स्तुति द्वारा हरि उसका अनुमोदन करते है:-

सर्वज्ञ लब्धस्वभाव ने त्रिजगेन्द्र-पूजित ऐ रीते,
स्वयमेव जीव थयो थको तेने 'स्वयंभू' जिनो कहे।

प्रक्षीण घातीकर्म, अनहद वीर्य अधिक प्रकाशने
इन्द्रिय-अतीत थयेल आत्मा ज्ञान सौख्ये परिणमे।

अत्यंत, आत्मोत्पन्न, विषयातीत, अनुप, अनंत ने
विच्छेदहीन छे सुख अहो! शुद्धोपयोग-प्रसिद्ध ने।

'अहो उस सहजज्ञान एवं सहजसुख की अचिन्त्य महिमा!'

भगवान शान्तिनाथ सर्वज्ञ होकर ऐसे ज्ञान एवं सुखरुप परिणमित हुए। तीनों लोक में आनन्दमय आश्चर्य से खलबली मच गई। उसी समय तीर्थंकर प्रकृतिरुपी दासी प्रभुकी सेवाके लिये इन्द्रादि देवों को बुला लायी। देवों ने आकर भक्तिपूर्वक उन सर्वज्ञ परमात्मा की पूजा की...और सोलहवें तीर्थंकर का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया। कुबेर ने स्वर्गलोककी उत्तम सामग्री द्वारा दिव्य शोभायुक्त

समवसरण की रचना की; इन्द्रानी ने उसमें रत्नों का चौक पूरा; करोड़ों दुंदुभि वाद्य मधुर स्वर में मानो भव्य जीवों को बुला रहे थे कि-आओरे आओ...हे जीवों! जिन्हें मोक्ष साधना हो वे यहाँ आओं! आत्मकल्याण हेतु अन्य समस्त कार्य छोड़कर यहाँ आओ। आओ और इन शान्तिनाथ प्रभु की सेवा करो। आत्मा के अनन्त-अक्षय निधान देखना हों तो इन प्रभुके वीतराग मार्ग का अनुसरण करो।

**भो भो भव्यो! अवधूणी तमारा प्रमादो सहु ने,**
**आवी सेवो, शिवपुरीतणा सार्थवाह प्रभुने।**

हस्तिनापुरी के भाग्यवान नगरजनोंने शान्तिनाथ प्रभुके गर्भ-जन्म-तप ऐसे तीन कल्याणक पहले देखे थे और आज अपनी नगरी में चौथे ज्ञानकल्याणक का महोत्सव प्रत्यक्ष देखा। अहा, धन्य वह नगरी...और धन्य वे जीव!

जिस समय शान्तिनाथ प्रभुको पंचमज्ञान प्रगट हुआ उसी समय उनके भ्राता चक्रायुध मुनिराज को भी उन्हीं के सान्निध्य में चौथा ज्ञान प्रगट हुआ। दो सहोदरों में से एक तीर्थंकर हुए और दूसरे गणधर। दिव्य समवसरण की बारह सभाएँ देवों, मनुष्यों एवं तिर्यंचों से भर गईं। आश्चर्य है कि वहाँ स्थान के माप की अपेक्षा बैठनेवाले जीवों की संख्या अत्यधिक होनेपर भी किंचित् भीड़ नहीं थी। प्रभुके दर्शनों में सब इतने लीन थे कि किसीको कोई आकुलता नहीं थी। सर्वांग से खिरती हुइ प्रभुकी दिव्यध्वनि सबने शान्तिपूर्वक श्रवण की। प्रभुने आत्मतत्त्व की परम गंभीर महिमा दरशाते हुए कहा:-

हे जीवों! यह आत्मतत्त्व स्वयं स्वतंत्र सत् है; वह अनादि-अनन्त अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरुप में वर्तनेवाला है; ज्ञान और आनन्द उसका मुख्य स्वभाव है-जोकि जीवके अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वकीय असंख्य प्रदेश में रहकर प्रति समय जानता और परिणमता है इसलिये वह 'समय' है।

वह ज्ञान और परिणमनस्वरूप आत्मा, स्व-पर का भेदज्ञान करके जब परसे विभक्त अपने ज्ञानस्वरूप को जानता है और उसीमें एकत्वरुप से परिणमता है तब तक वह 'स्वसमय' है, वह सुंदर है, वही 'शुद्ध' और सुखी है। तो भी वह आत्मा जब तक अपना ज्ञानस्वरूप को भूलकर परको जानता हुआ परके साथ अर्थात् रागादि के साथ एकत्वरुप परिणत होता है तब तक वह परसमय है, उसमें विसंवाद है, अशुद्धता है, और दुःख है।

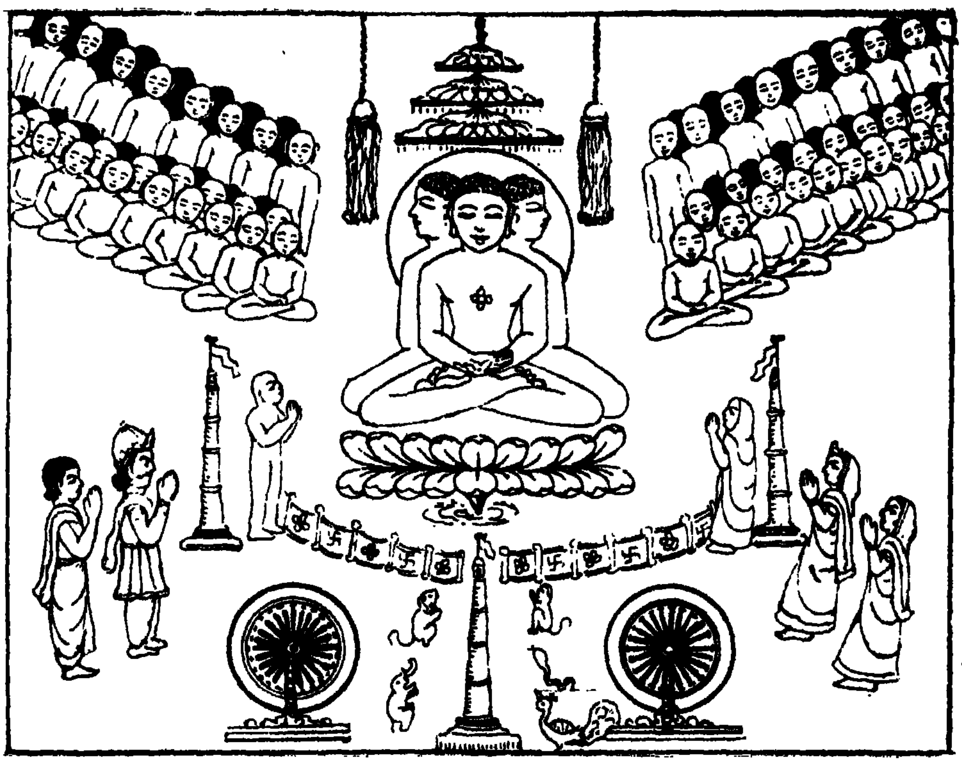
इसलिये हे जीवो! तुम ज्ञान और राग का भेदज्ञान करके, रागरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुप मोक्षमार्ग में ही आत्मा को दृढ़रुप से परिणमित करो। हम सब अरिहंत तीर्थंकर इसी विधि से मोक्षको प्राप्त हुए है और तुम्हारे लिये भी मोक्षका यह एक ही उपाय है

**दर्शन वली नित्य ज्ञान ने चारित्र साधु सेववां;**
**पण ऐ त्रणे आत्मा ज केवल जाण निश्चय दष्टिमां।**
**तुं स्थाप निजने मोक्षपंथे, ध्या-अनुभव तेहने,**
**तेमां ज नित्य विहार कर, नहि विहर परद्रव्यो विषे।**

बस, शुद्धस्वद्रव्य में ही मोक्षमार्ग का समावेश है। राग का कोई अंश उसमें नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुप शुद्धभाव से परिणमित आत्मा स्वयं ही मोक्षकारण है और स्वयं ही मोक्षरुप है। इस प्रकार 'शुद्ध आत्मा' ही साध्य है। ऐसे निज परम तत्त्व को जानकर उसीकी अन्तर्मुख श्रद्धा और उसीमें उपयोग को एकाग्र करके स्थिर होओ...तुम्हें परम सुख होगा।

**आमां सदा प्रीतिवंत बन, आमां सदा संतुष्ट ने**
**आनाथी बन तुं तृप्त, तुजने सुख अहो! उत्तम थे।**

अहाहा, कैसी मधुर वह वीतरागवाणी! तीर्थंकर परमात्मा का ऐसा धर्मोपदेश सुनकर अनेक जीव आत्मज्ञान को प्राप्त हुए, अनेक जीवों ने श्रावकधर्म तथा अनेकों ने मुनि धर्म अंगीकार किया। पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ प्रभुके मोक्षगमन पश्चात् लगभग तीन सागरोपम का दीर्घकाल व्यतीत होनेपर सोलहवें शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए। उनकी धर्मसभा में चक्रायुध-प्रधान ३६ गणधर, ८०० श्रुतकेवली, ४१८०० उपाध्याय, ३००० अवधिज्ञानी मुनिवर, ६००० विक्रियाऋद्धिधारी मुनिवर, ४००० मनःपर्ययज्ञानी और २४०० वादविद्यामें निपुण मुनिवर विराजते थे ६०३०० आर्यिकाएँ, दो लाख सम्यक्त्वादि से सुशोभित धर्मात्मा श्रावक तथा चार लाख श्राविकाएँ थीं। सब मोक्षकी उपासना कर रहे थे। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले तिर्यंचों और देवों का तो प्रभु की धर्मसभा में कोई पार नहीं था।



और इस समस्त धर्मवैभव के उपरांत, अति दिव्य श्रीमण्डप के ऊपर गगनमें प्रभुके समकक्ष, सर्व आत्मिक गुणों में प्रभुके समान ४००० केवलज्ञानी-अरिहंत भगवंत विराजते थे। अहा, जिनेश्वरों का मंगल-समारोह! उसे देखकर मुमुक्षुनेत्र तृप्त-तृप्त हो जाते थे और जी भरकर धर्मामृतका पान करते थे। समवसरण अर्थात् धर्मचक्रवर्ती-तीर्थंकर प्रभुका धर्मदरबार! उसकी अद्‌भुतता का क्या कहना! उस धर्म-दरबार में धर्म का तो महा भण्डार है और पाप का प्रवेश भी नहीं है; वहाँ पापी जीव नहीं होते। आनेवाले पापी जीव भी प्रभु के दर्शन से धर्मी बन जाते हैं और शान्ति प्राप्त करते हैं। अहो, शान्तिनाथ

भगवान ने वीतरागधर्मके उपदेश द्वारा जगत के जीवों को अपूर्व शान्ति प्रदान की...उन्हें नमस्कार हो! [पन्द्रहवें तीर्थंकर के शासन के अन्तिम काल में लाखों-करोड़ों वर्ष तक धर्मका जो विच्छेद था वह शान्तिनाथ प्रभुके अवतार से दूर हुआ और पुनः जैनधर्म की परम्परा चलने लगी; वह आज तक अविच्छिन्न धारा से चल रही है; बीचमें कहीं विच्छेद नहीं हुआ।]

समवसरण में प्रभु का धर्मोपदेश पूर्ण होने पर इन्द्रों ने १००८ मंगल नामों द्वारा प्रभुकी स्तुति की। हे देव! इन्द्रको आपकी गुणमहिमा प्रसिद्ध करने के लिये भले ही १००८ नाम ढूंढना पड़े परन्तु हम तो मात्र एक 'सर्वज्ञता' द्वारा ही आपकी सर्वगुणमहिमा को जान लेते हैं। हे प्रभो! जहाँ आपकी सर्वज्ञता को लक्ष में लेते हैं वहाँ आपके अनन्त गुणों की स्वीकृति एकसाथ हो जाती है। वचन द्वारा तो संख्यात ही गुण...और वे भी क्रमशः बोले जा सकते हैं, जबकि सर्वज्ञतादि किसी भी गुण द्वारा आपकी अभेद अनुभूति करने पर आपका सर्वगुणसम्पन्न आत्मा हमारी स्तुति में-हमारी अनुभूति में समा जाता है और शुद्धात्मा का अनुभव होकर हमारे मोह का क्षय हो जाता है। अहो देव! आपके उपदेश से सिंह और सर्प जैसे क्रूर तिर्यंच भी विशुद्धपरिणामों द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर हमारे जैसे भव्य मनुष्य मोक्ष प्राप्त करें-इसमें क्या आश्चर्य है!

प्रभो! आप तो शुद्धआत्मा में से ही उत्पन्न पूर्ण अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करनेवाले हो; आपको मोह नहीं है इसलिये आहार-जल का ग्रहण भी नहीं है। केवलज्ञान के साथ आपका यह एक आश्चर्यजनक अतिशय है कि-पच्चीस हजार वर्ष तक अरिहंत अवस्था में मनुष्य शरीर सहित विचरने पर भी आपको कदापि क्षुधा-तृषाकी वेदना नहीं हुई और कभी आहार-जल का ग्रहण नहीं किया। आहार के बिना ही आपमें अनन्तवीर्य एवं अनन्तसुख था। हाँ, यद्यपि आपको अभी वेदनीय कर्म था, परन्तु मोहकर्म का संग न होने से वह अकेला बेचारा मृत समान था, आत्मामें उसका कोई प्रभाव नहीं था; और शरीर की सुन्दरता को सुरक्षित रखनेवाले पुण्यपरमाणु आहार के बिना भी स्वयमेव शरीर में आ जाते थे। प्रभो! आपकी सर्वज्ञता या आपके पूर्णसुखो को जो नहीं जानते-ऐसे अज्ञानीजनों की बुद्धि में आपके केवलज्ञानका यह अतिशय नहीं आसकता, क्योंकि वे विषयरहित आत्मिक सुखो नहीं जानते। तथा हे जिनेश! आप लोकोत्तर हैं, सामान्य मनुष्यों जैसे नहीं हैं, इसलिये आपके शरीर की परछाईं नहीं पड़ती, नेत्रों की पलकें नहीं झपतीं, आप पृथ्वीपर नहीं चलते, आप चारों दिशासे दिखनेवाले चतुर्मुख भगवन्त हैं, और एकसाथ सब भाषाएँ बोलने पर भी आपके ओष्ठ नहीं हिलते,-यह भी क्या आश्चर्य की बात नहीं है? ऐसा आश्चर्य हे केवली परमात्मा! आपके सिवा अन्यत्र कहाँ है?

तथा हे अचिंत्य सामर्थ्यवान सर्वज्ञप्रभु! सर्व पदार्थों को जानने में आपको ज्ञानका क्रम नहीं है, आपका ज्ञानअक्रम है; वैसे ही आकाश में मंगल विहार के समय आपके पगों में भी क्रम नहीं है, क्रमशः डग भरे बिना आपका गमन है। इस प्रकार ज्ञान और गमन दोनों में आप क्रम से रहित हैं। आपके श्रीविहार के समय आगे-आगे चलनेवाला आपकी धर्मविजय की घोषणा करता हुआ एक हजार आरों वाला रत्नमय धर्मचक्र, करोड़ों वाद्यों तथा करोड़ों ध्वजाओं के साथ चलता है। चक्रवर्ती पद के समय तो आपके चक्रकी सेवा एक हजार देव करते थे, वर्तमान में तीर्थंकर पद के समय असंख्य देव आपके धर्मचक्रकी सेवा कर रहे हैं, तीनों लोकमें उसका प्रभाव वर्तता है।

हे शान्तिनाथ प्रभो! पूर्वभवों में आप दो बार तीर्थंकर के पुत्र हुए। इन्दसभा में आपकी प्रशंसा हुई, महावीर तीर्थंकर के आत्मा के साथ भी (त्रिपृठ के भवमें) आपका मामा-भानजा का सम्बन्ध हुआ, आप बलभद्र हुए, चक्रवर्ती भी हुए, इन्द्र हुए, सर्वार्थसिद्धि में भी गये, अन्तिम भव में पुनः दूसरी बार

चक्रवर्ती हुए, कामदेव हुए, और अन्तमें जिनदेव होकर तीर्थंकर भी हुए; और अब सर्वोत्कृष्ट सिद्धपद प्राप्त करने की तैयारी हैं। इस भरतक्षेत्र में २५००० वर्ष तक तीर्थंकर रूप में मंगल विहार करके आपने मोक्ष का मार्ग खोला है। हे देव! आपके अवतार से पूर्व सात तीर्थंकरों के शासन के अंत भाग में धर्म का विच्छेद हुआ, परन्तु आपके द्वारा भी प्रकाशित मोक्षमार्ग निर्बाधरूप से आज पंचमकाल में भी अविच्छिन्न रुप से चल रहा है। इससे पुराणकार गुणभद्रस्वामी कहते हैं कि-हे बुद्धिमान जीवो! तुम शान्तिनाथ की शरण लो; क्योंकि आज जो धर्मशासन प्रवर्तमान है...जो मोक्षमार्ग चल रहा है उसके 'आद्यगुरु भगवान शान्तिनाथ' हैं:-

देवेनाभिहितस्त्वनेन समगादव्याहतः स्वावधिं।
तत् शान्तिं समुपेत तत्र भवतां आद्यं गुरुं धीधना:॥

(महापुराण-उत्तरपुराण : ६३-५१०)

भगवान शान्तिनाथ चक्रवर्ती पद में २५००० वर्ष रहे, और उसे छोड़ने के पश्चात् धर्मचक्रवर्ती होकर तीर्थंकरपदमें भी २५००० वर्ष रहे। अन्त में, जिस प्रकार चक्रवर्ती पदका त्याग किया उसी प्रकार अब तीर्थंकर पद को त्यागकर प्रभु मोक्षगमन के लिये तैयार हुए। जब उनकी आयु एक मास शेष रही तब वे सम्मेदशिखर पर आकर स्थिर हुए। विहार एवं वाणी थम गये। ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन तृतीय शुक्लध्यान द्वारा समस्त योगों का निरोध करके प्रभु अयोगी हुए और दूसरे ही क्षण चतुर्थ शुक्लध्यान में प्रवेश किया। कर्मकी १४८ प्रकृतियों में से समस्त घाति कर्मो सहित कुल ६३ प्रकृतियों का सर्वथा नाश तो प्रभुने केवलज्ञान प्राप्त करने से पूर्व ही कर दिया था; शेष ८५ में से ७२ का (अथवा उनमें से जितनी हों उतनी का) संसार के द्विचरम समय में नाश किया; और शेष १३ कर्म प्रकृतियों का चरम समय में नाश करके प्रभु मुक्त हुए, सिद्ध हुए, अशरीरी हुए, कर्मरहित हुए, विभावरहित हुए, पूर्ण शुद्धस्वभावरुप परिणमित हुए, अनादि संसारतत्त्व को सर्वथा छोड़कर स्वयं अभूतपूर्व ऐसे मोक्षतत्त्वरूप हो गये और सिद्धालय में जाकर विराजमान हुए। वहाँ सर्व चैतन्यगुण ही उनका शरीर है, चैतन्यस्वभाव की निर्बाधता ही उनका सर्वोत्कृष्ट परमसुख है। अब वे अनन्तानन्त काल तक सदा सिद्धरूप ही रहेंगे। अहा, उस सिद्धपद की अपार महिमा स्वानुभव द्वारा ही समझ में आती है। समस्त संत उस सिद्धपद को चाहते हैं और उसकी कैसी अद्‌भुत महिमा गाते हैं-वह तुम भी सुनो-

कर्माष्टवर्जित, परम, जन्म-जरा-मरणहीन शुद्ध छे;
ज्ञानादि चार स्वभाव छे, अक्षय, अनाश, अच्छेद्य छे।

अनुपम, अतीन्द्रिय, पुण्य-पापविमुक्त, अव्याबाध छे,
पुनरागमन विरहित, निरालंबन, सुनिश्चल, नित्य छे।

ज्यां दुःख नहि, सुख ज्यां नहीं, पीडा नहीं, बाधा नहीं,
ज्यां मरण नहि, ज्यां जन्म छे नहीं, त्यां ज मुक्ति जाणवी।

नहि इन्द्रियो, उपसर्ग नहि, नहि मोह, विस्मय ज्यां नहीं,
निद्रा नहीं, न क्षुधा, तृषा नहि, त्यां ज मुक्ति जाणवी।

दृग-ज्ञानकेवल, सौख्य केवल, वीर्यकेवल होय छे,
अस्तित्व, मूर्तविहीनता, सप्रदेशमयता होय छे।

**अशरीर ने अविनाश छे, निर्मल अतीन्द्रिय शुद्ध छे,**
**ज्यम लोकअग्रे सिद्ध, ते रीत जाण रे तुज आत्म ने।**

इस प्रकार सिद्धपद की अपार महिमा करके जैन संत ऐसा बतलाते हैं कि-अपना आत्मस्वरुप भी वास्तव में वैसा ही है; सिद्धपद ही आत्मा का निजपद है और तीर्थंकरादि पुराणपुरुषों का जीवन हमें ऐसे सिद्धपद की साधना करने की प्रेरणा देता है।

प्रभु शान्तिनाथ के साथ उनके भ्राता चक्रायुध गणधर भी केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षको प्राप्त हुए। भवभवान्तर के साथी मोक्षगमन में भी साथ रहे...धन्य उनका जीवन! प्रभुके मोक्षगमन से सम्मेदशिखर की जो टूंक पावन हुई उसका नाम 'कुन्दप्रभा' टूंक है। वाह, कितना सुन्दर नाम और कैसा आनन्द का धाम!

**शान्तिनाथ जिनराज की कुन्दप्रभ टूंक है जेह,**
**मन-वन-तन कर पूज हूँ शिखरसम्मेद यजेह।**

उस कुन्दप्रभा टूंक के उपर सिद्धालय में, लोक के सर्वोच्च स्थान पर जहाँ पूर्वकाल में अनन्तानन्त सिद्ध जीव विराजते थे उनके सान्निध्य में वे भी शाश्वतूरूप से विराजमान हुए और वर्तमान में भी विराज रहे हैं।

प्रभुश्री शान्तिनाथ के मोक्षकल्याणक प्रसंग पर इन्द्र ने निर्वाण महोत्सव किया और पुनः 'आनन्द' नाम का अति भव्य नाटक किया...उसमें श्रीषेण राजा से लेकर शान्तिनाथ तीर्थंकर तक के १२ भवों में भगवान ने जो मोक्षसाधना की उसे अद्‌भुत ढंग से प्रदर्शित किया। अहा, उस नाटक द्वारा प्रभुका जीवन देखकर अनेक जीव मुक्ति साधना हेतु प्रेरित हुए। नाटक द्वारा प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए इन्द्र कहते है कि-

हे नाथ! आप 'कामकदेव' होने पर भी काम को तो आपने नष्ट कर दिया था इसलिये हे प्रभो! आपको 'कामदेव' कहते हुए तो हमें शर्म आती है; वास्तवम कें आप कामदेव नहीं किन्तु कामके शत्रु ऐसे 'धर्मदेव' हैं।

तथा हे देव! आपको चक्रवर्ती महाराजा कहते हुए भी हमें सन्तोष नहीं होता, क्योंकि आपने तो उस छह खण्ड के साम्राज्य को तृणवत् त्यागकर केवलज्ञान द्वारा अखण्ड विश्व का साम्राज्य प्राप्त किया था। जिसका आपने त्याग कर दिया उसके द्वारा आपकी महिमा कैसे हो सकती है?

तथा हे प्रभो! तीन लोक में श्रेष्ठ आपका शरीर अत्यन्त सुन्दर था-यह सच है, परन्तु आपके चैतन्य की अतीन्द्रिय सुन्दरता के समक्ष उसका कोई मूल्य था? -नहीं; क्योंकि जब आप सिद्धपुरी में पधारे तब उस चैतन्य की सुन्दरता को तो साथ ही ले गये थे, परन्तु शरीर की उस दिव्य सुन्दरता का आपने त्याग किया, इसलिये वह पुद्‌गल में विलीन हो गई। अहा, उस कार्य द्वारा तो आपने हमें जड़-चेतन का भेदज्ञान कराया। आज भी आपके स्वरुप का चिन्तन करने से जगत के जीवों को भेदज्ञान होता है और वे मोक्ष के पथपर चलते हैं। आपका शासन जयवन्त हो!

## शान्तिनाथ-तीर्थंकर और चक्रायुध-गणधर यह दोनों जीव १२ भव तक साथ रहकर अन्त में मोक्षको प्राप्त हुए; वह इस प्रकार—

(१) शान्तिनाथ भगवान जब श्रीषेण राजा थे, तब चक्रायुध उनकी 'अनिन्दिता' नामक रानी थी।

(२) दोनों जीव भोगभूमि में उत्पन्न हुए।

(३) प्रथम स्वर्ग में श्रीप्रभ देव तथा विमलप्रभ देव हुए।

(४) शान्तिनाथ का जीव अमिततेज विद्याधर हुआ और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। चक्रायुध का जीव (त्रिपृष्ठ वासुदेव का पुत्र) श्रीविजय हुआ। (वे दोनों परस्पर एक-दूसरे के बहनोई थे।)

(५) तेहरवें स्वर्ग में रविचूल और मणिचूल देव हुए।

(६) अपराजित बलदेव तथा अनन्तवीर्य वासुदेव हुए।

(७) शान्तिनाथ अच्युतस्वर्ग में इन्द्र हुए; चक्रायुध (नरक में जाकर, विद्याधर होकर फिर) उस अच्युतस्वर्ग में प्रतीन्द्र हुए।

(८) शान्तिनाथ का जीव वज्रायुध चक्रवर्ती (क्षेमंकर तीर्थंकर का पुत्र) हुआ और चक्रायुध का जीव वह वज्रायुध का पुत्र हुआ।

(९) दोनों जीव ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए।

(१०) विदेह में घनरथ तीर्थंकर के पुत्र मेघरथ तथा दृढ़रथ हुए।

(११) दोनों जीव सर्वार्थ सिद्धि में गये।

(१२) शान्तिनाथ कामदेव-चक्रवर्ती-तीर्थंकर हुए। चक्रायुध उनके भाई और गणधर हुए।

[अंत में भवचक्र का अंत करके दोनों जीव मोक्ष में विराज रहे हैं।]

उन मोक्षगामी महात्माओं के मंगलजीवन का चिन्तन सर्व जीवों को शान्ति प्रदान करो, सर्व जीवों का कल्याण करो, सर्वत्र मंगल हो। अहा, सत्पुरुष की एक क्षणभर की संगति से भी जीव का कल्याण होता है, तो फिर अनेक भवतक अति सौहार्दपूर्वक तीर्थंकर के आत्मा का संग करनेवाले भव्यात्मा मोक्षका परमसुख प्राप्त करें-इसमें क्या आश्चर्य?

भगवान शान्तिनाथ का जीवन वास्तव में अद्भुत है। संसार के साधारण जीवों की तो क्या बात करें, तीर्थंकर या चक्रवर्ती आदि त्रेसठ शलाका-महापुरुषों में भी शान्तिनाथ भगवान जैसी बारह भवों तक वृद्धिगत विभूति अन्य कौन प्राप्त कर सका है?...परन्तु वह समस्त बाह्यविभूति तो आत्मा से बाहर की है! अंतर की चैतन्यविभूति में तो सर्व मोक्षगामी जीव एकसमान हैं! इसलिये-

हे भव्य जीवों! तुम आत्मा का कल्याण चाहते हो तो, सम्पूर्ण चैतन्य वैभवसम्पन्न ऐसे आत्मा का चिन्तवन करो; प्रभु समान ही अपने आत्मा का स्वरूप है-उसका ध्यान करो; यही प्रभु शान्तिनाथ की उपासना है और यही पूर्ण शान्तिरूप मोक्ष का पंथ है। शान्तिनाथ तीर्थंकर देव द्वारा प्रकाशित यह मोक्षपंथ भरतक्षेत्र में आज भी अविच्छिन्न रूप से चल रहा है...तुम हृदय में उन शान्तिनाथ प्रभु का स्मरण करके आज ही मोक्षमार्ग का अनुसरण करो!

ध्रुव, अचल ने अनुपमगति पामेल शांतिनाथने,
करुं याद मारा आत्म मां सम्यक्त्व भाव जगाडीने।
छे सुख सारुं आपनुं, चाखी अहो मुज आत्ममां,
ऐ सिद्धसुखने साधतो आवी रह्यो तुज पासमां।
पुराण अद्‌भुत आपनुं आ गूंथीने हिन्दी मां,।
बस, जीव थाय पवित्र मारु ओ ज आशा हृदयमां।

हे शान्तिनाथ भगवान! आज आपके जन्म, दीक्षा एवं मोक्ष इन तीन कल्याणक के मंगलदिवस आपके पवित्र जीवन का आलेखन सोनगढ़ के जिनमन्दिर में आपके अभिषेक पूर्वक समाप्त होता हैं; वह हमें भी आप जैसे कल्याणपद की प्राप्ति का कारण हो!

(-वीर संवत् २५०९, ज्येठ कृष्णा चुतुर्दशी)

[पंचम चक्रवर्ती तथा सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ का पवित्र एवं धर्मरोमांचक पुराण यहाँ समाप्त हुआ।]

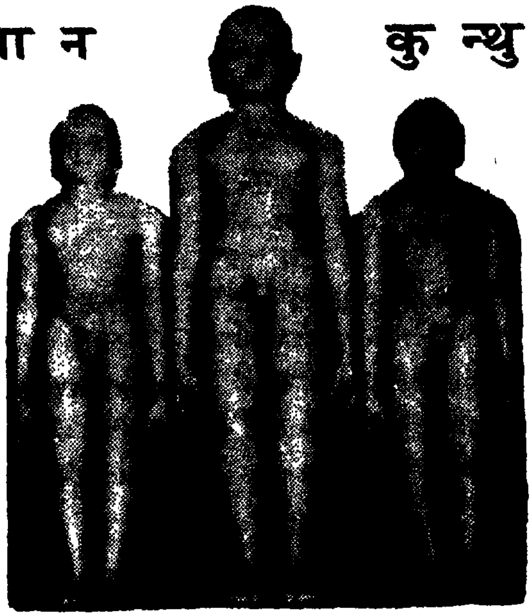
⌘ ⌘ ⌘ ⌘

अब आप पढ़ेंगे-भगवान कुन्थुनाथ तथा अरहनाथ भगवन्तों का मंगल चरित्र। इन दोनों भगवन्तों का चरित्र वीर सं. २५०९ के ज्येष्ठ मास में आयी भीषण बाढ़ में समुद्र जैसे जल में घिरे हुए पोरबन्दर शहर में 'कंचन-कॉटिज' भवन की तीसरी मंजिल पर बैठे-बैठे लिखा गया है।

[१७]

# भगवान कुन्थुनाथ

चक्रवर्ती त्रिपुटी
शांतिनाथ
कुन्थुनाथ
अरहनाथ
(जन्म)
हस्तिनापुर



तीर्थंकर त्रिपूटी
शान्तिनाथ
कुन्थुनाथ
अरहनाथ
(मोक्ष)
सम्मेद शिखर



रत्नो छोडी चौद प्रभुजी रत्नत्रयने वरीया,
चक्र छोडी राजतणुं प्रभु धर्मचक्रने धरीया,
कामदेव-रुप जड़ समजीने चेतन-रुपने वरीया,
ऐवा जिनवर कुंथु प्रभुजी, दास हरिने गमीया।

अभी-अभी आपने हस्तिनापुरीके महाराजा पंचमचक्रवर्ती तथा सोलहवे तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान का उत्तम चरित्र पढ़ा। तत्पश्चात् छठवे चक्रवर्ती तथा सत्रहवें तीर्थंकर भगवान 'कुन्थुनाथ' भी उस हस्तिनापुरी में ही हुए। उनका मंगल पुराण अब हम पढ़ेंगे।

## भगवान कुन्थुनाथ पूर्वभव: सिंहरथ राजा

भगवान कुन्थुनाथ पूर्वभव में जम्बू-विदेहकी सुसीमानगरी के राजा थे। उनका नाम सिंहरथ था, वे धर्मके परम उपासक थे; विदेह क्षेत्रमें तीर्थंकर भगवंत सदा विचरते हैं, इसलिये वे पुण्यवन्त महाराजा

बारम्बार तीर्थंकर भगवान के साक्षात् दर्शन करते, जिनवाणी सुनते और मुनिओंको आहारदान देते थे; वे मात्र इन व्यवहार धर्मों में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, परन्तु रागरहित आत्मा के परमार्थ स्वभाव को भी जानते थे, और अनेको बार उसकी अनुभूति करते थे इस प्रकार राजवैभव के बीच भी सम्यकदर्शन द्वारा चैतन्य वैभव को जाननेवाले वे सिंहरथ राजा मोक्षमार्गी थे। अब उनका मोक्ष अति निकट था।

एक बार वे महाराजा राजमहल की छत पर आत्मचिन्तन करते हुए वैराग्य भावनाएँ भा रहे थे। ठीक उसी समय आकाश से भारी उल्कापात हुआ,-भयंकर आवाज के साथ बिजली गिरी। उस उल्कापात को देखकर तुरन्त उन वैरागी राजाने विचार किया कि-'अरे, यह चकाचौंध मुझे मोहनिद्रासे जगाने के लिये ही है; यह बिजली की चमक मुझे सांसारिक भोगोंकी अनित्यता ही बतला रही है। जिस प्रकार यह वज्र समान बिजली का प्रहार पर्वतके भी टुकड़े कर देता है, उसी प्रकार मैं चारित्रधर्म के वज्र द्वारा मोहरुपी पर्वतके टुकडे-टुकडे कर दूँगा। ऐसा विचारकर वे महाराजा सिंहरथ वनमें गये और वहाँ एक वीतराणी गुरू के निकट जिनदीक्षा धारण की। जैसे चारित्र का पालन भगवान शान्तिनाथ के जीवने मेघरथ के भवमें किया था, वैसा ही उत्तम चारित्र इस कुन्थुनाथ के जीव ने सिंहरथ के भव में पाला; दर्शन विशुध्दिआदि सोलह उत्तम भावनाएँ जैसी उन मेघरथ मुनिराज ने भायी थी, वैसी ही इन सिंहरथ मुनिराजने भायीं और उन्हीं की भाँति तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। पश्चात् उत्तम आराधना पूर्वक समाधिमरण करके वे सिंहरथ मुनिराज भी सर्वार्थ सिध्दि में उत्पन्न हुए...कि जहाँ शांतिनाथ प्रभु का आत्मा भी विराजता था। इस प्रकार भगवान शान्तिनाथ और कुन्थुनाथ दोनो तीर्थंकरों के आत्मा सर्वार्थसिद्धि में असंख्य वर्षोतक साथ रहे। वहाँ वे दोनो भावी तीर्थंकर कैसी आनन्ददायी चर्चा करते थे उसका रसास्वादन मल्लिनाथ' प्रभुके जीवन चरित्र में (पृष्ठ में) करायँगे।

भगवान कुन्थुननाथ का जीव भगवान शान्तिनाथ का अनुसरण कर रहा था। शान्तिनाथ के जीवने जम्बूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्र में तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया था, तो कुन्थुनाथ ने भी वहीं तीर्थंकर की प्रकृति बांधी, शान्तिनाथ प्रभु सर्वार्थसिद्धि में गये तो यह भी सेर्वार्थसिद्धि में गये; वहाँ से आकर शान्तिनाथ प्रभु कामदेव और चक्रवर्ती हुए तो यह भी हस्तिनापुरीमे ही आकर कामदेव तथा चक्रवर्ती हुए। धन्य तीर्थंकर परम्परा! और धन्य हस्तिनापुरी!

## हस्तिनापुरी में कुन्थुनाथ-अवतार

जब सर्वार्थसिद्धि में कुन्थुनाथ के जीवकी आयु छहमास शेष रही उस समय हस्तिनापुरी में महाराजा शूरसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम श्रीकान्ता था। हस्तिनापुरी की महिमा से तो (शान्तिनाथ प्रभुके कालसे ही) हम परिचित है... इसलिये पुनः उसकी शोभाका वर्णन नहीं लिखते। हाँ, वहाँ एकके पश्चात् एक तीन तीर्थंकर (सोलहवे, सत्रहवे, और अठारहवें) तथा चार चक्रवर्ती (चौथे, पाँचवें, छठवें और सातवें) उत्पन्न हुए वह उसका महान गौरव है। महापुरुष पाण्डव भी उसी नगरीमें तथा उन्हीं तीर्थंकरो के वंश में हुए। ऐसी उस नगरी में श्रावण कृष्णा दशभ के दिन, सर्वार्थसिद्धिसे सत्रहवें तीर्थंकर का जीव १६ मंगलस्वप्नोंके दर्शन पूर्वक महादेवी श्रीकान्ता की कुक्षि में अवतरित हुआ...हस्तिनापुरीमें रत्नवृष्टि, इन्द्रोंका आगमन आदि भव्य प्रसंग पुनः हुए।

वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन भरत क्षेत्र के १७ वे तीर्थंकर का जन्म हुआ और इन्द्रोने मेरुपर्वतपर अभिषेक करके महान जन्मकल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्रने स्तुति करते हुए कहा-हे देव! आप कंथवा जैसे सूक्ष्म जीवों की भी रक्षाका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये आप कुन्थुनाथ हैं। प्रभुके चरणों

में अज (बकरा) का चिन्ह था। शान्तिनाथ प्रभु द्वारा प्रवर्तित धर्मशासन अविच्छिन्नरुप से चल रहा था; उसमें अर्धपल्य के पश्चात् कुन्थुनाथ प्रभुका अवतार हुआ। उनकी आयु ९५००० वर्ष थी। रुप में कामदेव, वैभवमें चक्रवर्ती और धर्म में तीर्थंकर-ऐसी महान पदवियाँ वे धारण करते थे। उनका जीवन शान्तिनाथ भगवान जैसा ही था। जीवन का चतुर्थ भाग (२३७५० वर्ष) व्यतीत होने पर वे हस्तिनापुरीके राजा बने; दूसरा चतुर्थ भाग बीतनेपर, अपनी जन्मतिथिके दिन ही (वैशाख शुक्ल प्रतिपदा को) उनके राजभण्डार में सुदर्शन चक्र उपन्न हुआ तथा उन्हे चक्रवर्ती पद की राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई। शान्तिनाथ चक्रवर्ती की भाँति उन्होने भी छह खण्ड में विजय विहार किया। प्रभु कुन्थुनाथ चक्रवर्ती पदपर २३७५० वर्ष तक रहे। उस काल वे मात्र चक्रवर्ती पद के ही वैभव का नही; किन्तु साथ ही चैतन्य वैभव का भी उपयोग करते थे।

चक्रवर्ती होने के पश्चात् २३७५० वर्ष की घटना है-एकबार वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन उनका जन्मोत्सव तथा चक्रवर्ती पद प्राप्ति का उत्सव मनाया जा रहा था। हस्तिनापुरी की सजावट एवं अद्भुत शोभा को महाराजा कुन्थुनाथ चक्रवर्ती प्रसन्नचित्त से निहार रहे थे और विचार कर रहे थे कि-कहाँ चैतन्य की अचिन्त्य शोभा! और कहाँ इस चक्रवर्तीपदकी शोभा!-एक शोभा तो आत्माका धर्म है और दूसरी शोभा कर्मका फल है। गहरा चिन्तन करते हुए उन्हें तत्क्षण जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पूर्वभव में इससे भी अति श्रेष्ठ ऐसे अहमिन्द्र पद का उपभोग कर चुके हैं उसका स्मरण होते ही तत्क्षण राजभोगों से उनका चित्त विरक्त हो गया! अरे, छह खणड़ के राज्य में तथा विषय-भोगों में क्या आत्माका किंचित्मात्र सुख है?-नहीं, कदापि नहीं; बाह्य विषय भोगों की सामग्री में से कभी भी आत्मा को सुख की एक बूँद भी नहीं मिल सकती; सुख का समुद्र तो अंतर में लहराता है, उसमें उपयोग को लगाने से, उस शुध्दोपयोग में ही परम सुख का अनुभव होता है। इसलिये में भी अब अपने उपयोग को इस राजवैभवसे हटाकर अपने चैतन्यसमुद्र में स्थिर करुँगा। अपने चैतन्यतत्त्व के सुखका स्वाद मैंने ले लिया है, उसी में अब मैं लीन होऊँगा। में आज ही वनमें जाकर जिन दीक्षा धारण करके मोक्ष की साधना करुँगा।

ऐसा निर्णय करके महाराजा कुन्थुनाथ संसार की अनित्यता आदि बारह वैराग्य भावनाओंका चिन्तन कर रहे थे। उसी समय स्वर्ग से लौकान्तिक देवोंने आकर स्तुतिपूर्वक उनकी दीक्षा का अनुमोदन किया। इन्द्र भी 'विजया' नामकी शिबिका लेकर आ पहुँचे। महाराजा कुन्थुनाथ छह खणड की विभूति को क्षणमात्र में त्यागकर वन में पहुँचे और सिध्दों को वन्दन करके शुध्दोपयोगी साधु बन गये...उस समय प्रभु द्वारा छोड़े गये चौदह रत्न और नवनिधान मानो अनाथ हो गये जबकि मोक्ष लक्ष्मी सनाथ होकर प्रफुल्लित हो रही थी!-क्योंकि प्रभु उसे अंगीकार करने को आतुर थे।

अरे, कहाँ कुछ क्षण पूर्व का चक्रवर्तीपद और कहाँ दिगम्बर साधुदशा! वह निष्परिग्रही वीतरागी दशा जगत् को प्रगटरुप से बतलाती है कि-हे जीवो! परिग्रह में सुख नहीं है,सुख तो वीतरागता में है; सुख बाह्य में नहीं, अंतर में हैं।

भगवान कुन्थुनाथ के साथ एक हजार राजा भी दीक्षा लेकर मुनि हो गये। शान्तिनाथ प्रभुने भी अपने जन्म के दिन दीक्षा ली थी, प्रभु कुन्थुनाथ ने भी जन्मदिन पर दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के पश्चात् तीसरे दिन मुनिराज कुन्थुनाथ हस्तिनापुरी में पधारे; तब 'धर्ममित्र' नामके श्रावक ने उन्हें उत्तम विधिसहित आहारदान दिया। शान्तिनाथ तीर्थंकर की भाँति वे भी १६ वर्षतक मुनिदशा में रहे और भरतभूमि में विहार किया। तत्पश्चात् वे पुन; हस्तिनापुरीके दीक्षावन में पधारे और चैत्रशुक्ला तृतिया के दिन शुक्लध्यान

द्वारा क्षपकश्रेणी में आरुढ होकर केवल ज्ञान प्रगट किया।

तुरन्त ही समस्त इन्द्रलोक में हर्षका कोलाहल छा गया। देवों ने आकर प्रभु के केवलज्ञानका भव्य महोत्सव किया और समवसरण की रचना की। उस समवसरण में 'स्वयंभू' आदि ३५ गणधर, ७०० पूर्वधारी मुनिवर, ४३१५० उपाध्याय-शिक्षक, २५०० अवधिज्ञानी मुनिवर, ५१०० विक्रिया ऋध्दिधारी, ३३०० मन:पर्ययज्ञानी, २०५० वादविद्या में पारंगत मुनिवर थे; तदुपरान्त ३२०० केवली भगवन्त भगवान के समकक्ष गगन में विराजते थे। कुल ६०००० मुनिवर तथा ६०३५० आर्यिकाएँ थी। दो लाख आत्मज्ञानी श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएँ थीं। देवों तथा तिर्यंचों का तो कोई पार नहीं था। सिंह और वृषभ जैसे पशु भी पशुता को छोड़कर आत्मज्ञान प्राप्त कर लेते थे और सम्यक्त्वादि अपूर्व चैतन्य भाव द्वारा मोक्षमार्गी बन जाते थे।

प्रभु कुन्थुनाथ २३७३४ वर्षतक भरतक्षेत्र में विचरे और धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। पश्चात् जब उनकी आयु एक मास शेष रही तब वे समेदशिखरपर पधारे। विहार एवं वाणी थम गये और प्रभु शान्तिनाथ की भाँति अपने जन्म तथा दीक्षादिवस (वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन) पर वे योगनिरोध करके सिध्दपुरी में पधारे। प्रभु स्वयं अचिन्त्य ज्ञानधारी थे, और जिस टूंक से मोक्ष पधारे उस टूंकका नाम भी 'ज्ञानधर' टूंक पड़ा।

कुन्थुनाथ जिनराजकी ज्ञानधर टूंक है जेह,
मन-वच-तनकर पूज हूँ शिखरसम्मेद यजेह।

[इस प्रकार भरतक्षेत्र के छठवें चक्रवर्ती एवं सत्रहवें तीर्थंकर
श्री कुन्थुनाथ भगवान का जीवनचरित्र पूर्ण हुआ।]

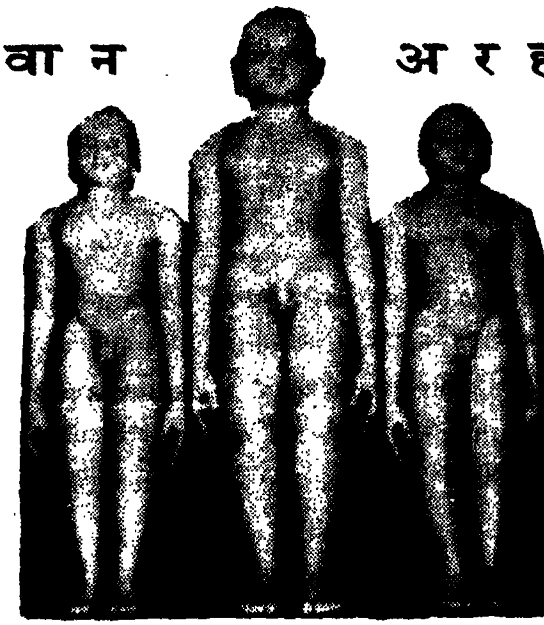
छ्यानवे हजार नार छिनकमें दीनी छार;
अरे मन! ता निहार काहे तू डरत है!
छहों खण्ड की विभूति छांडत न देर कीनी,
सेना चतुरंगनसों नेह न धरत हैं।
नौ-निधान आदि जे चउदहरतन त्याग,
देह से भी नेह तोड़ी वन विचरत हैं,
ऐसी विभौत्यागत विलंबजिन कीनो नाहिं,
तेरे कहो केती निधि सोच क्यों करत है?

अरे जीव, तू तीर्थंकरोंका जीवन तो देख! वे चक्रवर्ती पद की विभूति को भी एक क्षण में छोड़कर मोक्षसाधना के लिये चल दिये। तू भी अपने उन भगवन्तों के जीवन का अनुसरण करके आत्मसाधना में शूरवीर बन; व्यर्थ का सोच-विचार मत कर।

[१८]

# भ ग वा न   अ र ह ना थ

चक्रवर्ती त्रिपुटी
शांतिनाथ
कुन्थुनाथ
अरहनाथ
(जन्म)
हस्तिनापुर



तीर्थंकर त्रिपूटी
शान्तिनाथ
कुन्थुनाथ
अरहनाथ
(मोक्ष)
सम्मेद शिखर



**हे अरहनाथ जिनेश! आपने छहखण्ड के राजवैभवरुप चक्रवर्ती के सुदर्शन चक्र को कुम्हार के चाक की भाँति त्याग दिया और धर्मचक्र को धारण करके भरतक्षेत्रके १८ वें धर्मचक्री हुए, मोह को जीतकर सर्वज्ञ-तीर्थंकर हुए। सर्वज्ञतारुप आपके अद्भुत आत्मवैभवका आदर करके मैं आपको नमस्कार करता हूँ और आपका मंगल जीवनचरित्र कहता हूँ।**

भगवान अरहनाथ भी अपने पुरोगामी दो चक्रवर्ती तीर्थंकरों की भाँति पूर्वभव में जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में थे। वहाँ वे क्षेमपुरी नगरी के धनपति नामक राजा थे...वे मात्र राजलक्ष्मी के ही नहीं, आत्मलक्ष्मी के भी स्वामी थे; स्वानुभूतियुक्त थे; क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। उनकी अंत:चेतना संसार से विरक्त रहती थी। पुण्यजन्य राजवैभव और आत्मजन्य धर्म वैभव— इन दोनों का सुयोग होने पर भी वे दोनों वैभवों को भिन्न ही रखते थे, एकमेक नहीं करते थे; इतना ही नहीं, वे सदा धर्म की ही प्रधानता रखते थे और उनका मन मोक्ष की साधना में लगा रहता था।

मोक्ष के साधक को मोक्षसाधना के अनुकूल संयोग मिलते ही रहते हैं, तदनुसार मोक्षार्थी महाराजा

धनपति को भी एक उत्तम सुयोग प्राप्त हुआ। उनकी नगरी में अर्हत्नन्दन तीर्थंकर का पदार्पण हुआ। उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण करते हुए राजा धनपति को एकदम रत्नत्रय की भावना जाग उठी और उनका चित्र संसार से विरक्त हो गया। राज्य छोड़कर उन्होंने प्रभुके चरणों में जिन दीक्षा धारण कर ली। वे शुध्द परिणाम द्वारा रत्नत्रयरुप मोक्षमार्ग की साधना करने लगे। उनको बारह अंग का ज्ञान उदित हुआ और दर्शनविशुध्दि आदि १६ भावनाओं द्वारा उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। अनेक वर्षोंतक चारित्रपालन करके अंत में उत्तम आराधना सहित उन्होंने प्रायोपगमन संन्यास धारण किया और समाधिमरण करके, 'सर्वार्थसिध्दि' के चारों ओर जो दूसरे चार अनुत्तर-विमान हैं, उनमें से 'जयन्त' विमान में अहमिन्द्र हुए।

अगले भवमें जो अरहनाथ तीर्थंकर होनेवाले हैं उन अहमिन्द्र की आयु ३३ सागर थी। वहाँ बाह्यविषयों के बिना भी उनको महान सुख था...और तीर्थंकर प्रकृति तो सदा आती ही रहती थी। उनका आत्मा अब मोक्ष के अत्यन्त निकट आ चुका था और राग-द्वेष शांत हो गये थे। अहमिन्द्र पर्याय में असंख्यात वर्ष व्यतीत हो जाने पर...क्या हुआ?-वह देखने के लिये हम फिर तीसरीबात हस्तिनापुर चलें!...

उस समय हस्तिनापुर में भगवान शान्तिनाथ के वंशज राजा सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम मित्रसेना था। जब स्वर्ग में उन अहमिन्द्र की आयु छहमास शेष रही तब उनके आगमन की पूर्व सूचनारुप यहाँ हस्तिनापुरके राजभवन में प्रतिदिन करोड़ों रत्नोंकी वर्षा के साथ-साथ सारी नगरी में पुण्यवृध्दि होने लगी।फाल्गुन कृष्णा तृतिया की पिछली रात्रि में महादेवी मित्रसेनाने उत्तम गज आदि १६ मंगल-स्वप्न देखे और उन स्वप्नोंका फल तीर्थंकर का गर्भागमन जानकर वह अति आनन्दित हुई। मानो त्रिलोक का राज्य मिल गया हो-इतना हर्ष उन्हें हो रहा था। उसी समय देवेन्द्रोंने आकर तीर्थंकर के माता-पिता रुप में उनका सन्मान किया और दिव्य वस्त्राभूषणों की भेट दी; इतना ही नहीं गर्भस्थ मंगल-आत्मा की भी स्तुति एवं बहुमान किया कि-अहो देव! गर्भ में भी आप आत्मज्ञान एवं अवधिज्ञानसहित विराजमान हैं; अभी नेत्रादि अवयवों की रचना होने से पूर्व भी आप अतीन्द्रिय ज्ञान धारण कर रहे हैं; आपका आत्मा सदा मंगलरुप है; आपका चैतन्यप्रवाह मोक्षदशा से सम्बन्धित है...तथा अनेक जीवों के मोक्ष में आप निमित्त हैं।-ऐसी अनेक प्रकारकी स्तुति करके देवोंने गर्भकल्याणक मनाया।

माता के दिन प्रसन्नता पूर्वक बीत रहे थे। गर्भवृद्धि होने पर भी उन्हें कोई कष्ट नहीं है। तथा गर्भस्थ बालक को भी गर्भावस्था का कोई कष्ट नहीं हैं। स्वर्गलोक की देवियाँ माता-पुत्रकी सेवा कर रही हैं। प्रतिदिन रत्नवृष्टि हो रही है।

सवानौ मास बीतने पर मगसिर शुक्ला चतुर्दशीके दिन भातामित्र सेना महारानीने दिव्य पुत्र को जन्म दिया। सातवें चक्रवर्ती और अठारहवें तीर्थंकर का एक साथ अवतार हुआ। सर्वत्र आनन्द-मंगल छा गया। शान्तिनाथ तथा कुन्युनाथ की भाँति अरहनाथ तीर्थंकर का जन्मकल्याणक महोत्सव इन्द्रोंने तथा हस्तिनापुर के प्रजाजनों ने मनाया। अरे, हस्तिनापुरी में प्रभुका जन्मोत्सव मनाया गया ऐसा कहना वह तो सामान्य बात है, क्योकि प्रभुके मंगल जन्म के पुण्यप्रभाव तो सातवे नरकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि के विमानोंतक त्रिलोक में सर्वत्र फैल गया था और तीनो लोक के सर्व जीव क्षणभर संतुष्ट हुए थे।

कुन्थनाथ तीर्थंकर के मोक्षगमन पश्चात् पाव पल्य व्यतित होने पर अरहनाथ तिर्थंकर हुए। उनके शरीर की ऊँचाई ३० धनुष तथा आयु ८४००० वर्ष थी। उनका शरीर सौन्दर्य सर्व श्रेष्ठ था। उनके चरणों

में सुन्दर मस्त्य (मछली) का चिन्ह था। वे तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा कामदेव थे। सोलह-सत्रह-अठारहवें तीन तीर्थंकरोंकी त्रिपुटी जोकि तीन-तीन पदवियोंकी धारक थी, उसका जन्म हस्तिनापुर में हुआ था। युवावस्था में प्रवेश करने पर राजकुमार अरहनाथ का विवाह अनेक देशों की सर्वगुणसम्पन्न राजकुमारियों के साथ हुआ। २१००० वर्ष की आयुमें राजा सुदर्शन ने उनका राज्याभिषेक करके उन्हें मंडलेश्वर राजा बनाया। दूसरे २१००० वर्ष तक राज्य करने के पश्चात् उनके शस्त्रभण्डार में सुदर्शन चक्रकी उत्पति हुई और छह खण्ड पर विजय प्राप्त करके वे भरत क्षेत्र के सातवें चक्रवर्ती हुए। इस प्रकार हस्तिनापुरी में एक के बाद एक ऐसे चार चक्रवर्ती और तीन तीर्थंकर उत्पन्न हुए। धन्य वह नगरी!

महाराजा अरहनाथने तिसरे २१००० वर्ष तक चक्रवर्ती रुप-से राज्य किया। पश्चात् एकबार चक्रवर्ती अरहनाथ आकाशमें शरद ऋतु के बादलों की सुन्दर रचना देख रहे थे कि बादल एकदम बिखर गये! वह देखकर उन्हे संसार के समस्त संयोग की क्षणभंगुरता का विचार आया...अरे, यह राजवैभव, यह शरीर और आयु समस्त सयोग क्षणभंगुर हैं; वे कोई जीव के साथ स्थिर रहनेवाले नहीं है; स्थिर रहनेवाले शाश्वत तो अपना ज्ञायक स्वभाव है:-

'मारो सुशाश्वत एक दर्शन-ज्ञानलक्षण जीव छे,
बाकी बधा संयोगलक्षण भाव मुजथी बाह्य छे,
कर्मोतणो जे विविध उदय विपाक जिनवर वर्णव्यो,
ते मुज स्वभावो छे नही, हुं एक ज्ञायकभाव छुं.

-ऐसा विचारकर वे महाराजा वैराग्य भावनाओंका चिंतवन करने लगे; उसी समय उन्हे जातिस्मरण ज्ञान होनेपर वैराग्य दृढ हुआ और चक्रवर्ती पद त्याग कर जिनदीक्षा लेने को तत्पर हुए। उसी समय ब्रम्हस्वर्गसे लौकांतिक देवोंने आकर उन्हे वन्दन किया और उनके वैराग्य की प्रशंसा की। इन्द्रादि देव 'वैजयन्त' नामकी दिव्य शिबिका लेकर प्रभुके दीक्षा कल्याणक का मंगल-महोस्तव मनाने हस्तिनापुरी में आ पहुँचे। चारो ओर महान वैराग्य का वातावरण छा गया। अरहनाथ प्रभुके साथ एकहजार राजा भी दीक्षा ग्रहण करने हेतु वनमें चले और उन चक्रवर्ती की हजारो रानियाँ भी संसार से विरक्त होकर आर्यिकाव्रत लेने को तैयार हो गई।

वैशाख शुक्ला दशम के सायंकाल चक्रवर्ती पदका समस्त वैभव त्यागकर महाराजा अरहनाथ हस्तिनापुरी के सहेतुक नामक सुन्दर वनमें आये; समस्त वस्त्राभूषण उतारकर सम्पूर्ण दिगम्बर दशा धारण की, और सिद्धों को वन्दन करके मुनि बन गये। तुरन्त शुद्धोपयोगी होकर आत्मध्यानमें लीन हुए कि उसी समय उनको चौथा ज्ञान एवं सप्तम गुणस्थान प्रगट हुआ।

दो दिन तक उपवास के पश्चात् मुनिराज अरहनाथने चक्रपुर नगरी के राजा अपराजित के हाथ से पारणा किया। वे राजा अपराजित तीर्थंकर मुनिराज को सर्वप्रथम आहारदान देकर धन्य हुए और मोक्षगामी बन गये। उस समय देवोंने भी आनन्दित होकर वहाँ रत्नवृष्टि, मंगलवाद्य आदि पांच आश्चर्य प्रगट किये।

हस्तिनापुरी के प्रथम दो तीर्थंकरों की भाँति भगवान अरहनाथ भी १६ वर्ष मुनिदशा में विचरे। तत्पश्चात् हस्तिनापुरी के दीक्षावन में आकर आत्मध्यान में विराजमान हुए। कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन श्रेष्ठ शुक्लध्यान द्वारा क्षपक श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्रगट किया; प्रभु अरहनाथ अरिहंत परमात्मा बन गये...और १८ वें तीर्थंकर हुए। इस प्रकार भरत क्षेत्र के एकसाथ तीन तीर्थंकरों के कुल १२

कल्याणकमनाकर हस्तिनापुर नगरी धन्य हुई! उसी समय तीर्थंकर प्रकृति रुपी दूती की प्रेरणा से इन्द्रादिदेव प्रभुकी सेवा करने आ पहुँचे और दिव्य समवसरण की रचना की, स्वर्ग की अपेक्षा उस समवसरण की अधिक शोभा देखकर इन्द्र भी आश्चर्यचकित हो गये। प्रभु अरहनाथ ने दिव्यध्वनि द्वारा नव तत्त्वोंका तथा रत्नत्रयरुप मोक्षमार्ग का अलौकिक उपदेश दिया। उसे सुनकर लाखों जीव धर्म को प्राप्त हुए और मोक्ष मार्ग में चलने लगे।

प्रभु की धर्म सभामें २८०० केवलज्ञान प्राप्त अर्हतजिनेश्वर श्रीमण्डपमें प्रभुके समकक्ष गगनमें विराजते थे। अहा, अदभुत आनन्दकारी था वह धर्मसभाका दृश्य! श्री कुम्भस्वामी आदि ३० गणधरों सहित ५० हजार मुनिवर मोक्ष की साधना कर रहे थे; और ६० हजार आर्यिकाएँ मात्र एक श्वेतवस्त्र धारण करके पंचम गुणस्थान में विराजती थीं १,६०,००० धर्मात्मा श्रावक और ३००००० श्राविकाएँ थी। सर्वज्ञ भगवान अरहनाथ तीर्थंकर ने २१००० वर्ष तक भरत क्षेत्र के अनेक देशोंमें विहार करके धर्मोपदेश देकर वीतरागी धर्मचक्रका प्रर्वतन किया। जब आयुकर्म एक मास शेष रहा तब विहार एवं वाणी रुक गये और भगवान सम्मेदाचल के शिखर पर स्थिर हुए। चैत्र कृष्णा आमावस्या को सम्पूर्ण योग निरोधपूर्वक शेष अघातिकर्मोंका क्षय करके, संसार से मुक्त होकर शाश्वत मोक्षपुरी सिद्धालय में विराजमान हो गये। उन्हे नमस्कार हो!

'अरि' ( मोह) और 'रज' (तीन कर्म) से रहित हुए प्रभु अरहनाथ संसार के नाटक का अन्त करमे सम्मेद शिखर की 'नाटक' टूंक से मोक्ष पधारे।

**अरहनाथ जिनराजकी नाटक टूंक है जेह,**
**मन-वच-तन कर पूज हूँ शिखर सम्मेद यजेह।**

हे अरहनाथ देव! अरि-रज से रहित जैसा सिद्धपद आपने प्राप्त किया वैसा सिद्धपद हमें भी शीघ्र प्राप्त हो!

[सातवें चक्रवर्ती तथा १८ वे तीर्थंकर श्री अरहनाथ भगवान का पावन चरित्र यहाँ पूर्ण हुआ।]

## सिद्धांन्त और प्रयोग... अर्थात...द्रव्यानुयोग और कथानुयोग

भगवान तीर्थंकर देवकी वाणी द्वारा कहा गया द्रव्यानुयोग हो गया कथानुयोग-कोई भी अनुयोग हो, उसमें जीवों के हितार्थ वीतरागताका ही उपदेश है। सबमें एक ही तात्पर्य है कि जीवों का कल्याण हो।

द्रव्यानुयोग में जो बात सिद्धान्तरुप से दरशाई है सही बात कथानुयोग में प्रयोगरुप से बतलायी गई है जैसे कि "भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है-भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।" -ऐसा सम्यग्दर्शन का स्वरुप द्रव्यानुयोग में बतलाया है, जब कि कथानुयोग में इस प्रकार भूतार्थ स्वभाव का आश्रम करके कौन-कौन से जीव किसप्रकार सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए-वह बात, भगवान महावीर की सिंह पर्याय, भगवान ऋषभदेव का जुगलिया का भव, भगवान पार्श्वनाथ का हाथी का भव आदि के वर्णन द्वारा प्रयोगरुप से समझायी है, और वह भव्य जीवों को सम्यक्त्वकी प्रेरणा देती है। इस प्रकार सम्पूर्ण जिनवाणी भव्य जीवों को इष्टोपदेश देनेवाली है।

[१९]




हे जिनवर! तमे सत्यपुरुष छो मोक्षतणा पुरुषार्थी.
साधक जीवो सेवे तमने, आत्माना थई अर्थी;
प्रभुजी तारा सेवक कदिये स्त्री-अवतार न पामे,
भव भ्रमणनो अंत करीने पदवी सिद्धनी पामे.

हे भगवान मल्लिनाथ! आप परम पुरुष हैं। आपका यह पवित्र पुराण भक्तिपूर्वक जो भव्य जीव सुनेंगे उनको चैतन्य धर्मकी आराधना जागृत होगी और संसारमें स्त्रीपर्यायका छेद हो जायगा। अहा, चैतन्य परमपुरुष की प्रतीति करनेवाले धर्मी जीव को कभी स्त्रीवेद का बंधन नहीं होता, तब फिर अनेक पूर्वभवों में रत्नत्रयसहित चैतन्य की आराधना करनेवाले तीर्थंकर-महात्माको स्त्रीपर्याय होने की बात ही कैसी? अरे, तीर्थंकर जैसे महापुरुषको 'स्त्री' कहना वह तो उनकी कैसी आसातना है? सिद्धान्तानुसार द्रव्यस्त्रीवेद का उदय मात्र पाँचवें गुणस्थान तक और भावस्त्रीवेद का उदय नौंवे गुणस्थान तक ही होता है, उससे ऊपर के गुणस्थानों में द्रव्य से पुरुषवेदीपना और भाव से अवेदीपना होता है।

हे प्रभो मल्लिनाथ जिनेश! आपका पवित्र जीवन पूर्व भवों से ही रत्नत्रय द्वारा अलंकृत था, इसलिये स्त्रीवेद आदि अशुभ प्रकृतियाँ-जोकि मिथ्या दृष्टि जीवों को ही बँधती हैं, वे आपसे अत्यन्त दूर थीं; आपके आराधक जीवन की पहिचान और उसका चिन्तन करनेवाले जीव देव-गुरु सम्बन्धी मिथ्यात्व के शल्य को मल्ल की भाँति चूर-चूर कर देते हैं, सम्यक्त्व प्रगट करते हैं। आपको तो स्त्रीपर्याय नहीं थी, परन्तु जो स्त्री आपकी प्रतीति करे उसको भी भविष्य की स्त्री पर्याय का सर्वथा छेद हो जाता है।

हे परमपुरुष तीर्थंकर मल्लिनाथ! आप तो हमारे इष्टदेव हैं; इसलिये जीवों को मिथ्याभावों से छुड़ानेवाला तथा रत्नत्रयकी आराधना में लगानेवाला आपका सम्यक् जीवन यहाँ भक्तिपूर्वक कहता हूँ।

## भगवान मल्लिनाथ पूर्वभव : विदेह में वैश्रवण राजा

जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में वीतशोका नामकी एक सुन्दर नगरी है। मोक्षाभिलाषी धर्मात्माओंसे भरपूर उस नगरी में जिनमन्दिरों के उन्नत शिखरों पर लहराती हुई धर्मध्वजाएँ मानो देवों को पुकार रही हैं कि-हे भाई देवो! देवलोक में तुम्हें मोक्ष प्राप्त न होता हो तो वह प्राप्त करने के लिये यहाँ आओ! इस नगरी में सदा केवली भगवन्त विचरते हैं और मोक्षके द्वार सदा खुले हैं।

तुम्हें प्रश्न होगा कि ऐसी सुन्दर नगरी का राजा कौन होगा? सुन्दर नगरी का राजा भी सुन्दर ही होगा न! तीर्थंकर मल्लिनाथ का आत्मा स्वयं पूर्वभव में इस मनोहर वीतशोका नगरीका राजा था...उनका नाम था वैश्रवण; वे आत्मज्ञानी थे, और उनका चित्त सदा रत्नत्रय की आराधना में लीन रहता था। एक बार वे राजसभा में बैठे थे; वहाँ उद्यान के मालीने आकर आनन्दपूर्वक बधाई दी कि-हे स्वामी! अपनी नगरी के चन्दनवन में आज सुगुप्ति नामके महा मुनिराज पधारे हैं; जिस प्रकार साधक जीवों का हृदय रत्नत्रय द्वारा खिल उठता है उसी प्रकार सारा उद्यान बिना मोसम के आम्र आदि सुन्दर फल-फूलों से खिल उठा है। यह सुनते ही राजाने अत्यन्त हर्षविभोर होकर आनन्दभेरी बजवायी और नगरजनों सहित धामधूम से मुनिराज की वन्दना करने आये।




श्री मुनिराज ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा-हे राजन्! तुम्हें मोक्ष के कारणरुप रत्नत्रय धर्म की वृद्धि हो!

मुनिराज के आशीर्वाद से राजा प्रसन्न हुए और बोले-हे नाथ! आपके श्रीमुख से रत्नत्रय धर्म का स्वरुप श्रवण करने की चाहना है, कृपा करके रत्नत्रय का स्वरुप सुनाइये!

मुनिराज के श्रीमुख से मानो अमृत झरता हो ऐसी वाणी निकली-हे राजन्! सुनो! अनेक प्रकार के दुःखों से भरे हुए इस संसार से छुड़ाकर जो अनन्तसुख के धाम-ऐसे मोक्ष की प्राप्ति कराये उसका नाम धर्म है। वह धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे त्रिरत्नस्वरुप है; उसे पहिचानकर उसकी आराधना करो।

राजाने कहा-प्रभो! उस रत्नत्रय धर्म में से प्रत्येक धर्म का स्वरूप सुनने की आकांक्षा है।

श्री मुनिराज ने कहा-सुनो! रत्नत्रय में सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ-वीतराग जिनवर देव, निर्मोही गुरू और जीवअजीवादि सात तत्त्वों का स्वरूप बराबर जानकर, उनमें से सारभूत (भूतार्थ) अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति करना सो सम्यग्दर्शन है। 'शुद्धनय भूतार्थ हैं' अर्थात् शुद्धनय और उसके विषयरुप शुद्ध आत्मा, उन्हें अभेद करके 'भूतार्थ' कहा है, और उस भूतार्थ का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है। (भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।)

## उस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं:-

❋ तलवार की तीक्ष्ण धार जैसा श्रेष्ठ जिनमार्ग वह सन्मार्ग है; उसमें बिना किसी शंका के निश्चल रुचि करना, सो निःशंकित अंग है। (१)

❋ धर्म के फल में संसारसुख की वांछा नहीं करना, किन्हीं भी विषयों में (पुण्यफल में) सुख नहीं मानना, सो निःकांक्षित अंग है। (२)

❋ मलिन शरीरादि को देखकर धर्मात्मा के प्रति घृणा नहीं करना किन्तु उसके गुणों में प्रीति करना, सो निर्विचिकित्सा अंग है। (३)

❋ सुखकर ऐसा जिनमार्ग और दुःखकर ऐसे अन्य मिथ्यामार्ग,-उनका स्वरुप जानना और मिथ्यामार्गों में किसी प्रकार सम्मति नहीं देना अथवा उनकी प्रशंसा नहीं करना, सो अमूढदृष्टि अंग है। (४)

❋ साधर्मी के अवगुणों को ढँकना, वीतरागभावरूप जिनधर्म की वृद्धि करना; तथा धर्म की या धर्मात्मा की निन्दा के प्रसंग आने पर उन्हें योग्य उपायों द्वारा दूर करना, सो उपगूहन-अंग है। (५)

❋ तीव्र दुःखादि किन्हीं भी कारणों से अपना या परका आत्मा धर्ममें शिथिल होने का प्रसंग आये, तो वैराग्य भावना द्वारा तथा जिनधर्म की महिमापूर्वक उसे धर्ममें स्थिर करना, सो स्थितिकरण अंग है। (६)

❋ अपने साधर्मी भाई-बहिनों के प्रति हृदय में उत्तम भाव रखकर उनका आदर-सत्कार करना, सो वात्सल्य अंग है। (७)

❋ अपनी शक्ति द्वारा जैनधर्म की शोभा बढ़ाना, अज्ञान को दूर करके तथा सम्यग्ज्ञान की महिमा प्रगट करके जिनधर्म को दिपाना, सो प्रभावना अंग है। (८)

इस प्रकार मुनिराज ने आठ अंगसहित सम्यग्दर्शन का स्वरुप समझाया।

पश्चात् वैश्रवण राजाने कहा-हे स्वामी! सम्यग्दर्शन के आठ अंग और उनकी महिमा सुनकर अति प्रसन्नता हुई; अब कृपा करके सम्यग्ज्ञान का और उसके आठ अंगों का स्वरुप समझाइये।

## सम्यग्ज्ञान और उसके आठ अंग

श्री मुनिराज बोले-जिनमार्ग में देव-गुरु-शास्त्र तथा उनके कहे हुए जीवादि नवतत्त्वों का स्वरुप जानकर, परभावों से भिन्न तथा अपने निजभावों से परिपूर्ण ऐसे, अपने ज्ञानमय शुद्धात्मा की अनुभूतिरुप ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन के साथ ही ऐसा सम्यग्ज्ञान नियम से होता है। सम्यग्ज्ञान अष्ट प्रकार की विनय से सुशोभित होता है:—

(१) शब्द की शुद्धि, (२) अर्थ की शुद्धि, (३) शब्द तथा अर्थ दोनों की शुद्धि, (४) योग्य

काल में अध्ययन, (५) उपधान अर्थात् किसी नियम-तपसहित अध्ययन, (६) शास्त्र के विनयपूर्वक अध्ययन, (७) गुरुके प्रति उपकारबुद्धि प्रगट करना, ज्ञानदाता गुरु के नाम आदि नहीं छिपाना, सो अनिह्नव, और (८) स्तुति-पूजा, रथयात्रा आदि उत्सव तथा शास्त्रप्रचार द्वारा देवगुरु-आगमका और जिनधर्म की कीर्ति प्रगट करना।

इस प्रकार अष्ट अंगसहित विनय-आचार द्वारा सम्यग्ज्ञान शोभायमान होता है। सम्यग्ज्ञान अमृतसमान है, वही मोक्षमार्गी जीव की आँख है; सम्यग्ज्ञान चक्षु द्वारा सारा जगत दृष्टिगोचर होता है और वस्तुस्वरुप की प्रतीतिपूर्वक मोक्षमार्ग सधता है। उसकी नित्य आराधना करो।

राजाने प्रसन्नतापूर्वक कहा-हे प्रभो! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिसका पालन आप जैसे वीतराग मुनिवर करते हैं ऐसे सम्यग्चारित्र का स्वरुप कृपा करके कहिये।

## सम्यक्‌चारित्र का स्वरुप; उसके तेरह प्रकार

चारित्रधारी मुनिराजने सम्यक्‌चारित्र का स्वरुप बतलाते हुए कहा-हे राजन्! सुनो! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोग द्वारा आत्मस्वरुप में लीन होना-विचरना सो चारित्र है। उस चारित्र में राग नहीं है। मुनियों को ऐसे शुद्धभावरुप चारित्र के साथ हिंसादि समस्त पापों का अभाव तथा अहिंसादि महाव्रतों का पालन होता है; इसलिये व्यवहार से चारित्र के तेरह प्रकार हैं:—

अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (यह पाँच महाव्रत); मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति (यह तीन गुप्ति); ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण तथा प्रतिष्ठापन (वह पाँच समिति)।

सर्वसंगपरित्यागी निर्ग्रन्थ मुनिवरों को रत्नत्रय की शुद्धपरिणति सहित ऐसे तेरह प्रकार के चारित्र का पालन होता है। यह सम्यक् चारित्र साक्षात् मोक्ष सुख देनेवाला है; उसकी महिमा अपार है।

हे भव्य! इस प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरुप बतलाया; उन तीनों को तुम रागरहित जानो। "सरघो जानो भावा लाई, तीनों में ही रागा नाहीं!"

हे मुमुक्षु जीवो! रत्नत्रय की अचिंत्य महिमा जानकर उससे आत्मा को अलंकृत करो। सम्यग्दर्शन रुपी हार को गले से लगाओ, सम्यग्ज्ञान के कुण्डल कानों में पहिनो, और सम्यक्‌चारित्ररूपी मुकुट को मस्तक पर धारण करो। सिद्धान्त का सर्वस्व यह रत्नत्रय है; यही जीव का सच्चा जीवन है; उसमें निश्चय रत्नत्रय शुद्धआत्मा के आश्रित होने से परम उत्तम है; ध्यानमार्ग द्वारा उसकी प्राप्ति होती है और वह मोक्ष का साक्षात् कारण है; इसलिये मुमुक्षु जीवों को अवश्य ही प्रयत्नपूर्वक उसका आराधन करना चाहिये।

## रत्नत्रय व्रतका विधान

रत्नत्रय की सुन्दर महिमा सुनकर भावी तीर्थंकर ऐसे उन वैश्रवण राजा ने कहा-हे स्वामी! मेरी भावना ऐसे रत्नत्रय धारण करनेकी है, परन्तु इस समय मैं असमर्थ हूँ। इस समय तो सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान की आराधना पूर्वक चारित्र की भावना भाता हूँ। हे प्रभो! उस रत्नत्रय के प्रति परम भक्ति एवं बहुमानपूर्वक ठाटबाट से उसकी महापूजा करने की मेरी भावना है, इसलिये उस रत्नत्रय व्रत का निधान मुझे समझाइये। उसके द्वारा मैं रत्नत्रय की भक्ति करूँगा और भविष्य में उसकी साक्षात् आराधना करके चारित्रपद अंगीकार करूँगा।

श्री मुनिराज ने कहा-हे राजा! आप भव्य हो, आपकी भावना उत्तम है, आगामी मनुष्यभव में

आप भरतक्षेत्र के तीर्थंकर होनेवाले हो। रत्नत्रय के प्रति आपकी भक्ति प्रशंसनीय है। उस रत्नत्रय का व्रत-विधान मैं संक्षेप में कहता हूँ-सो सुनो :—

भाद्रपद मासके शुक्लपक्ष में त्रयोदशी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा-यह तीन दिन रत्नत्रय-विधानके उत्तम दिवस हैं। रत्नत्रय व्रत का उपासक जीव श्रद्धा-भक्तिपूर्वक एक दिन पूर्व जिनमन्दिर में जाकर पूजन करे, श्रीगुरु के निकट जाकर आत्महितकारी शास्त्र श्रवण करे, मुनिराज का सुयोग प्राप्त हो जाय तो उन्हें तथा अन्य साधर्मी जनों को आदरसहित आहारदानादि करे और रत्नत्रय व्रत का संकल्प करके अत्यन्त आनन्दोल्लासपूर्वक उसका प्रारम्भ करे।

पश्चात् त्रयोदशी-चतुर्दशी-पूर्णिमा तीनों दिन उपवास (अथवा शक्ति अनुसार एकाशनादि) करे; आरम्भकार्य छोड़कर गृहवाससे विरक्त रहे, सत्संग तथा धर्मध्यान में विशेषरुप से रहकर रत्नत्रय के स्वरुप का चिन्तवन करे, उसकी प्राप्ति कैसे हो उसका उपाय विचारकर अंतर में उसके किये विशेष प्रयत्न करे। प्रतिदिन जिनमन्दिर में जाकर साधर्मीजनों के साथ जिनेन्द्र देव की पूजा करे तथा रत्नत्रय धर्म की स्थापना (मांडना) करके महान उल्लासपूर्वक उसकी पूजा करे। (जाप आदि विशेष विधिका योग बने तो वह विधि भी करना चाहिये। सुविधानुसार माघ एवं चैत्र मास के इन तीन दिनों में भी रत्नत्रय उपासना की विधि करते हैं।)

व्रत-उपासना के दिनों में उत्तम-पवित्र जीवन जीना चाहिये। प्रतिदिन प्रात:काल वीतरागताके अभ्यासरुप (अर्थात् शुद्धोपयोग के प्रयोगरुप) सामायिक करना; दिनमें तथा रात्रि में प्रमाद छोड़कर आत्मसन्मुख भावोंका अभ्यास करना; रत्नत्रयवन्त मुनियों के जीवन का चिन्तवन करके उसकी भावना करना; रत्नत्रयवन्त जीवों के प्रति आदरभाव से आत्माको रत्नत्रय के प्रति उत्साहित करना।

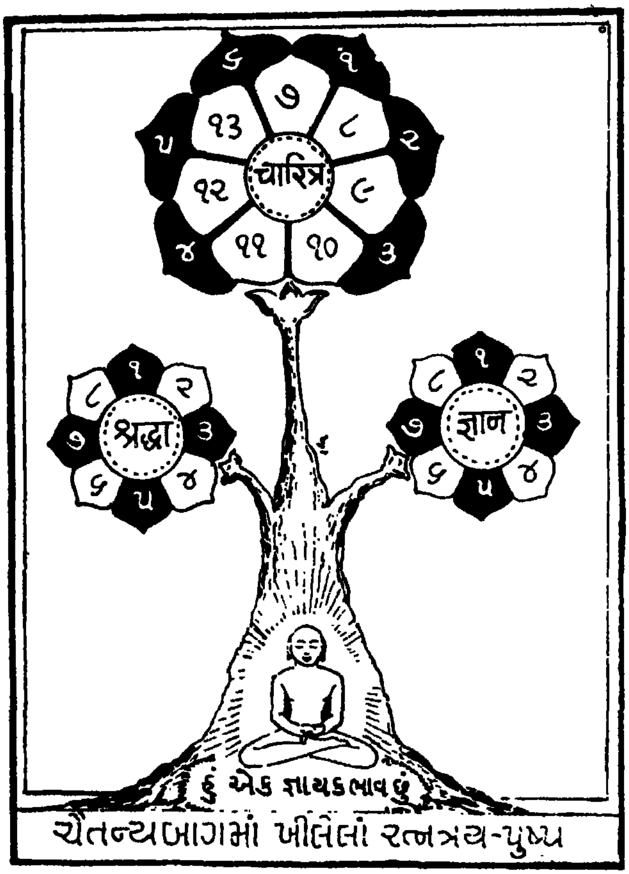
इस प्रकार शुद्धरत्नत्रय के प्रति तीव्र भक्ति एवं प्रेम के गद्‌गदभाव से अत्यन्त उल्लासपूर्वक तीन दिन तक पूजनादि करके, चौथे दिन उसकी पूर्णता के निमित्त से महान उत्साहपूर्वक जिनेन्द्र देवका अभिषेक करना। पूजन, शास्त्र-श्रवण, धर्मात्माओंका सन्मान, आहारदानादि करके फिर प्रसन्नचित्त से स्वयं पारणा करना, और इस अवसर पर दानादि द्वारा धर्मप्रभावना करना।

इस प्रकार तीन वर्ष तक (अथवा भावनानुसार पाँच या तेरह वर्ष तक) रत्नत्रयव्रत करके पश्चात् देव-गुरु-धर्म के महान उत्सव-भक्तिपूर्वक उसका उद्यापन करना। तन-मन-धन से-शास्त्रसे अनेक प्रकार उल्लासपूर्वक रत्नत्रयधर्म का उद्योत हो तथा सर्वत्र उसकी महिमा फैले इस प्रकार प्रभावना करना। जिनमन्दिर में तीन छत्र, तीन कलश, तीन शास्त्रादि अनेक प्रकारकी तीन-तीन वस्तुओं का दान करना; प्रीतिभोज आदि के द्वारा साधर्मियों का सन्मान करना। हे राजन्! इस प्रकार रत्नत्रय व्रत का विधान जानो।

श्री मुनिराज के मुख से रत्नत्रय व्रत का विधान सुनकर वैश्रवण राजाने अत्यन्त हर्षपूर्वक वह व्रत धारण किया और महान उत्सव सहित उसका उद्यापन करके जैनधर्म की प्रभावना की।

इस प्रकार धर्म का आचरण करते-करते एक दिन राजा वैश्रवण वनविहार करने गये। प्रात:काल जाते समय मार्ग में एक सुन्दर विशाल वटवृक्ष देखकर उन्हें विचार आया कि-वाह, यह कितना विशाल वटवृक्ष है! मेरा राज्य भी इस वटवृक्ष जैसा विशाल एवं सुन्दर है! परन्तु सायंकाल वनविहार करके लौटते समय उन्होंने देखा तो वह सुन्दर वटवृक्ष बिजली गिरने से जलकर भस्मीभूत हो गया था!-ऐसी क्षणभंगुरता देखकर राजा का चित्त एकदम संसार से विरक्त हो गया-अरे, मेरा यह राज्य और शरीर-भोग भी इस वटवृक्ष की भाँति क्षणभंगुर हैं-ऐसा विचारकर उत्तम बारह वैराग्य भावना पूर्वक, संसारभोगों से

## रत्नत्रय-पुष्पों से शोभायमान धर्मवृक्ष




सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह मोक्षसुख का उपाय है। वे रत्नत्रय रागरहित है; इसलिये हे मोक्षार्थी जीवों! उस रागसे भिन्न चेतना द्वारा रत्नत्रय की उपासना करो, और तीर्थंकर भगवन्तों की भाँति मोक्षसुख का अनुभव करो।

उदास होकर तथा शरीर का भी ममत्व छोड़कर, श्रीनाग नामक मुनिराज के पास जाकर उन्हें जिनेश्वरी दीक्षा अंगीकार की, और आत्मध्यान में शुद्धोपयोग द्वारा सम्यक्‌रत्नत्रय दशा प्रगट की।

रत्नत्रयधारी उन वैश्रवण मुनिराज ने दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर नामकर्म बाँधा; बारह अंग के ज्ञान द्वारा वे श्रुतकेवली हुए; पश्चात् चार आराधना सहित समाधिमरण किया।

## भगवान मल्लिनाथ : अपराजित विमान में

भावी तीर्थंकर ऐसे वैश्रवण मुनिराज समाधिमरण करके अपराजित विमान में अहमिन्द्रदेव हुए। वहाँ रत्नमयी शय्या में उपन्न होने पर कुछ ही समय पश्चात् वे देव अति उत्तम वस्त्रालंकारों से सम्पूर्ण सुसज्जित यौवनावस्था को प्राप्त हुए। उस स्वर्गलोककी अद्‌भुत-आश्चर्यजनक ऋद्धियाँ देखकर क्षणभर तो वे स्तब्ध रह गये कि-अरे, यह सब क्या है!! उसी समय उनको अवधिज्ञान प्रगट हुआ और उन्होंने जान लिया कि-"पूर्वभव में मैंने जैनधर्म के रत्नत्रय का उत्तम प्रकार से पालन किया था, तथा उत्तम तप किया था, उसीके पुण्यबंध का यह फल है।" अहो, धर्म की महिमा का क्या कहना!! आत्माकी अनुभूति में जो कल्पनातीत आनन्द है उसकी तुलना इस स्वर्गलोक की विभूति से नहीं हो सकती। चैतन्य विभूति की महिमा का चिन्तवन करते ही उनका स्वर्गलोक की विभूति सम्बन्धी विस्मय शांत हो गया। सर्व प्रथम वे उस देवविमान के शाश्वत जिनमन्दिर में गये और भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र-पूजा की। उस स्वर्गलोक में समस्त देव सम्यग्दृष्टि थे और अधिकांश तो एकावतारी थे। समस्त आत्मानुभवी धर्मात्माओं का जीवन विषय-वासनारहित, संसार से विरक्त तथा-अन्यत्र उपशांत था। वे स्वानुभवपूर्वक जानते थे कि सच्चा सुख आत्मा स्वयं ही है; जिस प्रकार ज्ञान वह आत्मा ही है, आत्मा से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सुख भी आत्मा ही है, आत्मा से भिन्न अन्यत्र कहीं सुख नहीं है। ऐसा जानने के कारण वे महात्मा स्वर्ग लोक की दिव्यविभूति के बीच असंख्य वर्ष तक रहनेपर भी उसमें मूर्च्छित नहीं हुए थे, अपनी चेतना को उससे अलिप्त रख सके थे...परसे विभक्त एवं आत्मा से एकत्वरुप परिणमन द्वारा उनकी मोक्षसाधना चल ही रही थी। अपराजित विमान में दूसरे अहमिन्द्रों के साथ वे कैसी सुन्दर धार्मिक एवं आध्यात्मिक चर्चा करते थे उसका थोड़ा रसास्वादन जिज्ञासु पाठकों को कराता हूँ।

## [अपराजित विमान में अहमिन्द्रो की अद्‌भुत चर्चा]

एक बार तीर्थंकर भगवान के केवलज्ञान-कल्याणक का प्रसंग बना। अहमिन्द्रों को भी खबर पड़ी कि मनुष्य लोक में किन्हीं तीर्थंकर को केवलज्ञान हुआ है; उन्होंने वहाँ बैठे-बैठे अवधिज्ञान द्वारा वह दृश्य प्रत्यक्ष देखा। यद्यपि स्वर्गलोकके जीवन में उन्होंने तीर्थंकरों के कल्याणक असंख्य बार देखे थे, परन्तु जब भी देखते तब उनके अंतर में उस परमात्मपद की अचिन्त्य महिमा की उर्मियाँ जागृत होती थीं। तीर्थंकर के केवलज्ञान का प्रसंग बनते ही अहमिन्द्र मिलकर आनन्दसहित चर्चा करने लगे:—

एक अहमिन्द्र बोले : अहा, इस समय मनुष्यलोक में किन्हीं तीर्थंकर को केवलज्ञान हुआ हैं; वे परमात्मा हो गये। यद्यपि मनुष्यलोक में प्रत्येक छह महीने में ६०८ जीव केवलज्ञान प्राप्त करते हैं...

दूसरे : वाह, केवलज्ञान की महिमा अद्‌भुत-अचिन्त्य है; उस पदमें चैतन्य के सर्व निधान खुल जाते हैं!

तीसरे : अहा, अब हमें यहाँ से मनुष्यलोक में जाकर ऐसे केवलज्ञान की साधना करना है, केवलज्ञान अब अपने लिये दूर नहीं है; दिन-प्रतिदिन निकट ही आता जा रहा है।

चौथे : वास्तव में केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट मांगलिक है।

पाँचवें : और हम सबका आत्मा भी उस केवलज्ञान के साथ सम्बन्धित है, इसलिये हम सब भी मंगलरूप है।

छठवें : आपकी बात सच है! वास्तव में आत्मा का चेतन-स्वभाव त्रिकाल मंगलरुप है, वही केवलज्ञानरुप परिणमता है

सातवे : अहा यह एक अदभूत बात है आत्मा त्रिकाल मंगल और उसे स्वीकार करनेवाला सम्यक्तवादिभाव भी मंगल ; इस प्रकार आत्मा द्रव्य-पर्याय दोनों से मंगल रुप है।

आठवे : अहा, आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर उसमें तन्मयरुप से परिणमित जो भी भाव हैं वे सब मंगलरूप हैं।

नौवें : ऐसे भावरूप परिणमित आत्मा सर्वत्र सुन्दर है। यहाँ सम्यक्त्वरुप हुए हम अहमिन्द्र अथवा सातवें नरक में सम्यक्त्वरूप परिणमित जीव,-वे सब मंगल हैं, श्रेष्ठ हैं।

दसवें : ठीक है, स्वभाव में एकत्वरुप तथा विभावों से विभक्तरूप ऐसे एकत्व-विभक्तरूप हुए आत्मा जगत में सर्वत्र शोभायमान होते हैं। [अहमिन्द्रों में होनेवाली यह अद्भुत तत्त्वचर्चा हम पढ़ रहे हैं। सर्व अहमिन्द्र श्रुतज्ञान में पारंगत हैं, स्वानुभव में कुशल हैं तथा वैराग्यरस में निमग्न हैं, इसलिये उनकी चर्चा भी त्रुटिरहित और शांतरस से भरपूर है। सभी समान विचारवाले हैं और एक-दूसरे के ज्ञान-वैराग्य की पुष्टि करनेवाले हैं। चर्चा करनेवाले उन अहमिन्दों में से अनेक जीव तो वहाँ से सीधे तीर्थंकर रूप से अवतरित होनेवाले हैं; जिनमें अपने चरित्रनायक मल्लिनाथ भगवान भी हैं। वे सब जो आनन्दकारी चर्चा असंख्यात वर्षों तक करते हैं-यह उसके एक अंश का आस्वादन है:-]

ग्यारहवें : अपना जीवन इस स्वर्गलोक में यद्यपि सम्यक्त्वादि के कारण मंगलरूप है, परन्तु केवलज्ञानरूप पूर्ण मंगल हमें यहाँ प्राप्त नहीं होता।

बारहवें : हम इस एक देव पर्याय में असंख्यात तीर्थंकरों के पंचकल्याणक अवधिज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं, और उनमें भी दीक्षा कल्याणक तथा केवलज्ञान देखकर हम जिनदीक्षा और केवलज्ञान की भावना भी भाते हैं; परन्तु हम संयम धारण नहीं कर पाते।

तेरहवें : तथापि जिसमें से केवलज्ञान प्रगट होना है ऐसे चैतन्यस्वभाव की अगाध-गम्भीर महिमा हम स्वानुभव से साक्षात् जानते हैं- अहा, उस गहरे-गहरे आत्म स्वभाव में कैसी अद्भुतता है!!

चौदहवें : वाह! उस स्वभाव की साधना तो हम कर ही रहे हैं; हमारा आत्मा चारित्र तथा केवलज्ञान के सन्मुख ही जा रहा है। हम सब पूर्वभव में मुनि थे और चारित्रदशा का रसास्वादन हमने किया है।

पन्द्रहवें : हाँ, और अब आगामी भवमें भी चारित्रदशा प्रगट करके मुनि होंगे तथा केवलज्ञान प्राप्त करेंगे

सोलहवें : अरे, रत्नत्रय की वीतरागी दशा जैसा सुख तो इस अहमिन्द्रपद में भी नहीं है। आत्मसाधना अपूर्ण रही और रागभाव शेष रह गया, इसलिये यह अवतार हुआ है।

सत्रहवें : यहाँ असंख्य वर्षों तक हम सब इस धर्मात्माओं के मेले में अहमिन्द्ररुप से साथ रहे; सचमुच धर्मात्माओं को देखकर हृदय में प्रेम एवं प्रसन्नता उमड़ते हैं!

अठारहवें : सच है, और यहाँ तो अपने साथी अहमिन्द्रों में से कुछ तो तीर्थंकर होनेवाले हैं। देखो, यह जो पास बैठे हैं यह पूर्वभव में वैश्रवण मुनि थे और कुछ ही वर्षों पश्चात् भरतक्षेत्र में मल्लिनाथ तीर्थंकर होंगे। (सर्व अहमिन्द्रोंने प्रसन्नतापूर्वक उन भावी तीर्थंकर की ओर देखा।)

तब वे उन्नीसवें अहमिन्द्र बोले : अहा, रत्नत्रय के साधक हम सब संसार समुद्र के किनारे पहुँच गये हैं। अपने आत्मा के रत्नत्रय ही हमारे तारणहार हैं...भले उनके साथ तीर्थंकरत्व हो या न हो; तीर्थंकरत्व तो कर्म के उदय का कार्य है; रत्नत्रय तो अपना आत्मिकभाव है, उसमें हम सब समान हैं।

बीसवें : यथार्थ है प्रभो! (सर्व अहमिन्द्र परस्पर प्रभु कहकर सन्मानपूर्वक सम्बोधन करते हैं-प्रभो!) तीर्थंकरत्व यद्यपि कर्मोदयजनित है, तथापि वह उदय नियम से केवलज्ञान के साथ ही होता है। इस प्रकार महामंगल रुप केवलज्ञान-परमात्मपद का सहकारी होने से वह तीर्थंकरत्व भी मंगल है, तथा जगत के जीवों को भी वे सम्यक्त्वादि मंगल का कारण होते हैं। वास्तव में तीर्थंकर अपने परमात्मपद को साधकर जगत को भी परमात्मपद का उपाय बतलाते हैं।

भरतक्षेत्र में एक हजार करोड़ (१,०००,००००००००) वर्ष तक कोई तीर्थंकर नहीं हैं, अब वहाँ १९ वें तीर्थंकर का अवतार होने की तैयारी है। अपने यह १९ वें अहमिन्द्र छह महिने पश्चात् यहाँ से भरतक्षेत्र में १९ वें तीर्थंकर के रुप में अवतरित होंगे और यह जो दूसरे अहमिन्द्र विराजते हैं वे भी भरतक्षेत्र में २१ वें नमिनाथ तीर्थंकर होंगे। इस चर्चा से अहमिन्द्रों में पुनः प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

-इस प्रकार लाखों-करोड़ों अहमिन्द्र-धर्मात्मा चर्चा में भाग लेते और सबके अंतर में से केवलज्ञान की परम महिमा प्रगट होती थी। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव की महिमा का मंथन करते-करते अनेक अहमिन्द्र तो पुनः पुनः निर्विकल्प स्वानुभूति कर लेते थे। यद्यपि उनके गुणस्थान-परिवर्तन नहीं होता था, तथापि स्वानुभूतिकी विशुद्धि वृद्धिगत होती थी।

इस प्रकार परम चैतन्य महिमा से भरपूर धर्मचर्चा करते-करते वर्षों के वर्ष कहाँ बीत जाते-उसकी खबर नहीं पड़ती थी। क्षेत्र से तथा भावसे मोक्षनगरी के निकट ही स्थित वे मोक्षसाधक महात्मा लगभग सिद्धसमान सुखी जीवन जीते थे; इसलिये असंख्य असंख्य वर्षतक वहाँ रहने में उन्हें अरुचि, थकान, या बेचैनी नहीं होती थी।

वे अहमिन्द्र जानते थे कि इस स्वर्गलोक में सम्यक्त्वसहित तथा धर्म भावना पूर्वक असंख्य वर्ष रहने पर भी चारित्ररुप मुनिदशा के बिना यहाँसे मोक्ष की साधना नहीं हो सकेगी; मोक्ष की साधना तो मनुष्य लोक में ही होगी;-इसलिये चारित्रपूर्वक मोक्ष साधना की भावनासे वे महात्मा स्वर्ग लोक से विमुख और मनुष्य लोक के सन्मुख रहने लगे।

अभी उनको मनुष्य लोक में आने में छहमास शेष थे, परन्तु तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से मनुष्य लोक में कैसे-कैसे आश्चर्य एवं चमत्कार होने लगे! वह देखने के लिये हम मिथिलापुरी चलेंगे।

[यहाँ भगवान मल्लिनाथ के पूर्वभवका वर्णन पूरा हुआ।]

## भगवान मल्लिनाथ : पंचकल्याण

**नमुं हु मल्लिनाथने ब्रह्मचारी भगवान;**
**विनवुं प्रभुजी आपजो...रत्नत्रय गुणवान।**

भरतक्षेत्र में तीर्थंकरों की विहारभूमि के रूपमें प्रसिद्ध ऐसे बिहार देश के निकट बंगभूमि है; उसके मध्यभाग में अत्यन्त शोभायमान मिथिलानगरी थी; जैनधर्म के परम उपासक महाराजा 'कुंभ' वहाँ राज्य करते थे; वे वास्तव में सम्यक्त्वादि गुणों से भरपूर कुंभ थे; उनकी पटरानी का नाम 'प्रजावती' था। धार्मिक समृद्धि से सुशोभित उस मिथिलानगरी में एक बार महान पुण्योदय होने से अचानक चमत्कार हुआ...राजभवन के प्रांगण में बहुमूल्य करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी; उन रत्नों का दिव्य प्रकाश मिथ्यात्व-अंधकार के नाश की सूचना दे रहा था। उसी समय आकाश मार्ग से कुछ देवांगनाएँ मिथिलापुरी में आयीं और महारानी प्रजावती की स्तुति करके कहने लगीं-हे माता! छहमास पश्चात् अपराजित स्वर्गलोक से १९ वें तीर्थंकर का जीव आपकी कुक्षि में अवतरित होनेवाला है; उसके महान पुण्यातिशय से आकर्षित होकर हम आपकी सेवा करने आये हैं! जगत की माताओं में आप सर्वश्रेष्ठ एवं भाग्यवान हैं कि तीर्थंकर समान त्रिलोकपूज्य पुत्रको जन्म देंगी!

यह शुभ समाचार सुनकर तथा नये-नये दृश्य देखकर महारानी प्रजावती की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। सारी मिथिलानगरी में भी चारों और आनन्द छा गया। भगवान ऋषभदेव-अवतार के समय अयोध्या नगरी जैसी शोभायमान हो उठी थी वैसी ही मिथिलानगरी भगवान मल्लिनाथ-अवतार के समय सुशोभित हो उठी। अहा, स्वर्गके देव स्वयं जिसका श्रृंगार कर रहे हों, और जिस नगरी में स्वयं तीर्थंकर अनेक वर्ष तक निवास करने वाले हों उसके गौरव और शोभा का क्या कहना!!

महाराजा कुम्भ और महारानी प्रजावती के जीवन में भी विशिष्ट परिवर्तन होने लगा; उनके विचार महान होने लगे, परिणामों मे विशुद्धता आने लगी। महादेवी प्रजावतीने चैत्र शुक्ला प्रतिपदा के दिन तीर्थंकर के जन्मसूचक दैवी ऐरावत हाथी आदि अतिमंगलमय सोलह स्वप्न देखे...और ठीक उसी समय अपने चरित्रनायक भगवान मल्लिनाथ के जीवने अपराजित विमान से चयकर महारानी के गर्भ में प्रवेश किया। जगत के लिये वह एक महामांगलिय क्षण था। इन्द्रादि देव मिथिलापुरी में आये और माता-पिता का सन्मान करके अपना हर्ष व्यक्त किया।



उदरमें विद्यमान तीर्थंकर के प्रताप से महारानी प्रजावती को धर्मके उत्तम मनोरथ जागृत होने लगे...देवकुमारियाँ उनका मनोरंजन करती थीं और माताजी भी विभिन्न प्रकार की आश्चर्यजनक बातों से उन देवियों को मुग्ध करती थीं। माताजी की बातें सुनकर ऐसा लगता था मानों उनके उदर में विद्यमान तीर्थंकर ही बोल रहे हों! जिससे वे देवकुमारियाँ भी अति आनन्दित होती थीं।

एक बार एक देवीने माताजी से

पूछा-हे माता! इस संसार में स्त्रीपर्याय निंद्य मानी जाती है, तथापि उन स्त्रियों में महान सौभाग्यशाली कौन होता है?

माताजीने उत्तर दिया-तीर्थंकर की जननी परम सौभाग्यशाली है; तथा स्त्री पर्याय में भी जो सम्यग्दर्शनादि प्रगट करे, उसका अवतार धन्य है!...और तुम देवियाँ भी परम भाग्यशाली हो कि तीर्थंकर के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करने का परम सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है।-यह सर्व स्त्रियाँ निकट मोक्षगामी हैं; तथा वह इन्द्रानी भी महाभाग्यशाली है कि तीर्थंकर का जन्म होते ही उन्हें सर्व प्रथम गोदमें लेने का सुअवसर उसे प्राप्त होता है और वह भी एक भवावतारी होती है। अहा, तीर्थंकर होनेवाले आत्मा की महिमा कोई अचिन्त्य है!...

- एक देवी ने पूछा-हे माता! मुमुक्षु जीवों को पीने योग्य अमृत कौन सा है?——माताजी मुस्कराते हुए बोली 'मेरे पुत्रकी वाणी।'
- हे माता सर्वश्रेष्ठ कार्य कौनसा है?....'आत्मा की अनुभूति'।'
- जगत में मूर्ख कौन है?....जो तीर्थंकर के मार्ग में न चले वह!
- जगत में सचमुच कौन बुद्धिमान है?....तीर्थंकर का मार्ग प्राप्त करके जो आत्महित साधे वह।
- हे माता! जगत में कौन सच्चा वैभव सम्पन्न है?....जिसके पास रत्नत्रयरुपी धन है वह सच्चा वैभवसम्पन्न है?
- जगत में निर्धन-भिखारी कौन है?....जो धर्मको भूलकर विषयों में आसक्त है वह।
- जगत में महान पुण्य कौनसा है?....तीर्थंकर परमात्मा के साक्षात् दर्शन हों वह।
- हे माता! इन्द्र भी किसका सेवक हैं?

——'मेरे पुत्रका।' (तीर्थंकर जिनदेव का इन्द्र सेवक है।)

——ऐसे अनेक प्रकार से वे तीर्थंकर की महिमा कर-करके अपनी धर्मभावना को पुष्ट करती थीं। एक आश्चर्य की बात यह थी कि गर्भस्थ शिशु की वृद्धि हो रही थी किन्तु माता का उदर नहीं बढ़ता था। माता-पुत्र दोनों के दिन सुखमय व्यतीत हो रहे ते।

मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी का दिन है; स्वर्गलोक में इन्द्रसभा हो रही हैं; अनेक प्रकार से संगीत-नृत्य द्वारा तथा जिनशासन की महिमा की चर्चा से सर्वत्र आनन्द छा रहा है; इतने में अचानक समस्त स्वर्गलोक दिव्य घण्टारव से झनझना उठा, इन्द्रासन भी डोलने लगा। सब आश्चर्य में पड़ गये कि-अरे, यह क्या! इन्द्रने आश्चर्यचकित होकर अवधिज्ञान का प्रयोग करके जान लिया-'अहा! भरतक्षेत्रकी मिथिलापुरी' में तीर्थंकर का अवतार हुआ है...आनन्द...महाआनन्द! चलो देवो, प्रभुका जन्म-महोत्सव मनाने मिथिलापुरी में चलें।

माता प्रजावतीने तीर्थंकर पुत्र को जन्म दिया। सारी नगरी दिव्य प्रकाश से जगमगा उठी। नगरजनों का आनन्द का सागर उमड़ पड़ा!...आकाश में दैवी वाद्य बजने लगे...रत्नवृष्टि होने लगी...और देवों के विशाल समूह सहित इन्द्र-इन्द्रानी जयजयकार करते हुए मिथिलापुरी में उतरे। उस समय इतने देवों का दैवी ठाटबाट देखकर आश्चर्य होता था कि-अरे, यह मिथिलापुरी है या अमरापुरी!...एक देवने स्वयं

ऐरावत हाथी का रूप धारण किया था, उसकी शोभा अद्‌भुत-चमत्कारिक थी!

ऐरावत पर आकर इन्द्र महाराजने मिथिलापुरी नगरी की तीन प्रदक्षिणाएँ करके उसका सन्मान किया...फिर इन्द्रानी राजभवन में जाकर बालतीर्थंकर को गोदमें लेकर आ गई। अहा, देवी पर्यायमें इन्द्राणी को यद्यपि पुत्र नहीं होता, परन्तु तीर्थंकर समान पुत्रको अपनी गोदमें लेते हुए उसके आनन्दका पार नहीं रहा। तीर्थंकरके स्पर्श से उसका आत्मा किसी कल्पनातीत अनुपम सुख का वेदन कर रहा था!..और स्पर्श से भी परे आत्मा के अतीन्द्रिय स्वभाव की महिमा का चिन्तवन करके उस देवीने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। उन बालतीर्थंकरको ऐरावत पर विराजमान इन्द्र को सौंपते हुए इन्द्रानी बोली-अहा देव! आज मेरा जीवन धन्य हो गया...तीर्थंकर को गोदमें लेकर उनके सीधे स्पर्श से मैं मोक्षगामी हो गई! माताजी के निकट उनकी सेवा में रहनेवाली छप्पन कुमारी देवियों के आनन्द का तो आज पार नहीं था...उन्हें विचार आ रहा था कि-इन्द्रानी तो जन्मकल्याणक मना कर आज ही स्वर्ग में चली जायँगी, जबकि हम तो वर्षों तक बालतीर्थंकर के साथ रहेंगे और उन्हें प्रतिदिन गोद में लेकर खिलायँगे!

मेरु पर्वतपर ले जाकर इन्द्रने तीर्थंकर के जन्माभिषेकका अति भव्य महोत्सव किया। मेरु पर ध्यान करने वाले मुनिवर भी वह देखकर जिनेन्द्रमहिमा में लीन हो गये; विद्याधर भी आश्चर्यचकित एवं मुग्ध होकर तीर्थंकर-महिमा देख रहे थे। अरे, स्वयं इन्द्र-इन्द्रानी भी जिन्हें देखकर आनन्द से नाच उठें-उन तीर्थंकर की महिमा का क्या कहना! और अभी जब बाल-तीर्थंकर (द्रव्य-तीर्थंकर) की इतनी महिमा है तो केवलज्ञान को प्राप्त साक्षात् भाव-तीर्थंकर की महिमा का तो कहना ही क्या!! जन्माभिषेक में एक विशेषता थी-सामान्यत: तो स्नान किया हुआ मनुष्य शरीर से स्पर्शित जल अपवित्र हो जाता है जबकि भगवान के दिव्य शरीर का स्पर्श करके वह जल तो ऐसा पवित्र एवं सुगन्धयुक्त हो गया था कि देवों ने भी उस गन्धोदक को मस्तक पर चढ़ाया। प्रभु का जन्माभिषेक करने के पश्चात् इन्द्र ने जगत को आश्चर्यचकित कर देनेवाला ताण्डवनृत्य किया, और इन्द्रानीने स्वर्ग से लाये हुए सर्वोत्तम वस्त्राभूषणों द्वारा भगवानका श्रृंगार किया, मंगलतिलक किया। भगवान के चरण में कुम्भ (कलश) का मंगल-चिह्न था, जो ऐसा सूचित करता था कि यह भगवान 'अमृत के कुम्भ' हैं, धर्मरुपी अमृत के घट उनके अंतर में भरे हैं। इन्द्रने 'मल्लिकुमार' सम्बोधनपूर्वक १००८ उत्तम गुणों के वर्णन द्वारा प्रभु की महान स्तुति की-अहो देव मल्लिनाथ! आप परम पुरुष हो, कामशत्रु को जीतने के लिये आप मल्ल हो; मोक्ष पुरुषार्थ के आप नायक हो। हे देव! आपकी स्तुति करके हम किसी सांसारिक विभूति की याचना नहीं करते, हम तो रागरहित परमात्म पद की अभिलाषा करते हैं; आप जैसी चैतन्यविभूति प्राप्त करने के लिये हम आपका सेवन करते हैं।

इस प्रकार विदेह क्षेत्र के मध्यस्थित मेरु पर्वत पर जाकर वहाँ सिद्धशिला के समान सुशोभित पाण्डुक शिला पर मल्लिकुमार प्रभुका जन्माभिषेक करने के पश्चात् वह प्रभु की शोभायात्रा सहित इन्द्रसेना भरतक्षेत्र में आयी और मिथिलापुरी के राजभवन में आनन्दमय नृत्य-नाटक द्वारा पुन: भव्य महोत्सव किया। पिता महाराजा कुम्भ एवं माता महादेवी प्रजावती का भी सन्मान किया। अहा उस समय राजभवन की शोभा अनुपम थी! जिसमें तीर्थंकर स्वयं निवास करते हों-उसकी महिमा का क्या कहना!-देखो न, मुमुक्षु के अंतर में परमात्मा विराजते हैं, इसलिये उसकी अद्‌भुत शोभा पर मुक्तिसुन्दरी भी मुग्ध हो जाती है! मिथिला के प्रजाजन आज अपने को स्वर्ग, के देवों से भी गौरवशाली मान रहे थे,-क्योंकि स्वर्गलोक का राजा इन्द्र उनकी नगरी में आकर नृत्य कर रहा था! ऐसी अपूर्व जिनमहिमा

देखकर अनेक जीव तो जैनधर्म की श्रद्धा से सम्यग्दृष्टि हो गये थे।

प्रभु के जन्मोत्सवके हर्षोपलक्ष में महाराजा कुम्भ की ओर से याचकों को इच्छानुसार दान दिया जा रहा था; परन्तु प्रजाजन इतने तृप्त थे कि 'किमिच्छक' दान लेनेवालों की भीड़ नहीं थी। प्रभुजन्मके हर्ष में अपराधी जनों को भी कारागृह से मुक्त कर दिया गया, और उन अपराधियों ने भी जिनेन्द्र महिमा जानकर अपने हृदय परिवर्तन द्वारा पाप प्रवृत्ति छोड़कर सदाचार युक्त धार्मिक जीवन अंगीकार किया। गली-गली में और घर-घर में ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं, मंगल बधाई के गीत गाये जा रहे थे और रंगबिरंगे रत्नों के चौक पूरे जा रहे थे। 'अहा, अपनी नगरी में भगवान का जन्म हुआ है'...यह एक ही बात स्त्री-पुरुष एवं बालवृद्धों की चर्चा का विषय थी। लोगों के झुंड के झुंड राजभवन के प्रांगण में जाते और बालप्रभु का दिव्य तेज देखकर हर्षविभोर होकर लौटते थे। 'अहा, हमने भगवान के साक्षात् दर्शन किये'-ऐसी तृप्ति का अनुभव करते और जीवन को धन्य मानते। यद्यपि अनेक लोग तो प्रभु के शरीर की ही दिव्यता देखकर मोहित होते थे; शरीर से भिन्न उनके सम्यक्त्वादि आत्मगुणों की सुन्दरता का अनुभव तो कोई भेदविज्ञानी ही करते थे; और जो आत्मिक सौन्दर्य के दर्शन करते वे अपने में भी सम्यक्त्वादि भावों द्वारा अपने आत्मा की शोभा का अनुभव करते थे। क्योंकि-

**चेतनमयी शुद्ध भावसे जो जानता अरहंत को;**
**सम्यक्त्व ले आनन्द से वह जानता निज आत्म को।**

१८ वें तीर्थंकर अरहनाथ के पश्चात् एक हजार करोड़ वर्ष बीतने पर १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ हुए; उनका बचपन अनोखा था। उनके साथ देव क्रीड़ा करने आते थे; कोई हाथी के बच्चे का रुप धारण करके नन्हें-से प्रभु को सूँढ़ पर बैठाकर झुलाते और पीठ पर सवारी कराते थे; कोई बन्दर का रुप बनाकर उन्हें हँसाते थे। देवियाँ प्रभुको झूला झुलातीं और ऊँचे-ऊँचे पेंग भरातीं...परन्तु बालप्रभु डरते नहीं थे। कभी-कभी तो देव रत्नमयी विमान में बैठाकर प्रभु को गगन-विहार कराते थे। उनकी बालक्रीड़ाएँ जीवहिंसारहित निर्दोष थीं। वे देव-देवियाँ मात्र प्रभुके साथ मनोविनोद ही नहीं करते थे, साथ ही आत्मा की नई-नई बातें पूछ कर प्रभुसे आत्मज्ञान भी प्राप्त कर लेते थे। मल्लिकुमार जब आनन्दपूर्वक शांतचेष्टासे आत्मा की महिमा कहते तब आठ-दस वर्षके कितने ही बालक तथा बालिकाएँ भी आत्मज्ञान प्राप्त कर लेती थीं। इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का उदय आने से पूर्व ही उन बालतीर्थंकर ने तीर्थंकरत्व का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। उनका आत्मा ही स्वयं तीर्थरुप था, -फिर जड़ प्रकृति की क्या आवश्कता? ज्ञानचेतना से भरपूर उनकी बाल चेष्टाएँ देखकर तथा अमृत जैसी मीठी वाणी सुनकर माता-पिता एवं प्रजाजन अति प्रसन्न होते और तृप्ति का अनुभव करते थे।

अब मल्लिकुमारने बचपन छोड़कर युवावस्था में प्रवेश किया। उनका शरीर वज्रसमान सुदृढ़, सर्वांगसुन्दर एवं उत्कृष्ट पुण्य रुप परमाणुओं से निर्मित था; उनकी आयु ५५००० वर्ष थी; उनके लिये इन्द्र स्वर्गलोक से उत्तमोत्तम भोगोपभोग की सामग्री भेजता था; ऐसे लोकोत्तर वैभव में भी राग-द्वेष से परे समभावका वेदन उनके चल ही रहा था। उनका जीवन व्रतसम्पन्न था-'सदन निवासी तदपि उदासी'...ऐसे वे प्रभु प्रतिदिन निर्विकल्प आत्मध्यान करते थे। अहा, निर्विकल्प रसका पान करनेवाले भगवान क्या संसार में थे?-या संसार से अलिप्त थे?-उनके अंतरके उस गुप्त रहस्य को ज्ञानीजन ही जानते थे।

युवराज मल्लिकुमार कभी-कभी राजसभा को भी सुशोभित करते और वहाँ न्याय-नीति एवं धर्म

की आश्चर्यजनक चर्चा करके सभाजनों को मुग्ध कर देते थे। अब तो, माता-पिता भी पुत्रवधू को देखने के लिये आतुर थे, परन्तु कुमार की उदासवृत्ति देखकर वे आग्रह नहीं कर सकते थे।

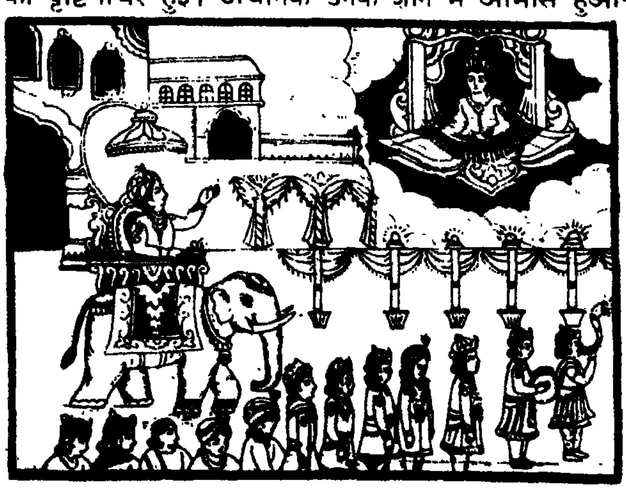
युवराज मल्लिकुमार अब १०० वर्ष के हो गये। अत्यन्त सुन्दर रूपवान होने पर भी वे मुक्तिसुन्दरी के सिवा किसी अन्य स्त्री के प्रति आकर्षित नहीं हुए थे; मोक्षमें ही उनका मन लगा हुआ था। एक बार राजा पृथ्वीपति की ओर से अपनी पुत्री रतिकुमारी के लिये उनकी मँगनी आयी। रतिकुमारी अति रुपवती एवं सर्वगुण-सम्पन्न होने से मल्लिकुमार के माता-पिता को वह कन्या पसन्द आ गई; तब मल्लिकुमार मौन रहे, किन्तु उनकी मन्द मुस्कान से माता-पिता उनकी संमति समझ गये और तुरन्त ही विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। मगसिर शुक्ला एकादशी उनका जन्मदिवस था, और विवाह का भी वही दिन निश्चित् हुआ। मिथिलापुरी में सर्वत्र आनन्द छा गया और शोभा-सजावट होने लगी; राजभवन को दैवी अलंकारों से सजाया गया था। इतना ही नहीं, मित्रदेवोंने 'अगम्य हेतु पूर्वक' मिथिलाके राजभवन के प्रांगण में एक नवीन अद्भुत दैवी रचना की थी-मानों देवों का 'अपराजित विमान' ही हो!

मल्लिकुमार ने पूछा-अरे, यह सब सजावट किसलिये की गई है? माताने हँसकर कहा- बेटा, यह सब तुम्हारे विवाह की तैयारी हो रही है! पुत्रवधू का मुख देखकर हमें कितना आनन्द होगा; तुम्हारी बारात में जाने के लिये राजा-महाराजा भी आ गये हैं।

मल्लिकुमार क्षणभर स्तब्ध होकर माता की ओर देखते रहे फिर बोले-माँ, मैं अपने आत्मा को संसार बंधन में नहीं बाँधना चाहता...मुझे तो मुक्तिसुन्दरी की चाह है, इसलिये संसार की किसी स्त्री का मोह मुझे नहीं है; मुझे बहुत आत्मसाधना करना है।

माताने कहा- बेटा, यह सब मैं जानती हूँ, परन्तु अभी तो तेरी उम्र ही कितनी है?- तू अभी छोटा है...अभी तो राजसुख भोगकर हमें आनन्दित कर...फिर आत्मसाधना करना।

मल्लिकुमार कुछ बोले बिना गहरे विचार में डूब गये। बारात का प्रस्थान हो रहा था...विशाल गजराज पर आरूढ़ अद्भुत अलंकारों से सुसज्जित दूल्हा मल्लिकुमार की बारातने विवाह हेतु प्रस्थान किया। जो भी मल्लिकुमार का वैभव देखता वह मुग्ध हो जाता था। बारात राजभवन के द्वार से बाहर निकल रही थी...तब नगरी की अद्भुत शोभा-सजावट, तथा अपराजित विमान जैसी रचना मल्लिकुमार को दृष्टिगोचर हुई। अचानक उनके ज्ञान में आभास हुआ-अरे, ऐसी अनुपम शोभा तो मैने पूर्वकाल में



भी देखी हैं, बस! उन्हें जातिस्मरण हुआ; अपराजित विमान की विभूति दृष्टिगोचर हुई- अरे उस स्वर्गलोक की विभूति के समक्ष इस शोभा का क्या मूल्य? मैं असंख्य वर्ष तक स्वर्गलोक की उस विभूति में रह चुका हूँ; जिसका ममत्व था उसका भी अंतमें तो वियोग ही हुआ! इस क्षणभंगुर शोभा के संयोग से आत्मा को क्या लेना-देना? आत्मा की शोभा तो रत्नत्रय के वीतराग भाव से ही है। (फिर उन्हें दूसरे भवका ज्ञान हुआ-) अहा, उस

भव में तो मैं वैश्रवण राजा था और मैंने रत्नत्रयव्रत किया था, पश्चात् जिनदीक्षा लेकर रत्नत्रय की आराधना की थी। वहाँ से अपराजित विमान में अहमिन्द्र होकर वहाँ के दैवी वैभवों का असंख्यात वर्ष तक उपभोग किया...तथापि आत्मा को तृप्ति तो नहीं हुइ। अब इन तुच्छ भोगों में आसक्त रहना मुझे शोभा नहीं देता।

प्रभु मल्लिकुमार का चित्त संसार से विरक्त हो गया; जन्म दिन, विवाह की तैयारी और वैराग्य-इन तीनों प्रसंगों का मानो संगम हुआ। बारात की साजसज्जा के बदले अचानक जिनदीक्षा का वातावरण निर्मित हो गया। वैरागी प्रभु चिंतवन करने लगे-अरे, यह सांसारिक भोगोपभोग जीव को बन्धनकर्ता हैं; जिन्हें मात्र मोक्षकी अभिलाषा है, ऐसे मुमुक्षु को इस संसार के बंधनो में बंधना योग्य नहीं है; संसार के बंधनोंमें स्त्री का बंधन मुख्य है; विवाह कार्य मुमुक्षु के लिये लज्जास्पद और मोक्षसाधना में विघ्नकर्ता है। मैं विवाह नहीं करूँगा; मैं तो आज ही राजभवन छोड़कर वनमें जाऊँगा और जिनदीक्षा लेकर परमात्म पद की साधना करूँगा।

इस प्रकार परमवैराग्यपूर्वक प्रभु मल्लिकुमार ने अपने जिनदीक्षा सम्बन्धी निर्णय की घोषणा की और वैराग्य चिंतनमें तत्पर हुए। माता-पिता एवं प्रजाजन तो यह सुनकर स्तब्ध रह गये; चारों ओर विषाद छा गया; क्या कहा जाय वह सूझता नहीं था...किसकी शक्ति थी जो वैरागी सिंह को संसार के पिंजरे में बन्दी बनने को कहे! बारात में सम्मिलित होने आये राजा-महाराजाओं ने विचार किया कि-अरे, इस संसार की बारात को तोड़कर प्रभु अब मोक्षकी बारात जोड़ रहे हैं, तो उसमें भी हम उनके साथ ही रहेंगे; भोग में साथ थे तो योग में भी उनके साथ रहेंगे और मोक्ष साधेंगे।-इस प्रकार प्रभु मल्लिराज के साथ ३०० राजा भी दीक्षा लेने को तैयार हुए। 'विवाह के समय वैराग्य' यह तीर्थंकर मल्लिनाथ के जीवन की एक महत्त्व पूर्ण आश्चर्य जनक घटना हुई, तब स्वर्गलोक में भी खलबली मच गई।

राजभवन में भी शोक छा गया। माता प्रजावती पुत्रविरह का यह दृश्य नहीं देख सकीं, वे एकदम शोकविह्वल होकर रुदन करने लगीं। पिताश्री कुम्भराजा भी क्षणभर शून्यमनस्क हो गये-'बेटा, तू जिनदीक्षा न ले'-ऐसा तो कैसे कहते? और 'बेटा तू दीक्षा ग्रहण कर ले'-ऐसा विदा-वचन भी कैसे निकलता? दोनों जानते थे कि वैरागीपुत्र अब दीक्षा लेकर ही रहेगा, उसे कोई रोक नहीं सकता; परन्तु पुत्रमोह के कारण ऐसे कल्याणक के अवसर पर भी उन्हें क्षणभर शोक होने लगा कि-अरे मोह! तू कैसा दुष्ट है! दृष्टि समक्ष रखे हुए भरपूर आनन्द को भी भोगने नहीं देता!!

प्रभु मल्लिकुमारने अति कोमल वैराग्य सम्बोधन द्वारा उनका मोह दूर कराते हुए कहा-हे माता! हे पिता! यह मोह छोड़ो! मैं तुम्हारा पुत्र बनकर रहूँ, उसके बदले में परमात्मा बनकर तुम्हें दर्शन दूँ...यह क्या आपको परम इष्ट नहीं है? इस समय मुझे पुत्ररुप में देखकर आपको जो आनन्द होता है, उसकी अपेक्षा मुझे परमात्मा रूप में देखकर विशेष आनन्द होगा।...और हे मातुश्री, हे पिताश्री! आपको भी अन्त में तो संसार मोह छोड़कर वैराग्य पथपर आना है; आप तो तत्त्व के ज्ञाता हो, इसलिये शोक संताप छोड़ो और जिस परमात्मापद की साधना हेतु मैं जा रहा हूँ उसका अनुमोदन करके आप भी उसकी भावना भाओ!

पिता बोले-देव! आपकी बात सत्य है; आप तीर्थंकर होने के लिये अवतरित हुए हो, आपको सांसारिक बन्धनों में नहीं बाँधा जा सकता। आप तो जगत को भी मोक्षमार्ग बतलाकर बंधनमुक्त करनेवाले हो। बेटा! अब हमारा मोह दूर हो गया; अब हम तुम्हें मात्र पुत्ररुप में नहीं किन्तु परमात्मा रूप में देख रहे हैं! आप जब केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर होंगे, तब हम भी आपके समवसरण में

आकर व्रत-महाव्रत अंगीकार करके आत्मा का कल्याण करेंगे! माताजी तो कुछ बोल नहीं सकीं, मौन रहकर प्रभुकी ओर देखती रह गई!

हे माताजी! मैं आत्मसाधना में आलस्य नहीं करूँगा, कुछ ही दिनों में केवलज्ञान प्रगट करके परमात्मस्वरूप में आपको दर्शन दूँगा ।-ऐसा कहकर वे वैरागीकुमार उन्हें नमन करके वीतराग मार्ग पर चल दिये। माता-पिता वैराग्यभावपूर्वक अश्रुभीगी आँखों से उन परमात्मा को देख रहे थे!

उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर प्रभुको नमस्कार किया और स्तुतिगान करने लगे-हे देव! आप कुमारावस्था में दीक्षा ले रहे हैं वह उत्तम कार्य है...इस चौवीसीमें कुमार अवस्था में दीक्षा ग्रहण करनेवाले पाँच तीर्थंकरों में आप दूसरे हैं। पहले वासुपूज्य तीर्थंकरने भी बालब्रह्मचारी रहकर दीक्षा ली थी, उनके पश्चात् आप विवाह के समय वैरागी होकर बालब्रह्मचारी रूपसे दीक्षा लेने को तत्पर हुए हो और भविष्य में अन्तिम तीनों तीर्थंकर भी बालब्रह्मचारी रहकर दीक्षा लेंगे।

**''श्री वासुपूज्य-मल्लि-नेम, पारस-वीर अति;**
**नमूँ मन-वच-तन धरि प्रेम, पाँचो बालयति।''**

हे देव! कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि तीर्थंकर को वैराग्य जागृत होने पर लौकांतिक देव आकर उन्हें सम्बोधते हैं और उनके वैराग्य को दृढ़ करते हैं; परन्तु हे देव! यह बात कल्पनामात्र है; हम आपको सम्बोधनेवाले कौन? आप स्वयंबुद्ध हैं परम वैरागी हैं और हम सबको बोध देनेवाले हैं। अखंड तेजसे स्वयं प्रकाशमान सूर्य को क्या दीपककी आवश्यकता होती है? हे नाथ! हम आपको सम्बोधने के लिये नहीं किन्तु मात्र भक्तिवश अपने वैराग्य की दृढ़ता हेतु आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। 'हे देव! आप जैसी रत्नत्रयविभूति हमें भी प्राप्त हो।'-ऐसी भावना करके वे देव अपने निवासस्थान को चले गये। प्रभुका चित्त अपने आत्मचिन्तन में लगा हुआ था, वे बारह प्रकार की वैराग्य-भावनाओं का चिन्तन कर रहे थे:—

(१) चेतनरुप अपने स्वधर्म ही सदा मेरे साथ,एकत्वरूप हैं; शेष सब संयोग 'अध्रुव' हैं; वे कोई मेरे साथ शाश्वत नहीं रहेंगे।

(२) कोई भी स्नेहीजन या धन-वैभव मुझे शान्ति देनेवाले या दुःख से बचानेवाले नहीं हैं; इसलिये वे सब मुझे 'अशरण' हैं; रत्नत्रय धर्मरूप मेरा आत्मा ही मुझे शरण है।

(३) आत्मस्वरूप को भूलकर, मिथ्यात्व एवं कषायवश जीवने संसार में भव धारण कर-करके अनंतबार अनंत महान दुःख भोगे हैं। उस संसार दुःख से छूटने के लिये वीतराग भाव ही कर्तव्य है।

(४) संसार में या मोक्ष में सर्वत्र जीव 'अकेला' है; संसार में पुण्य-पाप उसके साथी है और मोक्ष में जाने के लिये सम्यक्त्वादि उसके साथी हैं, अन्य कोई उसका साथी नहीं है।

(५) अरे, रागादि विभाव भी मेरे चिदान्द स्वभाव से 'अन्य' हैं तब शरीर और सगे सम्बधियोंकी बात ही कहाँ रही? वे सबसे मैं पृथक हूँ।

(६) इस जीव को शरीर की मलिनता की अपेक्षा विषय कषाय के मलिनभाव अधिक 'अशुचि' एवं दुःखकारी है; मैं अपने पवित्र ज्ञान स्वरुपमें मलिनभावों को प्रविष्ट नहीं होने दूँगा। [कौन भा रहा है यह वैराग्य भावनाएँ? प्रभु-मल्लिनाथ तीर्थंकर भा रहे हैं।

(७) अरे, मिथ्यात्वादि भावों की तो क्या बात! एक सूक्ष्म शुभरागरूप छिद्र भी जीवकी नौका को भवसमुद्रसे पार नहीं होने देता, तथा कर्मास्रव द्वारा भवभ्रमण कराता है; इसलिये वे रागादि 'आस्रव' भाव सर्वथा रोकने योग्य हैं।

(८) उन रागादि आस्रवभावोंको सर्वथा रोकने और जीव की नौका को भवसे पार करने के लिये, आत्माके शुद्ध भावरुप 'संवर' ही उत्तम साधन है।

(९) पूर्वकाल में बाँधे हुए दीर्घ स्थितिवाले कर्मोंको भी मैं आत्मशुद्धि की वृद्धि द्वारा शीघ्र तोडकर आत्मामें से उनकी 'निर्जरा' कर दूँगा।

(१०) आत्मस्वरूप में एकाग्र हुआ मेरा शुध्द उपयोग वह मोह या क्षोभ रहित है; वीतरागी समभावरूप है, वही मेरा 'धर्म' है। उसके द्वारा में अपने आत्माको संसार से निकालकर सिद्धपद में स्थापित करूँगा।

(११) अपने अनन्त गुण-पर्यायोंसे भरपूर मेरा चैतन्य 'लोक' मुझमें परिपूर्ण है; मैं उसीका अन्तर्मुख होकर अवलोकन करता हूँ; उससे बाहर अनेक विचित्रतासे भरपूर 'लोक' में कुछ भी मेरा नहीं है।

(१२) नरक, तिर्यंचगति के अति घोर दुःख तथा देव, मनुष्य की विभूतियाँ भी जीव अनन्तबार प्राप्त कर चुका है, वह कुछ भी दुर्लभ या अप्राप्त नहीं है, जीव को अपने स्वरूप की अनुभूतिरूप 'बोधि' ही महान दुर्लभ है, और वही जीवको परम सुखदायी है। यह उसकी प्राप्ति का अवसर है; इसलिये अखण्ड बोधि की आराधना ही कर्तव्य है; उसमें आलस्य करना योग्य नहीं है। मुमुक्षु बुद्धिमान जीवों को कालका एक कण भी धर्मके बिना नहीं बिताना चाहिये।



इस प्रकार उत्तम वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन करते हुए मल्लिकुमार ने जिनदीक्षा हेतु वनगमन का निश्चय किया और उसी समय इन्द्रादि देव भी दीक्षा कल्याणक मनाने हेतु 'जयंती' नामक सुन्दर शिबिका लेकर मिथिलापुरी आ पहुँचे। प्रभु शिबिका में आरूढ़ हुए।

## मल्लिनाथ की बारात चली मुक्तिसुंदरी वरने...

अपने राजकुमार को युवावस्था में राजपाट छोड़कर वनगमन करता देखकर प्रजाजन वैराग्य से गद्गद होकर उनका अभिनन्दन कर रहे थे-अहा, देखो यह राजकुमार! विवाह के अवसर पर ही राजभोगों को छोड़कर साधु होने के लिये वनमें जा रहे हैं। लोग तो भोगोपभोग के पीछे दौड़ते हैं,

भोग-भोगकर थक जायँ तथापि उन्हें नहीं छोड़ते; उससे विपरीत यह वैरागी राजकुमार तो उन्हें प्राप्त हुए दिव्य भोगों को भी भोगे बिना त्याग रहे हैं। धन्य है इनका अवतार! धन्य है आत्मज्ञान! और धन्य है वैराग्य!! कुछ ही समय पूर्व जो राजा-महाराज़ा और हाथी-घोड़ा आदि वैभव मल्लिकुमार की बारात में जाने को ठाटबाट से तैयार हुए थे, वे सब अब प्रभु के साथ मोक्ष की बारात में जाने को तैयार हुए...भोगमार्ग के सहचारी अब योगमार्ग के सहचर बने! अनेक हाथी घोड़े आदि प्राणी भी प्रभुके पीछे-पीछे श्वेतवनमें चले। बारात के समय जिस मुख्य गजराज पर मल्लिकुमार आरूढ़ थे, वह गज भी उन्हें संसार से विरक्त मुनिदशा में देखकर आश्चर्यपूर्वक अत्यन्त भावुकता से उनके निकट ही बैठा रहा; वह प्रभु की परमशान्त मुद्रा को एकटक देख रहा था, मानो स्वयं आँखें मूँदकर उस ध्यान का अभ्यास कर रहा हो! उन हाथी आदिको भी वनका वह शान्तिपूर्ण वातावरण और प्रभुका सान्निध्य छोड़कर राजभवन में लौटने का मन नहीं हुआ, इसलिये वे भी वन में ही रह गये और प्रभु के सम्पर्क में रहकर आत्महित साधने लगे। धन्य है सन्तों का सान्निध्य!!

श्वेतवन के उपशान्त वातावरण में जिनदीक्षा का एक महामंगल उत्सव प्रारम्भ हुआ। जन्मकी भाँति दीक्षाकल्याणक के अवसरपर भी देव एक साथ साढ़े बारह करोड़ बाजे बजा रहे थे, परन्तु उनमें से इस समय वैराग्य के परम शान्तस्वर निकलते थे। अति रमणीय एवं शान्त ऐसे श्वेतवन में आकर प्रभु मल्लिनाथ ने क्षणभर आत्मचिन्तन किया; जनसमूह की ओर परम शांत दृटि से देखा। प्रभु की दृष्टि पाकर सब पावन हो गये। मानो उस समभावभरी शांत दृष्टि द्वारा प्रभुने सबसे विदा ली; मुकुट और हार उतार दिये, मस्तक के कोमल केशों का लोच करके शरीर के प्रति परम उपेक्षावृत्ति धारण कर ली; 'ॐ नमः सिद्धेभ्य:'—— ऐसे उच्चारणपूर्वक सिद्धों को वंदन करके पंचमहाव्रतधारी दिगम्बर मुनि हो गये और आत्मध्यान में उपयोग को एकाग्र किया। उसी क्षण मुनिराज मल्लिनाथ के निर्विकल्प शुध्दोपयोग दशा प्रगट हुई-स्वयं ही 'धर्म' हो गये, क्योंकि शुद्धोपयोगरूप हुआ आत्मा ही श्रमण है, वही मोक्षमार्ग है, वही केवलज्ञान है और वही सिद्ध है। तीर्थंकर मुनिराज के आत्मा आज (मगसिर शुक्ला एकादशी के दिन) रत्नत्रयरूप परिणमित होकर श्रमण हुए, साक्षात् मोक्षमार्गरूप परिणमित हुए।

दो दिन के उपवास के पश्चात् उन तीर्थंकर मुनिराज को मिथिलापुरी में नंदिषेणराजने नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देकर पारणा कराया। तीर्थंकर मुनिराज जैसे सर्वोत्तम सुपात्र को आहारदान का प्रसंग होने से देवों ने भी आनन्दित होकर जयजयकार करते हुए आकाश से पुष्पों तथा रत्नों की वर्षा की, मोक्षगामी मुनिके कर-भाजन में आहार देनेवाले वे महात्मा स्वयं भी मोके भाजन बन गये, क्योंकि ऐसा नियम है कि तीर्थंकर को मुनिदशा में प्रथम पारणा करानेवाला जीव उसी भवमें अथवा तीसरे भवमें मोक्षप्राप्त करता है।

प्रभु मल्लिनाथ की आत्मसाधना आश्चर्यजनक थी; मोहराजा के सेनापति ऐसे दृष्ट कामरुपी महाशत्रु का तो उन्होंने पहले ही घात कर दिया था, इसलिये शेष मोह को जीतने में उन्हें अधिक देर नहीं लगी। मुनिदशा में छद्मस्थ रूप से वे मात्र छह दिन ही रहे...शुद्धात्मा के ध्यान की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित करके उसमें घाति कर्मों के ईंधन को इतनी शीघ्रता से दहन कर दिया कि छह दिनमें ही केवलज्ञान प्रगट करके परमात्मा बन गये। सर्व तीर्थंकरों में छद्मस्थरूप से रहने का न्यूनतम काल मल्लिनाथ मुनिराज का था। मुनि होने के पश्चात् भगवान आदिनाथ ने छद्मस्थदशा में एक हजार वर्ष तक केवलज्ञान प्राप्ति हेतु तपस्या की थी, जबकि भगवान मल्लिनाथ ने मात्र छह दिन तक तपस्या करके केवलज्ञान प्राप्त किया। मिथिलानगरी के जिस श्वेतवन में दीक्षा ली थी उसी वनमें केवलज्ञान हुआ। इस प्रकार मिथिलापुरी

मल्लिनाथ प्रभु के चार कल्याणकों से पावन हुई। मात्र १०० वर्ष में मिथिलापुरी की प्रजा ने तीर्थंकर प्रभुके चार कल्याणक अपने गृह-आँगन में प्रत्यक्ष देखे। वाह रे धन्य वह देश! धन्य वह काल! धन्य वे जीव! और सर्वाधिक धन्य वह भगवान-आत्मा!

पौष कृष्णा द्वितीया को १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ भगवान को केवलज्ञान होते ही इन्द्रलोक में पुनः आनन्द की लहर दौड़ गई। देवगण भक्तिपूर्वक तुरन्त पृथ्वीपर उतर आये। क्षणभर में समवसरण की भव्य रचना की और सर्वज्ञ परमात्मा की पूजा करके केवलज्ञान का महोत्सव मनाया। उस समवसरण की अद्भुत शोभा का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं हो सकता, प्रत्यक्ष देखने से ही उसकी दिव्यता ज्ञात होती है। अहा, जिसके बीचोंबीच परमात्मा स्वयं विराजते हों, उस स्थान की शोभा जगत में सर्वोत्कृष्ट हो उसमें आश्चर्य ही क्या! अरे, एक छोटे-से साधकके हृदय में जहाँ 'परमात्मा' विराजते हों उसकी शोभा भी क्या तीन लोक के वैभव से श्रेष्ठ नहीं हो जाती?! उस समवसरण में मात्र एक (तीर्थंकर) परमात्मा ही नहीं, किन्तु दूसरे दो हजार दोसौ सर्वज्ञ परमात्मा भी एकसाथ विराजते थे। अहा, उस आश्चर्यकारी धर्मसभा का क्या कहना!

उस धर्मसभा में जिनराज के दर्शन हेतु जीवों की टोलियाँ उमड़ पड़ीं....उनकी प्रसन्नता का पार नहीं था। तीर्थंकर प्रभु के समवसरण की शोभा सज्जनों को महाआनन्द देनेवाली थी। उसमें प्रवेश करते ही भव्यात्माओं को ऐसा अनुभव होता था मानों हम अपने ही मोक्ष मणडप में आगये!! चारों ओर बैठकर धर्मश्रवण एवं आत्मसाधना करनेवाले गणधर देवों से लेकर देव, मनुष्य, तिर्यंचों की बारह सभारुप में मोक्षगामी भव्य जीवों का मंगल मेला वहाँ भरा हुआ था। सर्वज्ञ परमात्मा भगवान मल्लिनाथ चारों दिशाओं के जीवों कों अपने सन्मुख देखते थे. उनके समक्ष देखनेवाले जीव उनके देहदर्पण में अपने सात भव देख सकते थे, परन्तु उनके आत्मदर्पण में दृष्टि डालनेवाला जीव अपने शुध्द आत्मस्वरुप के भी दर्शन कर लेता था। अनेक जीव तो समवसरण में गये सो गये, वे फिर बाहर नहीं आये;-समवसरण में ही प्रभुसन्मुख आत्मज्ञान प्राप्त करके ऐसी आत्मसाधना की कि वहीं मुनि होकर, केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया और सिध्दपुरी में निवास करने लगे। समवसरण में भीतर गये परन्तु बाहर नहीं आये। समवसरण में किसी जीव का मरण नहीं होता, किन्तु मोक्ष होता है। मोक्ष होना वह कोई मरण नही है, वह तो शाश्वत जीवन है।

श्री तीर्थंकर प्रभु के पुण्यप्रताप से समवसरण भूमि का एक आश्चर्य यह है कि उसकी भूमि के क्षेत्रफल की अपेक्षा अनेक गुनी संख्या के देव, मनुष्य, तिर्यंचों का समावेश हो जाता है। समवसरण में किसी को रोग या पीड़ा नहीं होती, क्षुधा-तृषा नहीं लगती, वैर-विरोध नहीं होता; -समवसरण में प्रवेश करते ही वह सब दूर हो जाता है और मुमुक्षु जीवों का चित्त परम शान्ति पूर्वक उन साक्षात् परमात्माके दर्शन तथा धर्म श्रवण में लग जाता है... फिर अंतर की गहराई में उतरकर वे भव्यजीव, प्रभु द्वारा कहे हुए आत्मस्वरुप का अवलोकन करने में उपयोग लगाते हैं और निजवैभव को निहारकर निहाल हो जाते हैं। प्रभु मल्लिनाथ के समवसरण में दो हजार दो सौ केवली परमात्मा गगन में विराजते थे; तदुपरान्त विशाखसेन आदि २८ गणधर थे; विविध लब्धिवान ४० हजार मुनिवर एवं बंधुषेणा आदि ५५००० आर्यिकाएँ थीं; एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ आत्मचिन्तन करती थीं। तिर्यंचों की संख्याका तो कोइ पार नहीं था। सब जिनभक्ति में तत्पर थे और वीतराग के वचनामृत द्वारा शांतरसका पान करते थे।

सर्वज्ञ परमात्मा मल्लिनाथ के केवलज्ञान की पूजा करके इन्द्रने स्तुति की-हे देव! आप परमपुरुष

हो, पुरुषार्थ द्वारा आपने परमपद प्राप्त किया है, और जगत के जीवों को भी उस पुरुषार्थ का उपदेश देकर मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कर रहे हैं; आप धर्मतीर्थ के नायक हो। मोह का मित्र काम तो आपके नाम मात्र से काँपता है। आपकी आयु ५५००० (पचपन हजार) वर्ष की होने पर भी आप मात्र १०० वर्ष तक ही छद्मस्थ रहे और १०० वर्ष में परमात्मा होकर अब ५४,९०० वर्ष तक आप तीर्थंकररूप से भरतक्षेत्र में मंगल विहार करेंगे और आपके दिव्य उपदेशसे लाखों-करोडों जीव धर्म प्राप्त करके अपना कल्याण करेंगे। अहा, हे अनन्त चतुष्टयधारी देव! आपको नमस्कार हो...द्रव्य-गुण-पर्याय सर्वप्रकार से शुध्दचेतना रुप हे शुध्दात्मा! आपको नमस्कार हो! अनन्त आत्मवैभवधारी हे परमेश्वर! आपको नमस्कार हो! त्रिकालसहित समस्त विश्व के ज्ञाता हे सर्वज्ञ! आपके ज्ञानकी महिमा अद्वितीय है। प्रभो! आपका केवलज्ञान तीनों लोक के लिये मंगलरुप है। -इस प्रकार स्तुति द्वारा इन्द्र ने प्रभु के केवलज्ञान-कल्याणक का महामंगल महोत्सव किया।

अपने राजकुमार को मात्र छह दिन में ही परमात्मा के रुप में देखकर मिथिलापुरी के प्रजाजनों को अपूर्व आनन्द हो रहा था-इन १९ वें तीर्थंकर के चार कल्याणक अपनी नगरी में मनाये गये और अभी २१ वें तीर्थंकर के भी चार कल्याणक अपनी नगरी में मनाये जायेंगे...अहा! अपनी यह नगरी आठ कल्याण कों द्वारा धन्य होगी!! प्रभु मल्लिनाथ को केवलज्ञान होने की बात सुनते ही पिता श्री कुंभमहाराजा और माता श्री प्रजावती आश्चर्यमुग्ध होकर तत्काल समवसरण में आ पहुँचे और अपने पुत्र को परमात्मा के रुप में देखकर कल्पनातीत हर्षानन्द को प्राप्त हुए-"अहा! हमारा पुत्र प्रभु बनकर हमें दर्शन देने आया!" उन्हें तो कल्पना भी नहीं थी कि मात्र छह दिन में हम अपने लाड़ले पुत्र को अपनी नगरी में ही भगवान रुप में देखेंगे! छह दिन पूर्व जिस पुत्र के वियोग से शोकसंतप्त हो रहे थे, उसी को आज दिव्यविभूतिसहित परमात्मारुप में देखकर वे आनन्दविभोर हो गये, उनका शोक-संताप एकदम मिट गया।...और वह आनन्दातिरेक भी अधिक समय तक नहीं टिका; क्योंकि प्रभुकी वाणीमें चैतन्य के वीतराग स्वरुप की अद्‌भुत महिमा सुनते ही उन्होंने हर्ष-शोक से पार आत्मानुभव के लिये उपयोग को अंतर्मुख किया। क्षणभर शुध्दोपयोगी होकर, पश्चात् विशुध्द परिणाम की वृध्दि द्वारा चारित्रदशा ग्रहण करके उन्होंने अपना आत्मकल्याण किया। पिता कुम्भराजा तो उसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए और माता प्रजावती एकावतारी होकर स्वर्ग सिधारीं। अहा, तीर्थंकर समान पुत्रका संयोग, उसका भी माता-पिता को वियोग हुआ...और अंतमें तो उस पिता-पुत्र या माता-पुत्र के भी सम्बन्ध का मोह तोड़कर आत्मा की अपनी वीतरागता ही शरणरुप हुई।

तेथी न करवो राग जरीये क्यांय पण मोक्षेच्छुऐ;
वीतराग थईने ऐ रीते ते भव्य भवसागर तरे।
हूँ परतणो नहि, पर न मारां, ज्ञान केवल ऐक हुं,
-जे एम ध्यावे ध्यानकाले जीव ते ध्याता बने।

प्रभु श्री मल्लिनाथ देवने ५४ हजार नौ सौ वर्ष तक वीतराग मार्ग का उपदेश देकर भव्य जीवोंका कल्याण किया। अंत में जब एक मास आयु शेष रही तब प्रभु सम्मेदशिखरपर आकर स्थिर हुए...और काम-वचन-मन के योगोंका निरोध करके सिध्दपद में जाने की तैयारी की। फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन क्षणभर १४ वें गुणस्थान का अनुभव करके, दूसरे ही क्षण वे प्रभुजी संसार से सर्वथा मुक्त होकर संबल टूंक से समश्रेणी में सिध्दालय में विराजमान हो गये। देवोंने आकर पंचम कल्याणक का महोत्सव

किया; मोक्ष के बाजे बजाये और प्रभुकी पूजा की:—

मल्लिनाथ जिनराजकी संबलटूंक है जेह,
मन-वच-तन कर पूज हूँ शिखरसम्मेद यजेह।

पहले जो विदेहक्षेत्र में वैश्रवण राजा थे; वहाँ रत्नत्रयधर्म की महापूजा तथा उपासना करके जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया, पश्चात् जो अपराजित विमान में अहमिन्द्र हुए और अंत में कुंभराजा के पुत्र रुप में अवतरित होकर, विवाह के समय ही वैराग्य प्राप्त करके, केवलज्ञान प्रगट करके भरतक्षेत्र के १९ वें तीर्थंकर हुए। उन परमपुरुष भगवान मल्लिनाथ का यह मंगल-जीवन भव्य जीवों को मोक्षपुरुषार्थ का प्रेरक हो। इस मल्लिनाथ पुराण द्वारा उनका भाव-स्तवन हमारे रत्नत्रय की विशुध्दि का कारण हो।

**[श्री मल्लिनाथ जिनराज का मंगल पुराण पूर्ण हुआ।]**

[२०]




**उत्तम ज्ञान-चारित्रसम्पन्न ऐसे हे मुनिसुव्रत देव! आपको नमस्कार हो। मिथ्यात्वरुपी काले विषधरके दंशसे मूर्च्छित और अव्रत के कीचड़ में फँसे हुए जीवों को आपने सम्यग्ज्ञानरुपी गरुड़-रत्न द्वारा सचेत करके सुव्रतों के पवित्र आचरण में स्थिर किया है। आपकी उपासना हमें भी ज्ञानसम्पन्न-सुव्रतरुप बनाओ जिससे मोक्षमार्ग की पूर्णता द्वारा मोक्षपद को साधें।**

हे मुनिसुव्रत देव! आप पूर्वभवमें 'हरिवर्मा' राजा थे और इस भरतक्षेत्रकी जिस चम्पापुरी में भगवान वासुपूज्य तीर्थंकर हुए उसी नगरी में आप राज्य करते थे। आप जिस प्रकार बाह्य शत्रुओं को जीतने में वीर थे उसी प्रकार अंतर के मोहशत्रु पर विजय प्राप्त करने में भी शूरवीर थे; राजवैभव में रहकर भी राग को चेतना में प्रविष्ट नहीं होने देते थे, इसलिये रागरहित आपकी चेतना मोक्ष को साधने का कार्य कर रही थी।

एक बार उद्यान के मालीने आकर आपको शुभसमाचार दिये कि-हे देव! अपनी नगरी में मुनिराज अनन्तवीर्य पधारे हैं। यह सुनते ही आपको महान निधि प्राप्त होने की अपेक्षा अधिक हर्ष हुआ। अहा, वे मुनिराज श्रुत्केवली थे; उनके दर्शन से आपको परम प्रसन्नता हुई। वास्तव में, वीतरागी गुरुओं के समागम से भव्य जीवों को जैसा सुख होता है, वैसा सुख जगत् के किसी अन्य पदार्थ की प्राप्ति से नहीं होता। हे देव! मुनिराज के चरणों में आपकी चेतना ऐसी उल्लसित हुई कि तत्क्षण दर्शन मोह का क्षय करके आपने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया।

उन श्रुतकेवली प्रभुके श्रीमुखसे आपने अस्ति-नास्तिस्वरुप अनेकान्त तत्त्व का मधुर उपदेश सुना; मोक्ष सुख का अद्‌भुत वर्णन तथा उस मोक्ष के साक्षात् कारणरुप वीतराग चारित्र की महिमा सुनी। वह

सुनते ही आपका चित्त संसार से विरक्त और मोक्षसुख की साधना में अनुरक्त हुआ। तुरन्त ही आपने उन अनन्तवीर्य गुरु के निकट जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। ध्यानदशा में आपके परिणाम अति विशुध्द हुए; आपको ग्यारह अंग का ज्ञान उदित हुआ; तथा दर्शनविशुध्दि आदि सोलह उत्तम भावनाँओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृतिका भी बंध हुआ। तत्पश्चात् संलेखनापूर्वक शरीर का त्याग कर के आप १४ वें प्राणत स्वर्ग में इन्द्र हुए। असंख्य वर्षोंतक उस स्वर्गलोक के दिव्य वैभव में आप आत्मज्ञान सहित रहे। इसप्रकार मोक्ष के आराधकरूप से स्वर्गलोक का अन्तिम भव पूर्ण करके, अब आप तीर्थंकर रुप से मनुष्यलोक में अवतरित होने को तैयार हुए हैं। प्रभो! आपके अवतार का मंगल-महोत्सव देखने के लिये हम उस नगरी में पहुँच रहे हैं जहाँ आपका अवतार होना है।

## राजगृहीनगरी में मुनिसुव्रत-अवतार

यह है राजगृही नगरी; यहाँ हरिवंश के राजा सुमित्र राज्य करते हैं,- कि जिस वंश में भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एवं अरहनाथ तीर्थंकर अवतरित हुए और मुनिसुव्रत तथा नेमिनाथ तीर्थंकर होनेवाले हैं। उन महाराज सुमित्रकी महारानी का नाम सोमादेवी।

सोमादेवी सुन्दर, सुशील एवं नवयौवना थीं; परन्तु अभी तक उन्हें पुत्र सुख प्राप्त नहीं हुआ था। संतान के अभाव में उनका चित्त अशांत रहता था। महाराजा सुमित्र उन्हें समझाते थे कि-हे देवी! तुम धैर्य धारण करो, दुःखी न होओ। जो कार्य मात्र दैवके आधीन है उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है। मुमुक्षु जीव को दैवसाध्य पदार्थ की चिन्ता के बदले धर्मसाधना में प्रयत्नशील रहना चाहिये।-इसप्रकार समझाने से सोमादेवी का चित्त कुछ शांत होता और वह अपना मन धर्मसाधना में लगाती थीं।

इतने में एक आश्चर्य जनक घटना हुई-महाराजा सुमित्र तथा सोमादेवी एकबार राजमहलमें बैठे-बैठे पुत्रप्राप्ति सम्बन्धी वार्ता-लाप कर रहे थे कि अचानक आकाशसे उत्तम रत्नो की वर्षा होने लगी। 'यह क्या हुआ!'-ऐसे विस्मयपूर्वक आकाश की ओर देखा तो आकाश से देवियाँ उतरकर उन्हें वंदन करने लगीं! उनका आश्चर्य और भी बढ गया; तब देवियों ने कहा-हे माता! हम दिग्कुमारी देवियाँ हैं। छह मास पश्चात् स्वर्गसे बीसवें तीर्थंकर का जीव आपकी कुक्षि में अवतरित होनेवाला है. इसलिये इन्द्र महाराज ने हमें स्वर्ग से आपकी सेवा करने भेजा है,..और यह रत्नवृष्टि उन्हीं तीर्थंकर के पुण्यप्रताप से ही हो रही है।

देवियों के मुख से यह अद्‌भुत बात सुनकर राजा-रानी को असीम आनन्द हुआ कि-अहा, हमें पुत्रकी प्राप्ति होगी और वह भी तीर्थंकर!...ऐसा जानकर उनका हृदय इतना प्रसन्न हुआ कि जितनी प्रसन्नता मुमुक्षु को रत्नत्रय की प्राप्ति से होती है! छह मास पश्चात् श्रावण कृष्णा द्वितिया की रात्रि के पिछले प्रहर में महारानी सोमादेवीने सोलह स्वप्न देखे और उसी समय तीर्थंकर होनेवाले महात्मा उनकी कुक्षि में अवतरित हुए। इन्द्रादि देवोंने गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया।

भवनवासी दिग्कुमारी देवियाँ सोमामाता की सेवा करती हैं और आनन्द-प्रमोदपूर्वक दिन बीत रहे हैं। सवानौ मास पश्चात् वैशाख कृष्णा दशम के दिन सोमामाताने जगत में सर्वश्रेष्ठ ऐसे पुत्ररत्नको जन्म दिया। त्रिलोक में आनन्द छा गया। इन्द्रों ने राजगृही में आकर तीर्थंकर के जन्म का महोत्सव किया। राजगृही नगरी धन्य हुई। इन्द्रने बाल तीर्थंकर का नाम मुनिसुव्रत रखा; उनके चरण में कच्छप का चिन्ह था। मल्लिनाथ तीर्थंकर के ५४ लाख वर्ष पश्चात् मुनिसुव्रत तीर्थंकर हुए। उनकी आयु ३०,००० (तीसहजार) वर्ष थी। शरीरका रंग मोर के कंठ समान सुन्दर था। अनेक देशों के राजकुमारों तथा

बालरूपधारी देवों के साथ विभिन्न प्रकार की अद्भूत क्रीड़ाएँ करते-करते बचपन बिताकर बाल तीर्थंकर ने युवावस्थामें प्रवेश किया। अनेक उत्तम राजकन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। उनके लिये स्वर्गलोक से इन्द्र वस्त्राभूषणादि उत्तम भोगसामग्री भेजते थे; परन्तु वह सामग्री भी उन भावी परमात्मा के मनमें कोई आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती थी। जो अचिंत्य-अद्भुत-आश्चर्यजनक चैतन्यवैभव उनके ज्ञान में वर्तता था उसके समक्ष बेचारे पुण्यवैभव का क्या मूल्य?

साढ़े सात हजार वर्ष की आयु में मुनिसुव्रत कुमार का राजगृही के राजसिंहासनपर राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने पन्द्रह हजार वर्षतक राजगृही का राज्य किया। उनके शासन में राजगृही एक विश्वप्रसिध्द धर्मनगरी बन गई।अहा, इन्द्र जिनकी सेवा करते हो-ऐसे तीर्थंकर स्वयं जिसनगरी के राजा हों उसकी महिमा का क्या कहना!!

महाराजा मुनिसुव्रत की आयु के जब २२,५०० वर्ष बीत गये, तब एकबार वैशाख कृष्णा दशम-उनके जन्म का महान दिवस धामधूम से मनाया जा रहा था; राजगृही नगरी में चारों और हर्षोल्लासका वातावरण था; ठीक उसी समय क्या हुआ?-कि महाराजा के मुख्य गजराजने खाना-पीना छोड़ दिया और उदास होकर बैठ गया! गजरक्षक महावत घबरा गये; उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि अचानक गजराज को क्या हो गया?... वे हाथी को लेकर महाराजा मुनिसुव्रत के पास आये और कहने लगे-'हे महाराज! आज इस गजराज को क्या हुआ है, वह हमारी समझ में नहीं आता! खाना-पीना छोड़कर शून्यमनस्क होकर बैठा है!'



तब अवधिज्ञान से उस गजराज के पूर्व भवों को जानकर महाराजा ने कहा-उसे कोई रोग नहीं हुआ है; मात्र मेघगर्जना सुनकर उसे अपने वन की याद आ गई है, इसी कारण वह उदास हो गया है। पहले वह सुन्दर वन में मुक्तरूप से विचरता था, उसके बदले यह बंधन उसे अच्छा नहीं लगता। अरे, हाथी जैसे तिर्यंचोंको भी मुक्ति अच्छी लगती है बंधन अच्छा नही लगता! और सुनो! यह हाथी पूर्वभवमें तालपुर नगर का बड़ा राजा था, अपने कुल एवं धन-वैभव का उसे बड़ा अभिमान था। एक बार वैभव के अभिमान पूर्वक उसने 'जिसे जो चाहिये वह दान '(किमिच्छक दान) दिया, परंतु उसमे अज्ञानता के कारण सुपात्र या कुपात्र का कोई विवेक नहीं किया; तथा जैन धर्म का स्वरूप समझने

की कोई परवाह नही की ; इसलिये अज्ञानजनित तुच्छ पुण्य के प्रभाव से वह राजा मरकर यह हाथी हुआ है उसे अपनी पूर्व सम्पदा की कोई खबर नही है, मात्र वन के मुक्त वातावरण का स्मरण होने से उसने खाना-पीना छोड़ दिया है। तुम लोग चिंता न करो, वह अभी प्रसन्न हो जायगा-ऐसा कहकर महाराजा मुनिव्रतने मधुर वचनो द्वारा उस गजराज को सम्बोधित किया-अरे भव्य! तू जागृत हो! अपने आत्महितको सँभाल! ताकि इस पशुपर्याय के दुःख से तेरे आत्मा का छुटकारा हो!

प्रभुके मधुर वचन सुनकर गजराज मुग्ध हो गया; उसका आत्मा अपूर्व भाव से जागृत हो उठा-'अहा, यह प्रभु मुझसे मेरे हितकी मधुर बात कर रहे है! मेरे पूर्व भवका स्मरण करा रहे है!...और तुरन्त उसके अंतर में परिवर्तन हुआ; अपने पूर्व भवका स्मरण होते ही वह बिलकुल शांत हो गया और उसी क्षण उसने आत्मज्ञान सहित अणुव्रत ग्रहण कर लिये; भगवान के प्रति परम उपकार बुद्धि से सूँढ झुकाकर उन्हे नमस्कार करने लगा।

गजराज की चेष्टा में अद्भुत परिवर्तन देखकर सब आश्चर्य चकित हो गये! उसी समय उससे भी एक अत्यन्त आश्चर्य जनक घटना हुई...

हाथी के वैराग्य का प्रसंग देखकर महाराजा मुनिसुव्रत को भी उसी समय जातिस्मरण ज्ञान हुआ; समस्त संसार एवं राजभोगोंसे उनका चित्त सर्वथा विरक्त हो गया। वे जिनदीक्षा लेने को तैयार हो गये। तीर्थंकर प्रभुकी दीक्षा का उत्तम अवसर जानकर पंचमस्वर्ग से लौकांतिक देव राजगृही के राजभवन में उतर आये और प्रभुके परम वैराग्य की प्रशंसा एवं अनुमोदना की। अचानक हुए इस परिवर्तन से राजगृही में सर्वत्र आश्चर्य एवं वैराग्य का वातावरण छा गया। इन्द्रासन भी डोल उठा और देवगण 'अपराजित' नामकी शिबिका लेकर दीक्षा कल्याणक महोत्सव करने राजगृही में आ पहुँचे। अपनी जन्मतिथि (अर्थात् वैशाख कृष्णा दशम) के दिनप्रभु मुनिसुव्रत नाथने राजगृहीके नील वन में एक हजार राजाओं सहित दीक्षा ग्रहण की और शुध्दोपयोगी मुनि हुए। उत्तम व्रतधारी उन मुनिसुव्रत मुनिराज को प्रथम आहार दान देकर राजगृही के राजा वृषभसेन धन्य हुए!

प्रभु मुनिसुव्रतनाथ एक वर्ष तक मुनिदिशा में रहे और शुद्धात्मध्यान के उत्तम प्रयोग सहित विचरे ... वैशाख कृष्णा नवमी के दिन प्रभु पुनः राजगृही पधारे और वहाँ के दीक्षावनमें ही अपने चैतन्य स्वरुपमें उपयोग को एकाग्र करके परमानन्द में मग्न हो गये; क्षणभर में क्षपकश्रेणी द्वारा मोह का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया, अरिहंतपरमात्मा बने, बुध्द हुए और समवसरण में बारह सभाओं के बीच दिव्य ध्वनि द्वारा मोक्षमार्गरुप रत्नत्रयतीर्थ का उपदेश देकर तीर्थंकर हुए...प्रभुके उपदेश से अनेक भव्य जीव मोक्षपथके पथिक बने। इन्द्र भी प्रभुकी पूजा करने तथा दिव्यध्वनिका श्रवण करने राजगृही में उतरे। तीर्थंकर प्रभुकी धर्मसभा एवं दिव्यवाणीसे राजगृही नगरी की शोभा इतनी बढ़ गई थी कि आज भी वह नगरी विश्वके प्रसिद्ध तीर्थरुप में पूज्य मानी जाती है। भरत क्षेत्र के उन बीसवें तीर्थंकर की धर्मसभामें मल्लिदेव आदि १८ गणधर तथा उनसे सौगुने १८०० केवली भगवंत उस धर्म सभाके श्रीमण्डप के उपर (आकाशमें पाँच सौ धनुष्य की ऊँचाई पर) विराजते थे ...सर्वत्र भगवन्तों के सम्मेलन का वह दृश्य परम आह्लादकारी था। तदुपरान्त अनेक ऋद्धिधारी मुनिवरों सहित कुल ३०००० मुनिराज तथा ५०००० आर्यिका माताएँ थी। आत्म ज्ञान सहित एक लाख अणुव्रतधारी श्रावक और तीन लाख श्राविकाँए धर्माराधन करते थे। देवों और तिर्यंचों का तो कोई पार ही नही था। प्रभुने साढेसात हजार वर्ष तक तीर्थंकररुपसे विचरण करके भरतक्षेत्रके भव्य जीवों को धर्मामृतका पान कराया और भवदुःख से छुड़ाया। जब प्रभुकी आयु एकमास शेष रही तब वे सम्मेद शिखर सिद्धिधाम की 'निर्जरटूंक' पर आकर स्थिर

हुए, और जहां से पूर्वकाल में अनन्तान्त तीर्थंकरो ने सिद्धिगमन किया था वहाँ से उन्होने भी सिद्धिगमन किया। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन प्रभुने मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रोंने उन मोक्षप्राप्त सिद्धप्रभु की पूजा करके मोक्ष का महोत्सव किया।

**मुनिसुव्रत जिनराज की निर्जर टूंक है जेह**
**मन-वच-तन-कर पुजहूँ शिखर सम्मेद यजेह।**

पूर्वभव में जो भरतक्षेत्र की चम्पापुरी में हरिवर्मा राजाथे और पश्चात् राजगृही में बीसवें तीर्थंकर होकर वर्तमान में मोक्षपुरी में अनंत सिद्धों के साथ विराज रहे है, उन परमात्मा को नमस्कार हो!

**[इस प्रकार बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत भगवन्त का जीवनचरित्र पूर्ण हुआ]**

## [चक्रवर्तियों एवं अर्धचक्रवर्तियोंका संक्षिप्त परिचय]

★ भगवान धर्मनाथके तीर्थं में **मघवा** नामके तीसरे चक्रवर्ती आयोध्यामें हुए; उन्होने जिनदीक्षा लेकर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया तत्पश्चात् चौथे **सनत्कुमार** चक्रवर्ती हस्तिनापुर में धर्मनाथ प्रभुके तीर्थ में हुए; इन्द्रने जिनके रुपकी प्रशंसा की; तथापि उसका भी मोह छोडकर उन्होने अशरीरी पदको साधा। तत्पश्चात् १६ वे, १७वे तथा १८ वें-यह तीनो तीर्थंकर स्वयं ही पाँचवे, छठवे और सातवे चक्रवर्ती हस्तिनापुर में हुए।

★ तत्पश्चात् अरहनाथ प्रभुके शासन में **सुभौम** नामक आठवाँ चक्रवर्ती हुआ; फल के स्वाद की लोलुपतासे, समुद्रके बीच धर्म की विराधना करके वह नरकमे गया। छठवें बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव (नन्दिसेन,पुण्डरीक और नि:शुंभ) भी अरहनाथ प्रभुके शासन में हुए; उनमें से नन्दिसेनने मोक्ष प्राप्त किया।

★ तत्पश्चात् मल्लिनाथ प्रभुके तीर्थं में **पद्म** नामके नौवे चक्रवर्ती हस्तिनापुरमें हुए; उन्होने मोक्ष प्राप्त किया। ( वात्सल्य मे प्रसिद्ध विष्णु कुमार उन्हीके पुत्र थे।) सातवे बलभद्र-नन्दिमित्र, नारायण-दत्त और प्रतिनारायण बलीन्द्र भी उसी तीर्थ में हुए; बलभद्र मोक्ष गये।

★ पश्चात् मुनिसुव्रत प्रभु के तीर्थ में दसवे हरिषेण चक्रवर्ती हुए, वे सर्वार्थ सिद्धिमें गये; और राम, लक्ष्मण तथा रावण-यह आठवें बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव हुए; सीता, अंजना और हनुमान भी उसी काल में हुए। राम और हनुमान ने तो मोक्ष प्राप्त किया; लक्ष्मण और रावण भविष्य में तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

[२१]




**श्री बीस तीर्थंकर भगवन्तों के मंगल जीवन-चरित्र के पश्चात् अब भरतक्षेत्र के २१ वें तीर्थंकर...जोकि पूर्वभव में भी भरतक्षेत्र में ही कौशाम्बीनगरी के राजा थे, उनका जीवनचरित्र प्रारम्भ होता है। पूर्वभव में स्वर्गलोक के साथी-ऐसे विदेहक्षेत्र के एकतीर्थंकर की वाणी में जिनकी महिमा प्रगट हुई, और वह बात सुनकर जो संसार से विरक्त होकर रत्नत्रय-रथ में आरूढ़ हुए, वे भगवान श्री नमिनाथ, हमारे साधना-रथ को मोक्षपुरी तक पहुँचाओं!**

## भगवान नमिनाथ—पूर्वभव: कौशाम्बी नगरी में सिद्धार्थ राजा

उस काल इस भरतक्षेत्र में कौशाम्बी नगरी प्रसिद्ध थी। धर्मात्माओं से सुशोभित उस नगरी में इक्ष्वाकुवंशी राजा पार्थिव राज्य करते थे; उनके सिद्धार्थ नामका एक पुत्र था-जो महाप्रतापी एवं भावी तीर्थंकर था।

एक बार परम अवधिज्ञानी मुनिराज उस कौशाम्बीनगरी में पधारे। महाराजा पार्थिव तथा राजकुमार सिद्धार्थ उन मुनिराज के दर्शन करने गये और धर्मोपदेश श्रवण किया। श्री मुनिराजने संसार से वैराग्य उत्पादक उपदेश देते हुए कहा कि- अहा, यह जीव स्वयं अखण्ड सुखनिधान से परिपूर्ण परमात्मा, चैतन्यसम्राट है; तथापि निजनिधान को भूलकर, रत्नत्रयरूपी वैभव से रहित, विषयों का भिखारी होकर चारों गति में सुख की भीख माँगता हुआ भटक रहा है; परन्तु बाह्य में उसे कहीं सुखकी प्राप्ति नहीं होती; अंतर में अपने निकट ही चैतन्य भण्डार में सुख भरा है, उसे जाने तो स्वाधीन सुख का अनुभव हो। हे भव्य राजन्! आप चरमशरीरी हो, और आपका यह पुत्र सिद्धार्थ भी तीसरे भवमें तीर्थंकर होकर सिद्धि प्राप्त करेगा। आप इस संसार का मोह छोड़कर आत्मा को रत्नत्रयधर्म की आराधना में

लगाओ!...और हे भव्य सिद्धार्थकुमार! इस संसार में तुम्हारे दो ही भव शेष हैं; तुम भी आत्मा के चैतन्यनिधान को पहिचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करो!

अहा, मुनिराज के श्रीमुख से ऐसी उत्तम बात सुनकर सबके हर्षका पार नहीं रहा! तुरन्त ही सिद्धार्थकुमारके अंतर में चेतना उल्लसित हुई, आनन्द से रोमांचित होकर उन्होंने सम्यग्दर्शन प्रगट किया, और साथ ही श्रावक के अणुव्रत ग्रहण कर लिये। महाराजा पार्थिव का चित्त भी संसार से विरक्त हो गया था; उन्होंने पुत्र सिद्धार्थकुमार को कौशाम्बी का राज्य सौंपकर जिनदीक्षा अंगीकार कर ली और रत्नत्रय की उत्कृष्ट आराधना द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया।

कुछ ही वर्ष बाद राजा सिद्धार्थ का चित्त भी संसार से उदास हो गया; और ठीक उसी काल कौशाम्बी नगरी में महाबल नामक केवली भगवान का आगमन हुआ। उनके चरणों में नमस्कार करके सिद्धार्थ राजाने दीक्षा धारण की; उन्हीं प्रभुके चरणों में रहकर क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त किया और दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाएँ भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। वे एकावतारी महात्मा चारित्र द्वारा शोभायमान हो उठे और उत्तम आराधनासहित समाधिमरण करके अपरजित विमान में उत्पन्न हुए।

भरतक्षेत्र के भावी तीर्थंकर जब अपराजित विमान में विराज रहे थे तब विदेह क्षेत्र के 'अपराजित' नामक भावी तीर्थंकर भी उसी विमान में विराजते थे। असंख्य वर्षों तक वे दोनों भावी तीर्थंकर अपराजित विमान में साथ रहे, आत्मसाधना की तत्त्वचर्चा की, घोंट-घोंटकर स्वानुभवरस का पान किया। ३३ सागरोपम पश्चात् उन दो में से एक अपराजित देव तो विदेहक्षेत्र की सुसीमानगरी में अपराजित तीर्थंकर रुपमें अवतरित हुए; और कुछ वर्ष पश्चात् दूसरे देव (अपने चरित्रनायक) ने इस भरतक्षेत्र में नमिनाथ तीर्थंकर के रुप में अवतार लिया। उनकी मंगल-कथा अब पढ़ेंगे।

## मिथिलापुरी में नमिनाथ-अवतार

उस अपराजित विमान में अहमिन्द्रकी आयु जब छहमास शेष रही तब मिथिलापुरी के राजभवन के प्रांगण में दिव्य रत्नों की वर्षा होने लगी। उस समय बंगदेश की मिथिलानगरी में ऋषभदेव के वंशज श्रीविजय महाराजा राज्य करते थे। उनकी महारानी वप्पिला देवी ने अश्विनकृष्णा द्वितिया की रात्रि में १६ मंगलस्वप्न देखे और उसी समय अपराजित विमान से भगवान नमिनाथ का जीव उनकी पवित्र कोख में अवतरित हुआ। गर्भस्थ पुत्र अवधिज्ञानी था और पिता विजयराज भी अवधिज्ञानी थे; उन्होंने अवधिज्ञान द्वारा जानकर कहा कि-हे देवी! तुम्हारी कुक्षि में आज रात्रि स्वर्ग लोक से तीर्थंकर का आत्मा आया है, तुम जगत्पूज्य तीर्थंकर की माता बन गई हो। यह जानकर महादेवी के हर्षकी सीमा नहीं रही। ठीक उसी ही समय स्वर्ग के देवविमान जयजयकार करते मिथिलापुरी में उतरने लगे। अहा! क्षायिक सम्यक्त्व तथा तीर्थंकर प्रकृतिसहित वे महात्मा अभी तो माता के गर्भ में आये कि स्वर्ग के इन्द्र तथा देव उनके माता-पिता का सन्मान करने हेतु मिथिलानगरी में आ पहुँचे और तीर्थंकर के आगमन का भव्य महोत्सव किया।

स्वर्गलोक की देवियाँ आनन्दपूर्वक माता की तथा गर्भस्थ पुत्रकी सेवा करती थीं। अरे, गर्भवास के दुःख तो कहीं दूर रहे, परन्तु गर्भमें भी देव जिनकी सेवा करते हों, उन महात्मा की महिमा का क्या कहना! चैतन्यतत्त्व की आराधना का ही प्रताप है कि वह जीव को प्रत्येक स्थिति में सुख प्रदान करती है!

सवा नौ महीने बीतने पर श्रावण-कृष्णा दशम के शुभदिन वप्पिला देवीने जगत्पूज्य पुत्रको जन्म दिया। उस मंगल आत्मा के प्रभाव से जगत में सर्वत्र आनन्द छा गया; स्वर्गलोक के मंगल वाद्य अपने आप बजने लगे; इन्द्र का आसन डोल उठा; सौधर्म इन्द्र एवं शची इन्द्राणी देवों की सेना के दिव्य ठाटबाटसहित बालतीर्थंकर का जन्माभिषेक करने मिथिलापुरी में आ पहुँचे। उन बाल तीर्थंकर को अपनी गोदमें लेते हुए इन्द्राणी को जो परम हर्ष हुआ उसका वर्णन कौन कर सकता है? सम्यक्त्वसे होनेवाले आनन्द का वेदन क्या वचनों से कहा जा सकता है? इन्द्रानीने उन बालप्रभु को जब इन्द्रके हाथ में दिया तब इन्द्र भी आश्चर्यमुग्ध होकर हजार नेत्र बनाकर प्रभुका रूप देखता रह गया! 'मैं इन्द्र हूँ' यह बात तो वह क्षणभर भूल ही गया! मैं तो प्रभुका सेवक हूँ-ऐसी भक्ति से वह नाच उठा। वह एकसाथ हजार हाथों को उछालता और उसके हाथों की प्रत्येक अँगुली पर अप्सरा देवियाँ उसी जैसी चेष्टा कर-करके नृत्य करती थीं... जिस प्रकार सम्यक्त्व का अवतार होने पर एक चैतन्य-इन्द्र के साथ उसके अनन्त गुणों की परिणति आनन्द से नाच उठती है, उसी प्रकार तीर्थंकर का अवतार होने पर इन्द्र अपनी समस्त देवियोंसहित आनन्द से नाच उठा। मेरु पर जन्माभिषेक करके इन्द्रने उन बालप्रभुकी अद्‌भुत स्तुति की...और नाम रखा-नमिकुमार!

मुनिसुव्रत तीर्थंकर के तीर्थ में ६० लाख वर्ष बीतने पर नमिनाथ तीर्थंकर का अवतार हुआ। उनकी आयु १० हजार वर्ष और शरीर की ऊँचाई १५ धनुष (१५० फुट) थी। उनके चरणमें 'कमल' का चिह्न था।

नमिकुमार माता-पिता को तथा प्रजाजनों को आनन्दित करते हुए दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे थे। आज इतने वर्षों बाद दूरदूरसे उनका चिन्तवन करने पर हम सब कितने आनन्दित होते हैं! तो फिर अपने ही नगर में, अपने ही आँगन में उन तीर्थंकर को प्रत्यक्ष बोलते-चालते, हँसते-खेलते देखकर मिथिलापुरी के राजा-प्रजा कितने आनन्दित होते होंगे!! वास्तव में, तीर्थंकर का अवतार जगत के जीवों को आनन्द-मंगलकारी है।

प्रभु नमिकुमार जब ढाई हजार वर्ष के हुए तब विजयराजाने उनका राज्याभिषेक करके मिथिलापुरी का राज्य सौंप दिया। अरे, उन्हें मात्र मिथिला के राजा कैसे कहें? वे तो तीन लोक के श्रेष्ठ राजा हैं।

महाराजा नमिने पाँच हजार वर्ष तक मिथिलापुरी का राजसिंहासन सुशोभित किया। उनके राज्य में प्रजाजन सर्व प्रकार से सुखी और धर्मसाधन में तत्पर थे। एक बार वर्षा ऋतु में धरती पर चारों ओर हरियाली छायी हुई थी...मानो रत्नत्रय के उद्यान खिल रहे हों! महाराजा नमिकुमार प्रकृति की उस अद्‌भुत शोभा का अवलोकन करने हेतु हाथीपर बैठकर वन-विहार के लिये चले। वन के आह्लादक वातावरण में प्रभुको आत्मज्ञान की ऊर्मियाँ जागृत होती थीं।

जब भरतक्षेत्र के प्रभु यहाँ वनविहार कर रहे थे, उस समय...विदेहक्षेत्र में अपराजित तीर्थंकर के समवसरण में एक अद्‌भुत आनन्दकारी घटना हुई। क्या हुआ? वह जानने के लिये चलो विदेह में।

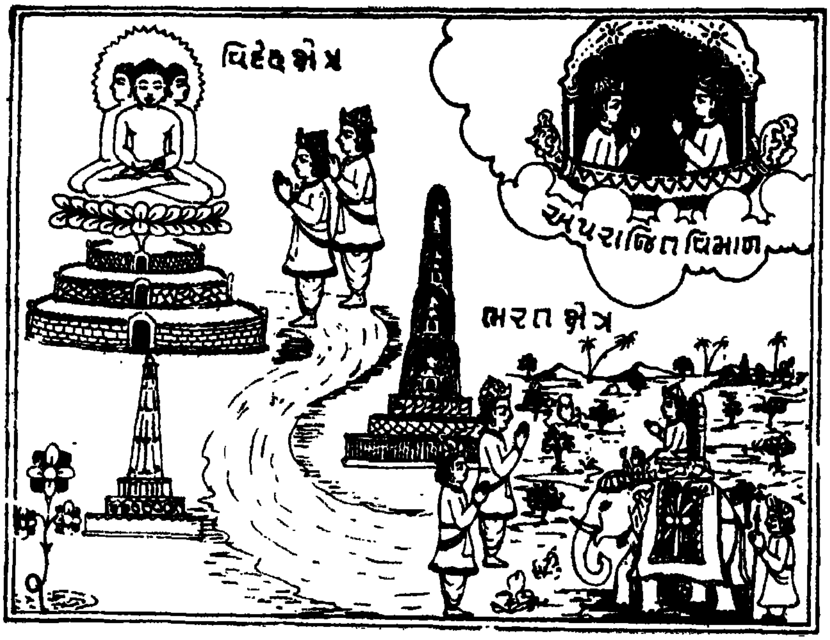
विदेहक्षेत्र में अपराजित तीर्थंकर विराजते थे; उन्हें आज ही केवलज्ञान हुआ था। दो देव उनके समवसरण में आये दिव्यध्वनि श्रवण करने के पश्चात् भक्ति से पूछा-हे जिनेश! आप जैसे कोई तीर्थंकर इस समय भरतक्षेत्र में हैं?

अपराजित तीर्थंकर ने दिव्यध्वनि में उत्तर दिया-हाँ, इस समय भरतक्षेत्र की मिथिलापुरी में इक्कीसवें तीर्थंकर नमिकुमार विचर रहे हैं; वर्तमान में वे राज्यावस्था में हैं और वन की शोभा निहारने

के लिये वनविहार कर रहे है। कुछ समय पश्चात् केवलज्ञान प्रगट करके वे तीर्थंकर होंगे। वे अपराजित विमान से अवतरित हुए हैं। पूर्वभव में हम दोनों अपराजित विमान में साथ थे।

प्रभु के श्रीमुख से भरतक्षेत्र के तीर्थंकर की कथा सुनकर वे दोनों देव अति प्रसन्न हुए और परमभक्तिपूर्वक उन नमि तीर्थंकर के प्रत्यक्ष दर्शन करने हेतु तुरन्त मिथिलापुरी आये।

मिथिलापुरी में नमि महाराजा वनकी शोभा निहार रहे थे; इतने में आकाशमार्ग से आकर उन दोनों देवों ने प्रभुको नमस्कार किया। यह दृश्य देखकर लोग आश्चर्यचकित हो रहे थे कि दोनों देव हाथ जोड़कर बोले-हे प्रभो! आपको देखकर हम अति आनंदित हुए...आप इस भरतक्षेत्र के २१ वें तीर्थंकर हो...विदेहक्षेत्र के तीर्थंकर अपराजित के श्रीमुख से यह बात सूनकर हम आपके दर्शन करने आये हैं।




देवों की बात सुनकर नमिप्रभु के मुखपर किंचित् मुस्कान आयी और तुरन्त ही गंभीर विचार में खो गये। जिनको निकट भविष्य में ही केवलज्ञान होना है ऐसे वे भावी तीर्थंकर विदेहक्षेत्र के तीर्थंकर की धर्मसभा में हुई बात विचारने लगे; तत्क्षण उन्हें जातिस्मरण हुआ कि-अहा, वे अपराजित तीर्थंकर और मैं (नमि तीर्थंकर) दोनों पूर्वभव में अपराजित स्वर्गलोक में साथ थे; वहाँ असंख्य वर्ष तक हम साथ रहे हैं। उन प्रभुने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और मैं अभी राजभोग में पड़ा हूँ। अब मुझे इस प्रकार समय गँवाना उचित नहीं हैं। मैं आज ही मुनि बनूँगा और केवलज्ञान की साधना करूँगा। इस प्रकार दीक्षा का निश्चय करके प्रभु नमि महाराजा वैराग्य-चिन्तन करने लगे:

जीव स्वयं ही मोह द्वारा अपने को बंधन में बाँधकर संसाररुपी कारागृह में पड़ा है। जिस प्रकार पिंजरेमें बन्द पक्षी दुःखी होता है अथवा गजस्तंभ से बँधा हुआ गजराज-वनहस्ती दुःखी होता है, उसी प्रकार मोही जीव भवबन्धन में निरन्तर दुःखी एवं व्याकुल होता है। यद्यपि यह प्राणी मृत्यु एवं दुःखसे भयभीत होने पर भी उसके कारणों की ओर दौड़ता है; उनसे छूटने का प्रयत्न नहीं करता। तीव्र

विषयतृष्णासे आर्त्त-रौद्र ध्यान कर-करके वह महान दुःखी होता है; चार गति के परिभ्रमण में उसे कहीं विश्राम नहीं है। रत्नत्रयधर्म का सेवन ही इस भव दुःख से छुड़ाकर मोक्षसुख देनेवाला है। इस प्रकार भव-तन-भोग से विरक्त होकर मोक्षमें ही जिनका चित्त अनुरक्त है-ऐसे वे नमिमहाराजा दीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हुए।

उसी समय, देवों में वीतराग और ब्रह्मचारी ऐसे सारस्वत आदि लौकांतिक देव ब्रह्मलोक से मिथिलापुरी में आये और प्रभु नमिनाथ को नमस्कार करके स्तुति करने लगे-हे देव! आपके विचार उत्तम हैं; आपकी वैराग्य भावना का अनुमोदन करने ही हम आये हैं। इस प्रकार स्तुति एवं अनुमोदन के पश्चात् लोकांतिक देव लौट गये और इन्द्रादि देव 'उत्तर-कुरु' नामक पालकी लेकर दीक्षा कल्याणक मनाने आ पहुँचे। आषाढ़ कृष्ण दशम को (अपनी जन्मतिथि के दिन ही) नमिनाथ प्रभु सिद्ध भगवन्तों को नमन करके स्वयं ही दीक्षित हुए। भगवान के साथ अन्य एक हजार राजाओं ने भी जिनदीक्षा अंगीकार की। उसी समय आत्मध्यान में एकाग्र होने पर नमि मुनिराज को मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ। मुनिराज नमिनाथ को प्रथम पारणा वीरपुरी में दत्तराजाने कराया।

मुनिदशा में नौ वर्ष तक विचरने के पश्चात् प्रभु नमि मुनिराज पुनः मिथिलापुरी में पधारे और वहाँ अपने दीक्षावन में ही मगसिर शुक्ला एकादशी के दिन उन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ। इन्द्रादि देवों ने आकर समवसरण में प्रभुके केवलज्ञान का महोत्सव मनाया। देव, मनुष्य और तिर्यंच प्रभुकी धर्मसभा में उपदेश श्रवण करने बैठे। प्रभुने दिव्यध्वनि में शुद्धात्मतत्त्व की अनन्त महिमा बतलायी और उस शुद्धात्मा के परिणमनरूप मोक्षमार्ग का उपदेश दिया। हे जीवो! आत्मा का शुद्धतारूप परिणमन ही मोक्ष है, वह महान आनन्द रूप है; वह आत्मा से भिन्न नहीं है और किसी वस्तु का उसमें अवलम्बन नहीं है। उस मोक्षका उपाय भी आत्मा के शुद्धपरिणामरूप ही है; उसमें भी किसी दूसरे का अवलम्बन नहीं है।

ऐसे स्वावलम्बी मोक्षमार्ग को जानकर अनेक जीवों ने आत्मा के आश्रय से शुद्धपरिणमन किया और मोक्षकी साधना की। उन २१ वें तीर्थंकर प्रभुकी धर्मसभा में सुप्रभदेव आदि १७ गणधरों सहित कुल २० हजार मुनिवर विराजते थे; ४५००० आर्यिकाएँ थीं। एक लाख धर्मात्मा श्रावक तथा तीन लाख श्राविकाएँ थीं। चारों ओर दिव्य धर्मचक्र घूमते थे। अरे, समवसरण में ऊपर दृष्टि तो डालो, अहा! वहाँ १६०० तो सर्वज्ञ-केवली भगवन्त विराज रहे हैं। एक साथ एक हजार छह सौ अरिहंत परमात्माओं सहित तीर्थंकर प्रभुके दर्शनों से कैसा महान हर्ष होता है! और मोक्ष की आराधना के प्रति कितना उल्लास जागता है!! धन्य जिनवैभव!! धन्य आत्मवैभव!! ऐसे आश्चर्यकारी आत्मवैभवसहित वे इक्कीसवें तीर्थंकर प्रभु ढाई हजार वर्ष तक इस भरतक्षेत्र में विचरे और वीतरागी धर्मोपदेश द्वारा लाखों जीवों का कल्याण किया।

इस प्रकार धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते-करते प्रभु नमिनाथ की आयु जब मात्र एक मास शेष रही तब वे सम्मेदशिखर पधारे और अनुक्रम से योगनिरोध करके, वैशाख कृष्णा चतुदर्शीकी रात्रि के अन्तिम प्रहर में सर्वथा निष्कर्म होकर, सिध्दपुरी में जाकर विराजमान हो गये। देवों और मनुष्योंने प्रभुकी मोक्षप्राप्तिका कल्याणक महोत्सव मनाया। उस अवसर पर अशरीरी चैतन्य भावरुप मोक्षका (अर्थात सर्वथा शुध्द आत्माकी अचिंत्य महिमा का) चिन्तन कर करके अनेक जीव संसार से विरक्त हुए; किन्हीं ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, कोई मुनि हुए तो कितनों ने केवलज्ञान प्रगट किया और कुछ जीव तो प्रभुके साथ ही मुक्ति को प्राप्त हुए। मोक्षकी साधना का वह महामंगल-महोत्सव था। उस मोक्षकी स्मृति में इन्द्रने भी उस मोक्षभूमि 'मित्रधर' टूंक पर प्रभुचरणों की स्थापना करके पूजा की।-

**नमिनाथ जिनराज की मित्रधर टूंक है जेह,**
**मन-वच-तन कर पूज हूँ शिखर सम्मेद यजेह।**

अहो, हम जैसे भव्य जीवों के हितकारी मित्र ,हे भगवान नमिनाथ! आपके धर्मरथ में आरूढ होकर हम शीघ्र मोक्षपुरी में आ रहे हैं... आपको नमस्कार हो!

**[२१ वे तीर्थंकर नमिनाथ भगवान का मंगल जीवन चरित्र पूर्ण हुआ]**

## ११वें चक्रवर्ती जयसेन

२१वें नमिनाथ तीर्थंकर के शासन में, कौशाम्बी नगरीमें जयसेन नामक चक्रवर्ती हुए; प्रत्येक तीर्थंकर चौवीसमें १२ चक्रवर्ती होते है; उनमें यह ११वें चक्रवर्ती था। वे उल्कापात देखकर वैराग्य को प्राप्त हुए और अपने ज्येष्ठ पुत्रको छह खण्डका राज्य देने की इच्छा प्रगट की किन्तु पुत्र भी वैरागी था; उसने राज्य लेनेसे इन्कार किया और पिता के साथ ही दीक्षा लेने को तैयार हो गया। चक्रवर्ती जयसेन ने वरदत्त केवली के निकट जिन दिक्षा ग्रहण की और समाधिमरण करके जयंत नामके अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए।

[२२]




नेमिनाथ प्रभु परम विरागी सिद्धपुरी में सोहैं,
हुए पंचकल्याणक सुराष्ट्र में भविजन का मन मोहैं।
किया त्याग राजुल का प्रभुने, मुक्तिलगी अति प्यारी,
हम जीवन आदर्श प्रभुजी, आनन्द-मंगलकारी।

धर्मरथ के चक्र की 'नेमि' (धुरी) समान बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथस्वामी हमारे धर्मरथ को मोक्षपुरी में पहुँचाओ! पशुओं को बंधन से छुड़ानेवाले प्रभु नेमिनाथ हमें भी भवबंधनसे छुडाओं! पूर्ण आनन्दधाम में विराजमान प्रभु, हमें भी आनन्दधाम में स्थापित करो! जिन्होंने विवाह के समय ही वैराग्य धारण किया, राजुलदेवी को संसार से विरक्त करके मोक्षसाधना की प्रेरणा दी, स्वयं मोक्षपुरीमें सिधारने पर भी हमारे हृदय में भी विराजमान हैं, वे भगवान नेमिनाथ हमें भी अपने जैसा उत्तम मंगल-जीवन प्रदान करो। अहा, आत्मसाधनामय उनके वीतरागी जीवन का यह पुराण भव्य जीवों को विषयकषायों से छुड़ाकर आत्महित की प्रेरणा देनेवाला है। भव्य जीव भक्तिपूर्वक उसका श्रवण करो, पठन करो! पुराण द्वारा उन प्रभुके ज्ञान-वैराग्यमय पवित्र जीवन का चिन्तवन ही उनका स्तवन है; उस पवित्र जीवन का चिन्तन अपने भावों को मंगलरूप करता है और मुक्तिकी साधना में लगाता है।

## भगवान नेमिनाथ : पूर्वभव : चिन्तागति विद्याधर

वे भगवान नेमिनाथ पूर्व सातवें भवमें पुष्कर द्वीप में चिन्तागति नामके विद्याधर थे; उनके दूसरे दो छोटे भाई थे-एक का नाम मनोगति और दूसरे का चपलगति था। अनेक विद्याओं के साथ आकाशगामी विद्या में भी वे तीनों भाई पारंगत थे।

उस समय प्रीतिमती नामक एक राजकुमारी अति रूपवान और गतिविद्यामें महान कुशल थी;

उसनेअभिमानपूर्वक ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि-गतिस्पर्धा में मुझे जो पराजित कर देगा उसीके साथ ही विवाह करूँगी। (उसकी योजनानुसार मेरु के शिखर से एक माला नीचे फेंकी जाती, वह माला नीचे गिरने से पूर्व, मेरु की तीन प्रदक्षिणा देकर झेल लेनी थी।) उस स्पर्धा में कितने ही राजकुमार पराजित हो चुके थे। चिन्तागति विद्याधर के दोनों भाई-मनोगति और चपलगति भी राजकुमारी पर मोहित होकर उससे विवाह करनेकी इच्छा से गये; परन्तु वे भी उस गतियुद्ध में हारकर तथा अपमानित होकर लौट आये।

अपने भाईयों का अपमान देखकर चिन्तागतिने गतियुध्द में उस राजकुमारी को पराजित कर दिया और राजकुमारी उसे वरमाला पहिनाने को तैयार हुई; तब उसके साथ विवाह करने से इन्कार करते हुए चिन्तागतिने कहा कि-तुम मेरे छोटे भाइयों को माला पहिनाओं, क्योंकि वे तुमसे विवाह करने की इच्छा रखते थे।

राजकुमारीने कहा-गतियुद्ध में आपने ही मुझे जीता है इसलिये मैं आपसे ही विवाह करूँगी, नहीं तो कुँवारी रहकर दीक्षा ग्रहण करूँगी। आपके सिवा समस्त पुरुष मुझे बन्धु समान हैं।

चिन्तागतिने कहा-मेरे छोटे भाइयोंने जिसके साथ विवाह करने की इच्छा की हो, उसके साथ मैं विवाह करूँ वह मेरे लिये शोभास्पद नहीं है।-इस प्रकार चिन्तागति विद्याधरने (नेमिनाथ के जीवने) विवाह का इन्कार करने पर, अन्त में राजकुमारी प्रीतिमती ने दीक्षा ले ली और आर्यिकाव्रत धारण किये।

[पुराणों में राजकुमारी प्रीतिमती का वर्णन यहीं तक आता है। उसके बाद अगले भवों में उसका क्या हुआ तत्सम्बन्धी उल्लेख किसी पुराण में नहीं मिलता। परन्तु अनुमान से ऐसा लगता है कि वह जीव कुछ भव धारण करे राजमती (राजुल) हुई हो, और नेमिनाथ के जीवने चिन्तागति के भवमें जिस प्रकार प्रीतिमती के साथ विवाह करने से इन्कार किया था, उसी प्रकार उन्हीं संस्कारों के बलसे, इस भवमें भी राजीमति से विवाह का इन्कार करके स्वयं वैराग्य प्राप्त किया हो और राजीमति को भी वैराग्य की प्रेरणा दी हो। इसके अतिरिक्त बीचके भवों में वे नेमि-राजुल के जीव एक-दूसरे के साथ होने का कोई उल्लेख पुराणों में देखने को नहीं मिलता।]

चिन्तागति ने विवाह का इन्कार करने पर राजकुमारीने दीक्षा ग्रहण कर ली। उसका ऐसा पराक्रम देखकर अन्य अनेक जीव भी संसार से विरक्त हो गये। चिन्तागति आदि तीनों राजकुमारों ने भी संसारसे विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण की और संयमपूर्वक देहत्याग करके तीनों भाई चौथे स्वर्ग में देव हुए।

## भगवान नेमिनाथ : पाँचवाँ पूर्वभव : अपराजितकुमार

पश्चिम विदेहक्षेत्र में सीतोदा नदीके किनारे सिद्धपुर नामके सुन्दर नगरमें अर्हत्‌दास राजा राज्य करते थे। चौथे स्वर्ग से आयु पूर्ण होने पर वह देव (भूतकाल के चिन्तागति विद्याधर और भविष्यकाल के नेमिनाथ तीर्थंकर का जीव) अर्हत्‌दास राजा के कुँवररूप में अवतरित हुआ...उसका नाम अपराजित।

उनके महा भाग्योदय से एक बार उस नगरी में विमलवाहन तीर्थंकर का पदार्पण हुआ। राजा और प्रजा अत्यन्त हर्षपूर्वक प्रभुके दर्शनार्थ गये। प्रभुके उपदेश से धर्म प्राप्त करके महाराजा अर्हत्‌दास संसार से विरक्त हुए और पुत्र अपराजित कुमारको राज्य का भार सौपकर स्वयं जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। अपराजित कुमारने भी प्रभुके उपदेश से चैतन्यतत्त्व की अपूर्व महिमा समझकर प्रज्ञाछैनी द्वारा मोह को छेदकर अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट किया। और श्रावक के व्रत भी धारण किये। अहा, एक भावी तीर्थंकरने

मोक्षमार्ग में प्रवेश किया।

महाराजा अपराजित धर्मपालनपूर्वक राज्य का संचालन करते थे। एकबार उन्होंने सुना कि-उनके पिताश्री अर्हत् मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। उससे अत्यन्त हर्षित होकर वे अपने पिताश्री अर्हत् केवली तथा विमलवाहन तीर्थंकर के दर्शनार्थ चले...मार्ग में जाते-जाते उन्होंने सुना कि वे दोनों तो मोक्ष पधार गये हैं!



उनके मोक्षगमन की बात सुनकर अपराजित राजा को आघात लगा, और तीव्र भक्तिभाववश बिना विचारे ऐसी प्रतिज्ञा कर ली कि-जब तक मुझे उन भगवन्तों के दर्शन नहीं होंगे तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा। अरे, एक भावी तीर्थंकरको भूतकालीन तीर्थंकर के प्रत्यक्ष दर्शन की अभिलाषा जागृत हुई। अरे, परन्तु क्या मोक्ष में गये हुए परमात्मा लौटकर आयेंगे?...हाँ, क्यों नहीं आयेंगे? क्या ज्ञानके बलसे साधक जीव सिद्ध भगवान को अपने अंतरमें नहीं उतारते? तो इन धर्मात्मा भावी तीर्थंकर की भावना पूर्ण क्यों नहीं होगी?

अपराजित राजा को अडिग होकर उन भगवन्तों के ध्यान में बैठ गये। भगवन्तों के दर्शन बिना आठ दिन निराहार बीत गये। आठ दिनके उपवास होनेपर पुण्ययोग से एक देवने उनकी भक्ति से प्रभावित होकर अपनी विक्रिया द्वारा समवसरण जैसी दिव्यरचना की; उसमें मानो तीर्थंकर विमलवाहन तथा अर्हत् केवली विराजते हों ऐसा दृश्य बनाया। उस दिव्य दृश्यमें भगवन्तों के दर्शन करके राजा अपराजितका चित्त अति प्रसन्न हुआ। अहा, आत्मार्थी जीवों के हृदयकी ऊर्मियाँ भी भिन्न प्रकारकी होती है। [और एक दूसरा महान आश्चर्य यह भी देखो कि जिस भक्ति से स्वर्ग के देव प्रभावित हुए, उससे भी सिध्दभगवन्तो को किंचित प्रसन्नता या राग जागृत नही हुआ; वे तो वीतराग रुपसे अपने स्वरुप में ही स्थिर रहकर मोक्षमें बैठे रहे! धन्य है जैन भगवन्तो की वीतरागता!!

वे राजा अपराजित धर्म भावना पूर्वक सिंहपुरी का राज्य करते थे। एकबार जिनमंन्दिर में दर्शन पूजन करके वे स्वाध्याय में लीन थे कि आकाशमार्गसे दो मुनिवर पधारे। उन्हें देखकर राजा को महान आश्चर्य और अक्षय निधान की प्राप्ति जैसी प्रसन्ता हुई। विनय पूर्वक वन्दना करके उनका उपदेश भी सुना; फिर कहा-हे भगवन्तो! आपके दर्शन से मैं धन्य होगया! आपको देखकर मुझे हार्दिक प्रसंन्नता हो रही है और अंतरसे भातृ स्नेह उमड़ रहा है! मुझे ऐसा लग रहा है जैसे पहले आपको कहीं देखा हो और आप मेरे पूर्व परिचित भ्राता हो!

तब मुनिराज बोले-हे राजन सुनो! आपकी बात सत्य है; इस भवमे नही किन्तु पूर्वभवमें आपने हमें देखा है...किस प्रकार .... सो सुनो!

राजा अपराजित उत्सुकता पूर्वक अपने पूर्वभव की बात सुनने लगे और मुनिराज कहने लगे-हे राजा! पूर्वभवमें आप चिन्तागति नामके विद्याधर थे और हम दोनों मुनि आपके लघुभ्राता (मनोगति तथा चपलगति) थे। प्रीतिमती राजकुमारी के निमित्त से वैराग्य प्राप्त करके हम तीनों भाइयों ने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली और स्वर्ग में गये। वहाँ से हम दोनों पूर्वविदेह में विद्याधर राजकुमार के रुप में अवतरित हुए।

एकबार हम दोनों राजकुमार स्वयंभू तीर्थंकर के समवसरण में गये...यहाँ हमने अपने तीनों के पूर्वभव की बात सुनी और वैराग्य प्राप्त करके जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गये। पूर्वभव के स्नेह के कारण हमें यह जानने की इच्छा हुई कि हमारे ज्येष्ठ भ्राता चिन्तागति वर्तमान में कहाँ हैं? भगवान की वाणी से जाना कि-आप पश्चिम विदेह में अपराजित राजा के रुपमें अवतरित हुए हैं...यह जानकर हे राजा! पूर्वभव के स्नेहवश हम यहाँ आये हैं। आपको जो भ्रातृवत् स्नेह उमड़ रहा है उसका भी यही कारण है! जीव नित्य होने से पूर्वभव के संस्कार भी अपना कार्य करते रहते हैं। हे बन्धु! पूर्वकर्म के उदय से प्राप्त भोगों को आपने दीर्घकाल तक भोगा है; अब उनसे विरक्त होओ; आपकी आयु मात्र एक मास शेष रही है, इसलिये शीघ्र आत्मकल्याण का विचार करो!

अपने पूर्वभव के भ्राता ऐसे उन दोनों मुनिवरों के श्रीमुख से अपने पूर्वभव की तथा आत्महित की बात सुनकर राजा अपराजित को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहा-हे भगवन्त! आप निर्ग्रन्थ, निर्मोह होनेपर भी पूर्वभव. के स्नेहवश आपने मुझ पर महान उपकार किया है, सचमुच आप मेरे सच्चे हितैषी बंधु हो।

मुनिराज ने परम वात्सल्यदृष्टि से कहा- हे राजन्! आप मात्र हमारे पूर्वभव के भ्राता ही नहीं किन्तु भावी तीर्थंकर हो, और पाँचवें भवमें तुम भरतक्षेत्र के बाईसवें तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे। ऐसा उत्तम भविष्य कहकर तथा राजाको आशीर्वाद देकर वे दोनों मुनिवर पूर्व विदेहक्षेत्र की ओर विहार कर गये।

मुनिवरों के श्रीमुख से अपने मोक्षकी बात सुनकर राजा अपराजित को जो आनन्द हुआ उसका क्या कहना! मोक्षार्थी को मोक्षसे बढ़कर दूसरी वस्तु और क्या होगी? राजा का चित्त मोक्ष की साधना में तत्पर हुआ; राजपाट छोड़कर उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की, इतना ही नहीं, प्रायोपगमन नामक उत्कृष्ट संन्यास धारण करके एक महीने तक उत्तम आराधना की और समाधिमरणपूर्वक देह त्यागकर १६ वें अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए।

अच्युत स्वर्ग के दिव्य वैभवों में उन धर्मात्मा इन्द्रने बाईस सागरोपम के. असंख्य वर्ष बिताये, परन्तु वहाँ भी वे बाह्य सुखों में इतने मुग्ध नहीं हुए थे कि चैतन्यवैभव को भूल जायँ! चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख के समक्ष इन्द्रलोक के सुख भी उन्हें तुच्छ भासित होते थे, और मोक्ष सुख की साधना निरंतर चल रही थी। सच्चा अच्युतपद तो सिध्दपद है, -ऐसा जाननेवाले वे अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर अच्युतस्वर्ग से च्युत होकर मनुष्यलोक में अवतरित हुए।

## भगवान नेमिनाथ : तीसरा पूर्वभव : हस्तिनापुर में सुप्रतिष्ठ राजा

उस समय इस भरतक्षेत्र के हस्तिनापुर में राजा श्रीचन्द्र राज्य करते थे; अच्युतेन्द्र का वह जीव उनके यशस्वी पुत्ररुप में उत्पन्न हुआ, उसका नाम सुप्रतिष्ठ। वह राजकुमार युवावस्था को प्राप्त होने पर उसका राज्याभिषेक करके महाराजा श्रीचन्द्रने जिनदीक्षा धारण की। राजा सुप्रतिष्ठ न्याय-नीतिनिपुण एवं आत्मज्ञानी थे। उनकी रानी का नाम सुनन्दा था। वे सदा जिनेन्द्र देवकी पूजा करते और जैनधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाते थे; उनके राज्यमें सर्वत्र धर्मात्माओं एवं विद्वानों का सन्मान होता था; वे भक्तिपूर्वक मुनिवरों की सेवा करते थे। एकबार यशोधर मुनिराज को आहारदान दिया, उस समय देवों ने प्रसन्न होकर उनके आँगन में दुंदुभिनाद, रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्रगट किये थे। इस प्रकार उन्होंने दीर्घकाल तक हस्तिनापुर के राज्य का उपभोग किया।

एक दिन वे राजा सुप्रतिष्ठ चाँदनी रात्रि में महल की छत पर खड़े आकाश की शोभा निहार रहे थे और विचारते थे कि-जिस प्रकार असंख्य तारा मण्डलों से जगमगाता हुआ यह स्वच्छ आकाश शोभायमान है उसी प्रकार असंख्य आत्मगुणों के आनन्दकारी प्रकाश से मेरा यह चैतन्यगगन सुशोभित है...वह शोभा अंतरके स्वानुभुतिरूप अतीन्द्रिय चक्षुओं से दृष्टिगोचर होती है। राजा सुप्रतिष्ठ ऐसा आत्मचिन्तन कर रहे हैं इतने में...



[भगवान नेमिनाथ पूर्वभव में सुप्रतिष्ठ राजा हैं, खिरते हुए तारे को देखकर वैराग्य प्राप्त करते हैं]

अचानक खर्रर्र...ध्वनि के साथ प्रकाश की तेज रेखा दिखायी दी। क्या हुआ? आकाश से उल्कापात हुआ, एक विशाल तारा खिर गया। वह देखते ही राजा की विचारधारा में भी मानों चमक हुई...उनका चित्त संसार की अस्थिरता देखकर विरक्त हुआ और वे विचारने लगे कि-गगन से यह तारा तो खिर गया, परन्तु मेरा चैतन्यगगन इतना ध्रुव है कि उसमें से निजगुण का एक भी तारा कभी खिरता नहीं है; इसलिये अनन्त गुणों के शाश्वत वैभव से भरपूर मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है, इस संसार में अन्य कोई संयोग स्थिर या शरणभूत नहीं है।-इस प्रकार वैराग्य प्राप्त करने उन राजा सुप्रतिष्ठने सुमंदर जिनराजके समक्ष जिनदीक्षा धारण कर ली।

रत्नत्रयधारी वे सुप्रतिष्ठ मुनिराज आत्मध्यानपूर्वक परिणामविशुद्धि करने लगे; उनको बारह अंग का ज्ञान उदित हुआ और दर्शनविशुद्धि आदि १६ उत्तम भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया। अब, एक भव पश्चात् तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करना निश्चित हो गया। अंत समय में एक मास का संल्लेखना व्रत धारण करके उन्होंने समाधिमरण किया और जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए।

सिद्धपद के समीपस्थ ऐसी उस अहमिन्द्र पर्याय में अपने चरित्रनायक नेमिनाथ ३३ सागर के असंख्य वर्षों तक रहे। वहाँ वे निराकुल दिव्य सुखका अनुभव करते थे; यद्यपि उनके पास आत्मजनित तथा पुण्यजनित-ऐसे दोनों प्रकारके उत्तम सुख थे, तथापि उनमें आत्मजनित सुखों को ही वे उपादेय मानते थे, पुण्यजनित सुखों को तुच्छ एवं क्षणभंगुर जानते थे, अर्थात् वास्तवमें उन्हें दुःख ही समझते थे। क्योंकि-

'परयुक्त, बाधारहित, खंडित, बंधकारण विषम छे;
जे इन्द्रियोथी लब्ध ते सुख ए रीते दुःखज खरे।'

वे महात्मा जानते थे कि-स्वर्गलोक के इस पुण्य के बीच में सदा रहनेवाला नहीं हूँ, परन्तु अपने आत्मसुखके साथ तो मैं सदा तन्मयरूप से रहूँगा। ऐसे भेदविज्ञान के कारण वे महात्मा स्वर्गलोक के बाह्यसुखों में लीन नहीं हुए और पूर्व के पुण्यकर्मों की भी निर्जरा करके मोक्ष साधना की ओर आगे बढ़ते-रहे।

[यहाँ एक विषयकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं कि-नेमिनाथ प्रभुके इन अहमिन्द्रादि भवों में राजीमति का जीव उनके साथ नहीं रहा हैं; क्योंकि जो अनुत्तरविमान में उत्पन्न हो, वह सम्यग्दृष्टि एवं एकावतारी होता है और उसे भविष्य में कभी स्त्रीपर्याय नहीं होती। राजीमति का जीव यदि स्वर्गमें हो तब भी तत्पश्चात् नेमिनाथ के भव में साथ रहने के लिये उसे बीच में अनेक भव धारण करने पड़ेंगे। परन्तु उनका उल्लेख कहीं देखने को नहीं मिलता।]

इस प्रकार मोक्षसाधना में आगे बढ़ते-बढ़ते उन अहमिन्द्र का भरतक्षेत्र में तीर्थंकररुप में अवतरित होने का समय निकट आ गया था। वे अवतार लें उसके पूर्व जिनके यहाँ वे अवतरित होनेवाले हैं उन महाराजा समुद्रविजय की वंशपरम्परा का परिचय करे लें।

## [हरिवंश : नेमिप्रभु की वंशपरम्परा का परिचय]

हरिवंश की परम्परा में सिंहकेतु, शूरसेन आदि अनेक मोक्षगामी राजा हुए। शूरसेन के पौत्र अंधकवृष्टि शौरीपुर (सूर्यपुर) में राज्य करते थे।

❁ उन अंधकवृष्टि राजा के दस पुत्र थे; उनमें सबसे बड़े समुद्रविजय (श्रीनेमिनाथ के पिता), और सबसे छोटे वसुकुमार (श्रीकृष्ण के पिता); इस प्रकार श्रीकृष्ण तथा नेमिकुमार चचेरे भाई हुए।

❁ उन दस पुत्रों के अतिरिक्त राजा अंधकवृष्टि के कुन्ती और माद्री नाम की दो पुत्रियाँ थीं,-उनके पुत्र पाण्डव। इस प्रकार नेमि-कृष्ण और पाण्डव मामा-बुआ के भाई थे।

❁ अंधकवृष्टि के छोटे भाई नरवृष्टि, वे मथुरा में राज्य करते थे; उनका पुत्र उग्रसेन, और उन उग्रसेन का पुत्र कंस।

इतने सम्बन्धोंका उल्लेख आगे चलकर यह कथा समझने में उपयोगी होगा।

## अंधकवृष्टि (श्रीकृष्ण तथा नेमिकुमार के दादा) के पूर्वभव

एक बार शौरीपुर नगरी में एक मुनिराज पधारे। उन्हें केवलज्ञान हुआ। उनके निकट धर्मोपदेश तथा अपने पूर्वभव सुनकर राजा अंधकवृष्टि वैराग्य को प्राप्त हुए।

पूर्वभव में वे अंधकवृष्टि अयोध्या में रुद्रदत्त ब्राह्मण थे। उनके मित्र सुरेन्द्रसेठ कुबेरसमान सम्पत्तिवान तथा जैनधर्म के परमभक्त थे। जिनपूजादि कार्यों में वे प्रतिदिन दस स्वर्णमुद्राएँ, अष्टमी को बीस तथा चतुर्दशी को चालीस स्वर्णमुद्राएँ खर्च करते थे। एक बार सुरेन्द्रसेठ को बारह वर्ष तक परदेश जाना पड़ा; तब अपने मित्र रुद्रदत्त पर विश्वास रखकर उन्हें जिन मन्दिर के पूजनादि कार्यों के लिये बहुतसी स्वर्णमुद्राएँ दीं। परन्तु रुद्रदत्त ने वह धन पूजादिकार्यों के बदले जुआ आदि पाप कार्यों में खर्च कर दिया। इस प्रकार विश्वासघात करके धर्म का द्रव्य पापकार्यों में व्यय करना आदि महापापोंका सेवन करके वह जीव कितनी ही बार नरक में गया और तीव्र दुःख सहन किये। (बंधुओ! धर्मकी विराधना

के महापाप का फल जानकर स्वप्न में भी कभी धर्म की किंचित् भी विराधना नहीं करना; तन-मन-धनसे भक्तिपूर्वक धर्मकी सेवा करना।)

पश्चात् संसार में भटकता हुआ वह रुद्रदत्त का (नेमिनाथ के दादा का) जीव हस्तिनापुरी में अति निर्धन मनुष्य हुआ। वह महारोगिष्ठ, दुर्गन्धयुक्त तथा कुरुप था; घर-घर भटककर भीख माँगनेपर भी उसका पेट नहीं भरता था। मानो नरक कैसा होता है वह पापी जीवों को प्रत्यक्ष दिखाने के लिये ही कर्मों ने उसे मनुष्यलोक में भेजा था। ऐसा होने पर भी, उसकी मोक्षकी काललब्धि निकट आने की तैयारी होने से उसके अनुकूल एक प्रसंग बना।

एक जैन मुनिराज आहार के लिये उस नगरी में पधारे। दरिद्र रुद्रदत्त भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा। श्रावकों ने मुनिराज को भक्तिपूर्वक आहारदान दिया...और पश्चात् उनके साथ आये हुए उस दरिद्र ब्राह्मण को भी भरपेट भोजन कराया। 'अरे, जीवन में एक क्षणभर मुनिराज के साथ रहने से मुझे इतना अच्छा भोजन प्राप्त हुआ, तो अब क्यों न सदा उनके साथ रहूँ-जिनसे मेरा दरिद्र दूर हो जाय?'-ऐसा सोचकर वह मुनि के साथ वन में गया और प्रार्थना की कि-हे स्वामी! मुझे भी अपने साथ रखिये!

मुनिराज ने उसे निकट भव्य जानकर जैन साधु की दीक्षा दी। अन्य मुनियों के साथ रहकर वह भी संयम, तप एवं शास्त्राभ्यास करने लगा। अहा, जैनधर्म तो उदार है, उसकी उपासना का फल महान है; पूर्वकालीन महापापों को एक क्षण में धो देता है। ऐसे जिनधर्मकी आराधना करके उस रुद्रदत्तके जीवने पूर्वभवकी विराधना के समस्त पाप धो डाले और समाधिमरण करके वह ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ....वहाँ से आकर इस शौरीपुर में अंधकवृष्टि राजा हुआ है। इस प्रकार पूर्वभव बतलाकर उन केवली भगवानने कहा- हे राजन्! मैं ही तुम्हें पूर्वभवमें दीक्षा देनेवाला मुनि था; तुम चरमशरीरी हो और बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का जीव तुम्हारे पौत्ररुप में अवतरित होगा।

यह सुनकर नेमिप्रभुके दादाने कहा- हे देव! पूर्वभवमें आप मुझे धर्म प्राप्त करानेवाले उपकारी गुरु थे और वर्तमान में भी परमगुरु के रुप में उपदेश देकर आपने मेरा कल्याण किया है। अरे, कहाँ वे बारम्बार नरक के दुःख! और कहाँ अहमिन्द्र पद! दोनों में मैं अकेला था और अब मोक्ष में भी अकेला ही जाऊँगा। -इस प्रकार वैराग्यसहित दीक्षा लेकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

**जन्म-मरण ऐक ज करे, सुख-दुःख वेदे ऐक;**
**नर्कगमन पण ऐकलो, मोक्ष जाय जीव ऐक।**

**जो जीव तुं छे ऐकलो, तो तज सौ परभाव;**
**आत्मा ध्यावो ज्ञानमय, शीघ्र मोक्षसुख पाव।**

उन राजा अंधकवृष्टि के दस पुत्रों में से समुद्रविजय आदि नौ पुत्र तो पूर्वभव में भाई ही थे और दीक्षा लेकर मुनि हुए थे; वे स्वर्गमें जाकर पुनः यहाँ अवतरित हुए हैं। दसवें पुत्र वसुराज (श्रीकृष्ण के पिता) वह पूर्वभव में नन्दिसेन नामक निर्धन मनुष्य था और दुःखोंसे व्याकुल होकर आत्महत्या का विचार कर रहा था, उस समय शंख और निर्नामिक (जो कि श्रीकृष्ण तथा बलभद्रके जीव हैं) -दो मुनिराजों ने उसे देखा; उस नन्दिसेन को निकटभव्य जानकर तथा अगले भव में यह हमारे पिता होनेवाले हैं-ऐसा ज्ञान करके उन मुनियों ने उसे आत्महत्या करने से रोका और धर्म का स्वरुप समझाकर जिनदीक्षा दी। वे नन्दिसेनमुनि वैयावृत्य तप में प्रसिध्द थे; उनको अनेक लब्धियाँ प्रगट हुई थीं, जिनसे वैयावृत्य के लिये उपयोगी औषधादि पदार्थ उन्हें स्वयमेव प्राप्त हो जाते थे। इन्द्रसभा में भी उनके वैयावृत्य की

प्रशंसा होती थी। अहो, जैन शासन में धर्मात्मा के वैयावृत्य की अपार महिमा है। जो मनुष्य समर्थ होनेपर भी आपत्तिकालमें धर्मात्मा की उपेक्षा करता है और वैयावृत्य द्वारा उनका कष्ट दूर करनेका प्रयत्न नहीं करता उसका चित्त कठोर है, उसे धर्म की रुचि नहीं है।

नन्दिसेन मुनिराज को धर्मका परम वात्सल्य था, वे मुनियों की परमसेवा करते थे; परन्तु वे एक भूल कर बैठे-वे दुर्गन्धित शरीर से त्रस्त होकर मुनि हुए थे; उस शल्य के कारण वे ऐसा निदान कर बैठे कि-'धर्म के प्रताप से भविष्य में मुझे अति सुन्दर-रुपवान शरीर प्राप्त हो'; -इसलिये स्वर्ग में आकर फिर वह जीव अंधकवृष्टि का सबसे छोटा पुत्र वसुराज हुआ है; उसका रुप अतिसुन्दर है।
श्रीकृष्ण और बलभद्र उसी के पुत्र होंगे।

समुद्रविजय का राज्याभिषेक करके महाराजा अंधकवृष्टि तो मुनि होकर मोक्षगामी हुए। कहाँ सातवें नरक के घोर दुःख और कहाँ मोक्ष का परमसुख! चैतन्य में कोई अचिंत्य शक्ति (परमात्मशक्ति) है कि जिसकी उपासना से स्वयं परमात्मा हो जाता है। जो कभी सातवें नरक का जीव था वही जैनधर्मके सेवन से चैतन्यकी आराधना के प्रताप से परमात्मा बन जाता है। ऐसे प्रतापवन्त जैन धर्म का हे भव्यजीवो! तुम भक्तिसहित सेवन करो।

अब, महाराजा समुद्रविजय शौरीपुर के राज्य का संचालन करने लगे। उनका सबसे छोटा (दसवाँ) भाई वसुकुमार अति रुपवान था; वह जब नगर में घूमने निकलता तब नगर की स्त्रियाँ उसके सुन्दर रुपपर मोहित हो जातीं और गृहकार्य भूल जाती थीं...अरे, अपने बच्चों को भी निराधार छोड़कर वे वसुकुमार को देखने दौड़ती थीं। नगरजनोंने यह आपत्ति महाराजा समुद्रविजय के समक्ष प्रगट की, जिससे महाराजा ने उसे युक्तिपूर्वक राजमहलमें ही रोककर नगर में जाना बन्द करा दिया। एक बार द्वारपालने जब उसे महल से बाहर जाने को रोका तब उसे पता चला कि-अरे, मुझे तो नजरकैद की भाँति राजमहल में बन्द कर दिया गया है! इससे दुःखी होकर वह नगर छोड़कर चला गया और छल-कपट से ऐसी अफवाह फैलायी कि-वह स्वयं चिता में जल मरा हो।

इधर वसुकुमार के वियोग से समुद्रविजय आदि अत्यन्त दुःखी हुए; परन्तु निमित्तज्ञानियों ने कहा कि-वह कुमार जीवित है और अमुक वर्ष पश्चात् आपसे उसका मिलाप होगा।

कुमार वसुदेव मगध देशमें राजगृही गया; वहाँ से एक विद्याधर उसे विजयार्द्ध पर्वत पर ले गया; फिर वह चम्पापुर गया। उसे जगह जगह राजकन्याओंसहित अनेक प्रकार के वैभव की प्राप्ति हुई। अन्त में वह रोहिणी के स्वयंवर में गुप्तवेश में पहुँचा और रोहिणीने उसे वरमाला पहिनायी।...इसलिये वहाँ स्वयंवर में आये हुए राजा अपमानित होकर लड़ने लगे, परन्तु वसुकुमार को कोई जीत नहीं सका। अन्त में राजा समुद्रविजय लड़ने के लिये तैयार हुए; उन्हें देखकर वसुदेवने उनके चरणों में एक बाण फेंका। उस बाण के साथ एक चिट्ठी थी, जिसमें लिखा था कि- 'हे पूज्यवर! आपका छोटा भाई वसुकुमार आपके चरणों में नमस्कार करता हैं।'

वह चिट्ठी पढ़ते ही, -अहा, मेरा भाई जीवित है और आज मुझे उसका मिलाप हुआ-ऐसे महान हर्षपूर्वक समुद्रमहाराजा शस्त्र डालकर अपने भाई से भेट पड़े। सबने आनन्दपूर्वक शौरीपुर में प्रवेश किया। कुछ समय पश्चात्-पहले जिनका कथनकर चुके हैं-शंखमुनि का जीव स्वर्ग से आकर वसुकुमार की रानी रोहिणी की कुक्षिसे पुत्ररुप में अवतरित हुआ। ज्योतिषियों ने कहा कि-यह पुत्र नौवाँ बलभद्र होगा।

अभी बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का अवतार नहीं हुआ, उससे पूर्व उनके कुल-वंश का परिचय

चल रहा है। जब शौरीपुर में राजा समुद्रविजय राज्य करते थे तब मथुरा में राजा कंस राज्य करता था। वह कंसका जीव पूर्वभवमें वसिष्ठ नामका बाबा था; परन्तु जैनमुनियों के उपदेश से धर्म प्राप्त करके वह जैन साधु हो गया था और एक-एक महीने के उपवास करता था। तब मथुरा के राजा उग्रसेन ने अविचारी-भक्तिसे ऐसी आज्ञा की कि इन मुनि को मासोपवास का पारणा मैं ही कराऊँगा, दूसरा कोई न कराये।

परन्तु मुनिराज जब पारणे हेतु नगर में पधारे तब राजमहल में हस्ती, अग्नि आदि उपद्रव होने से राजा उग्रसेन उन्हें पारणा नहीं करा सके। इस प्रकार मासोपवासी वसिष्ठ मुनि को पारणा किये बिना तीन बार लौटे। जब उन्हें पता चला कि उग्रसेन की आज्ञा कि कारण ही ऐसा हो रहा है, तब उनके मन में राजा के प्रति वैरभाव जागृत हो उठा, और विवेक को चूककर तथा धर्मभ्रष्ट होकर वे ऐसा निदान बंध (बुरा संकल्प) कर बैठे कि-मैं अपने तप के प्रभाव से अगले भव में इस उग्रसेन राजा का पुत्र होकर इसका राज्य छीन लूँ और इसे कारागृह में डालूँ। बस, हो चुका। वैरभाव से वह जीव उत्तम पुण्य को बेच बैठा और मरकर मथुरा नगरी में उग्रसेन राजा का पुत्र हुआ,-उसका नाम कंस। उसके अशुभ लक्षण देखकर राजा उग्रसेन ने उसे मथुरा से निकाल दिया; वह फिरते-फिरते शौरीपुर में आया और राजकुमार वसुदेव का चाकर बनकर रहने लगा।

[उन वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण जो कि अर्धचक्रवर्ती होनेवाले हैं-उनके जन्म की कथा अब पढ़ोगे। नेमिनाथ तीर्थंकर का अवतार श्रीकृष्ण जन्म के पश्चात् होगा।]

## श्रीकृष्ण के जन्म की कथा

जिस समय की यह कथा है उस समय भारत में २१ वें तीर्थंकर का शासन चल रहा था; और राजगृही नगरी में राजा जरासंघ राज्य करता था; वह अर्धचक्रवर्ती (प्रतिवासुदेव) था; उसके शस्त्र-भण्डारमें सुदर्शन चक्र उत्पन्न हुआ था। उसने तीनों खण्ड के लगभग सभी राजाओं को जीत लिया था, परन्तु अभी सिंहरथ राजा को जीतना शेष था। कुमार वसुदेवने युक्तिपूर्वक उस सिंहरथ राजा को जीत लिया और बन्दी बनाकर अपने सेवक कंस द्वारा राजा जरासंघ को सौंप दिया। इससे प्रसन्न होकर जरासंघ ने अपनी पुत्री (जीवयशा) तथा आधा राज्य वसुदेव को देना चाहा; परन्तु वसुदेवने स्वयं वह न लेकर कंस को दिलवाया। राज्य पाकर कंसने जब जाना कि स्वयं मथुरा का राजकुमार है और पिता उग्रसेन ने बचपन से ही उसका परित्याग कर दिया था,-तब उसके पूर्वभव के वैर के संस्कार जाग उठे; उसने क्रोधपूर्वक पिता उग्रसेन को बन्दी बनाकर द्वार के ऊपर कारागृह में डाल दिया और मथुरा के राज्य पर अधिकार कर लिया। (पूर्व वसिष्ठ मुनि के भव में कंस के जीव ने जो पापनिदान बंध किया था, उसका यह फल आया।)

पश्चात् राजा कंसने अपने उपकारी वसुदेव को मथुरा बुलाकर उनका सन्मान किया और अपनी बहिन देवकी का विवाह उनसे कर दिया। एक बार राजा कंस के महल में (उनके भाई) अतिमुक्तक मुनि आहार लेने आये; तब कंस की रानी जीवयशाने उन मुनि की तथा उनकी बहिन देवकी की हँसी उड़ाकर अनादर किया। इससे क्रोधावेश में वे मुनि वचनगुप्ति भूल गये और उनसे भविष्यवाणी हो गई कि- हे जीवयशा! तू अभिमान के कारण जिसकी हँसी उड़ा रही है उस देवकी बहिन का पुत्र ही तेरे पति तथा पिता का (कंस और जरासंघ का) घात करेगा।

मुनि द्वारा की गई भविष्यवाणी का जब राजा कंस को पता चला तब वह भयभीत हो गया,

और 'देवकी बहिन के पुत्रों को जन्मते ही मार डालना'-ऐसे दुष्ट आशय से उसने बहिन देवकी को अपने घर ही रखने का वचन वसुदेव से ले लिया।

अभी तक देवकी को किसी संतान की प्राप्ति नहीं हुई थी; उन्हीं दिनों वे अतिमुक्तक मुनि पुनः मथुरानगरी में पधारे। देवकी ने उनसे विनयपूर्वक पूछा-हे स्वामी! हमें दीक्षा का अवसर कब प्राप्त होगा? (यह मुनि देवकी के भाई ही थे।)

मुनिराजने कहा- हे बहिन! तुझे पुत्रप्राप्तिकी इच्छा है, फिर भी तू मायाचार से दीक्षा की बात किसलिये पूछती है? सुन, तुझे अनेक उत्तम पुत्र होंगे; उनमें से छह पुत्रों का तो अन्य स्थानपर लालन-पालन होगा और वे बड़े होकर दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। सातवाँ पुत्र चक्रवर्ती-वासुदेव होकर पृथ्वीका राज्य करेगा।-यह सुनकर देवकी का मन बहुत सन्तुष्ट हुआ।

तत्पश्चात् देवकी के तीन बार युगल-पुत्र हुए; पुण्यप्रभावसे उन छहों चरमशरीरी पुत्रों की एक देवने रक्षा की और उनके स्थानपर दूसरे मृतपुत्र रख दिये। कंस समझा कि देवकी के पुत्र मरे हुए ही अवतरित हुए हैं; तथापि दुष्टभाव के कारण उसने उन नवजात शिशुओं को पत्थर पर पछाड़कर उनका मस्तक फोड़ दिया। [रे संसार! देखो तो सही वैरभाव की पराकाष्ठा! छोटे-से बालक वे भी अपनी ही बहिन के पुत्र-उन्हें कंस ने कितनी क्रूरता से पत्थर पर पछाड़ा!...परन्तु जिन का पुण्य जीवित हो उन्हें कौन मार सकता है?]

उन छह पुत्रों के पश्चात् देवकी को सातवें पुत्रका गर्भधारण हुआ। इस बार निर्नामक मुनिका जीव (जो भोगों का पापनिदान करके स्वर्ग में गया था वह) देवकी के गर्भ में आया और देवकी ने सातवें महीने में पुत्र को जन्म दिया-वह थे श्रीकृष्ण। (इस प्रकार पूर्वभवके शंख तथा निर्नामक-दोनों मुनि यहाँ बलदेव एवं वासुदेव के रुप में अवतरित हुए।)

मथुरा में श्रीकृष्ण का जन्म होते ही उनके पिता वसुदेव तथा ज्येष्ठ भ्राता (रोहिणी के पुत्र) बलभद्र उन्हें गुप्तरुप से गोकुलमें नन्द गोप के घर ले गये। मार्ग के अँधेरे में श्रीकृष्ण के पुण्यप्रभाव से एक देवने दीपक द्वारा मार्गदर्शन किया, नगर के द्वार अपने आप खुल गये और यमुनानदीका प्रवाह भी अपने आप थम गया; नदीने दो भागों में विभाजित होकर उसपार जाने का मार्ग बना दिया। अहा, पुण्यप्रभाव क्या-क्या नहीं करता? (वह संसार की तो सब सामग्री देता है, परन्तु एक मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकता; इसलिये मोक्षार्थी जीव उस पुण्य की शरण नहीं लेते।)

श्रीकृष्ण को लेकर जब वसुदेव और बलभद्र गोकुल जा रहे थे तब नन्द गोप एक मृत पुत्री को लेकर मार्ग में आते हुए मिले; बलभद्र ने बालकृष्ण को उन्हें सौंप दिया और मृतपुत्री को लेकर ऐसा प्रचारित किया कि देवकी ने मृतपुत्री को जन्म दिया है। इस प्रकार राजा कंस को श्रीकृष्ण के अवतार की खबर नहीं हुई। इधर नन्दगोप की पत्नी यशोदा अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनका लालन-पालन करने लगीं। कृष्ण ज्यों-ज्यों बड़े हो रहे थे त्यों-त्यों मथुरा में उपद्रव बढ़ रहे थे। इसी से अनुमान लगाकर ज्योतिषियों ने राजा कंस को कहा कि-आपका महान शत्रु कहीं उत्पन्न हो चुका है।

यह सुनकर कंस चिन्ता में पड़ गया; उसने शत्रुको ढूंढ़ने और मारने के अनेक उपाय किये, पूर्वभव के मित्र हलके देवों की भी सहायता ली, परन्तु श्रीकृष्ण के पुण्ययोग से उन्हें कोई कुछ नहीं कर सका, उलटे, उनका प्रभाव बढ़ने लगा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि धर्मात्माओं के पुण्य के समक्ष देवों की शक्ति भी निष्क्रिय हो जाती है और देव भी उनके सहायक हो जाते हैं। अन्त में एक मल्लयुध्द में छोटे-से श्रीकृष्ण ने बड़े विशाल कंस का (जो कि उनका मामा होता था) संहार कर दिया; उसके पिता

राजा उग्रसेन को तथा पद्मावती रानी को कारागृह से मुक्त करके उन्हें मथुरा का राज्य सौंप दिया; और श्रीकृष्ण तथा बलभद्र आदि सबने परिवार सहित आनन्दपूर्वक अपनी राजधानी शौरीपुर में प्रवेश किया। उनके आगमन से महाराजा समुद्रविजय आदि सब अति हर्षित हुए।

अब इधर, कंस की मृत्यु के पश्चात् उसकी रानी जीवयशा राजगृही में अपने पिता जरासंघ के पास गई और कंस के मरण की बात सुनायी। यह सुनकर राजा जरासंघ श्रीकृष्ण आदि समस्त यादवों पर बड़ा क्रोधित हुआ और उन्हें जीतने के लिये अपने पुत्रों को भेजा। सैकड़ों बार युद्ध हुआ। अन्त में, महाराजा समुद्रविजय आदि यादवों ने विचार की-'राजा जरासंघ महा बलवान है, वह यहाँ शान्ति से नहीं रहने देगा; श्रीकृष्ण अभी छोटे हैं;'-ऐसा सोचकर उन्होंने शौरीपुर-मथुरा को छोड़ दिया और सौराष्ट्र देश में आकर समुद्र तट पर निवास करने लगे।

(हरिवंश पुराण में नेमिनाथ का जन्म शौरीपुर में होने के पश्चात् यादव सौराष्ट्र में आये-ऐसा उल्लेख है परन्तु तीर्थंकरका जन्म होने के पश्चात् किसी के भय से राज्य छोड़कर भागना पड़े यह बात ठीक नहीं लगती। तीर्थंकर के प्रभाव से तो शत्रु भी आश्रित हो जाते हैं; इसलिये नेमिनाथ तीर्थंकर का जन्म द्वारिका नगरी में होना ही उचित प्रतीत होता है।]

## द्वारिकानगरी की रचना और नेमिनाथ का अवतार

यादव जब सौराष्ट्र में समुद्र किनारे रहने आये, तब श्रीकृष्ण एवं भावी तीर्थंकर नेमिनाथ के पुण्यप्रताप से कुबेरदेवने समुद्र के बीचोंबीच बारह योजन की अतिसुन्दर द्वारामती नगरी की रचना की। जहाँ तीर्थंकर का अवतार होना है और जिसकी रचना देवोंने की है उस नगरी की शोभा का क्या कहना? महाराजा समुद्रविजय, वसुदेव, बलभद्र तथा श्रीकृष्ण सहित समस्त यादवों ने उस नगरी में मंगल प्रवेश किया और सुखपूर्वक रहने लगे। उस द्वारिका पुरी के बीच रत्नजड़ित एक हजार शिखरों से शोभायमान भव्य जिन मन्दिर था; उसमें सर्व नगरजन अरिहंतदेव के दर्शन-पूजन एवं धर्मसाधन करते थे। वह नगरी इन्द्रपुरी के समान सुशोभित थी। इतने में एक आश्चर्यकारी घटना हुई।

राजमहल के प्रांगण में प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वृष्टि होने लगी और स्वर्गलोक की कुमारिका देवियाँ द्वारिका में आकर शिवादेवी की सेवा करने लगीं। हे पाठक! इन सब उत्तम चिन्हों से तुझे जानकर आनन्द होगा, कि-अपने सौराष्ट्र देश में एक तीर्थंकर के आगमन की तैयारी हो रही है। अपने चरित्रनायक भगवान नेमिनाथ की-जो कि अहमिन्द्र पर्याय में विराजते हैं-आयु जब छह मास शेष रही तब यह मांगलिक घटनाएँ प्रारम्भ हुईं। महारानी शिवादेवी के आनन्द का पार नहीं है; उन्हें जैन धर्म की प्रभावना करने तथा सर्व जीवों की दया पालने के उत्तम भाव जाग रहे हैं और विशुद्धि बढ़ती जा रही है। छह मास पश्चात् कार्तिक शुक्ला षष्ठी के मंगल दिवस की पिछली रात्रि में माता शिवादेवीने सिंह, गज, सूर्य, चन्द्र, रंगीन रत्नों की राशि आदि १६ उत्तम स्वप्न देखे। ठीक उसी समय स्वर्गलोक से बाईसवें तीर्थंकर का जीव उनकी कुक्षि में अवतरित हुआ। शिवादेवी माता 'रत्नकुक्षिधारिणी' बनीं। धन्य हुईं शिवादेवी और धन्य हुआ सौराष्ट्र! माताजी ने राजसभा में जाकर महाराजा समुद्रविजय से स्वप्नों की बात कही; तब महाराजा बोले-हे देवी! यह मंगलस्वप्न ऐसा सूचित करते हैं कि-बाईसवें तीर्थंकर का जीव तुम्हारी कोख में अवतरित हो चुका है। 'अहा, मैं तीर्थंकर की माता...' ऐसा जानकर शिवादेवी को ऐसा हर्ष हुआ मानों तीर्थंकर उसी समय उनकी गोद में खेल रहे हों! उसी समय स्वर्गसे द्वारिका आकर इन्द्र-इन्द्रानीने तीर्थंकर के माता-पिता का सन्मान किया...और इसप्रकार गर्भकल्याणक का

मंगल-महोत्सव करके तीर्थंकर-आत्मा की अपार महिमा जगत में प्रसिद्ध की।

इन्द्रकी आज्ञासे भवनवासी देवियाँ जिनमाताकी सेवा करती थीं; विविध प्रकार की चर्चा द्वारा उन्हें प्रसन्न रखती थीं और बाल तीर्थंकर के जन्म की प्रतीक्षा करती थीं। नौ मास आनन्दपूर्वक बीत गये। श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन द्वारिका पुरी में बावीस वें तीर्थंकर का जन्म हुआ। अहा, द्वारिका आनन्दमय प्रकाश से जगमगा उठी। प्रभुके प्रताप से स्वर्गलोक के बाजे अपने आप बज उठे, इन्द्रों के आसन भी डोल उठे; समस्त देव लोक में खबर फैल गई कि द्वारिका नगरी में भरतक्षेत्र के बाइसवें तीर्थंकर का अवतार हुआ है। इन्द्र तुरन्त प्रभुका जन्मोत्सव मनाने हेतु देवों सहित द्वारिका में आ पहुँचे। समुद्र के बीच मानो नूतन इन्द्रलोक की रचना हो गई! अद्भुत ऐरावत हाथीपर उस से भी अद्भुत बाल-तीर्थंकर को विराजमान करके प्रभु की शोभायात्रा को इन्द्र विदेह के बीच स्थित मेरु पर्वतपर ले गये। वहाँ करोड़ों दैवी वाद्यों के स्वर में इन्द्रने प्रभुका अभिषेक किया। प्रभु के दिव्य रुप को एक हजार नेत्रों से निहारने पर भी इन्द्र को मानो तृप्ति नहीं हो रही थी...हजार हाथ उछाल-उछालकर वह इन्द्राणी सहित भक्ति से नाच रहा था।

१००८ कलशोंसे अभिषेक के पश्चात् इन्द्रने १००८ नामों द्वारा बालतीर्थंकर की स्तुति की और यह प्रभु धर्मरुपी रथ के चक्रकी 'नेमि' (धुरी) समान हैं-ऐसा समझकर उनका नाम 'नेमिनाथ' रखा। उन दिगम्बर बालप्रभु को इन्द्रानी ने दिव्य वस्त्रोंसे सजाया तिलक किया और सम्यक्त्व से स्वयं अलंकृत प्रभु का दिव्य अलंकारों से शृंगार किया; साथ ही अतिशय पुण्यों द्वारा उसने अपने आत्मा को भी अलंकृत किया। उन बालतीर्थंकर को गोद में लेते हुए उसे कोई अद्भुत रोमांच हुआ। स्वर्गलोक की देवियों को पुत्र नहीं होता-यह बात इन्द्रानी हर्षातिरेक में भूल गई और मानों अपना ही पुत्र इस प्रकार प्रभु से स्नेहालिंगन करने लगी। प्रभु को अपनी गोद में उठा-उठाकर वह परमतृप्ति का अनुभव करने लगी-'अहा, तीर्थंकर परमात्मा तो मेरी गोद में विराजते हैं तो अब मुझे मोक्ष प्राप्त करने में कितनी देर?'

मेरु पर जन्माभिषेक कर के इन्द्र बालतीर्थंकर की शोभायात्रा के साथ द्वारिकापुरी आये और पिता समुद्रविजय तथा माता शिवादेवी और बलभद्र-श्रीकृष्ण के सन्मुख आनन्दमय नृत्य एवं नाटक करके पुन: प्रभु के जन्म का उत्सव किया। अपने कुल में तीर्थंकर का अवतार होने से श्रीकृष्ण के हर्षका भी पार नहीं था; वे भी इन्द्र के साथ नृत्य करके अपना आनन्द व्यक्त करने लगे...'अहा, मैं तीर्थंकर का भाई, तीर्थंकर मेरे भाई; वे इसी भव में मोक्ष जायँगे और मैं भी भविष्य में उन्हीं जैसा तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करूँगा।' वाह, अपने परिवार में तीर्थंकर को देखकर भव्यात्माओं को जो आनन्द होता है उसका क्या कहना! 'अहा, हम तीर्थंकर के परिवार के हुए; हम मोक्षगामी हुए; सिध्दों के साधर्मी हुए।'

एक ओर स्वर्गका इद्र 'हरि' तथा दूसरी और द्वारकाधीश 'हरि'-दोनों हरि हर्षसे नाच रहे थे। द्वारिका नगरी में सर्वत्र आनन्द-मंगल छा गया था; मात्र द्वारिका में ही नहीं, सारे सौराष्ट्र में और भारतभर में किसी अनुपम शान्ति एवं हर्षोल्लासका वातावरण था। अरे, प्रभुजन्म के प्रताप से नारकी जीवों ने भी क्षणभर दु:ख से छुटकारा पाकर शान्तिका अनुभव किया। तीर्थंकर के अवतार का क्या कहना!...वह तो तीन लोक के जीवों को कल्याणकारी है।

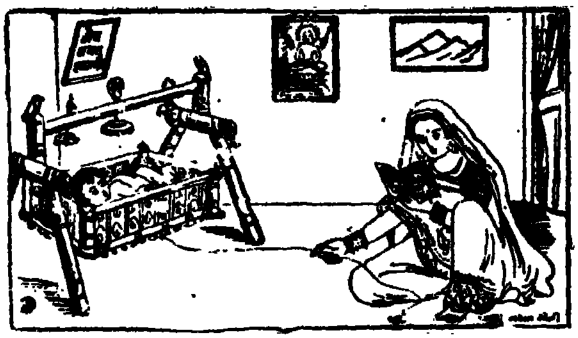
२१वें नमिनाथ तीर्थंकर का शासन पाँच लाख वर्ष चला। तत्पश्चात् २२ वें नेमिनाथ तीर्थंकर का अवतार हुआ। उनकी आयु १००० वर्ष तथा शरीर की ऊँचाई १० धनुष (३०मीटर) थी। बालतीर्थंकर नेमिकुमार आत्मिक सुख के साथ-साथ दैवी सुख का उपभोग करते हुए बढ़ रहे थे। बचपन से ही उनका अलौकिक जीवन देखकर लोग कह उठते कि-इन बालमहात्मा का जीवन जगत से भिन्न प्रकार का है;

ज्ञानचेतना से सुशोभित उनका अंतर्मुखी जीवन धर्मसाधना की अचिन्त्य महिमा को प्रगट करता था।

'तारुं जीवन खरुं...तारुं जीवन, जीवी जाण्युं नेमनाथे जीवन।'
सूता के जागता, बेसता-उठता, हैडे रहे प्रभु! तारुं रटन....

वाह धन्य प्रभुका जीवन! धन्य अवतार! अहो, ज्ञानचेतना से सुशोभित प्रभुका जीवन शांत एवं गंभीर है, -जो अन्य जीवों को भी चैतन्यभावों की ऊर्मियाँ जागृत करता है।

माता शिवादेवी अपने लाड़ले पुत्र को लाड़ करती थीं उसकी तो बात ही क्या! छोटे नेमिकुँवर को पालने में झुलाते हुए जो अद्‌भुत लोरी वे गाती थीं वह सुनोः-



तुम्हीं शुध्द हो, तुम्हीं बुध्द, तुम निर्विकल्प उदासी...
-नेमिकुँवर! झूले रे चैतन्य पालने...
-चेतनराजा, झूलो रे चैतन्य पालने...
तुम हो चेतन साधक, निज मुक्ति के आराधक...
झूलो-झूलो तुमतो आनंद पालने...
नेमिकुँवर! झूलो रे चैतन्यपालने...
तुम स्वानुभूति प्रकाशी, अरु आतमगुण-विलासी,
वीर मेरे अद्‌भुत तुम्हारा ज्ञान है,
नेमिकुँवर! झूलो रे चैतन्य पालने...
मेरा पुत्र बड़ा जब होगा, तब मुनि बनकर विचरेगा,
भव्यजीवोंका होगा बेड़ा पार...
नेमिकुँवर! झूलो रे चैतन्यपालने...
तुमतीर्थंकर पद पाकर, जिन शासन की शोभा कर,
सिध्दि पामी....परम पद में झुलना,
नेमिकुँवर! माता झुलावे पालने...

'अहा, यह तो मेरा छोटा भाई...और वह भी भगवान!' -ऐसा कहते हुए बलभद्र तो अत्यन्त स्नेह से नेमिकुँवर को गोद में लिये फिरते और खेलाते थे! भरतक्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ

और भावी तीर्थंकर महात्मा श्रीकृष्ण-ऐसे दो पुराणपुरुषों के पुण्यप्रताप से देवों द्वारा निर्मित द्वारिका नगरी की शोभा अद्भुत थी! मोक्षगामी चरमशरीरी अनेक धर्मात्मा जीव वहाँ निवास करते थे। सौराष्ट्र देश का विशाल समुद्र देखकर प्रभु नेमिकुमार अपने अंतर में महान चैतन्य-रत्नाकर का ध्यान धरते थे। उस समय समुद्र की अपेक्षा अधिक गंभीर उनकी मुद्रापर शांतरसका समुद्र उल्लसित होता था।

एक ओर नेमि तीर्थंकर के प्रताप से सम्यक्त्वादि रत्नों की उत्पत्ति होती थी, तो दूसरी ओर वहाँ के समुद्र से भी मोती और रत्न निकलते थे। नव निर्मित द्वारिकानगरी का दिव्यवैभव देखकर तथा वहाँ विराजमान नेमितीर्थंकर के दर्शन करके देश-देशान्तर से आनेवाले यात्रीगण आश्चर्यमुग्ध होते और अपने को धन्य मानते थे। सच ही है कि प्रत्यक्ष तीर्थंकर के दर्शन से महान सुभाग्य जगत में और क्या होगा!

## राजा जरासंघ से युद्ध; श्रीकृष्ण की विजय और चक्रवर्तीपना

एक बार मगध देश के कुछ व्यापारी समुद्रमार्ग से व्यापार करने निकले वे 'पुण्योदय से मार्ग भूलकर' नवनिर्मित द्वारामती नगरी में आ पहुँचे। 'मार्ग भूले हुए...तथापि पुण्योदय!'-जी हाँ क्योंकि मार्ग भूलने से उन्हें बाईसवें तीर्थंकर की जन्मभूमि द्वारिका तीर्थ यात्रा हुई तथा बालतीर्थंकर नेमिकुमार के दर्शन हुए। द्वारिकानगरी की दिव्य शोभा देखकर तथा नेमिप्रभु के दर्शन करके वे व्यापारी आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने समुद्रके बीच कभी ऐसी नगरी नहीं देखी थी; और व्यापार में भी उन्हें खूब लाभ हुआ। इस प्रकार धर्म और धन दोनों का लाभ प्राप्त हुआ यहाँ से उत्तम रत्न लेकर वे राजगृही पहुँचे।

राजगृही आकर उन्होंने अर्धचक्रवर्ती महाराजा जरासंघ को वे उत्तम रत्न भेट दिये। ऐसे उत्तमरत्न देखकर राजा आनन्दित हुए और पूछा-हे महाजनो! तुम इतने सुन्दर रत्न कहाँ से लाये? यह रत्न तो मानो नेत्र खोल-मींचकर कुछ कह रहे हों-ऐसे जगमगा रहे हैं!

महाजनों ने कहा-हे महाराजा हमने एक अद्भुत कौतुक देखा है; ऐसा आश्चर्य पहले हमने कभी नहीं देखा था। सौराष्ट्र देशके समीप समुद्रमें हमने द्वारामती नामकी नगरी देखी...मानो पाताल लोकसे निकली हो! सुवर्ण के गढ़युक्त उस नगरी की शोभा अद्भुत थी...और उससे भी महान आनन्द की बात यह है कि भरतक्षेत्र के बाईसवें तीर्थंकर नेमिकुमार उस नगरीमें विराजते हैं, हमने उनके भी दर्शन किये। अहा, धन्य है...उन बालतीर्थंकर की गंभीरता! कैसा वैराग्य! और कितनी प्रसन्न शांत मुद्रा! उन तीर्थंकर प्रभुके साक्षात् दर्शन से हमारा जन्म कृतार्थ हुआ! उस द्वारमती में प्रभु नेमिकुमार के जन्म से पूर्व देवों ने करोड़ों रत्नों की वर्षा की थी वहाँ जगह-जगह विभिन्न प्रकारके उत्तम रत्न दिखायी देते हैं, उन्हीं में से कुछ रत्न हम लाये हैं और आपको भेट दिये हैं। श्रीकृष्ण-बलभद्र आदि यादव वहाँ राज्य करते हैं।

यादवों का नाम और उनके वैभव की बात सुनते ही राजा जरासंघ क्रोधसे आगबबूला हो गया; उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। 'अरे, वे यादव तो मेरे भयसे अग्निमें जल मरे हैं-ऐसा मैं मानता था; उसके बदले वे तो जीवित हैं और महान विभूतिसहित द्वारिका में राज्य कर रहे हैं!...अब, मैं उनका विनाश करके द्वारिका को जीत लूंगा।'-ऐसा विचार करके उस अन्धबुद्धिने विशाल सेना एवं सुदर्शनचक्रसहित युद्धके लिये द्वारिका की ओर प्रयाण किया। अरेरे! तीर्थंकर के जन्म का आनन्द मनाने के बदले वह दुर्बुद्धि अपने सर्वनाश के मार्गपर चल दिया।

इधर नारदजीने श्रीकृष्ण को समाचार दिये कि शत्रुराजा जरासंघ लड़ने के लिये आ रहा है। समाचार मिलनेपर शूरवीर श्रीकृष्ण को किंचित् भी भय या आकुलता नहीं हुई; वे नेमिकुमार के पास

आये और विनयपूर्वक कहा-हे देव! राजा जरासंघ युद्ध के लिये आ रहा है; आपके प्रताप से मैं उसे शीघ्र ही जीत लूंगा। मैं उसे जीतकर आऊँ तब तक आप इस नगरी का राज्य सँभालकर इसकी रक्षा करना।

श्रीकृष्ण की बात सुनकर कुमार नेमिनाथ कुछ मुस्कराये; वे जानते थे इस युद्ध में विजय श्रीकृष्ण की ही होना है; इसलिये उन्होंने 'ओम्'...ऐसा शब्द कहकर श्रीकृष्ण की बात का स्वीकार किया। जिस प्रकार वाद-विवाद में अनेकान्त वचनसे जैनवादी अपनी विजय का निश्चय कर लेता है उसी प्रकार नेमिकुमार की मन्द मुस्कराहट से तथा 'ओम्'-ऐसे मंगलवचन से श्रीकृष्ण ने अपनी विजयका निश्चय कर लिया।

राजा जरासंघ राजगृही से निकलकर विशाल सेनासहित कुरुक्षेत्र आया और दूसरी ओरसे श्रीकृष्ण भी विशाल सेनासहित द्वारिका से चलकर कुरुक्षेत्र में आ पहुँचे। [यहाँ एक बात ध्यान रखने योग्य है-तीर्थंकर के समीप युद्धादि महान हिंसा नहीं होती, इसलिये शास्त्रकार युक्तिपूर्वक रणभूमि को द्वारिका से सैकड़ों योजन दूर कुरुक्षेत्र में ले गये हैं और तीर्थंकर नेमिकुमार को युद्धभूमि से दूर रखा है।] कुरुक्षेत्र में महायुद्ध हुआ; उसमें भीष्म, कर्ण, द्रोण, जयद्रथ, अश्वत्थामा, दुर्योधन, दुःशासन आदि योद्धा जरासंघ के पक्षमें थे, तो श्रीकृष्ण के पक्षमें पाँच पाण्डव, राजा उग्रसेन, राजा द्रुपद आदि शूरवीर योद्धा थे। महा भयंकर युद्धमें कितने ही मनुष्य मरे, कितने ही हाथी-घोड़े कट गये; जरासंघ की सेना श्रीकृष्ण की सेनापर इस प्रकार टूट पड़ी कि सेनामें भगदड़ मच गई। यह देखकर श्रीकृष्ण स्वयं जरासंघ की सेनापर ऐसे टूट पडे कि जरासंघ की सेना पीछे हटकर भागने लगी। तब जरासंघने अत्यन्त क्रोधित होकर कृष्ण को मारने के लिये अपना सुदर्शन चक्र फेंका। क्षणभर तो युद्धभूमि में हाहाकार मच गया, क्योंकि चक्रका कोई प्रतिकार नहीं था। परन्तु महाप्रतापी श्रीकृष्ण के निकट आते ही उनके पुण्यप्रताप से वह चक्र शांत हो गया और श्रीकृष्ण की तीन प्रदक्षिणा करके उनके हाथमें आ गया। दूसरे ही क्षण उसी चक्र द्वारा श्रीकृष्णने जरासंघ का शिरच्छेद कर दिया। इस प्रकार प्रतिवासुदेव का नाश करके श्रीकृष्ण-वासुदेव त्रिखण्डाधिपति चक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध हुए। देवोंने भी उनके पुण्यकी प्रशंसा की और हजारों देव उनकी सेवा करने लगे। त्रिखण्ड की दिग्विजय करके श्रीकृष्णने चक्रसहित द्वारिका में प्रवेश किया तब देवोंने बलभद्रसहित उनका राज्याभिषेक किया। १६००० राजा उनके आज्ञाकारी थे।

महाराजा श्रीकृष्ण की राजसभा में प्रभुनेमिकुमार का बड़ा सन्मान था। एक बार भव्य राजसभा में प्रभु नेमिकुमार पधारे। समस्त सभाजनोंने खड़े होकर आदरपूर्वक नमस्कार किया, महाराजा श्रीकृष्णने भी आगे बढ़कर प्रभु नेमिकुमार का हाथ पकड़कर उन्हें अपने साथ सिंहासन पर बिठाया। एक राजचक्री और दूसरे धर्मचक्री-उनसे राजसभा सुशोभित हो उठी। अहा, जहाँ एक वर्तमान तीर्थंकर और दूसरे भावी तीर्थंकर,-ऐसे दो तीर्थंकर महात्मा एक साथ विराजते हों उस सभा की अद्भुत शोभा का क्या कहना!

राजसभा में अनेक प्रकारकी चर्चा होती थी; उसमें अचानक ऐसी चर्चा निकली कि-इस समय इस सभा में सर्वाधिक बलवान कौन? किसीने कहा-भीम सबसे बलवान है, किसीने कहा-अर्जुन; किसीने युधिष्ठिर का नाम लिया; कई लोगोंने श्रीकृष्ण के बल की प्रशंसा की उनमें एक हजार सिंहोंका बल है; कई लोगोंने बलभद्र के बलकी प्रशंसा की। अन्तमें, बलभद्रने हँसते-हँसते नेमिनाथ की ओर दृष्टि करके कहा-सभाजनो! इस समय तीर्थंकर नेमिकुमार यहाँ विराज रहे हैं, वे ही सब से बलवान हैं; उनके अचिन्त्य बलकी तुलना किसी से नहीं हो सकती; वे इन्द्र से भी अधिक बलवान हैं। वे चाहे तो अपनी अँगुली से बात ही बात में मेरुपर्वत को तथा सारी दुनिया को उलट-पूलटकर सकते हैं।

श्रीकृष्णको अपने बल का गौरव था; उनसे यह बात सहन नहीं हुई; उन्होंने शक्तिपरीक्षण हेतु नेमिकुमार को मल्लयुद्ध का निमंत्रण दिया। परन्तु 'आप तो मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं, आपके साथ मल्लयुद्ध शोभा नहीं देता'-ऐसा कहकर नेमिकुमारने इन्कार किया। अन्तमें, अन्य प्रकारसे नेमि-कृष्ण दोनों के बल की परीक्षा हुई और नेमिकुमार के बलकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध हुई। श्रीकृष्णसिहत सारी सभाने भगवान नेमिकुमार की प्रशंसा करके अभिनन्दन किया। अरे, उस समय स्वयं इन्द्रने आकर नेमिप्रभु की स्तुति की। नेमिकुमार को यद्यपि मान का किंचित् विकल्प आ गया, परन्तु शरीरसे भिन्न चैतन्य के अनन्तबल की प्रतीति होने से वे प्रभु अपनी आत्मचेतनामें मानकषाय को प्रविष्ट नहीं होने देते थे, भेदज्ञान के बलसे उसे चेतना से बाहर ही रखते थे। शरीरबल का मद उनको नहीं था। अशरीरी एवं निर्माण ऐसे परमात्मतत्त्व की साधना उनको निरंतर चलती ही रहती थी। वास्तव में वे एक 'राजयोगी' थे और उन्हें अल्पकाल में 'योगिराज' बनना था। उनका जीवन जगत के सामान्य जीवों की अपेक्षा विशिष्ट था। श्रीकृष्ण भी उनका आदर-सत्कार करते थे; इस भरतक्षेत्र के एक भावी तीर्थंकर वर्तमान तीर्थंकर की सेवा करते थे।

राजसभा की उपरोक्त घटना के पश्चात् श्रीकृष्ण के मनमें गहरे-गहरे चिन्ता रहने लगी कि-नेमिकुमार कदाचित् मेरा राज्य ले लेंगे!...अरेरे! वैरागी नेमिकुमार को ऐसे तुच्छ राज्य का कहाँ मोह था? उन्होंने तो जन्मसे ही तीन लोकका राज्य प्राप्त था; मेरु पर अभिषेक करके इन्द्र भी उनसे सेवक बन गये थे; वे श्रीकृष्ण के इस छोटे-से राज्य को क्यों ले लेते? परन्तु तीव्र राज्यलिप्सा के कारण श्रीकृष्ण को ऐसा भय हुआ कि कदाचित् नेमिकुमार मेरा राज्य ले लेंगे!...इससे वे ऐसा कोई उपाय विचारने लगे कि-नेमिकुमार दीक्षा ले लें।...अरेरे मोह!...और ऐसी एक घटना हुई।

एक बार महाराजा श्रीकृष्ण अपनी रानियोंसहित सरोवर किनारे क्रीड़ा करने गये थे। श्रीकृष्ण के साथ नेमिकुमार भी वहाँ गये और अपनी भाभियों सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बुवती आदि के साथ हास्य-विनोद कर रहे थे। जलक्रीड़ा के पश्चात् नेमिकुमारने सत्यभामा से कहा-'भाभी, मेरा यह वस्त्र भी धो देना!' तब सत्यभामा तुनककर बोली-कुँवरजी, तुम मुझ से वस्त्र धोने का आदेश देनेवाले कौन? मैं क्या तुम्हारी दासी हूँ? मेरे पति (श्रीकृष्ण) त्रिखण्डाधिपति, नागशय्या में शयन करनेवाले, दैवी शंख फूँकने वाले तथा सुदर्शनचक्र चलानेवाले हैं,-उनके जैसा एक भी पराक्रम क्या तुमने कभी किया है?...वस्त्र धुलवाना हों तो विवाह कर लो न! इस प्रकार कटाक्षपूर्वक ताना दिया। सदा गंभीर और शांत रहनेवाले नेमिकुमार को भाभी के कटाक्ष वचनों से किंचित् मानका भाव जागृत हो उठा। वे कुछ भी बोले बिना मंद मुस्कराहट के साथ सीधे राजभण्डार में गये और वहाँ कृष्णकी नागशय्यापर चढ़कर क्रीड़ा करने लगे। (नागशय्या वह कोई नागों (सर्पों) की नहीं होती किन्तु देवों द्वारा निर्मित सुन्दर सेज है; उसपर वासुदेव जैसे पुण्यवंत ही सो सकते हैं। नेमिकुँवर के पुण्य प्रताप से उस नागशय्या के देव शांत रहे और उनका सन्मान किया।) फिर एक हाथ की अँगुली पर उन्होंने सुदर्शनचक्र घुमाया और दूसरे हाथमें दैवी शंख लेकर उसे नासिका द्वारा जोर से फूँक दिया।

उस शंखध्वनि से द्वारिका में चारों ओर हाहाकार मच गया। हाथी-घोड़े आदि भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे; नगर में कोलाहल मच गया कि यह क्या हुआ? समुद्रमें लहरें उछलने लगीं। महाराजा श्रीकृण विचार में पड़ गये कि-अरे, मेरे सिवा दूसरा कोन शूरवीर है जो यह शंख फूँक रहा है?

यह सब पराक्रम अपने लघु भ्राता नेमिकुमार का है-ऐसा जब उन्हें ज्ञात हुआ तब वे मन ही मन प्रसन्न हो उठे कि-अब नेमिकुमार के मनमें कुछ गर्व जागृत हुआ है, इसलिये अब वे विवाह के

लिये अवश्य संमति देंगे। (नेमिकुमार की आयु एक हजार वर्ष थी, उसमें से अभी ३०० वर्ष हुए थे तथापि अभी तक वे विवाह के लिए संमत नहीं हुए थे। श्रीकृष्ण तुरन्त नेमिकुमार के पास गये और उन्हें समझाकर शांत किया कि-हे देव! आप तो महान हैं, मुझसे भी अधिक शूरवीर हैं; आपकी वीरता को कौन नहीं जानता? सत्यभामा ने आपको नहीं पहिचाना, इसलिये उसने आपका अनादर किया। प्रभो! उसके अपराध को क्षमा करो और प्रसन्न होओ।

नेमिकुमार तो मानो कुछ हुआ ही न हो-इस प्रकार मन्द-मन्द मुस्कराहट के साथ श्रीकृण के साथ विनोद करते-करते राजमहल में चले गये। वहाँ जाकर वे आत्मध्यान में बैठ गये और शांत चैतन्यतत्त्व में उपयोग लगाकर उसकी भावना करने लगे—

**हुं क्रोध नहि, नहि मान,**
**तेम ज लोभ-माया छुं नहीं;**
**कर्ता नकारयिता न;**
**अनुमंता हुं कर्तानो नहीं।**
**निर्ग्रंथ छे, निष्काम छे,**
**नि:क्रोध जीव निर्मान छे,**
**नि:शल्य तेम नीराग,**
**निर्मद सर्वदोष-विमुक्त छे।**
**सौ जीवमां समता मने,**
**को साथ वेर मने नहि;**
**आशा खरेखर छोडीने,**
**प्राप्ति करुं छुं समाधिनी।**



और सचमुच ऐसी आत्माभावना से उस समय निर्विकल्प होकर प्रभु नेमिकुमारने क्षणमात्र में सर्व विभाव झरा दिये। वाह, धर्मात्मा की ज्ञानचेतना की शूरवीरता कोई अद्भुत है!

उपरोक्त घटना से बलभद्र तथा श्रीकृष्ण को ऐसा लगा कि अब दीर्घकाल के पश्चात् नेमिकुमार के चित्त में किंचित् राग जागृत हुआ है; इसलिये महाराजा समुद्रविजय की संमति पूर्वक उन्होंने नेमिकुमार के विवाह का विचार किया और श्रीकृष्ण स्वयं राजकुमारी राजुल की मंगनी करने जूनागढ़ गये। राजा उग्रसेनने श्रीकृष्ण का भारी स्वागत किया-'हे स्वामी! मेरे आँगन में पधारकर आपने मुझे उपकृत किया। कहिये, आपकी क्या आज्ञा है?

श्रीकृष्णने कहा, हमारे नेमिकुँवर जोकि तीर्थंकर एवं सर्वगुणसम्पन्न हैं, उनके लिये आपकी राजकुमारी राजुल सर्व प्रकार से योग्य है; इसलिये नेमिकुमार के साथ राजीमति के विवाह सम्बन्ध की स्वीकृति देवें।

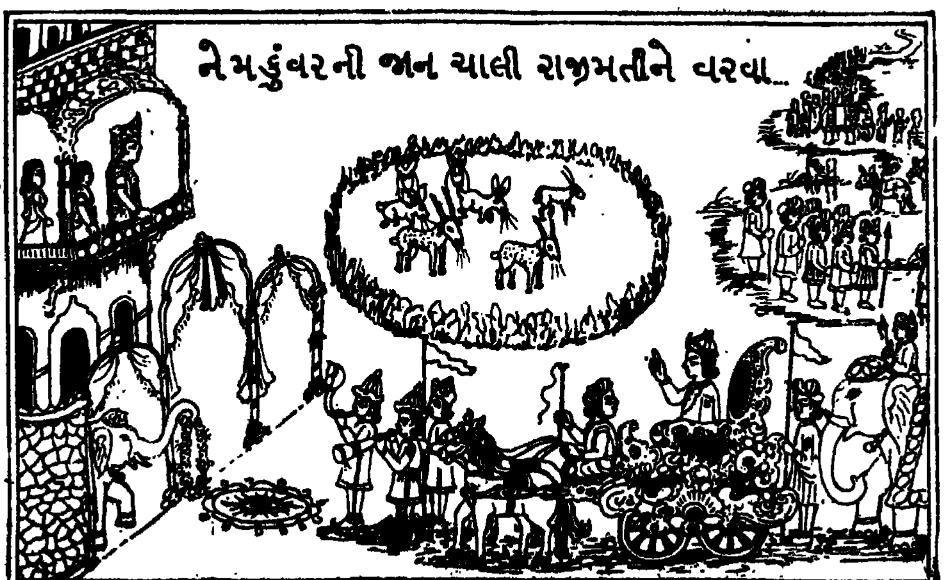
अहा, राजुलकुमारी को नेमिकुमार जैसा पति मिले इससे अधिक सौभाग्य की बात और क्या हो सकती है? हमारा अहोभाग्य कि आपने सामने चलकर ऐसी माँग की है!'-ऐसा कहकर महाराजा उग्रसेन ने श्रीकृण की बात का सहर्ष स्वीकार किया। राजमतीने जब जाना कि श्री नेमिकुमार मेरे पति होंगे तब

उनके हृदय में कोई दिव्य हर्ष की अनुभूति हुई-'अहा, एक तीर्थंकर-महात्मा मेरे जीवनसाथी बनेंगे...उन धर्मात्मा के सहवास से मैं धन्य हो जाऊँगी!' आश्चर्य है कि इधर द्वारिका में नेमिकुमार भी राजीमती के साथ विवाह के लिये संमत हो गये। नेमिकुमार राजीमती के साथ विवाह करेंगे यह बात जानकर सारी नगरी में कुतूहल के साथ हर्ष छा गया! राजमाता शिवादेवी भी अत्यन्त हर्षित होकर पुत्रवधू का मुख देखने को आतुर हो गईं। (परन्तु, 'जो-जो देखी वीतरागने, सो सो होसी वीरा रे, अनहोनी कबहूँ नहीं होसी'...)

एक ओर तो नेमि-राजुल के विवाह का अवसर निकट आ रहा था; द्वारिका और जूनागढ़ के प्रजाजन वह आनन्दोत्सव देखने को आतुर थे; जबकि दूसरी ओर श्रीकृष्ण के चित्त में शान्ति नहीं थी, उनका अंतर एक अव्यक्त भयसे अशांत था; सत्यभामा और राजसभावाली घटना के पश्चात् उन्हें चिन्ता थी कि-कुमार नेमिनाथ मेरी अपेक्षा अधिक बलवान एवं पराक्रमी है, वे बातकी बातमें मुझे जीत सकते हैं; इसलिये विवाह के पश्चात् कदाचित् वे मुझसे यह राज्य छीन लेंगे तो?

एक बार अपने मनकी यह चिन्ता उन्होंने ज्येष्ठ भ्राता बलदेव के निकट प्रगट की, तब गंभीर बलभद्रने कहा-हे भाई कृष्ण! हम जानते हैं कि श्री नेमिकुमार तीर्थंकर होनेवाले हैं, जन्मते ही इन्द्रोंने उनकी सेवा की वह भी हम सबने प्रत्यक्ष देखा है, और वंश-परम्परा से तो महाराजा समुद्रविजय के पश्चात् राज्यके अधिकारी वे ही हैं; परन्तु वे अति वैराग्यवान हैं; उन्हें तो पहले से ही राज्यकी या भोगों की कोई आकांक्षा नहीं है; इसलिये वे यह राज्य ले लेंगे ऐसा भय रखने का कोई कारण नहीं है। उनके आगमन से तो अपने राज दरबार की शोभा बढ़ जाती है। उनका चित्त संसार से इतना उदास है कि वैराग्य का कोई प्रसंग आनेपर वे संसार छोड़ देंगे और दीक्षा लेकर मुनि हो जायँगे।

बलभद्र की उस बातसे श्रीकृष्ण के चित्त में किंचित् शान्ति हुई, और वे ऐसा कोई प्रसंग उपस्थित करने की युक्ति सोचने लगे कि जिसे देखकर नेमिकुमार को वैराग्य हो जाय और वे राज्य छोड़कर वनमें चले जायँ! वैराग्य का कौनसा प्रसंग उपस्थित हुआ? वह आगे पढ़ेंगे।



दूल्हा नेमिकुमार की बारात राजीमती के वरने द्वारिका से जूनागढ़ की ओर प्रस्थान किया। विभिन्न प्रकारके मंगल वाद्यो एवं शहनाई के स्वरों से सारा वातावरण गूँज उठा। बारात की शोभा अद्भुत थी। श्रीकृष्ण और बलभद्र जैसे जिसका संचालन कर रहे हो; हजारों राजा महाराज जिसके बराती बने हों, रथमें विराजमान दूल्हा नेमिकुमार की शोभा का तो कहना ही क्या था! दिव्य अलंकारों से तथा प्रसन्नकारी मुद्रा से सुशोभित नयनाभिराम प्रभु राजुल के नेत्रों एवं चित्तको आकर्षित कर रहे थे-

नेमिकुँवर की बरात चली राजमतीको वरने...
नेमिराजा बने दुल्हा राजमती को वरने...

श्रीकृष्ण-बलभद्र आयें, युधिठिर और भीम आयें...;
बड़े-बड़े राजा आयें, नेमिराजाके साथमें...
नेमिकुँवरकी बरात चली राजमतीको वरने।

बडीबडी बरात आई, राजुल तो प्रेमसे देख रही,
'मेरा प्रीतम...सुंदर प्रीतम', हृदय में वे हर्ष रही;
नेमि राजा बने दुल्हा...राजमतीको वरने।

नेम राजाने राजुल देखी, मुखडुं तब तो मुस्कराहट गयुं
रुपसुंदरी के नजरे देखतें, हैयुं तो बस! हरख गयुं;
नेमिकुँवर की बरात चली राजमतीको वरने...

बरात आनन्दपूर्वक जूनागढ में पहुँच रही है; राजमहल के झरोखे में सहेलियोंके साथ विनोद करती हुई राजकुमारी राजुल अपने हृदय सम्राट को एकटक निहार रही है...

इतने में अचानक ही खरगोश हिरन आदि पशुओं का करुण चित्कार नेमिकुमार के कानोंमें पडा। एक बाड़ें में बन्द भुखे-प्यासे पशु नेमिकुमार की ओर देखकर करुण क्रन्दन कर रहे थे। मानो वे अपनी रक्षा के लिये पुकार रहे थे कि- 'प्रभो हमे बचाओ... बचाओ!'

उन पशुओं की करुण पुकार सुनकर दूल्हा नेमिकुमार चौंक उठे! रथको वही रोककर पूछा- 'अरे, आनन्दके वातावरण में यह करुण क्रन्दन कैसा? यहाँ इन पशुओंको क्यों बन्दकर रखा है?

बाड़े के रखवालोंने हाथ जोड़कर कहा-प्रभो! महाराजा श्रीकृष्ण की आज्ञासे यहाँ इन पशुओं को बन्द किया गया है।

नेमिकुमार अधिक चौंके और पूछा- अरे, श्रीकृष्णकी आज्ञासे इन पशुओं को बन्द किया है? लेकिन किसलिये? ऐसी आज्ञा उन्होंने क्यों दी?

रखवालोने कहा- हे देव: श्रीकृष्ण महाराजाने हमें आदेश दिया है कि इन पशुओंको देखकर नेमिकुँवर पूछे तो कह देना कि आपकी बारात मे आये हुए मांसाहारी राजाओंके लिये यह पशु यहाँ रखे गये है।

'अरे, क्या बारात में मासांहारी राजा? और उनके आहार के लिये यह निर्दोष पशु?'...नेमिकुमार को आश्चर्य हुआ-नही, मेरी बारात में मासांहारी राजा नही हो सकते... और श्रीकृष्ण तो जानते हैं कि मैं तीर्थंकर हूँ मेरे आसपास किसी प्रकार की हिंसा या मांसाहार नहीं हो सकता। अवश्य ही इसमें श्रीकृष्ण का कोई मायाचार है। तुरन्त ही उन अवधिज्ञानी भगवान ने श्रीकृष्ण के मनकी बात जान ली-

अरे, मैं उनका राज्य छीन लूँगा ऐसे भय के कारण मेरे हृदय में वैराग्य जागृत करने के लिये उन्होने यह प्रपंचपूर्ण युक्ति बनायी है। अरे, धिक्कार है इस संसार को! धिक्कार है ऐसी राज्य लिप्सा को!... वाह श्रीकृष्ण!...धन्य है तुम्हें कि इस मायाचार व्दारा तुमने मुझे वैराग्य का निमित्त प्राप्त कराया। तुम्ही इस राज्य का उपभोग सहर्ष करो, मैं तो अपने मोक्ष साम्राज्य की साधना करूँगा। बस होओ इस संसार से ...मुझे नहीं चाहिये राज्य और नही करना है विवाह।

प्रभु ऐसा विचार कर रहे थे कि उसी समय मतिज्ञान की निर्मलता में उन्हे पूर्वभवों का जातिस्मरण हुआ; उसमे चिन्तागति विद्याधर सुप्रतिष्ठ राजा तथा अहमिन्द्र के भव उन्हें स्पष्ट दृष्टिगोचर हुए। उनकी विशुद्धि एकदम बढने लगी और उन्होने निश्चय किया कि-यह असार संसार त्यागकर आज ही मैं जिनदीक्षा ग्रहण करूँगा और अपने परमात्मपद को साधूँगा। उन्होंने उसी समय सारथी को आज्ञा दी-सारथी, रथ को मोड़ो...मुझे न तो विवाह करना है, और न संसार में रहना हैं।



मुझे लागे संसार असार,
ऐ रे संसारमे नहीं जाऊं...नहीं जाऊं, नहीं जाऊं रे
मेरा ज्ञायक पद ऐक सार
ऐ रे ज्ञायकमां मैं लीन थाऊं...लीन थाऊं...लीन थाऊं रे
मुझे लागे विभाव असार
ऐ रे विभाव से दूर जाऊं...दूर जाऊं...दूर जाऊं रे
मुझे लागे ऐक सिध्दपद् सार,
ऐ रे सिध्दपदमें शीघ्र जाऊं...शीघ्र जाऊं...शीघ्र जाऊं रे

दूल्हा नेमिकुमार संसार से विरक्त होकर रथको मोड़कर वनकी और जा रहे है; उन्हे विवाह नहीं करना है; -यह समाचार सुनते ही चारों और हाहाकार मच गया। महाराजा समुद्रविजय तथा बलभद्रजी आदिने उन्हे विवाह करने के लिये तरह-तरह से समझाया किन्तु वे अपने निर्णय में अड़िग थे। श्रीकृष्ण को भी अपने कृत्य के लिये पश्चाताप हुआ; परन्तु संसार के पिंजरे से छूटा हुआ सिंह वैराग्य से वन की और चलने को तत्पर हुआ वह फिरसे संसार के पिंजरे में बन्द होने के लिये क्यो आता! श्रीकृष्ण ने तुरन्त उन पशुओं को बंधन मुक्त कर दिया; परन्तु आश्चर्य हुआ कि वे जीव दौडकर वनकी और भागने के बदले; नेमिकुमार के निकट आकर निर्भयता से उनके चरणों में बैठ गये और उनकी वैराग्य पूर्ण शांत मुद्रा देखने लगे... मानों उनको भी वैराग्य हुआ हो और मृत्युसे छुड़ाने के लिये प्रभुका उपकार मान रहे हों कि-'हे प्रभो! जिस प्रकार हमें इस समय मरण से छुड़ा या उसीं प्रकार सदा के लिये जन्म मरण के बंधन से छुड़ाकर हमारा उद्धार करो!'

अद्भुत था वह दृश्य! चारों ओर आश्चर्य का कोलाहल और वैराग्य का वातावरण था। माता शिवा देवीने जब यह जाना कि-पुत्रवधू का सुख देखने की उनकी आशा टूट गई है और पुत्र विवाह के बदले वैराग्य प्राप्त करके वनकी ओर प्रयाण कर रहा है तब उन शूरवीर माताने धैर्यपूर्वक उस वैराग्य प्रसंग को सह लिया। वे कोई साधारण स्त्री तो थी नहीं, तीर्थंकर की माता थीं और ३०० वर्ष तक

साथ रहकर अपने पुत्र नेमिकुमार के वैराग्यमय जीवन को प्रत्यक्ष देखा था। 'मेरा पुत्र संसारिक बंधन में न पड़कर परमात्मपद की साधना हेतु जा रहा है यह तो श्रेष्ठ प्रसंग है...आनन्द की बात है-ऐसा विचारकर उन शूरवीर शिवामाताने मनमें प्रभुके वैराग्य का अनुमोदन किया। अपने लाड़ले पुत्रको मैं कुछ ही समय पश्चात् परमात्मारूप में देखूँगी और उसकी छाया में अपना कल्याण करूँगी-ऐसे समाधानपूर्वक उन्होंने अपने मनको मनाया।'

दूल्हा नेमिकुमार संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा हेतु तैयार हुए। प्रभुके वैराग्य से स्वर्गलोक में इन्द्रों के सिंहासन भी डोलने लगे,-मानो चारित्र के वीतरागी वैभवके समक्ष रागका वैभव काँप उठा। इन्द्र-इन्द्रानी ने नेमिकुमार की दीक्षा का प्रसंग जाना कि तुरन्त दीक्षा कल्याणक मनाने हेतु देवों सहित सौराष्ट्र देश में आ पहुँचे। प्रथम ब्रह्मस्वर्ग से ब्रह्मचारी लौकान्तिक देव आये और स्तुति करके कहने लगे-हे प्रभो! विवाह के अवसरपर वैराग्य का आपका यह प्रसंग जगत के जीवों को वैराग्य की महान प्रेरणा देगा; सुख संसार के विषयों में नहीं है किन्तु आत्मा की वीतरागता में ही है-ऐसा धर्मसन्देश आपके जीवन में से जगत को प्राप्त होता रहेगा...और दीक्षा के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त करके दिव्यध्वनि द्वारा आप अनेक जीवों का कल्याण करेंगे।

इन्द्रगण 'देवकुरु' नामक सुन्दर शिविका लेकर आये। उसमें विराजमान होते समय इन्द्रने सहारा देने हेतु अपना हाथ बढ़ाया, वह हाथ पकड़कर प्रभु पालकी में विराजमान हुए। अहा, प्रभुने जिसका हाथ पकड़ा उसके महाभाग्य का क्या कहना!

बारात में आये हुए हजारों राजा प्रभु का यह वैराग्य-प्रसंग देखकर क्षणभर तो विचार में पड़ गये कि-अब क्या करना?...दूल्हा बने प्रभु नेमकुमार तो दीक्षा लेने वनमें जा रहे हैं; उन्हें छोड़कर अब क्या हमें राजभोगों में फँसना उचित हैं?-नहीं, कदापि नहीं। राजा विवेकवान थे; उन्होंने निर्णय किया कि-जब राजुल को ब्याहने के लिये प्रभुके साथ सांसारिक बारात में आये थे, तो अब प्रभुकी मोक्षपुरी की बारात में भी बाराती बनकर साथ रहेंगे। हम भी प्रभुके साथ दीक्षा लेंगे।-ऐसा निश्चय करके एक हजार राजा भी प्रभुके साथ वनगमनहेतु तैयार हो गये। वाह, नेमिप्रभुकी बारात मुक्तिसुन्दरी को ब्याहने चली—

नेमप्रभुकी बारात चली...मोक्षसुंदरीको वरने...
नेमि बने वैरागी राजा...मोक्षसुंदरीको वरने...
पशुओंका जब क्रंदन देखा प्रभुजी पाछा लौटे
संसार का सब मायाचार प्रभुने देख लिया।
रथडो पाछो लौटाकर चले मुक्तिसुंदरी वरने,
संयम केरा मींढोल बांधे, मुक्तिसुंदरी वरने।
राजीमति को त्यागकर चले...मोक्षसुंदरीके वरने...
साथ साथ हजार राजा...मोक्षसुंदरी को वरने...
नेमकुंवरकी बारात चली वनजंगलकी वाटे;
मुक्तिसुंदरी वरने चलें सहेसावन की वाटे;
समकितकेरा साज सजावी नेमि बने दुल्हा,
रत्नत्रय का मंडप बीचमें चारित्र केरा वाजां;




रत्नमणिका भूषण छोडी रत्नत्रय को लिया,
राग और रमणीको त्यागी मुक्तिको प्यार किया।
नेमिप्रभुकी बारात चली...मुक्तिसुंदरी वरने...
नेमि बने वैरागी राजा...मुक्तिसुंदरी वरने।

नेमिप्रभु की मोक्षपुरी की बारात गिरनार पर्वत के सहस्राम्रवन में पहुँची। उस तपोवन के फलाच्छादित हजारों आम्रवृक्षों ने मानों झुक-झुककर प्रभु का स्वागत किया। अहा, कैसी सुरम्य एवं अद्‌भुत थी उस वनकी शोभा!...मानो मुक्तिसुन्दरी को ब्याहने का स्वयंवरमण्डप! [गिरनार के सहस्राम्रवनमें, प्रभुके तपोवनमें बैठे-बैठे ही नेमिप्रभु के दीक्षाकल्याणक का यह प्रसंग लिखा जा रहा है...और वैसी ही दीक्षा का भावना जागृत हो रही है।]

श्रावण शुक्ला षष्ठी-जो प्रभु नेमिनाथ का जन्मदिन है वही उनकी दीक्षा का दिवस! प्रभुने बारह वैराग्य भावनाओं के चिन्तनपूर्वक सर्व परिग्रह का परित्याग किया-मुकुट एवं हार उतार दिये; हाथका कंकण छोड़कर वस्त्राभूषण भी त्याग दिये और अपरिग्रही-दिगम्बर हुए। दीक्षावन की एक उज्जवल शिलापर बैठकर 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' ऐसे मंगलोच्चार पूर्वक हाथ जोड़कर सिद्ध भगवन्तों को वन्दन किया और आत्मचिन्तन में सुद्धोपयोगी होकर साक्षात् श्रमण बन गये। दूल्हाराजा के वेशकी अपेक्षा इस जिनराजा के वीतरागी वेशमें प्रभु अधिक शोभायमान होते थे। अहा, आत्मध्यान में लीन उन नेमिमुनिराज के अचिन्त्य रत्नत्रय-वैभवको देखकर मोक्षसुन्दरी भी उनपर मुग्ध हो गई और तुरन्त ही मनःपर्यायज्ञान को प्रभुके पास भेजकर सन्देशा कहलाया कि-स्वामी! मैं मोक्षसुन्दरी आपका वरण करने हेतु शीघ्र ही आ रही हूँ। प्रभुके साथ हजारों राजाओंने भी मुनिदीक्षा धारण की। बीचमें तीर्थंकर मुनिराज और



आसपास-चारों और एक हजार मुनिवर जहाँ विराज रहे हों उस तपोवन की शान्ति एवं शोभा का क्या कहना! वनके उस शांत वातावरण से आकर्षित होकर गिरिवन के वनराज भी वहाँ आकर शान्ति से बैठ गये और मुग्ध होकर मुनिवरों के सन्मुख देखकर स्वयं भी आँखें मूँदकर शान्ति से ऐसा प्रयोग करने लगे। अहा, मोक्षको साधने में शार्दूल-सिंह समान शूरवीर मुनिवरों के चरणों में वनके सिंह भी नमन करें इसमें क्या आश्चर्य!

## [राजीमती-वैराग्य]

एक ओर सहस्राम्रवन में नेमिप्रभु आत्मध्यान कर रहे हैं, दूसरी ओर राजमहल के झरोखे में खड़ी हुई राजकुमारी राजुल नेमि-दूल्हाराजा को वैराग्य प्राप्त करते देखकर तथा रथसे उतरकर वनकी ओर जाता देखकर मनमें कहने लगी-अरे, प्रभो! आपको यदि विवाह नहीं करना था तो फिर बारात लेकर यहाँ तक किसलिये आये? दूल्हा क्यों बने?...या फिर पशुओं की भाँति मुझे भी संसार-बन्धन से छुड़ाने के लिये यह एक नाटक ही था! अपने साथ मुझे भी मोक्षपुरीकी राहमें ले जाने हेतु क्या आप यहाँ पधारे थे? धन्य प्रभो! आपकी लीला अपार है! आपके जीवन से सम्बन्धित होने में मेरे हितकर कोई दैवी संकेत है।



हे देव! आप मुनि होकर वनमें जायँगे, तो मैं क्या रो-धोकर संसार में ही बैठी रहूँगी?-नहीं; मैं भी वीरपुत्री हूँ, आपकी अर्द्धांगी कहला चुकी हूँ, तो मैं भी आपके ही मार्गपर आऊँगी; आपको छोड़कर दूसरे मार्गपर नहीं जाऊँगी। आप होंगे मुनिराज, तो मैं बनूँगी आर्यिका; आप होंगे परमात्मा...तो मैं होऊँगी एकावतारी!

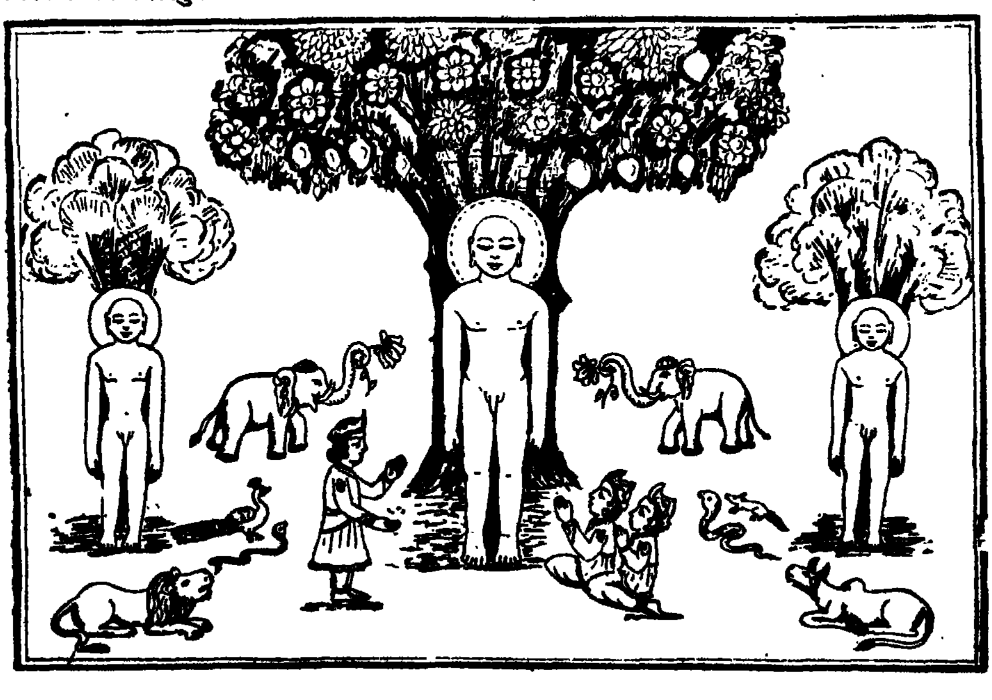
मुझे लगे संसार असार,
ऐ रे संसार में नहीं जाऊँ....नहीं जाऊँ, नहीं जाऊँ रे....
मुझे लगे वैराग्य-पद सार,
प्रभुमार्गे चली जाऊँ, चली जाऊँ, चली जाऊँ रे...

माता-पिता एवं पारिवारिक जनोंने राजुल को बहुत समझाया कि-बेटी! अभी तुम्हारा विवाह नहीं हुआ है; नेमिकुँवर के साथ सात फेरे नहीं हुए हैं इसलिये तुम अभी कुमारिका ही हो; बेटी हम किसी दूसरे राजकुमार के साथ तुम्हारा विवाह करेंगे।

परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ राजीमती ने उन सबकी बात अनसुनी करके दृढ़ता पूर्वक कहा-फेरे नहीं हुए उससे क्या? मैं नेमिकुमार का हृदय से वरण कर चुकी हूँ; वे ही मेरे स्वामी और जीवनसाथी हैं; मेरे हृदय में किसी और का स्थान नहीं है। अब सांसारिक भोगों के बदले मोक्ष की साधना में मैं उनकी संगिनी बनूँगी और अपने धर्मनाथ के पंथ पर चलकर अपना आत्मकल्याण करूँगी। इस प्रकार धर्मवीर राजीमतीने आर्यिका बनने का अपना दृढ़निश्चय प्रगट किया।

राजीमती का ऐसा दृढ़ वैराग्य देखकर सबके मुँह से धन्यवाद के उद्‌गार निकल पड़े-धन्य राजुल! तू अपने हृदयेश्वर नेमप्रभु के रंगमें ऐसी रंग गई कि मोक्षपुरी तक उनका साथ नहीं छोड़ा। उन्होंने तुझे छोड़ा परन्तु तूने उन्हें नहीं छोड़ा। अनेक राजकुमारियाँ भी राजुल के साथ दीक्षा लेने को तैयार हो गई।

'अरे, मेरे स्वामी मोक्षमें आनन्द करें और मैं संसार भ्रमण करके दुःखी होऊँ? -कदापि नहीं; मैं भी प्रभुके साथ ही रहूँगी'—ऐसे निश्चयपूर्वक सैंकड़ों राजकुमारियोंसहित राजीमती ने दीक्षा ग्रहण की, और गिरनार की गिरिगुफा में आत्मासाधना करने लगी।



अब हम पुनः सहस्राम्रवन में नेमिप्रभु के पास चलें-दीक्षा लेकर दूल्हाराजा से मुनिराजा बने नेमिप्रभुने आत्मध्यान में उपयोग को लगाया है; तुरन्त ही उन्हें शुद्धोपयोग में सातवाँ गुणस्थान प्रगट हुआ है, मात्र संज्वलन के अतिरिक्त समस्त कषाय दूर हो गये हैं; मनःपर्ययज्ञान एवं चौदहपूर्वरूप श्रुतकेवलीपना उदित हुआ है, अनेक दिव्य लब्धियाँ भी प्रगट हुई हैं। आसपास अन्य हजारों मुनियों से वह तपोवन मुक्तिमण्डप की भाँति सुशोभित हो रहा है। विवाह के समय बंधन से छुड़ाये हुए वे पशु भी प्रभु के पीछे-पीछे वन में जाकर उनके निकट ही रहने लगे हैं। अहा! शान्ति किसे प्रिय नहीं होती? हजारों-लाखों मोक्षार्थी जीवोंने प्रभुके दीक्षाप्रसंग पर उनके वैराग्यजीवन को देखकर अपने जीवन को भी ज्ञान-वैराग्य में लगाया। अहा, उस काल गिरनार का गौरव भी आश्चर्यकारी था; वहाँ मोक्षसाधक मुनिवरों का समूह ऐसे शोभा देता था मानो 'सिद्धों का मेला!'

गिरनार का समस्त वनप्रदेश वैराग्य में निमग्न हो रहा था; सर्वत्र शांति छा रही थी। अहा, उन शान्त ध्यानस्थ मुनिवरों के प्रति आकर्षित होकर केवलज्ञान भी शीघ्रतासे उनके निकट आ रहा था। इन्द्रों तथा श्रीकृष्ण-बलभद्र आदि ने भी मस्तक झुकाकर बारम्बार उन नेमिनाथ मुनिराज के दर्शन-स्तुति की। अहा, श्रीकृष्ण भी जिनके चरणों में भक्तिपूर्वक नमन करते थे ऐसे प्रभु नेमिनाथ हमें आनन्दमय जिनदीक्षा दो।

दीक्षा के पश्चात् तीसरे दिन नेमि-मुनिराज आहार के लिये जूनागढ़ नगरी में पधारे, तब श्रद्धादि गुणों से विभूषित वरदत्त राजाने उन तीर्थंकर मुनिराज को शुद्ध आहारदान देकर प्रथम पारणा कराया, और पश्चात् स्वयं भी प्रभुचरणों में दीक्षा लेकर प्रभुके गणधर तथा चरमशरीरी बने। देवों ने रत्नवृष्टि करके तथा दिव्यवाद्य बजाकर उस उत्तम दानकी अनुमोदना की।

रत्नत्रय वैभवके धारी मुनिराज नेमिनाथ स्वयं मोक्षमार्गरूप होकर मौन धारण करके ५६ दिन तक सौराष्ट्र देशके आसपास विचरे। उस चलते-फिरते 'जीवन्त मोक्षमार्ग' के दर्शन से सौराष्ट्र की धर्मप्रेमी प्रजा धन्य हुई। अहा, उन्हें देखकर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग के स्वरुप का ज्ञान हो जाता था। वे एक छोटे-से परमात्मा थे, द्रव्य-तीर्थंकर थे, आत्मा की लौ में लवलीन थे; परमात्मपद की साधना हेतु आत्मा की गहराई में उतरकर उसी में उपयोग को स्थिर करते थे। ऐसी शुद्ध परिणतिसहित विचरते हुए वे निर्मोही महात्मा ५६ दिवस पश्चात् पुनः गिरनार के तपोवन में पधारे और जहाँ दीक्षा ली थी उसी दीक्षावन में ध्यानस्थ हुए। उनके परिणाम अधिकाधिक स्थिर होने लगे, शुद्धोपयोग की धारा उल्लसित होने लगी; एक मुहूर्त में तो हजारों बार उन्हें शुद्धोपयोग हुआ; उनकी शुद्धता देखते ही भव्यात्माओं के अंतरसे भक्ति के उद्गार निकलते थे -

**रे 'शुद्ध' ने श्रामण्य भारव्युं, ज्ञान-दर्शन 'शुद्ध' ने;**
**छे 'शुद्ध' ने निर्वाण 'शुद्ध' ज सिद्ध, प्रणमुं तेमने।**

आत्मा ऐसे 'शुद्ध' रुप में परिणमित हो यही उनका मनोरथ था। आज वह मनोरथ सम्पूर्ण होने की घड़ी आ पहुँची। प्रभु नेमिमुनिराज सातिशय ध्यान द्वारा शुद्धता की ऐसी धारारूप परिणमित हुए कि अब उसमें भंग नहीं पड़ेगा। वे क्षपकश्रेणी पर चढ़ने लगे। प्रभु के अंतर में चैतन्य का नन्दनवन अनंतगुणों की विशुद्धता से विकसित होने लगे...और उसके प्रभावसे बाह्य में गिरनार का तपोवन भी हजारों मधुर आम्रफलों से खिल उठा...मानो गिरनार पर्वत और वन उन आम्रफलों द्वारा प्रभुके केवलज्ञान का स्वागत करता हो! प्रभुके अंतरमें तो ध्येय, ध्यान एवं ध्याता तथा ज्ञेय, ज्ञान एवं ज्ञाता एकाकार हो रहे हैं;




हम तो सहसावन के वासी, हम तो मुनियों के सहवासी...
हम तो रत्नत्रय के प्यासी, हम तो मुनिजीवन अभ्यासी...
हम तो जगसे बने उदासी, हम तो सहसावनके वासी!
शांत-शांत स्वरुपको ध्यायेंगे, आनंद-मंगलरुप ही होयेंगे;
अंतर् स्वरुप मांही समायेंगे, अद्भुत निजवैभवको पायेंगे;
परिग्रह रहित होकर रहेंगे, मोक्षपुरीके पंथमें विचरेंगे;
निर्विकल्प-गुफामें ठरेंगे, सिद्ध, स्वरुपमें केलि करेंगे...
—ऐसे मुनिजीवन-अभ्यासी
...हम तो सहेसावनके वासी
हम तो सर्व जगतके संबंध छोड़ेंगे, मुनिवर संघ की साथ रहेंगे;
संतजनोकी सेवा करेंगे, स्वानुभूतिका प्रासाद लेंगे;
उपशमरसमें सदीव रहेंगे, आत्मिकजीवन सत्य जीयेंगे;
रत्नत्रय-शुद्धरुपे रहेंगे, केवलज्ञानको शीघ्र ही लेंगे...
—ऐसे मुनिजीवन अभ्यासी,
हम तो सहेसावनके वासी...

[इस पुस्तक के लेखक सम्पादक द्वारा सहस्राम्रवन में बैठे-बैठे भायी हुई भावना]

वहाँ न तो कोई विकल्प है और न कोई बाह्यवृत्ति एक छोटे-से क्षणमें ही शुक्ल ध्यानचक्र के प्रहार द्वारा समस्त कषाय-शत्रुओं का नाश करके प्रभु वीतराग हुए और समस्त घातिकर्मों भी नष्ट करके सर्वज्ञ हुए, शुद्ध हुए, बुद्ध हुए, केवलज्ञानी-अरिहंत परमात्मा-जिन हुए। पुनः धन्य हुआ वह गिरनारधाम और उसका आम्रवन, कि जिसने पाँचवें से लेकर तेरहवें तक के उत्तम गुणस्थानों में विराजमान प्रभुको साक्षात् देखा...जहाँ प्रभुके दीक्षा एवं केवलज्ञान के महान कल्याणक हुए। धन्य वह भूमि...जहाँ पुनः पुनः तीर्थंकर प्रभु का आगमन हुआ। उस तपोवन-सहस्राम्रवन का परम शांत वातावरण आज भी हमें तीर्थंकरप्रभु की महिमा एवं आत्मसाधना की मंगलकथा सुना रहा है। 'णमो जिणाणं जितभवाणं' भवको जीतनेवाले जिनों को नमस्कार!



## श्रीकृष्ण के राजदरबार में—

## नेमिप्रभु के केवलज्ञान की मंगल बधाई और उसकी महिमा

द्वारिकानगरी में भव्य राजसभा भरी है। महाराजा समुद्रविजय तथा बलदेव-वासुदेव (श्रीकृण चक्रवर्ती) आदि बैठे हैं और नेमिनाथप्रभु का गुणगान किया जा रहा है। इतने में एक दूतने राजसभा में प्रवेश किया और अत्यन्त हर्षपूर्वक कहने लगा- (यह प्रसंग वीरसंवत् २५०१ में वढवाण-वर्धमानपुरी में नेमिप्रभु के पंचकल्याणक हुए उस समय लिखा गया है; और उसमें दूतके रुप में केवलज्ञान की बधाई का कार्य इस पुस्तक के लेखक ब्र० हरिभाई ने किया था।) भगवान नेमिनाथ की जय हो...महाराज! मैं गिरनार से आ रहा हूँ और एक उत्तम बधाई लाया हूँ। अपने राजकुमार नेमिनाथ-जिन्होंने दो मास पूर्व विवाह के समय वैराग्य धारण करके गिरनार के आम्रवनमें दीक्षा ग्रहण की थी, वे विहार करते-करते पुनः गिरनार पधारे हैं और आज ही (आश्विन शुक्ला प्रतिपदा के दिन) शुद्धोपयोग की क्षपकश्रेणी लगाकर प्रभुने केवलज्ञान प्राप्त किया है।

बधाई सुनते ही सभाजन आनन्द से बोल उठे-वाह वाह! धन्य है! नेमिप्रभु सर्वज्ञ परमात्मा हो गये, उन्हें नमस्कार हो। ऐसा कहकर सबने सिंहासन से उतरकर प्रभुको वंदन किया।

वहाँ का प्रत्यक्ष देखा हुआ वर्णन करते हुए दूत कहने लगा- हे महाराज! प्रभु नेमिनाथ मुनिराज गिरनार पधारे तो वहाँ के हजारों आम्रवृक्ष प्रसन्नता से झूम उठे! एक ओर आम्रवन प्रफुल्लित हो उठा तो दूसरी ओर प्रभुका रत्नत्रय-उद्यान खिल गया। अहा, उस दिव्यता की क्या बात करूँ! वहाँ मुनिजनों के मध्य नेमिप्रभु ध्यानस्थ मुद्रा में निर्विकल्प हो गये; परमचैतन्य का अवलम्बन करके शुद्धोपयोग की

श्रेणी लगायी; अप्रमत्त भाव से अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते-झूलते शीघ्रता से गुणस्थान श्रेणी चढ़ने लगे...आठवाँ, नौवाँ, दसवाँ और बारहवाँ-यह सर्व गुणस्थान क्षणमें पार करते हुए प्रभुने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अहा, गिरनार धाम और समस्त पृथ्वी आनन्दमय हो गई। अब तो इन्द्र वहाँ सहस्राम्रवन में आ पहुँचे हैं और केवलज्ञान की पूजा कर रहे हैं। अद्भुत समवसरण में विराजमान सर्वज्ञप्रभु नेमिनाथ तीर्थंकर की दिव्यध्वनि से गिरनार धाम गूँज रहा है। प्रभुकी अद्भुत वाणी से परमशांत चैतन्यरस झर रहा है।

❋ प्रभुके केवलज्ञान की बधाई सुनकर श्रीकृष्ण आदि सभाजन हर्षपूर्वक बोल उठे-वाह! आज तो सचमुच सब मंगल-मंगल भासित हो रहा है...समस्त विश्व मंगलमय लगता है!

❋ आज प्रात:काल तो भगवान साधुपद में थे और अभी-अभी केवलज्ञान प्राप्त करके अरिहंतपद में पहुँच गये। पंचपरमेष्ठी में पाँचवें पद पर थे और अब प्रथम पद में आ गये हैं; 'नमो लोए सव्वसाहूणं' में से अब 'नमो अरिहंताणं' में आगये।

❋ ठीक ही हैं; भगवान नेमिनाथ को तीर्थंकर प्रकृतिका उदय आज प्रारम्भ हुआ; चैतन्य में केवलज्ञान का प्रकाश और पुद्गल में तीर्थंकर प्रकृतिका उदय-ऐसा सर्वोत्कृष्ट सुयोग आज गिरनार के सहस्रावन में वर्त रहा है...और साथ ही साथ रत्नत्रयधारी गणधर, हजारों मुनिवर तथा वैराग्यमयी राजुलदेवी आदि हजारों आर्यिका माताएँ भी प्रभुकी धर्मसभा में सुशोभित है। जैनशासन का धर्मचक्र तीव्रता से गतिमान है।

❋ अहा, भगवान के आत्मा में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव सर्वप्रकार से मंगल है। भगवान नेमिनाथ का आत्मद्रव्य परमपारिणामिक भावसे त्रिकाल-मंगलरुप है, वह 'मंगल-द्रव्य' है; केवलज्ञान तथा अतीन्द्रिय महा आनन्द से भरपूर उनके असंख्य चैतन्य प्रदेश वह 'मंगल-क्षेत्र' है। जहाँ वे विराजमान हैं ऐसा गिरनार तीर्थ भी मंगलक्षेत्र है। (श्री वीरसेन स्वामीने षट्खण्डागम की धवला टीका में गिरनार, पावापुरी, राजगृही आदि तीर्थों का मंगलक्षेत्र के रुप में स्मरण किया है।

❋ अपने चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से प्रभु को जो अपूर्वपर्याय प्रगट हुई वह 'मंगल-स्वकाल' है, तथा आज यह आश्विन शुक्ला प्रतिपदा का दिवस भी प्रभु के ज्ञान कल्याणक के कारण मंगल है...और भगवान नेमिनाथ का आत्मा शुद्धोपयोग से केवलज्ञानरुप होकर परम आनन्दरुप परिणमित तो रहा है वह 'मंगल-भाव' है।

❋ अहा, जिनेन्द्र भगवान के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का ऐसा मंगलपना विचारने से अपने भावों में भी चैतन्यतत्त्व की कोई अगाध महिमा प्रगट होती है, वह भी भाव-मंगल है।

❋ श्रीकृष्ण कहते हैं-वाह, बड़ी ही सरस बात! आचार्य भगवन्तों ने भी कहा है कि जो जीव भगवान अरिहंतदेव के आत्मा को चैतन्यभाव से जानता है वह जीव राग एवं चैतन्य की भिन्नता को जानकर अपने आत्मा के शुद्धस्वरुप को जान लेता है, इसलिये दर्शन मोह का नाश करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। अरिहंत देवके आत्मा की सच्ची पहिचान का यह मंगल-फल है।

❋ भगवान अरिहंत देवकी यह एक अचिन्त्य विशेषता है कि उनकी उपदेश, विहारादि क्रियाएँ तीर्थंकर नामकर्म के उदय से होने के कारण औदयिकी हैं तथापि, मोह के अभाव के कारण उनकी वे क्रियाएँ क्षायिकी ही मानी गई हैं, क्योंकि वे क्रियाएँ उन्हें बंध का कारण नहीं होती और उनको क्षण-क्षण कर्मका क्षय ही होता जाता है।

❋ वाह, अद्भुत बात है! भगवान के क्षायिक भाव को तथा उदय भाव को जो भिन्न-भिन्न

स्वरूप से जाने वही इस बात को समझ सकता है, और यह बात समझने से अपूर्व भेदज्ञान होकर उस जीव को कर्मों का क्षय होने लगता है।

❀ बलभद्र कहते हैं-श्री नेमिनाथ भगवान आज सर्वज्ञ हुए, वे किस प्रकार हुए? देखो...सुनो! शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही वे सर्वज्ञ हुए हैं। सर्वज्ञ होने के पूर्वक्षण में वे राग का सर्वथा क्षय करके पूर्ण वीतराग हुए और पश्चात् ही सर्वज्ञ हुए हैं। राग का एक सूक्ष्म अंश भी सर्वज्ञता को रोकता है; इसलिये जो वीतराग हो वही सर्वज्ञ होता है। राग का कोई अंश ज्ञान का कारण नहीं होता। आत्मा स्वयंज्ञान स्वभाव है, वही स्वयंभू सर्वज्ञ होता है। इस प्रकार आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञता का साधन होता है।

❀ अहा, सर्वज्ञ भगवन्त स्वयंभु हैं, जिस प्रकार आकाश में सूर्य अन्य किसी के अवलम्बन बिना स्वयं ही-स्वयमेव प्रकाश एवं उष्णतारुप है, उसी प्रकार चैतन्य भगवानआत्मा अन्य किसीके अवलम्बन बिना स्वयं ही स्वयंभुरुप से ज्ञान एवं आनन्द रुप है।

**सर्वज्ञ लब्धस्वभाव ने त्रिजगेन्द्र पूजित ऐ रीते,**
**स्वयमेव जीव थयो थको ते 'स्वयंभू' जिनो कहे।**

❀ अहो, उन स्वयंभू भगवान सर्वज्ञदेव के दिव्यज्ञान की अचिन्त्य महिमा का क्या कहना? वह परमआनन्दमय सर्वज्ञपद वीतरागी संतों को प्रिय है। उन अरिहंत भगवन्तों का अतीन्द्रिय महा आनन्द पंचेन्द्रिय के विषयरहित है, पुण्यफलरहित है,रागरहित है, और शुद्धोप्रयोगद्वारा आत्मा में से ही वह प्रगट हुआ है; वह स्वाभाविक आनन्द कहीं बाहर से आया हुआ नहीं है-

**अत्यंत आत्योत्पन्न विषयातीत अनुप अनंत ने**
**विच्छेदहीन छे सुख अहो! शुद्धोपयोग-प्रसिद्धने।**

❀ उन अरिहन्त भगवन्तों को आत्मा में से जैसा सुख और जैसा आनंद प्रगट हुआ वैसा सुख और वैसा आनन्द प्रत्येक आत्माका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव का श्रवण करते ही जो जीव प्रसन्न होकर उल्लासपूर्वक उसका स्वीकार करता है वह जीव आसन्नभव्य है, निकट भविष्य में ही मोक्षगामी है।

❀ अहा, केवलज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है; उस स्वभाव का स्वीकार करनेवाला जीव मोक्षका साधक हो जाता है; फिर उसे अनन्त भव नहीं होते, और केवलीने भी वे नहीं देखे हैं। केवली भगवान ने निकट में ही उसका मोक्ष देखा है। वाह, केवलज्ञान के इस न्याय में तो अतिगम्भीरता है, उसके स्वीकार में ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता होकर मोक्षकी ओर का अनन्त पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है। इसलिये सर्वज्ञ की श्रद्धा वह धर्म का मूल है।

❀ अहा, अपने महान भाग्योदय से अपनी इस सौराष्ट्र भूमि में गिरनार धाम में हमें ऐसे सर्वज्ञ प्रभु नेमिनाथ भगवान के साक्षात् दर्शन प्राप्त हो रहे है! अपने सौराष्ट्र का गिरनार प्रदेश तो सिंहों की जन्मभूमि है; आज धर्म के केशरी सिंह समान केवली परमात्मा अपनी इस भूमि में उत्पन्न हुए हैं। चलो, हम सब गिरनार धाम में चलें और तीर्थंकर नेमिनाथ प्रभुके दर्शन करके धन्य हो!

-इस प्रकार सर्वज्ञपदकी अत्यन्त महिमापूर्वक महाराजा समुद्रविजय तथा श्रीकृष्ण, बलभद्र आदि सब धामधूम सहित नेमिनाथ प्रभुके दर्शन करने चले। दूसरी ओर स्वर्गलोक के देव-देवेन्द्र भी भव्य शोभायात्रा सहित नेमिनाथ तीर्थंकर के केवलज्ञान-कल्याणक का उत्सव मनाने आ पहुँचे। प्रभु को केवलज्ञान होते ही, उसके साथ की तीर्थंकर प्रकृति के प्रभाव से सम्पूर्ण स्वर्गलोक में हर्षपूर्ण खलबली

मच गई। अरे, स्वर्गलोक तो ठीक नरक के नारकियों भी उस क्षण शान्ति का अनुभव किया! नरकों में अचानक ऐसी शान्तिका होना एक महान आश्चर्य था!...और उस आश्चर्यके कारणरुप तीर्थंकर की अचिन्त्य महिमा का चिन्तवन करनेसे अनेक जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए।देवों और मनुष्यों के उपरांत सिंह और शशक, नाग और वाघ. मगर और मोर आदि तिर्यंचों के समूह भी तीर्थंकर प्रभु के दर्शन हेतु दौड़ आये। जगतकी उत्कृष्ट धर्मसभा वहाँ सहसावन में भरी थी और उसके मध्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर परमात्मा नेमिनाथ भगवान विराजमान थे। आनन्द के धाम ऐसे नेमिनाथ को शतेन्द्र पूज रहे थे। उसप्रसंग को लक्ष में लेकर स्तुतिकार कविपद्मप्रभ (नियमसार-टीका में) कहते हैं कि-



शतमख शत पूज्यः प्राज्य सद्बोधराज्यः;
स्मरतिरसुरनाथः प्रास्त दुष्टाघयूथः।
पदनत वनमाली भव्य-पद्मांशुमालि,
दिसतु शमनिश नो नेमिः आनन्दभूमिः॥

अहा कैसा होगा वह पावन दृश्य!...जहाँ एक ओर तो मुनिगण सर्वज्ञ प्रभुकी स्तुति करते होगे और दूसरी ओर श्रीकृष्ण तथा इन्द्रादि भक्ति से सिर झुकाकर प्रभु नेमिनाथ की वन्दना कर रहे होगें! वाह, नेमिनाथ और श्रीकृष्ण-एक साथ दो तीर्थंकरों का सुयोग; एक तो वर्तमान तीर्थंकर और दूसरे भावी तीर्थंकर ....जो बीच में एक भव करके आगामी चौवीसी में भरत क्षेत्र के तीर्थंकर होगें।

महाराजा समुद्रविजय, बलभद्र श्रीकृष्ण तथा उनके पुत्र-पौत्र शम्बुकुमार, प्रद्युम्नकुमार, अनिरुद्ध कुमार आदि समवसरणमें विराजमान परमात्मा नेमिनाथ के दर्शनोंसे अति प्रसन्न हुए। महाराजा श्रीकृष्ण को महान गौरव का अनुभव हुआ कि-अहा! मेरे लघुभ्राता तीर्थंकर हुए; इतना ही नही, धर्म के किसी अचिन्त्य उल्लास से उन्होने प्रभुचरणों में तीर्थंकर प्रकृति बाँधना प्रारम्भ किया। (श्रीकृष्ण की भाँति बलभद्र भी भावी तीर्थंकर होने का पुराणों में उल्लेख है।) त्रिलोक के इन्द्रों द्वारा पूज्य तथा सर्वोत्कृष्ट ज्ञान साम्राज्य के स्वामी ऐसे परमात्मा नेमिनाथ ने, सर्व प्रथम गिरनार के तपोवन में दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्ग बतलाकर भव्य जीवों को परम आनन्दित किया। हस्तिनापुर से युधिष्ठिर भीम, अर्जुन आदि पाण्डव ( जो कि नेमिनाथ प्रभुके बुआ-मामा के भाई होते थे) भी प्रभुदर्शन हेतु गिरनार आ पहुँचे और वह सर्वज्ञ की धर्मसभा देखकर अति आनन्दित हुए।

नेमिप्रभुकी धर्मसभा में महाराजा वरदत्त (जिन्होंने नेमिनाथ प्रभुको मुनिदशा में प्रथम आहार दान

दिया था) दीक्षित हुए और प्रभु के धर्ममंत्री बने उन वरदत्तसहित ११ गणधर समवसरण-सभा को सुशोभित करते थे; इतना ही नहीं, प्रभु के सह-दीक्षित हजारों मुनियों में से डेढ़ हजार(१५००) मुनिवर तो केवलज्ञान प्राप्त करके अरिहंतपद पर (समवसरण में ५००० धनुष ऊपर आकाश में) विराजते थे वास्तव में अद्‌भुत था वह भगवन्तों का सम्मेलन! तदुपरान्त अवधि, मनःपर्यय ज्ञानी, श्रुतकेवली तथा विविध ऋद्धियों के धारी कुल १८००० मुनिवर उस धर्मसभा में मोक्ष की साधना कर रहे थे; राजीमती आदि आर्यिकाएँ भी अब गिरिगुफा का निवास छोड़कर ४०००० आर्यिकाओंके संघ सहित प्रभुके समवसरण में शोभायमान थी। एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ सम्यक्त्व एवं व्रतसहित मोक्ष की उपासना कर रहे थे। देवों और तिर्यंचों का तो कोई पार नहीं था। प्रभु की धर्मसभा में सबको आत्मवैभव का अपूर्वनिधान मिलते थे। अहा, कितना शोभायमान होगा गिरनार की वह धर्म सभा!...और जगत में सौराष्ट्र के गिरनार तीर्थ का कितना महान गौरव होगा! आज भी वह गिरनार लाखों-करोड़ों जीवों द्वारा तीर्थरुप में पूजित है और भगवान नेमिनाथ की महिमा जगत में प्रकाशित कर रहा है।

गिरनार के उस आम्रवन के बीच आश्चर्यकारी धर्मसभा में प्रभु नेमिनाथ ने दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश दिया और सर्वाधिक आश्चर्य जनक ऐसा परमात्मवैभव भव्य जीवों को बतलाया-भो...भो...भव्यजीवो! हमें जो सर्वज्ञ-परमात्मपद प्रगट हुआ वह आत्मा में से ही प्रगट हुआ है, तुम्हारे आत्मा में भी ऐसा ही परमात्मपद भरा है; उसे पहिचानकर श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा उसकी उपासना करके तुम भी परमात्मा बन सकते हो।-इसप्रकार चैतन्यतत्त्व की अगाध महिमा जानकर अपने में उसकी अनुभूति करना सो जैनशासन है। जिस प्रकार भगवान ऋषभदेव की धर्मसभा में मोक्षगामी भरत राजने धर्म का श्रवण किया था, उसी प्रकार नेमिनाथ की धर्मसभा में मोक्षगामी पाण्डवों ने तथा गजकुमार, प्रद्युम्न आदि ने धर्मका श्रवण किया। प्रभुकी आयु १००० वर्ष थी: उसमें से ३०० वर्ष की आयु में प्रभु केवली परमात्मा हुए; पश्चात् ७०० वर्ष तक तीर्थंकर रुप में विहार करके भारतभूमि में धर्मामृत की वर्षा की।

धर्मचक्रसहित देशदेशान्तर में विचरते हुए प्रभुनेमिनाथ कभी-कभी रैवतगिरि (गिरनार) पधारते थे। एक बार प्रभुका आगमन होनेपर श्रीकृष्ण-बलभद्र परिवार सहित प्रभु के दर्शन करके अति आनन्दित हुए और धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् पूछा-हे देव! इस संसार में आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी अनेक मिथ्या मान्यताएँ चलती हैं कि-आत्मा जैसी कोई वस्तु है ही नहीं; कोई उसे पृथ्वी, जलादि अचेतन के संयोग से हुआ मानते हैं; कोई उसे जड़-शरीररुप ही मानते हैं; कोई उसे एकान्त कूटस्थ अपरिणामी मानते हैं तो कोई एकान्त क्षणिक नाशवान मानते हैं, कोई उसे पर्याय गुणरहित मानते हैं;-ऐसे अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताएँ चलती हैं;-तो हे प्रभो! आत्मा का सत्यस्वरूप क्या है वह समझाइये!?

प्रभुकी वाणी में आया-हे भव्यराज! तुम भावीतीर्थंकर हो; तुमने उत्तम प्रश्न पूछा। सुनो, सत्‌रुप इस विश्वमें अनन्त जीवात्माएँ स्वतंत्ररुप से विद्यमान तत्त्व हैं, उनमें से 'मैं' ऐसे स्वसंवेदन द्वारा आत्मा सदा सर्वत्र अपने अस्तित्व को प्रसिद्ध करता है। कोई भी जीव किसी भी स्थिति में, 'मैं नहीं हूँ'-ऐसा अपना अभाव सिद्ध नहीं कर सकता, अपने अस्तित्व का अस्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि 'मैं नहीं हूँ'-ऐसा कहनेवाला स्वयं ही जीव है। आत्मा सत्-विद्यमान है, वह ज्ञानमय-सुखमय वस्तु है, स्वयं अपने में है; अपने गुण-पर्यायरुप भावों में स्थित, उत्पाद-व्यय-ध्रुवरुप सत् है। सदा शरीर से भिन्न लक्षणवाला उसका अस्तित्व है, वह 'ज्ञाता' ऐसे चिह्न द्वारा ज्ञात होता है। यद्यपि अरुपी होने के कारण

वह इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होता, परन्तु अंतर में इन्द्रियों से परे अपने अनुभवज्ञान द्वारा वह स्पष्ट ज्ञात होता है-अनुभव में आता है। राग के तथा बाह्यविषयों के बिना एकाकी ही सुखी होने का उसका स्वभाव है। ऐसे परमतत्त्व रुप अपने आत्माको जानकर हे भव्यो! तुम कषायों से भिन्नरुप उसकी उपासना करो... यही मोक्ष साधनेकी रीति है।

आत्मा के अस्तित्व की ऐसी सुन्दर सिद्धि सुनकर सर्व श्रोताजनों का चित्त प्रसन्न हो गया; अनेक भव्यजीवों ने अपने सम्यक्त्व को उज्ज्वल किया। श्रीकृष्ण ने प्रभुकी वाणी में अपने पूर्वभव तथा भविष्य के भी मोक्षतक के दो भव जान लिये। पूर्वभव में स्वयं मुनि थे, परन्तु निदान बन्ध के कारण धर्म की भावना में मन को स्थिर किया; परन्तु आयुबंध के कारण वे व्रत नहीं ले सके। अनेक जीवों ने प्रभु के उपदेश से आत्माका शुद्ध स्वरुप जैसा जाना वैसा ही अनुभव में लिया और मोक्षमार्ग में प्रविष्ट होकर परम आनन्दित हुए।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण की माता देवकी ने वरदत्त गणधर को वन्दन करके अपने मन की शंका पूछी कि-हे देव! मेरे आँगन में दो मुनिराज आहार के लिये पधारे थे; दूसरे दिन वे ही मुनिराज फिर पधारे और तीसरे दिन भी वे ही दो मुनिराज मेरे घर आहार लेने पधारे; तो वे मुनिवर मेरे यहाँ बार-बार क्यों पधारे?...उन्हें देखकर मेरे अंतर में अत्यन्त स्नेह उमड़ता था, उसका क्या कारण?

दिव्यज्ञानी गणधरदेव ने देवकी माता के मनका समाधान करते हुए कहा-हे माता! आपके आँगन में तीन बार जो मुनि-युगल पधारे वे मुनि-युगल वही के वही नहीं थे, परन्तु हर बार अलग अलग थे; और वे मुनिवर आपके पुत्र ही थे। श्रीकृष्ण के अवतार से पूर्व तीन बार जो युगल-पुत्र अवतरित हुए थे उनका आपके भाई कंस के भय से अन्यत्र लालन-पालन हुआ था, वे छहों पुत्र जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गये थे। आपने बचपन से ही अपने उन पुत्रों को नहीं देखा था; उन छहों का रुप एक-सा था, इसलिये आप उन्हें नहीं पहिचान सकीं; परन्तु वे आपके पुत्र होने से प्राकृतिक रुप से आप को उनके प्रति पुत्रवत् स्नेह उमड़ा था...और सुनिये, हे देवकी माँ! वे छहों मुनिवर कि जिनका नाम देवदत्त-देवपाल, अनिकदत्त-अनिकपाल तथा शत्रुघ्न-जितशत्रु हैं, वे छहों चरमशरीरी हैं, इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे। पूर्वभव में भी वे छहों भाई थे और आपके ही पुत्र थे। अपने छहों पुत्र मुनि हुए हैं-ऐसा जानकर तथा उनके पूर्वभव सुनकर देवकी माता आश्चर्य पूर्वक वैराग्य को प्राप्त हुई, परन्तु श्रीकृष्ण के प्रति मोह के कारण दीक्षा नहीं ले सकीं।

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने अपनी आठ मुख्य रानियों-१.सत्यभामा २. रुक्मिणी, ३. जाम्बुवती, ४. सुसीमा, ५. लक्ष्मणा, ६. गांधारी, ७. गौरी तथा ८. पद्मावती-के पूर्वभव पूछे।

उत्तर में गणधरदेव ने प्रथम सत्यभामा के पूर्वभव कहे-शीतलनाथ प्रभु के तीर्थ में वह जीव मथुरा राज्य की शौरीपुर नगरी में एक अभिमानी विद्वान था; तब जैनधर्म की निन्दा करने तथा विषय-कषायपोषक कुधर्मका उपदेश देने से वह सातवें नरक में गया और अनेक निचले भवों में परिभ्रमण किया। पश्चात् भील के भव में उसने एक मुनिराज के उपदेश से मद्य, मांस, मदिरा, अण्डा, शहद आदि का त्याग किया और मरकर राजपुत्र हुआ; वहाँ भी आत्मज्ञान के बिना व्रत करके शुभ परिणाम से देव हुआ और वहाँ से च्यवकर यहाँ श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा के रुप में अवतरित हुआ है। अब भगवान नेमिनाथ के शासन में धर्मप्राप्त करके वह स्त्रीपर्यायका छेद करेगा और अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करेगा।

इसी प्रकार दूसरी सातों रानियों ने भी पूर्वभव में धर्म की कैसी विराधना की थी, और फिर

मुनिवरोंको आहार दान, व्रतादि से धर्म के संस्कार प्राप्त किये, परन्तु अभी तक आत्मज्ञान नहीं किया होने से स्त्री पर्याय में अवतरित हुईं; अब वे नेमिप्रभु के शासन में धर्मप्राप्त करके अपना कल्याण करेंगी।-वह बात गणधर ने बतलायी।

इस प्रकार गणधरदेव के मुख से अपने पूर्वभव सुनकर तथा स्वयं निकट भविष्य में मोक्षगामी होना जानकर वे सब रानियाँ अति प्रसन्न हुईं और अभी तक आत्मज्ञान के बिना ही ऐसी नीच स्त्रीपर्याय में भटकती रही-ऐसा विचारकर उन्होंने वैराग्यपूर्वक जैनधर्म में अपनी बुद्धि लगायी और भक्तिसहित नेमिप्रभु के चरणों में चित्त लगाया। धर्मरहित मूर्ख जीवों का जीवन निन्दनीय तथा धर्म ही प्रशंसनीय है,-ऐसा समझकर अनेक जीवों ने अपना चित्त धर्ममें लगाया और पापप्रवृत्ति छोड़ दी।

पश्चात् बलदेव ने श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्नकुमार तथा शम्बुकुमार का जीवन चरित्र पूछा। उसका गणधरदेव ने संक्षेप में वर्णन किया।

## श्रीकृष्ण के पुत्र चरमशरीरी शम्बु तथा प्रद्युम्न के पूर्वभव

रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न तथा जाम्बुवती का पुत्र शम्बु (शंभव); वे दोनों जीव कुछ भव पहले मगधदेश में अग्निभूति तथा वायुभूति नाम के दो भाई थे। दोनों भाई नास्तिक थे। एक बार उन्होंने एक जैनमुनि के साथ वाद-विवाद किया। मुनिराजने अनेकान्त विद्या द्वारा जीव का अस्तित्व, उसका ज्ञानस्वभाव, तथा सर्वज्ञतारुप परमात्म पद की सिद्धि करके उन दोनों भाइयों को पराजित कर दिया। उस से अपमानित हुए वे दोनों भाई रात्रि के समय उन ध्यानस्थ मुनि को मारने के लिये तैयार हुए कि एक यक्षदेवने उन्हें नहीं किल दिया।

तब उनके माता-पिताने यक्षसे पुत्रों को छुड़ाने की प्रार्थना की। यक्षदेव ने कहा-तुम हिंसाधर्म को छोड़कर मुनिराज से क्षमायाचना करो और परम अहिंसारुप जैनधर्म को स्वीकार करो तो तुम्हारे पुत्रों को मुक्त कर दूँगा। उन्होंने यक्ष की आज्ञा का पालन किया और दोनों भाई छूट गये। फिर उनके पिताने कहा-बेटा, अब तुम जैनधर्म को छोड़ दो, क्योंकि हमने तो मात्र दिखाने के लिये स्वार्थवश जैनधर्म का स्वीकार किया था। तब दोनों भाइयों ने उसकी बात मानने से इन्कार किया और कहा कि-'जैनधर्म के कारण ही हमारी रक्षा हुई है, इसलिये हम उसे नहीं छोड़ सकते'-इस प्रकार दोनों ने दृढ़ता से जैनधर्म आस्था प्रगट की और श्रावकधर्म का पालन करके स्वर्ग में गये। वहाँ से निकलकर वे दोनों अयोध्यापुरी में पूर्णभद्र तथा मणिभद्र नामक श्रेष्ठिपुत्र हुए। जेनधर्म की उपासना करके पुन: स्वर्ग में गये और फिर हस्तिनापुर में राजाके पुत्र हुए। उनके नाम मधु और क्रीड़व। (मधु वह प्रद्युम्न का जीव है।)

एक बार राजामधु ने अपने मित्र कनकरथकी स्त्रीपर मोहित होकर उसका अपहरण किया। स्त्री के वियोग से दु:खी होकर कनकरथ ने संन्यास ले लिया और मरकर धूमकेतु देव हुआ।

पश्चात् राजामधु को अपने दुराचार के लिये पश्चात्ताप हुआ और मुनिराज के निकट धर्मोपदेश सुनकर अपने भाई के साथ संयम धारण किया और धर्म की आराधना द्वारा पापों को धो डाला। दोनों भाई पुण्य से स्वर्गमें गये और वहाँ से निकलकर राजा मधु का जीव तो रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न और उसके भाई क्रीड़व का जीव जाम्बुवतीका पुत्र शम्बुकुमार हुआ है। श्रीकृष्ण के वे दोनों पुत्र चरमशरीरी हैं और इस गिरनार से ही मोक्ष प्राप्त करेंगे।

प्रद्युम्न और शम्बुकुमार के जीवन की यह बात सुनकर सबको बड़ा हर्ष हुआ। पश्चात् विशेषरुप से गणधर देवने कहा-

यह प्रद्युम्नकुमार द्वारिका नगरी में जब मात्र छह दिन का बालक था तब धूमकेतु देव वहाँ से विमानमार्ग से जा रहा था। रुक्मिणी के महल पर उसका विमान थम गया। अवधिज्ञान से उसने जाना कि यह कुमार मेरा पूर्वभवका शत्रु है; पूर्वभवमें इसने मेरी रानीका अपहरण किया था। इसलिये शत्रुता का बदला लेने के लिये उसने दैवी विद्यासे प्रद्युम्नकुमार का अपहरण कर लिया। वह उसे मार डालने का विचार कर रहा था, परन्तु चरमशरीरी प्रद्युम्न की आयु के प्रताप से उसमें दया का संचार हुआ, और वह बालक प्रद्युम्न को वन में एक शिला के नीचे दबाकर चला गया।

उसी समय कालसंवर नामका एक विद्याधर राजा वहाँ से निकाला। शिला ऊँची-नीची होते देखकर वह आश्चर्यचकित हुआ और उसके नीचे अत्यन्त सुन्दर चरमशरीरी बालक को देखकर उसके हर्षका पार नहीं रहा। उसने वह बालक अपनी रानी कंचनमाला को दिया, और युवराजपद पर स्थापित करके उन्होंने उसका पुत्रवत् लालन-पालन किया। प्रद्युम्न बड़ा होने पर कंचनमाला के दूसरे पुत्र उसकी ईर्ष्या करने लगे और उसे मारने के अनेक प्रपंच किये; परन्तु पुण्यात्मा प्रद्युम्न को कोई हानि होने के बदले उसके पुण्यप्रताप से उसे महान दैवी वैभव प्राप्त हुए। धीरे-धीरे वह सोलह वर्ष का किशोर हुआ। दूसरी ओर द्वारिका में पुत्रवियोग से तड़पती रुक्मिणी का क्या हुआ वह सुनो।

द्वारिका नगरी में, अपने छह दिन के पुत्र को न देखकर रुक्मिणी व्याकुल हो उठी। महल में चारो ओर खोजने पर भी उसका कहीं पता नहीं लगा। श्रीकृष्ण भी उसकी खोज नहीं कर सके। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी पुत्र-वयोग से अत्यन्त शोकमग्न रहने लगे; इसलिये श्रीकृष्ण के मित्र नारदजी उसे खोजने के लिये विदेहक्षेत्र गये और वहाँ विराजमान स्वयंप्रभ तीर्थंकर (सीमंधर स्वामी) के समवसरण में जाकर प्रद्युम्न की कथा सुनी। द्वारिका आकर श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी से कहा-सुनो, मैं एक आनन्द की बात करता हूँ-तुम प्रद्युम्नका शोक छोड़ो, क्योंकि वह कुशल है और १६ वें वर्ष में महान वैभवसहित लौटकर आपसे मिलेगा। मैं यहाँ से विदेहक्षेत्रमें सीमंधर प्रभु के समवसरण में गया था। अहा, वहाँ की आश्चर्यकारी शोभा का क्या कहना! वहाँ तीर्थंकर परमात्मा के साक्षात् दर्शन से मुझे अति आनन्द हुआ और मैंने प्रद्युम्न की बात पूछी। उसके पूर्वभवका वैरी उसका अपहरण करके ले गया था, और इस समय वह एक विद्याधर के यहाँ पुत्ररुप में उसका लालन-पालन हो रहा है। १६ वें वर्ष में जब वह यहाँ लौटेगा तब अनेक शुभचिह्न दृष्टिगोचर होंगे-सूखे सरोवर जल से छलक उठेंगे, उनमें कमल खिल जायँगे, मोर नाचने लगेंगे, बिना ऋतुके आम्रवृक्ष फलित होंगे और रुक्मिणी के स्तनों से दूध बहने लगेगा। वह पुत्र इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा-ऐसा मैंने प्रभुकी वाणी में सुना है।

वाह! सीमंधर प्रभु की धर्मसभा में नारदजी द्वारा सुनी गई अपने पुत्र की बात सुनकर श्रीकृष्ण तथा रुक्मिणी को अतीव प्रसन्नता हुई, उनका शोक मिट गया और वे चातक की भाँति प्रद्युम्न के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे।

इधर नवयुवा प्रद्युम्न का सुन्दर रुप देखकर उसकी पालक माता रानी कंचनमाला उन पर मोहित हो गई; उसके मनमें विकारभाव जागृत हुए। उसने अपनी महत्त्वपूर्ण प्रज्ञप्ति विद्या उन्हें दे दी और अनेक हावभावों से ललचाने का प्रयत्न किया; परन्तु धीर-गंभीर प्रद्युम्नकुमार शीलव्रत में अडिग रहे। इससे कुपित होकर रानी कंचनमालाने उन पर कुशील का झूठा आरोप लगाकर राजा को भड़काया। राजाने उन्हें मार डालने का काम अपने ५०० पुत्रों को सौंपा; परन्तु वे किसी प्रकार प्रद्युम्न को मार नहीं सके। चरमशरीरी को कौन मार सकता है? उलटे उन्हें दिव्य विभूतियाँ प्राप्त हुई।

एक बार नारदजी वहाँ आये और प्रद्युम्न कुमार को विदेहक्षेत्र में सुनी हुई उनके पूर्वभवों की सारी बातें कहीं; तथा रुक्मिणी और श्रीकृष्ण उनके सच्चे माता-पिता होने की बात का विश्वास कराया। द्वारिका की भी वर्तमान स्थिति सुनायी। उनके काका नेमिनाथ प्रभु वहाँ बिराजमान हैं वह भी बतलाया। तुरन्त ही प्रद्युम्नकुमारको अपने माता-पिता से मिलने तथा नेमिप्रभु के दर्शन की इच्छा हुई; दिव्यवैभव सहित ठाटबाट से वे द्वारिका आये। वहाँ आकर उन्होंने बन्दर, सिंह आदि के रूप धारण करके सत्यभामा और बलभद्र आदिको खूब खिझाया, चित्र-विचित्र चेष्टाओं द्वारा नगरजनों को भी प्रमुदित किया; फिर एक ब्रह्मचारी श्रावक का रुप धारण करके रुक्मिणीके महल में पहुँचे। वहाँ रुक्मिणीने उन्हें धर्मात्मा जानकर आदरपूर्वक भोजन कराया। भोजन के पश्चात् वे बोले-हे माता! आप सम्यग्दर्शनधारी एवं साधर्मी के प्रति वात्सल्य दरशानेवाली हो।

उस समय राजभवन में अनेक शुभचिह्न प्रगट हुए-अचानक ही फल-फूल खिल उठे, मोर आनन्द से नाचने लगे, आम्रवृक्ष फलों से लद गये और रुक्मिणी के स्तनों से दूध झरने लगा। इस प्रकार पुत्र-आगमनके सर्वचिह्न देखे, परन्तु प्रद्युम्न तो कहीं दिखायी नहीं दिया! तब आशंका से रुक्मिणीने पूछा-हे ब्रह्मचारी महाराज! मेरे पुत्र के आगमन पर जो चिह्न भगवान ने नारदजी से कहे थे वे सब यहाँ प्रगट दृष्टिगोचर हो रहे हैं, परन्तु मेरा पुत्र दिखायी नहीं देता!...आपको देखकर मेरे हृदय में वात्सल्य उमड़ रहा है, तो क्या आप ही मेरे पुत्र हैं?

यह सुनते ही प्रद्युम्न ने अपना यथार्थ दिव्यरुप धारण किया और हर्षपूर्वक नमन करते हुए बोले-हे माता! मैं ही आपका पुत्र प्रद्युम्न...आपके चरणों में नमस्कार करता हूँ। उनके मीठे वचन सुनकर तथा दिव्यरुप देखकर माताने अत्यंत हर्षपूर्वक उन्हें गले से लगा लिया। मुमुक्षु को मोक्ष की कथा सुनकर जो आनन्द होता है, आत्मार्थी को आत्मा की अनुभूति से जो सन्तुष्टि होती है, वैसा ही आनन्द और वैसी ही सन्तुष्टि पुत्र मिलन से माता रुक्मिणी को हुई। अपनी बाल्यक्रीड़ा का विशेष आनन्द देने के लिये प्रद्युम्नकुमार ने विक्रियालब्धि द्वारा बचपन से अब तक की सर्वचेष्टाएँ प्रदर्शित कीं, और बालपुत्र को गोद में लेने का लाभ प्राप्त करके माता रुक्मिणी सन्तुष्ट हुईं।

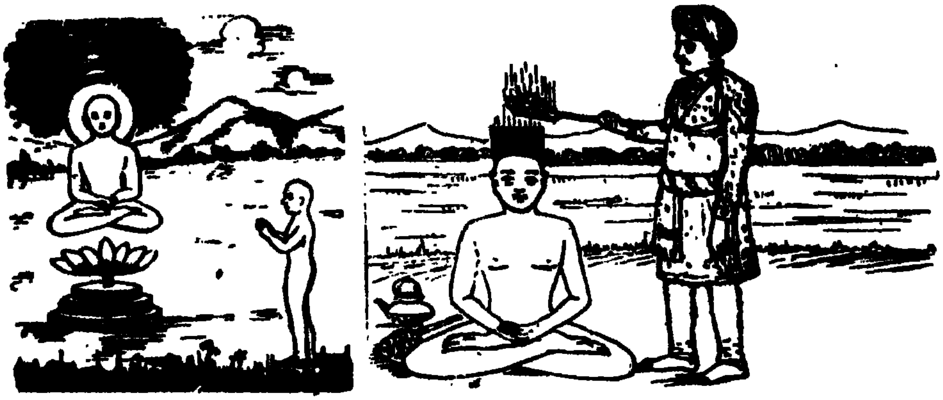
पूर्वभव में जो प्रद्युम्नका भाई था और स्वर्गलोक में भी उनके साथ था, वह जीव वहाँ से च्यवकर श्रीकृष्ण के पुत्ररुप में जाम्बुवती की कुक्षि से अवतरित हुआ; उसका नाम शंभव अथवा शम्बुकुमार...वह भी चरमशरीरी है।

इस प्रकार श्री नेमिनाथ प्रभु के समवसरण में अपने पूर्वभव सुनकर श्रीकृष्ण की आठों रानियोंने अपना चित्त धर्म में लगाया तथा शम्बुकुमार-प्रद्युम्नकुमार आदि को भी वैराग्य हुआ और आत्मज्ञानसहित धर्मसाधना में अपना चित्त स्थिर किया। तत्पश्चात् भगवान नेमिनाथ ने विहार करके देश देशान्तर में वीतरागी मोक्षमार्ग का उपदेश दिया और लाखों-करोड़ों जीवों को धर्मरथ में बैठाकर मोक्षमार्ग में गमन कराया। प्रभु ने तीर्थंकर रुप में रहकर भरतक्षेत्र में ७०० वर्षतक धर्मचक्र चलाया।

अनेक वर्षों पश्चात् नेमिप्रभु जब पुन: गिरनार पधारे तब अति हर्षपूर्वक दर्शन करके सबने धर्मोपदेश सुना। उस समय गिरनार के वनराज-सिंह भी अहिंसक बने गये थे और प्रभु का धर्मोपदेश सुनकर आत्मकल्याण करते थे।

श्रीकृष्ण के लघु भ्राता गजसुकुमार भी प्रभु के धर्मदरबार में आये थे; प्रथमवार ही प्रभु को देखकर उन्हें ऐसा लगा कि-अहो, यह तो मेरे भ्राता! मुझे मोक्ष ले जाने के लिये ही पधारे हैं। प्रभु के श्रीमुख से उन्होंने तीर्थंकरादि महापुरुषों का चरित्र तथा मोक्षपुरुषार्थ का वर्णन सुना। सुनते ही उनका आत्मा

मोक्ष पुरुषार्थ हेतु जागृत हो उठा। अहा, यह तो नेमिप्रभुकी वाणी! विवाह के समय ही वैराग्य प्राप्त करनेवाले उन प्रभुकी वीतरागरसझरती वाणी में संसार की असारता और मोक्षकी परममहिमा सुनकर गज सुकुमार का हृदय वैराग्य से झंकृत हो उठा।



तुरन्त ही उन्होंने प्रभुचरणों में जिन दीक्षा अंगीकार की और महान पराक्रम पूर्वक स्मशान में जाकर आत्मध्यान में लीन हो गये। इतने में क्रूर परिणामी सोमिल सेठ वहाँ आ पहुँचा। गजसुकुमार मुनि को देखते ही 'इस दुष्ट ने मेरी कन्या को अविवाहित रखा और मेरी पत्नी को परेशान किया'-ऐसा वैरभाव उसके मन में जागृत हो उठा और उसने गजसुकुमार मुनिपर घोर उपसर्ग किया। उनका सिर अग्नि से जलाया और शरीर में कीलें ठोक-ठोककर चलनी जैसा बना दिया। परन्तु यह तो महापराक्रमी गजकुमार! उपसर्ग के बीच शान्ति के पर्वत की भाँति ध्यान में अडिग रहे और शुक्ल ध्यान की श्रेणी द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार नेमिनाथ प्रभु के तीर्थ में वे 'अंतकृत' केवली हुए। उनका केवलज्ञान तथा निर्वाण-दोनों महोत्सव देवों ने एकसाथ किये।

[आत्म साधना में गजसुकुमार मुनि के इस प्रचंड पुरुषार्थ की घटना पूज्यगुरुदेव श्रीकानजीस्वामीको अति प्रिय थी। प्रवचन में जब भावविभोर होकर तथा चित्र बतलाकर साधक के अति उग्र पुरुषार्थ का वर्णन करते तब मुमुक्षु जीव चैतन्य के पुरुषार्थ की प्रेरणा लेते और मोक्ष के अडोल साधक के प्रति हृदय से विनत हो जाते। अहा, जिन्हें पुरूषार्थ द्वारा आत्मसाधना करना है, उन्हें जगत की कोई घटनाएँ रोक नहीं सकतीं।)

राजपुत्र गजकुमार की दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्षकी बात सुनकर तुरन्त समुद्रविजय महाराज (नेमिप्रभु के पिताश्री) आदि नवों भाइयों ने (वसुदेव के अतिरिक्त) संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा लेकर मोक्षकी साधना की, मातुश्री शिवादेवी आदिने भी आर्यिका पद अंगीकार किया और राजीमती के संघ में रहने लगीं। राजीमती,शिवादेवी आदि आर्यिकाओंने अद्‌भुत वैराग्य-जीवन जीकर नेमिप्रभु के मार्गका अनुसरण किया और स्त्रीपर्याय का छेद करके स्वर्ग में देव हुईं; वहाँसे निकलकर एक भव में मोक्ष प्राप्त करेंगी।

## द्वारिकापुरी का दहन

प्रभु नेमिनाथ तो वीतरागरूप से भारत में विहार करते हुए पुनः पुनः गिरनार पधारते हैं। एकबार

प्रभु पुनः गिरनार पधारे। इस बार प्रभु का उपदेश सुनकर बलभद्र जी ने अपने भाई श्रीकृष्ण का तथा द्वारिकानगरी का भविष्य पूछा। 'बारह वर्ष पश्चात् द्वीपायन ऋषि द्वारा समस्त द्वारिका नगरी भस्मीभूत हो जायगी और श्रीकृष्ण की मृत्यु उसके भाई जरत्कुमार के हाथ से होगी'--ऐसा प्रभु की वाणीमें आया। वह सुनकर अनेक जीवों ने वैराग्य प्राप्त करके दीक्षा ग्रहण कर ली। श्रीकृष्ण महाराजने द्वारिका नगरी में घोषणा करायी कि-मेरे पिता-माता-भ्राता-भगिनी-पुत्रादि परिजन तथा समस्त नगरवासी सब वैराग्यपूर्वक संयम धारण करके शीघ्र आत्मकल्याण करो! मैं किसी को रोकूँगा नहीं। मैं स्वयं व्रत धारण नहीं कर सकता, परन्तु जो भी व्रत-दीक्षा लेंगे उनके परिवार के पालन का सम्पूर्ण भार मैं लूँगा। इसलिये द्वारिका नगरी भस्म हो जाय उससे पूर्व जिन्हें अपना कल्याण करना हो वे कर लें...उसमें मेरी अनुमोदना है।

द्वारिका का भविष्य तथा श्रीकृष्ण की धर्मघोषणा सुनकर उनके पुत्र-पौत्र प्रद्युम्नकुमार, शम्बुकुमार, भानुकुमार, अनिरुद्धकुमार आदि चरमशरीरी राजपुत्रों ने तुरन्त नेमिप्रभु के निकट जिनदीक्षा ले ली...और गिरनार की दूसरी, तीसरी, चौथी टूंकसे मोक्षपद प्राप्त किया। श्रीकृष्ण की सत्यभामा, जाम्बुवती, रुक्मिणी आदि आठों पटरानियों ने तथा अन्य हजारों रानियों ने भी नेमिप्रभु के समवसरण में जाकर आर्यिका-व्रत धारण किये। हीरे-मोती के हार, मुकुट द्वारा सुशोभित वे रानियाँ अब मात्र श्वेत साड़ी में भी विशेष शोभायमान होने लगीं; सच ही है, जैसी शोभा वीतरागता में है वैसी रागमें कहाँ से होगी? अनेक नगरजनों तथा सिद्धार्थ नामक सेनापति ने भी जिनदीक्षा धारण की, और वे सिद्धार्थ मुनिराज समाधि मरण करके स्वर्ग में देव हुए।

अब, उधर द्वीपायन मुनि जो दूर देशान्तर चले गये थे वे ठीक बारह वर्ष पूर्ण होने से पूर्व (बारह वर्ष हो चुके हैं ऐसा समझकर) द्वारिका के उद्यान में आये। (-जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे...') (वे बलभद्र के मामा लगते थे;) यादव कुमारों ने उन्हें देखा, और 'यह द्वारिका जलानेवाला आया'-ऐसा कहकर पत्थर आदि मार कर तथा भला-बुरा कहकर उनका खूब अपमान किया। इससे क्रोधित होकर वे द्वीपायन ऋषि सम्पूर्ण द्वारिकानगरी के भस्म करने के लिये उद्यत हुए।-रे होनहार! मुनिभाव से भ्रष्ट हुए वे द्वीपायन क्रोधपूर्वक तेजोलेश्या द्वारा द्वारिका को जलाने लगे। (दूसरे पुराण में ऐसा भी आता है कि उन द्वीपायन ने अशुभनिदान किया और मरकर देव हुए, पश्चात् द्वारिकानगरी को भस्म किया)। नगरी के पशु तथा मनुष्य अग्निमें धू-धू करके जलने लगे; बचाओ...बचाओ...का करुण विलाप करने लगे। श्रीकृष्ण की द्वारिका में ऐसा करुण क्रन्दन कभी हुआ नहीं था। देवों द्वारारचित द्वारिकानगरी छह मास तक अग्नि में जलती रही और सर्वथा नष्ट हो गई।

*यहाँ किसी को प्रश्न होगा कि-अरे, यह महान वैभवसम्पन्न द्वारिकापुरी...जिसकी रचना देवों ने की थी और श्रीकृष्ण जिसके राजा, अनेक देव जिसके सहायक, उस द्वारिका को भस्म होने से किसीने क्यों नही बचाया? कहाँ गये वे देव? और कहाँ गया उन वासुदेव का पुण्य?*

उसका समाधानः-हे भाई! सर्वज्ञभगवान की देखी हुई भवितव्यता दुर्निवार है, उसे कोई रोक नहीं सकता। अब ऐसी होनहार हुई तब देव भी दूर हो गये। पुण्य का संयोग वासुदेव जैसों को भी कहाँ स्थिर रहता है? वह तो अस्थिर, क्षणभंगुर और अशरण है।

अपनी आँखों के सामने धू-धूकर जलती हुई द्वारिका नगरी को देखकर दोनों भाई एकदम आकुल-व्याकुल हो गये। यद्यपि दोनों आत्मज्ञानी थे...जानते थे कि द्वारिका के इन सर्व परद्रव्यों में से कोई भी हमारा नहीं है; हम तो सबसे भिन्न चेतन स्वरूप हैं;-तथापि व्याकुल होकर कहने लगे-अरे,

हमारे महल और रानियाँ जल रही हैं, माता-पिता जल रहे हैं, परिजन एवं प्रजाजन जल रहे हैं...कोई तो बचाओ रे...कोई देव तो सहाय करने आओ! परन्तु सर्वज्ञके देखे हुए भवितव्य के सामने तथा द्वीपायन ऋषि के क्रोधके समक्ष देव भी क्या करते? आयु समाप्त होने पर इन्द्र-नरेन्द्र या जिनेन्द्र कोई भी जीव को बचा नहीं सकते । एक अपना आत्मा ही शरणभूत है।

आग बुझाने का कोई साधन दिखायी नहीं दिया तब श्रीकृष्ण और बलभद्र ने नगरी का गढ़ तोड़कर समुद्र के जलसे अग्नि बुझाने का प्रयत्न किया। परन्तु रे दैव! वह जल भी तेल जैसा होने लगा, और उससे आग अधिक बढ़ने लगी! अंत में आग को बुझाना असंभव जानकर वे दोनों भाई माता-पिता को बाहर निकालने का उद्यम करने लगे। माता-पिता को रथ में बैठाकर घोड़े जोत दिये, परन्तु वे नहीं चले; हाथी जोते वे भी रथ को नहीं खींच सके; रथ के पहिये पृथ्वी में चिपक गये थे। अंत में, 'हाथी-घोडों से यह रथ नहीं चलेगा'-ऐसा देखकर श्रीकृष्ण और बलभद्र दोनों महान योद्धा रथमें जुत गये और शक्ति लगाकर खींचने लगे; हजार-हजार सिंहोंका बल रखनेवाले उन बलदेव-वासुदेव से भी वह रथ नहीं चला सो नहीं चला; वह तो वहाँ का वहीं गड़ गया। जब बलदेव-वासुदेव रथ को बाहर निकालने के लिये शक्ति लगाने लगे तब नगरी के द्वार अपने आप बन्द हो गये। दोनो भाइयों ने लातें मार-मारकर द्वार तोड़े कि उसी समय आकाश से देववाणी हुई कि-मात्र तुम दोनों भाई ही द्वारिका से जीवित निकल सकोगे, तीसरा कोई नहीं माता-पिता को भी तुम नहीं बचा सकोगे।



अरे, अशरण संसार! श्रीकृष्ण-बलभद्र माता-पिता को असहाय छोड़कर रुदन करते-करते द्वारिका के बाहर निकले। बाहर निकलकर देखा तो...क्या देखा? कि-सुवर्ण एवं रत्नमयी द्वारिकानगरी घास की भाँति भड़भड़ जल रही है, घर-घर में आग लगी है, राजमहल भस्म हो चुके हैं..

दोनों भाई एक-दूसरे के गले लगकर रोने लगे। अब कहाँ चला जाय वह सोचने लगे। अन्त में, दक्षिण देश में पाण्डवों के पास जाने का निर्णय करके उस ओर चलने लगे।

द्वारिकानगरी छह मास तक सुलगती रही... तब जो तद्भव मोक्षगामी थे अथवा जिन्हें संयम धारण करने का भाव था ऐसे जीवों को तो देव नेमिनाथ प्रभु के निकट ले गये; जो सम्यग्दृष्टि थे, धर्म संस्कारों से युक्त थे उन्होंने अंत समय जानकर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया; अग्नि का घोर उपसर्ग भी उन्हें आर्तध्यान का कारण नहीं हुआ। जो सच्चे जिनधर्मी हैं वे मृत्युकाल में भी कायर नहीं होते परन्तु उलटे धर्मसाधना में शूरवीर होते हैं; वे शरीर का त्याग देते हैं परन्तु धर्म का त्याग नहीं करते।-यह जैन सन्तों की रीति है।

अरेरे, द्वीपायन ने जिन वचन की श्रद्धा छोड़कर अपना भव बिगाड़ा और अनेक जीवों की मृत्यु

का कारण बने। धिक्कारर है ऐसे क्रोध को जो स्व-पर का नाश करके संसार की वृद्धि करता है। और देखो तो सही इस संसार की स्थिति! द्वारिका जल रही थी तब श्रीकृष्ण का सुदर्शन चक्र भी क्या काम आया? कहाँ गये वे सब देव? मात्र प्राण ही अब जिनका परिवार बचा हो, ऐसे वे दोनों भाई पाण्डवों के पास जाने को चले। तिरस्कार करके स्वयं ही जिन्हें राज्य से निकाल दिया था उन्हींकी शरण में जाने का समय आया! ऐसा असार संसार...उसमें पुण्य-पाप के विचित्र खेल देखकर हे जीव! तू पाप के उदय में घबराना नहीं और पुण्य के भरोसे बैठ मत रहना; दोनों से निरपेक्ष रहकर शीघ्र आत्महित साधना। क्योंकि-

**हर्ष-शोक से पार है,**
**ऐसा ज्ञान स्वभाव;**
**उस स्वभाव को साधतो,**
**सच्ची शान्ती लहाय।**

**संयोग और वियोग में,**
**अरु सुख में या दुःख में;**
**संसार में या मोक्ष में,**
**रे जीव! तू तो अकेला।**

(द्वारिकानगरी भले ही भस्म हो गई, परन्तु धर्मात्मा जीवों की शान्ति नहीं सुलगी थी, वह तो अग्नि से तथा राग से भी अलिप्त शांत चैतन्य रस में सराबोर थी। धन्य ज्ञानी की चेतना!

## श्रीकृष्ण की मृत्यु और पाण्डवोंका वैराग्य

द्वारिकानगरी को जलता छोडकर श्रीकृष्ण-बलभद्र दक्षिण देश की ओर जा रहे थे, वहाँ कौशाम्बी का भयंकर वन आया। वहाँ मृगजल तो बहुत दिखता था, परन्तु कहीं सच्चा जल मिलना दुर्लभ था। थके हुए श्रीकृष्ण को तीव्र प्यास लगी थी। उन्होंने बलभद्र से कहा-हे बन्धु! पानी के बिना मेरे प्राण कण्ठतक आ गये हैं; जिस प्रकार संसार दुःख से संतप्त प्राणियों का भवाताप सम्यग्दर्शन रुपी जल से मिट जाता है, उसी प्रकार आप मुझे शीतल जल लाकर दो, जिससे मेरी तृषा शांत हो और प्राण बचें।

बलभद्र उनसे जिनेन्द्र-गुणस्मरण को कहकर पानी की खोज में गये। पानी खोजने हुए वे दूर-दूर चले गये। इधर थके हुए हताश एवं प्यासे श्रीकृष्ण पिताम्बर ओढ़े पैर पर पैर चढ़ाकर वृक्ष की छाया में सो गये और उन्हें निद्रा आ गई। उसी समय सनसनाता हुआ एक तीर आया और श्रीकृष्ण विंध गये!...कौन था वह बाण चलानेवाला?-यह था उन्हीं का भाई जरत्कुमार! एक भाई तो प्राण बचाने के लिये पानी लेने गया है और दूसरे भाई ने बाण छोड़कर उनसे प्राण हर लिये! भाई के हाथ से भाई का प्राणांत हुआ। यद्यपि उसकी इच्छा श्रीकृष्ण को मारने की नहीं थी; उलटे वह तो इसी भावना से वन में भटक रहा था कि उसके हाथ से श्रीकृष्ण की मृत्यु न हो; परन्तु होनहार कौन टाल सकता है? श्रीकृष्ण के वस्त्र का एक सिरा हवा में उड़ रहा था, उसे खरगोश का कान समझकर जरत्कुमार ने बाण छोड़ा और उस बाण से उनके भाई श्रीकृष्ण विंध गये। फिर तो उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ; श्रीकृष्ण के कहने से उसने धनुष-बाण फेंक दिये, शिकार करना छोड दिया, और द्वारिका भस्म हो गई तथा श्रीकृष्ण मृत्यु को प्राप्त हुए, वह समाचार देने के लिये वह पाण्डवों के पास चल दिया।

**राजा-राणा-छत्रपति हाथिन के असवार,**
**मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार।**

अरे, कहाँ तीन खण्डका राजवैभव! और कहाँ निर्जन वनमें बिना जल के मृत्यु! पुण्य के समय

सेवा करनेवाले हजारों देवों में से कोई देव उन प्यासे प्रभु को पानी पिलाने भी नहीं आया! संयोग का क्या विश्वास!

दूसरी ओर पानी लेने गये बलभद्र जी पानी लेकर जल्दी-जल्दी आये...और कहने लगे-अरे भैया कृष्ण! तुम्हें निद्रा आगई? उठो, मैं जल लेकर आ गया हूँ, उसे पीकर तृषा शांत करो!

—परन्तु कौन उठता और कौन बोलता? कौन पानी पीता?...अत्यन्त भ्रातृस्नेह के कारण बलभद्र श्री ण की मृत्यु स्वीकार करने को तैयार नहीं हुए; वे श्रीकृष्ण के मृतशरीर को कन्धेपर लेकर घूमें और छह मास तक अत्यन्त शोकमग्न रहे। आत्मज्ञानी होने पर भी मोह के कारण यह दशा हुई। अन्त में, उनके सारथी सिद्धार्थ ने आकर (-जोकि मरकर देव हुआ था) सम्बोधन किया कि हे महाराज! जिस प्रकार रेत में से तेल नहीं निकलता, पत्थर पर धान नहीं उगता और मरा हुआ बैल घास नहीं खाता, उसी प्रकार मरा हुआ मनुष्य पुन: सजीवन नहीं होता। आप तो ज्ञानी हो, इसलिये श्रीकृष्ण का मोह छोड़ो और संयम धारण करो।

सिद्धार्थ देव के सम्बोधन से बलभद्र का चित्त शांत हुआ और संसार से विरक्त होकर उन्होंने जिनदीक्षा धारण की और आराधना पूर्वक समाधिमरण करके वे स्वर्ग में गये। नेमिनाथ प्रभुके शासन में श्रीकृष्ण-बलभद्र वे नौवें (अन्तिम) वासुदेव-बलदेव हुए और जरासंघ प्रतिवासुदेव हुआ।

उधर दक्षिण देशमें पाण्डवों ने जरत्कुमार के मुँह से द्वारिकानगरी का विनाश तथा श्रीकृष्ण की मृत्यु के समाचार सुने। सुनते ही वे शोकमग्न हो गये। बलभद्रजी उन्हें आश्वासन देने गये फिर उन्होंने द्वारिकानगरी की नवरचना की और जरतकुमार को राजसिंहासन पर बैठाया। परन्तु यह देखकर कि-कहाँ नेमितीर्थंकर और श्रीकृष्ण के समय की द्वारिका और कहाँ यह द्वारिका!... वे पाण्डव वैराग्यसे चिन्तवन करने लगे कि-अरे, समुद्र के बीच देवों द्वार निर्मित द्वारिका नगरी भी जलकर भस्म हो गई। जहाँ श्रीकृष्ण राज्य करते थे, जहाँ की राजसभा में नेमिकुमार बिराजते थे और दिन-प्रतिदिन मंगल उत्सव होते थे, वह नगरी आज सुनसान हो गई! कहाँ गये वे राजमहल? कहाँ हैं वे राजवैभव? और कहाँ चले गये वे उपभोग करनेवाले?...नदी के प्रवाह जैसे चंचल विषयों को स्थिर नहीं रखर जा सकता। विषयों की ऐसी विनश्वरता देखकर विवेकी जन उससे विरक्त होते है और वीतरागी होकर आत्महित की साधना करते हैं।

—इस प्रकार संसार से विरक्त होकर वे पाण्डव पल्लव देश में विराजमान श्री नेमिनाथ प्रभु के पास गये। प्रभु के दर्शनों से उनका चित्त शांत हुआ। प्रभुके केवलज्ञान की अत्यन्त महिमा करके स्तुति और प्रभु के उपदेश में चिदानन्द तत्त्व की, स्वानुभूति की तथा मोक्ष सुख की परम महिमा सुनकर वे पाण्डव भी मोक्ष साधना हेतु उत्सुक हुए। वे विचारने लगे-अरेरे, नेमिनाथ प्रभु जैसे तीर्थंकर का साक्षात् सुयोग होने पर भी अब तक हम असंयमी रहे और तुच्छ राजभोगों के लिये बड़े-बड़े युद्ध किये। अरे, श्रीकृष्ण जैसे चक्रवर्ती राजा का राज्य भी जहाँ स्थिर नहीं रहा, द्वारिका नगरी भी देखते-देखते भस्म हो गई और श्रीकृष्ण जैसे चक्रवर्ती महाराजा जल के विना मृत्यु को प्राप्त हुए; ऐसे महापुरुषों को भी जब पुण्य शरणभूत नहीं हुआ वहाँ दूसरों की क्या बात? पुण्य और संयोग तो ध्रुव एवं अध्रुव एवं अशरण हैं; मात्र रत्नत्रयधर्म ही जीव को शरणभूत है।

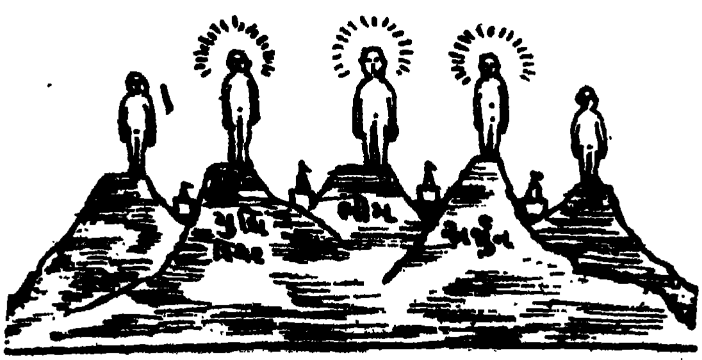
इस प्रकार जिनका चित्त असार संसार से त्रस्त होकर जिनदीक्षा हेतु तत्पर हुआ है ऐसे उन पाण्डवों ने भगवान नेमिनाथ की धर्मसभा में अपने और द्रौपदी के पूर्वभवों का वृत्तान्त सुना:—

युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन-यह तीनों जीव पूर्व भव में भी भाई थे, और नकुल, सहदेव तथा

द्रौपदी-यह तीनों जीव उन तीनों भाइयों की पत्नियाँ थे। उनमें द्रौपदी का नाम नागश्री था। अर्जुन और द्रौपदी पूर्वभव में भी पति-पत्नी थे। उस नागश्रीने (द्रौपदी के पूर्वभव के जीवने) एक बार मुनिराज का अनादर करके अयोग्य आहार दिया, जिससे मुनिराज का समाधिमरण हुआ। नागश्री के जीवने उस पाप के फल में अनेक बार दुर्गतिभ्रमण किया और महान दुःख भोगे। अन्त में, चम्पापुरी में एक मुनिराज के निकट उस जीव ने जैनधर्म के संस्कार प्राप्त किये और आर्यिकासंघ में रहकर अहिंसादि व्रतों का पालन किया, जिनके फल में स्वर्ग में देवी होकर वह जीव यहाँ द्रौपदी के रुप में अवतरित हुआ है। पूर्वभव में जब द्रौपदीने मुनिराज का अनादर किया, वह देखकर युधिष्ठिर आदि पाँचों जीवों को वैराग्य जागृत हुआ और जिनदीक्षा लेकर स्वर्ग में देव हुए; वे वहाँ से आकर यह पाँच पाण्डव हुए हैं। स्वर्ग में भी अर्जुन तथा दौपदी के जीव पति-पत्नी (देव-देवी) थे। यहाँ भी उस सती द्रौपदीने मात्र अर्जुन का ही वरण किया है; परन्तु पूर्वभव में एक अशुभ संकल्प किया था; फलस्वरूप वह लोकमें 'पाँच भर्तारी' कहलायी। तुममें से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन तो इसी भव में मोक्ष प्राप्त करोगे; शेष यहाँ से स्वर्गलोक में जाकर फिर अनुक्रम से मोक्ष में जाओगे।

इस प्रकार प्रभु नेमिनाथ तीर्थंकर की धर्मसभा में अपने पूर्वभवों का वृत्तांत सुनकर पाण्डवों का चित्त संसार से विरक्त हुआ और प्रभुचरणों में जिनदीक्षा लेकर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव पाँचों भाई जैनमुनि बनकर पंचरमेष्ठी पद में सुशोभित होने लगे। उन्हें देखकर सब आश्चर्यचकित हुए; देवों ने भी आनन्दपूर्वक उत्सव किया। उसी समय माता कुन्ती, द्रौपदी तथा सुभद्रा आदिने भी राजीमती आर्यिका के संघ में दीक्षा धारण की।

तत्पश्चात् विहार करते-करते वे पाँचों मुनिवर सौराष्ट्र देशमें आये और नेमिप्रभु की कल्याणक भूमि गिरनार तीर्थंकी वन्दना की। वैराग्यभूमि आम्रवन में कुछ समय रहकर आतमध्यान की उग्रता द्वारा वीतरागता में वृद्धि की। वहाँ से शत्रुंजय सिद्धीक्षेत्र पर आये और अड़ोलरुप से आत्मध्यान में लीन हो गये। अहा, परमेष्ठीपद की आनन्दानुभूति में झूलते हुए वे पाँच पाण्डव मुनिवर पंचपरमेष्ठी समान शोभा देते थे।




**कैसे सोहे पांडव-मुनिराज...अहो! उन्हें वंदन लाख...**
**राजपाट त्यागकर बसे-उन्नत पर्वत में,**
**जिसने छोड़ा स्नेहीओं का साथ,-अहो! उन्हें वंदन लाख...**
**सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के वे धारक,**

**करते कर्मों के जलाकर भस्म, -अहो! उन्हें वंदन लाख...**
**शत्रु या मित्र नहीं कोई उसीके ध्यान में,**
**वे तो साधे मुक्तिका मार्ग, -अहो! उन्हें वंदन लाख...**

[कोई कथाकार ऐसा भी कहते हैं कि-पाण्डव मुनिराज नेमिनाथ भगवान के दर्शन करने हेतु शत्रुंजय से गिरनार की ओर विहार कर रहे थे, इतने में उन्होंने नेमिनाथ भगवान के मोक्षगमन की बात सुनी, जिससे वे वैराग्यपूर्वक शत्रुंजय पर्वत पर ही ध्यानस्थ हो गये।]



शत्रुंजय पर्वत पर मोहशत्रु को जीतने के लिये ध्यानमग्न पाण्डव मुनि भगवन्तों पर दुर्योधन के भानजेने अग्नि का घोर उपसर्ग किया। उनके शरीर जल रहे थे, परन्तु उन मुनिवरों ने तो ध्यान द्वारा आत्मा में शांत जल का सिंचन करके शरीर के साथ-साथ ध्यानाग्नि में कर्मों को भी भस्म कर दिया। युधिष्ठिर, अर्जुन तथा भीम ने तो उसी समय केवलज्ञान प्रगट किया और अंतकृत केवली होकर मोक्षको प्राप्त हुए। नकुल तथा सहदेव-उन दो मुनिवरों-को अपने भ्राताओं सम्बन्धी किंचित् राग की वृत्ति रह गई; इतने मात्र रागके कारण वे मोक्षप्राप्त नहीं कर सके और सर्वार्थसिद्धि देवलोक का भव हुआ।

**तेथी न करवो राग जरीये क्यांय पण मोक्षेच्छुए,**
**वीतराग थईने ए रीते ते भव्य भवसागर तरे।**

[शत्रुंजय पर्वत पर उपसर्ग के समय पाण्डवमुनियों द्वारा भायी गई बारह वैराग्य-भावनाओं के लिये "जैनधर्म की कथाएँ" भाग-५ पढ़ों।]

बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ ने धर्मचक्रसहित गगनविहार द्वारा मोक्ष का धर्मरथ चलाते-चलाते अनेक देशों में विहार किया; वैरागी राजकुमार वरांग भी उन्हींकि शासन में हुए; (उन वरांगकुमार के सुन्दर वैराग्य-उद्गारों के लिये देखो-"जैनधर्म की कथाएँ भाग ४ तथा ५) अन्तमें पुनः एक बार नेमिनाथ प्रभु सौराष्ट्र में पधारे। अपने देश के तीर्थंकर परमात्मा के आगमन से सौराष्ट्र की प्रजा धन्य हो गई! प्रभु पुनः उसी गिरनार गिरि (उर्ज्जयन्तगिरि) पर पधारे कि जहाँ उनके दो कल्याणक हुए थे। अब १४ वें गुणस्थान तथा मोक्षपद की साधना द्वारा पंचम कल्याणक की तैयारी थी। नेमिनाथ भगवान से पूर्व भी कराड़ों मुनिवरों ने गिरनार से मोक्ष प्राप्त किया था, और अब यह बाईसवें तीर्थंकर प्रभु वहाँ से मोक्ष पधार रहे हैं। नेमिनाथ प्रभुके १००० वर्ष के आयुबंध में से अब मात्र एक मास ही शेष रहा है। विहार और वाणी थम गये; गिरनार के सर्वोच्च शिखर (पाँचवीं टोंक...पंचम कल्याणक की टोंक...मोक्षकी टोंक) पर प्रभु अयोगी हुए। अषाढ़ शुक्ला सप्तमी को समस्त कर्मरहित हुए वे प्रभु गिरनार गिरि के ऊपर सिद्धालय में सिद्ध परमात्मा रूप में स्थित हुए। आज भी प्रभु वहीं विराज रहे हैं और अनंतकाल तथा उसी प्रकार मोक्षसुख में मग्न रहेंगे।-उन सिद्धप्रभु का स्मरण करके गिरनारगिरि की मोक्षटोंक पर बैठे-बैठेपूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामीनेपरमपद की भावना भायी थी-



**पूर्वप्रयोगादि कारणना योगथी,**
**ऊर्ध्वगमन सिद्धालय-प्राप्त सुस्थित जो..**
**सादि अनंत-अनंत समाधि सुखमां,**
**अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो...**
**अपूर्व अवसर ऐवो क्यारे आवशे ?**



[उस समय पूज्य बेनश्री-बेन तथा मुमुक्षुसमाज शान्तिपूर्वक उस भावना का अनुसरण कर रहा था। उस दृश्य के साक्षात् दर्शन सोनगढ की "गिरनार-यात्रा" फिल्म द्वारा आज भी हो सकते हैं। [-हम भी गिरनार जाकर सिद्धभगवन्तों की छत्रछाया में उस धन्यदशा की भावना भाते हैं।]

**तीन कल्याणक जहाँ हुए...मोक्ष गये भगवान...तीरथ सो नमूँ रे...**

नेमिप्रभु मोक्ष पधारने पर इन्द्र मोक्ष का महोत्सव मनाने आये। एक हजार वर्ष में इन्द्र पाँचवीं बार सौराष्ट्र में आये और तीर्थंकर प्रभुके पंचकल्याणक का महान उत्सव किया। गिरनार की उस पाँचवीं मोक्ष टोंकपर पर्वत की एक शिलापर प्रभुके चरणचिह्न तथा प्रतिमाजी उत्कीर्ण हैं...जो आज ८६००० वर्ष बाद भी हमें तीर्थंकर प्रभुका स्मरण करा के परमपद प्राप्ति की भावना जागृत करते हैं।

**गिरनार की टोंक पर, नेमिनाथ निर्वाण;**
**यात्रा करते हृदय में, जागे आतमध्यान।**

**[७२ करोड़ और सातसौ मुनिवरों की सिद्धभूमि गिरनार तीर्थ को वंदन हो!]**

पहले जो चिन्तागति विद्याधर थे और विवाह के लिये प्रीतिमती राजकुमारी की माँग को अस्वीकार किया था; पश्चात् चौथे स्वर्ग के देव होकर अपराजित राजा हुए थे, तत्पश्चात् १६ वें स्वर्ग के इन्द्र होकर सुप्रतिष्ठ राजा हुए, पश्चात् अहमिन्द्र हुए, और अन्त में भरतक्षेत्र के बाईसवें तीर्थंकर होकर गिरनार की पाँचवीं टोंक से मोक्ष पधारे; वे भगवान नेमिनाथ हमें भी शीघ्र मोक्षपद की प्राप्ति कराओ।

यद्यपि इन्द्रादि देव भी जिसकी पूजा करें ऐसी अद्भुत पुण्यलक्ष्मी भगवान नेमिनाथ के पास थी, अत्यन्त सौन्दर्य से सुशोभित उनकी कुमारावस्था थी और राजुल (राजमती) जैसी अत्यन्त सौन्दर्यवान राजकन्या उन्हें वरमाला (पहिनाने को आतुर थी) तथापि अतीन्द्रिय चैतन्यवैभव के निकट भगवान ने उन सबको तुच्छ तृणवत् जानकर त्याग दिया और संयम धारण करके परमात्मा बन गये; इस प्रकार जगत के मुमुक्षु जीवों को वैराग्य का महान आदर्शरुप हुए। धर्मचक्र की धुरी (नेमि) बनकर जिन्होंने 'नेमिनाथ' नाम सार्थक किया;-उन भगवान का चलाया हुआ धर्मचक्र धर्मी जीवों के अन्तर में आज भी मोक्षकी ओर अग्रसर है।

**हमारे धर्मरथ के सारथी प्रभु नेमिजिन को नमस्कार हो!**

श्रीकृष्ण जैसे महात्माने भी जिन परमात्मा की शरण लेकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, वे भगवान नेमिनाथ इस पृथ्वीपर किसके द्वारा वंद्य नहीं हैं!

**हरिवंश के हंस प्रभु, बने सिद्ध भगवान;**
**'हरि' नमें तुव चरण में, करे सदा गुणगान।**
**प्रभु तुम्हरे प्रसाद से, तीर्थ बना गिरनार;**
**तीन कल्याणक तुम्हारे, रत्नत्रय दातार।**

[इस प्रकार सौराष्ट्र देश में जिनके पंचकल्याणक हुए ऐसे बाल ब्रह्मचारी बाईसवें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथ भगवान का मंगल पुराण पूर्ण हुआ। वह सर्वजीवों को उत्तम ज्ञान-वैराग्य का कारण हो!]

※ ※ ※ ※

(ગીરનાર-તીર્થ ઉપર બેઠાબેઠા પૂ. કાનજી સ્વામીએ લખેલા હસ્તાક્ષર)

ૐ

શ્રી નેમીનાથ ભગવાનનુ ચારીત્ર ધામ
કેવળજ્ઞાનધામ સમ [illegible] સિધ્ધાલય
ધામના સ્મરણનું સ્થાન શ્રી ગીરનાર
ધામનો જયહો.

## अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त

भगवान नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के मध्यकाल में कम्पिला नगरी में बारहवाँ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुए। पूर्वभव में वह जीव एक निर्धन कृषक का पुत्र था। उसने एक मुनि के निकट दीक्षा लेकर तप किया, और मूर्खतावश तप के फलमें चक्रवर्ती पद की विभूतिका निदान बंध किया। मरकर वह जीव सौधर्म स्वर्ग में गया और वहाँसे कम्पिलानगरी में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ। एक दिन कारणवश अपने रसोइयेपर क्रोध करके उसे मृत्युदण्ड दिया; रसोइया मरकर व्यन्तर देव हुआ और वैरबुद्धि से ब्रह्मदत्त को मारने का विचार करने लगा। एक दिन रसनालोलुपी ब्रह्मदत्तको बनावटी अमृतफल द्वारा ललचाकर वह समुद्र के बीच ले गया; वहाँ उसने उन्हें डुबाने के लिये खूब उपद्रव किये। परन्तु चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त णमोकार-मंत्र का जाप करते रहे; इसलिये वह देव उन्हें डुबा नहीं सका। अन्त में, उसने एक युक्ति सोची और ब्रह्मदत्त से बोला-'हे राजन्! यदि तुम पानीमें णमोकार मंत्र लिखकर पैरों से मिटा दो तो मैं तुम्हें समुद्र से बाहर निकाल दूँगा, नहीं तो डुबा दूँगा।' मूर्ख चक्रवर्ती ने मरण के भय से धर्म छोड़ दिया। ज्यों ही वह नमस्कार मंत्र लिखकर पैरों से मिटाने लगा कि दुष्ट देवने उसका पैर पकड़कर समुद्र में फेंक दिया और वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मरकर सातवें नरक में औंधे मुंह जा गिरा। अरेरे! विषयरसकी लोलुपता और धर्म की विराधना का उसे कितना भयंकर दुःखदायी फल मिला! यह जानकर हे भव्य जीवो! तुम विषयों की लालसा को छोड़ो और जैनधर्म की आराधना करो!

# "हमारे ज्ञानमें उत्कीर्ण है-सिद्धभगवन्तों की स्तुति"

## [सिद्धपद की साधनापूर्वक मोक्षका अपूर्व महोत्सव]

जब भगवान महावीर का ढाई हजार वर्षीय निर्वाण-महोत्सव मनाया गया तब पूज्य श्री कानजीस्वामी ने अत्यन्त महिमापूर्वक कहा था कि आत्मा में सिद्ध भगवान की स्थापना वह मोक्षका मंगल-महोत्सव है। जिसने अपने आत्मा में 'सिद्ध' को (शुद्ध आत्मा को) स्थापित किया, उसमें अब विभाव या संसार रह नहीं सकता; उसे सिद्ध होना ही पड़ेगा।

सिद्ध भगवान कैसे हैं? कि-अपने स्वभाव से ही अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सुखरूप परिणमने वाले, दिव्य चैतन्य शक्तिवान देव हैं। किसके देव हैं?-गणधरादि बुधपुरुषों के देव हैं। गणधर से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि तक के धर्मात्मा जीवों के अंतर में, निर्विकल्प समाधिगम्य सिद्धपरमात्मा-इष्टदेव विराज रहे हैं; उन 'सिद्ध' का स्वीकार 'ज्ञान' में होता है, 'विकल्प' में नहीं।

अहा, जिसने अपने ज्ञानमें सिद्ध भगवान को देवरुप में स्वीकार किया उसकी दशा भी अलौकिक-अचिन्त्य शान्तिरुप होती है। सुखस्वरुपी सिद्धको जो अपने अंतर में स्थापित करे वह स्वयं सुखरहित नहीं रह सकता। अंतरमें अपने स्वसंवेदन से अतीन्द्रिय आनन्द का रसास्वादन करके जिसने सिद्धप्रभुको देवरुप में स्वीकार किया उस बुधजन के ज्ञानमें सिद्धप्रभु की दिव्यमहिमा की स्तुति उत्कीर्ण हो गई है; अब किसी दूसरे की महिमा का समावेश उसके अंतर में नहीं हो सकता। इन्द्रियज्ञानवाला अज्ञानी जीव अतीन्द्रिय सुखस्वभावी सिद्धको नहीं स्वीकार सकता।

देखो, भगवान महावीर परमइष्ट सिद्धपद को प्राप्त हुए, उसके ढाईहजारवें वर्षका यह उत्सव है; उसे मनाने की यही सच्ची रीति है। सम्यग्दृष्टि के भावश्रुत में सदा मोक्षका महोत्सव (सिद्ध पद की साधना) चल ही रहा है। हे जीव! तू भी भगवान महावीर जैसे ही अपने अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सुखस्वभाव की प्रतीति करके अपने में मोक्षका अपूर्व महोत्सव कर।

(-पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से)

આપણા ભગવંતો ચોવીસ તીર્થંકર



## पारसनाथ भगवान की स्तुति

अंतरिक्ष प्रभु आप हि सच्चे, देख रहे निज आतम राम,
रागरहित हो निरालम्ब हो, स्वयंज्योति हो आनन्दधाम;
रत्नत्रय आभूषण सच्चा, जड़ आभूषण का नहिं काम,
तीन लोक के मुकुट स्वयं हो, फिर क्या स्वर्ण-मुकुट का काम?
सिंहासन है नीचे फिर भी, नहीं आप सिंहासन पर,
अंतरिक्ष है आपहि सच्चे, राजत हो जग के उपर;
वस्त्र-मुकुट नहिं प्यारे हमको, प्यारा सच्चा आतमराम,
राज-मुकुटको छोड़ दिया फिर, यहाँ चढ़ाने का क्या काम!
अहो! प्रभुजी पारस प्यारे, भक्त हृदय के हो विश्राम,
राग-वस्त्रमें वास नहीं है, शुद्ध बुद्ध हो आनंदधाम;
मंगलकारी दर्श तुम्हारा, नहीं क्लेशका नाम-निशान,
नग्न-दिगम्बर पारसप्रभुको, करता 'हरि' सम्यक् प्रणाम।

(वीरसंवत् २४९६ में पूज्य श्रीकानजी स्वामी संघसहित शिरपुर-अंतरिक्ष पधारे और पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव हुआ। उस समय भोंयरे में पार्श्वनाथ प्रभुके सन्मुख बैठे-बैठे श्री ब्र. हरिभाई ने यह स्तुति रची थी।)

[२३]




वन्दों पारसनाथ, महारस के जो दाता;
प्रभु पारस-स्पर्शसे, जीवन उत्तम बन जाता।

अपने बाईस तीर्थंकर भगवन्तों की कथा आपने रुचिपूर्वक पढ़ी। अब, भगवान श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र के दसभव की पवित्र कथा प्रारम्भ करते हुए आनन्द होता है। यह कथा आचार्य गुणभद्रस्वामीरचित उत्तरपुराण तथा पं. दौलतरामजी रचित पार्श्वनाथचरित्र आदिके आधार से लिखी गई है; तदुपरान्त प्रत्यक्ष सन्तो के कृपा-प्रसाद से प्राप्त हुए उत्तम भाव भी इस कथा में गूँथे है; पार्श्वप्रभु के दसभव की यह कथा उत्तम क्षमा धर्म का बोध देती है और शत्रुके प्रति भी मध्यस्थ रहकर हमें आत्मसाधना करना सिखाती है। साधर्मी बन्धुओ! तुम यह भगवानका जीवनचरित्र आनन्द से पढ़ना और उसमें से उत्तम संस्कार प्राप्त करना। बालको में उच्च धार्मिक संस्कार डालने के लिये ऐसे साहित्य की आज विशेष आवश्यकता है; उस ओर जितना लक्ष दिया जायगा उतनी ही समाज की उन्नति होगी। पार्श्वप्रभुके दस भव की कथा प्रारम्भ होती है।

## [(१)पूर्वभव-दो भाई-मरुभूति ओर कमठ]

चतुर्थकाल में पोदनपुर में अरविन्द राजा राज्य करते थे; उनके मंत्री के दो पुत्र था; उनमें ज्येष्टपुत्र कमठ और छोटा मरुभूति यह मरुभूति ही अपने पार्श्वनाथ भगवान का जीव। (यह उनका नौवां पूर्वभव है।)

कमठ और मरुभूति दोनों सगे भाई थे; कमठ क्रोधी और दुराचारी था; मरुभूति शांत और सरल।

जिस प्रकार एक ही लोहे में से तलवार भी बनती है और बख्तर भी बनता है; तलवार काटती है और बख्तर रक्षा करता है; उसी प्रकार एक ही माता के दो पुत्र; उनमें एक कुपुत्र है और दूसरा सुपुत्र। क्रोधी कमठ सदा दोष देखता है और मरुभूति विनय से सद्गुण देखता है। प्रिय पाठक! आगे चलकर तुम्हें ज्ञात होगा कि क्रोध से जीव का कितना अहित होता है और शान्ति एवं सद्गुणों से वह कितना सुखी होता है!

अरविन्द राजा के मंत्री ने एक बार सिरमें श्वेत बाल देखकर मुनि के निकट जिनदीक्षा ले ली। राजाने उसके पुत्र को मंत्री बनाया। बड़ा भाई कमठ क्रोधी और दुष्ट-प्रकृति होने से उसे मंत्रीपद नहीं मिला और छोटे भाई को मंत्रीपद प्राप्त हुआ; जिससे कमठ के मनमें उसके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई।

एक बार राजा अरविन्द किसी दूसरे राजा से युद्ध करने गये तब मंत्री मरुभूति को साथ ले गये। राजा और मंत्री दोनों के बाहर जाने से दुष्ट कमठ ऐसा वर्तन करने लगा जैसे वह स्वयं ही राजा हो...और प्रजा को हैरान करने लगा। छोटे भाई मरुभूति की पत्नी अति सुन्दर थी; उसे देखकर कमठ उस पर मोहित हो गया। उसने मरुभूति की पत्नी को कपटपूर्वक एक फुलवाड़ी में बुलाया और उसके साथ दुराचार किया। कुछ दिन बाद राजा अरविन्द युद्ध का भार मंत्री मरुभूति को सौंपकर स्वयं पोदनपुर लौट आये। वहाँ लोगों के मुँह से जब कमठ के दुराचार की कथा सुनी तब उन्हें विचार आया कि ऐसे अन्यायी दुराचारी का हमारे राज्य में रहना उचित नहीं है। उन्होंने उसका सिर मुँडाकर काला मुँह करके, गधे पर बैठाकर नगर से बाहर निकलवाँ दिया। पापी कमठ की ऐसी दुर्दशा देखकर नगरवासी कहने लगे कि-देखो, पापी जीव अपने पाप का कैसा फल भोग रहा है; इसलिये पापों से दूर रहो।

राजाने कमठ को नगर से निष्कासित कर दिया, जिससे वह बड़ा दुःखी हुआ और तापस लोगों के मठ में जाकर वहाँ बाबा बनकर रहने लगा तथा कुगुरुओं की सेवा करने लगा। उसे कुछ ज्ञान तो था नहीं, वैराग्य भी नहीं था। अज्ञान एवं क्रोध के कारण वह एक बड़ा पत्थर हाथों में उठाकर खड़े-खड़े तप करता था। इतने में क्या हुआ?...वह जानने से पूर्व हम उसके भाई मरुभूति की खोज कर लें।

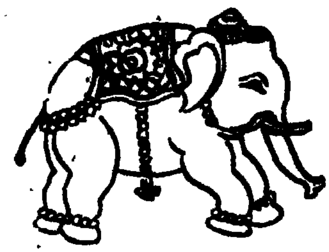
युद्ध में गया मरुभूति जब लौटकर आया और उसे ज्ञात हुआ कि उसके बड़े भाई कमठ को राजाने नगर से निष्कासित कर दिया है, तब उसे बड़ा दुःख हुआ। भाई पर क्रोध न करके मरुभूति ने उससे मिलने तथा घर वापिस लाने का विचार किया और वह उसकी खोज करने निकल पड़ा।



ढूंढ़ते-ढूंढ़ते अन्त में उस कमठ का पता चल गया और अपना भाई बाबा बनकर मिथ्या तप कर रहा है वह देखकर उसे खूब दुःख हुआ। वह कमठ के पास जाकर हाथ जोड़कर बोला-हे भाई! मुझे तुम्हारे बिना अच्छा नहीं लगता। जो हुआ सो हुआ; अब आप इस मिथ्या वेष को छोड़कर मेरे साथ घर लौट चलो। आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हो, इसलिये मुझपर क्रोध न करके मुझे क्षमा कर दो।-ऐसा कहकर मरुभूति ने भाई कमठ को वंदन किया।

—परन्तु दुष्ट कमठ का क्रोध तो और भी बढ़ गया। इसी के कारण मैं इतना अपमानित हुआ हूँ, और अब यहाँ भी मुझे दुःखी करने आया है!

मेरे पाप की बात यह यहाँ सबसे कह देगा तो? -ऐसा विचार आने से उसने हाथों मे उठाये हुए उस पत्थर का प्रहार मरुभूति के सिर पर किया। पत्थर लगते ही मरुभूति का सिर फूट गया; रक्त बहने लगा और कुछ ही देरमें उसका प्राणान्त हो गया। अरेरे! क्रोध के कारण सगे भाई के हाथ से भाई की मृत्यु हुई!...रे संसार! जिस प्रकार सर्प से कभी अमृत प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार क्रोध से कभी सुख नहीं मिलता। क्षमा जीव का स्वभाव है, उसके सेवन से ही सुख की प्राप्ति होती है।



पत्थर के प्रहार से जब मरुभूति की मृत्यु हो गई तब उसे भी भयंकर वेदना के कारण आर्त्तध्यान हो गया। क्योंकि अभी उसे आत्मज्ञान तो हुआ नहीं था; इसलिये आर्त्तध्यान से मरकर वह सम्मेदशिखर के निकट वनमें विशाल हाथी हुआ।

[प्रिय पाठक! हाथी हुआ वह पार्श्वनाथ भगवान का जीव उस हाथी के भवमें ही आत्मज्ञान प्राप्त करनेवाला है। उसकी सुन्दर कथा आप कुछ ही समय में पढ़ेंगे; पहले यह जान लें कि-कमठ का तथा राजा अरविन्द का क्या हुआ!]

कमठ ने अपने भाई को पत्थर से मार डाला-यह बात जब आश्रम के तापसों ने जानी तब उन्होंने कमठ को पापी मानकर उसे वहाँ से निकाल दिया। पापी कमठ चोरों के गिरोह में सम्मिलित होकर चोरी करने लगा। एक बार चोरी करते हुए पकड़े जाने पर उसे भयंकर मार पड़ी, जिससे वह बहुत दुःखी हुआ; परन्तु उसके भावों में कोई परिवर्तन नहीं आया। अन्तमें, क्रोध से मरकर वह कुक्कट नामका भयंकर विषैला सर्प हुआ।

## (२) पूर्वभव आठवाँ-हाथी और सर्प

मरुभूति तो मरकर हाथी हुआ; परन्तु राजा अरविन्द को उसकी कोई खबर नहीं मिलने से वह चिन्तित रहने लगा कि-मरुभूति मेरा मंत्री अभी तक क्यों नहीं लौटा? उन्हीं दिनों वहाँ एक अवधिज्ञानी मुनिराज का आगमन हुआ। उनका उपदेश सुनकर राजा को हार्दिक प्रसन्नता हुई...राजाने उनसे पूछा कि-हमारा मंत्री मरुभूति कहाँ है? और अभी तक क्यों नहीं आया?

मुनिराज ने कहा-हे राजन्! मरुभूति को तो उसके भाई कमठ ने मार डाला है और उसे हाथी की पर्याय मिली है। तथा कमठ भी मरकर सर्प हुआ है।

यह सुनकर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ। वह विचारने लगा कि-अरे! कैसा है यह संसार! दुष्ट कमठ के संग से मरुभूति भी दुःखी हुआ।

मुनिराजने समझाया कि हे राजन्! इस संसार में जीव जब तक ज्ञान नहीं करता तब तक उसे ऐसे जन्म-मरण होते ही रहते हैं। अपने हित के लिये दुष्ट अज्ञानी जीवों का संग छोड़कर ज्ञानी-धर्मात्माओं का संग करना योग्य है।

राजा उदास चित्त से महल में आया। एक बार वह राजमहल की छत पर बैठा-बैठा मुनिराज के उपदेश का स्मरण करके वैराग्य के विचार कर रहा था। इतने में एक घटना हुइ-आकाश में रंगबिरंगे मेघ एकत्रित होने लगे और कुछ ही देर में ऐसी रचना हो गई मानो एक सुन्दर जिनमन्दिर हो! अतिसुन्दर दृश्य था वह! अहा, आकाश में ऐसे रमणीक जिनालय की रचना!!...उसे देखकर राजा अरविन्द को विचार आया कि मैं भी अपने राज्य में ऐसे ही सुन्दर जिनमन्दिर का निर्माण कराऊँगा। —ऐसे विचार

आते ही उसने उस मन्दिर की आकृति बना लेने की तैयारी की। परन्तु उसने कलम हाथ में ली कि देखते ही वह मेघ रचना बिखर गई और मन्दिर की आकृति विलीन हो गई!

यह देखकर राजा दिग्मूढ़ हो गया...अरे! ऐसा अस्थिर संसार!...ऐसे क्षणभंगुर संयोग।...यह राजपाट, यह रानियाँ यह शरीरादि...सब संयोग इन मेघों की भाँति बिखर जानेवाले-विनाशक हैं। अरे, ऐसे अस्थिर इन्द्रियविषयों में दिन-रात लगे रहना वह जीव को शोभा नहीं देता। यह शरीर नाशवान है और यह भोग भवरोग को बढ़ानेवाले हैं। जिसे अपना हित करना हो उसे इन भोगों की लालसा में जीवन गँवाना उचित नहीं है। जिस प्रकार यह मेघ-रचना क्षणभर में बिखर गई, उसी प्रकार मैं भी अविलम्ब इसी क्षण संसार को छोड़कर मुनि बनूँगा और आत्मध्यान द्वारा कर्मरुपी बादलों को बिखेर दूँगा।

इस प्रकार अत्यन्त वैराग्यपूर्वक राजपाट छोड़कर राजा अरविन्द वनमें चले गये और निर्ग्रन्थ गुरु के निकट दीक्षा लेकर मुनि हुए। इन्हीं अरविन्द मुनिराज द्वारा हाथी का जीव आत्मज्ञान प्राप्त करता है-उसका रोमांचक वर्णन आप अगले प्रकरण में पढ़ेंगे।

## हाथी के भव में सम्यक्त्व-प्राप्ति

सम्मेदशिखर...वह अपने जैनधर्म का महान तीर्थ है। वहाँ से अनंत जीव सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं; उसकी यात्रा करने से सिद्धपद का स्मरण होता है। अनेक मुनि वहाँ आत्मध्यान करते हैं। ऐसे महान तीर्थं सम्मेद शिखर की यात्रा हेतु एक विशाल संघ चला जा रहा है। उस यात्रासंघ में अनेक मुनि तथा हजारों श्रावक हैं; कितने ही छोटे-छोटे बालक भी उत्साह पूर्वक यात्रा करने जा रहे हैं। अरविन्द मुनिराज भी संघ के साथ विहार कर रहे हैं। रत्नत्रयधारी वे मुनिराज धर्मकथा कहते हैं और आत्मा का स्वरुप समझाते हैं; जिसे सुनकर सबको बड़ा आनन्द होता है। कभी भक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने का अवसर प्राप्त होने से श्रावकों को महान हर्ष होता है; समस्त साधर्मीजन परस्पर धर्मचर्चा और पंचपरमेष्ठी का गुणगान करते हुए सम्मेदशिखर की ओर चले जा रहे हैं। चलते-चलते उस संघने एक वनमें पड़ाव डाला। शांत-सुन्दर वन हजारों मनुष्यों के कोलाहल से गूँज उठा...जंगल में मानो एक नगर बस गया! मुनिराज अरविन्द एक वृक्ष के नीचे आत्मध्यान में बैठें हैं। इतने में एक घटना हुई...क्या हुआ?-वह सुनो।

एक विशाल हाथी पागल होकर इधर-उधर दौड़ने लगा, जिससे लोगों में भगदड़ मच गई। कौन था वह हाथी?- कुछ ही भवपश्चात् वही पार्श्वनाथ भगवान बननेवाला है! जो पूर्वभव में मरुभूति मंत्री था वही मरकर यह हाथी हुआ है; उसका नाम है वज्रघोष; वह हाथी इस वन का राजा है, और स्वच्छन्द रहकर विचरता है। सुन्दर वन में एक सरोवर है जिसमें यह प्रतिदिन स्नान करता है, वनके मिष्ट फल-फूल खाता है और हाथिनियों के साथ क्रीड़ा करते है। घने निर्जन वनमें इतने अधिक मनुष्य और वाहन उस हाथीने कभी देखे नहीं थे; इसलिये वह एकदम भड़क उठा और पागल होकर लोगों को कुचलने लगा। लोग चिल्लाते और हाहाकार करते इधर-उधर दौड़े रहे थे...कितनों को उसने पैरों से कुचला तो कितनों को सूँढ़ में उठा-उठाकर पछाड़ दिया! रथों को तोड़ डाला और वृक्षों को उखाड़ दिया। अनेक लोग भयभीत होकर रक्षा हेतु मुनिराज की शरण में जा पहुँचे।

पागल हाथी चारों ओर हाहाकार फैलाता हुआ, चिंघाड़ता हुआ उधर आया जहाँ अरविंद मुनिराज विराजते थे। लोग डरके मारे काँप उठे कि न जाने यह पागल हाथी मुनिराज को क्या कर

डालेगा? मुनिराज तो शांत होकर बैठे हैं। उन्हें देखते ही सूँढ़ उठाकर वह उनकी ओर दौड़ा; परन्तु...

...परन्तु अरविन्द मुनिराज के वक्षमें एक चिह्न देखते ही वह एकदम शांत हो गया; उसे लगा कि-अरे, इन्हें तो मैने कहीं देखा है...यह तो मेरे कोई परिचित और हितैषी लगते हैं। ऐसा विचारते हुए वह एकदम शांत खड़ा रहा; उसका पागलपन मिट गया और मुनिराज के सन्मुख सूँढ़ झुकाकर बैठ गया।

लोग आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे कि-अरे, मुनिराज के सामने आते ही इसे क्या हो गया!...इस घटना से प्रभावित लोग मुनिराज के आसपास एकत्रित हो गये। मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा हाथी के पूर्वभव को जान लिया, और शांत बैठे हुए हाथी को सम्बोधकर कहा-अरे, बुद्धिमान गजराज, यह पागलपना तुझे शोभा नहीं देता। यह पशुता और हिंसा छोड़ दे। पूर्वभव में तू हमारा मंत्री मरुभूति और मैं राजा अरविन्द था। मैं इस भवमें मुनि हुआ हूँ। मेरा मंत्री होकर भी तू आत्मा को भूला और आर्त्तध्यान करने से तुझे यह पशुपर्याय प्राप्त हुई...अब चेत, और आत्मा की पहिचान कर।

मुनिराज के कल्याणकारी सम्बोधन से उसे वैराग्य हो गया और अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ। अपने दुष्कर्म के लिये उसे तीव्र पश्चात्ताप होने लगा; उसकी आँखों से आश्रुधारा बहने लगी; वह विनयपूर्वक मस्तक झुकाकर मुनिराज के सन्मुख देख रहा था...प्राकृतिक रुपसे उसका ज्ञान इतना विकसित हुआ कि वह मनुष्य की भाषा समझने लगा, और उसे मुनिराज की वाणी सुनने की जिज्ञासा जागृत हो उठी।

मुनिराज ने जब जाना कि इस हाथी के परिणाम विशुद्ध हुए हैं, इसे आत्मा समझने की तीव्र जिज्ञासा जागृत हुई है और वह तो एक भावी तीर्थंकर है...तब अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक वे हाथीको उपदेश देने लगे-अरे गजराज! तू शांत हो; यह पशुपर्याय कहीं तेरा स्वरूप नहीं है; तू तो शरीर से भिन्न चैतन्यमय आत्मा है; आत्माको जाने बिना तूने अनेक भवों में अनेक दुःख भोगे हैं; इस लिये अब आत्मा के स्वरूप को समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर। सम्यग्दर्शन ही जीव को महान सुखकारी है। राग और ज्ञान को एकमेक अनुभवने का अविवेक तू छोड़...छोड़! तू प्रसन्न हो...सावधान हो...और सदा उपयोगरुप स्वद्रव्य ही मेरा है-ऐसा अनुभव कर; उससे तुझे अति आनन्द होगा। तू निकटभव्य है, इसलिये आज ही ऐसा अनुभव कर।

हाथी बड़ी भक्ति से सुन रहा है। मुनिराज के श्रीमुख से आत्मस्वरुप की तथा सम्यग्दर्शन की बात सुनकर उसे अत्यन्त हर्षोल्लास हो रहा है; उसके परिणाम अधिकाधिक निर्मल होते जा रहे हैं...उसके अंतर में सम्यग्दर्शन की तैयारी चल रही है।

मुनिराज उसे आत्मा का शुद्ध स्वरुप बतलाते हैं-रे जीव! तेरा आत्मा अनंत गुणरत्नों का भण्डार है...यह हाथी का विशाल शरीर तो पुद्‌गल है, यह कहीं तू नहीं है; तू तो ज्ञानस्वरुप है, तेरे ज्ञानस्वरुप में पाप तो नहीं है, किन्तु पुण्य का शुभराग भी नहीं है; तूं तो वीतरागी आनन्दमय है।-ऐसे अपने स्वरुप को अनुभव में ले।

-ऐसे अनेक प्रकार से मुनिराज ने सम्यग्दर्शन का उपदेश दिया; जिसे सुनकर हाथी के परिणाम अंतर्मुख हुए और अंतर में अपने आत्मा के सच्चे स्वरुप का अवलोकन करने से उसे सम्यग्दर्शन हो गया परम आनंद का अनुभव हुआ...उसे ऐसा भासित हुआ कि-"**अहा, अमृत का सागर मेरे आत्मा में लहरा रहा है...परभावों से भिन्न सच्चे सुख का अनुभव आत्मा में हो रहा है। क्षणमात्र ऐसे आनन्द के अनुभव से अनंत भव की थकान उतर जाती है।**" ऐसे आत्मा का

बारम्बार अनुभव करने का उसे मन हुआ...उपयोग पुनः पुनः अंतर में एकाग्र होने लगा। उस अनुभव की अचिन्त्य अपार महिमा का कोई पार नहीं था। "आत्म-उपयोग सहजरूप से शीघ्रतापूर्वक अपने स्वरुपोन्मुख होने से सहज निर्विकल्प स्वरुप अनुभव में आया...चैतन्यप्रभु अपने 'एकत्व' में आकर निजानन्द में डोलने लगा...वाह! आत्मा का स्वरूप कोई अद्‌भुत है! परमतत्त्व को पाकर मैंने चैतन्य प्रभुको अपने में ही देखा।"



—इस प्रकार सम्यग्दर्शन होने से हाथी के आनन्द का कोई पार नहीं रहा। उसकी आनन्दमय चेष्टाएँ तथा आत्मशान्ति देखकर मुनिराज को भी लगा कि-इस हाथी को आत्मज्ञान हुआ है; भवका उच्छेद करके वह मोक्ष के मार्ग में आया है। मुनिराज ने प्रसन्न होकर, हाथ उठाकर हाथी को आशीर्वाद दिया। संघ के हजारों लोग भी यह दृश्य देखकर अति हर्षित हुए। एक क्षण में यह क्या हो गया...वह सब आश्चर्य से देखने लगे।

आत्मज्ञान हो जाने से हाथी अत्यन्त भक्तिभाव से मुनिराज का उपकार मानने लगा...अरे, पूर्वकाल में आत्मा को जाने बिना, आर्त्तध्यान करके मैंने पशुपर्याय पायी, परन्तु अब इन मुनिराज के प्रताप से मुझे आत्मज्ञान हुआ है; और अब आत्मा के ध्यान द्वारा मैं परमात्मा होऊँगा।-ऐसा विचार कर वह हाथी सूँढ़ झुका-झुकाकर मुनिराज को नमस्कार कर रहा था।

[देखो तो सही, बंधुओ! अपना जैनधर्म कितना महान है कि उसका सेवन करके एक पशु भी आत्मज्ञान पाकर परमात्मा बन सकता है! प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की शक्ति है।-ऐसा अपना जैनधर्म बतलाता है। वाह...जैनधर्म...वाह!]

मुनिराज के पास सम्यग्दर्शन का स्वरुप समझकर, हाथी के साथ-साथ दूसरे भी अनेक जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। जिस प्रकार तीर्थंकर अकेले मोक्ष में नहीं जाते, दूसरे अनेक जीव उनके साथ मोक्ष प्राप्त करते हैं; उसी प्रकार यहाँ जब तीर्थंकर के आत्मा ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तब दूसरे अनेक जीव भी उनके साथ सम्यक्त्व को प्राप्त हुए और चारों ओर धर्म की जयजयकार हो गई। कुछ ही समय पूर्व जो हाथी पागल होकर हिंसक बन गया था, वही अब आत्मज्ञानी होकर अहिंसक बन गया...और

मुनिराज से पुनः पुनः धर्मश्रवण करने हेतु उनकी ओर आतुरता से देखने लगा। अनेक श्रावक भी उपदेश सुनने बैठे थे।

श्री मुनिराज ने मुनिधर्म तथा श्रावक धर्म का उपदेश दिया-सम्यग्दर्शन एवं आत्मज्ञान के उपरान्त जब चारित्रदशा होती है अर्थात् आत्मा का विशेष अनुभव होता है तब जीवको मुनिद्दशा होती है। वे मुनि उत्तम क्षमादि दसधर्मों का पालन करते हैं, और हिंसादिक पाँच पाप उनके किंचित् नहीं होते इसलिये उनके पाँच महाव्रत होते हैं। और सम्यग्दर्शन होनेपर भी जो जीव मुनि नहीं हो सकते वे श्रावक धर्मका पालन करते हैं; उनको आत्मज्ञान सहित अहिंसा दि पाच अणुव्रत होते हैं।तिर्यंचगति में भी श्रावकधर्म का पालन हो सकता हैं इसलिये हे गजराज! तुम श्रावक धर्म को अंगीकार करो।

मुनिराज के पास धर्म का उपदेश सुनकर अनेक जीवों ने व्रत धारण किंये। हाथी को भी भावना जागृत हुई कि-यदि मैं मनुष्य होता तो मैं भी उत्तम मुनिधर्म अंगीकार करता; इस प्रकार मुनिधर्म की भावनासहित उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया...मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके उसने पाँच अणुव्रत धारण किये...वह श्रावक हो गया।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके व्रतधारी हुआ वह वज्रघोष हाथी बारम्बार मस्तक झुकाकर अरविन्द मुनिराज को नमन करने लगा; सूँढ़ ऊँची-नीची करके उपकार मानने लगा। हाथी की ऐसी धर्म चेष्टा देखकर श्रावक बहुत सन्तुष्ट हुए...और जब मुनिराज ने घोषणा की कि-यह हाथी का जीव आत्मोन्नति करते-करते भरत क्षेत्रमें २३ वाँ तीर्थंकर होगा-तब तो सबको अत्यन्त हर्ष हुआ। हाथी को धर्मात्मा जानकर श्रावक उसे प्रेमपूर्वक निर्दोष आहार देने लगे।

यात्रा संघने कुछ समय उस वनमें रुककर फिर सम्मेदशिखर की ओर प्रस्थान किया। हाथी का जीव कुछ भवोंके पश्चात् इसी सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करनेवाला है। अरविन्द मुनिराज भी संघके साथ विहार करने लगे तब वह हाथी भी विनयपूर्वक अपने गुरुको विदा करने हेतु कुछ दूर तक पीछे-पीछे चलता रहा...अंतमें मुनिराज को पुनः पुनः वन्दन करके गद्‌गद् होकर अपने वन की और लौट चला।

अब, वह पाँच व्रतोंसहित निर्दोष जीवन जी रहा है; स्वयं जिस शुध्द आत्माका अनुभव किया उसकी बारम्बार भावना करता है। किसी भी जीवको सताता नहीं है, त्रसहिंसा हो ऐसा आहार नहीं करता; शांतभाव से रहकर सूखे हुए घास-पत्ते खाता है; कभी-कभी उपवास भी करता है। चलते समय देख-देखकर पाँव रखता है; हथिनियों का संग उसने छोड़ दिया है। विशाल शरीर के कारण अन्य जीवों को कष्ट न हो इसलिये वह शरीर का बहुत हलन-चलन नहीं करता; वनके प्राणियोंकी साथ शान्ति से रहता है और गुरुके उपकारका बारम्बार स्मरण करता है। हाथी की ऐसी शांत चेष्टा देखकर दूसरे हाथी उसकी सेवा करते हैं; वन के बन्दर तथा अन्य पशु भी उससे प्रेम करते हैं और सूखे हुए घास-पत्ते लाकर उसे खिलाते हैं।

पूर्वभवका उसका भाई कमठ, -जो क्रोध से मरकर विषधर-सर्प हुआ है, वह इसी वनमें रहता है और जीवजन्तुओं को मारकर खाता है तथा नवीन पापबंध करता है।

एक दिन प्यास लगने से वह हाथी सरोवर के निकट आया; सरोवर के किनारे वृक्षोंपर अनेकों बन्दर रहते थे; वे उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए। सरोवरका स्वच्छ जल पीने के लिये वह हाथी कुछ भीतर तक गया कि उसके पाँव कीचड़में फँस गये...बहुत प्रयत्न करने पर भी वह निकल नहीं सका। तब उसने आहार-जल का त्याग करके समाधिमरण की तैयारी की; वह पंचपरमेष्ठीका स्मरण करके आत्माका चिन्तन करने लगा। वैराग्यपूर्वक वह ऐसा विचारने लगा कि-अरे, अज्ञानसे कुमरण तो मैंने अनन्तबार

किये, किन्तु यह अवतार सफल है कि जिसमें समाधिमरणका सुअवसर प्राप्त हुआ है। श्री मुनिराजने मुझपर महान कृपा करके देह से भिन्न आत्मस्वरुप मुझे समझाया; मेरे चैतन्यनिधान मुझे बतलाये। उनकी कृपा से मैंने अपना निजवैभव अपने आत्मा में देखा है। बस, अब इस देह से भिन्न आत्माकी भावना द्वारा मैं समाधिमरण करुंगा।



हाथी को कीचड़ में फँसा देखकर वन के बन्दर उसे बचाने के लिये किलकारियाँ मारने लगे; परन्तु वे छोटे-छोटे बन्दर उसे कैसे बाहर निकालते?...इतने में सर्प हुआ कमठ का जीव फुंकारता हुआ वहाँ आया; हाथी को देखते ही पूर्वभव के वैरसंस्कार के कारण उसे तीव्र क्रोध आया और दौड़कर हाथी को दंश मार दिया। कालकूट विषैले सर्प के दंश से हाथी को विष चढ़ गया ओर कुछही देरमें उसका प्राणांत हो गया। परन्तु इसबार उसने पहले की भाँति आर्त्तध्यान नहीं किया, इसबार तो आत्मा के ज्ञानसहित धर्मकी उत्तम भावना भाते-भाते उसने समाधिमरण किया, और शरीर को त्यागकर बारहवें स्वर्गमें देव हुआ।

सर्पने हाथी को ड़स लिया यह देखकर बन्दरी को बड़ा क्रोध आया और उसने मार डाला; पापी सर्प आर्त्तध्यान से मरकर पाँचवें नरक में पहुँचा। किसी समय जो दोनों सगे भाई थे, उनमें से पुण्य-पापके फलानुसार एक तो स्वर्ग में गया और दूसरा नरक में।

तीर्थंकरादि महापुरुषों के जीवन से आत्मा की आराधना सीखना है। पापके फलमें नरकादि के भयंकर दुःख सहना पड़ते हैं, इसलिये उन्हें छोड़ना और पुण्य के फल में स्वर्गादि गतियाँ प्राप्त होती हैं, तथा आत्मा के ज्ञानसहित वीतराग भाव से मोक्ष मिलता है-ऐसा जानकर उसकी उपासना करो।

## (३) हाथी बारहवें स्वर्ग में, सर्प पाँचवे नरक में।

अपने चरित्र नायक का जीव पहले मरुभूति था, फिर हाथी हुआ और आत्मज्ञान प्राप्त किया; वहाँ से समाधिमरण करके बारहवें स्वर्ग में देव हुआ है,-उसका नाम है शशिप्रभ। स्वर्ग की दिव्य विभूति देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया और अवधिज्ञान से जान लिया कि-मैने हाथी के पूर्वभव में धर्मकी आराधना सहित जो व्रतों का पालन किया था उसका यह फल है; ऐसा जानकर उसे धर्मके प्रति विशेष सन्मान की भावना हुई; पूर्वभव में आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले मुनिराज के उपकार का पुनःपुनः स्मरण किया; पश्चात् स्वर्ग में विराजमान शाश्वत जिन विम्ब की पूजा की। स्वर्गलोक की रत्नमय शाश्वत वीतरागमूर्ति के दर्शन करते ही उसे अतिशय आनन्द हुआ और ऐसे ही अपने आत्माकी भावना की। वह असंख्यात वर्षों तक स्वर्गलोक में रहा। वहाँ बाह्य में अनेक प्रकार के कल्पवृक्षों से सुख-सामग्री प्राप्त होती थी और अंतर में चैतन्य-कल्पवृक्ष के सेवन से वह सच्चे सुखका अनुभव करता था। देखो तो सही, जैनधर्म के प्रताप से एक पशु भी देव हो गया, और कुछ ही काल पश्चात् तो वह भगवान होगा! अहा, जिसके प्रताप से पशु भी परमात्मा बन जाते हैं-ऐसे जैनधर्म की जय हो! हमें भी संसार

से छूटकर परमात्मा बनने के लिये जैनधर्म में कहे हुए आत्मा का स्वरुप जानना चाहिये।

कमठ का जीव जोकि सर्प हुआ था, वह मरकर पाँचवें नरक में गया और असंख्य वर्षतक तीव्र दु:ख भोगे। उसकी क्षुधा-तृषा का कोई पार नहीं था; उसके शरीरके प्रतिदिन हजारों टुकड़े हो जाते थे; लोहे का विशाल पिण्ड भी गल जाय ऐसी तो वहाँ ठण्ड थी; करवत और भालों से उसका शरीर करता और छिदता था; आत्मा का ज्ञान तो उसे था नहीं, और अच्छे भाव भी नहीं थे, अज्ञान एवं अशुभ भावों से वह अत्यन्त दु:खी होता था। पूर्वभव में अपने भाई के प्रति जो तीव्र क्रोध के संस्कार थे, वे भी उसके छूटे नहीं थे। क्रोध में नरक से निकलकर वह एक भयंकर अजगर हुआ।

## (४) पूर्वभव छठवाँ-अग्निवेगमुनि और अजगर

अपने कथा नायक भगवान पार्श्वनाथ का जीव स्वर्ग से च्यवकर जम्बद्वीप के विदेह क्षेत्र में अवतरित हुआ। वहाँ सीमंधरादितीर्थंकर सदा विराजते हैं और दिव्यध्वनि में आत्माका स्वरूप समझाते हैं। हजारों केवली अरिहंत भगवान तथा लाखों जिनमुनि उस देश में विचरते हैं; वहाँ करोड़ों मनुष्य आत्मज्ञान करके धर्मकी साधना करते है। उस देश की शोभा अद्भुत है! देव भी वहाँ दर्शनार्थ आते हैं।

ऐसे सुन्दर विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश के मध्य विजयार्द्ध पर्वत है; उसपर विद्याधरों के नगर हैं। उन्हीं में से एक नगर में विद्युतगति नामक राजा राज्य करते थे; उनकी रानी का नाम विद्युतमाला था; उन्हीं राजा-रानीके घर पार्श्वनाथ का जीव अवतरित हुआ, उसका नाम था अग्निवेग। वे पूर्वभव से ही आत्मज्ञान साथ लेकर आये थे। एक छोटे-से ज्ञानी की बालचेष्टाएँ देखकर सबको बड़ा आनन्द होता था। एक बार राजकुमार अग्निवेग वनमें जाकर वनकी शोभा निहार रहे थे; वहाँ अचानक उन्होंने एक साधु को देखा। वे साधु आत्मचिन्तन में एकाग्र थे; मानो साक्षात् भगवान विराज रहे हों ऐसा उनके दर्शन से लगता था। उन्हें देखकर अग्निवेग को हार्दिक प्रसन्नता हुई; निकट जाकर उनकी वंदना करके वह उनके निकट बैठ गया और आत्मा के विचार करने लगा कि-अहा! धन्य है ऐसी साधुदशा!....आत्मा में एकाग्र होकर आत्मा के अलौकिक आनन्द का अनुभव हो-ऐसी यह दशा है। कुछ ही देर में मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने पर पुन: नमस्कार किया और मुनिराज ने उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देकर कहा-हे भव्य! आत्मा के सम्यक् स्वभाव को तो तुमने जाना है; अब उस स्वभाव को विशेषरूप से साधने के लिये तुम मुनिदशा का चारित्र अंगीकार करो। अब तुम्हारा संसार अति अल्प शेष रहा है; मनुष्य के तीन भव करके तुम मोक्ष प्राप्त करोगे। पहले तुम चक्रवर्ती होंगे और फिर तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे।

अहा! अपने मोक्षकी बात सुनकर किसे आनन्द नहीं होगा? मुनिराज के मुख से अपने मोक्ष की बात सुनकर अग्निवेग अति आनन्दित हुआ। उसे संसार के प्रति तीव्र वैराग्य जागृत हुआ कि-अरे, मुझे तो अल्पकाल में मोक्ष साधना है; इस राजपाट में बैठ रहना मेरे लिये उचित नहीं है; मैं तो आज ही मुनि बनकर आत्मसाधना में एकाग्र होऊँगा।

इस प्रकार युवावस्था में उन राजकुमार ने वैराग्य प्राप्त किया और मुनिराज के निकट जिनदीक्षा लेकर साधुदशा धारण की। राजपाट छोड़ा, स्त्री-पुत्र छोड़े और वस्त्र भी त्याग दिये। सर्व परिग्रह तथा कषायों को भी छोड़कर अंतर के एकत्वस्वरुप को ध्याने लगे-मेरा यह आत्मा सर्व परभावों से भिन्न है; मैं एकाकी ज्ञान और सुख से परिपूर्ण हूँ;- इस प्रकार निजात्मा के ध्यान में लीन रहकर वे अग्निवेग

मुनिराज वनजंगल में विचरने लगे तथा मोक्ष की साधना करने लगे। इतने में एक घटना हुई।



पूर्वभव का कमठ जोकि नरक में गया था और वहाँ से निकलकर विशाल अजगर हुआ था; वह अजगर भी विदेहक्षेत्र के इसी वन में रहता था। वह शिकार की खोज में इधर-उधर भटकता रहता था। वह जंगल के पशुओं को पूरे का पूरा निगल जाता था। एक दिन मुनिराज अभिवेग ध्यान में लीन थे कि वह अजगर वहाँ आ पहुँचा। और फुँफारता हुआ क्रोधपूर्वक मुनिराजपर झपटा!...शांत रस में निमग्न क्षमावंत मुनिराज तो ध्यान में लिन थे; उन्हें देखकर अजगर का क्रोध दूर नहीं हुआ; किन्तु मुँह फाडकर पुरे के पूरे मुनिराज को निगल लिया! अजगर के पेट में भी मुनिराजने आत्म ध्यान पूर्वक समाधिमरण किया और सोलहवे स्वर्ग में गये! देखो तो सही उनकी क्षमा! अजगरने निगल लिया तथापि उसपर क्रोध नहीं किया और स्वयं आत्मा की साधना में लीन रहे। क्रोध में दुःख है और आत्मा की साधना में ही परमशान्ति है। ऐसे शांत भावों से उन्होने समाधिमरण किया।

## (५) सोलह स्वर्ग में देव; कमठ छठवें नरक का नारकी

मुनिराज तो शांत भाव से समाधिमरण करके सोलहवे स्वर्ग में गये और अजगर क्रोधभाव के कारण पुनः छठवें नरक में जा पडा और घोर दुःख सहन किये। दोनों की आयु बाईस सागर थी। एक बार जो दोनों सहोदर-भ्राता थे, उनमें से एक तो बाईस सागर तक स्वर्ग के सुख भोगकर तथा दूसरा उतने ही काल तक नरक के दुःख सहन करके दोनों मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए, -उनमें से एक तो चक्रवर्ती हुआ और दूसरा शिकारी भील; -उनकी कथा आप अगले प्रकरण में पढ़ेंगे।

## (६) पूर्व भव चौथा: वज्रनाभि चक्रवर्ती और कमठ शिकारी भील

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में अश्वपुर नगर है; वहाँ के राजाका नाम वज्रवीर्य तथा रानी का नाम विजयादेवी। एकबार रानीने आनन्दकारी पाँच मंगल स्वप्न देखे-मेरुपर्वत, सूर्य, चन्द्र देवविमान तथा जलसे भरा सरोवर। इन पाँच स्वप्नोंकी बात उन्होने राजासे कही और पूछा कि-हे महाराज! इन पाँच स्वप्नोंका फल क्या?

राजाने कहा कि-इनके फलमें तुम्हारे उत्तम पुत्र का जन्म होगा और वह चक्रवर्ती बनेगा।

यह सुनकर रानी प्रसन्न हुई और पंचपरमेष्ठी का गुणगान करने लगी। कुछ काल पश्चात् उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वज्रनाभि। यही अपने पार्श्वनाथ भगवान का जीव! वह स्वर्ग से यहाँ अवतरित हुआ है; राजाने पुत्रजन्मका महान उत्सव किया। छोटे-से राजकुमार अपनी बाल चेष्टाओं से सबको आनन्दित करते थे... भले ही उम्र में छोटे, परन्तु महान आत्मज्ञानी थे। कभी कभी वे आत्मा

की मधुर बातें करते, जिन्हें सुनकर अनेक जीवोंको धर्म की प्रेरणा मिलती। कभी वे एकान्त में ध्यान धरकर चैतन्य के चिन्तन में बैठ जाते... मानो कोई छोटेसे मुनि विराजते हो!

कुमार वज्रनाभि ज्यों-ज्यों बड़े होते गये त्यों त्यों उनके अनेक प्रकार की विद्याओंका भी विकास होने लगा। वे बुद्धिसम्पन्न कुमार न्याय-निति के मार्गपर चलने वाले तथा अनेक गुणरत्नों कें भण्डार थे। युवा होनेपर उनका राज्याभिषेक हुआ। एक बार उत्तम पुण्योदय से धर्मचक्रवर्ती तीर्थंकर का उनके देशमें पदार्पण हुआ और उसी समय उनके राजभण्डार में चक्ररत्न-की उत्पत्ति हुई। पुण्य की अपेक्षा धर्मश्रेष्ठ है ऐसा समझनेवाले उन राजकुमार ने सर्वप्रथम धर्मचक्री तीर्थंकर देव की धर्मसभा में जाकर उनकी पूजा की... और फिर सुदर्शनचक्र का उत्सव किया। उस सुदर्शनचक्र का ऐसा सामर्थ्य कि जिस शत्रुपर छोड़ा जाय उसके प्राण हर ले!...परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उस चक्र द्वारा एक भी जीव की हिंसा किये बिना उन्होने छह खण्ड पर विजय प्राप्त कर ली...मानो. अहिंसा चक्र द्वारा ही छहों खण्ड जीतकर वे चक्रवर्ती हो गये। चक्रवर्ती का अपार वैभव उन्हें प्राप्त हो गया। अद्भुत वैभव होने पर भी वे चक्रवर्ती जानते थे कि- इस समस्त बाह्य वैभव की अपेक्षा हमारा अनंत चैतन्य वैभव भिन्न प्रकार का है; वही सुख का दातार है; बाह्यका कोई वैभव सुख देनेवाला नहीं है, उसमें तो आकुलता है। पुण्य से प्राप्त बाह्य वैभव तो अल्पकाल रहनेवाला है, और हमारा आत्मवैभव अनंतकाल तक साथ रहेगा। सम्यग्दर्शनरुपी सुदर्शनचक्र द्वारा मोहको जीतकर मैं मोक्षसाम्राज्य प्राप्त करूँगा, वही मेरा सच्चा साम्राज्य है। ऐसी प्रतीतिससहित वे जगतसे उदास थे-

''दास भगवन्त के उदास रहे जगत सों, सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं।''

चक्रवर्ती-राज्य में रहने पर भी वे अंतर में अद्भुत ज्ञान परिणति सहित वे प्रतिदिन अरिहंतदेव की पूजा, मुनिवरों की सेवा,शास्त्रस्वाध्याय, सामायिकादि क्रियाँए करते थी। इसप्रकार धर्म संस्कारों से परिपूर्ण उनका जीवन अन्य जीवों को भी आदर्शरुप था।

एक बार उनकी नगरी में क्षेमंकर मुनिराज पधारे; उनकी मुद्रा प्रशमरस झरती-वीतरागी थी और वे अवधिज्ञान के धारी थे। वज्रनाभि चक्रवर्ती उनके दर्शन करने गये और उन्हे देखते ही उनके नेत्रों से आनन्द उमड़ने लगा... धन्य रत्नत्रयधारी मुनिराज! आपके वीतरागी तीन रत्नो के समक्ष यह चक्रवर्ती के चौदहरत्न बिलकुल तुच्छ है! इसप्रकार अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराजकी वन्दना एवं स्तवन करके आत्महितका उपदेश सुनने की जिज्ञासा प्रगट की।

तब मुनिराजने उनको मोक्षमार्गका अलौकिक उपदेश दिया; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका वीतरागभाव समझाया, और कहा कि मोक्ष हेतु ऐसा वीतरागभाव ही कर्तव्य है। हे भव्य! तुम इस संसार-दुःख से छूटना चाहते हो तो ऐसी चारित्रदशा अंगीकार करो। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, राग तो दुःख है; इसलिये कहीं भी किंचित् राग न करके, वीतराग होकर भव्यजीव भवसमुद्र से पार होते है। हे राजन्! तुम भी ऐसे वीतराग धर्म की साधना में तप्तर होओ! तुम्हे आत्मप्रतीत तो है ही, और अब तुम्हारे तीन भव शेष है, पश्चात् तुम तीर्थंकर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे।

मुनिराजका ऐसा वीतराग उपदेश सुनकर चक्रवर्ती अति प्रसन्न हुए और उनको भी उत्तम वैराग्य भावनाएँ जागृत हुई। शरीर एवं भोगोंसे उनका चित्त उदास होगया और धर्मके उत्साह अत्यधिक बढ़ गया। उन्होने मुनिराज से अत्यन्त विनयपूर्वक मुनिदीक्षा देनेकी प्रार्थना की-हे प्रभो! इस दुःखमय संसार से मेरा उद्धार करो... रत्नत्रयरुपी नौका द्वारा मैं भी इस भवसमुद्रसे पार होना चाहता हूँ...संसार में कहीं सुख नहीं है, इसलिये तीर्थंकर भी संसार को त्यागकर मोक्षकी साधना करते हैं। हे प्रभो! मै भी मुनिदीक्षा

लेकर तीर्थंकर पथपर चलना चाहता हूँ।

मुनिराजने कहाँ-हे भव्य! तुम्हारी भावना उत्तम है। तुम चक्रवर्ती की सम्पदाको असार जानकर त्यागने हेतु तत्पर हुए हो...और सारभूत रत्नत्रय को धारण करना चाहते हो... तुम्हे धन्य है! ऐसा कहकर क्षेमंकर मुनिराजने वज्रनाभिचक्रवर्ती को मुनिपद की दीक्षा दी... वे चक्रवर्ती अब राजपाट छोड़कर जिनमुद्राधारी मुनि हो गये। छह खण्डकी विभूति के उपभोग से उन्हे तृप्ति नहीं हुई, इसलिये मोक्षका अखण्ड सुख साधने हेतु तत्पर हुए।धन्य वे मुनिराज! उनके चरणों में नमस्कार हो!-

धन्य चक्रेश्वर आतमहितमें छोड़ दिया घरबार...
कि तुमने छोड़ा सब संसार...
छोड़े चौदह रत्न नवों निधि, जाना जगत असार...
कि तुमने छोड़ा सब संसार...
रत्नत्रय को धारण करके पहुँचे मुक्ति द्वार...
कि तुमने छोड़ा सब संसार...

गजराज के ऊपर रत्नजड़ित होदे पर आरुढ़ होकर चलनेवाले चक्रवर्ती अब नंगे पाँव वनकी पथरीली भूमि पर चलने लगे। रत्न-मणिजड़ित वस्त्रालंकारों को छोड़कर नग्न-दिगम्बर मुद्राधारी वे मुनिराज अब रत्नत्रयरुपी आभूषणों से सुशोभित हो रहे थे। सुवर्ण-थालों में भोजन लेनेवाले अब हथेलियों-में खड़े-खड़े आहार करने लगे। चौदह रत्न छोड़कर उन्होंने तीन रत्न ग्रहण किये, नव निधानों को त्यागकर अखण्ड आनंद निधान की साधना में लग गये। छियानवे हजार रानियाँ और छियानवे करोड़ सेना का संग छोड़कर एकाकी-असंगरुपसे वन-जंगल में वास करने लगे और चैतन्यस्वरुप आत्माके ध्यान में लीन हो गये।



एक बार वे मुनिराज वन की एक शिलापर बैठे-बैठे आत्म ध्यान में लवलीन थे...सिद्ध भगवान समान अपने आत्माका बारम्बार अनुभव करते थे। जंगल में आसपास क्या हो रहा है उसका उन्हे रंचमात्र भी लक्ष नही है; मै तो देहसे भिन्न आत्मा हूँ मुझमें परिपूर्ण परमात्मा शक्ति विद्यमान है... इत्यादि ध्यान में एकाग्र थे कि... इतने में दूरसे एक तीर सनसनाता हुआ आया और मुनिराज का शरीर विंध गया...

कहाँ से आया था वह तीर? उनका पूर्वभव का भाई कमठ का जीव जो कि नरक में गया था और वहाँ से निकलकर कुरंग नामका शिकारी भील हुआ था, वह भील इसीवनमें रहताथा और धनुष-बाण द्वारा क्रूर परिणामोंसे हिरन आदि निर्दोष पशुओं की हिंसा करता था। वह मांसका लोलुपी था और महान पाप बंध कर रहा था। वनमें फिरते फिरते वह भील वहाँ आ पहुँचा जहाँ मुनिराज ध्यान मग्न विराजमान थे। मुनिराज

को देखकर उन पर भक्तिभाव आने के बदले पूर्वभवके संस्कारवश उसे क्रोध आया और धनुष पर बाण चढ़ाकर मुनिराज की ओर चल दिया... मुनिराज का शरीर विंध गया।

अरेरे! क्रोध कितना नीच है! कहाँ जीव का उपशांत स्वभाव और कहाँ क्रोध! क्रोधान्ध जीव उन भगवान सदृश मुनिराज को नहीं पहिचान सका...और ध्यान में स्थिर उन अहिंसक मुनिराज की अकारण हिंसा करके उस जीवने तीव्र अनन्तानुबंधी क्रोध से सातवें नरक की आयु का बंध किया। उसे कहाँ खबर थी कि क्रोध के फल में इतने भयंकर दुःख भोगने पड़ेंगे!

और इधर, शरीर विंध जानेपर भी मुनिराज तो अपने आत्म स्वभाव में निश्चल है; उनके ध्यान में कोई शत्रु या मित्र नहीं है, राग या द्वेष नहीं है। कोई पूजे या कोई बाण मारे-दोनों के प्रति उन्हें समभाव है, जीवन और मरण में भी समभाव है, उनको शरीर का ममत्व नहीं है; आत्मा के आनन्द में इतने लीन है कि शरीर छिदने पर भी उसका दुःख नहीं है; मोह हो तो दुःख हो न? निर्मोही को दुःख कैसा? वे तो निर्मोह रुपसे धर्मध्यान में ही एकाग्र है। बाण मारनेवाले भीलपर भी उन्हें क्रोध नहीं होता। वाह रे वाह! धन्य है क्षमा के भण्डार उन मुनिराज को! समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर वे मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए।

प्रिय पाठको! तुम भी उस भीलपर क्रोध नहीं करना, किन्तु क्षमा के भण्डार ऐसे मुनिराज से उत्तम क्षमा का पाठ पढ़ना। क्रूर भीलका जीव भी अन्त में तो धर्म प्राप्त करनेवाला है।

वह भील का जीव अपने महापाप का फल भोगने के लिये सातवें नरक में गया। रौद्रध्यान से मुनिराज की हत्या करने से वह घोर नरक में जा गिरा और वहाँ भयंकर दुःख सहन किये। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने अज्ञानदशा में ऐसे भाव अनन्तबार किये हैं; वह जीव भी क्षणमात्र में अपने भावों में परिवर्तन करके अपना हित साध सकता है। वर्तमान का वह पापी जीव भी क्षणभर में पलटकर कैसे आत्मा का उद्धार करता है वह आप कुछ ही समय पश्चात् पढ़ेंगे...और तब उसी जीव के प्रति आपको प्रेम उत्पन्न होगा।

## (७) ग्रैवेयक में अहमिन्द्र और सातवें नरक में नारकी

ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए उन अहमिन्द्र की आयु २७ सागरोपम जितने असंख्य वर्ष की थी; और सातवें नरक में उत्पन्न हुए उस कमठ के जीव की आयु भी २७ सागरोपम थी। और यहाँ से निकलकर दोनों जीव मनुष्यलोक में फिर मिलेंगे। स्वर्गलोक का आश्चर्यजनक वैभव देखकर वे अहमिन्द्र विचार में पड़ गये और उनको अवधिज्ञान प्रगट हुआ; उन्होंने अपना पूर्वभव जान लिया; इससे धर्म की अतिशय महिमा आयी कि-अहो! वह मुनिदशा धन्य थी! वह चारित्रवृक्ष तो मोक्षफल देनेवाला था, परन्तु मेरी वीतराग चारित्रदशा पूर्ण नहीं हुई और किंचित् राग शेष रह गया जिससे इस स्वर्गलोक में अवतार हुआ है। यहाँ भी जैनधर्म की उपासना मेरा कर्तव्य है। ऐसा विचारकर वहाँ देवलोक के जिनालय में विराजमान शाश्वत रत्नमय जिनप्रतिमा की अत्यन्त भक्तिसहित पूजा की। स्वर्गलोक के कल्पवृक्षोंसे पूजनकी सामग्री ली। उन स्वर्गलोक की ऋद्धि अलौकिक थी। वहाँ असंख्यात सम्यग्दृष्टि देव थे; उनमें से कितने ही देव आगामी भव में ही तीर्थंकर होनेवाले थे और कितने ही मोक्ष प्राप्त करनेवाले थे।-ऐसे धर्मात्मा साधर्मी देवों के साथ आनन्दपूर्वक असंख्य वर्षतक धर्मचर्चा की और मुनिपने की भावना भायी।

इधर, उनके साथ सातभव से सम्बन्धित कमठ के जीव ने नरक में २७ सागर तक अपरम्पार वेदनाएँ सहन की। जब वह भील था और उसने बाण चलाकर मुनिराजका घात किया; पश्चात् कुछ

ही काल में उस भील को भी किसीने मार डाला और क्रूर परिणामों से रौद्रध्यान द्वारा मरकर वह सातवें नरक में उत्पन्न हुआ; उपजते ही औधे सिर भालों जैसी भूमिपर गिरा और तीव्र वेदना सहित पाँच सौ योजन ऊपर उछलकर फिर उसे भूमिपर गिरा और फिर उछला।-इसप्रकार बाम्बार होने से उनका शरीर छिन्नभिन्न हो गया और भयंकर वेदना हुई। अत्यन्त भयभीत होकर मूढ़ की भाँति चारों और ताकने लगा कि-अरे, यह सब क्या है? मैं यहाँ कहाँ आ पहुँचा? यहाँ तो चारों ओर दुःख का समुद्र उमड़ रहा है। अरे, मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? किसकी शरण लूँ? अरेरे! पूर्वभव के महापाप से मैं इस नरक में आ पडा हूँ। यहाँ की दुर्गन्ध तो सहन नहीं होती, और अति भीषण ठण्ड से शरीर गल जाता है। इस नरकके कुएँ से मैं मब निकलूँगा? इस प्रकार अत्यन्त दुःख से विलाप करता है...परन्तु वहाँ कौन उसका विलाप सुने? कौन उसकी दया करे? उलटे दूसरे नारकी घातक बनकर उसे मारते हैं। भूखे-प्यासे उस जीव को असंख्य वर्ष तक खाने को अन्न या पीने को पानी नहीं मिलना। दुःख के मारे उसे कुछ सूझता नहीं है; कहीं चैन नहीं पड़ता। धर्म का सेवन तो किया नही हैं; धर्मात्मा की विराधना करके मात्र पाप का ही सेवन किया है, फिर उसे चैन कहाँ से हो? जो निर्दय होकर जीवहिंसा करें, मांसभक्षण करें,-ऐसे जीव नरक में अतिभयंकर दुःख भोगते हैं; वहाँ एक क्षण भी सुख नहीं है। हिंसादि में सुख माननेवाले जीव राई जितने इन्द्रियसुख के लिये मेरुपर्वत समान दुःख को आमंत्रित करते हैं।-इस प्रकार उस पापी जीव ने असंख्यात वर्ष तक सातवें नरक के महान दुःख भोगे।

## (८) पूर्वभव दूसरा-आनन्दकुमार और सिंह

अहमिन्द्र स्वर्ग से निकलकर मरुभूति का जीव (पार्श्वनाथ भगवान का जीव) तो अयोध्यानगरी में आनन्दकुमार के रुप में अवतरित हुआ और कमठ का जीव नरक से निकलकर क्रूर सिंह हुआ।

ऋषभदेव आदि पाँच तीर्थंकर भगवन्तों के अवतार से पावन हुई अयोध्यापुरी में राजा वज्रबाहु थे; उनकी रानी प्रभावती की कुक्षि से आनन्दकुमार का अवतार हुआ। आनन्दकुमार स्वयं आत्मानन्द का अनुभव करते थे और दूसरों को भी आनन्द देते थे। बड़े होनेपर वे महामाण्डलिक राजा हुए; आठ हजार राजा उनके अधिकार में थे। इतने महान राजा होनेपर भी वे धर्म को नही भूलते थे। वे धर्मात्माओं का सन्मान तथा विद्वानों का आदर करते थे। उनके शासन में अयोध्या की प्रजा सर्व प्रकार से सुखी थी।

फाल्गुन मास में बसन्तऋतु आयी, और उद्यान सुन्दर पुष्पों से खिल उठे। धर्मात्माओं के अंतर के उद्यान भी श्रध्दा-ज्ञान एवं आनन्द के पुष्पों से खिल उठे। आनन्द महाराजा राजसभा में बैठे हैं और धर्मचर्चा द्वारा सबको आनन्दित कर रहे हैं। इतने में मंत्री ने आकर कहा कि-हे महाराज! कलसे अष्टाह्नि का पर्व प्रारंभ हो रहा है, इसलिये आठदिन (फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा) तक जिन मन्दिर में नन्दीश्वर-पूजा का आयोजन किया है; आप भी इस उत्सव में पधारकर नन्दीश्वर-जिनालयों की पूजा करें।

मंत्री की बात सुनकर राजा अति आनन्दित हुए और कहा-अहा, वीतराग जिनेश्वर की पूजा का यह अवसर तो बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। राज्यभर में धामधूम से यह उत्सव मनाओ। पूजा रचाओ, धर्मचर्चा करो, दान दो, और जिनेन्द्र भगवान के गुणों का चिन्तन करके जैनधर्म की खूब प्रभावना करो।

अष्टाह्निका पर्व का मंगल-उत्सव चल रहा था...उन्हीं दिनों विपुलमति नामके एक मुनिराज जिनमन्दिर में आये। वाह! एक तो भगवान की पूजा का उत्सव और उसीमें मुनिराज का आगमन...इससे सारे नगर में हर्ष छा गया! राजा एवं प्रजा सबने भक्तिभाव सहित मुनिराज के दर्शन किये।

वीतरागी मुनिराज ने कहा-हे भव्यजीवो! यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान एवं सुखस्वरुप है, इसे पहिचानो! सम्पूर्ण जगत में घूम-फिरकर देखा, परन्तु आत्मा के अतिरिक्त कही अन्यत्र सुख दिखायी नहीं दिया। आत्माका सुख आत्मा में ही है; वह बाहर ढूँढने से नहीं मिलेगा। आत्मा को जानने से ही आत्मसुख की प्राप्ति होती है। राग द्वारा भी वह सुख प्राप्त नहीं होता। जिनशासन में अरिहंत भगवान ने ऐसा कहा है कि-पूजा-व्रतादि के शुभराग से जीवों को पुण्यबन्ध होता है और मोह रहित जो वीतरागभाव है वह धर्म है, उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पुनश्च, मुनिराज ने कहा-इस समय नन्दीश्वर-जिनालयों की पूजा का उत्सव अष्टाह्निका पर्व चल रहा है; उस नन्दीश्वरद्वीप में बावन शाश्वत जिनालय हैं और उनमें ५६१६ वीतरागी जिनबिम्ब विराजमान हैं। वे जिनबिम्ब आत्मा के शुध्दस्वरुप का प्रतिबिम्ब हैं। जिस प्रकार दर्पण में देखनेपर अपनी मुखाकृति दिखायी देती है, उसी प्रकार वीतरागी जिनबिम्ब के दर्शन से आत्मा का शुद्धस्वरुप जो अरहिंत जैसा है वह लक्ष में आता है और आत्मा का शुद्धस्वरुप लक्ष में आनेपर मोह का नाश होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। उस नन्दीश्वर द्वीपमें मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ देव ही जाते हैं। और रत्नमय शाश्वत जिनबिम्ब देखकर अनेकों देव आश्चर्य से चैतन्य की महिमा में लिन होकर सम्यगदर्शन प्राप्त करते है। जिस प्रकार आत्माका शुद्धस्वभाव शाश्वत-अनादिका है, उसी प्रकार उसके प्रतिबिम्ब रुप वे वीतराग जिन प्रतिमाएँ भी शाश्वत अनादिकी है। वे प्रतिमाएँ ऐसी आश्चर्यकारी है मानो साक्षात् तीर्थंकर भगवान ही विराज रहे हो!... मानो अभी मुखसे दिव्यध्वनि खिरने लगेगी! वीतरागता का परमतेज उनकी मुद्रापर झलक रहा है; जिसे देखकर आत्माके सर्वज्ञस्वभाव का स्मरण होता है। अहा! चैतन्य के अनंत गुणमानो मूर्त होकर झलकते हो ऐसी अद्भुत उन रत्नप्रतिमाओं की छबि है! वे भले अचेतन हो, किन्तु चैतन्यगुणों के स्मरण का निमित्त है। वे मूक जिनप्रतिमाएँ ऐसा उपदेश देती हैं कि-संकल्प-विकल्प छोड़कर तुम अपने स्वरुप में स्थिर होओ...हे चेतन! तू जिनप्रतिमा बन! जिस स्वरुप में प्रभु का ध्यान करोगे उसी स्वरुप तुम होगे।जिस प्रकार चिन्तामणि के चिन्तन द्वारा इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार जिनप्रतिमा समान शुद्ध आत्मा के चिंतन द्वारा सम्यक्त्वादि इष्ट फल की प्राप्ति होती है। अरे, जिसे जिनदेव के प्रति भक्ति नहीं है वह तो संसार समुद्र के बीच विषय-कषाय रुपी मगर के मुख में ही पड़े है। प्रतिदिन जिनेन्द्र देव के दर्शन करके जिनभावना भाना वह प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है।

मुनिराज के मुख से जिनदर्शन की महिमा सुनकर सबको अति हर्ष हुआ और अंतर में अरिहंत देव के गुणों का तथा आत्मा के शुद्धस्वरुप का विचार करने लगे। तत्पश्चात् मुनिराज आहार के समय नगर में पधारे और आनन्द राजाने नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहारदान दिया। आहार के पश्चात् मुनिराज ने कहा-हे राजन्! अब आपके दो ही भव शेष है। इस भवमें तीर्थंकर प्रकृति बाँधकर आगामी दूसरे भव में आप भरतक्षेत्र में २३ वें तीर्थंकर होगे.. और सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करोगे। यह सुनकर राजा आनन्द अति आनन्दित हुए। उनका नाम भी 'आनन्द' था, और भाव से भी वे आनन्दित थे।

पश्चात् मुनिराज ने उपदेश में तीन लोक के जिनबिम्बों का भी वर्णन किया था। सूर्यविमान में प्रभु का शाश्वत जिनबिम्ब है और ज्योतिषी देव उसकी पूजाभक्ति करते हैं; उसका अद्भुत वर्णन सुनकर राजा अपने महल में से उन्हें नमस्कार करने लगे और अयोध्या नगरी में भी सूर्यविमान जैसा एक सुन्दर विमान बनवाया; हीरा-माणिक-रत्नजड़ित उस विमान में सुन्दर जिन प्रतिमा की स्थापना की। उस विमान की तथा उसमें विराजमान प्रतिमा की अद्भुत शोभा देखकर राजा आनन्द के आनन्द का पार नही था; वे प्रीतदिन प्रात:एवं सायंकाल उसकी पूजा करने लगे। इस प्रकार राजा को सूर्यविमान स्थित जिनबिम्ब

की पूजा करते देखकर उस पर विश्वास के कारण लोग भी सूर्य विमान को नमस्कार करने लगे। राजा तो सूर्यविमान में विराजमान जिनबिम्ब को नमस्कार करते थें, परन्तु बाह्य दृष्टि जीव निश्चय को जाने बिना व्यवहार को भजने लगते है, तदनुसार अन्यमतावलम्बी लोग भी जिनबिम्ब के बदले सूर्यबिम्ब को पूजने लगे।

आनन्द महाराजा अनेक प्रकार से धर्माराधन कर रहे है। उन्हें विश्वास है कि जिनसद्दश अपने आत्मा का चिन्तन करके मैं भी जिन हो जाऊँगा। —ऐसी भावना सहित अनेक वर्ष बीत गये। एक दिन राजाने अपने सिर में श्वेतबाल देखा, और तुरन्त ही उसका हृदय वैराग्यमय हो उठा कि-अरे, यह श्वेत बाल मृत्युका सन्देश लेकर आया है कि-हे जीव! अब शीघ्र ही चारिदशा को धारण करके आत्मकल्याण कर। इसलिये अब मुझे आत्मकल्याण में क्षणभर का भी विलम्ब नहीं करना चाहिये। मै आज ही यह सर्व सांसारिक परिग्रह छोड़कर शुद्धोपयोगी मुनि बनूँगा और उपयोग स्वरुप अपने आत्मामें एकाग्र होकर चारित्रदशा प्रगट करुँगा। ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक वे आनन्द महाराजा बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करने लगे और सागर दत्त मुनिके समीप मुनिदीक्षा ग्रहण की। मुनि होकर शुद्धोपयोग द्वारा आत्मध्यान में एकाग्र हुए और अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में निमग्न हो गये। अहा! उनका आत्मा रत्नत्रयके तेज से दीप्तिमान हो उठा!उनकी वीतरागता आश्चर्य उत्पन्न करती थी। ऐसी उत्तम आराधना सहित स्वाध्याय में एकाग्रता से उन आनन्दमुनिराज को बारह अंग का ज्ञान उदित हुआ, श्रुतज्ञान का पवित्र सागर उमड़ने लगा; अन्य अनेक ऋद्धियाँ भी उनके प्रगट हुई; परन्तु उनका लक्ष तो चैतन्यऋद्धि पर ही था। आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का तो उनके अभाव था, वे तो धर्मध्यान में एकाग्र रहते थे और कभी कभी शुक्लध्यान भी ध्याते थे। ध्यान के समय वे अपने एक शुद्धात्मा में ही उपयोग को एकाग्र करके निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते थे, और अन्य चिन्ताएँ अपने आप अटक जाती थी। अहा, उनकी शांत ध्यान मुद्रा देखकर वनके पशु भी आश्चर्यचकित हो जाते थे। सर्व प्रकार के परिषहों को सहन करते हुए वे आनन्द-मुनिराज आत्मशुध्दि में वृध्दि कर रहे थे और उनके कर्मों की निर्जरा हो रही थी।-अहा, ऐसा वीतरागी मुनि जीवन धन्य है! उनके चरणों में हमारा मस्तक झुक जाता है।

वे मुनिराज बारम्बार शुध्दोपयोगरुपी जल द्वारा चारित्रवृक्ष का सिंचन करते थे। वे चारित्र के महान कल्पवृक्ष थे और उस कल्पवृक्ष में मानो उत्तम फल लगे हों तदनुसार उत्तम क्षमादि दस धर्म उनके विकसित हो चूके थे। —ऐसे आनन्द मुनिराज ने दर्शन विशुद्धि से लेकर रत्नत्रयधर्म के प्रति परम वात्सल्यतक की सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृतिका बंध किया। सर्व तीर्थंकर पूर्वभव में ऐसी उत्तम भावनाएँ भाते हैं। एक ओर पुण्य का रस बढ़ रहा था तो दूसरी ओर चैतन्य-अनुभव द्वारा वीतरागी शांतरस में भी वृध्दि होती जा रही थी। शिवपुर पहुँचने में अब मात्र एक ही भव बीच में शेष बचा था।

वे मुनिराज एक बार वन में निष्कंप रुप से ध्यान मग्न थे...बाह्य लक्ष छोड़कर निजस्वरुप के अवलोकन में एकाग्र थे। उनके सर्व प्रदेशों में अपूर्व आनंद रस की फुहारें फूट रही थीं कि इतने में गर्जना करता हुआ एक सिंह वहाँ आ पहुँचा। उसकी भीषण गर्जना से सारा वन काँप उठा; वन के पशु-पक्षी भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। छलाँगें मारता हुआ वह सिंह वनमें स्वच्छन्द विचरता था। वह सिंह दूसरा कोई नहीं किन्तु अपना परिचित कमठ का जीव है। ध्यानस्थ मुनिपर उसकी दृष्टि पडते ही उसने क्रोध से गर्जना की और मुनि की और दौड़ा। मुनिराज किंचित् मात्र भयभीत नहीं हुए,



वे तो निर्भयरुप से अपने ध्यानमें लीन थे। सिंह ने छलांग मारकर उनका गला दबोच लिया और पंजों से शरीर को फाड़कर खाने लगा! उसे कहाँ खबर थी कि मैं इस समय जिनके शरीर को खा रहा हूँ वे ही कुछ समय पश्चात् मेरे गुरु बनकर मेरा संसार से उद्धार करेंगे! सिंह शरीर को खा रहा था उस समय मुनिराज तो अपने उत्कृष्ट क्षमाभाव में ही रहे, उन्होंने सिंह पर किंचित् क्रोध नहीं किया...वीतरागमार्ग से किंचित् भी चलित नहीं हुए। वाह! धन्य मुनिराज! चतुर्विध आराधना की अखण्डता सहित प्राणोत्सर्ग करके वे आनत स्वर्ग में इन्द्र हुए। सिंह भी क्रूरपरिणामों से मरकर पुन: नरक में जा गिरा।

## (९) आनन्द मुनि स्वर्ग में-सिंह नरक में

ऊर्ध्वलोक के १६ स्वर्गों में से १३ वाँ आनतस्वर्ग है; वहाँ अनेक कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न भी सुलभ हैं। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि-कल्पवृक्ष के निकट तो फल की याचना करना पड़ती है और चिन्तामणि के निकट भी चिंतवन करना पड़ता है, तब वे इच्छित वस्तु देते हैं, परन्तु वीतराग धर्म तो ऐसा है कि वह बिना इच्छा के भी उत्तम फल प्रदान करता है, इसलिये वह धर्म ही श्रेष्ठ है। आनत स्वर्ग में उत्पन्न हुए अपने कथा नायक पार्श्वप्रभु का यह स्वर्ग का अन्तिम भव है...अगले भव में तो वे भगवान होंगे। भोगोपभोग के बीच वे जानते थे कि इन भोगों की इच्छा तो अग्निसमान है; विषयोंरुपी ईंधन से वह कभी शांत नहीं होगी, वह तो चारित्र-जलसे ही बुझ सकती है...परन्तु इस स्वर्गलोक में चारित्रदशा है ही नहीं, वह तो मनुष्य भव में ही होती है; इसलिये अब मनुष्य भव पाकर हम अपनी चारित्रदशा पूर्ण करेंगे और पुन: इस संसार चक्र में नहीं फँसेंगे। इसप्रकार चारित्रदशा कि भावनापूर्वक, सम्यक्त्वकी आराधना सहित वे असंख्य वर्षतक स्वर्गलोक में रहे। वे बारम्बार जिनभक्ति का उत्सव करते और देवों की सभामें उत्तम धर्मोपदेश देते। उनके उपदेश से स्वर्ग के कितने ही देवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

उन इन्द्र की आयु में जब छहमास शेष रहे और वाराणसी नगरी (काशी-बनारस) में पार्श्वनाथ की तीर्थंकररुप में अवतरित होने की तैयारी हुई, तब बनारसनगरी में क्या हुआ?-वह देखने के लिये चलो हम उसनगरी में पहुँच जायँ और पार्श्वप्रभु के जन्मोत्सव में आनन्दपूर्वक सम्मिलित हों।

## (१०) वाराणसीनगरी में पार्श्वप्रभुका अवतार

**पारस प्रभु ने कराया, चेतन रस का पान;**
**आत्मा को स्पर्शकर, जीवन बना महान।**
**लोहा जो कंचन बने, आत्मा बने भगवान,**
**प्रभु मैं भी तुमसा बनूँ, दीजे यह वरदान।**

जिस समय की यह कथा है, उस समय इस भरतक्षेत्र में चौथा काल पूर्ण होने आया था; बाईस तीर्थंकर मोक्ष पधार चुके थे। नेमिनाथ भगवान गिरनार से मोक्ष पधारे, उसे भी ८३७५० वर्ष बीत चुके थे। अयोध्या से थोड़े कोस की दूरीपर काशी देश में गंगानदी के किनारे वाराणसी (बनारस) नगरी अतिसमृध्द एवं शोभायमान थी। इसी नगरी में सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ अवतरित हो चुके थे। अब तो तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रभुके अवतार का समय आ चुका था। जहाँ तीर्थंकर अवतरित होनेवाले थे-ऐसी वाराणसी नगरी की शोभा का क्या कहना! राजभवन के प्रांगण में प्रतिदिन आकाश से करोड़ो रत्नों की वर्षा होने लगी पन्द्रह मास तक वह रत्नवृष्टि होती रही... नगरवासी समझ गये थे कि-यह किसी महामंगल अवसर के चिह्न हैं।

विश्वप्रसिद्ध ऐसे बनारस तीर्थ में उस समय महाभाग्यवान राजा विश्वसेन राज्य करते थे। [कोई उन्हें अश्वसेन भी कहते है।] वे अति गंभीर थे सम्यग्दृष्टि थे। अवधिज्ञान के धारी तथा वीतराग देव-गुरु के परम भक्त थे। उनकी महारानी ब्राम्ही देवी (ब्रह्मदत्ता अथवा वामादेवी) भी अनेक गुणसम्पन थीं। उन दोनों का आत्मा तो मिथ्यात्वमल से रहित था ही, किन्तु उनका शरीर भी मलमूत्ररहित था। अहा! जहाँ तीर्थंकर समान पवित्र आत्माका निवास होनेवाला हो वहाँ मलिनता कैसे रह सकती है? सिद्धांत में कहा है कि-तीर्थंकर को, उनके माता-पिता को, चक्रवर्ती को बलदेव-वासुदेव-प्रतिवासुदेव को तथा जुगलिया को मल-मूत्र नहीं होते।

एक बार महारानी ब्राह्मीदेवी पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के स्मरणपूर्वक निद्राधीन थीं; वैशाख कृष्णा द्वितीया का दिन था; तब उन्होंने रात्रि के पिछले प्रहर में १६ मंगल स्वप्न देखे :-

सुर कुंजर सम कुंजर, धवल धुरन्धरो,
केहरि-केशर शोभित, नख सिख सुन्दरो।
कमला कलश-न्हवन, दुई दाम सुहावनी;
रवि-शशि मंड़ल मधुर, मीन जुग पावनी।
पावन कनकघट जुगम पूरन, कमल-कलित सरोवरो;
कल्लोलमाला कुलित सागर, सिंहपीठ मनोहरो।
रमणीक अमर विमान फणपति-भुवन रवि छवि छाजई;
रुचि रतनराशी दिपंत, दहनसु तेजपूंज विराजई।

ऐसे महामंगलकारी स्वप्न देखे और उसी समय ब्रम्हदत्ता(वामादेवी) माताकी कुक्षि में पार्श्वनाथ भगवान के जीवका आगमन हुआ। माताका हृदय आनन्द से भर गया। प्रभात होते ही राजसभा में जाकर माताजी ने महाराजा विश्वसेन से सोलह मंगल स्वप्नों की बात कही; और उनके फल स्वरुप तीर्थंकर समान पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी-ऐसा महाराजा के मुख से सुनकर उनके हर्षका पार नहीं रहा! मानो हृदयभूमि में धर्म के अंकुर फूट पड़े! वाह माता, तू धन्य हो गई! इन्द्रों तथा इन्द्रानियोंने आकर प्रभु के माता-पिता का सन्मान किया और गर्भकल्याणक-उत्सव करके भगवान की पूजा-स्तुति की। छप्पन कुमारी देवियाँ माता की सेवा करने लगीं। वे बारम्बार तीर्थंकर के गुणगान करके माताजी के साथ आनन्ददायक चर्चा करती थीं-

❀ एक बार माताजीने पूछा-हे देवी! इस जगत में उत्तम रत्न कहाँ रहता होगा?

- देवीने कहा-माताजी, आपके उदर-भण्डार में ही वह उत्तम रत्न विद्यमान है।
- दूसरी देवीने पूछा-माताजी का शरीर सुवर्ण जैसा क्यों लगता है?
- तीसरी देवी बोली-क्योंकि उनको 'पारस' का स्पर्श हुआ है इसलिये।
- चौथी देवीने पूछा-माताजी, आपको कैसी भावना होती है?
- माताजी बोलीं-जैनधर्म का खूब विस्तार हो ऐसी।
- देवियाँ कहने लगीं-वाह माताजी! अपने स्वर्गलोक से भी हमें यहाँ अधिक अच्छा लगता है, क्योंकि यहाँ हमें आपकी तथा बालतीर्थंकर की सेवा करने का महाभाग्य प्राप्त हुआ है। छोटे-से प्रभुको हम पालने में झुलायेंगे, लोरियाँ गायेंगे, और हँसी-खुशी गोद में उठायेंगे, और उन्हें देख-देखकर आत्माका धर्म प्राप्त करेंगे

-इस प्रकार देवियाँ माताजी के साथ प्रतिदिन आनन्दकारी चर्चा करती थीं और तीर्थंकर प्रभुकी महिमा गाती थीं। माताजी के मुख से ऐसी आत्मस्पर्शी वाणी निकलती थी मानो उनकी कुक्षि में बैठे पार्श्वनाथ भगवान ही बोल रहे हों! गर्भस्थ ज्ञानवन्त भगवान उस समय भी जानते थे कि-मेरा चैतन्यतत्त्व इस शरीर के संयोग से बिलकुल भिन्न है, चेतनामय भाव ही मैं हूँ।-इस प्रकार भगवान तो अपनी चेतना के आनन्द में झूल रहे थे। दिन पर दिन बीतते गये...पौष कृष्णा एकादशी आयी, और मंगल बधाई लायी।

पौष कृष्णा एकादशी के शुभदिन तेंईसवें तीर्थंकर का अवतार हुआ। बनारस नगरी में चारों और आनन्द छा गया; मात्र बनारस में ही नहीं किन्तु तीनों लोक आनन्दित हो गये। स्वर्ग में भी अपने आप दिव्य वाद्य बजने लगे। इन्द्रने जान लिया कि भरतक्षेत्र के तेईसवें तीर्थंकर का अवतार हुआ है, इसलिये तुरन्त इन्द्रासन से नीचे उतरकर भक्तिपूर्वक उन बालतीर्थंकर को नमस्कार किया और ऐरावत हाथी पर बैठकर जन्मोत्सव मनाने आ पहुँचे। छोटे-से भगवान को विशाल ऐरावत हाथीपर बैठाया..हाथी आकाश में उड़ा और भगवान की शोभायात्रा मेरुपर्वतपर आ पहुँची। यह जो सूर्य-चन्द्र दिखते हैं इनसे भी अधिक ऊँचाईवाले मेरुपर्वत पर प्रभुका जन्माभिषेक किया। उस समय प्रभुकी दिव्य महिमा देखकर अनेक देवों को सम्यग्दर्शन हो गया। अहा प्रभु! आप तो जन्मरहित हो गये और आपकी भक्ति से हमारा भी जन्म सफल हो गया!-इस प्रकार स्तुति करते-करते इन्द्र-इन्द्राणी भी आनन्द से नाच उठे...उन्होंने प्रभु का नाम 'पार्श्वकुमार' रखा।

प्रभुके जन्माभिषेक के समय आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी। आश्चर्य यह है कि आकाश में कहीं भी पुष्पवृक्ष न होने पर भी पुष्प वर्षा हो रही थी! अनन्त आकाश को ऐसा लगा कि-अहा, इन भगवान का ज्ञान तो मुझसे भी विशाल है!...इसलिये नम्रीभूत होकर वह आकाश पुष्पवर्षा द्वारा प्रभुकी पूजा कर रहा था। तथा जिस प्रकार मैं निरालम्ब हूँ उसी प्रकार भगवान का ज्ञान भी निरालम्बी है-ऐसे निरालम्बनता के आनन्द से उल्लसित होकर वह आकाश पुष्पवृष्टि द्वारा प्रभुका जन्मोत्सव मना रहा था।

मेरुपर्वत पर पार्श्वकुमार का जन्माभिषेक करके स्तुति करते हुए इन्द्र कहते हैं कि-हे प्रभो! आप तो पवित्र ही हो...आपका न्हवन करने के बहाने वास्तव में तो हमने अपने ही पापों को धो डाला है। इन्द्रानी कहती हैं-प्रभो! आपको गोद में लेकर मानो मैं मोक्ष को ही अपनी गोद में ले रही हूँ इस प्रकार मेरा आत्मा उल्लसित हो जाता है...और आपको रत्नाभूषणों से अलंकृत करते हुए ऐसा अनुभव होता है मानो मैं अपने ही आत्मा को धर्मरत्नों से अलंकृत कर रही हूँ। -ऐसा कहकर इन्द्रानी ने बाल तीर्थंकर को स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषण पहिनाए और रत्न का तिलक लगाया। -इस प्रकार पार्श्वकुमार का जन्माभिषेक करके तथा देवलोक के दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाकर प्रभुके जन्मोत्सव की शोभायात्रा बनारसनगरी लौट आयी और वामादेवी माता को उनका लाडला पुत्र सौंपकर इन्द्र-इन्द्रानीने कहा-हे

माता! आप धन्य हैं आप जगत की माता हैं। आपने जगत को यह ज्ञानप्रकाशक दीपक प्रदान किया है; हे माता! आपका यह पुत्र तीन लोक का नाथ है!

वाराणसी नगरी में सर्वत्र आनन्दोत्सव मनाया गया। तीर्थंकर के आत्मा को देखकर हजारों लोग चैतन्यमहिमा समझ-समझकर आत्मज्ञानको प्राप्त हुए। अहा, भगवान स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करके धर्मोपदेश देंगे और धर्मवृद्धि करेंगे, उस समय का क्या कहना!...परन्तु उनका जन्म होते ही जीवों में स्वयंमेव धर्मवृद्धि होने लगी। जिस प्रकार सूर्योदय होने पर कमल खिलने लगते हैं उसी प्रकार तीर्थंकर सूर्य का उदय हुआ और भव्यजनरुपी कमल खिलने लगे। जन्मोत्सव के हर्षोपलक्ष में देवों ने माता-पिता के समक्ष सुन्दर नाटक करके भगवान के पूर्व नौ भव बतलाये; उनमें हाथी के भवमें मुनि के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्ति का दृश्य देखकर तो अनेक जीवों ने प्रतिबोध प्राप्त किया और पश्चात् उन्होंने मुनिदीक्षा धारण करके उत्तम क्षमा का कैसा पालन किया वह भी बतलाया। इस प्रकार पारसकुमार का जन्मोत्सव मनाकर तथा माता-पिता को उत्तमोत्तम वस्तुएँ की भेंट देकर वे इन्द्र-इन्द्रानी देवोंसहित अपने स्वर्गलोक में चले गये। उस समय तो स्वर्ग की अपेक्षा वाराणसी नगरी का वैभव विशेष लग रहा था, क्योंकि तीर्थंकर समान पुण्यात्मा वहाँ विराज रहे थे। स्वर्ग के देव भी छोटे-छोटे बालकों का रूप धारण करके पार्श्वकुमार के साथ क्रिड़ा करने आते थे। अहा! तीर्थंकर का सहवास किसे अच्छा नहीं लगेगा? उन देव कुमारों के साथ पार्श्वकुमार भिन्न-भिन्न प्रकार के खेल खेलते थे और कभी-कभी धर्मकी चर्चा करके आत्मानुभव का रहस्य भी समझाते थे। अहा! उन छोटे-से भगवान के श्रीमुख से जब आत्मा के अनुभव की धारा प्रवाहित होती होगी तब वह वाणी सुनकर लोक कितने आनन्दित होते होंगे? उनकी मुद्रा के दिव्य शांतभाव मुमुक्षु को अतीन्द्रिय आत्मसुख की प्रतीति उपजाते थे। केवलज्ञान होने पर तो क्या कहना! परन्तु तीर्थंकर प्रकृति का उदय आने से पूर्व भी उनके निमित्त से धर्मवृद्धि होने लगी...धन्य अवतार!

भगवान को जन्म से ही मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान और क्षायिक सम्यग्दर्शन था; उनका स्वभाव अति सौम्य था। आठ वर्ष की आयु होने पर वे पाँच अणुव्रत का पालन करने लगे। किसी के पास विद्या सीखना तो उन्हें था ही नहीं; आत्मविद्या को जाननेवाले उन भगवान में अन्य सर्व विद्याएँ भी स्वयमेव आ गई थीं; उनकी चैतन्य विद्या में भी वृद्धि हो रही थी।

युवा राजकुमार को देखकर एकबार माता-पिताने उनसे विवाह का अनुरोध किया और कहा कि-किसी सुन्दर, गुणवान राज कन्या के साथ वे विवाह करें; परन्तु पार्श्वकुमार ने अनिच्छा प्रदर्शित की। माताजीने गद्‌गद् होकर कहा हे कुमार। मैं जानती हूँ कि तुम्हारा अवतार वैराग्य हेतु है, तुम तीर्थंकर होनेवाले हो, और उससे मैं अपनी कोख को धन्य मानती हूँ; परन्तु पूर्वकाल में ऋषभादि तीर्थंकरों ने भी विवाह करके जिस प्रकार माता-पिता की इच्छा पूर्ण की थी, तदनुसार तुम भी हमारी इच्छा पूर्ण करो।

तब पार्श्वकुमार गंभीरतापूर्वक बोले-हे माता! ऋषभदेव की बात और थी; मैं प्रत्येक विषय में उनके बराबर नहीं हूँ; उनकी आयु तो बड़ी लम्बी थी और मेरी आयु मात्र सौ वर्ष की है; मुझे तो अल्पकाल में ही संयम धारण करके अपनी आत्मसाधना पूर्ण करना है; इसलिये मुझे सांसारिक बन्धनों में पड़ना उचित नहीं है।

वैरागी राजकुमार की बात सुनकर माता-पिता के नेत्रों में अश्रु छलक आये; कुछ देर तक निराश रहकर अन्तमें उन्होंने समाधान कर लिया। वे भी सुज्ञ थे...उन्होंने विचार किया कि-पार्श्वकुमार तो तीर्थंकर बनने को अवतरित हुए हैं...सांसारिक भोगों के लिये उनका अवतार नहीं है, उनका अवतार तो मोक्ष की साधना के लिये है और हमें भी उसी मार्गपर जाना है।

## सर्प युगल के उद्धार की घटना

एक बार पारसकुमार वनविहार करने निकले। साथ में उनका मित्र सुभोम कुमार भी था। राजकुमार पार्श्वनाथ को देखकर प्रजा अतिप्रसन्न होती थी...अरे, वनके पशु-पंखी भी प्रभुको देखकर आश्चर्य में पड़ जाते और शांतचित्त से उन्हें निरखते थे कि-अहा, यह कोई महान पुरुष हैं जिन्हें देखकर हमारा भय दूर हो जाता है और शान्ति मिलती है! वन के वृक्ष और पुष्प भी प्रभुको देखकर खिल उठते थे! वनकी शोभा देखते हुए राजकुमार विचर रहे हैं और विचार रहे हैं कि-अब मेरा वनविहारी बनने का समय निकट आ गया है।-ऐसी उत्तम भावनापूर्वक वनमें विचर रहे थे इतने में एक घटना हुई।...उन्हें एक तापस बावा दिखायी दिया। कौन है वह तापस? वह जानने के लिये हमें उनके पूर्वभवों पर दृष्टि पात करना होगा।

पार्श्वनाथ भगवान पूर्वभव में जब अग्निवेग मुनि थे तब उनके भाई कमठ का जीव अजगर होकर उन्हें निगल गया था और फिर मरकर नरक में गया था। पश्चात् वह कमठ का जीव शिकारी भील हुआ और उसने वज्रनाभि मुनिको बाण से छेद डाला पश्चात् सिंह होकर आनन्द मुनिको खा गया। वहाँ से पाँचवें नरक में जाकर उसने घोर दुःख सहन किये और तीन सागरतक तिर्यंच पर्याय में भटकता फिरा। अंत में वही जीव महिपाल नगरी में महिपाल नामका राजा हुआ। पार्श्वनाथ की माता वामदेवी इसी महिपाल राजा की ही पुत्री थीं, इसलिये पार्श्वकुमार उसके दौहित्र (पुत्री के पुत्र) हुए। महिपाल की रानी का देहान्त होनेपर दुःखके कारण वह तापस बन गया; सात सौ तापस उसके शिष्य थे। वह अज्ञानजन्य कुतप करता था। उस समय अपने सात सौ तापस शिष्यों के साथ उसने वाराणसी नगरी में डेरा डाला था और पंचाग्नि तप कर रहा था...अग्नि में बड़े-बड़े लक्कड़ जल रहे थे।

-इतने में पार्श्वकुमार अपने मित्रों के साथ वनविहार करते-करते वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने महिपाल तापस को देखा। उसे देखकर पार्श्वकुमार ने वंदन-नमस्कार नहीं किया। अरे, सामान्य श्रावक भी कदापि कुगुरु को नमन नहीं करते; फिर यह तो पार्श्वतीर्थंकर थे, वे कैसे कुगुरु को नमस्कार करते?

राजकुमार ने अपना आदर नहीं किया, इसलिये महिपाल तापस के मन में क्रोध आ गया...मानो पूर्वभव के क्रोधसंस्कार भड़क उठे-अरे, मैं महान तापस-बावा! और इस राजकुमार का नाना हूँ, फिर भी यह मुझे नमस्कार तक नहीं करता? इसे अपने राज्य का अभिमान होगा! परन्तु मैं भी तो इसी जैसा राज्य छोड़कर तापसी बना हूँ...इस प्रकार वह अज्ञानी गुरु मन ही मन क्रोध करने लगा।

शांत एवं गंभीर भगवान पार्श्वकुमार तो ज्यों के त्यों शान्तिपूर्वक खड़े रहे। उनका चित्त अत्यन्त दयालु था; परन्तु मिथ्यागुरु वह तापस बिना विचारे ही क्रोध में आ गया और कहने लगा...मैं महान तपस्वी और इस राजकुमार पार्श्व का नाना हूँ, तथापि यह कुमार मुझे नमस्कार किये बिना अविवेकी की भाँति खड़ा है!

तब पार्श्वकुमार के मित्र सुभोमकुमार कहने लगे कि-हे बावाजी! 'मैं गुरु हूँ और महान तपस्वी हूँ-ऐसा मानकर आप भारी अभिमान कर रहे हैं; परन्तु आपको खबर नहीं है कि मिथ्यात्वसहित किये गये कुतप से और हिंसा से जीव का कितना अहित होता है? शरीर एवं कषायों से भिन्न आत्मा का अनुभव जब तक न हो, तब तक सच्चा तप नहीं होता। आपके इस अज्ञानमय तपमें छहकाय के जीवों की हिंसा होती है, इसलिये यह कुतप है, इसमें आत्मा का किंचित् भी हित नहीं है।

सुभोमकुमार की बात सुनकर महिपाल को अधिक क्रोध चढ़ा; वह कहने लगा-तू मुझे उपदेश

देनेवाला कौन? यह राज कुमार तो अभी छोटा बच्चा है, इसे मेरे तप का क्या पता? ऐसा कहकर वह अज्ञानी कुल्हाड़ी द्वारा लक्कड़ फाड़-फाड़कर अग्निमें ड़ालने लगा। एक बड़ा लक्कड़ फाड़कर जब वह अग्नि में ड़ालने लगा कि इतने में...!

-इतने में प्रभु पार्श्वकुमार हाथ उठाकर गंभीर स्वर में बोले- 'ठहरो...ठहरो...( उन्होंने अवधिज्ञान से जान लिया था कि इस लक्कड़ में एक सर्पोंका जोड़ा बैठा है, वै कुल्हाड़ी से कट गया है और अभी अग्नि में भस्म हो जायेगा! इसलिये वे दयार्द होकर बोल, उठे की..ठहरो... ) इस लकड़ी को अग्निमें मत डालो!'

अज्ञानी तापस क्रोधित होकर बोला- तू मुझे रोकनेवाला कौन? (उसे कहाँ खबर थी कि इस लकड़ी में नाग-नागिन का जोड़ा बैठा है।)

भगवान ने कहा-आप जो लकड़ी काट कर अग्नि में होमना चाहते हैं उसमें नाग-नागिन का जोड़ा बैठा है, वे कट गये हैं और अग्नि में जल जायँगे...ऐसी जीव हिंसा मत कीजिये...

अवधिज्ञानी पार्श्वकुमार की बात सुनकर भी उस तपस्वी को विश्वास नहीं हुआ; बोला-तू कौन ऐसा त्रिकालज्ञानी हो गया जो तुझे इस लकड़ी में सर्प बैठे दिख रहे हैं? व्यर्थ ही होम में विघ्न करता है! तब सुभोगकुमार ने कहा-बाबाजी! यह भगवान पार्श्वकुमार अवधिज्ञानी हैं; इनका वचन कभी असत्य नहीं होता। आपको विश्वास न आता हो तो लकड़ी चीरकर देख लीजिये।

महिपाल तापसने (जोकि कमठ का जीव है) क्रोध पूर्वक उस लकड़ी को चीरा तो भीतर दो तड़पते हुए सर्प निकले। उनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे और वेदना से तड़प रहे थे। वे दोनों नाग-नागिन पार्श्वप्रभु की ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे,...मानो दुःख से छुड़ाने की प्रार्थना कर रहे हो!

सर्पयुगल को देखकर लोग चकित रह गये! चारों ओर हाहाकार हो गया...महिपाल तापस भी क्षणभर स्तब्ध हो गया।

प्रभुने सर्प युगलपर दृष्टि डाली; जिससे दोनों को अत्यन्त शान्ति का अनुभव हुआ। पार्श्वप्रभु धीर गम्भीर स्वर में बोले '-अरे! जीवोंका अज्ञान तो देखो!...जहाँ ऐसी जीवहिंसा हो वहाँ कभी धर्म हो सकता है।'

तापस अभिमानपूर्वक बोला-ठीक है, ठीक है, यह उपदेश कहीं और जाकर देना! तुझे क्या पता कि मै सातसौ तापसों का गुरु हूँ!

उसकी अविवेकपूर्ण बात सुनकर सभोमकुमार कहने लगे अरे, महाराज! हम न तो आपको गुरु मानते हैं और न आपका तिरस्कार करते है; परन्तु आप्त सर्वज्ञ-वीतराग देव और उनका कहा हुआ वीतराग अहिंसारुप मार्ग छोड़कर, तथा मिथ्यात्व एवं क्रोधादि कषायवश होकर यज्ञ के नाम पर आप छहकाय के जीवों की हिसामें प्रवर्त रहे हैं और उस मिथ्यामार्ग द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, वह तो मात्र भूसा खांड़कर चावल प्राप्त करने की आशा जैसा अज्ञान है; इसलिये हिंसामय अज्ञानमार्ग को छोड़ो और सच्चे ज्ञानमार्ग को ग्रहण करो। आपके प्रति हमें अति स्नेह है, क्योंकी पूर्वभवमें आप पार्श्वकुमार के भ्राता थे; इसलिये आपसे यह हित की बात कर रहे हैं। आशा है कि आप शान्त चित्त से विचार कर हित की बात को ग्रहण करेंगे और अहितकर अज्ञानमार्ग को त्याग देंगे।

अहा, कैसा हितकारी उपदेश! भावी तीर्थंकर की उपस्थिति में ऐसा सुन्दर वीतराग धर्म का

उपदेशसुनकर भी उस पापी कमठ के जीवने सत्य धर्म अंगीकार नहीं किया; अरे, साक्षात् भावी तीर्थंकर सन्मुख खड़े होने पर भी उस कुगुरु का क्रोध शान्त नहीं हुआ! जीव स्वयं भावशुद्धि न करे; तो तीर्थंकर भी उसका क्या कर सकते है? यद्यपि गहरे-गहरे उसे आभास तो हो रहा था कि इन उत्तम पुरुषों के समक्ष मैं कोई भूल कर रहा हूँ...किन्तु क्रोध तथा अज्ञान के कारण वह सच्चे वीतरागधर्म को स्वीकार नहीं कर सका। अभी धर्मकी प्राप्ति होनेमें उसे कुछ समय लगना था। अन्त में तो वह इन्ही भगवानकी शरणमें आकर सच्चा धर्म अंगीकार करेगा।

एक ओर कटे हुए दोनो सर्प तड़प रहे है और दूसरी ओर उस सर्पयुगलकी हिंसा करनेवाला कुगुरु खड़ा है तथा उन्हींके निकट खड़े उनका उद्धार करनेवाले जगतगुरु तीर्थंकर वीतराग धर्म का स्वरुप समझा रहे हैं। दोनों सर्पोंने दया भूर्ति भगवान के दर्शन करके शांति प्राप्त की और उनके श्रीमुख से वीतरागधर्म का उपदेश सुनकर धन्य हो गये!



अति गंभीर ऐसे पार्श्वकुमार कहने लगे-हे सर्प राज! भले ही इस अज्ञानी तपस्वी की कुल्हाड़ी से तुम्हारे शरीर कट गये हैं परन्तु तुम क्रोध नहीं करना; क्योकि पूर्व भवमें क्रोध करने के कारण तुम्हे यह सर्पका भव मिला है; किन्तु अब क्रोध त्यागकर क्षमाभाव धारण करना, और पंचपरमेष्ठी भगवान की शरण लेना। ऐसा कहकर पार्श्वनाथ प्रभुने उन्हे धर्म श्रवण कराया। दोनो नाग नागिन अत्यंन्त शांतिपूर्वक सुन रहे थे :-अहा भावी तीर्थंकर के दर्शन से तथा उनकी वाणी सुनकर वे अपना कष्ट भूल गये और शांतभाव धारण करके अत्यन्त उपकारबुद्धि से प्रभुसन्मुख देखते रहे। उस सर्पके मुँह से विषके बदले मानो अमृत झर रहा था कि- अहा, हम जैसे विषैले जीवोंको भी प्रभुने करुणापूर्वक सच्चा धर्म समझाया और हमारा कल्याण किया। धन्य है इन प्रभुको ! ऐसा विचारते हुए वे दोनों सर्प मानो भक्ति से सिर झुका रहे थे और प्रभुके नेत्रोंसे तो अमृत झरता था। प्रभुके शांतरस झरते वचन सुनकर नाग-नागिन दोनों जीव अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हुए और प्रभुके चरणो में शरीर त्याग कर भवनवासी देवों में धरणेन्द्र देव तथा पद्मावती देवी हूए। अवधिज्ञान से भगवान का उपकार जानकर वे भक्ति करने लगे कि धन्य जिनधर्म! धन्य पार्श्वप्रभु! कि जिन्होंने हमें सर्प से देव बनाया और संसार से मुक्त होने के लिये जैनधर्म का मार्ग बतलाया।

देखो तो सही, क्षमावन्त आत्मा के संसर्ग से नाग जैसे विषधर जीव भी क्रोध छोड़कर क्षमावान बन गये, और शरीर के टुकड़े कर देनेवाले कुगुरु के प्रति भी क्रोध न करके क्षमाभावसे शरीर त्यागकर देव हुए। धन्य है वीतरागमार्ग की क्षमा को!

ऐसे वीतराग धर्म का श्रवण करके भी दुष्ट कमठ के जीवने उसका ग्रहण नही किया, परन्तु इसने मेरा अपमान किया है-ऐसी मान्यता पूर्वक उलटा क्रोध किया। दोनों सर्प तो धर्म को प्राप्त हुए, परन्तु वह महिपाल तापस धर्म प्राप्त नहीं कर सका; वह क्रोधके शल्यपूर्वक मरकर 'संवर' नामक ज्योतिषी

देव हुआ। कुतप के कारण वह निचली श्रेणी का देव हुआ।

अब इधर पार्श्वकुमार वारणसीनगरी में आत्मज्ञानसहित वैराग्य जीवन जी रहे हैं और सर्व जीव उनके दर्शन से सुख प्राप्त करते हैं।

## पार्श्वनाथ-वैराग्य एवं दीक्षा

एक बार पौष कृष्णा एकादशी के दिन पार्श्वकुमार राजसभा में बैठे थे और उनका जन्मदिवस मनाया जा रहा था; देशदेशान्तर के राजाओं की ओर से उत्तममोत्तम वस्तुओं की भेंट आ रही थी। अयोध्या का राजदूत भी भेंट लेकर आया।

पार्श्वप्रभुके दर्शन से उसे आश्चर्य हुआ। विनयपूर्वक स्तुति करके वह कहने लगा-हे प्रभो! हमारी आयोध्यानगरी के महाराजा जयसेन को आपके प्रति प्रगाढ़ स्नेह है, इसलिये यह उत्तम रत्न एवं हाथी आदि वस्तुएँ आपको भेटस्वरुप भेजी है।

पार्श्वकुमारने प्रसन्न दृष्टि से राजदूत की ओर देखा और अयोध्या के वैभव की बात पूछी। राजदूतने कहा-महाराज! हमारी अयोध्यानगरी तो तीर्थंकरोकी खान है; जिस पुण्यभूमि में तीर्थंकर उत्पन्न होते हों वहाँ के वैभव का क्या कहना! असंख्य वर्ष पूर्व भगवान ऋषभदेव इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर हुए; उनका अवतार भी अयोध्या में हुआ था; उस समय इन्द्रने उस नगरी की रचना की थी।

अयोध्या के वैभव की बात पार्श्वकुमार ध्यान से सुन रहे है। दूत कहता है-प्रभो! तत्पश्चात् दूसरे अजितनाथ, अभिनन्दन स्वामी, सुमतिनाथ तथा अनन्तनाथ यह चार तीर्थंकर भी अयोध्यानगरी में ही अवरित हुए थे। भरतचक्रवर्ती, भगवान रामचन्द्रजी आदि अनेक महान पुरुषोंने अयोध्यानगरी को पावन किया है।

अयोध्यानगरी का तथा पूर्वकाल में हुए तीर्थंकरों का वर्णन सुनकर भगवान पार्श्वकुमार गंभीर विचारों में डूब गये; उसी समय उन्हे मतिज्ञानावरण का सातिशय क्षयोपशम हुआ; वृद्धिगत् ज्ञानवैभव में पूर्वकाल के अनेक भवों का साक्षात्कार हुआ, अर्थात् जातिस्मरण ज्ञान हुआ और वे संसार से विरक्त हो गये-अरे! पूर्वकाल में स्वर्गलोक के वैभव का भी यह जीव अनेकों बार उपभोग कर चुका है तथापि इसे तृप्ति नहीं हुई; बाह्य पदार्थों से जीव को कभी तृप्ति नही होगी। अहा, धन्य हैं वे ऋषभादि तीर्थंकर भगवन्त कि जिन्होने संसार छोड़कर मोक्षपद प्राप्त कर लिया! मुझे तीर्थंकर नामकर्म का बंध हुआ, उससे क्या लाभ हुआ? 'किं जात: तीर्थंकृत नाम बन्धनात्?'... मुझे जगत के सामान्य मनुष्यों की भाँति संयम रहित काल गँवाना उचित नही हैं। ऋषभादि जिनवर जिस मार्गपर चले उसी मार्गपर मुझे जाना है; इसलिये अब आज ही मैं दीक्षा लेकर मुनि होऊंगा और अपनी आत्मसाधना पूर्ण करूँगा।

इस प्रकार भव से विमुख और मोक्षके सन्मुख हुए भगवान वैराग्य भावना भाने लगे-शरीर तो जीवन रहित है, उसमें चेतना नहीं है; ज्ञान-दर्शनमय चेतना ही मेरा जीवन है, मैं सदा ज्ञान-दर्शन स्वरुप एक शाश्वत जीव हूँ, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नही है; इसलिये सर्वत्र ममत्व छोड़कर मैं अपने चिदानन्द स्वरुप में ही लीन होता हूँ। इस प्रकार वैरागी भगवान चारित्र ग्रहण करने को तत्पर हुए कि चारित्रमोहकी सेना थरथर काँपने और भागने लगी। दीक्षा का उत्सव करने हेतु इन्द्रादि आ पहुँचे; लौकान्तिक देव एकावतारी हैं वे भी आये और भगवान के वैराग्य का अनुमोदन किया।

दीक्षा के लिये तत्पर हुए भगवान ने माता के पास जाकर कहा-हे माता! अब में चारित्र साधना द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने जाता हूँ उसी प्रकार पिताजी की आज्ञा लेकर भगवान 'विमला' नामक

शिबिकामें आरुढ़ होकर वनमें गये और स्वयं दीक्षा लेकर आत्मध्यान करने लगे। भगवान ने तीस वर्ष की आयु में अपने जन्म के दिन ही दीक्षा ग्रहण की; उनके साथ अन्य तीन सौ राजाओं ने जिनदिक्षा ले ली। अहा, तीनसौ मुनियोंसे भरा हुआ वह दीक्षावन अद्‌भुत वीतरागता से सुशोभित था; वनका वह शांत-वीतरागी वातावरण मानो वीतरागता को ही प्रसिद्ध कर रहा था। दिगम्बर मुद्राधारी उन मुनिराजके वस्त्र तो नही थे और अन्तर में मोह भी नही था। निर्विकल्प शुद्धोपयोग रुप सहज दशा से वे महात्मा शोभायमान थे।

प्रभुको ध्यान में तुरन्त ही सातवाँ गुणस्थान प्रगट हुआ और मन:पर्यय ज्ञान भी खिल उठा... अनन्त गुण मानो एक-दूसरे की प्रतियोगिता कर रहे हो-इसप्रकार शीघ्रता से विकसित होने लगे। मौनरुप से वे पार्श्वमुनिराज आत्मा का निजकार्य साधने लगे। सर्वप्रथम गुलमखेटनगर के ब्रह्मदत्त (अथवा धन्य) राजाने उन मुनिराज को आहारदान दिया और वे धन्य हो गये।

शरीर और आत्मा की भिन्नता जाननेवाले तथा शत्रु एवं मित्र में समभाव रखनेवाले वे पारसमुनिराज अंतर में बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निजस्वरुप को ध्याते थे और अतिन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते थे। उनके निकट सिंह और हिरन, सर्प और मोर आदि जीव भी शान्तिपूर्वक एकसाथ बैठते और एक-दूसरे के मित्र बन जाते थे। प्रभुको देखकर वे पशु भी प्रसन्न हो जाते थे।

## संगम देव का उपसर्ग और प्रभुको केवलज्ञानप्राप्ति

इस प्रकार मुनिदशा में आत्मध्यानसहित विचरते-विचरते चार महिने बीत गये... भगवान की शुद्धतामें वृद्धि होते-होते केवलज्ञान की तैयारी हुई। एक बार वे मुनिराज सात दिन का ध्यान योग धारण करके कार्योत्सर्गपूर्वक खड़े थे; उनकी मुद्रा दर्शनीय थी, वे स्वयं ही साक्षात् मोक्षमार्ग थे; कायाकी माया को भूलकर स्वरुप में लीन होकर, वे निर्ग्रन्थ दशा द्वारा भव का अंत कर रहे थे। जगत की बाह्यदृष्टि छोड़कर निजस्वरुप के अवलोकन में तल्लीन थे। इतने में एक घटना हुई।

आकाश मार्ग से एक देवविमान जा रहा था; ज्यों ही वह विमान भगवान के ऊपर आया कि अचानक अटक गया! नीचे पार्श्वनाथ जैसे महामुनिराज तपस्या कर रहे हों उन्हें वन्दन किये बिना वह विमान कैसे आगे बढता? उस विमानो में बैठे हुए देवने बहुत प्रयत्न किया किन्तु विमान चला नहीं।-कौन है वह देव? आप जानते है।-वह तो संगम देव था, अपना पुराना परिचित कमठ का जीव!

संगम देवने विमान से बाहर आकर देखा तो पार्श्वमुनिराज ध्यानमग्न खड़े है! बस उन्हें देखते ही वह क्रोधसे आगबबूला हो उठा कि-अवश्य इसीने मेरे विमान को रोका है! वह भयंकर विकराल रुप धारण करके भगवान के सामने आ खड़ा हुआ, मानो इसी क्षण उनको खा जायगा! इस प्रकार अत्यंत क्रोध से मुँह फाड़कर बोला कि-अरे मायावी! तूने मंत्रबल से मेरे विमान को क्यो रोक रखा है?...शीघ्र ही विमान को छोड़ दे, नही तो तुझे भस्म कर दूगाँ!-ऐसा कहकर वह मुहँ से अग्नि की लपटें निकालने लगा।

परन्तु कौन बोले? भगवान तो ध्यान में लीन हैं; वे न तो कुछ बोले और न हिले-डुले; उनका रोम तक नही हिला! (अरे कमठ! तू स्वयं ही अपने क्रोधसे जल रहा है, तेरा क्रोध भगवान को नही जला सकता!) कमठ द्वारा फैंकी गई आग की लपटें प्रभुसे दूर ही रहती थी; भगवान तो अपने उपशमरस में सराबोर थे!

अग्नि की ज्वालाओं का भगवान पर कोई प्रभाव न होने से वह संवरदेव और भी क्रोधित हुआ

और पर्वत जैसे बड़े-बड़े पत्थर उठाकर भगवान पर फेंकने लगा। धड़ाधड़ पत्थरों की वर्षा होने से धरती काँप उठी...वन के प्राणी कापँने लगे और धरणेन्द्र का आसन भी डोल उठा; किन्तु भगवान तो निष्कम्प आत्मध्यान में लीन थे... पत्थरों की वर्षा हो ऐसी विक्रिया संवरदेवने की, परन्तु भगवान का तो बाल भी बाँका नहीं हुआ, उनके ऊपर पत्थर का एक कण भी नहीं गिरा-ऐसा उनका अतिशय था। तीर्थंकर के शरीर पर कोई सीधा उपसर्ग नहीं कर सकता। बहार में संवर देव विशाल पत्थर उखाड़कर फेंक रहा था किन्तु र पत्थर तो प्रभुसे दूर ही रहते थे; और प्रभु तो अन्तर में ध्यान द्वारा कर्मरूपी पर्वत के टुकड़े-टुकड़ कर रहे थे।

पत्थरों की वर्षा में भी प्रभु जब अडिग रहे, तब संवरदेवने मूसलधार पानी बरसना प्रारम्भ किया। मानो समस्त पृथ्वी डूब जायगी-ऐसा समुद्र जैसा पानी हिलोरें लेने लगा। वनमें चारों ओर हाहाकार मच गया। पशु भयभीत होकर प्रभुकी शरणमें आगये। संवरदेव क्रोधपूर्वक पार्श्वप्रभु पर जो घोर उपसर्ग कर रहा था उसे प्रकृति भी मानो सहन नहीं कर सकी... धरणेन्द्रका आसन कौंपने लगा- 'अरे! यह मेरा इन्द्रासन क्यों डोल रहा है?- अवधिज्ञान से उसे पता चल गया कि-हमपर परम उपकार करनेवाले पार्श्वमुनिराज पर इस समय संवरदेव घोर उपसर्ग कर रहा है... तुरन्त धरणेन्द्र और पद्मावती वहाँ पहुँचे और उपसर्ग दूर करने में तत्पर हुए।

एक ओर संवरदेव भयंकर द्वेषपूर्वक उपसर्ग कर रहा है तो दूसरी ओर धरणेन्द्र तथा पद्मावती भक्ति रागपूर्वक प्रभुकी सेवा-सुश्रूषा में लगे है!... भगवान तो दोनों से पर अपनी चैतन्यसाधना में ही तत्पर है। 'शत्रु-मित्र के प्रति वर्ते समदर्शिता'....उन्हे न तो संवरदेव के प्रति द्वेष है और न धरणेन्द्र-पद्मावती के प्रति राग; बाह्य में क्या हो रहा है उसका भी उन्हे लक्ष नहीं है। बाह्यमें पानी की घनघोर वर्षा हो रही है तो प्रभुके अंतर में आनन्द का सागर हिलोरे ले रहा है।

प्रिय पाठक! इस समय भगवान पर ऐसा उपसर्ग देखकर तुम्हे कदाचित् उस कमठ के जीवपर (संवरदेव पर) क्रोध आ जाता होगा! किन्तु ठहरो! तुम उस पर क्रोध मत करो! वह जीव शीघ्र ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करके धर्मात्मा बननेवाला है। जिन पार्श्वनाथ पर वह उपसर्ग कर रहा है, उन्हीं पार्श्वप्रभुकी शरण में आत्मा का अनुभव करके वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा और तब उनके प्रति बहुमान जागृत होगा कि वाह! धन्य है वह आत्मा कि जिसने क्षणमात्र में परिणामों का परिवर्तन करके आत्मानुभव किया। परिणामों को क्षणभर में बदला जा सकता है। क्रोध कहीं आत्माका स्वभाव नही है कि वह नित्य स्थिर रहे। उस क्रोध से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उपसर्ग के समय पार्श्वनाथने भी कही कमठ के जीव पर क्रोध नहीं किया था;- क्रोध किया होता तो केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इस घटना के द्वारा मौनरुपसे पार्श्वप्रभु ऐसा उपदेश देते है कि हे जीवों! तुम उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहीं करना...तुम तो शांतभावसे अपनी आत्मसाधना में अडिग रहना-

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नही;
वन्दे चक्री तथापि न मले मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो।

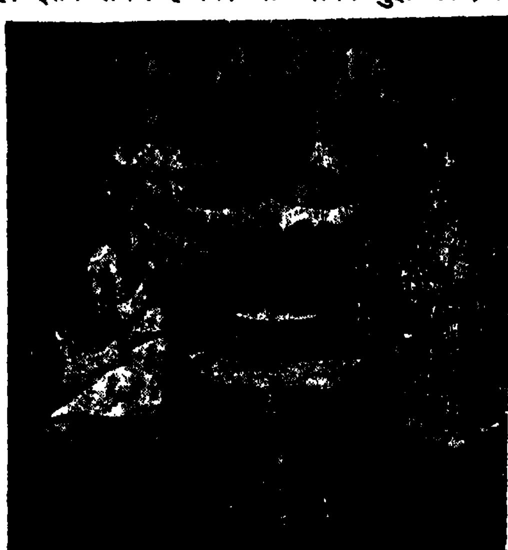
ऐसी अपूर्व मुनिदशामें प्रभु वर्त रहे हैं। धन्य उनकी वीतरागता! धन्य उनकी आत्म साधना!
इधर संवरदेव तो, मानो भगवान को पानी में डुबा दूँ-इस प्रकार मूसलधार पानी बरसा रहा है;

धरणेन्द्र और पद्मावती अत्यन्त भक्तिपूर्वक पानी में कमल की रचना करके प्रभुको पानी से उपर रख रहे हैं और विशाल फन द्वारा छत्र तान रहे हैं। अतंर में परभाव से अलिप्त रहनेवाले भगवान बाह्यमें पानी से भी अलिप्त ही रहे!

अहा! भगवान तो आत्मसाधना से नहीं डिगे सो नहीं डिगे। सात-सात दिन तक उपसर्ग करके अंतमें कमठ थका; अन्तिम प्रयत्न के रुप में उसने भयंकर गर्जना के साथ बिजली और बादलों की गड़गड़ाहट की। बाह्य में बिजली की चमक हुई...ठीक उसी समय प्रभु के अंतर में केवलज्ञान की दिव्य ज्योति त्रिलोक को प्रकाशित करती हुई जग उठी! अचानक ही सर्व उपसर्ग विलुप्त हो गये और सर्वत्र आनन्द-आनन्द छा गया। वह दिन था चैत्र कृष्णा चतुर्थी का।

धरणेन्द्र और पद्मावती जिस उपसर्ग को दूर करने की चेष्टा कर रहे थे वह कार्य केवलज्ञान के प्रतापसे अपनेआप पूर्ण हो गया। प्रभु उपसर्ग-विजेता होकर केवली बने। केवली को उपसर्ग नहीं होता। उपसर्ग समाप्त होते ही धरणेन्द्र-पद्मावती का कार्य भी समाप्त हो गया; वे भगवान के केवलज्ञान का ऐसा दिव्य अतिशय देखकर अति आनन्दपूर्वक पार्श्वप्रभु की स्तुति करने लगे-अहा प्रभु! आपके केवलज्ञान की महिमा अद्भुत है। हे देव! आप समर्थ हो, हम आपकी रक्षा करने वाले कौन होते है? प्रभो! आपके प्रताप से हमें धर्म प्राप्त हुआ और आपने संसार के घोर दुःखों से हमारी रक्षा की है। प्रभो! आपके नामके साथ हमारा नाम देखकर अज्ञानी जन आपको भूलकर हमें पूजने लगे, परन्तु पूजनीय तो आप समान वीतराग देव ही हैं। इस प्रकार स्तुति की। भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्रोंने आकर भगवान की पूजा स्तुति के पश्चात् आश्चर्यकारी दिव्य समवसरण की रचना की। जीवोंके समूह प्रभुका उपदेश सुनने के लिये आने लगे।

यह सब आश्चर्यजनक घटना देखकर संवरदेव के भाव भी बदल गये; केवली प्रभु की दिव्य महिमा देखकर उसे भी श्रद्धा जागृत हुई। क्रोध एकदम शान्त हो गया और पश्चाताप से बारम्बार प्रभुके समक्ष क्षमा-याचना करने लगा-हे देव! मुझे क्षमा करो, मैं अकारण ही आपके ऊपर महान उपसर्ग किया, तथापि आपने किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया! कहाँ आपकी महानता और कहाँ मेरी पामरता! ऐसे महान इन्द्र भी भक्ति पूर्वक आप की सेवा करते है. इतने समर्थ होनेपर भी आपने मुझ पर क्रोध नहीं किया और क्षमा धारण की ...धन्य है आपकी वीतरागता! उस वीतरागता द्वारा आपने केवलज्ञान प्राप्त किया और परमात्मा बन गये। प्रभो! मेरा अपराध क्षमा करो मैंने अज्ञान पूर्वक क्रोध करके भवभव में आपके ऊपर उपसर्ग किये, जिससे मैं ही महान दुःखी हुआ और नरकादिकी घोर यातनाएँ सहन कीं। प्रभो! अन्तमें क्रोधपर क्षमाकी विजय हुई। अब मैंने क्षमाधर्म की महिमा को जाना। मेरा आत्मा उपयोग स्वरुप है, वह इस क्रोध से भिन्न है-ऐसा आपके प्रताप से समझा हूँ।



समवसरण में भगवान का उपदेश सुनकर संवर देव (कमठ का जीव) भेदज्ञान करके विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ। पार्श्वप्रभुके सम्पर्क से वह जीव पापी

मिटकर मोक्षका साधक हुआ। धरणेन्द्र और पद्मावती भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए; इतना ही नहीं, महीपाल तापस के साथ जो सात सौ कुलिंगी तापस थे, वे भी मिथ्यामार्ग को छोड़कर धर्म के सच्चे स्वरुप को समझे और भगवान के चरणो में सम्यग्दर्शन सहित उन सबने संयम धारण किया। कुगुरु मिटकर वे सच्चे जैन गुरु बने गये...अन्य भी कितने ही जीव भगवान के उपदेश से सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए।

देखो महापुरुषों की महिमा! अनेक भवतक पार्श्वनाथ प्रभुका संग करने से कमठ के जीवका उद्धार हो गया। शास्त्रकार अलंकार से कहते है कि-महापुरुषों के साथ मित्रता का तो कहना ही क्या... शत्रुरुप से उनका संग भी अन्तमें हितका ही कारण होता है!

कमठ का जीव धर्म को प्राप्त हुआ और भगवान की भक्ति करने लगा; वह देखकर लोग आश्चर्य से कहने लगे-वाह! देखो जिनप्रभु की महिमा! कमठ को भी अन्तमें तो प्रभुकी शरण में आना पड़ा। जिस प्रकार मच्छ उछालें मारकर समुद्र के पानी को पीड़ित करता है, तथापि अन्त में तो वह स्वयं समुद्र के आश्रयसे ही जीवित है, उसी प्रकार कमठ के क्षुद्रजीवने वैरबुद्धि से अनेकभव तक पीड़ित किया, परन्तु अन्त में तो उसे प्रभुकी शरण में ही धर्म की प्राप्ति हुई। प्रभुके आश्रय बिना वह कहाँ से सुखी होता? अहा, प्रभु का ज्ञान, प्रभु की शान्ति, प्रभुकी वीतरागी क्षमा का क्या कहना! प्रभुकी गम्भीरता तो समुद्र से भी महान है। हे पार्श्व जिनेन्द्र! सर्व तीर्थंकर समान होने पर भी आपकी जो विशेष प्रसिद्धि दिखायी देती है वह तो एक कमठ के कारण है!-ठीक ही है, क्योंकि अपकार करनेवाले शत्रुओं द्वारा ही महापुरुषों की ख्याति फैलती है! प्रभो! संवरदेवकी भयंकर विक्रिया के समय भी आप न तो अपनी शान्ति से च्युत हुए और न कमठ पर क्रोध किया। आपने तो शांतचित्त से कमठ की विक्रिया दूर की, और जगत को बतलाया कि-सच्ची विजय क्रोध द्वारा नहीं, किन्तु क्षमा द्वारा ही प्राप्त होती है। कमठ के दुष्ट भाव के कारण उसी को हानि हुई; आपकी आत्मसाधना में तो कोई बाधा नहीं आयी। सचमुच, आपकी महिमा और आपकी शान्ति आश्चर्यजनक है! हे प्रभो! यह धरणेन्द्र एवं पद्मावती दोनों जीव आपके महान कृतज्ञ हैं, उपकार को जाननेवाले हैं और धर्मात्मा हैं-इस प्रकार जगत में उनकी प्रशंसा होती है, परन्तु हमें यह खोजना पड़ेगा कि आपका उपसर्ग किस प्रकार दूर हुआ? क्या वह धरणेन्द्रने दूर किया अथवा आपके केवलज्ञान के प्रताप से स्वयमेव दूर हो गया? प्रभो! सच्चा प्रताप तो आपका है। वास्तविक पूज्य तो आप ही हैं; धरणेन्द्र और पद्मावती तो हमारी ही भाँति आपके सेवक हैं। आपके प्रताप से ही वे धर्म को प्राप्त हुए।-इस प्रकार भक्तगण अनेक रीति से प्रभुकी महिमा करते और दिव्य उपदेश सुनते थे।

अहा, समवसरण में विराजमान तीर्थंकर भगवान की शोभा आश्चर्यकारी थी। वहाँ दिव्य सिंहासन होनेपर भी भगवान उसका स्पर्श किये बिना अधर-आकाश में-अन्तरिक्ष विराजते थे। सिंहासन के ऊपर आकाश में विराजमान निरालम्बी भगवान को देखते ही ज्ञात होता था कि पुण्य के उत्कृष्ट फलकी अपेक्षा चैतन्यगुण उच्च है। उस सिंहासन पर न बैठकर भगवान जगत को यह बतलाते थे कि-पुण्यफलरुप यह सिंहासन आत्मा के लिये अपद है-अपद है! रत्नजड़ित सिंहासन होनेपर भी भगवान तो उससे अलिप्त थे; उनको सिंहासन का आधार नहीं था, परन्तु उलटी सिंहासन की शोभा भगवान के प्रताप से थी! उसी प्रकार बाह्य में स्फटिक के तीन छत्र भले ही सुशोभित थे परन्तु अंतर में प्रभु के रत्नत्रय की शोभा कुछ और ही थी। देवों के दुंदुभि वाद्यो की अपेक्षा प्रभुकी दिव्य ध्वनि विशेष मधुर थी। प्रभुके मुखका प्रभामंण्डल भले ही सूर्य-चन्द्र से अधिक दैदीप्यमान था, परन्तु उनके केवलज्ञान

की चैतन्यप्रभाके अतीन्द्रिय तेजका तो सम्यग्दृष्टियों को ही अनुभव होता था।

भगवान के समवसरण में कल्पवृक्ष थे। दस प्रकार की भोगसामग्री प्रदान करनेवाले कल्पवृक्षों को देखकर मुमुक्षु को ऐसा लगता था कि-अरे, यह कल्पवृक्ष तो बाह्य फल देनेवाले है, परन्तु सर्वज्ञ देव तो ऐसे कल्पवृक्ष हैं कि जिनकी सेवा से सम्यग्दर्शनादि चैतन्य-रत्नोंकी प्राप्ति होती है। इसीलिये तो मुमुक्षुगण दस प्रकार की सामग्री देनेवाले कल्पवृक्षों को छोड़कर केवलज्ञानरुपी अद्वितीय कल्पवृक्ष की ओर दौड़ते थे और अपूर्व सम्यकत्वादि रत्न प्राप्त करते थे। अहा, प्रभुकी गुणमहिमा का वर्णन कौन कर सकता है? वह वचनगोचर नही है, वह तो ज्ञानियों को ही अनुभवगम्य है।

भगवान का उपदेश भी अद्भुत था! आत्मा की परम महिमा समझाकर, वे उसकी आराधना का उपदेश देते थे। भगवानने उपदेश में क्या कहा?-वह संक्षेप में देखें—

❋ **जगत में जानने योग्य तत्त्व कौन से हैं?**

**जीव, अजीव, पुण्य-पाप-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्ष,-इन नवतत्त्वों को जानना चाहिये।**

❋ **इनमें से कौन से तत्त्वों का ग्रहण करें और किन्हें छोड़े?**

**शुद्ध जीव का, तथा संवर-निर्जरा-मोक्षका ग्रहण करना और शेष तत्त्वों को छोड़ना। जीव सदा अपनी चेतना द्वारा जीवित रहनेवाला है।**

❋ **जीवको मोक्षसुख की प्राप्ति कैसे होती है?**

**आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र द्वारा मोक्ष होता है। जीव को पाप से नरक, पुण्य से स्वर्ग और रत्नत्रयरूप वीतरागधर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है।**

-ऐसा मोक्षमार्ग का उपदेश भगवानने दिया। जिस मार्ग से स्वयं मोक्ष प्राप्त किया, वही वीतराग मार्ग जगत को बतलाया। अनेकों जीव उस मार्ग को समझकर धर्मको प्राप्त हुए; कितने ही जीवों ने दीक्षा लेकर मुनिदशा धारण की; सिंह-हाथी-बन्दर-सर्पादि तिर्यंच जीव भी आत्मा को समझकर व्रतधारी हुए।-इस प्रकार चारों ओर धर्म का जयजयकार हो गया।

भगवान की धर्मसभा में स्वयंभूस्वामी आदि दस गणधर, ३५० श्रुतकेवली, १०,००० उपाध्याय; १४०० अवधिज्ञानी, ७५० मन:पर्ययज्ञानी, १००० केवलज्ञानी, १००० ऋद्धिधारी मुनिवर, तथा ६०० मुनिवर वाद-विवाद में निपुण थे। कुल सोलह हजार मुनिवर एवं छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। उनमें सुलोचना नामकी आर्यिका मुख्य थीं। श्रावक और श्राविकाओं की संख्या क्रमश: एक लाख एवं तीन लाख थीं। स्वर्ग के देव और वनके पशु भी प्रभुकी दिव्यवाणी श्रवण करने आते थे, और धर्म प्राप्त करके आत्मा का उद्धार करते थे।

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने ७० वर्ष तक देश-देशान्तर में विहार किया और अन्त में सम्मेदगिरि पर पधारे। अब उन्हें मोक्ष जाने में एक मास शेष था, इसलिये उनकी वाणी एवं विहारादि क्रियाएँ थम गईं। पार्श्व प्रभु सम्मेदशिखर की सर्वोच्च टूंक पर ध्यानस्थ खड़े थे; तृतीय एवं चतुर्थ शुक्लध्यान पूर्ण करके वे अयोगी भगवान दूसरे ही क्षण ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष पधारे...शरीर छोड़कर अशरीरी हुए...संसार दशा छोड़कर महाआनन्दरूप सिद्धदशारुप परिणमित हुए। इन्द्रोने प्रभुका मोक्षकल्याणक मनाया। भगवान श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन मोक्ष पधारे थे इसलिये उसे 'मोक्ष सप्तमी' कहा जाता है पार्श्वनाथ भगवान का मुक्तिधाम होने से पर्वत भी आज पारसनाथ हिल के रुपमें जाना जाता है। पर्वत की जिस टूंक से भगवान मोक्ष पधारे वह पत्थर की टूंक भी 'पारस' के स्पर्श से 'सुवर्ण' की हो गई

इसलिये उनका नाम 'सुवर्णभद्र' पड़ा। (वीर सं. २४८३ तथा २४९३ में पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के साथ हजारों यात्रियों ने उस सिद्धिधाम की यात्रा की है।

पारसनाथ जिनराज की स्वर्णभद्र कूट जेह,
मन-वच-तनकर पूज हूँ शिखर सम्मेद यजेह।

क्षमामूर्ति हे पार्श्वजिनेश्वर सिद्धिधाम गिरि शिखर महान;
स्वर्णभद्र से सिद्धालय में वास किया अविचल गुणधाम।
निजस्वरुप को साधा प्रभुजी करके चेतनरस का पान;
आत्मसाधना करके 'हरि' भी करते पारस का गुणगान।

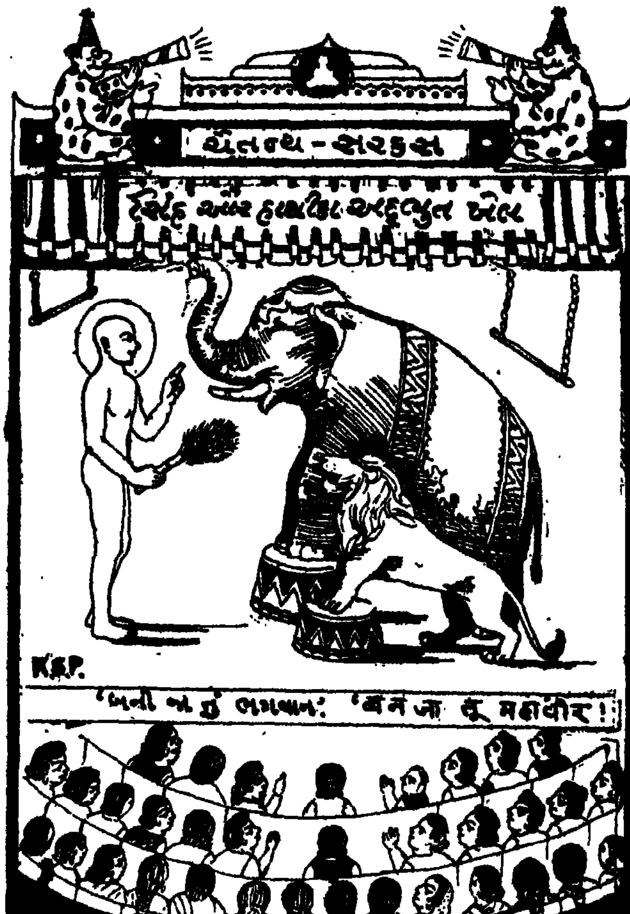
श्री पारसनाथ भगवान की जय हो...

[तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जीवनचरित्र पूर्ण हुआ।]

## ''मैं एक ज्ञायकभाव हूँ''

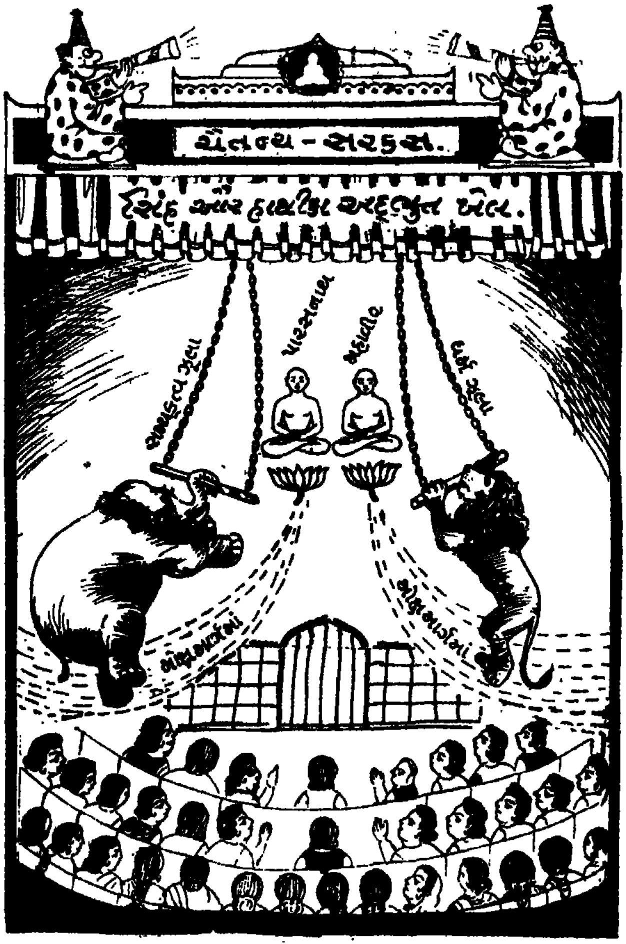
''मैं एक ज्ञायकभाव हूँ''-कितना सरस मंत्र! जिसमें जिनवाणी का सार है, और भगवान आत्मा की अनुभूति है; –ऐसा जैनशासन का मंत्र देकर पूज्य गुरुदेव ने महान उपकार किया है...उन्हीं के कारण आज ऐसी सुन्दर जिनवाणी प्रकाशित हो रही है। मुझ पर पुत्रवत् स्नेह बरसाने वाली मेरी धर्ममाता पूज्य बेनश्री-बेन के उपकार की तो क्या बात! अहा, जिन्होंने अतिवात्सल्यपूर्वक दिन-रात अंतर की स्वानुभूति के रहस्य समझा-समझाकर मुझे ठेठ स्वानुभूति तक पहुँचाया, उनके उपकार का मधुर संगीत मेरी चैतन्यवीणा में बज रहा है।

अब आप देखेंगे चैतन्य-सरकस के दो दृश्य।




एक बार हमारे नगर में सरकस आया। सरकस के खेल तो कई बार देखे थे, परन्तु यह सरकस अद्‌भुत था, इसके खेल आत्मा में उतर जायँ ऐसे थे। उसमें एक खेल था-हाथी और सिंह के झूले का।

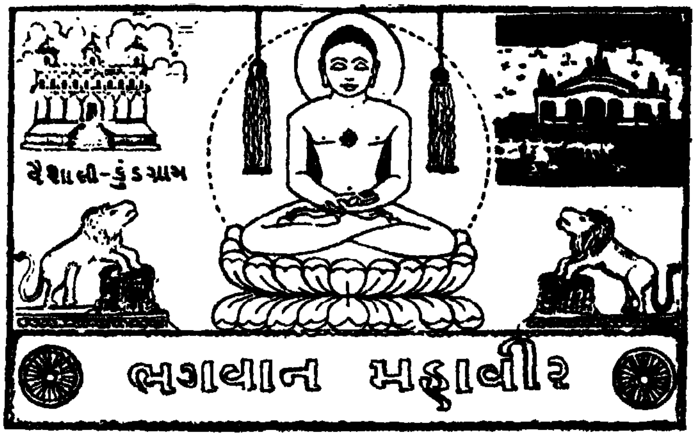
*रिंग मास्टर ऐसे वीतरागी गुरु ने आदेश दिया-* 'बन जा तू भगवान! बन जा तू महावीर!' यह सुनते ही उन दोनों अति कुशल खिलाड़ियों ने स्वानुभूति की छलाँग लगायी और सम्यक्त्व-झूले पर चढ़कर मोक्षमार्ग में झूलने लगे... दोनों को उस झूलेपर झूलता देखकर मुमुक्षु-दर्शक वाह-वाह! कर उठे।..इतने में..




इतने में, दोनों साधक-खिलाड़ी दूसरी छलाँग लगाकर चारित्र-झूले पर चढ़ गये...हाथी बन गय पार्श्वनाथ! सिंह बन गया महावीर! चैतन्य-सरकस में ऐसे अद्भुत खेल देखकर भव्य जीव तो प्रसन्न हो गये। उन दोनों ने भगवान होने तक दस-दस भवपर्यंत धर्म झूले पर आत्मसाधना के जो अद्भुत खेल किये उनमें से हाथी के खेलों का रोमांचक वर्णन आपने अभी अभी पढ़ा...अब सिंह के खेलों का वर्णन पढ़कर आपका आत्मा भी ऐसी अपूर्व छलाँग लगाने को उछल पड़ेगा।

(देखो पृष्ठ ४१०)

[२४]




[महावीर-मंगलवन्दना]

**सुर-असुर-नरपतिवंद्यको, प्रविनष्ट घाती कर्म को,**
**करता नमन मैं धर्मकर्ता, तीर्थ श्री महावीर को।**

जो सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं, हितोपदेशी हैं और वर्तमान में जिनका धर्मतीर्थ चल रहा है-ऐसे असाधारण गुणवन्त भगवान महावीर-को मैं वन्दन करता हूँ।

वे भगवान महावीर जिसका आराधन करके सर्वज्ञ हुए और जिसकी आराधना का भव्य जीवों को उपदेश दिया, ऐसे शुध्द सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मैं नमस्कार करता हूँ और उसकी पूर्णता की भावना भाता हूँ। अहा, यह रत्नत्रय मुमुक्षु के सर्व अर्थ को सिद्ध करनेवाले अमूल्य रत्न हैं।

अहो, आत्मतत्त्व का अद्‌भुतपन बतानेवाला, तथा अनेकान्त धर्म के ध्वज से सुशोभित जिनशासन जयवंत वर्तो...जोकि परसे भिन्न आत्मतत्त्व का अद्‌भुत स्वरुप बतलाकर इष्ट की सिद्धि कराता है और मिथ्यादृष्टि जिसका पार नहीं पा सकते।

'श्री महावीर प्रभु मंगलमय हैं।' ऋषभादि तेईस भगवन्त, सीमंधरादि बीस विद्यमान भगवन्त, अथवा भावी-सूर्यकीर्ति इत्यादि त्रिकालवर्ती सर्व-अरहन्त-सिद्ध-पंचपरमेष्ठी-रत्नत्रय -जिनवाणी-राजगृही आदि सर्वतीर्थ,-यह सब मंगल, एक 'मंगलमय महावीर में समा जाते हैं; इसलिये महावीर प्रभुके मंगल गुणगान में अभेदरुप से उन सबका गुणगान भी आ जाता है। इस समय

अपना चित्त महावीरमय है; महावीर में सर्व इष्ट पद आ जाते हैं।

अहो महावीरदेव! आपके सर्वज्ञतादि अगाध गुणों की गंभीरता के निकट मेरी बुद्धि तो अत्यन्त अल्प है; तथापि आपके परम उपकारों से प्रेरित होकर भक्तिपूर्वक आपके जीवन का आलेखन करने हेतु मैं उद्यमी हुआ हूँ। अल्प होनेपर भी मेरी बुद्धि आपके शासनके प्रताप से सम्यक्ता को प्राप्त हुई है इसलिये मैं नि:शंकभाव से आपके अगाध आत्मगुणों का स्तवन करके जगत में प्रकाशित करूँगा। मोक्षगमन के ढाई हजार वर्ष पश्चात् भी आप हम जैसे साधकों के हृदय में ज्यों के त्यों साक्षात् विराज रहे हैं—इस प्रकार ज्ञानमें आप का साक्षात्कार करके मैं आप के जीवन का आलेखन करता हूँ। अहा, यह रहे सर्वज्ञ! प्रभो! आप मेरे सन्मुख ही विराजमान हैं...इसलिये आपके जीवन का सम्यक् आलेखन करना मेरे लिये दुष्कर नहीं है, सुगम है...आनन्दकारी है! हे भव्य साधर्मीजनो! तुम भी ज्ञान में सर्वज्ञ महावीर को साक्षात् विराजमान करके उन्हें चेतनस्वरूप में जानना, उससे तुम्हें भी महान आत्मिक आनन्द का अपूर्व लाभ होगा।

प्रभो! आपके गुणों के वर्णन की धुनमें मैं शाब्दिक क्षति की अपेक्षा नहीं करना। अहा! आपके गुणवाचक जो शब्द होंगे वे सुन्दर होंगे। पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी यदि सोना बन जाता है, तो आप जैसे सर्वोत्तम परमात्मा के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध होने से क्या शब्द पूज्य नहीं बन जायेंगे? अरे, स्थापना निक्षेपसे जब परमात्मा के साथ सम्बन्ध करते हैं तब पत्थर भी परमात्मा के रूप में पूजाते हैं, तब जो शब्द आपके परमगुणों के वाचक होकर आपके साथ सम्बन्ध करते है वे शब्द जगत में परमागम के रुप में पूजे जाय-उसमें क्या आश्चर्य! मेरा लक्ष आपके आत्मिक गुणोंपर है, शब्दों पर मेरा लक्ष नहीं है। आपके सर्वज्ञतादि गुणोंका रसिक मेरा मन, इस समय आपके गुणों के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं लगता। बस! आपके वीतरागी आत्मगुणों में मेरे चित्त की तल्लीनता ही मेरा मंगल है।

[इति मंगल-अधिकार]

## भगवान महावीर : पूर्वभव वर्णन

हे महावीर प्रभु! वर्तमान में तो आप मुक्तरुप से परम सुखकी अनुभूति में लीन होकर सिद्धपुरी में विराजमान हैं। हम जहाँ आप को जानते हैं वहाँ मोक्षसे पूर्व की आपकी भवावलि भी दृष्टिगोचर होती है। मोक्ष प्राप्त करने से पूर्व इस संसार की चारों गतियों में आपके जीवने कैसे-कैसे दु:ख सहन किये! और पश्चात् जैन मुनिवरों के सम्पर्क में धर्म प्राप्त करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की कैसी आराधना द्वारा आप इस भवचक्र से छूटे तथा मोक्षपुरी में पधारे! वह सब चित्रपट की भाँति दृष्टिसमक्ष तैरता है। अहा, आत्मसाधना में आपकी महान वीरता...हमें भी उस साधना के प्रति उत्साहित करती है। प्रभो! भवसे छूटकर मुक्त कैसे होना, दु:ख से छूटकर सुखी कैसे होना, -वह मार्ग आपने अपने जीवनचरित्र द्वारा हमें स्पष्ट बतलाया है; इसलिये पुरुरवा भीलसे लेकर मोक्षतक के आपके जीवन-प्रसंगों का वैराग्यरसपूरित आलेखन भव्य जीवों के हितार्थ एवं अपने आत्मा के गुणों की वृद्धि हेतु प्रारम्भ करता हूँ।

## पुरुरवा भील

भगवान महावीर का जीव एक भव पहले पुरुरवा नाम का भील था; तब एक बार विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में धर्मात्मा-श्रावकों का संघ तीर्थयात्रा हेतु जा रहा था। सागरसेन नाम के मुनि-राज भी उस संघके साथ चल रहे थे। संघ जब जंगल के मार्ग से आ रहा था कि डाकुओं की टोलीने उसे लूट लिया। संघ के लोग इधर-उधर भाग गये। मुनिराज सागरसेन संघ से पृथक् हो गये और घोर जंगल में किधर जायें वह उन्हें नहीं सूझ रहा था। इतने में भील सरदार पुरुरवाने उन्हें देखा और मुनिराज को मारने के लिये धनुष पर बाण चढ़ाने लगा; तब भील सरदार की भद्र पत्नीने उसे रोका और बोली-ठहरो स्वामी! यह कोई सामान्य शिकार नहीं है। इनकी तेजस्वी मुद्रा से तो यह कोई वनदेवता लगते हैं; ऐसा लगता है कि यह वनमें मार्ग भूल गये हैं। चलो, उनके पास चल कर देखें। यह सुनकर क्रूर भीलने क्षणभर क्रूरता छोड़ दी। उसने मुनिराज के निकट जाकर विनयपूर्वक वंदन किया, और मार्ग भूले हुए मुनिराज को वनमें से बाहर निकलने का मार्ग बतलाया! मुनिराज ने उसकी भद्रता से प्रभावित होकर कहा-हे भव्य! तू अहिंसाधर्म को उत्तम जानकर उसका पालन कर। निर्दोष प्राणियों का घात करनेवाली यह क्रूरता तुझे शोभा नहीं देती; इसलिये यह शिकार एवं मांसभक्षण छोड़कर अहिंसाधर्म का सेवन कर, जिससे तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा। मास के स्वाद की लोलुपतावश निर्दोष जीवों का वध करना वह तो महापाप है। मनुष्यभव पाकर ऐसा पाप करना तुझे शोभा नहि देता। इसलिये तू उसे शीघ्र छोड़ दे!...इस प्रकार मुनिराज ने उसे अत्यन्त करुणापूर्वक हितोपदेश दिया।

मुनिराज का कल्याणकारी उपदेश सुनकर वह भील अति प्रभावित हुआ और उसने शिकार तथा मांसाहार का त्याग करके अहिंसा धर्म धारण किया। अहा, साधु पुरुषों की क्षणभर की संगति भी जीवों को कितनी हितकारी होती है! वीतरागी सन्तों की संगति से किसे शान्ति नहीं मिलेगी? अहो! भवदुःख से संतप्त संसारी जीवों की तृषा शांत करने के लिये जैनदर्शन तो शांतरस के सरोवर समान है, उसका सेवन करो।

श्री मुनिराज के प्रताप से जिसने क्रूरता छोड़ दी है ऐसा वह पुरुरवा भील भक्तिपूर्वक बहुत दूर तक मुनिराज के साथ चलता रहा और उन्हें नगर के मार्ग पर छोड़ कर लौट आया। अव्यक्त रुप से मानो वह कह रहा था कि-प्रभो! आपने तो मुझे भववन में से बाहर निकलने के लिये हितोपदेश दिया, तो क्या मैं आपकी इतनी सेवा भी नहीं कर सकता?

बस, मुनिराज से पृथक् होकर अपने निवासस्थान पर पहुँचे उस भील को अब कहीं चैन नहीं पड़ता था। अब उसने लूटपाट छोड़ दी थी और जंगल में भटके हुए पथिकों की रक्षा करके उन्हें उनका मार्ग बतलाता था। वह सोचता था कि-अरे मुझमें कितनी क्रूरता थी और वे मुनिराज कितने शांत परिणामी थे! उनके क्षणभर के संग से मेरा जीवन बदल गया! अब मुझे कितनी शान्ति मिल रही है!-इस प्रकार वह बारम्बार विचारता था; शान्ति की शीतलता उसे तृप्त करती थी। इसी प्रकार उसने शेष जीवन स्थूल अहिंसाव्रत के पालन में व्यतीत किया और अंत में मरकर वह भील सौधर्मस्वर्ग में देव हुआ।

## पूर्वभव-सौधर्म स्वर्ग में देव

कहाँ क्रूर भील! और कहाँ देव! किंचित् अहिंसा का पालन करके भीलसे देव हुए उस

जीवको सौधर्मस्वर्ग में अनेक दिव्य ऋद्धियाँ प्राप्त हुईं और दो सागरोपम (असंख्यात वर्ष) तक पुण्यफल का उपभोग किया। अहा, क्षणभर की किंचित् अहिंसा के पालन से एक अज्ञानी को भी असंख्य वर्षों का पुण्यफल प्राप्त हुआ, तो ज्ञानपूर्वक सर्वथा वीतरागी अहिंसा के उत्तमफल का तो कहना ही क्या?

अज्ञानभाव से पुण्य करके स्वर्ग में गये उस देव ने वहाँकी देवांगनाओं के साथ क्रीड़ा एवं वैभव-विलास में असंख्य वर्ष व्यतीत कर दिये...अभी उसे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। स्वर्ग में उसे अवधिज्ञान था, परन्तु आत्मज्ञान के बिना अवधिज्ञान का क्या मूल्य? अज्ञानपूर्वक पुण्यफल के उपभोग में उसने स्वर्ग के असंख्य वर्ष बिता दिये और आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग से च्यवकर मनुष्य लोक में अवतरित हुआ।

## ऋषभदेव का पौत्र मरीचि कुमार

सौधर्म स्वर्ग से च्यवकर भूतकाल का वह भील और भविष्य काल का भगवान-ऐसा वह जीव एक अति सुन्दर प्रसिद्ध नगरी में, तीर्थंकर के कुल में अवतरित हुआ...कहाँ अवतरित हुआ? वह पढ़िये।

तीर्थरूप अयोध्या नगरी में ऋषभदेव भगवान के गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों का देवों ने आश्चर्यकारी महोत्सव मनाया था। उन ऋषभराजा के दो रानियाँ तथा भरत, बाहुबलि आदि सौ पुत्र थे; उनमें से ज्येष्ठ पुत्र भरत तीन ज्ञान के धारी, क्षायिक सम्यग्दृष्टि तथा चरमशरीरी और भरतक्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती थे। अपने चरित्र नायक का जीव सौधर्म स्वर्ग से च्यवकर इन्हीं भरत चक्रवर्ती का पुत्र हुआ। उसका नाम था मरीचिकुमार। अहा, भरतक्षेत्र के भावी चौवीसवें तीर्थंकर का जीव वर्तमान में प्रथम तीर्थंकर का पौत्र हुआ! तीर्थंकर का पौत्र और चक्रवर्ती का पुत्र!....उसके गौरव का क्या कहना? पुरुरवा भीलका जीव भगवान पुरुदेव का पौत्र हुआ। (ऋषभदेव का एक नाम पुरुदेव भी है) दादाको पौत्रपर और पौत्र को दादाजी पर अत्यन्त प्रेम था;-दोनों आत्मा तीर्थंकर होनेवाले थे। दादा ऋषभदेव अपने पौत्र को गोद में लेकर खेलाते और बोलना सिखाते कि बोलो बेटा!-'अप्पा सो परमप्पा' और बालक मरीचि तोतली भाषा में 'अप्पा-पप्पा' बोलकर दादाजी का अनुसरण करता। वाह! आदि तीर्थंकर अन्तिम तीर्थंकर को खेलाते होंगे?...वह दृश्य कितना आनन्ददायी होगा?-बहुत ही...देखने योग्य!

एक बार चैत्र कृष्णा नौवीं को महाराजा ऋषभदेव के जन्म दिवसपर हजारों राजाओं के बीच इन्द्र अनेक देव-देवियोंसहित जन्मोत्सव मना रहा था; नीलांजना नामकी देवी नृत्य कर रही थी कि अचानक ही उसकी आयु पूर्ण हो जाने से वह देवी अदृश्य हो गई। संसार की ऐसी क्षणभंगुरता देखकर महाराजा ऋषभदेव ने जिनदीक्षा ले ली। (इस घटना के विशेष चित्रसहित वर्णन के लिये देखिये-भगवान ऋषभदेव पृष्ठ ) भगवान ऋषभदेव के प्रति परमस्नेह के कारण चार हजार राजाओं ने भी उनका अनुसरण किया, तथा दादाजी के साथ उनका पौत्र मीचिकुमार भी अविचारी रुपसे दिगम्बर साधु बन गया। अंतर में चैतन्यतत्त्व की प्रतीति तो थी नहीं; भगवान ऋषभदेव मुनि बनकर किसका ध्यान कर रहे हैं, वह भी नहीं जानता था। ऋषभ मुनिराज तो छह मास तक चैतन्य के ध्यान में लीन होकर ज्यों के त्यों खड़े रहे; परन्तु मरीचि आदि द्रव्यलिंगी साधु दीर्घकाल तक भूख-प्यास सहन नहीं कर सके, इसलिये मुनिमार्ग से भ्रष्ट होकर ज्यों-त्यों वर्तने

लगे।अहा, जैनधर्म का मुनिमार्ग तो मोक्ष का मार्ग है! कायर जीव उसका पालन कैसे कर सकते थे? भगवान ऋषभदेव का मुनि होने के एक हजार वर्ष पश्चात् केवलज्ञान हुआ। जिस दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ उसी दिन महाराजा भरतके यहाँ चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। पिता धर्मचक्री बने और पुत्र राजचक्री हुआ। भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती एक ही दिन प्रगट हुए। विवेकी भरतराज अपने चक्रको एक ओर रखकर प्रथम धर्मचक्री सर्वज्ञपिता का केवलज्ञान-महोत्सव मनाने हेतु समवसरण में आये। वहाँ धर्मपिता के दिव्य आत्मवैभव को देखकर तथा चैतन्यतत्त्व की अलौकिकता सुनकर आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने भगवान से पूछा-हे देव! हमारे कुलमें आप तीर्थंकर हुए; तो आप जैसा तीर्थंकर होनेवाला दूसरा कोई उत्तम पुरुष इस समय मेरे परिवार में है?

तब प्रभु की दिव्यध्वनि में उत्तर मिला कि-हे भरत! तुम और तुम्हारे सब पुत्र मोक्षगामी हो;...और तुम्हारा यह पुत्र मरीचिकुमार तो भरतक्षेत्र की इस चौवीसीमें अन्तिम तीर्थंकर (महावीर) होगा।

यह सुनकर भरत को अति हर्ष हुआ कि-अहा मेरे पिता आदि-तीर्थंकर और मेरा पुत्र अन्तिम-तीर्थंकर! तथा मैं भी इसी भव में मोक्षगामी! -इस प्रकार भरतराज की प्रसन्नता से चारों ओर आनन्दमय उत्सव का वातावरण छा गया! प्रभु की वाणी में अन्य विकल्प को अवकाश नहीं हैं। अरे, प्रभु की वाणीमें अपने तीर्थंकरत्व की बात सुनकर भी उस मरीचि ने सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया और भव के कारणरूप मिथ्यात्व को नहीं छोड़ा; वह कुमार्ग में ही लगा रहा।...वाह रे होनहार!

मुनिवेश छोड़कर भ्रष्ट हुए मरीचि ने तापस का वेश धारण करके सांख्यमत का प्रवर्तन किया। उस मूर्ख जीव ने कुतर्क द्वारा कुमार्ग चलाया और मिथ्यामार्ग के सेवन से अपने आत्मा को असंख्य भव तक घोर संसार-दुःखों में डुबोया। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि-अरे जीवो! मिथ्यात्व का पाप मेरुसमान है; उसके समक्ष अन्य पाप तो राई जैसे हैं;-ऐसा जानकर प्राण जाय तथापि मिथ्यात्व का सेवन मत करना। सिंह, सर्पादि के विष से तो एक बार मरण होता है, परन्तु कुमार्ग के सेवन से तो जीव भव-भव में अपार दुःख भोगता है। इसलिये हे भव्यजीवों! भयंकर भवदुःखों से छूटने की तथा शाश्वत आत्मसुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो तुम शीघ्र कुमार्गरूप मिथ्यात्व को छोड़ो, और जिनमार्ग के सेवन द्वारा सम्यक्त्व को अंगीकार करो!

## पूर्वभव-पाँचवे स्वर्ग में देव

अरेरे, तीर्थंकर का कुल और बाह्य में जैनदीक्षा प्राप्त करके भी उस मरीचि ने सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया, आत्मज्ञान नहीं किया, और मिथ्यात्वसहित कुतप के प्रभाव से मरकर पाँचवे स्वर्ग में देव हुआ। मिथ्यात्वसहित होने के कारण स्वर्ग में उसके परिणाम कुटिल थे। स्वर्ग के दिव्य वैभव में भी उसे सुख नहीं मिला। -कहाँ से मिलता? सुख विषयों में कहाँ है? सुख तो आत्मा में है; उसे जाने बिना सुख का वेदन कहाँ से होगा? दस सागरोपम जितने असंख्य वर्षों तक वह जीव स्वर्ग में रहा और अनेक देवांगनाओं सहित स्वर्ग के दिव्य इन्द्रियभोग भोगे; परन्तु उससे क्या? स्वर्गीय सुख दूसरी वस्तु है और आत्मिक शान्ति दूसरी। मूर्ख जीव ही शान्तिरहित स्वर्गीय सुखों को सच्चा सुख मानते हैं। आत्मिक शान्ति का अनुभव करनेवाले धर्मात्मा

बाह्यविषयोंमें कदापि सुखकी कल्पना नहीं करते,-फिर भले ही वे सुख स्वर्ग के हों!

## पूर्वभव-ब्राह्मणकुमार प्रियमित्र और प्रथम स्वर्ग में देव

असंख्य वर्षों तक स्वर्गलोक में रहकर भी लेशमात्र आत्मसुख का आस्वादन किये बिना अन्त में वह (भूतकाल का मरीचि और भविष्य के महावीर) जीव वहाँ से च्युत हुआ। संसार तो संसरणरूप है, इसलिये वह संसारी जीव देवगति से संसरित होकर मनुष्यगति में एक ब्राह्मण का पुत्र हुआ; उसका नाम था प्रियमित्र। पूर्वभव के मिथ्या संस्कार वश अब भी वह मिथ्यामार्ग में प्रवर्तता था। मिथ्यातप के क्लेशपूर्वक मरकर वह जीव प्रथमस्वर्ग में देव हुआ। अपने हिताहित के विवेकरहित वह देव स्वर्ग में भी सुखी नहीं था। दो सागर तक देवोपनीत भोगों में ही काल गँवाकर, भोगों की लालसासहित वह स्वर्ग से मृत्युलोक में गिरा। 'अरेरे, असंख्य वर्ष तक भोगे हुए यह दिव्य भोग अब छूट जायँगे!-ऐसे शोक से संतप्त आर्तध्यानपूर्वक वह देव लोक से च्युत हुआ।

## ब्राह्मणकुमार पुष्पमित्र और दूसरे स्वर्ग में देव

प्रथम स्वर्ग से च्युत हुआ वह जीव इस भरतवर्ष के स्थूणागार नगर में एक ब्राह्मणपुत्र हुआ; -उसका नाम था पुष्पमित्र। बालक पुष्पमित्र एक बार खेल रहा था कि एक संन्यासी-बाबाने उसे लालच दिखाया कि- 'तू हमारे साथ चल, तुझे स्वर्ग का सुख मिलेगा!' स्वर्ग-मोक्ष का भेद नहीं जाननेवाले उस अविवेकी बालकने स्वर्ग के लालच से बाल्यावस्था में ही कुतप धारण किया; ('-भोगहेतु धर्मको, नहिं कर्मक्षय के हेतु को।') अरेरे! एक भावी तीर्थंकर का आत्मा भी मिथ्यामार्ग के संस्कार वश कुमार्ग में फँसकर संसार में कैसा भटक रहा है! दीर्घकाल तक मिथ्यात्वसहित कुतप का क्लेश सहन करके वह मरा और दूसरे ईशान स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ उसने अप्सराओं द्वारा होनेवाले नृत्यागानादि देखने में दीर्घकाल गँवाया। धर्मरहित हीन पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गने उसे च्युत कर दिया;-जिस प्रकार सोते हुए महावत को मदोन्मत्त हाथी पछाड़ देता है, उसी प्रकार मोहनिद्रा में सोते हुए उस देवको पुण्यरुपी हाथी ने नीचे पछाड़ दिया।

## पूर्वभव-अग्निसह ब्राह्मण और तीसरे स्वर्ग में देव

दूसरे स्वर्गसे च्युत हुआ वह देव, श्वेतिकानगरी में अग्निसह नामका ब्राह्मणपुत्र हुआ; वहाँ भी पूर्वभवके मिथ्या संस्कार अनुसार संन्यासी होकर मिथ्यातप का आचरण करके जीवन बिताया और पुनः तीसरे स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ सात सागर की आयु अप्सराओं के साथ व्यतीत कर दी, परन्तु आत्महित किंचित् नहीं साधा।

अरेरे, जैनधर्मको प्राप्त नहीं हुआ वह जीव, भावी तीर्थंकर होने पर भी, अज्ञान के कारण संसार की गतियों में कैसा भटक रहा है? क्षण में मृत्युलोक और क्षण में स्वर्गलोकमें जाता है। पुण्य कर-करके बारम्बार स्वर्गमें जानेपर भी उस जीव को कहीं शान्ति नहीं है, कहीं उसके आत्मा को आराम नहीं है। अहा, जब जीव जैनमार्ग को प्राप्त कर ले, तभी उसे सुख-शान्ति मिलते हैं; इसलिये हे जीवो! तुम जैनमार्ग पाकर महान आदरपूर्वक उसका सेवन करो।

## अग्निमित्र ब्राह्मण और चौथे स्वर्ग में देव

तीसरे स्वर्ग से निकलकर 'भील' और 'भगवान' का वह जीव भरतक्षेत्र की मन्दिर नगरी में एक ब्राह्मण के घर अग्निमित्र नामका पुत्र हुआ। उसके काले केश मानो अन्तरकी मिथ्यात्वरूपी कालिमा सूचित करते हों-इस प्रकार फरफर होते थे। युवावस्था में गृहवास छोड़कर वह पुनः संन्यासी होकर तीव्र तप करते हुए मिथ्यामार्ग का उपदेश देने लगा।

दीर्घकाल तक कुमार्गका प्रवर्तन करके अन्त में असमाधिमरण पूर्वक मरकर वह चौथे माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ। असंख्य वर्षतक स्वर्गलोककी विभूतियों को पुण्यफल में भोगा, परन्तु अन्त में जिस प्रकार सूखा पत्ता डालसे खिर पड़ता है तदनुसार पुण्य सुख जानेपर वह स्वर्गलोक से खिर पड़ा।

## भारद्वाज ब्राह्मण और पुनः चौथे स्वर्ग में

चौथे स्वर्ग से च्युत होकर वह जीव स्वस्तिमती नगरी में भारद्वाज नामक ब्राह्मण हुआ और पुनः गतजन्मकी भाँति संन्यासी होकर कुतप में जीवन गँवाकर चौथे स्वर्ग में गया। स्वर्गलोक की अनेक ऋध्दियाँ तथा देवांगनाएँ आदि वैभव में आसक्तिपूर्वक असंख्य वर्षका जीवन बिता दिया, और जब आयु पूर्ण होने आयी तब उसके कल्पवृक्ष काँपने लगे, उसकी मन्दारमालाएँ मुरझाने लगीं, उसकी दृष्टि भ्रमित होने लगी, शरीर की कान्ति निस्तेज होने लगी। ऐसे चिह्नोंसे उसे विचार आने लगा कि अब स्वर्गकी यह सब विभूति छोड़कर मुझे यहाँ से जाना पड़ेगा। देवियों के विरह से वह विलाप करने लगा। अरेरे! देखो तो सही, जिसने बाह्य वस्तुओं में सुख माना वह उनके वियोग में कैसा विह्वल होता है! अरे मूर्ख! विचार तो कर कि असंख्य वर्षोंतक जिन बाह्यविषयों के बीच रहकर उनका उपभोग करने पर भी तुझे शान्ति या तृप्ति नहीं हुई उनमें सुख कैसा?-सुख हो तो मिले न?...आकुलित होकर मिथ्या प्रयत्न किसलिये करता है? अनंतकाल तक झूरने पर भी विषयों में से कदापि सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

जिसका आशाचक्र टूट गया है, जिसका पुण्यदीपक बुझ जाने की तैयारी में और जिसके मानसिक संताप का कोई पार नहीं है-ऐसा वह देव मरण को निकट देखकर अत्यन्त भयभीत हुआ और हताशापूर्वक भोगोंकी चिंता में आर्तध्यान करने लगा कि-अरेरे! मैं असहायरूप से यह सब छोड़कर मर जाऊँगा? मैं अब किसकी शरण लूँ? कहाँ जाऊँ? किस प्रकार इन भोगों की रक्षा करूँ कौन उपाय करके मृत्यु को रोकूँ? यहाँ से मरकर मैं न जाने किस गति में जाऊँगा?...वहाँ मेरा क्या होगा?...कौन साथ देगा? वास्तव में पुण्य समाप्त होनेपर कोई साथ नहीं देता। देवांगनाएँ देखती रहीं और देवके प्राण छूट गये...

-इस प्रकार विलाप करता हुआ वह देव 'क्षीण पुण्य से मृत्युलोक में' आ पड़ा और अनेक भवों में भटकता फिरा।

## एकेन्द्रियादि पर्यायों में असंख्य भव का अनंत दुःख

जिसके नीच पुण्यका अस्त हुआ है और जो मिथ्यात्वकी आगमें जल रहा है ऐसा वह भील का जीव (भावी महावीर भगवानका जीव) बारम्बार स्वर्ग-मनुष्य के भवों में भ्रमण करता हुआ तथा दुःख भोगता हुआ संसार में भटक रहा है। वह स्वर्ग से भ्रष्ट होकर कितनी ही निचली

त्रसपर्यायों में भटका; अन्त में मिथ्यात्व-रस की पराकाष्ठा के फलरुप स्थावर-एकेन्द्रिय पर्याय में गया और वहाँ दो घड़ी में हजारों बार जन्म-मरण कर-करके दु:खी हुआ। -इस प्रकार असंख्य बार भवभ्रमण कर-करके उसने कल्पनातीत दु:ख सहन किये। सिद्ध भगवन्तों का सुख और एकेन्द्रिय जीवों का दु:ख-यह दोनों वचनातीत हैं। दीर्घकाल तक उस जीवने स्थावरपर्यायों में इतने अधिक दु:ख भोगे कि जिनका वर्णन भी शास्त्रकार नहीं कर सकते। जिस प्रकार सिद्धोंका सुख किन्हीं संयोगों से नहीं होता, 'स्वभावसिद्ध' है; उसी प्रकार निगोद के जीवों का दु:ख भी संयोग से हुआ नहीं है, परन्तु भावकलंक की प्रचुरतारुप उनके अपने परिणाम से हुआ है. इसलिये 'परिणामसिद्ध' है। किसी मनुष्य को धधकती हुई अग्नि में डालकर लौहरस के साथ गला दे-वह दु:ख भी जिसके समक्ष अत्यल्प माना जाय-ऐसे घोरातिघोर दु:ख निगोदमें एकेन्द्रिय जीवोंको होते हैं। ऐसा दु:ख उस जीव ने मिथ्यात्व के कारण अनेक भवोंतक भोगा।

तथापि. देखो तो सही, चेतनके स्वभाव की अद्‌भुतता...कि ऐसे दु:खों के बीच भी अपने चैतन्यस्वभावको उसने नहीं छोड़ा; स्वयं अपने चेतनप्राण द्वारा वह जीता ही रहा! तथा अनन्त दु:ख भोगने पर भी अपने सुखस्वभाव को नहीं छोड़ा...इसीलिये तो दु:ख से परिमुक्त होकर वही जीव आज अनन्त सुखसहित सिद्धपदमें विराजमान है....वाह रे वाह चैतन्य! तेरा स्वभाव! वास्तव में अद्‌भुत है।-

**निजभाव को छोड़े नहीं, परभाव किंचित् ना ग्रहे,**
**ज्ञाता-द्रष्टा जो सर्व का सो मैं, एम ज्ञानी चिंतन करे।**

अत्यधिक दु:खोंसे पीड़ित वह महावीर का जीव,-मानो अब उनसे छूटने तथा भगवान होने हेतु बाहर आ रहा हो! -तदनुसार बड़ी कठिनाई से दीर्घकाल में कुयोनियों से निकलकर पुन: मनुष्य हुआ; निगोद दशा को अन्तिम प्रणाम करके सदा के लिये छोड़ दिया।

## [निगोद से निकलकर मोक्षकी ओर-]
## राजगृहीनगरी में स्थविर ब्राह्मण और पाँचवें स्वर्ग में

हम भगवान महावीर के पूर्व भवों की कथा पढ़ रहे हैं। अति दीर्घकाल तक एकेन्द्रिय पर्याय में तथा विकलत्रय में दु:ख के ही अवतार कर-करके अंतमें वह जीव राजगृही में एक ब्राह्मण के घर पुत्ररुप में उत्पन्न हुआ; उसका नाम था स्थविर। राजगृही...जहाँ से स्वयं कुछ भव पश्चात् धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेवाला है,-ऐसी उस नगरी में अवतरित वह जीव अभी तो धर्म जानता भी नहीं है; अभी उसने मिथ्यात्वके पाप का भार उतारा नहीं है। राजगृही नगरी की शोभा तो अद्‌भुत थी, परन्तु वहाँ अवतरित जीव भी धर्म के बिना शोभा नहीं देता था। कोयले को भले ही सुवर्ण मंजूषा में रखो, तो क्या वह वहाँ शोभा देगा? अपने पुण्य पाप कर्म के अनुसार जीव संसार में अनेक वस्तुएँ ग्रहण करता और छोड़ता है। घोर परिभ्रमण के पश्चात् बड़ी कठिनाई से मनुष्यभव को प्राप्त वह जीव अभी भी जागृत नहीं हुआ और नास्तिक-पंथ का संन्यासी बनकर मिथ्यात्व में ही पड़ा रहा; अज्ञानपूर्वक कुतप करके वह पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग में देव हुआ, और दस सागरपर्यंत वहाँ रहा।

वहाँ की आयु पूर्ण होने पर वह पुन: राजगृही में अवतरित हुआ। भविष्यमें इसी राजगृही से वह धर्मचक्रका प्रवर्तन करनेवाला है-इसी से मानो अव्यक्तरुप से भी उसकी ममता हो इसलिये

वह जीव राजगृही में राजकुमार के रूप में अवतरित हुआ।

## [भगवान महावीर : पूर्वभव]
## राजगृहीनगरी में विश्वनन्दि राजकुमार

### वैराग्य, धर्मप्राप्ति, जिनदीक्षा, निदानबंध, दसवें स्वर्गमें

अपना भारतदेश अर्थात् तीर्थंकरों की पुण्यभूमि। उसमें भी मगध देश और उसकी भी राजगृही नगरी वह विशिष्ट तीर्थसमान है। वहाँ पुण्यवन्त धर्मात्मा जीव निवास करते हैं और जैनधर्म का प्रताप वर्तता है। अपनी कथा का मुख्य पात्र अर्थात् अपने चरित्रनायक का जीव इस धर्मनगरी में विश्वभूति राजाके पुत्ररूप में, धर्म प्राप्त करने हेतु अवतरित हुआ-'विश्वनन्दि' उसका नाम।

राजा विश्वभूति श्वेत केश देखकर संसार से विरक्त हुए और अपने भ्राता विशाखभूति को राज्य सौंपकर तथा विश्वनन्दिकुमार को युवराजपद देकर, चार सौ राजाओं सहित जिनदीक्षा लेकर मुनि हुए।

विशाखभूतिने सुन्दर ढंग से राज्य का संचालन किया और विश्वनन्दि युवराज ने उन्हें अच्छा सहयोग दिया। युवराजने एक अति सुन्दर उद्यान बनवाया था; उसके सुन्दर पुष्प मानो 'चैतन्य उद्यान' विकसित होने की पूर्वसूचना देते हों इसप्रकार सुशोभित होते थे। यद्यपि अभी चैतन्यउद्यान खिला नहीं था, इसलिये चैतन्य-उद्यान की अतीन्द्रिय शोभा को नहीं जाननेवाला वह भव्य, बाह्य उपवन की सुन्दरता पर मुग्ध था। वह उद्यान अनेक प्रकार के उत्तम वृक्षों से शोभायमान था, बारम्बार मुनिवर पधारकर उस उद्यान की शोभा में अभिवृद्धि करते, और वहाँ असमय ही आम्रवृक्ष फलते थे। उस अद्भुत उद्यान के प्रति युवराज विश्वनन्दि को अति ममत्व था;-क्यों न हो?-जबकि वह उद्यान ही उसके चैतन्य उद्यान के खिलने में कारणभूत होना है!

एक बार उसके काकाके पुत्र राजपुत्र 'नन्द-विशाख' ने (विशाखनन्दिने) वह अद्भुत उद्यान देखा और उसका मन मोहित हो गया। उसने माता-पिता के पास वह उद्यान उसे दिलवा देने की हठ की। अपने पुत्र को उद्यान दिलवा देनेके लिये विशाखभूतिने कपटपूर्वक विश्वनन्दि को काश्मीर राज्य पर विजय प्राप्त करने के बहाने राज्य से दूर भेज दिया। आज्ञाकारी युवराज शत्रुको जीतने के लिये सेनासहित चल दिया। उसके जानेपर उसके चचेरे भाई नन्दविशाखने उसके प्रिय उद्यान पर अधिकार कर लिया। शत्रुराज्यपर विजय प्राप्त करके युवराज विश्वनन्दि शीघ्र ही राजगृही लौट आया। उसके मनमें अपने उपवन की चिन्ता थी; उपवन को देखे बिना उसे चैन नहीं पड़ता था। (हे भव्य पाठक! कुछ ही देर में तुम देखोगे कि ऐसी घटनाएँ भी भव्य जीवोंको किसप्रकार हित का कारण होती हैं!)

राजगृही नगरी में आकर उसने देखा तो प्रजाजन भयभीत हो रहे हैं। नन्द-विशाख (चचेरा भाई) उसके उद्यान पर आधिपत्य जमाकर उससे लड़ने को तैयार हुआ है। युवराज विश्वनन्दि ने उसके साथ युद्ध किया। अत्यन्त वीरता पूर्वक पत्थरका एक खम्भा उठाकर उसके प्रहारों से उसने शत्रुसेना के छक्के छुड़ा दिये। उसके पराक्रम से भयभीत होकर नन्द-विशाख भागा और जान बचाने के लिये एक वृक्षपर चढ़ गया। परन्तु अति बलवान विश्वनन्दिने क्रोधपूर्वक उस वृक्ष को उखाड़ डाला। अन्त में नन्दविशाख उसकी शरण में आया और चरणों में गिरकर क्षमा याचना करने लगा।

यह देखकर उदार हृदय विश्वनन्दि को दया आयी और उसका क्रोध शांत हो गया। अरे, भाई के साथ युद्ध करके अब मैं पितातुल्य काका विशाखभूति को क्या मुँह दिखाऊँ?- इस प्रकार लज्जित होकर वह राज्य छोड़कर दीक्षा हेतु वन में जाने को तैयार हुआ। 'दुर्जनों द्वारा किया गया अपकार भी सज्जनों को कभी-कभी उपकार रुप हो जाता है।' जिस उद्यान के मोहवश युद्ध करना पड़ा, उसे भी छोड़कर मुनिदीक्षा ग्रहण करने हेतु वह राजकुमार दिगंबर जैनाचार्य के निकट जा पहुँचा। वन में संभूतस्वामी नामके दिगम्बर जैनमुनि संघसहित विराज रहे थे। रत्नत्रयपुष्पों से सुशोभित वह मुनिसंघ धर्म के सुन्दर उपवन समान था। विश्वनन्दिने मुनिराजके चरणों में नमस्कार किया और उनके श्रीमुख से राग-द्वेष रहित चैतन्य के शुध्द स्वरुप का श्रवण करके, स्वानुभूतिपूर्वक दिगम्बर जिनदीक्षा अंगीकार की। राजा विशाखभूतिने भी जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। भविष्य के महावीर भगवान का जीव विश्वनन्दि अब बाह्य उपवन का ममत्व छोड़कर अंतर में रत्नत्रय पुष्पों से सुशोभित चैतन्य-उपवन में विचरने लगा; तपद्वारा उसका चैतन्य-उद्यान खिल उठा था।

[अहा, अपने चरित्रनायक प्रथम इस भव में धर्म को प्राप्त हुए। चैतन्य की आराधना द्वारा उन्होंने इसभव में भवकट्टी की। परन्तु उस आराधना में एक बार निदान शल्य के कारण बीच में भंग पड़ गया। पश्चात् मोक्ष की अखण्ड आराधना उन्होंने सिंह के भव में प्रारम्भ की इसलिये शास्त्रकारोंने सिंह के भव में सम्यक्त्व-प्राप्ति का वर्णन मुख्य रुप से किया है-जो हमें अखण्ड आराधना की प्रेरणा देता है।]

दीक्षा लेने के पश्चात् राजा विशाखभूति तो नि:शल्य रत्नत्रयका पालन करके दसवें स्वर्ग में गये। इधर राजगृही में उनका पुत्र नन्दविशाख-कि जिसके अन्याय के कारण विश्वनन्दि ने राज्य छोड़कर दीक्षा ली है-वह शक्तिहीन तथा पुण्यहीन था; कुछ ही समय पश्चात् एक राजाने उसका राज्य जीत लिया और वह रास्ते पर भटकता हुआ भिखारी बन गया; राजा मिटकर रंक हो गया; वह भीख माँगता हुआ मथुरा की गलियों में घूमने लगा।

अब अपने चरित्रनायक महात्मा विश्वनन्दि का क्या हुआ? वह देखें। उपवन का मोह छोड़कर मुनि हुए विश्वनन्दि मुनि यथाशक्ति रत्नत्रय धर्म का पालन करते थे; अनेक बार उपवासादि भी करते थे; एक बार उन्होंने मासोपवास किये; जैनमुनि उपवास में पानी भी नहीं पीते; तथा उपवास के अतिरिक्त दिनों में भी मात्र एक ही बार आहार-जल ग्रहण करते हैं। इसप्रकार अन्न-जलरहित मासोपवासी वे विश्वनन्दि मुनिराज मथुरानगरी में पारणा हेतु पधारे और नीचे देखकर मार्ग में चल रहे थे; इतने में एक बैलने उन्हें सींग मारा और वे धरतीपर गिर पड़े।

-ठीक उसी समय राज्यभ्रष्ट नन्दविशाख वहाँ एक वेश्या के घर के पास खड़ा था; उसने यह दृश्य देखा और पूर्वके वैरका स्मरण करके अट्टहास्यपूर्वक कटाक्ष किया कि-रे विश्वनन्दि! कहाँ गया तेरा वह बल? तूने तो विशाल खम्भा उखाड़कर सारी सेना को जीत लिया था और मैं भागकर वृक्षपर चढ़ गया था तब पूरे वृक्ष को अपने बाहुबल से उखाड़ दिया था, -उसके बदले आज एक बैल के धक्के से गिर पड़ा है! -कहाँ गया तेरा बाहुबल?!

एक ओर मासोपवास की अशक्ति के कारण बैलके धक्केसे गिर पड़ना, और दूसरी और भाई द्वारा पूर्वकालिक वैर का स्मरण करके कटाक्ष करना...उससे विश्वनन्दिमुनि का सुषुप्त कषाय जागृत हो उठा; क्रोधावेश में वे अपने मुनिपद को भूल गये! रत्नत्रय का अमूल्य निधान और उसके महाफल मोक्ष को भूलकर मानो उन्होंने अमूल्य रत्न को पानी के भाव बेच दिया! क्रोधवश उनके

नेत्रों से अंगारे झरने लगे और वे बोल उठें-अरे दुष्ट! तू मेरे तपकी हँसी उड़ाता है! परन्तु देख लेना इस तप के प्रभाव से भविष्य में मैं तुझे सबके सामने छेद डालूँगा! -इस प्रकार अज्ञानवश वे निदान कर बैठे कि-मेरे इस तपका कोई फल हो तो मैं अगले जन्म में अद्भुत शारीरिक शक्ति प्राप्त करूँ और इस दुष्ट नन्द-विशाख को मारूँ!-ऐसे निदानशल्य के कारण वे रत्नत्रय से भ्रष्ट हो गये, तथा विद्याधर की विभूति देखकर उसका भी निदान कि मेरे तप के प्रभाव से मुझे ऐसी विभूति प्राप्त हो!

रे विश्वनन्दि! यह तुमने कैसी मूर्खता की? रत्नत्रयके अमूल्य रत्न को तुमने क्रोध में आकर फेंक दिया? रत्नत्रय के फलमें शारीरिक बल की अभिलाषा करके तुम मिथ्या दृष्टि हुए, चैतन्यवैभव को भूलकर तुमने पुण्यवैभव की चाह की, और निदानशल्य से अपने आत्माको भयंकर दुःख में डाल दिया।

इस प्रकार, तीव्र क्रोधाग्नि में जिसने अपने सम्यक्त्वरत्न को जला दिया है-ऐसे उन विश्वनन्दि मुनिका जीव, निदान शल्यसहित मरकर, तपके शेष पुण्यप्रताप से महाशुक्र नामके दसवें स्वर्गमें देव हुआ। वहाँ सोलह सागर तक उसने भोगलालसा से इन्द्रसमान वैभव का उपभोग किया। अनुपम जैनव्रत प्राप्त करके भी उनका पूरा लाभ वह नहीं ले सका। जिसप्रकार कोई मूर्ख पुरुष अमृतपान करके उसका वमन कर दे, तद्नुसार उसने रत्नत्रयरुपी-अमृत का निदान शल्य द्वारा वमन कर दिया और पुनः संसार में भटकने लगा। [रे भवितव्य! यह जीव है तो तीर्थंकर होनेवाला...किन्तु...भरतक्षेत्र का 'चौवीसवाँ' तीर्थंकर होनेवाला है; और कालक्रमानुसार चौबीसवें तीर्थंकर के अवतार में अभी दीर्घकाल लगेगा...इसलिये बीच का समय संसार भ्रमण में बिताने के लिये ही निदान शल्य किया।]

पश्चात् नन्द-विशाख का जीव भी किसी कारणवश वैराग्य प्राप्त करके मुनि हुआ। जैनदीक्षा लेकर उसने तप किया; परन्तु एक बार आकाशमार्ग से जाते हुए किसी विद्याधर की आश्चर्यजनक विभूति देखकर वह भोगों की वांछा से ऐसा निदानशल्य कर बैठा कि-मेरे धर्मके फलमें मुझे भी ऐसी विभूति प्राप्त हो! अरेरे! धर्म के फलमें उसने पुण्यभोगों की याचना की,-अमृत के फलमें विष मांगा,-इसलिये वह भी मिथ्यादृष्टि हुआ और उसके संचित पुण्य अल्प होगये; हाथमें आये हुए धर्मरत्न को फेंककर उसके बदले में उसने विषय-भोगों का कोयला माँगा,-धिक्कार है विषयाभिलाषा को!

व्रतभ्रष्ट ऐसे उन विशाख मुनि का जीव भी निदान बंध सहित मरकर दसवें स्वर्ग में देव हुआ; और विषय-भोगों की लालसा में ही असंख्य वर्ष व्यतीत किये।

[प्रिय पाठक! महावीर होनेवाला यह विश्वनन्दि का जीव स्वर्ग से च्यवकर अब त्रिपृष्ठ वासुदेव और उसका भाई नन्दविशाख प्रतिवासुदेव होगा,। वह कथा आप अगले प्रकरण में पढ़ेंगे।]

## जैनधर्म अर्थात् पंच परमेष्ठी की नगरी

हमें महाभाग्यसे इस नगरी में प्रवेश मिला है। आत्मिकसुख इसी नगरी में प्राप्त होता है; इस नगरी का रहन-सहन ही कोई भिन्न प्रकार का, अपूर्व एवं रागरहित होता है। इस वीतराग नगरी के निवासी भगवंत पंचपरमेष्ठी तथा साधर्मी जगत से भिन्न भाववाले होते हैं।

आओ...इस नगरी में आये हो तो अब इस नगरी के आत्मवैभव को (तीर्थंकरों के महापुराण द्वारा) जान लो। यह समस्त वैभव तुम्हारा ही है। वह दिखलाकर भगवन्तों ने उपकार किया है।

## भगवान महावीर : पूर्वभव : त्रिपृष्ठ वासुदेव

जहाँ हम रहते हैं उस भरतक्षेत्र में, प्रत्येक कालचक्र में (अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी प्रत्येक के दस कोड़ा कोड़ी सागरोपम में) दो बार २४-२४ तीर्थंकर भगवन्त अवतरित होते हैं। वे सर्वज्ञ होकर, ज्ञानानन्द आत्मा का स्वरुप समझाकर उसकी वीतरागी उपासनारूप मोक्षमार्ग बतलाते हैं, और उनके उपदेश से लाखों-करोड़ों-असंख्य जीव धर्म प्राप्त करके संसार से मुक्त होते हैं। उनमें इस चौवीसी के अन्तिम तीर्थंकर भी महावीर भगवान के मोक्षगमन का ढ़ाई हजारवें वर्ष का अभूतपूर्व महोत्सव भारतभर में मनाया गया था। उस अवसर पर पूज्य श्री कानजी स्वामी की प्रेरणा से लिखे गये इस ग्रन्थ में भगवान महावीर का मंगल-जीवन आप पढ़ रहे हैं। उनके पूर्वभवों का वर्णन चल रहा है।

अपने चरित्रनायक महावीर का जीव दसवें स्वर्ग से वासुदेवरूप में कहाँ उत्पन्न होता है, वह देखें-भरतक्षेत्र की पोदनपुरी में भगवान ऋषभदेव-बाहुबलि के वंश में असंख्य बड़े-बड़े राजा हुए और मोक्ष प्राप्त किया। उनमें अनुक्रम से प्रजापति नामके राजा हुए। उनके दो पुत्र थे-१. विशाखभूति का जीव (जो पूर्वभव में विश्वनन्दि के काका थे वे) विजय बलदेवरूप में अवतरित हुए; और २. विश्वनन्दि (महावीर का जीव) त्रिपृष्ठ वासुदेव रूप में अवतरित हुए।

उसी समय पूर्व भव का नन्दविशाख का जीव विद्याधरों की अलकापुरी नगरी में राजकुमाररूप से अवतरित हुआ, उसका नाम अश्वग्रीव! उस अश्वग्रीव को अनेक विद्याएँ सिद्ध हुई, तथा दस हजार आरेवाला सुदर्शन चक्र, दंड, छत्र, खड्ग आदि अनेक दैवी आयुध प्राप्त हुए। तीनों खण्ड पर विजय प्राप्त करके वे आधे भरतक्षेत्र के स्वामी (अर्धचक्री, प्रतिवासुदेव) हुए। दग्ध पुण्यके फल का उपभोग करते हुए उन अश्वग्रीव की हजारों राजा सेवा करते थे। पुण्य से क्या नहीं मिलता? अरे, आराधक दशा में बाँधकर पश्चात् निदान द्वारा जलाये हुए दग्ध-पुण्य का भी ऐसा फल है, तो आराधक भावसहित बाँधे हुए आश्चर्यकारी सातिशय-पुण्य का क्या कहना!...तथा पुण्यराग से पर ऐसी चैतन्य आराधना के वीतरागी आनन्द की तो बात ही क्या!...धन्य आराधना! धन्य वीतरागता! धन्य उसका प्रशंसनीय फल!

एक दिन पोदनपुर में महाराजा प्रजापति दोनों पुत्रों (विजय और त्रिपृष्ठ) सहित राजसभा में बैठे थे। उस समय मंत्रीने निवेदन किया-हे स्वामी! आपकी प्रजा सर्व प्रकार से सुखी होने पर भी, आजकल एक महा-भयंकर सिंहने लोगों की हिंसा करके प्रजा को भयभीत कर दिया है। उसका उपद्रव इतना बढ़ गया है कि लोग इधर-उधर आ-जा भी नहीं सकते!

यह सुनते ही राजा को खेद हुआ कि-अरे! खेत में अनाज की रक्षा हेतु बाँस का बिजूका (बनावटी आदमी) हो उससे भी हिरन आदि प्राणी भयभीत होकर भागते हैं और फसल की रक्षा होती है; फिर मैं इतना पराक्रमी होकर भी अपनी प्रजा की रक्षा न कर सकूँ यह तो शर्म की बात है। जो प्रजा का दुःख दूर न कर सके वह राजा किस काम का? -ऐसा विचार कर राजा ने सिंह को मारने के लिये सेना को तैयार होने की आज्ञान दी।

इतने में त्रिपृष्ठकुमार उठे और हँसकर बोले-पिताजी! एक हिंसक पशु को मारने के लिये स्वयं आपको कष्ट उठाना पड़े, तो फिर हम किस काम के? इतने छोटे से काम के लिये आपका जाना आवश्यक नहीं है। मैं अभी जाकर सिंह को मारता हूँ। ऐसा कहकर त्रिपृष्ठकुमार वन में गये। सिंह को गुफा से बाहर निकाला। एक हाथ से सिंह के अगले पंजे पकड़े और दूसरे हाथसे झपट मारकर उसे नीचे पछाड़ दिया; फिर जिस प्रकार बजाज कपड़ा फाड़ता है तद्नुसार सिंह का मुँह फाड़कर उसको चीर दिया। [-मानो उस सिंह को मारने के क्रूर परिणामवश त्रिपृष्ठ को भी अगले भवों में सिंह की पर्याय में जाना पड़ेगा। पाठक! ऐसे पराक्रम की घटना में वासुदेव को हिंसा में आनन्द माननेरूप 'हिंसानन्दी-आर्त्तध्यान' के जो क्रूर परिणाम वर्तते हैं वह उन्हें नरकगति का कारण होते हैं।]

सिंह को मारने से उन राजकुमार के पराक्रम की प्रशंसा चारों ओर फैल गई। तत्पश्चात् एक बार 'कोटि शिला' को ऊपर उठाकर उन्होंने महान पराक्रम किया। इस कोटिशिला से करोड़ों मुनिवरों ने मोक्ष प्राप्त किया है। साधारण मनुष्य उसे ऊपर नहीं उठा सकते; नारायण-वासुदेव ही उसे उठाते हैं। एक बार जो प्रथम तीर्थंकर का पौत्र था, वही जीव असंख्य वर्ष पश्चात् उन्हीं के कुल में अवतरित होकर प्रथम नारायण-अर्धचक्री हुए। नौ नारायणों में यह प्रथम नारायण, श्रेयांसनाथ तीर्थंकरके तीर्थ में हुए।

विद्याधरों के राजा ज्वलनजटीने अपनी पुत्री स्वयंप्रभा का विवाह त्रिपृष्ठ के साथ किया, तब उसके प्रतिस्पर्द्धी राजा अश्वग्रीव को अपमान लगा कि विद्याधरने श्रेष्ठ कन्या मुझे न देकर त्रिपृष्ठको क्यों दी? इससे क्रोधित होकर वह त्रिपृष्ठ के साथ् युष्द करने चला। उधर त्रिपृष्ठकुमार ने भी युद्ध की तैयारी प्रारम्भ कर दी; उसके लिये वह विद्या सिद्ध करने लगा। दूसरों को जो बारह वर्षों में सिद्ध होती हैं-ऐसी विद्याएँ त्रिपृष्ठको पुण्यप्रताप से मात्र सात दिन में सिद्ध हो गईं। अहा, पुण्य द्वारा जगत में क्या साध्य नहीं है? पुण्य से जगत में सब कुछ मिल जाता है, परन्तु चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख उससे प्राप्त नहीं होता। इसलिये तो मुमुक्षु जीव कहते हैं कि-अरे, ऐसे हत्-पुण्य का हमें क्या करना है!

[अरेरे! भावी तीर्थंकर ऐसे यह महात्मा वर्तमान में हिंसा के हेतुभूत लौकिक विद्याएँ साधनेमें लगे हैं...परन्तु अब कुछ ही भवपश्चात् वे अलौकिक आत्मविद्या साधेंगे तथा जगत के जीवों को भी उसे अलौकिक वीतरागी विद्या का बोध देंगे, और तब उनकी सच्ची वीरता विकसित हो उठेगी और वे 'महा-वीर' कहलायेंगे।]

शस्त्रविद्या साधकर दोनों भाइयों ने युद्ध के लिये प्रस्थान किया। घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ। अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ दोनों शूरवीर योद्धा थे; युद्ध सम्बन्धी आर्तध्यान में इतने तल्लीन थे कि नरकगति के कर्म आत्मा में प्रविष्ट हो रहे हैं उसकी भी खबर नहीं रही। लाखों लोग आश्चर्य से, भय से तथा कुतूहल से युद्ध देख रहे थे। उनमें से कोई तो वैराग्य के परिणाम कर रहे थे कि अरेरे, तुच्छ जैसी बात के लिये यह लोग लड़ रहे हैं!...और कोई मूर्ख जीव युद्ध के आनन्द का-हिंसानन्दी रौद्रध्यान कर-करके व्यर्थ ही अशुभकर्म बाँध रहे थे। जीवों के परिणाम की भी विचित्रता है कि-एक ही प्रसंग पर भिन्न-भिन्न जीव भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणाम करते हैं। इसलिये तो कहा है कि-"हैं जीव विधविध, कर्म विधविध, लब्धि है विधविध अरे!' उसमें तू अपना कल्याण कर लेना, जगत की ओर देखने में मत रुकना।

युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व अश्वग्रीव विद्याधर के दूतने आकर त्रिपृष्ठ से धमकी भरे वचन कहे; तब उनका उत्तर देते हुए त्रिपृष्ठ ने कहा-हे दूत! तेरे राजा को आकाश में ऊँचे उड़ने तथा विद्याधरपने का अभिमान होगा; परन्तु आकाश में तो कौए भी उड़ते हैं; -उस में क्या है? याद रखना, कि-तीर्थंकर और चक्रवर्ती कभी विद्याधरों के यहाँ नहीं होते, वे तो भूमिगोचरी राजाओं के यहाँ ही होते हैं।

तब अश्वग्रीव के दूतने कहा -अरे, हमारे महाराज के पास दिव्यचक्र है; उनके प्रताप को क्या आप नहीं जानते? सूर्यसमान तेजस्वी वह चक्र बड़े-बड़े शत्रुओं का छेदन कर देता है...

त्रिपृष्ठ ने उसे बोलते हुए रोककर कहा-हे दूत! तू यहाँ से चला जा; अपने राजा की व्यर्थ प्रशंसा मत कर, युद्ध में उसकी परीक्षा हो जायगी। रणभेरी बज उठी...दोनों ओर के योध्दा सावधान हो गये। जिस प्रकार मुमुक्षु जीव शुद्धोपयोग द्वारा मोह को नष्ट करने हेतु तत्पर होते हैं तदनुसार शूरवीर योध्दा शत्रु का घात करने हेतु तत्पर हो गये। सामने शत्रु खड़े होने पर भी वे कुशल योद्धा गंभीर एवं शांत दिखायी देते थे; क्योंकि कुशल पुरुष आकुलता का प्रसंग आने पर भी व्याकुल नहीं हो जाते...अथवा मोहशत्रु का हनन करने में तत्पर हुआ शूरवीर साधक स्वयं शांत रहकर ही मोह को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार गुरु उत्तम शिष्य को आत्मसाधना हेतु प्रोत्साहित करते हैं, उसी प्रकार राजा अपने सेनापतियों को प्रशंसा द्वारा युद्ध के लिये उत्साहित कर रहे थे। जब राजसेवक बलदेव-वासुदेव के लिये कवच लाये तब अपनी शूरवीरता के अभिमान से उन्होंने उसे पहिनने से इन्कार किया कि-'शूरवीर को किसी अन्य का रक्षण कैसा?' -शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से स्वयंभू-सर्वज्ञ होनेवाले अरिहंतों को किसी अन्य साधन की कहाँ आवश्यकता होती है?

त्रिपृष्ठ का पराक्रम अद्भुत था। जिस प्रकार सम्यक्त्व हेतु तत्पर मुमुक्षु योद्धा विशुद्धि के प्रहार द्वारा मिथ्यात्वशत्रु के तीन टुकड़े कर देता है, तदनुसार त्रिपृष्ठने प्रथम प्रहार में ही शत्रुसेना को तीन भागों में विभक्त कर दिया; जिस प्रकार आत्मसाधना हेतु कटिबद्ध हुआ शूरवीर साधक शरीर की भी परवाह नहीं करते उसी प्रकार विजय के लिये उन्मत्त योध्दा चारों ओर शस्त्र से विंधे हुए अपने शरीर की भी परवाह नहीं करते थे। अरे, खेद है कि वे योद्धा क्रोधावेशमें इस प्रकार निर्भयरूप से शरीर को तो छोड़ देते थे, परन्तु शरीर से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान करने में अपनी शक्ति नहीं लगाते थे। जितनी शक्ति वे युध्द में लगा रहे थे उतनी आत्मसाधना में लगाते तो कितना अपूर्व लाभ होता!

'युद्ध में जिनके साथ कोई वैर न हो ऐसे हाथी, घोड़े तथा सैनिकों को भी अरे, मात्र अपने स्वामी की प्रसन्नता के लिये मारना पड़ता है। धिक्कार है ऐसी पराधीन चाकरी को!'-ऐसा विचारकर अनेक योद्धाओंने इस युद्ध के बाद तुरन्त चाकरी छोड़ने का निर्णय कर लिया था। जिन्हें हिंसा नहीं रुचती थी ऐसे अनेक जीवों का चित्त युद्ध से उदास होनेपर भी युध्दकर रहे थे। कोई योद्धा युद्धभूमि में घायल होकर मरने की तैयारी में हो, तब घायल करनेवाला योध्दा स्वयं ही उसे पानी पिलाता था और पंचपरमेष्ठी का नाम सुनाता था। इस प्रकार वे युद्धभूमि में ही वैरभाव को भूल जाते थे। घायल शत्रुपर कोई पुन: प्रहार नहीं करता था, अपितु उसे आश्वासन देते थे। ऐसे विभिन्न दृश्य युद्धभूमि में दिखांयी देते थे।

विजय और त्रिपृष्ठ द्वारा अपने कितने ही शूरवीर विद्याधरों का नाश होते देखकर अश्वग्रीवने

चक्र हाथ में लेकर गर्जना की; तब भावी महावीर ऐसे त्रिपृष्ठने निर्भयरुप से कहा-रे अश्वग्रीव! तेरी गर्जना व्यर्थ है; जंगली हाथी की गर्जना से हिरन डरते हैं, सिंह नहीं; कुम्हार के चाक जैसे तेरे इस चक्रसे मैं नहीं डरता...चला अपने चक्रको!

अन्तमें, अत्यन्त क्रोधित होकर अश्वग्रीवने वह चक्र त्रिपृष्ठ पर फेंका...मानो चक्र के बहाने उसने अपना पुण्य ही फेंक दिया। भयंकर ज्वालाएँ छोड़ता एवं अत्यन्त गर्जन करता हुआ वह चक्र तीव्रगति से चला। दोनों सेनाओंमें भयंकर हाहाकार मच गया। प्रथम तो जिसने अश्वग्रीव के पुण्य का ही छेदन कर दिया है ऐसा वह चक्र आश्चर्यपूर्वक त्रिपृष्ठ के दाएँ हाथपर आया; उसकी ज्वालाएँ शांत हो गई, गर्जनाएँ रुक गईं और वह त्रिपृष्ठ के आदेश की प्रतीक्षा करने लगा। तुरन्त वही चक्र क्रोधावेश में त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव पर फेंका। (रे महात्मा! यह हिंसक चक्र तुम्हारे हाथ में शोभा नहीं देता; अब तुम धर्मचक्र के प्रवर्तक बननेवाले हो। तुम्हारा चक्र जीवों को मारनेवाले नहीं किन्तु तारनेवाला होगा।)

क्रोधपूर्वक त्रिपृष्ठ द्वारा छोड़े हुए उस चक्रने अश्वग्रीव की ग्रीवा को छेद दिया और वे भरतक्षेत्र के प्रथम वासुदेव के रूप में प्रसिद्ध हुए। त्रिखण्ड का राज्य एवं अपार विभूति होने पर भी सम्यक्त्व रहित वह जीव किंचित् सुखी नहीं था। भोगसामग्री में तल्लीन ऐसा वह जीव दानादि धर्मको जानता नहीं था और सदा अति आरम्भ-परिग्रह में डूबा रहता था। अरे, विषयसमुद्रको पार करने हेतु नौका समान जो जैन शासन, वह तो आत्मा में ही शान्तिरूप शाश्वत सुख बतलाकर विषयों से सुखबुद्धि छुड़ाता है, -तो ऐसा 'वीर-शासन' प्राप्त करके 'त्रिपृष्ठ जैसी मूर्खता' कौन करेगा? और विषयों की आग में कौन जलेगा? जिनोक्त धर्म की अवहेलना करके जो विषयों में लुब्ध होता है-वह मूर्ख प्राणी हाथमें आये हुए अमृत को छोड़कर विषपान करता है। राग का नाश होने से आत्मा को जिस स्वाभाविक शान्तिरूप परम सुख की प्राप्ति होती है-क्या उसका अनन्तवाँ भाग भी विषयांध मोही जीवों को विषयों में से प्राप्त होता है?-नहीं। विषयरहित वीतरागभाव से ही जीव को शान्ति प्राप्त होती है।

## त्रिपृष्ठ मरकर सातवें नरक में; विजय-बलभद्र मोक्ष में

(दो भाई-एक मोक्ष में, दूसरा नरक में) त्रिपुष्ठ कुमार ने (अपने चरित्रनायक महावीर के जीव ने) विजय बलभद्रसहित त्रिखण्ड के राज्य का दीर्घकाल तक उपभोग किया। योग्य समयपर उनके पिता प्रजापति ने दीक्षा ग्रहण की और केवलज्ञान प्रगट करके निर्वाण प्राप्त किया। दूसरी ओर इष्ट एवं मनोज्ञ (-वास्व में अनिष्ट एवं बुरे) विषयों में ही जिसका चित्त लीन है ऐसा वह त्रिपुष्ठ कुमार निदान बंध के कारण विषयों के रौद्रध्यान सहित निद्रावस्था में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ...और जिसका असंख्यात वर्षों का घोरातिघोर दुःख चिन्तन में भी नहीं आ सकता ऐसे सातवें नरक में जा गिरा! अरे रे! एक-एक क्षणकी तीव्र विषयासक्ति के पापफल में वह जीव असंख्य वर्ष के महा भयानक दुःखों को प्राप्त हुआ।-ऐसे घोर दुःखफलवाले विषयसुखों को कौन सुख कहेगा? उन नरकदुःखों का वर्णन भी जिज्ञासु को संसार से भयभीत कर देता है। अरे, ऐसे दुःख?...उनसे बचना हो तो अज्ञान को छोड़कर आत्मज्ञान करना चाहिये..विषयों के प्रति वैराग्य करना चाहिये। यह महावीर का जीव पूर्वकाल में अज्ञानदशा से भवभ्रमण करता हुआ त्रिपृष्ठ वासुदेव जैसा महान अवतार प्राप्त करके भी विषय-कषायों में लीनतावश सातवें नरक में गया,

-उससे ज्ञात होता है कि-अरे जीव! विषय-कषाय किं जिन्हें मूर्ख-अज्ञानीजन ही सुख मान रहे हैं-उन्हें तू नरकसमान दुःख दाता जान...और उनसे विमुख होकर चैतन्य के अतीन्द्रिय सुखो ही सच्चा सुख जानकर उसकी अनुभूति में संलग्न हो। विषय-कषाय का कण भी दुःख है और चैतन्यानुभूति के कण में भी महान सुख है!

कहाँ अर्धचक्रवर्ती के त्रिखण्ड के राजवैभव की अनुकूलता...और कहाँ यह सातवें नरक की प्रतिकूलता!

अपने भाई त्रिपृष्ठ की मृत्यु होने पर विजय बलभद्र छह मास तक उद्वेग में रहे; पश्चात् वैराग्य प्राप्त करके जिनदीक्षा धारण की, और रत्नत्रयरूपी अमोघ-अहिंसक शस्त्र द्वारा समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्षपद प्राप्त किया।

अरे, सदा साथ रहनेवाले दो भाई...उनमें से एकने तो वीतराग चारित्र द्वारा मोक्षसुख प्राप्त किया, और दूसरे ने विषय-कषायवश सातवें नरक के घोर दुःख पाये। यह जानकर हे भव्य जीवो! तुम विषय-कषाय से विरक्त होकर वीतरागी चारित्र की आराधना करो!...अरे, जीवके परिणामों की विचित्रता तो देखो, कि-वही जीव पुनःनरक से निकलकर वर्तमान में मोक्ष में विराजमान है, और हम उसे 'भगवान महावीर' के रूप में पूजते हैं।

## भगवान महावीर: पूर्वभव: सिंह होकर नरक में और पुनः सिंह

सातवें नरक में, एक नारकी ने आकर भाले से उसकी आँखें छेद डालीं; वह दुःख से चीत्कार करता उससे पूर्व ही एकसाथ कितने ही नारकियों ने उसके शरीर में भाले धोंप दिये; वह गिरा कि उसे उठाकर उबलते हुए लाल रसमें ड़ालकर गला दिया। अरे, उसमे करोंड़ो दुःखों का कौन वर्णन कर सकता है?

बड़ी कठिनाई से छूटकर भावी तीर्थंकर ऐसे उस नारकी का जीव शान्ति की इच्छा से एक वृक्ष (सेमर वृक्ष) के नीचे गया, किन्तु तुरन्त ही ऊपर से तीक्ष्ण असिधारा समान पत्ते उस पर पड़ने लगे, और उसके हाथ-पैर आदि सर्व-अंग कटकर छिन्न-भिन्न होकर इधर-उधर बिखर गये। अरेरे! मर जाऊँ तो यहाँ से छूटूँ ऐसा उसे लगा; किन्तु नरक में मृत्यु भी माँगने से नही मिलती। अरेरे, पापी को शान्ति कैसी ? एक क्षण मात्र कहीं चैन नही है! इस प्रकार भयंकर मरण वेदनाएँ सहते-सहते उस जीवने असंख्य वर्ष बिताये।

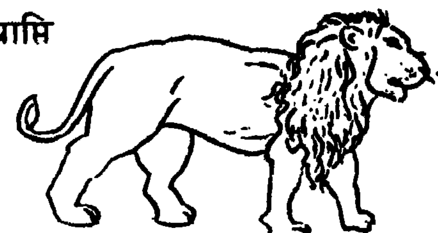
ऐसे नरक के तीव्र दुःख भोगकर वह अर्धचक्री का जीव इस भरतक्षेत्र के विपुलसिंह नामक पर्वतपर क्रुरपरिणामी सिंह हुआ; अनन्तानुबंधी कषायसहित रौद्र ध्यान से रंजित उसका मन शान्तिरहित था। भूखा न हो तब भी बिनाकारण वह अनेक निर्दोष जीवोंका घात कर देता था। इस प्रकार जिसके रौद्र भावोंका प्रवाह अभी रुका नहीं है ऐसा वह निर्दय सिंह वहाँ से मरकर पुनः नरक में गया और फिर असंख्य वर्षोंतक वहाँ के तीव्र-असह्य दुःख उसने भोगे। उन दुःखों का कथन कैसे हो? और कैसे सहे जायँ? वह तो भोगनेवाला ही भोगे और भगवान ही जाने!

ऐसे मिथ्यात्व-कषाय के दुःखों से अब बस होओ!...बस होओ! जिनका वेदन अब इस जीव को तो कभी नहीं करना है, परन्तु जिन दुःखोंका वर्णन पढ़ते-लिखते हुए भी कँपकँपी आ जाती है-वे दुःख महावीर के जीवने अज्ञानवश अन्तिम बार भोग लिये। -बस अब फिर कभी वह जीव ऐसे दुःख में नहीं पड़ेगा। नरक की यह उसकी अन्तिम पर्याय है; अब नरकको तिलांजली

देकर वहाँ से बाहर निकलकर वह पुनः सिंह हुआ। उसकी यह सिंहपर्याय (और तिर्यंच पर्याय भी) अन्तिम है, अब फिर वह जीव कभी तिर्यंचगतिमें अवतरित नहीं होगा।

इस प्रकार महावीर के जीवने नरक और तिर्यंच इन दोनों गतियों में परिभ्रमण का अन्त तो किया। अब शेष रही देव और मनुष्य पर्यायों का भी अन्त करके वह जीव अपूर्व सिद्धपद की साधना किस प्रकार करता है-उसकी सरस आन्ददप्रद अब प्रारम्भ होगी। अभी तक तो वह जीव अज्ञान एवं कषाय वश संसार में कहाँ-कहाँ भटका और कैसे-कैसे दुःख भोगे उसकी कथा थी-बंधन की कथा थी; परन्तु अब वह जीव किस प्रकार धर्म प्राप्त करता है, आराधक बनकर कैसी शान्तिका वेदन करता है और मोक्ष सुख साधकर कैसे भगवान महावीर बनता है। -उसकी सुन्दर आन्ददायक धर्मकथा पढ़कर प्रसन्नता होगी। दुःख में तो ग्लानि होती ही है, परन्तु दुःख की कथा पढ़कर भी जीव थक जाता है। महावीर के जीव की दुःखद कथा का अन्त हुआ; अब उसकी सुखद कथा का प्रारम्भ होगा।

## सिंह के भवमें सम्यक्त्वप्राप्ति



अपने चरित्र नायक का जीव नरक से निकलकर एक बलवान सिंह हुआ। दसवें भव में जो तीर्थंकर होनेवाला है ऐसा वह सिंह भरतक्षेत्र के एक पर्वतपर रहता था; वनके विशाल हाथी भी उससे ड़रते थे; उसके विकराल मुहँसे भयानक गर्जना सुनकर वनके पशु काँप उठते थे। क्रूरता से हिंसा करते-करते उसे दीर्घकाल व्यतित हो गया था। एक बार अमितकीर्ति और अमितप्रभ नामके दो मुनिवर आकाशमार्ग से जाते हुए वहाँ सिंह को प्रतिबोध देने हेतु उतरे। अचानक ऐसे शांत मुनिवरों को अपने समक्ष खड़ा देखकर सिंह को विस्मय हुआ। एक ओर मरा हुआ हिरन पड़ा है, सामने चेतनवंत मुनिवर खड़े हैं। सिंह ने दोनों की ओर देखा-एक ओर महान हिंसा, दूसरी ओर परम शान्ति! (एक ओर आस्रव एवं बंधतत्त्व, दूसरी ओर संवर-निर्जरा तत्त्व।) विरुद्ध दृश्य एवं भाव देखकर वह क्षणभर तो विचार में पड़ गया। अन्त में क्रूरता पर शान्ति की विजय हुई; उसे क्रोध की अपेक्षा शान्ति अच्छी लगी। वीतरागता के सान्निध्य में क्रूरता कैसे टिक सकती थी? मुनियों की ओर देखकर उसे अंतर में नवीन शांतभाव जागृत होने लगे- 'अहा, ऐसी शान्ति!' जीवन में प्रथम बार ही अपने अंतरमें ऐसे शांत परिणामों से सिंह को आश्चर्य होने लगा।




उस समय उसकी सुन्दर चेष्टा देखकर अमितकीर्ति मुनिराज वात्सल्यपूर्ण वचनों से उसे सम्बोधने लगे-हे मृगेन्द्र! ऐसी क्रूर सिंह पर्याय तुमने कही प्रथम बार धारण नहीं की है, ऐसी तो अनंत क्रूर पर्यायें धारण कर-कर के अज्ञान से तुम संसार वनमें भटक रहे हो। यह ज्ञान-लक्षण संयुक्त जीव अनादि-अनन्त है; वह अपने परिणामों का कर्ता होकर उनके फल का भोक्ता होता है; अभी तक तुमने अज्ञान वश

कषायभाव ही कर-करके उनके फलरूप दुःखों को भोगा है। अब, उस मिथ्याबुद्धि को तथा कषायभावों को तुम छोड़ो और आत्मज्ञान करो। अब तुम्हारे हित का अवसर आया है।

सिंह बड़ी आतुरता से मुनिराज के वचन सुन रहा है।

दूसरे मुनिराज भी प्रेमपूर्वक कहने लगे-अरे वनराज! तुम्हारे महान भाग्य से तुम्हें मुनिराज का उपदेश मिला है; तो पात्र होकर तुम अवश्य सम्यक्त्व को अंगीकार करो! सम्यक्त्व ही परम कल्याणकारी है।

सिंह मानो पश्चाताप से अपने पूर्वभव पूछ रहा हो इस प्रकार टकटकी लगाकर मुनिके समक्ष देखने लगा! तब मुनिराजने उसके वासुदेव आदि पूर्व भवों का वृत्तान्त सुनाया।

श्री मुनिराज के मुख से झरती हुई परम वैराग्यवाणी में अपने पूर्वभवों का वर्णन सुनकर सिंह के परिणामों में महान परिवर्तन होने लगा; उसे जातिस्मरण हुआ और समस्त दुःखों के कारणरूप मिथ्यात्व-कषायों से उसकी परिणति पराङ्मुख होने लगी। वाह रे वाह! धन्य सिंह-शार्दूल! अब तेरा चैतन्यपराक्रम जागृत होने लगा है। सचमुच हिंसा में पराक्रम नहीं है, अहिंसा एवं शान्ति में ही सच्चा पराक्रम है।

मुनिराज कह रहे हैं-हे भव्य! हम तुम्हें एक विशेष सुखदायी बात बतलाते हैं सो सुनो!-अब इस भवमें तुम्हारा आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त करके आत्मा की अखण्ड साधना करेगा और क्रमशः उन्नति करते-करते पूर्णता साधकर इस भरतक्षेत्र में चौबीसवाँ तीर्थंकर बनेगा। यह बात हमने विदेहक्षेत्र में सीमंधर स्वामी के श्रीमुख से सुनी है; इसीलिये हमें तुम्हारे प्रति स्नेह जागृत हुआ है।

आहा! सिंह का भव्य आत्मा यह सुनते ही हर्षपूर्वक नाच उठा...वाह! मेरा आत्मा अब इन भयंकर दुःखों से तथा हिंसासे छूटकर अपूर्व सुख प्राप्त करेगा!दुःख से छूटने की बात सुनकर कौन आनन्दित नहीं होगा?...और मुनियों ने वात्सल्य प्रगट किया उससे तो वह अति आह्लादित हो उठा-अहा, मुनिवर मुझे सम्यक्त्व प्राप्त कराने आये हैं! मुझपर कृपा करके वे आकाश मार्ग से उतरकर मुझे प्रतिबोध देने आये हैं! वाह! तीर्थंकर के श्रीमुख से मेरे भावि तीर्थंकरत्व की मंगलवाणी निकली! मुझ जैसा भाग्यशाली कौन होगा? इससे उत्तम मंगल और क्या होगा!...बस, सिंह तो सब भूल गया और अंतर चैतन्य की महिमा में इस प्रकार निमग्न होने लगा मानो वर्तमान में ही तीर्थंकर बन गया हो! उसकी परिणति में कषाय से भिन्न शांति की तरंगे उठने लगीं; उसका अंतर वैराग्य से उछलने लगा; परिणति कषाय से भिन्न होकर चैतन्यशान्ति का वेदन करने हेतु अन्तर्मुख हो गई; उसके परिणाम विशुद्ध होने लगे। इस प्रकार भावी तीर्थंकर ऐसा वह सिंह का आत्मा उपयोग की एकाग्रता से सम्यक्त्व-ग्रहण की ओर झुक रहा है। अपना शान्त चैतन्यतत्त्व देखने पर ही उसका लक्ष है। आँखें मूँदकर ज्ञानको स्थिर करके निजस्वरूप को देखने के लिये उसका उपयोग उत्सुक हो रहा है। बस, अब अधिक देर नहीं है।

श्री मुनिराज उसे शुद्धात्मा की देशना दे रहे हैं-भो भो भव्य! तुम एकाग्रचित्त से सुनो! यह जीव अनादि-अनन्त सदा उपयोग स्वरुप है, चेतनरुप द्रव्य से-गुण से-पर्याय से शुद्धोपयोगी जैसे अरिहंत हैं, परमार्थतः यह आत्मा भी वैसा ही उपयोगस्वरुप है;-ऐसे आत्मा को तुम अनुभव में लो...तुम्हें महाआनन्दरूप सम्यक्त्व होगा और परम शान्ति के वेदनरुप तुम्हारा आत्मा इस भवदुःख से छूट जायगा।

**श्री मुनिराज जो कह रहे हैं उसे 'श्रवण' करने की अपेक्षा वैसे भावों के 'वेदन' के प्रति अब सिंह का उपयोग विशेष कार्य कर रहा है। सम्यक्त्व के लिये आवश्यक तीन करणों की विशुद्धता उसे होने लगी है...राग से हटकर उसका उपयोग अब अतीन्द्रिय शान्ति की ओर जा रहा है...आहा! ऐसा अद्भुत शांत मेरा आत्मा! -ऐसे अंतर वेदन में उसे अपूर्व शान्ति प्रगट होती जा रही है...शान्ति के समुद्र में उपयोग अधिकाधिक गहराईमें उतरता जा रहा है....मुनिवर तो आश्चर्य से सिंह का हृदयपरिवर्तन देखते ही रह गये। इतने में, सिंह की परिणति ने चैतन्यरस की प्रबलता से कोई ऐसी छलाँग लगाई कि कषायों से पार जाकर चैतन्य के अतीन्द्रिय भाव में जा पहुँचा और शांतरस के समुद्र में निमग्न हो गया...उसे निज परमात्मा का सम्यक्दर्शन प्रगट हुआ। अहा, उस क्षण के आनन्द का क्या कहना! सम्यक्त्वरूपी सिंहने मिथ्यात्वरूपी उन्मत्त हाथी को भगा दिया, और मोक्षसाधना का शौर्य प्रगट किया। (देखो, चैतन्य सरकस पृष्ठ ३९१)**

उसकी अपूर्व शान्तिमय चेष्टा से मुनिराज उसकी स्थिति समझ गये। चैतन्य की ऐसी अपूर्व शक्ति देखकर क्षणभर वे भी निर्विकल्परस में निमग्न हो गये।

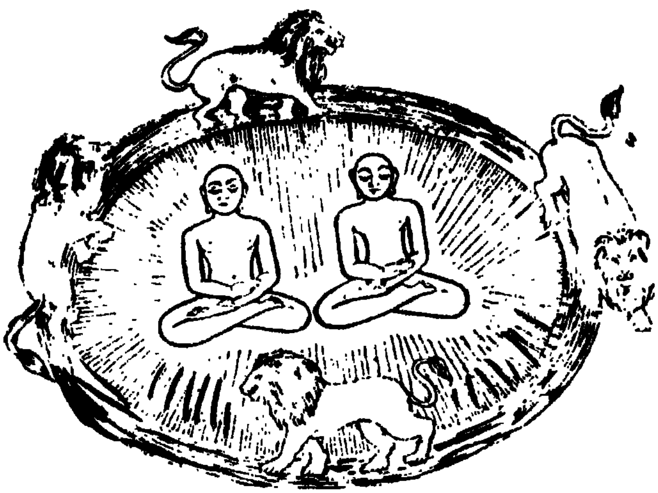


वाह! इधर मुनिवर ध्यान में लीन होकर बैठे हैं, सामने सिंह भी निर्विकल्प होकर सम्यक्त्वप्राप्ति के धन्य क्षण का अपूर्व आनन्द ले रहा है...वाह रे वाह! धन्य गुरु! धन्य शिष्य! धन्य निर्विकल्पता का आनन्दोत्सव!

क्षणभर के लिये सारा वन प्रदेश स्तब्ध रह गया...वह भी मानो निर्विकल्पता में झूलने लगा। वनके जो पशु पहले भयभीत होकर भागते थे वे भी सिंह की नवीन शांत चेष्टा देखकर आश्चर्य से स्तंभित हो गये। कुछ देर बाद जब सिंह ध्यान से बाहर आया और मुनिवरों की ओर देखा, तथा मुनिवरों ने भी मधुर दृष्टि से देखकर उस सम्यग्दृष्टि सिंह की पीठपर हाथ रखा, तब उसकी आँखों में आँसू भर आये थे...वे आँसू दुःखके नहीं किन्तु हर्ष के थे। अगले पाँवोंरुपी दो हाथ-जोड़कर मुनियों की वन्दना करता हुआ वह सिंह मानो उपकार व्यक्त कर रहा था। वहाँ भाषा भले ही नहीं थी, परन्तु भावों द्वारा वह मुनिराज की अपार भक्ति कर रहा ता.. 'अहो मुनिराज! आपके प्रताप से यह आत्मा भवदुःख से छूटकर ऐसे अपूर्व आत्मानन्द को प्राप्त हुआ!' और जब मुनिराज ने उसके मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद देकर वात्सल्य प्रगट किया तब तो मानो वह कृतकृत्य हो गया। अहा! मोक्षगामी मुनिवरों का हाथ जिसके मस्तक पर फिरा और आशीर्वाद मिला उस भव्य के हर्षानन्द का क्या कहना? उसके तो भव के फेरे टल गये...और मोक्ष की

बारी आयी!

मुनिराज ने कहा-हे सिंह! तुम सम्यग्दर्शन पाकर धन्य हुए हो; अब तुम्हारे मिथ्यात्वजन्य पाप धुल गये; तुम मोक्ष के साधक बने। वाह! तुम्हें देखकर हमें वात्सल्य भाव आता है।



सिंह का अंतर भी आनन्द से नाच उठा, उसने खड़े होकर मुनिराज के चरणों में मस्तक झुकाया और धीरे-धीरे चलकर उनकी प्रदक्षिणा करने लगा। वाह रे सिंह! तुझे भी ऐसी अद्‌भुत भक्ति करना आ गया!! 'यह तो अंतर के सम्यक्त्व का प्रताप है।' अहो! उस सिंह की भक्ति-चेष्टा ही उसके सम्यक्त्व प्राप्ति के परम उल्लास को प्रगट कर रही थी।

अंतर में उसने अनुभव किया कि-अहा! यह क्रोध तथा यह सिंहपर्याय मैं नहीं हूँ; मेरा आत्मा तो उनसे भिन्न, सदा ज्ञानदर्शन-आनन्द स्वरूप है। अरेरे, यह हिंसा और यह मांसभक्षण मुझे शोभा नहीं देता। मेरा चेतनतत्त्व तो सुन्दर शांत स्वरूप है। सम्यग्दर्शनरुप अति गहरी चैतन्य-कन्दरा में जाकर, उपशांत भावरूप तीक्ष्ण पंजों से मैंने मिथ्यात्व एवं कषायों रूप मदोन्मत्त हाथी को मार दिया है; अब विशेष शुद्धोपयोग की दूसरी छलाँग लगाकर मैं संयम के पर्वत पर चढ़ जाऊँ-उसीमें मेरा सच्चा शौर्य-शार्दूलपना है। वाह! श्री मुनिराज के श्रीमुख से झरते हुए जिनवचन समान उपकारी इस संसार में दूसरा कोई नहीं हैं। जिसका कभी बदला नहीं दिया जा सके ऐसा महान उपकार सम्यक्त्व देकर इन मुनिवरों ने मुझपर किया है। -ऐसा सोचकर अगले पैरों के पंजों द्वारा बारम्बार हाथ जोड़कर, मस्तक से लगाकर वह नमस्कार करने लगा; उसका चित्त अति प्रशांत हो गया; उसे संसार से निर्वेद और मोक्षमार्ग के प्रति संवेग हुआ।

श्री मुनिराज ने पुनः कहा-हे सिंह राज! हे धर्मात्मा! अपूर्वभाव से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके अब तुम परमशांत भाव द्वारा क्रोध-मान-माया-लोभका भी निवारण करना; उपसर्ग या परिषहों से डरे बिना उन्हें शूरवीरतासे सहन करना। वीतरागी पंच परमगुरुओं को सदा हृदय में रखकर उनकी महिमा करना। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के प्रताप से तुम्हारे पापकर्म नष्ट हुए हैं, तथा प्रशम-संवेग-निर्वेद तथा अनुकम्पा के विशुद्ध परिणामों से तुम्हारा आत्मा उज्ज्वल बना है। अनादि से कर्म के आस्रव-बन्ध में वर्तते हुए तुम्हारे आत्मा को अब कर्मों के संवर-निर्जरा प्रारम्भ हुए हैं। अहा! मोक्ष के मार्ग में आकर तुम धन्य हुए हो; अब निरन्तर ऐसा सुन्दर जीवन जीना ताकि तुम्हारे अंतर की विशुद्धता वर्धमान होती रहे। हे भव्य शार्दूल! अब तुम्हारी आयु मात्र एक मास शेष है। आनेवाले दसवें भवमें तुम भारतवर्ष में जगदोद्धारक जिनेश्वर महावीर बनोगे।-यह बात हमने 'कमलाधर' (लक्ष्मीधर, श्रीधर अथवा सीमंधर) जिनेन्द्र के श्रीमुख से सुनी है। -इस प्रकार मुनिवरों

ने अत्यन्त वात्सल्य से सिंह को सम्बोधन किया।



वाह! देखो ता सही, जिस प्रकार मनुष्य के साथ बातें करते हों तदनुसार मुनिराज सिंह के साथ बात कर रहे हैं और महाभाग्यवन्त सिंह भी मनुष्य की भाषा समझ रहा है। अहा, जिसके सम्बोधन को आकाश से मुनिराज उतरे हों और जिनेश्वर देव की वाणी में जिसके तीर्थंकरत्व की घोषणा हुई हो-उसकी पात्रता का क्या कहना! वाह रे वाह! वनराज! अब तो तुम 'जिनराज' हो।

श्री मुनिवर की बात सुनकर तथा अपनी आयु अब मात्र एक मास शेष जानकर सिंह को परम वैराग्य हुआ। बोधिलाभ का जिसे महान आनन्द है और संसार से जिसका चित्त सर्वथा विरक्त हुआ है-ऐसे उस सिंहने साधकभाव का शौर्य जागृत किया; मुनिवरों के समक्ष उसने बोधिसहित समाधि-संल्लेखना धारण की; आहार-जल का सर्वथा त्याग करके संल्लेखना धारण की; आहार-जल का सर्वथा त्याग करके अनशनव्रत अंगीकार किया। वाह रे सिंह! तुम्हारा सच्चा शौर्य जागृत हो उठा! [पाठक आत्माओ! क्षणभर पहले जो मांसाहारी क्रूर सिंह था वह कुछ ही समय पश्चात् चैतन्य की आराधना का शौर्य प्रगट करके कैसा शांत हो गया है! उसका वर्णन पढ़ते हुए भी हमें उसके प्रति प्रेम उमड़ता है। **हम सबके आत्मा में भी चैतन्य का ऐसा शौर्य विद्यमान है; सिंह समान वीर बनकर उस शौर्य को जागृत करो। महावीर का मार्ग वह चैतन्य के शौर्य का मार्ग है; उस मार्ग की साधना हेतु वीर बनो...महान वीर बनो!**]



प्रशमरस में रत हुआ सम्यग्दृष्टि सिंह विचारता है कि-अहा, मुझे प्रतिबोध देने हेतु ही यह मुनिराज करुणा करके यहाँ पधारे हैं मुझपर अचिंत्य उपकार किया है। मेरे पास तो ऐसा कुछ नहीं है कि मैं इनकी सेवा करूँ! मेरी यह पर्याय ऐसी नहीं है कि मैं उन्हें आहारदान दे सकूँ। मुनिवर तो अत्यन्त नि:स्पृह होते हैं। -इस प्रकार उपकार का चिंतवन करता हुआ सिंह बारम्बार मुनिवरों के चरण में मस्तक झुकाने लगा...और भक्ति के जल से उनके पग धोता हो! इस प्रकार उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

सिंह को प्रतिबोध देने का अपना प्रयोजन पूर्ण हुआ-ऐसा समझकर वे मुनिवर वहाँ से प्रस्थान की तैयारी करने लगे...मधुर दृष्टि से सिंह की ओर देखकर धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देकर तथा उसके अयाल पर पींछी फेरकर वे मुनिवर आकाशमार्ग से विहार कर गये।

*सिंह अश्रुभीगी आँखों से अत्यन्त प्रेमपूर्वक दूर-दूर तक देखता ही रहा...अहो, मुझे भवसमुद्र से पार करने वाले मेरे उपकारी गुरु आकाशमार्ग से चले जा रहे हैं! कुछ देर में मुनिवर अदृश्य*

हो गये, तथापि मानो अब भी उनका पवित्र हाथ अपने मस्तक पर फिर रहा हो। -इस प्रकार वह उनके गुणचिन्तन में लीन रहा।

सिंहराज का जीवन आज पलट गया; उसका आत्मा मानों सम्पूर्ण नवीन बन गया; उसका अंतर क्रूरता के बदले शांतरस में सराबोर हुआ; उसकी चेतना परभाव से छूटकर शांत चैतन्यरस में निमग्न होकर शोभा देने लगी। मुनिराज के जाने से उसका चित्त व्यथित हुआ। अरे, ऐसे उपकारी सत्पुरुष के विरह में कौन व्यथित नहीं होगा?

अन्तमें, चैतन्य की साधनामय उत्तम जिनकी चेष्टाएँ हैं-ऐसे उस मृगराजने चैतन्य की अद्भुतता के चिन्तन में अपना चित्त लगाकर, पुनः निर्विकल्प उपयोग द्वारा हृदय से मुनि-वियोग का शोक दूर किया और साथ ही हिंसादि पाँचों पापों को भी दूर भगा दिया। व्रतधारी उत्तम श्रावक होकर उसने अनशन पूर्वक संल्लेखनाव्रत धारण किया और श्री मुनिवरों के पवित्र चरणों से पावन हुई निर्दोष शिला को तीर्थरुप मानकर उस पर 'संल्लेखना-मरण' रूप समाधि लगायी।

पाषाण-शिलापर वह एक ही करवट सोता रहता और किंचित् हलन-चलन नहीं करता था। उसने अपने आत्मा को चैतन्यस्वभाव में तथा पंचपरमेष्ठी के गुणचिन्तन में लगा दिया। उसकी लेश्या और अधिक शुद्ध होने लगी, कषाय बिलकुल शांत हो गये। ग्रीष्म की अति उष्ण वायु से उसका शरीर सूख रहा था, सूर्यकी प्रखर किरणें उसे जला रही थीं, तथापि उसके मनमें कोई क्लेश नहीं था। ऐसे तीव्र ताप में उसने जलका त्याग कर दिया था। अंतर में चैतन्य का शांत रस उसके भवताप को शीतल कर रहा था, फिर बाह्य जल की क्या आवश्यकता थी! 'मैं चलूँ-फिरूँगा तो वनके जीव मुझे जीवित समझकर भयभीत होंगे'-ऐसा सोचकर वह चलता-फिरता नहीं था। उसे निश्चेष्ट पड़ा देखकर 'यह सिंह मर गया है'- ऐसा मानकर मदमस्त हाथी उसके अयाल को नोंच डालते थे; तथापि मोक्ष के इच्छुक ऐसे मुमुक्षु-सिंहने तो सहनशीलता ही धारण कर ली थी। अरे, जिसकी एक गर्जना से हाथियों की टोली दूर भागती थी, वह हाथियों का शत्रु आज आराधना रुपी टंकार से कर्मरूपी हाथी को दूर भगा रहा था। वाह रे सिंह भाई! धन्य है तुम्हारी आराधना!

शरीर से भिन्न चेतन्यतत्त्व को जानकर जिसने शरीर का ममत्व सर्वथा छोड़ दिया है-ऐसे उस सिंहराज ने एक महीने तक धैर्यपूर्वक क्षुधा-तृषा सहन किये; काया के साथ कषाय भी क्षीण हो रहे थे; जिनमार्ग की आराधना में उसका उत्साह बढ़ता जा रहा था। अहा, उस वनराज की शांत चेष्टाओं से प्रभावित होकर वनके हिरन, खरगोश और बन्दर आदि प्राणी भी निर्भय होकर उसके पास बैठने लगे और उसका आश्चर्यकारी परिवर्तन देखने लगे।

प्रशम-शान्ति की गहरी कन्दरामें रहे हुए उस वनराज को बाह्य उपद्रव कोई बाधा नहीं पहुँचा सके। उसे मरा हुआ मानकर गीधड़ और लोमड़ी जैसे तुच्छ जंगली प्राणी भी उसे नाखूनों से चीर-चीर कर खाने लगे, गिद्ध और कौए भी चोंच मार-मारकर चींथने लगे, तथापि उसने अपनी समाधि भंग नहीं की और न उन प्राणियों को भगाने का प्रयत्न किया। अहा, क्षमावान जीवों को कौन डिगा सकता है!

इस प्रकार उज्ज्वल परिणामी और आराधना में शौर्यवान-ऐसा वह वनराज आराधनासहित शरीर का त्याग करके उसी क्षण सौधर्म स्वर्ग के मनोहर विमान में हरिध्वज (सिंहकेतु) नामक देव हुआ।

## भगवान महावीर (पूर्वभव-१०) सौधर्मस्वर्ग में सिंहकेतु देव

सिंहपर्याय में सम्यक्त्व प्राप्त करके, संल्लेखनासहित समाधि मरण करके सौधर्मस्वर्ग में हरिध्वज देवरूप से अवतरित हुए अपने चरित्रनायक को देखते ही स्वर्ग के देव जयजयकार करने लगे। मंगलवाद्य बजने लगे; देव-देवांगनाओं ने जिनेन्द्रपूजन सहित मंगल उत्सव किया। अहो, सम्यक्त्वसहित विशुध्दिका फल अद्भुत है! उस हरिध्वज अथवा सिंहकेतु देवने अवधिज्ञान द्वारा जान लिया कि-मैं पहले सिंहपर्यायमें था और दो मुनिराजों ने प्रतिबोध देकर मुझे धर्म प्राप्त कराया; उन्हीं के प्रताप से मैं यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ; मुझपर उनका महान उपकार है। इस प्रकार मुनिराजों के उपकार का चिन्तवन करता हुआ वह देव अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिवरों के पास आया और कल्पवृक्ष के अचेतन दिव्यपुष्पों द्वारा उनके चरणों की पूजा करके बोला:- हे प्रभो! एक मास पूर्व आपने जिस सिंह को प्रतिबोध दिया था वही मैं हूँ; समाधिमरण करके मैं सिंह से सौधर्मस्वर्गका देव हुआ हूँ और आपके उपकार का स्मरण होने से आपके दर्शन करने आया हूँ। हे प्रभो! आपके प्रसाद से तीनलोक में श्रेष्ठ चूड़ामणिसमान सम्यक्त्व प्राप्त करके में कृतकृत्य हुआ हूँ...साधुजनों का सत्संग किसे हितकर नहीं होता? ऐसा कहकर उसने अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरणों की रज अपने मुकुट पर चढ़ायी-मानो कोई अमूल्य निधान चढ़ा रहा हो!

एक ओर वह देव पूजा-भक्ति की विधिसहित मुनिवरों की प्रशंसा कर रहा है, उधर मुनियों का लक्ष तो अपने चैतन्य की ओर ही स्थिर है। देव क्या कर रहा है, उसका उन्हे लक्ष नहीं है; वे तो निन्दा-प्रशंसा में समताभाव रखकर शुध्दोपयोग द्वारा चैतन्य के ध्यान में लीन होकर क्षपक श्रेणी पर चढ़ रहे हैं...शीघ्रतापूर्वक एक पश्चात् एक-आठवें, नौवें, दसवें गुणस्थानपर चढ़ते हुए मोहकर्मका नाश कर रहे हैं। अभी वह हरिकुमार देव मुनिवरों के समक्ष खड़ा-खड़ा उनकी भक्ति कर रहा है कि-इतने में मोहका सर्वथा क्षय करके, क्षायिकभावपूर्वक उन मुनिवरों ने केवलज्ञान प्रगट किया। अहा, आनन्दमय महान उत्सव हुआ, चारों ओर दिव्यता फैल गई! अपनी उपस्थिति में ही अपने परमगुरुओं को केवलज्ञान होता देखकर 'हरि' तो परम आनन्दसहित नाच उठा!...अहो! सर्वज्ञपरमात्मा का साक्षात्कार होने से हरि को जो आनन्द हुआ उसका क्या कहना!! अत्यन्त हर्षोल्लासपूर्वक केवलज्ञान का मंगल-उत्सव, तथा उन दोनों केवली भगवन्तों की पूजा एवं दिव्यध्वनिका श्रवण करके वह हरिकुमार एव सौधर्म स्वर्ग चला गया।

जिसके अंतर में सम्यक्त्वरुपी महान सम्पदा विद्यमान है-ऐसे उसी देवका चित्त स्वर्ग की दैवी सम्पदा में भी आकर्षित नहीं होता। बारम्बार स्वर्ग से धरतीपर आकर सर्वज्ञपरमात्मा की भक्ति एवं बहुमान पूर्वक शुध्दात्मा का श्रवण करके अपनी स्वानुभूति को पुष्ट करता है। इसप्रकार भगवान महावीर के जीवने अखण्ड आराधना पूर्वक सौधर्म स्वर्ग में असंख्य वर्ष व्यतीत किये।

## भगवान महावीर (पूर्वभव ९ तथा ८) कनकध्वज राजा, और आठवें स्वर्गमें

स्वर्ग से च्यवकर वह हरिध्वज (सिंहकेतु) देव, विदेहक्षेत्र में कनकप्रभ राजा का पुत्र हुआ; उसका नाम कनकध्वज। युवा होनेपर पिताने उसे राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। अपने चरित्रनायक राजा कनकध्वज एकबार सुदर्शन वनमें यात्रा करने गये। सुन्दर वृक्षों और फल-फूलों से भरे हुए उद्यान की शोभा निहारते हुए आगे बढ़े कि एक बड़ी शिलापर छोटे-से किन्तु महान तेजस्वी मुनिराज को ध्यान में बैठे देखा-अहा, कितनी अद्भुत थी उनकी मुद्रा! अंतरंग अतीन्द्रिय शान्ति



# एक ही जीव



**सिंह के भवसे पूर्व-**

१. नरक में निरन्तर, भूख-प्यास की भयंकर पीड़ा तथापि अनाज का एक कण या पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती।

२. नरक में धधकती हुई लोह पुतलियों के साथ जबरन् लिपटाकर अग्नि में जलाते हैं।

३. नरक में धधकती वैतरणी नदी की अति दुर्गन्ध।

४. नरक में वृक्ष (सेमरवृक्ष) ऐसे हैं कि जिनकी छाया में बैठने से उसके तलवार जैसे पत्तों से शरीर विंध जाता है।

५. नरक में तीर्थंकर या मुनिवरों के दर्शन का सदा अभाव

**सिंह के भव के पश्चात्-**

१. स्वर्ग में दो हजार वर्ष में आहार की इच्छा होती है और कण्ठ में अमृतका स्वाद आता है।

२. स्वर्ग में सुन्दर देवांगनाएँ हैं जिन्हें स्नेहसे आलिंगन करते हैं।

३. स्वर्ग में अमृत के सरोवर में सुगन्धित जल में स्नान।

४. स्वर्ग में ऐसे कल्पवृक्ष हैं जो अनेक प्रकार की वांछित दिव्य भोग सामग्री देते हैं।

५. स्वर्ग में जब भी इच्छा हो तब तीर्थंकर प्रभु के समवसरण में जा सकते है।

[दोनों का भोक्ता एक ही जीव; बीच में कुछ ही वर्षों का अंतर]

कहाँ वे पाप के फल और नरक के दुःख! कहाँ यह पुण्यफल और स्वर्ग के सुख!

शास्त्रकार कहते हैं कि-दोनों संयोग से आत्मा भिन्न है; पुण्य-पाप दोनों कर्मों से आत्मा भिन्न; तथा उनके कारणरुप शुभाशुभ परभावों से भी भिन्न; ऐसे ज्ञानस्वरुपी आत्मा की अनुभूतिरुप ज्ञान चेतना से ही मोक्षसुख की प्राप्ति एवं भवदुःख से छुटकारा होता है।

[अपने चरित्रनायक का जीव ऐसी ज्ञानचेतना प्राप्त करके स्वर्ग में हरिकेतु देव हुआ है; अगले भव का वर्णन अब पढ़ेंगे।]

की दिव्य झलक उनकी मुद्रा पर दृष्टिगोचर होती थी। राग-द्वेष को नष्ट करके वीतरागता द्वारा वे सुशोभित हो रहे थे। क्षमा को एक क्षण भी विस्मरण नहीं करते थे। उनके रत्नत्रय के प्रभाव से आसपास के वृक्ष भी फल एवं पुष्पाच्छादित हो उठे थे।-ऐसे मुनिराज को देखकर कनकध्वज ऐसे प्रसन्न हुए जैसे उन्हें किसी अपूर्व निधान की प्राप्ति हुई हो।

अत्यन्त हर्ष से जिनका रोम-रोम उल्लसित हो रहा है-ऐसे उन राजाने मुनिराज के चरणों में नमस्कार किया और अति अनुरागसहित उनके समीप बैठ गये। मुनिराजने शांत दृष्टि से राजा को देखा और 'राजन्! धर्मवृध्दि हो!' ऐसे आशीर्वचनों द्वारा उन पर परम अनुग्रह किया। अहा, धर्मात्मा को देखकर मुनिवर भी प्रसन्न होते है! मुनिराज बोले-हे महाभाग! तुम सम्यक्त्वरुपी मुकुट से तो अलंकृत हो, अब उस पर चारित्ररुपी कलगी चढ़ाओ!

मुमुक्षु राजा को स्वयं भी चारित्र की भावना तो थी ही; उसमें मुनिराज की प्रेरणा मिलने से उन्हें अत्यन्त उल्लास हुआ। अति वैराग्यपूर्वक हाथ जोड़कर बोले-हे प्रभो! यह जीव संसार में अनंतबार पंचपरावर्तन कर चुका है, अब उस परावर्तन से बस होओ! श्रुतज्ञान के सारभूत एसी चारित्रदशा को मैं आज ही अंगीकार करूँगा।— ऐसा कहकर राजाने उसी समय चारित्रदशा अंगीकार कर ली; मुनि होकर शुध्दोपयोग द्वारा आत्मा को ध्याने लगे। —ठीक ही है, कि-महापुरुष अपने हितकार्य को सिध्द करने में विलम्ब नहीं करते। 'कनक' को छोड़कर जिन्होने 'सुन्दर रत्न' ग्रहण किये हैं ऐसे वे मुनिराज कनकध्वज मुनिसंघ में अति सुशोभित होन लगे; वीतरागभाव द्वारा अनेक परिषह सहने लगे। अन्त में चार आराधना के अखण्ड पालनपूर्वक आयु पूर्ण करके आठवें स्वर्ग में गये।

वे धर्मात्मा स्वर्गलोक में भी देवों को आनन्द प्राप्त कराते थे, जिससे 'देवानन्द' उसका नाम सार्थक था। चौदह सागरोपम के असंख्य वर्षों तक जिनमार्ग के प्रभाव द्वारा असंख्य देवों को आनन्द देकर वे देवानन्द अपनी आत्म-आराधना को आगे बढ़ाने के लिये पुन: मनुष्य लोक में अवतरित हुए।

## भगवान महावीर (पूर्वभव ७ तथा ६) हरिषेणराजा; और स्वर्गमें

बन्धुओ, आप भगवान महावीर के पूर्वभवों का वर्णन पढ़ रहे हैं। अब उनके मात्र सात ही भव शेष हैं-उनमें तीन भव तो देवके हैं और अन्य चार भव उत्तम रत्नत्रय धर्म की आराधना सहित हैं; जिनमें एक चक्रवर्तीका भव है और एक तीर्थंकर का अवतार है। वीरप्रभु के आत्मा द्वारा की गई उस आराधना को देखकर तुम्हें भी आराधना का उत्साह जागृत होगा, और उस आराधना में आत्मा को लगाने से तुम्हें सर्वज्ञ महावीर का साक्षात्कार होगा! सर्वज्ञ महावीर के साक्षात्कार के साथ ही उनके जैसे अपने परम-आत्मा की स्वानुभूति रुप साक्षात्कार होने पर जो अतीन्द्रिय परम आनन्द होता है-उसका क्या कहना! अहा, वह तो मोक्षसुख की वानगी! और वही मंगल निर्वाण-महोत्सव!

**जो जानता महावीर को चेतनमयी शुध्दभाव से;**
**वह जानता निजआत्मको, सम्यक्त्व ले आनन्द से।**

अपने चरित्रनायक का परिणमन अब मोक्ष की ओर तीव्रगति से हो रहा है। आठवें स्वर्गसे एकसमय में असंख्ययोजन की गति से वे मनुष्यलोक में आये और उज्जयिनी नगरी में वज्रधर राजा के पुत्ररुप में अवतरित हुए; उनका नाम हरिषेण था। एक बार जैनाचार्य श्रुतसागर उज्जयिनी नगरीमें पधारे;

उनका वैराग्यमय धर्मोपदेश सुनकर महाराजा वज्रधर संसार से विरक्त हुए और हरिषेणकुमार को राज्य सौंपकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

हरिषेणकुमार जो कि सम्यग्दर्शन तो पूर्वजन्म से ही लेकर आये हैं, उन्होंने श्रावक के बारहव्रत धारण किये। पाप के कारणभूत ऐसा विशाल राज्य में रहनेपर भी वे महात्मा कमलवत् ऐसे अलिप्त थे कि पाप उन्हें स्पर्श तक नहीं करते थे; उनका चित्त सर्वत्र निःस्पृह रहता था। अहो, साधक की ज्ञानचेतना कोई अद्‌भुत आश्चर्यकारी है! जिस प्रकार विषधर सर्पों के बीच रहकर भी चन्दन अपनी शीतलता को नहीं छोड़ता अर्थात् विषरुप नहीं होता, उसी प्रकार विषसमान विभिन्न राग-संयोगों के बीच रहने पर भी धर्मात्मा की ज्ञानचेतना अपने शांतस्वभाव को छोड़कर राग-रुप नहीं होती।

राजा हरिषेण एक दिन संसार से विरक्त हुए, और जिनदीक्षा लेकर तपोवन में जाकर प्रशांतरस में निमग्न हो गये। उन मुनिराजने आयुके अन्त में समाधिपूर्वक शरीर का त्याग करके महाशुक्र स्वर्ग को अलंकृत किया। वे प्रीतिवर्धन विमान में सोलह सागर आयु के धारी देव हुए।

## [भगवान महावीर : पूर्वभव पाँचवा और चौथा]
## विदेहक्षेत्र में प्रियमित्र चक्रवर्ती; पश्चात् बारहवें स्वर्गमें

अपने चरित्रनायक भगवान महावीर अन्तिम भव में धर्मचक्री होंगे; उससे पूर्व वे विदेहक्षेत्र में राजचक्रवर्ती हुए। स्वर्ग से वे महात्मा विदेह की क्षेमद्युति नगरी में धनंजय राजा के घर पुत्ररुप में उत्पन्न हुए, उनका नाम था प्रियमित्र।

एक दिन राजा धनंजय ने संसार से विरक्त होकर पुत्र प्रियमित्र को राज्य सौंप दिया और स्वयं स्वभावमय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करके तप द्वारा सुशोभित हुए। राज्यलक्ष्मी छोड़कर तपलक्ष्मी द्वारा वे अधिक शोभायमान हो रहे थे।

इधर राजा प्रियमित्र विशाल राज्य के साथ-साथ शुध्दसम्यक्त्वसहित अणुव्रतों का भी पालन करते थे और जगत को दरशा रहे थे इतने बड़े राज्यभार के बीच भी आत्मा की आराधना हो सकती है। धर्मा के अंतर में आत्मा की जितनी महिमा है उतनी किसी और को नहीं है। एक बार उनके शस्त्रभण्डार में चक्रवर्ती पद के वैभवका सूचक सुदर्शनचक्र प्रगट हुआ, परन्तु उससे वे किंचित् आश्चर्य चकित नहीं हुए। अहा! तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ एवं सुन्दर ऐसा चैतन्यरत्न जिन्होंने स्वानुभूति में प्राप्त कर लिया है, उन महात्मा को जगत के जड़रत्नोंसे क्या आश्चर्य होगा? मोक्षसाम्राज्य प्रदान करनेवाला सम्यग्दर्शनरुप सुदर्शनचक्र जिनके अन्तर में निरन्तर चल रहा है उन्हें बाह्य पौद्‌गलिक सुदर्शनचक्र की क्या महत्ता लगेगी? वे धर्मात्मा प्रियमित्र जानते थे कि यह बाह्यवैभव की प्राप्ति वह कोई मेरी चैतन्य-आराधना का फल नहीं है; परन्तु आराधना के साथ रहनेपर भी उससे भिन्न जाति का ऐसे जो राग-उसका यह फल है। अरे, जिसके साथ रहनेवाले राग का भी ऐसा आश्चर्यकारी बाह्य फल हो, उस रागरहित आराधना के अंतरंग फलका तो क्या कहना! उस फल का स्वाद तो धर्मात्मा ही ले सकते हैं, और उसके समक्ष जगत के समस्त वैभव बिलकुल नीरस लगते है।

चक्ररत्न प्राप्त होने पर उन महाराजा प्रियमित्रने विदेहक्षेत्र के छहों खण्डों की दिग्विजय की; छह खण्ड में रहनेवाले समस्त मनुष्य, विद्याधर एवं देवों को भी उन्होने वशमें कर लिया। चौदह रत्न एवं नवनिधान के उपरान्त सोलह हजार देव और बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा उनकी सेवा करते थे; उनकी छ्यानवे हजार रानियाँ तथा छ्यानवे करोड़ पैदल, लाखों उत्तम गज आदि विशाल सेना थी; तथापि

'इस विषय सामग्रीमें जीव को तृप्ति देने का गुण कदापि नहीं है; यह सब तो आकुलता देनेवाले हैं; एक चैतन्यतत्त्व ही जीवको सच्ची तृप्ति एवं शान्ति प्रदान करता है'-ऐसा वे धर्मात्मा जानते थे; इसलिये भोगों में कही मूर्च्छित नहीं होते थे; जल में कमलपत्र की भाँति अलिप्त रहते थे।

चक्रवर्ती के चौदह रत्न एवं नवनिधान आदि वैभव का वर्णन करके शास्त्रकार ऐसा बतलाना चाहते हैं कि-हे जीवो! देखो, यह तो सब उस जीव के रागादि औदयिक भावों का बाह्य फल है, उसी समय उसके अंतर में स्वाभाविक चेतना के जो भाव (सम्यक्त्वादि) वर्त रहे हैं-वे कैसे हैं! और उनका फल कैसा सुन्दर है! उनका स्वरुप जानोगे तभी तुम धर्मात्मा के जीवन को भली भाँति जान सकोगे, और उसे जानने का सम्यक् फल आयगा। मात्र औदयिक भावको ही देखने से ज्ञानी का सच्चा स्वरुप जानने में नहीं आता...इसलिये बारम्बार कहते हैं कि-चेतनभाव से भगवान को पहिचानो, उदयभाव से नहीं।

उन प्रियमित्र महाराजाने तेरासी लाखपूर्व के दीर्घकाल तक चक्रवर्ती पद पर रहकर प्रजा का पालन किया। पश्चात् एकबार दर्पण में मुख देखते समय कान के पास श्वेत केश देखकर उनका चित्त संसार से विरक्त हुआ।

संसार से विरक्त वे प्रियमित्र चक्रवर्ती बारह वैराग्य भावनाएँ भाते हुए क्षेमंकर जिनेन्द्र भगवान के समवसरण में पहुँचे। सर्वज्ञता से सुशोभित वीतराग जिनेन्द्र देवके दर्शन से उनका प्रशम भाव दुगुना हो गया। उन्होंने अत्यंत भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान के श्रीमुख से मोक्षमार्ग का श्रवण किया। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चारित्र जो कि महा आनन्दमय मोक्षका कारण है,-तद्रूप अपना ही शुध्द स्वभाव परिणमित होता है; वे कहीं बाहर से नहीं आते, और न कहीं उनमें राग है। -ऐसे वीतराग रत्नत्रयके आधाररुप शुध्द आत्मा की अचिन्त्य अपार महिमा भगवान ने बतलायी। उसे सुनकर ज्ञानकी अतिशय निर्मलतापूर्वक जिनेन्द्र भगवान के पादमूल में ही जिनदीक्षा लेकर उनहोंने चारित्रदशा के महान रत्नत्रय अंगीकार किये, और चक्रवर्ती की तृणतुल्य अपार विभूति को छोड़ दिया, -अधिक लेकर अल्प छोड़ दिया-उसमें क्या आश्चर्य है! मोक्षके सारभूत निधान लेकर संसार के तुच्छ निधान छोड़ दिये,-उन्होंने तो अल्प छोड़कर अधिक ले लिया!-तथापि (आश्चर्य है कि-) लोग उन्हें महान त्यागी कहते हैं।

अहा! सुख का सरोवर अपने में पाकर असत् ऐसे मृगजल की और कौन दौड़ेगा? चारित्रदशा का चैतन्य सरोवर प्राप्त करके चक्रवर्ती के विषय-भोगों को छोड़ना वह कोई बडी बात नहीं है। विदेहक्षेत्र में राजचक्रीपना छोड़कर जो मुनि हुए है और अब चौथा भव में भरतक्षेत्र में धर्मचक्री-तीर्थंकर होनेवाले हैं-ऐसे वे प्रियमित्र मुनिराज जगत में सर्वप्रिय थे, और सर्वजीवों के हितकारी मित्र थे। उत्तम प्रकार से चारित्रपालन करके उन्होंने संल्लेखना पूर्वक शरीर का त्याग किया और उत्तम रत्नत्रय की आराधना करते-करते शेष रह गये किंचित् कषायकण के महान पुण्यफल का उपभोग करने हेतु सहस्रार नामके बारहवें सूर्यप्रभ स्वर्गमें देवरुप से उत्पन्न हुए। वहाँ यद्यपि उनको पुण्यजन्य वैभव अपार था, परन्तु अरेरे! जो कषाय का फल है उसका कितना वर्णन करें! कषायकलंक के उस फलका विस्तार करने से अथवा उसकी प्रशंसा सुनकर मुमुक्षु जीव लज्जित होते हैं कि-अरे! हम अपने चैतन्य की शान्ति को साधनेवाले...उसके बीच कषाय तो कलंकरुप है। अपनी शान्ति का विस्तार करके चैतन्यवैभव की पूर्णता करें-वही हमारे लिये इष्ट है, अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है।

-ऐसी भावनापूर्वक स्वर्ग के अपार तथापि अध्रुव वैभवों में वे सूर्यप्रभ देव असंख्य वर्ष तक रहे।

परन्तु अन्त में तो देवपद भी अध्रुव ही है न! अध्रुव ऐसे रागभावोंका फल भी अध्रुव ही होगा न! इसलिये ऐसी देवगति को छोड़कर ध्रुवपद की साधना के ध्येय से वे धर्मात्मा मनुष्यलोक में अवतरित हुए। जिस अवतार में अपने चरित्रनायक महात्मा ने सोलह उत्तम भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया, उस अवतारका वर्णन अब आप पढ़ेंगे।

## भगवान महावीर : पूर्वभव तीसरा : नन्द राजा

**[जिनदीक्षा; सोलहकारण भावना और तीर्थंकर नामकर्म; पश्चात् सोलहवें स्वर्ग में]**

इस भरतक्षेत्र के पूर्वभाग में श्वेतनगरी है; वहाँ भव्य जीव मोक्षमार्ग की साधना करते हैं; वहाँ के जिनालयों की शोभा ऐसी अद्भुत है कि जिसे देखकर नास्तिक को भी श्रध्दा जागृत हो जाय। स्वर्ग से च्यवकर भगवान महावीर का जीव इसी नगरी के राजा नन्दिवर्धन का पुत्र हुआ; उसका नाम 'नन्दन' था (विभिन्न पुराणों के अनुसार 'नन्दन' तथा 'नन्द'-दोनों नाम स्वीकार किये गये हैं।) एक दिन वनविहार करते समय श्रुतसागर नामके एक जैन आचार्य को देखकर उन नन्दराजा को हार्दिक प्रसन्नता हुई और मोक्षमार्ग श्रवण करने की अभिलाषा से पूछा-हे स्वामी! इस संसार समुद्रसे छुटकर जीव मोक्ष सुख किस प्रकार प्राप्त करता है?

मुनिराज के श्रीमुख से मानो अमृत झरता हो तदनुसार प्रसन्नतापूर्वक बोले-हे भव्य! जब आत्मा भेदज्ञान द्वारा सम्यक्त्वादि शुध्दभावों को प्रगट करता है तब भवदुःख से छूटकर वह मोक्षसुख प्राप्त करता है।

मुनिराजका उपदेश सुनकर नन्दराजा अपना जीवन प्रसन्नतापूर्वक मोक्षसाधना में बिताते थे। उन्हें कोई अशुभ व्यसन तो था नहीं; मात्र एक ही व्यसन था-देव-गुरु-धर्म की उपासना का। धर्म के चिंतन बिना वे एक दिन तो क्या, एक क्षण भी नहीं रह सकते थे।

महाराजा नन्दिवर्धन ने यद्यपि नन्दकुमार को राज्य कारभार सौंप दिया था; तथापि अब जिनके संसार का किनारा निकट आ चूका है-ऐसे नन्दराज, 'सदननिवासी तदपि उदासी' थे। राज एवं रमणियों के बीच रहनेपर भी उनकी चेतना सबसे पृथक ही रहती थी। निज चेतना के सिवा उन्हें अन्यत्र कहीं सुख की कल्पना नहीं होती थी।

महाराजा नन्दिवर्धन एक बार आकाश में मेघों की क्षणभंगुरता देखकर संसार से विरक्त हुए और पंचमगति-मोक्ष प्राप्त करने के लिये जिन दीक्षा अंगीकार की; पश्चात् ध्यानचक्र द्वारा कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञान एवं मोक्ष पद प्राप्त किया।

पिता के वियोग से पुत्र 'नन्दन' यद्यपि शोकाकुल हो गया; परन्तु कायर पुरुष ही शोक के आधीन होकर बैठ रहते हैं। बुध्दिमान धीर पुरुष तो शोक को छोड़कर स्वकार्य को सम्हालते हैं,-तदनुसार नन्द राजाने राज्य कारभार सम्हाल लिया। राज्य और धर्म दोनों के सहयोगपूर्वक वर्ष बीत गये। एक बार वसन्त ऋतु का आगमन होते ही वन-उपवन नवीन कोंपलों एवं पुष्पों से खिल उठे; उसी के साथ-साथ जैसे रत्नत्रय-पुष्पों का उद्यान भी मानो खिल गया हो...ऐसे 'प्रौष्ठिल' नामके श्रुतकेवली मुनिराज का श्वेतपुरी के उपवन में आगमन हुआ। अहा, कैसी उनकी अनुपम मुखमुद्रा! मानों वे चैतन्य की शान्ति में निमग्न हो! शशक जैसे प्राणी आश्चर्य से उनकी ओर देख रहे हैं और उनके चरणों में बैठ गये है। ज्ञान के गम्भीर समुद्र-ऐसे उन मुनिराज को देखते नन्द राजा को अति आनन्द हुआ...अहा, मोक्षकी जीवंत मूर्ति! भक्तिपूर्वक वन्दन करके नन्दराजा ने उन श्रुतकेवली से वीतरागता का उपदेश तथा अपने

पूर्वभवों की बात सुनी। सर्व अवधिज्ञानी एवं चरमशरीरी ऐसे उन श्रुतकेवली भगवानने उनकी नरकदशा, वासुदेव पदवी, सिंहपर्याय में. सम्यक्त्वप्राप्ति, चक्रवर्ती पद आदि पूर्वभवों का वर्णन करके कहा-हे भव्यात्मा! एक भव के पश्चात् तुम भरतक्षेत्र के चौवीसवें तीर्थंकर होकर मोक्षपद प्राप्त करोगे।

यह सब सुनकर नन्दराजा को भी अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण हुआ; अपने पूर्वभव उन्होंने चित्रपट की भाँति देखे, तथा भविष्य की सुन्दर कहानी सुनकर उनका चित्त प्रसन्न हो गया। अहा, मुमुक्षु को अपने मोक्ष की बात सुनकर चित्त में जो प्रसन्नता होती है उसका क्या कहना! हजारों प्रजाजन भी आनन्दविभोर होकर भावी तीर्थंकर की ऐसी महिमा एवं उत्सव करने लगे मानो वर्तमान में ही प्रभु के पंचकल्याणक हो रहे हों।

पश्चात् श्री प्रौष्ठिल प्रभुने नन्दराजा को मुनिदशा की परममहिमा बतलाते हुए कहा-अहा, आत्मसाधक वीर मुनिवरों के तपश्चरण रुपी रणसंग्राम में पापकर्मरुपी उध्दत शत्रु भी नहीं टिक पाते; शुध्दोपयोग-धनुर्धर उन सन्त को कोई जीत नहीं सकता, जिन्होंने मोह-लुटेरे को भगा दिया है और पंचपरमेष्ठी जिनके मार्गदर्शक हैं ऐसे मोक्षपथिक मुनिवर आत्मा की आराधना में कहीं उलझते नहीं हैं, दीन नहीं होते और न राग-द्वेष करते हैं। अहा, ऐसे मोक्ष साधक मुनिवरोंने क्या मुक्ति को यही नहीं बुला लिया है? —ऐसी चारित्राराधना परमपूज्य है। हे वत्स! उसे तुम अंगीकार करो।

अहा, मानो मुनिराज के मुखचन्द्र से वीतरागी अमृत झरता था। उसे झेलते हुए नन्दराजा के नयनों से आनन्द उमड़ने लगा। सम्यक्त्व से अलंकृत उनका आत्मा वैराग्यभावना द्वारा विशेष सुशोभित हो उठा...और तुरन्त ही उन्होंने प्रौष्ठिल आचार्य के निकट जिनदीक्षा अंगीकार कर ली। तुच्छ राजलक्ष्मी को छोड़कर महान रत्नत्रयलक्ष्मी को 'ममत्वरुपसे' धारण किया; बाह्य तथा अंतर में निर्ग्रन्थरुपसे शोभायमान होने लगे। अहा, वीतरागता द्वारा नग्नजीव जैसा सुशोभित होता है, वैसा क्या रागी वस्त्रभूषण द्वारा शोभता है? —नही; वीतरागता ही जीव कि सच्ची शोभा है। इसीलिये तो मोक्षमार्गी जैन मुनियों को मोहरहित जो नग्नता है उसे तत्वज्ञानियों ने मंगलरुप कहा है। वही मुनियों का सच्चा स्वरुप है। ऐसे यथार्थ स्वरुप में अपने चरित्रनायक श्री नन्दमुनिराज सुशोभित होने लगे।—वन्दन हो उन नन्दन मुनिराजको!

श्रीनन्दमुनिराजको विशुध्द चारित्र के बल से कितनी ही लब्धियों सहित ग्यारह अंगरुप श्रुतज्ञान का विकास हो गया। जिनका चित्त केवलज्ञान में संलग्न हैं ऐसे वे महात्मा मात्र स्वानुभूतिकी ऋद्धि से ही ऐसे तृप्त थे कि अन्य किसी ऋद्धिका उपयोग नही करते थे। वाह रे वाह चैतन्य ऋद्धि! सचमुच, चैतन्य ऋद्धि की तुलना जगत में कौन कर सकता हैं। अहा, प्रशान्त धर्मात्माओंका चारित्र तो आश्चर्य का स्थान है।

भावी तीर्थंकर ऐसे वे नन्दमुनिराज, एक बार प्रौष्ठिलश्रुतकेवली भगवंत की धर्मसभा में बैठे थे; रत्नत्रयवन्त ऐसे वे मुनिराज बारम्बार निर्विकल्प चैतन्यरस का पान करते थे। दूसरे भी अनेक मुनिवर और धर्मात्मा उस धर्मसभा में विराज रहे थे। अहा, वहाँ जैनधर्म का अपार वैभव था। अनेक श्रुतकेवली भगवन्त, आचार्य-उपाध्याय-साधु, श्रुतज्ञान का अपार भण्डार ऐसी स्वानुभवरसयुक्त जिनवाणी, वह सर्व जिनवैभव एकसाथ देखकर, अपने चरित्रनायक को परम धर्मभावना भक्ति एवं वात्सल्य के काई ऐसे अचिंत्य परम अद्भुत भाव उल्लसित हुए कि-वहाँ श्रुतकेवकी के चरणों में बैठे-बैठे ही उन्हें त्रिलोक पूज्यता के हेतुरुप ऐसा तीर्थंकर नामकर्म बँधना प्रारम्भ हो गया। जिन का सम्यक्त्व अष्ट अंगसहित विशुध्द है- ऐसे उन नन्दमुनिराज को आश्चर्यकारी अद्भुत धर्ममहिमा देखकर सोलह प्रकार की ऐसी

मंगलभावनाएँ जागृत हुई कि-भव के अन्तकी सूचक तथा सर्वज्ञपदकी पूर्वभूमिकारुप तीर्थंकर प्रकृति के पिण्डरुप जगत के उत्तम पुद्‌गल स्वयंमेव परिणमित होने लगे। अहा, सर्वज्ञ के साथ रहना किसे अच्छा नहीं लगेगा? 'आप सर्वज्ञ होंगे तब तक हम आपके साथ रहेंगे और ठेठ मोक्षगमन तक आपकी सेवा करेंगे।'– ऐसे भाव से वे शुभपुद्‌गल प्रभुके आत्मा के साथ एकक्षेत्र में आकर निवास करने लगे। 'श्रुतकेवली के चरणसान्निध्य में' वे मुनिराज अत्यन्त विशुद्ध परिणामों से क्षायिकसम्यक्त्वको प्राप्त हुए।

प्रश्न :-क्षायिक सम्यग्दर्शन तो आत्माकी विशुद्धि है, उसके लिये बाह्य आलम्बनरुप केवली-श्रुतकेवली के पाद-मूल की समीपता किसलिये आवश्यक है

उत्तर:-तीर्थंकरादि का माहात्म्य जिसने नहीं देखा ऐसे जीव को दर्शन मोहके क्षय के कारण रुप परिणाम उत्पन्न नहीं होते। 'अदिट्ठ तिथ्थयरादिमाहप्पस्स दंसणमोहखवण णिबन्धणकरण परिणामाणमणुप्पत्तीदो!' (यही बात तीर्थंकर प्रकृति के बंधन में भी समझ लेना। अर्थात् क्षायिकसम्यक्त्व की भाँति तीर्थंकर प्रकृति का प्रारम्भ भी केवली या श्रुतकेवली के सान्निध्य में ही होता है।) [कषायप्राभृत, गाथा-११०]

[यहाँ, तीर्थंकर तत्त्व के कारणरुप दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका अति सुन्दर भावपूर्ण वर्णन षट्‌खण्डागम, धवला आदि के आधार से किया गया है, परन्तु 'महापुराण' का विस्तार बढ़ जाने से वह प्रकरण यहाँ नहीं दिया जा सका; अन्य किसी पुस्तक में उसे प्रकाशित करेंगे। इसी प्रकार दूसरे भी अनेक प्रकरण संक्षिप्त करना पड़े है। जो जिज्ञासु उन्हें पढ़ना चाहते हों वे प्रकाशक से सम्पर्क करें।]

—इस प्रकार उन नन्दमुनि ने दर्शनविशुद्धि से लेकर प्रवचन वत्सलत्व तक की सोलह मंगल-भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति बाँधना प्रारम्भ किया। यद्यपि एक ओर अघाति ऐसी तीर्थंकर प्रकृति बँध रही थी, तो दूसरी ओर उसी समय वे मेहादि घाति-कर्मो को वे नष्ट-भ्रष्ट कर रहे थे... और जिसके बिना तीर्थंकरत्वकी सम्भावना नहीं होती-ऐसी सर्वज्ञताको वे अति शीघ्रता से निकट ला रहे थे। वे रत्नत्रयवंत धर्मात्मा कहीं तीन रत्नों को ही धारण नहीं करते थे। उनका आत्मा तो अपार चैतन्यगुणों की राशि से शोभायमान था। उनमे सम्यक्त्वादि शुद्धभाव मोक्षके ही साधक थे, बंध के किंचित् नहीं। जब भरतक्षेत्रके २४ वें तीर्थंकर ने तीर्थंकर प्रकृति बाँधना प्रारम्भ किया तब १२वें वासुपूज्य तीर्थंकर का शासन प्रवर्तक रहा था। एक ओर थोड़ी बंधधारा, और दूसरी ओर रत्नत्रयकी शुद्धिरुप वेगवती मोक्षधारा,-ऐसी द्विरुपधारा में वर्तती हुई उनकी परिणति तीव्रगति से मोक्ष की ओर प्रयाण कर रही थी। एक रागधारा और दूसरी रत्नत्रयधारा,-ऐसी दोनों धाराएँ एक साथ साधक की भूमिका में अपना-अपना कार्य करती है; उन दोनों धाराओं की भिन्नता को भेदज्ञानी जीव जानते हैं। वे रागधारा को मोक्षका कारण नहीं मानते और रत्नत्रयधाराको किंचिंत् भी बन्ध का कारण नहीं मानते। यदि रत्नत्रय स्वयं बंधका कारण हो तो जगत में मोक्ष के उपाय का अभाव हो जाय; और यदि राग मोक्षका कारण हो तो सर्व जीव मोक्ष प्राप्त कर ले; इसलिये जिनसिद्धान्त है कि-'जितने अंशमें राग उतने अंशमें बंधन; और जितने अंश में रत्नत्रय उतने अंश में मोक्ष का उपाय! (पुरुषार्थ सिद्धिउपाय २१२-१३-१४.)

भगवान के मुनिजीवन की, (और ऐसे ही प्रत्येक साधक धर्मात्मा की) यह विशेषता है कि उनकी चैतन्यधारा बंधको तोड़ती हुई आनन्दपूर्वक मोक्ष को साधने का कार्य निरन्तर कर रही है, उनकी ज्ञानचेतना का प्रवाह अखण्डरुप से केवलज्ञान की ओर दौड़ रहा है। अहा, धर्मात्माकी यह दशा अद्‌भुत-आश्चर्य जनक है। ऐसी अद्‌भुत वीतरागी दशामें वे नन्दमुनि शोभायमान थे। 'यह मुनिराज अब तीर्थंकर होकर मोक्षमें जाने की तैयारी कर रहे हैं, इनके साथ हम भी मोक्ष में जायेंगे'-ऐसी भावना से

प्रेरित होकर जगत के समस्त सद्‌गुण दौड़-दौड़कर प्रभुके आश्रय में आ रहे थे, और क्रोधादि दोष अब अपना नाश निकट जानकर शीघ्रता से दूर भागने लगे थे। इस प्रकार दोषरहित, गुणसहित निर्दोष मोक्षमार्ग को वे मुनिराज सुशोभित कर रहे थे और जगत को भी उस सुन्दर मार्ग की प्रेरणा दे रहे थे... इस प्रकार रत्नत्रय की उत्तम आराधनापूर्वक समाधिमरण करके वे महात्मा १६वें प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्ररूप से उत्पन्न हुए। वहाँ वे यद्यपि पुण्यजनित दिव्य इन्द्रियसुखों के सागर में रहते थे, तथापि उन मुमुक्षु महात्मा को मोक्षसुख के बिना कहीं चैन नहीं पड़ता था; इसलिये अन्त में उन स्वर्ग सुखों को भी छोड़कर मोक्षसुखकी साधना के लिये वे मनुष्यलोक में आने को तैयार हुए।

[स्वर्ग से च्यवकर वे मंगल-महात्मा अन्तिम अवतार में भरतक्षेत्र में तीर्थंकर रुप से अवतरित हुए और उनके पंचकल्याणक उत्सवों से अनेक जीवों का कल्याण हुआ...उसकी आनन्दकारी कथा आप अगले प्रकरणों में पढ़ेंगे।]

**है शार्दुल समान वीरता, साधकत्व है अनुपम;**
**भवका अंत किया जिनने, उन महावीर को वंदन।**

[यहाँ भगवान महावीर के पूर्व भवों का वर्णन समाप्त हुआ।]

## जो जानता महावीर को-

*इस एक ही चौबीसी में महावीर के एक ही जीवने अपने विविध परिणामोंवश कैसी-कैसी विशिष्टपर्यायें धारण की! उनका ज्ञान अद्‌भुत वैराग्य जागृत करता है और बंध-मोक्ष के भावोंका भेदज्ञान कराता है-*

अनन्त काल की बात तो दूर रही, इस वर्तमान मात्र एकही चौबीस में (चतुर्थकाल में) ही तीर्थंकर के उस जीवने स्वर्ग के, नरक के, तिर्यंच के तथा मनुष्य के-चारों गति के भवसहित एकेन्द्रिय-निगोद के भव भी असंख्यबार किये और अन्त में उस जीवने मोक्षपर्याय भी प्राप्त की!

- आदि तीर्थंकर का पौत्र होकर फिर स्वयं भी अन्तिम तीर्थंकर हुआ।
- प्रथम चक्रवर्ती का पुत्र होकर फिर स्वयं भी चक्रवर्ती हुआ।
- मुनि होकर स्वर्ग में गया और अर्धचक्री होकर नरक में भी गया।
- सिंह होकर मांसभक्षण भी किया और तीर्थंकर होकर परम अहिंसाधर्म का उपदेश भी दिया!
- नरक-निगोदके दु:ख भी भोगे और मोक्षसुख भी प्राप्त किया।
- तीव्र मिथ्यात्त्वादि भावों का सेवन करके मिथ्यामार्गोंका उपदेश भी दिया और क्षायिक सम्यकत्त्वादि प्राप्त करके रत्नत्रय धर्म के उपदेश द्वारा उन मिथ्यामार्गोंका खण्ड़न भी स्वयं किया।

हे देव! उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप अनेकान्त तत्त्व बिना ऐसा किस प्रकार हो सकता है? वाह, द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप, नित्य-अनित्यतास्वरुप, तथा एक-अनेकस्वरुप ऐसी अनेकान्तमय वस्तु बतलाकर जिनशासन कैसी वीतरागता कराता है! अनेकान्त का स्वरुप प्रकाशित करके जिनदेवने परम उपकार किया है! हे वीरनाथ! आपका जीवन तथा आपका इष्टोपदेश 'अनेकान्तमय' हैं; उसे जानकर और उसीसे अपने आत्मा का भी सत्य स्वरुप समझकर हम आपके मंगलमार्ग से मोक्षपुरी में आ रहे हैं... उस मोक्ष के मंगल उत्सव के निमित्त ही आपकी यह मंगल कथा लिखी जा रही है... यह भव्य जीवों का कल्याण करो!

# भगवान महावीर : पंचकल्याण



यत्स्वर्गावतरोत्सवे यदभवत् जन्माभिषेकोत्सवे,
यद्दीक्षाग्रहणोंत्सवे यदखिल ज्ञानप्रकाशोत्सवे;
यत् निर्वाणगमोत्सवे जिनपतेः पूजाद्भुंत तद्रवे;
संगीतः स्तुति मंगले प्रसरतां में सुप्रभातोत्सवः॥

## सर्वज्ञ भगवान महावीर स्वामी के पंचकल्याणक जगत का कल्याण करें!

हे जिनेन्द्र! आप श्री के मंगल पंचकल्याणक प्रसंग पर आपके शुद्धात्मा की दिव्य महिमा को हृदयगत करके इन्द्रादि आधारक भक्त जनोंने अदभुत् पूजन-स्तुतिपूर्वक जो मंगल उत्सव किया उसके मधुर संस्मरण आज भी आनंद उत्पन्न कर रहे हैं; मानो आप ही मेरे हृदय में विराजकर बोल रहे हैं; ऐसे आपके मंगल चिन्तनपूर्वक आपके पंचकल्याणक का भक्तिसहित आलेखन करता हूँ। जिन भावों से स्वर्ग के हरिने आपकी भक्ति की थी, उन्हीं भावों से मैं-इस मनुष्य लोक का हरि-आपकी भक्ति करता हूँ। अहो, त्रिकाल मंगल रुप उन तीर्थंकरों को नमस्कार हो कि जिनके पंचकल्याणक अनेक जीवोंको कल्याण का कारण हुए हैं।

भगवान महावीर के आत्मा का भव-भ्रमण पूरा हुआ; अब अन्तिम तीर्थंकर अवतार में उनके पंचकल्याणक होते हैं। उन महात्मा को अनादिकाल के भव समुद्र का किनारा आ चुका है, और अनेक भव से चल रही वृद्धिगत आत्मसाधना के प्रताप से महामंगल मोक्षपद बिलकुल निकट आ गया है; जिन्होंने चैतन्यसुखका आस्वादन किया है ऐसे उन महात्मा को देवलोक के दिव्यवैभव लुभा नहीं सके। मोक्ष के साधक को स्वर्ग का भव कैसे ललचा सकेगा? वीतरागता के साधक को राग के फल कहाँ से अच्छे लगेंगे? उन मंगल आत्मा को १६ वें स्वर्ग से इस भरतक्षेत्र में अवतरित होने में जब छह मास शेष थे तब वैशाली-कुण्डग्राम में रत्नवृष्टि होने लगी।

अनन्त तीर्थंकरों के मंगलविहार से पावन अपना यह भारत देश; उसमें ढाई हजार वर्ष पूर्व वैशाली

गणतंत्र का कुण्डपुर (कुण्डग्राम) अति शोभायमान था। उस काल भगवान पार्श्वनाथ तीर्थंकर का शासन चल रहा था और उनके परमउपासक सिद्धार्थ महाराजा वैशाली गणराज्य के अधिपति थे। उनकी महारानी प्रियकारिणी-त्रिशलादेवी सचमुच भरतक्षेत्र की अद्वितीय नारी-रत्न थीं। गौरववन्ती वैशाली-कुण्डपुर की शोभा अयोध्यानगरी जैसी थी; उसमें तीर्थंकर के अवतार की पूर्वसूचना से सम्पूर्ण नगरी की शोभा में और भी वृद्धि हो गई थी...जिस प्रकार मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की तैयारी होने पर आत्मा का रूप बदल जाता है, और आनन्द की ऊर्मियाँ उठने लगती हैं, तदनुसार जिनराज के अवतार की तैयारियों से समस्त वैशाली की शोभा में आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगा, प्रजाजनों में सुखसमृध्दि एवं आनंद की वृध्दि होने लगी। महाराजा सिद्धार्थ के प्रांगण में प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी। नगरजन नगरी की दिव्य शोभा तथा रत्नवृष्टि देखकर विस्मित होने लगे कि-अरे, इस नगरी में कौन ऐसा पुण्यवान पुरुष है कि जिसके गृह-आँगन में प्रतिदिन ऐसे रत्नों की वर्षा होती है! जब किन्हीं अनुभवी पुरुषों ने बतलाया कि-अपनी नगरी में अन्तिम तीर्थंकर अवतरित होनेवाले हैं, उसी की तैयारी के यह चिह्न हैं। मात्र अपनी नगरी का नहीं, परन्तु सारे भरतक्षेत्र का भाग्योदय हो रहा है!

महारानी त्रिशलादेवी में भी अंतरंग एवं बाह्य में कोई अद्‌भुत परिवर्तन होने लगे। महान आनन्द की अव्यक्त अनुभूतियाँ उनके अंतर में होने लगीं। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की रात्रि के पिछले प्रहर में अति उत्तम मंगल सूचक सोलह स्वप्न देखकर वे हर्षातिरेक से रोमांचित हो गई और उसी समय प्रभु महावीर का मंगल-आत्मा १६ वें स्वर्ग से च्यवकर प्रियकारिणी-त्रिशला माता के उदर में अवतरित हुआ:

**मंगलदिन अति सुखदाता, आये उर त्रिशलामाता;**
**नर-हरि-देव नमें जिनमाता, हम सिरनावत पावत साता।**

आज त्रिशलादेवी के हर्षोल्लास का पार नहीं था; और जब राज सभा में सिद्धार्थ महाराजा के श्रीमुख से उन स्वप्नों का महान फल सुना कि - चौवीसवें तीर्थंकर का उनके गर्भ में अवतरण हुआ है, तब तो उन्हें किसी अचिंत्य निधान की प्राप्ति जैसा अपार हर्ष हुआ। सारी नगरी में भी चारों ओर आनन्द छा गया। लोगों के मुँह से धन्य है...धन्य है!' के उद्‌गार निकल रहे थे और कह रहे थे कि- 'अपनी नगरी में हम बालतीर्थंकर को खेलते-बोलते हुए देखेंगे..हम सब का जीवन धन्य होगा!'

इन्द्र-इन्द्रानीने भी वैशाली आकर माता-पिता का सन्मान किया; दिक्कुमारी देवियाँ त्रिशला माता की सेवा करने लगीं। देव तो ठीक, नरक के जीवों ने भी दो घड़ी साता का वेदन किया; और उससे तीर्थंकर-महिमा जानकर गहरे विचार में मग्न होने से अनेक जीव चैतन्यविभूति को लक्षगत करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। धन्य है तीर्थंकर के कल्याणक का प्रभाव और धन्य हैं उनको देखनेवाले!

अहा, माता के उदर में विद्यमान वह जीव, अपर्याप्त दशा में जहाँ अभी हाथ-पाँव तथा आँख-कान की भी रचना नहीं हुई थी, तथापि मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान का धारी था, सम्यग्दृष्टि था, आत्मानुभूति के वैभवसहित था, अतीन्द्रिय आनन्द का परिणमन हो रहा था; इसलिये वह आत्मा कल्याणकरूप था; उसकी वह गर्भावस्था भी कल्याणकारी थी। उस समय की भी उसकी देहातीत आत्मदशा को जान ले उसका कल्याण होगा; उसे शरीर एवं आत्मा का भेदज्ञान होकर अतीन्द्रिय ज्ञान, सुख होंगे। इसका नाम है गर्भकल्याणक!

अरे लक्ष में तो लो—

- जहाँ आँख-कान नहीं हैं तथापि अतीन्द्रियज्ञान वर्तता है;
- जहाँ शरीररचना नहीं हुई है तथापि अतीन्द्रिय सुख वर्तता है;
- जहाँ अभी द्रव्यमन की रचना नहीं हुई है, तथापि सम्यग्दर्शन वर्तता है।

—इस प्रकार आत्मा के ज्ञान, सुख, सम्यक्त्वादि भाव देहातीत हैं, इसलिये आत्मा स्वयं ही ज्ञान एवं सुखरूप परिणमनेके स्वभाववाला है—ऐसा विश्वास होता है।

हे भाई! तू इस प्रकार भगवान को पहिचान। ऐसा भगवान का जीवन है! इसलिये प्रत्येक प्रसंग में (गर्भ से लेकर मोक्ष तक) भगवान का आत्मा कैसे चैतन्य भावों रूप वर्त रहा है उसे तू जान! मात्र संयोग या पुण्य का वैभव देखकर नहीं अटक जाना। आत्मिक गुणों द्वारा प्रभुकी सच्ची पहिचान करेगा तो तुझे भी अवश्य सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि होंगे और तू भी मोक्ष के मार्ग में आ जायगा। इसलिये बारम्बार कहते है कि-

**जो जानता जिनराजको चैतन्यमय शुद्धभावसे,**
**वह जानता निज आत्मको सम्यक्त्वलेता चावसे।**

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन होने से पूर्व उसकी तैयारी में भी जीवको कोई नवीन आत्मिक आह्लाद जागृत होता है और नई भनक आती है, उसी प्रकार वैशाली में प्रभुजन्म से पूर्व चारों ओर नूतन आनन्दका वातावरण छा गया था। देवकुमारियाँ त्रिशला माताकी सेवा करती है नित्य नवीन आनन्दकारी चर्चा करती है। एकबार माताजी को विचार आया कि आज मैं देवियों से प्रश्न पूछ कर उनके तत्त्वज्ञान की परीक्षा करूं! देवियाँ भी कोई साधारण नहीं थीं परन्तु जिनभक्त थीं; वे माताकी बात सुनकर प्रसन्न हुई...और मानो माताजी के मुख से फूल झर रहे हों तद्नुसार एक के पश्चात् एक प्रश्न पूछने लगीं...और देवियाँ भी झट-झट उनके उत्तर देने लगी। तत्त्वरससे भरपूर उस चर्चा के आनन्द का रसास्वादन आप भी कीजिये-

- सर्व प्रथम माताजी ने पूछा-जगतमें सबसे सुन्दर वस्तु कौन?
  -देवीने तुरन्त उत्तर दिया- 'शुद्धात्मतत्त्व।'
- माताने पूछा-आत्मा का लक्षण क्या?-देवीने कहा-चैतन्यभाव।'
- धर्मीका चिह्न क्या? शांतभावरुप ज्ञानचेतना!
- उत्तम सदाचार क्या? वीतरागभाव।
- पापी कौन? -जो देव-गुरु-धर्मकी निन्दा करे वह।
- पुण्य पाप रहित जीव कहाँ जाता है? -मोक्ष में।
- वीर कौन?-.जो वीतरागता करे वह वीर है।
- जिन कौन? जो मोह को जीते वह जिन।
- संतोषी कौन?-जो स्वमें तृप्त रहे वह।
- विवेकी कौन?-जो जिनाज्ञा का पालन करे वह।
- शूरवीर कौन? जो शत्रुको भी क्षमा करे वह।

❀ मूर्ख कौन? जो मनुष्य भव पाकर भी आत्महित न करे वह।

❀ सर्व श्रेष्ठ कौन?-जो सबको जाने वह सर्वोत्तम।

❀ मुमुक्षु कौन?-जो मोक्ष का ही उद्यम करता हो वह।

ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्नोत्तर हुए और धर्मचर्चा चली। कई बार तो ऐसा होता था कि-माताजी प्रश्न पूछे तब देवी को उत्तर न आता हो, किन्तु ज्यों ही माताजी के उदर में विराजमान तीर्थंकर का स्मरण करें कि तुरन्त उत्तर आ जाता था। -मानो प्रभु स्वयं ही उदर-भवन में बैठे-बैठे सब प्रश्नों के उत्तर दे रहे हों! उदरस्थ आत्मा अवधिज्ञानी है, तो उनकी सेवा करनेवाली देवियाँ भी अवधिज्ञानी है, उनमें से कुछ तो सम्यग्दर्शन को प्राप्त हैं और कुछ प्राप्त करने में तत्पर हैं; -ऐसी वे देवियाँ माता से पूछती हैं-



हे माता! अनुभूति स्वरुप परिणमित आत्मा आपके अंतर में विराजमान है, तो ऐसी अनुभूति कैसे होती है? वह समझायें।

माता ने कहा- हे देवी! अनुभूति की महिमा अति गंभीर है। आत्मा स्वयं ज्ञान की अनुभूति स्वरुप है। उस ज्ञान की अनुभूति में रागकी अनुभूति नहीं है; -ऐसा भेदज्ञान हो तब अपूर्व अनुभूति प्रगट होती है।

दूसरी देवीने पूछा- हे माता! आत्मा की अनुभूति होने से क्या होता है?

देवी, सुनो! अनुभूति होनेपर सम्पूर्ण आत्मा स्वयं अपने में स्थिर हो जाता है; उसमें अनन्त गुणों के चैतन्यरस का ऐसा गंभीर वेदन होता है कि जिसके महान आनन्द को अनुभवी आत्मा ही जानते हैं; वह वेदन वाणीगम्य नहीं होता।

हे माता! वाणी में आये बिना उस वेदन की कैसे खबर पड़ती है?

हे देवी! अंतर में अपने स्वसंवेदन से आत्मा को उसका पता चलता है। जैसे यह शरीर दिखायी देता है, वैसे ही अनुभूति में उस से भिन्न आत्मा 'उससे भी विशेष स्पष्ट' दृष्टिगोचर होता है।

हे माता! आँखों से शरीर दिखायी देता है उसकी अपेक्षा आत्मा के ज्ञान को विशेष स्पष्ट क्यों कहा?

हे देवी! आँख द्वारा शरीर का ज्ञान वह तो इन्द्रियज्ञान है, परोक्ष है; और आत्मा को जाननेवाला स्वसंवेदनज्ञान तो अतीन्द्रिय है प्रत्यक्ष है, इसलिये वह अधिक स्पष्ट है।

अनुभूति के काल में तो मति-श्रुतज्ञान हैं, तथापि उन्हें प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय क्यों कहा?

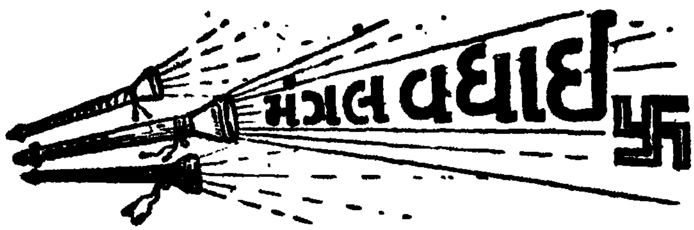
-क्योंकि अनुभूति के समय उपयोग आत्मा में ऐसा लीन हुआ है कि उसमें इन्द्रियों का तथा मन का अवलम्बन छूट गया है, इसलिये उस समय प्रत्यक्षपना है। अहा, उस काल के अद्भुत निर्विकल्प आनन्दका क्या कहना!

देवियों ने प्रसन्नता से कहा- हे माता! आपने अनुभूति की अद्भुत बात समझायी, मानो आपके

अंतर से कोई अलौकिक चैतन्यरस झर रहा है! यह आपके अंतर में विराजमान तीर्थंकर के आत्मा की अचिन्त्य महिमा है! उन बालतीर्थंकर को गोद में लेकर हम कृतार्थ होंगे।

-इस प्रकार धर्मचर्चा द्वारा आनन्दमय उत्तम भावना भाते-भाते सवानौ मास आनन्दपूर्वक बीत गये और तीर्थंकर के अवतार की धन्य घड़ी आ पहुँची।

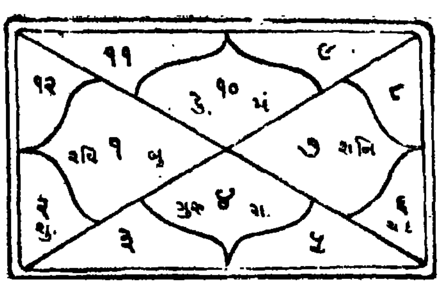
## वैशाली में महावीर-जन्म की मंगल बधाई




आज तो बधाई राजा सिध्दारथ दरबार जी...
त्रिशलादेवी कुँवर जायो जग का तारणहार जी...
वैशाली में नौबत बाजे देव करें जयकार जी...
भव्यों के इस भाग्योदय से हर्षित सब नरनार जी!

**आत्मने धन्य करवा, समकितने उज्वल करवा;**
**बाल-तीर्थंकर दर्शन करवा, चालो जईअे वैशाली धाममां.**

इस पुस्तक के लेखक ने वीर सं. २५०२ की चैत्र शुक्ला १३ का मंगल-दिवस वैशाली में-वीर जन्मधाम में आनन्द पूर्वक मनाया था; इस पुराण का कुछ भाग वहीं रहकर लिखा है, और वीरप्रभु की रथयात्रा के समय इसकी पाण्डुलिपि को रथ में विराजमान करके उसकी पूजा की है।



चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के मंगल-दिन वैशाली-कुण्डग्राम में भगवान महावीर का अवतार हुआ। उस काल (ईस्वीसन् पूर्व ५९८ वर्ष, ता. २८ मार्च सोमवार को) समस्त ग्रह सर्वोच्च स्थान में थे। ज्योतिषविज्ञान के अनुसार ऐसा उत्तम योग १० कोड़ाकोड़ी सागरोपम में २४ बार ही आता है; और वीरप्रभु की यह जन्म कुण्डली उनका बाल-ब्रह्मचारीपना सूचित करती है।

तीर्थंकर का अवतार होते ही तीनों लोक आश्चर्यकारी आनन्द से खलबला उठे। इन्द्र ऐरावत हाथी लेकर जन्मोत्सव मनाने आ पहुँचा। एक देवपर्याय में असंख्य तीर्थंकरों का जन्माभिषेक करनेवाले इन्द्र पुनःपुनः जन्माभिषेक के अवसरपर किसी नूतन आह्लाद का अनुभव करते है। भक्तिभावना से प्रेरित होकर वह सौधर्म इन्द्र स्वयं एक होनेपर भी अनेक रुप धारण

करके जन्मोत्सव मनाने हेतु तत्पर हुए; -जिस प्रकार मोक्ष का साधक आत्मा स्वयं 'एक' होने पर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा अनेकरूपों को धारण करता हुआ मोक्ष साधने को तत्पर होता है।

शची इन्द्रानी के भी हर्षका पार नहीं है। जिन्हे बाल तीर्थंकर को गोद में लेने की प्रबल उत्कण्ठा है-ऐसी वे इन्द्रानी कुण्डपुरी में प्रवेश करके तुरन्त 'जिन-मन्दिर'-में गई। (सिद्धार्थ राजाके 'नंद्यावर्त' नामक राजप्रासाद में 'द्रव्यजिन' का अवतार हुआ, और वे 'द्रव्यजिन' वहाँ विराजमान होने से पुराणकारोंने उस राजमहल को भी 'जिन-मन्दिर' कहा है।) वहाँ प्रवेश करके बालतीर्थंकर का मुख देखते ही आनन्द से उनका अंतर नाच उठा- 'अहा, देवी पर्याय में संतान नहीं होती, परन्तु मुझे तो इन तीर्थंकर समान पुत्रको गोदमें लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है! इस प्रकार परम हर्ष पूर्वक उन बाल तीर्थंकर के स्पर्श से वे इन्द्रानी चैतन्य की अद्‌भुतता का अनुभव करने लगी... अहा, प्रभुके स्पर्श से मैं धन्य हो गई! अब मैं स्त्री पर्याय का छेद करके मोक्ष प्राप्त करूँगी...ऐसे आत्मिक आह्लाद सहित उन बालप्रभुको इन्द्र के हाथ में दिया। इन्द्र भी प्रभुका रुप देखकर ऐसे आश्चर्यचकित हुए कि एक साथ हजार नेत्र बनाकर उस रुप को निहारने लगे। जिस प्रकार मोक्षाभिलाषी जीव अतीन्द्रिय ज्ञानकी सर्व किरणों द्वारा आत्माके अलौकिक रुप का निरीक्षण करता है और महाआनन्दित होता है उसी प्रकार हरि हजार नेत्रों द्वारा प्रभुके रुप को देखकर अति प्रसन्न हुए। उस समय होनेवाली दिव्य पुष्पवृष्टि से ऐसा लग रहा था मानो आकाश में सुन्दर उद्यान खिला हो!...परन्तु अरे, उस दिव्य पुष्पोद्यान की अपेक्षा प्रभुके आत्मा में चैतन्य के अद्‌भुत गुणोंका उद्यान खिल रहा था-उसे तो धर्मात्मा ही देख सकते थे और 'अगन्धभाव' से उस चैतन्य उद्यान की अपूर्व सुगन्ध लेते थे।

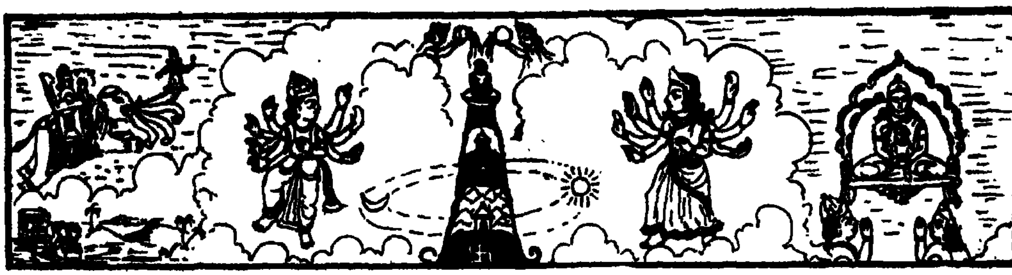


इस प्रकार अद्‌भुत जिनमहिमा देखकर तथा चैतन्य की अचिन्त्यता को लक्षगत करके अनेक जीव सम्यक्त्वको प्राप्त हुए; सम्यक्त्व के अनुपम प्रकाश से उनका आत्मा जगमगा उठा। प्रभु का जन्म उनके लिये सचमुच कल्याणकारी हुआ! अहो तीर्थंकरों का अचिन्त्य प्रभाव!

बालतीर्थंकर का रुप निहारने के लिये हजार नेत्र खोलकर इन्द्र ऐसा बतलाना चाहता था कि-अरे जीवो! मेरे यह हजार नेत्र जिनका रुप देखने के के लिये कम लग रहे हैं उन साधक के अंतर का तो क्या कहना! ऐसे आत्मसाधक आत्माकी पहिचान बाह्य नेत्रो द्वारा नहीं किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही होती है; इसलिये जन्मकल्याणक में तुम प्रभुको मात्र इन्द्रियज्ञान द्वारा न देखकर उन्हे अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा पहिचानना; उससे प्रभुके कल्याणक के साथ तुम्हारा भी कल्याण होगा,-तुम्हें सम्यगदर्शनादि कल्याणकारी भाव प्रगट होगे।

अति शोभायमान शाश्वत मेरुपर्वत जिनप्रभु के जन्माभिषेक से अत्यधिक सुशोभित हो उठा;

अथवाऐसा कहो कि जिनराज ने आकर मेरुकी शोभा का हरण कर लिया, क्योंकि लोग तो मेरुकी दिव्य शोभा को देखना छोड़कर प्रभुके मुखारविन्दको निहार रहे थे। प्रभुमें लगे हुए उनके चित्त को दूसरा कोई आकर्षित नहीं कर सकता था। मेरु पर 'स्थापनारुप जिन' तो सदा-शाश्वत विराजते है, तदुपरान्त आज तो 'द्रव्यजिन' तथा अंशत: 'भावजिन' वहाँ पधारे थे; फिर उसके गौरव की क्या बात! अहा, वह तो जगत का एक पूजनीय तीर्थ बन गया था। वहाँ ध्यान धरकर अनेक मुनिवर निर्वाण प्राप्त करते है इसलिये वह सिद्धिधाम (निर्वाण तीर्थ) भी है। अहा, तीर्थस्वरुप आत्माका जहाँ-जहाँ स्पर्श होता है वह सब तीर्थ बन जाता है। सम्यग्ज्ञान की यह महत्ता है कि वह द्रव्य-क्षेत्र-काल से 'भाव'-मंगल को जानकर उसके साथ आत्मा की सन्धि कर लेता है।



**''धन्य घड़ी धन्यकाल शुभ देखो, हरि अभिषेक करे प्रभुजीको''**

उस जन्माभिषेक के समय सर्वत्र आनन्द छा गया...देवगण भक्ति से नाच उठे और मुनिवर चैतन्य की अगाध महिमा का चिंतन करते-करते ध्यानमग्न हुए। निर्विकल्प जिनभक्ति तथा सविकल्प जिनभक्ति-दोनों का वहाँ संगम हुआ। वाह प्रभो! अभी तो आप बालतीर्थंकर है, द्रव्यतीर्थंकर है, तथापि ऐसी अगाध महिमा! तो जब आप सर्वज्ञ होकर साक्षात् भावी तीर्थंकर होगे और इष्ट-उपदेश द्वारा जगत में रत्नत्रय-तीर्थ का प्रवर्तन करते होगे,-उस काल की महिमा का क्या कहना!-

घटे 'द्रव्य-जगदीश' अवतार ऐसो, कहो 'भाव-जगदीश' अवतार कैसो?

प्रभो! आपकी महिमा को जो जानेगा वह अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करेगा! हे देव! आपके जन्मोत्सव में कहीं राग का ही उल्लास नही था; रागसे पार ऐसे वीतरागरस की एकधारा भी वहाँ चल रही थी। जैनदर्शन की इस अद्‌भुतता को ज्ञानी ही जानते हैं। जब सारी दुनिया जन्मोत्सव के हर्षातिरेक में पागल हो रही थी तब हमारे प्रिय बालप्रभु तो अपनी ज्ञान चेतना की शान्ति में निमग्न होकर बैठे थे। वाह रे वाह! वीतरागमार्ग में हमारे भगवान तो इसी प्रकार शोभा देते हैं!

पार्श्वनाथ प्रभुके मोक्षगमन पश्चात् १७८ वर्ष में महावीर प्रभुका जन्म हुआ। उनके शरीर में १००८ उत्तम लक्षण थे; उनके बाये पैर में केसरी सिंह देखकर [1] हरिने [2] हरिका [3] हरिलक्षण प्रसिद्ध किया। ([1] हरि=इन्द्र; [2] हरि=भगवान; [3] हरि=सिंह। एकदेव, एक मनुष्य, एक तिर्यच।) उन सिंहलक्षण युक्त प्रभुको 'वीर' ऐसे मंगल नाम से सम्बोधन करके इन्द्र ने स्तुति की। ''अरे, अनंत गुणसम्पन्न भगवान 'वीर' ऐसे एक ही शब्द से वाच्य कैसे होगें?''-हाँ, जैनशासन के अनेकान्त के बल से वह संभव हो सका, क्योंकि एक गुण द्वारा अभेद रुप से अनन्त गुण सम्पन्न ऐसे पूर्ण गुणी को प्रत्यक्ष किया जा सकता है,- ऐसा

जैन- शासन के अनेकान्त ज्ञान का विशिष्ट सामर्थ्य है।

मेरु पर जन्माभिषेक के पश्चात् प्रभुकी शोभायात्रा लेकर इन्द्र वैशाली- कुण्डपुर लौटे और माता पिता को उनका पुत्र सौंपते हुए कहा- हे महाराज! हे माताजी! त्रिलोकपूज्य पुत्र को पाकर आप धन्य हुए है; वे मोह को जीतने में 'वीर' हैं और धर्मतीर्थ का उद्योत करनेवाले है- इसप्रकार स्तुति करके इन्द्र तो माता-पिता का सन्मान कर रहे थे, परन्तु माता त्रिशलादेवीका ध्यान उसमें नहीं था; वे तो बस पुत्रको देखने में तल्लीन थी। जिसप्रकार स्वानुभूति में प्रथम बार ही चैतन्यका अतीन्द्रिय रुप देखकर मुमुक्षु जीवका चित्त अपूर्व आनन्द के वेदने में लग जाता है...उसी प्रकार पुत्र का अद्भुतरुप देखकर त्रिशला माताका चित्त अनुपम आनन्द से तृप्त हो गया। इन्द्र-इन्द्रानी ने ताण्डव नृत्य करके अपना हर्षोल्लास व्यक्त किया। इसप्रकार प्रभुके जन्मकल्याणक का भव्य उत्सव करके देवगण अपने स्वर्गलेकमें चले गये; किन्तु कितने ही देव छोटे बच्चे का रुप धारण करके वीर कुँवर के साथ वहीं क्रीड़ा करने हेतु रुक गये। अहा, तर्थिंकर जैसे बालमित्र के साथ रहना तथा खेलना किसे अच्छा नहीं लगेगा?...वाह, उसमें तो बड़ा ही आनन्द आयगा। उन देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए वीरकुँवर को देखकर उनमें देव कौन है और मनुष्य कौन? उसका पता भी नहीं चलता था; क्योंकि सबका रुप एक जैसा था; परन्तु जब वे देवकुमार तीर्थंकर देवका चरण स्पर्श करते तब समझमें आता था कि देव कौन है! वे देव कहते थे कि -हे प्रभो! हम देव नहीं हैं; वास्तवमें देव तो आप ही है। इसप्रकार गुणोंकी विशेषता के कारण वीर कुँवर सबसे अलग पहिचाने जाते थे।

वीरकुँवर का जन्म होने से वैशाली सर्व प्रकार से वृद्धिगत होने लगी; उसका वैभव भी बढ़ने लगा और आत्मगुण भी; इसलिये माता-पिता एवं प्रजाजनोंने उन वीरकुवँर को वर्द्धमान नामसे सम्बोधन किया।

**''पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं'' (प्रवचनसार)**

अहा, 'वर्द्धमान' ऐसे सुन्दर नामसे जो वाच्य है, जिन प्रभु के गुणों की पहिचान से आत्माके गुण वृद्धिगत होते हैं ऐसे धर्मवृद्धिकर श्री वर्द्धमान जिनको; मैं वन्दन करता हूँ। चैतन्यगुणोंमें वृद्धिगत ऐसे उन महात्मा को देवलोक से आनेवाले दिव्यवैभव भी आश्चर्यचकित नहीं करते थे। अहा, चैतन्यगुणों से अधिक सुन्दर ऐसी कोई वस्तु इस जगत में है जो धर्मी के चित्त को आश्चर्य मे ड़ाल सके!



वीर-वर्द्धमानकुमार दो वर्ष के बालक होनेपर भी तीन ज्ञान से गंभीर हैं और आराधना सहित श्रेष्ठ जीवन जीते हैं। उन्हें देख-देखकर भव्य जीवों का हृदय शांत होता है। उनकी बालक्रीडाएँ निर्दोष है। अवधिज्ञानी-आत्मज्ञानी वे महात्मा ऐसा विशिष्ट क्षयोपशम लेकर आये हैं कि-किसी शिक्षक के पास कोई विद्या पढ़ना शेष नहीं रहा; जगत को चैतन्यविद्या पढ़ानेवाले वे स्वयं बुद्ध भगवान स्वयं सर्वविद्याओ में पारंगत है। अहा ऐसे बालप्रभु जिनके गृह में सदा क्रीड़ा करते हो और जिनकें हृदय में विराजते हों उनके महान सौभाग्य का क्या कहना!

देवियाँ उन्हें आनन्द से खेलाती थी, माता उन्हें झूले में झूलाती थी, देवकुमार हाथी के बच्चे का रुप धारण करके वीर कुँवर को सूढ़ पर बैठाकर झुलाते थे...तथापि वीर कुँवर डरते नहीं थे आनन्द से झूलते थे। उनके शरीर की ऊचाई १ धनुष (दस फुट अथवा तीन मीटर) थी; रंग पीला सुवर्ण जैसा था; ७२ वर्ष की आयु और तीनों लोक में सबसे सुन्दर अद्भुत रुप था। अति मनोज्ञ उनके शरीर में जन्मसे ही दस अतिशय थे-वह शरीर मल-मूत्र रहित, प्रश्वेद रहित था तथा रक्त का रंग श्वेत-दूध समान था, वज्र संहनन था, सर्वांग सुन्दर उसकी आकृति थी, सुगन्धित श्वास था, अद्भुत रुप, अतिशय बल एवं मधुरवाणी थी। उस शरीर में १००८ उत्तम चिह्न थे।

इस प्रकार बालतीर्थंकर के शरीर में जन्म से ही पुण्यजनित दस अतिशय थे। वह अतिशयता कर्मजनित शरीराश्रित थी उसके द्वारा कहीं भगवानं की सच्ची पहिचान नहीं होती हाँ, भगवान के आत्मा में जन्म से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञानरुप चैतन्य भावोंकी जो अतिशयता थी, वह धर्मजनित और आत्माश्रित थी, वही उनकी सच्ची अतिशयता थी, और उन लक्षणों द्वारा भगवान को सच्चे स्वरूप में पहिचाना जा सकता है। शरीर के गुणों की दिव्यता वह कहीं वास्तव में महावीर नहीं है, वह तो मात्र महावीर के आत्मा के साथ संयोगरुप से लगा हुआ सुन्दर पुद्गलोंका पिण्ड है। महावीर के सानिध्य के कारण वह भी उपचार से पूज्यरुप बना है। सच्चे महावीर तो अतीन्द्रिय, रुपातीत, अशरीरी, चैतन्यगुण- सम्पन्न हैं। ऐसे भाव से जो महावीर को जानता है वह जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके आनन्दित होता है।

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वप्रभु का निर्वाण होने के २५० वर्ष पश्चात् भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया अर्थात् पार्श्वप्रभु के निर्वाण के १७८ वर्ष पश्चात् वीरप्रभु का अवतार हुआ। उनकी आयु ७१ वर्ष ६ मास १७ दिन थी। [बालप्रभु वीरकुँवर को रत्नों के पालने में झुलाते हुए माता त्रिशला देवी तथा छप्पनकुमारी देवियाँ कैसे सुन्दर मंगल-गीत गाती थी! उनकी कुछ वानगी भगवान नेमिनाथ चरित्र पृष्ठ में देखिये]

## देवकुमारों तथा राजकुमारों की तत्त्वचर्चा

एक बार चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन वीरकुवँर का जन्म-दिन मनाने हेतु देवकुमार और राजकुमार कुण्डग्राम के राजोद्यान में एकत्रित हुए थे। वीर कुवँर के आने में कुछ देर होने से वे तत्त्व चर्चा करने लगे। उनकी चर्चा कितनी सुन्दर थी वह हम देखें-

- देवकुमार:-भाइयो, आज वीरकुवँर का जन्मदिन है। वे राजभवनसे यहाँ पधारें तबतक हम थोड़ी धर्मचर्चा करें।
- राजकुमार बोले:-वाह, यह तो बड़ी अच्छी बात है! धर्म के महान दिवस पर तो धर्मचर्चा ही शोभा देती है।
- देवकुमार:- ठीक है; आज हम 'सर्वज्ञ' के स्वरुप की चर्चा करेंगे। बोलो राजकुमार! हम किस धर्म को

मानतेहैं? और हमारे इष्ट देव कौन हैं?

- राजकुमार:-हम जैन धर्म को मानते हैं... उसमें आत्मा के शुद्धभाव द्वारा मोह को जीतते हैं और भगवान 'सर्वज्ञ' अपने इष्टदेव हैं।
- 'सर्वज्ञ' कौन हैं?
- 'सर्वज्ञ नाम कोई व्यक्ति वाचक नहीं है, परन्तु मोह का नाश करके ज्ञान-स्वभावी आत्मा की सर्व ज्ञान-शक्ति जिनके विकसित होगई है वे सर्वज्ञ है; इस प्रकार 'सर्वज्ञ' शब्द गुणवाचक है।
- सर्वज्ञ कब हुए?
- राजकुमार:-सर्वज्ञ अनादि से होते आ रहे हैं; वर्तमान में होते हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे ।
- सर्वज्ञ कितने हैं? उनके कितने प्रकार हैं?
- सर्वज्ञ हुए अनन्त जीव हैं; उन सबकी सर्वज्ञता एकसमान है, उसमें कोई अन्तर नहीं है; परन्तु अन्य प्रकार से उनके 'सिद्ध' और 'अरिहंत' ऐसे दो भेद हैं।
- वे सर्वज्ञ भगवन्त कहाँ रहते हैं?
- सर्वज्ञ में जो सिद्ध है वे लोकाग्र में सिद्धलोक में विराजते हैं; वे अनन्त हैं। उनके अतिरिक्त कितने ही सर्वज्ञ 'अरिहंत' पद पर विराजमान हैं, वे इस मध्यलोक में मनुष्य रुप में विचरते हैं और ऐसे लाखों 'अरिहंत' हैं।
- ऐसे किन्हीं सर्वज्ञ का नाम बतलाऐंगे?
- हाँ, इस समय महाविदेहक्षेत्र में श्रीसीमंधर भगवान आदि सर्वज्ञ रुप से विचर रहे हैं; वे 'अरिहंत-सर्वज्ञ' हैं; और पार्श्वनाथ आदि भगवन्त वर्तमान में सिद्धलोक में विराजते है वे 'सिद्धसर्वज्ञ' हैं। अपने महावीर कुमार भी ४२ वें वर्ष में सर्वज्ञ होंगे।
- देवकुमार:-सर्वज्ञ क्या करतें हैं?
- राजकुमार:-सर्वज्ञ अर्थात सबके ज्ञाता; सर्वज्ञ भगवान अपने ज्ञानसामर्थ्य से सब जानते हैं और उस ज्ञान के साथ वे अपने पूर्ण आत्मिक सुख का अनुभव करते हैं। वे विश्व के ज्ञाता है किन्तु कर्ता नहीं है।
- ऐसे सर्वज्ञ को ही देव किसलिये मानना?
- क्योंकि अपने को अतीन्द्रिय पूर्ण सुख तथा पूर्णज्ञान इष्ट है-प्रिय है, इसलिये जिन्हें ऐसा सुख एवं परिपूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है उन्हीं को हम अपने इष्ट देव रुप में मानेंगे।
- देवकुमार:- सर्वज्ञ को मानने से हमे क्या लाभ?
- राजकुमार:-सर्वज्ञ को जानने से हमे आत्मा के पूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति होती है; और अपने आत्मा के पूर्ण सामर्थ्य की प्रतीति होने के कारण परमें से ज्ञान या सुख लेने की पराधीन मान्यता दूर हो जाती है; बाह्यविषयों में सुख की मिथ्याकल्पना छूटकर आत्मस्वभाव में जो अतीन्द्रियज्ञान एवं सुख है उसकी श्रध्दा प्रगट होती है। तथा सर्वज्ञता के साथ राग-द्वेष का कोई अंश भी नहीं रह सकता, इसलिये सर्वज्ञ को जानने से राग-द्वेष से भिन्न आत्मा के शुध्दस्वरुप की पहिचान होती है। इस प्रकार सर्वज्ञ को जानने से अपने आत्मा में स्वाश्रयपूर्वक सम्यग्ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख होता है अर्थात् धर्म का प्रारम्भ होता है,-यह अपूर्व लाभ है।
- क्या सर्वज्ञ को माने बिना धर्म नहीं हो सकता?
- नहीं, सर्वज्ञ को माने बिना कदापि धर्म नहीं होता।
- सर्वज्ञ को माने बिना क्यों धर्म नहीं होता?

* क्योंकि सर्वज्ञता ही आत्मा की पूर्ण प्रगट हुई परमात्मशक्ति है; आत्मा की पूर्ण प्रगट हुई शक्ति को जो नहीं मानेगा वह अपने आत्मा की परमात्मशक्ति को भी कहाँ से जानेगा? और जब तक अपने आत्मा की पूर्ण शक्ति को नहीं जानेगा तबतक परमें से ज्ञान या सुख प्राप्त करनेकी पराश्रित-मिथ्याबुध्दि बनी ही रहती है; जहाँ पराश्रित बुध्दि हो अर्थात् बाह्यविषयों में सुख बुध्दि हो वहाँ धर्म हो ही नहीं सकता। इस प्रकार सर्वज्ञ को माने बिना कदापि धर्म नहीं हो सकता।
* देवकुमार-सर्वज्ञ को माने बिना आत्मा की पूर्ण शक्ति को मान ले तो?
* राजकुमार-यदि आत्मा की पूर्णशक्ति को यथार्थरुप से माने तो उसमें सर्वज्ञकी प्रतीति भी अवश्य आ ही जाती है। यदि सर्वज्ञ की प्रतीति न हो तो आत्माकी पूर्ण शक्ति की प्रतीति भी नहीं होती। अपने को पूर्ण सुख चाहिये न? ...तो जहाँ पूर्णज्ञान हो वहीं पूर्ण सुख होता है; इसलिये पूर्ण ज्ञान कैसा होता है उसका निर्णय करना चाहिये। पूर्णज्ञान के निर्णय में ही सर्वज्ञ की मान्यता आ गई, तथा ज्ञान एवं रागका भेदज्ञान भी हो गया; क्योंकि पूर्णज्ञान में राग का सर्वथा अभाव है। भले ही सर्वज्ञ अपने सामने उपस्थित न हों, परन्तु अपने ज्ञान में तो उनका निर्णय हो ही जाना चाहिये। तभी आत्मा की पूर्ण शक्ति का विश्वास आयगा और धर्म होगा।
* देवकुमार:-सर्वज्ञ कौन हो सकता है?
* राजकुमार:-प्रथम जो सर्वज्ञ को तथा सर्वज्ञ समान अपने आत्मा की परमात्मशक्ति को जाने वह जीव अपनी शक्ति में से सर्वज्ञता कि व्यक्ति करके सर्वज्ञ होता है। इसलिये-

**जो सर्वज्ञस्वभाव को जाने वह आत्मज्ञ होता है,**
**जो आत्मज्ञ हो वह अवश्य सर्वज्ञ होता है।**

**इस प्रकार सर्वज्ञता वह जैनधर्मका मूल है।**

इसलिये हे मुमुक्षु भव्य जीवो! यदि तुम धर्मार्थ सर्वज्ञका निर्णय करना चाहते हो तो सर्वज्ञता के प्रति जिनकी परिणति उल्लसित हो रही है, जिनकी वाणी एवं मुद्रा सर्वज्ञता की नि:शंक घोषणा कर रही है, तथा राग से भिन्न ज्ञान चेतना के बल से जो सर्वज्ञ होकर जिनशासन के धर्मचक्र का प्रवर्तन करनेवाले हैं-ऐसे श्री वीर प्रभु को चैतन्यभाव से जानो।

**जो जानता महावीर को चेतनमयी शुध्दभाव से,**
**वह जानता निजआत्म को सम्यक्त्व लेता चावसे।**

प्रभुकी ज्ञान चेतना को जानने से रागरहित सर्वज्ञस्वभावी आत्मा तुम्हारे स्वसंवेदन में आ जायगा और सम्यक्त्व सहित सर्वज्ञता का सर्व समाधान हो जायगा; तुम्हारा परिणमन राग से भिन्न ज्ञानचेतनारुप हो जायगा और तुम स्वयं अल्पकाल में अल्पज्ञ मिटकर सर्व काल के लिये सर्वज्ञ हो जाओगे।

-इस प्रकार देवकुमारों तथा राजकुमारों के बीच तत्त्वचर्चा चल रही थी, उस समय राजभवन में (चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को) क्या हो रहा था वह हम देखें।

वर्द्धमान कुमार ने प्रात:काल सिध्दोंका स्मरण करके आत्मचिन्तन किया। फिर माताजी के पास आये। त्रिशलामाताने बड़े उत्साहपूर्वक पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके प्रिय पुत्र को तिलक किया और बलैयाँ लेकर मंगल आशीर्वाद दिया। माता का आशीष लेकर वीरकुमार प्रसन्न हुए और उनसे आनन्दपूर्वक चर्चा करने लगे। अहा, माताजी के साथ वीर कुँवर कैसी आनन्दप्रद चर्चा करते हैं वह सुनने के लिये हम राजासिध्दार्थ के राजभवन में चलें..!

## त्रिशला माता के राजभवन में

वाह! देखो, यह राजा सिध्दार्थ का राजभवन कितना भव्य एवं विशाल है! इसका शृंगार भी कितने अद्भुत ढंग से किया गया है! आज चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वीरप्रभुका जन्मदिन होने से राजभवन के प्रांगण में हजारों प्रजाजन वीरकुँवर के दर्शनार्थ एकत्रित हुए हैं; आज वे पाँचवें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। राजभवन के भीतर उस कक्ष की शोभा तो स्वर्गकी इन्द्रसभा को भी भुला दे ऐसी है; परन्तु अपना लक्ष वहाँ नहीं जाता, अपनी दृष्टि तो सीधी महावीर कुँवर पर केन्द्रित है। अहा, वे कैसे सुशोभित हो रहे हैं! त्रिशला माता अपने इकलौते पुत्र को कितना लाड़ कर रही हैं। और कुँवर भी माताजी के आनन्दपूर्वक चर्चा कर रहे हैं। चलो, हम भी वह सुनें-

- वीर कुँवर ने पूछा-हे माता! जिन्हें भव नहीं है और जो मोक्ष को भी प्राप्त नहीं हुए-वे कौन हैं?
- माताने पुत्र के सिर पर हाथ फेरते हुए हँसकर कहा-'वह तो मेरा प्यारा पुत्र!' फिर उन्हें गोद में लेकर चुम्बन करते हुए कहा-बेटा, वह तो तू ही है कि जिसे अब भव भी नहीं हैं और जिसने अभी मोक्ष प्राप्त नहीं किया।
- वीर कुँवर कहते हैं-हे माता! शुद्धात्मतत्त्व की महिमा कैसी अगाघ है-वह तुम जानती हो?
- हाँ बेटा, जब से तू मेरे अंतर में आया तब से शुद्धात्मतत्त्व की महिमा मैंने जान ली है।
- 'तुमने आत्माकी कैसी महिमा जानी है?-वह मुझे बतलाओ।'
- बेटा, जबसे यहाँ रत्नवृष्टि प्रारम्भ हुई, मुझे १६ स्वप्न दिखायी दिये, और मैंने उन स्वप्नों का उत्तमफल जाना, तब से मुझे ऐसा लगा कि-अहा, जिसके पुण्य का प्रभाव इतना आश्चर्यकारी है उस आत्मा की पवित्रता का क्या कहना! ऐसा आराधक आत्मा मेरे उदर में विराज रहा है! -ऐसी अद्भुत महिमा से आत्मा को आराधक भाव का विचार करते-करते किसी अचिन्त्य आनन्दपूर्वक मुझे शुध्दात्मतत्त्व का भास हुआ। बेटा, यह सब तेरा ही प्रताप है।
- हे माता! तुम्हें तीर्थंकर की माता बनने का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ,; तू जगतकी माता कहलायी। चैतन्य की अद्भुत महिमा को जाननेवाली हे माता! तुम भी अवश्य मोक्षगामी हो!
- बेटा वर्द्धमान! तेरी बात सत्य है। स्वर्ग से तेरा आगमन हुआ तभी से अंतर एवं बाह्यवैभव वृध्दिगत होने लगा है; मेरे अंतर में आनन्द का अपूर्व स्फुरण होने लगा है। तेरे आत्मा का स्पर्श होते ही मुझे आराधक भाव प्रारम्भ हो गया है, और मैं भी एक भव पश्चात् तेरी भाँति मोक्ष की साधना करूँगी।
- धन्य है माता! मेरी माता तो ऐसी ही शोभित होना चाहिये! माता, तुम्हारी बात सुनकर मुझे आनन्द होता है। मैं इसी भव में मोक्ष को साधने हेतु अवतरित हुआ हूँ. तो मेरी माता भी ऐसी ही होगी न!
- बेटा, तू तो समस्त जगत को मोक्षमार्ग दरशानेवाला है; तेरे प्रताप से तो जगत के भव्यजीव आत्मज्ञान करेंगे और मोक्षको साधेंगे...तो मैं तेरी माता क्यों बाकी रहूँ!-मैं भी अवश्य मोक्षमार्ग में आऊँगी। बेटा तू भले ही सारे जगत का नाथ है, परन्तु मेरा तो पुत्र ही है! तुझे आशीर्वाद देने का मुझे अधिकार है।

✻ 'वाह, माता! तुम्हारा स्नेह अपार है...माता के रुप में तुम पूज्य हो...तुम्हारा वात्सल्य जगत में अजोड़ है।'



माता मारी मोक्षसाधिका धन्य धन्य छे तुजने...
तुज हैयानी मीठी आशीष, वहाली लागे मुजने...
माता! दरशन तारा रे...जगतने आनंद देनारा...

बेटा,तारो अद्भुत महिमा सम्यक् हीरले सोहे...
तारा दरशन करतां भव्यो, मोहनां बंधन तोड़े...
बेटा! जन्म तुमारो रे जगतनुं मंगल करनारो...

माता! तारी वाणी मीठी, जाणे फूलड़ां खरतां...
तारा हैड़े हेत फूवारा, ..झरमर-झरमर झरता....
माता! दरशन तारा रे...जगतने आनंद देनारा....

तारी वाणी सुणतां भव्यो, मुक्तिपंथे दोड़े....
चेतनरसनो स्वाद चाखे त्यां राजपाट सब छोड़े....
बेटा! जन्म तुमारो रे जगतनुं मंगल करनारो...

जागे भावना माता मुजने; क्यारे बनुं वीरागी....
बंधन तोडी रागतणां सौ, बनुं परिग्रह-त्यागी....
माता दरशन तारा रे जगतने आनंद देनारा....

बेटा! तुं तो पांच बरसनो, पण गंभीरता भारी....
गृहवासी पण तुं तो उदासी, दशा मोहथी न्यारी....
बेटा! जन्म तुमारो रे जगतनुं मंगल करनारो...

माता! तुं तो छेल्लीमाता, माता बीजी नहि थाशे....
रत्नत्रयथी केवल लेतां जन्म-मरण दूर जाशे....
माता! दरशन तारा रे जगतने आनन्द देनारा...

बेटा! तुं तो जगमां उत्तम आत्म-जीवन जीवनारो....
दिव्यध्वनि नो सन्देश दईने, मुक्तिमार्ग खोलनारो....
बेटा...धर्म तुमारो रे जगतनुं मंगल करनारो....

माता! मुक्ति मारग खुल्लो भव्यो चाल्या आवे...
भरतक्षेत्रमां जयवंत शासन, आनंद मंगल आपे...
माता! दरशन तारा रे जगतने आनंद देनारा...

वर्द्धमान तुं साचो बेटा, धर्म वृध्दि करनारो....
महावीर पण साचो तुं छो, मोहमल्ल जीतनारो....
बेटा, धर्म तुम्हारो रे...जगतनुं मंगल करनारो....

माता, करुं निजधर्मनी वृध्दि, परमातम-पद पामुं,...
जीव बधा जिनधर्म ने पामो...एवी भावना भावुं...
माता! दरशन तारा रे जगतने आनंद देनारा...

बेटा, जगमां धर्मनी वृद्धि थाशे तारा प्रतापे....
जे चाले तुज पगले-पगले, मोक्षपुरीमां आवे...
बेटा धर्म तमारो रे जगतने आनंद देनारो....

माता! अनुभूति-चेतननी अतिशय मुजने बहाली,...
अनुभूतिमां आनंद उल्लसे, एनी जात ज न्यारी....
माता...दरशन तारा रे जगतने आनंद देनारा...

बेटा! तुं तो स्वानुभूतिनी मस्तीमां नित म्हालें...
हींचोलु हीरलानी दोरे, उरनां वहाले-वहाले....
बेटा जन्म तुमारो रे जगतने आनन्द देनारो...

अहा, त्रिशलामाता और बालतीर्थंकर वर्द्धमान कुँवर की यह चर्चा कितनी आनन्दकारी है!

माता को आनन्दित करके वीरकुमार बोले-माँ, मेरे मित्र बाहर मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, मैं उनके पास जाता हूँ।

माँ ने कहा-अवश्य जाओ बेटा! सबको आनन्द देने के लिये तो तुम्हारा अवतार है।

माताजी से आज्ञा लेकर वीर कुमार राजोद्यान में आये; उन्हें देखते ही देवकुमार तथा राजकुमार हर्षपूर्वक जयजयकार करने लगें और अनेक प्रकार से उनका सन्मान किया।

वर्द्धमान कुमार ने भी प्रसन्न दृष्टि से सबकी ओर देखा और माताजी के साथ हुई आनन्दकारी चर्चा कह सुनायी। वह सुनकर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई।

एक राजकुमार बोले-अहा! तीर्थंकरके मित्र होने से अपने को उनके साथ रहने तथा खेलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, तो हम सब उनके साथ मोक्ष की साधना भी अवश्य करेंगे...वे दीक्षा ग्रहण करेंगे तब उनके साथ हम सब भी दीक्षा लेंगे।

यह सुनकर देवकुमारों के मुखपर उदासी छा गई। 'तुम क्यो उदास हो गये मित्र'?-ऐसा पूछने पर देवकुमारों ने कहा-हे मित्रो! तुम तो मनुष्यपर्यायमें हो इसलिये प्रभु के साथ दीक्षा ले सकोगे; परन्तु

हम देवपर्याय में होने के कारण प्रभु के साथ दीक्षा नहीं ले सकते, -इस विचार से हमें खेद होता है।

महावीर बोले: बन्धु देव! सम्यग्दर्शन द्वारा देवपर्याय में भी चैतन्य की आराधना चलती रहती है और ऐसे आराधक जीव मोक्ष के मार्ग में ही चल रहे हैं; जीव को मोक्षमार्ग की प्राप्ति वह अपूर्व महान लाभ है। मोक्षमार्ग में लगा हुआ जीव अल्पकाल में मोक्ष को साध लेगा-इसमें संशय नहीं है।

महावीर की ऐसी गम्भीर वाणी सुनकर सब को हर्ष हुआ और फिर बालतीर्थंकरके साथ सम्यक्त्व सम्बन्धी बहुत चर्चा की। अहा, छोटे-से द्रव्य-तीर्थंकरके श्रीमुख से वीतरागी मोक्षमार्ग की सुन्दर बातें सुनकर उन कुमारों को जो हार्दिक प्रसन्नता हुई-उसका क्या कहना? ढाई हजार वर्ष पूर्वका यह प्रसंग आज भी हमें उतना ही आनन्द देता है, तो उस प्रसंग को प्रत्यक्ष देखनेवाले जीवों के महान आनन्द का क्या कहना!! कितने ही कुमार उस समय सम्यक्त्व को प्राप्त हुए। साथ ही पाठकों को यह जानकर आनन्द होगा कि वीरकुँवर की बात मनुष्यों की भाँति हाथी घोड़े और बन्दर भी प्रेम से सुनते थे और प्रसन्न होते थे।

बाल महावीर अपने बालमित्रों के साथ ऐसी चर्चा भी करते थे और बालसुलभ क्रीड़ाएँ भी; परन्तु उस समय वे मात्र क्रीड़ाओं में ही नहीं वर्तते थे, उन बाल महात्मा की चेतना उस समय भी अंतर में अतीन्द्रिय ज्ञानक्रीड़ा करती थी। कई बार वे चैतन्यभवन में जाकर निर्विकल्प ध्यान कर लेते थे। उनके अंतरंग ज्ञान जीवन का आनन्द कोई अनुपम था-एक बार वीर कुमार अपने मित्रों के साथ चर्चा-विनोद करते थे, इतने में अचानक एक आश्चर्यजनक घटना हुई...क्या हुआ? वह अगले प्रकरण में पढ़ेंगे।

## बालवीर की महा-वीरता

जीत लिया मिथ्यात्व-विष, सम्यक्-मंत्र प्रभाव,
नाग लगा फुफकारने, प्रभु को समता भाव।
जहाँ इन्द्रियातीत भाव है, वहाँ नाग क्या करता?
रुप बदलकर बना देव वह, नमन वीर को करता।

फूँ...फूँ करता हुआ एक भयंकर विषैला नाग अचानक ही फुँफकारता हुआ वहाँ आ पहुँचा...जिसे देखकर सब राजकुमार इधर-उधर भागने लगे; क्योंकि उन बालकों ने पहले कभी ऐसा भयंकर सर्प नहीं देखा था। परन्तु महावीर न तो भयभीत हुए और न भागे!

अहिंसा के अवतार महावीर को मारनेवाला कौन है? वे तो निर्भयता से सर्प की चेष्टाएँ देखते रहे। जैसे मदारी साँप का खेल कर रहा हो। और हम देख रहे हों!..तदनुसार वर्द्धमान कुमार उसे देख रहे थे।

शांतचित्त से निर्भयतापूर्वक अपनी ओर देखते हुए वीरकुमार को देखकर नागदेव आश्चर्यचकित हो गया कि-वाह! यह वर्द्धमान कुमार आयु में छोटे होनेपर भी महान हैं...वीर हैं! उसने उन्हें डराने के लिये अनेक प्रयत्न किये; बहुत फुँफकारा...परन्तु वीर तो अड़िग रहे; वे निर्भयता से सर्प के साथ खेलने के लिये उसकी ओर जाने लगे।

दूर खड़े राजकुमार यह देखकर घबराने लगे कि अब क्या होगा?...सर्प को भगाने के लिये क्या किया जाये उसके सोच-विचार में पड़ गये...इतने में लोग क्या देखते हैं कि-

वह भयंकर सर्प अपनेआप अदृश्य हो गया! ...उसके स्थानपर एक तेजस्वी देव खड़ा है...और

हाथ जोड़कर वर्द्धमान कुमार की स्तुति करते हुए कह रहा है कि-हे देव! आप सचमुच 'महावीर' हैं। आपके अतुलबल की प्रशंसा स्वर्ग के इन्द्र भी करते हैं। मैं स्वर्ग का देव हूँ; मैंने अज्ञानभाव से आपके बल और धैर्य में शंका की; मैं नाग का रुप धारण करके आपकी परीक्षा ले रहा था; मुझे क्षमा कर दें! तीर्थंकरों की दिव्यता वास्तव में अद्‌भुत है! प्रभो! आप वीर नहीं किन्तु 'महावीर' हैं।

महावीर कुमार तो देव की बात गंभीरता से सुन रहे हैं; परन्तु हम उस देवको उत्तर देंगे कि-अरे देव! तू तो परीक्षा करने के लिये सर्प का रुप धारण करके आया था; परन्तु कदाचित् सच्चा सर्प भी आया होता तो क्या था? वह सर्प भी महावीर के सान्निध्य में निर्विष हो जाता। जिनकी शांत दृष्टि के समक्ष मिथ्यात्व का विष भी टिक नहीं सकता, उन भगवान की दृष्टि पड़ने से सर्प भी निर्विष हो जायँ-इसमें क्या आश्चर्य है! सम्पूर्ण कषायों को जीतनेवाले वीर क्या एक सर्प से डर जायँगे? -कदापि नहीं। महावीर की वीरता वह किन्ही बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिये नहीं हैं, किन्तु वह तो अंतरंग कषाय-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाली वीतरागी वीरता है। उन वीरकी वीतरागता के सान्निध्य में विषैले सर्प भी अहिंसक बन जायँगे और मिथ्यात्व-विष को छोड़कर सम्यक्त्व-अमृत का पान करेंगे।

अन्तर एवं बाह्य में वृद्धिगत होते-होते राज कुँवर महावीर जब आठ वर्ष के हुए तब एक बार अत्यन्त विशुद्धि से अंतर में चैतन्य धाम में एकाग्रता की धुन लगने से निर्विकल्प ध्यान का महाआनन्द प्रगट हुआ और प्रभु चतुर्थ गुणस्थान से पंचम गुणस्थान में पधारे। आठ वर्ष की आयु में शुद्धि की वृद्धिपूर्वक प्रभु ने पंचअणुतत्त्व धारण किये। प्रभु श्रावक हो गये। यद्यपि उनका जीवन तो पहलेसे ही अहिंसादि रुप था; परन्तु आठवे वर्षमें बालक वर्द्धमान चौथे से पाचवे गुणस्थान में आने पर अप्रत्याख्यान सम्बन्धी चारों कषाय नष्ट हो गये और आत्मिक आनन्द की वृद्धि हुई; कषायों को जीतने की वीरता में वीर प्रभु एक ड़ग आगे बढ़े।

तत्पश्चात् बाल तीर्थंकर की वीतरागी वीरता की एक अन्य घटना हुई, जिसका आनन्ददायक वर्णन आप आगे पढ़ेंगे।

## शान्त दृष्टि से हाथी को वश में करने की घटना

वह दिख रहा है वैशाली राज्य का नंद्यावर्त राजप्रासाद; जिस पर अहिंसाधर्म की ध्वजा फहरा रही है। कैसी अदभुत है इस राजप्रासाद की शोभा!! क्यों न हो, बालतीर्थंकर जिसके अन्तर में वास करते हों उसकी शोभा का क्या कहना! उस प्रासादकी शोभा चाहे जैसी हो, तथापि इन्द्रियगम्य एवं नश्वर थी; जब कि उसमें निवास करनेवाले प्रभुके सम्यक्त्वादि गुणों की शोभा अतीन्द्रियगोचर एवं अविनश्वर थी। प्रभुके पुण्य ही उस प्रासाद का रुप धारण करके सेवक रुप में सेवा करने आये थे। उस सात खण्ड ऊँचे राजप्रासाद के प्रांगण में छोटे-से वीरप्रभु खड़े हों तब प्रेक्षकों को वीर प्रभु बड़े और प्रासाद छोटा लगता था। राजप्रासाद के निकट हस्तिशाला में कितने ही श्रेष्ठ हस्ती शोभा देते थे। राजप्रासाद के मार्ग से आनेजानेवाले हजारो प्रजाजनों को वर्द्धमान कुँवर के दर्शनों की उत्कण्ठा रहने से उनकी दृष्टि राजप्रासाद के प्रत्येक झरोखे पर घूम जाती थी और कभी किसीको झरोखे में खड़े हुए वीरप्रभुके दर्शन हो जाते तो उसका हृदय आनन्द से नाच उठता था... कि वाह! आज तो बालतीर्थंकर के दर्शन हो गये! पाठक! चलो हम भी राजप्रासाद में चलें और वीर प्रभुके दर्शन करके धन्य बनें।

राजकुमार महावीर शान्तिपूर्वक अपने कक्षा में बैठे हैं और विचार कर रहे है; कि-अहा, चैतन्य की अल्प (चौथे-पाँचवें गुणस्थान की) शान्ति को भी ड़िगा सके ऐसी शक्ति जगत में किसी की नहीं

है; तो फिर चैतन्यतत्त्व की परिपूर्ण परम शान्ति का क्या कहना! शान्त रस के उस महासागर की शक्ति तो अपार है। जगत के भव्य जीव एक बार भी अपने शान्तरस को देख ले तो अंतर में परमृतमिका अनुभव होकर जगतसे निर्भय हो जाय। कक्ष में बैठे-बैठे वीर कुँवर इस प्रकार आत्माके शान्तरस का विचार कर रहे है; उस समय राजप्रासाद के बाहर क्या हो रहा है-वह देखें।

राजमार्ग पर तो कोलाहल मचा है और प्रजाजन भयभीत होकर इधर-उधर भाग रहे हैं। बचाओं!...बचाओं!...की आवाजें आ रही है! राजा का हाथी पागल होकर दौड़ रहा हैं... बचाओ!

आत्मा की अगाध शान्ति का विचार करते हुए महावीर ने वह कोलाहल सुना और धीर-गम्भीर रुप से बाहर राजमार्गपर आये। उन्होने हाथ उठाकर लोगों को आश्वासन दिया और शान्त रहने को कहा। महावीर को देखते ही मानो चमत्कार हुआ...लोग निर्भय होकर आश्चर्यपूर्वक देखने लगे कि अब क्या होता है!

एक ओर बालक महावीर,... दूसरी ओर क्रोधाविष्ट मदोन्मत्त हाथी। बालक महावीर धीर-गम्भीर चालसे उस ओर चलने लगे जिधर से हाथी दौड़ता आ रहा था... हाथी के सामने आकर उस पर दृष्टि स्थिर कर के खड़े हो गये...क्षण दो क्षण शान्त दृष्टि से हाथी को देखते रहे!



अहा कैसी शान्तरस भरी थी वह अमी दृष्टि! मानो उससे अमृत झर रहा था। उस दृष्टिद्वारा महावीर कह रहे थे कि-अरे गजराज! यह पागलपन छोड़। लोग तेरे पागलपन का कारण नहीं जानते किन्तु मैं जानता हूँ। अरे, यह चार गति के दुःख और उनमें यह तिर्यंच गति की वेदना... उससे तू अकुला गया है और छूटने को उद्विग्न हुआ है... परन्तु धैर्य रख... शांत हो! उद्वेग करने से यह दुःख दूर नहीं होगा।

अहा, हाथी तो मानो भगवान के नेत्रों से झराते हुए शान्त रस के स्रोत का पान कर रहा हो इस प्रकार टकटकी बाँधकर प्रभु की और देखता ही रह गया... आसपास के वातावरण को वह भूल गया। 'वाह' कैसी शान्ति है इन कुमार के मुखमण्ड्ल पर! मुझे भी ऐसी शान्ति प्राप्त हो जाय तो कितना अच्छा!!

ऐसा विचारते हुए वह हाथी बिलकुल शान्त हो गया। लोगोंने यह चमत्कार देखा; परन्तु वे समझ नहीं पाये कि-महावीरने किस प्रकार मदोन्मत हाथी को वश कर लिया? जो लोग विचक्षण थे वे समझ गये कि बालप्रभुने किसी बलसे या शस्त्र से नहीं किन्तु आंतरिक शान्ति के बल से ही हाथी को वश कर लिया है और ऐसा करके जगत को बतलाया है कि-"जगत के किसी भी अस्त्र-शस्त्र की अपेक्षा आत्मबल-शान्तिबल महान है।"

बन्धुओ!जिस प्रकार शिशु महावीर ने विशाल हाथी को वश कर लिया, उसी प्रकार अल्प चेतनभाव भी बड़े-बड़े उदयभावों को जीत लेता है। हाथी को जीतने के लिये महावीर ने क्रोध नहीं करना पड़ा, किन्तु शान्ति के बल से ही उसे जीत लिया, उसी प्रकार विषयकषायरुप पागल हाथी को जितने के लिये क्रोधकी अथवा रागादि की आवश्यकता नहीं होती किन्तु वीतरागी शान्ति द्वारा ही मुमुक्षु वीर उसे जीत लेते हैं।

हाथी जैसा प्राणी भी क्रोध द्वारा वश में नहीं होता, वह शान्ति द्वारा सहज ही वश में हो जाता है; इससे सिद्ध होता है कि उसे भी क्रोध अच्छा नहीं लगता, शान्ति ही अच्छी लगती है। जगत् के

सर्व जीवों कों शान्ति प्रिय है, क्यों कि शान्ति उनका स्वभाव है।

[क्या सचमुच वह हाथी पागल हुआ था? या फिर उसे प्रभुके दर्शनों की तीव्र उत्कण्ठा जागृत हुई थी?...और वीर कुंवर के दर्शनों की धुन में वह आकुलित होकर राजप्रासाद की ओर दौड़ रहा था;-उसे दौड़ता देखकर ही लोगों ने उसे पागल मान लिया होगा! देखो, प्रभुको देखते ही वह हाथी बिलकुल शान्त होगया! प्रभुका प्रभाव सचमुच आश्चर्य जनक है।]

[कवि श्री नवलशाह रचित महावीर पुराण में इस हाथी की घटना में हाथी को देव की विक्रीया होना लिखा है।]

अब यहाँ एक बात लक्ष में रखना है-शिशु महावीर ने विशाल हाथी को जीत लिया इसीसे वे कहीं अपने इष्टदेव नहीं है; अपने इष्टदेव तो 'सर्वज्ञ महावीर' हैं। हाथी को जीतते समय उनमें, मोहरूपी हस्ती को जीतकर जो सम्यक्त्वादि भाव वर्तते थे वही भाव उनको सर्वज्ञता का साधन हुए हैं, इसलिये मोह विजयी महावीर अपने इष्ट हैं।

एक रीति से देखा जाये तो, उपरोक्त घटना में हाथी द्वारा हुआ उत्पात वह उदयभावों का प्रतीक है; और महावीर ने शान्त-प्रतिबोध से उसे जीत लिया वह उपशान्त भाव का प्रतीक है। बाल्यावस्था में भी उस महावीर आत्मा में जितना उपशान्त भाव (ज्ञान चेतना रुप भाव) था वहीं हमें इष्ट है, और उस भाव स्वरुप ही हमें महावीर को देखना चाहिये।

[पुराणों में वर्णित प्रत्येक घटना द्वारा उन-उन आराधक महात्माओं की चैतन्य परिणती में ज्ञानादिके कैसे भाव वर्तते थे, उनभावों की पहिचान करने से उन आराधक जीवों की सच्ची पहिचान होती है और स्वयं को वैसे आराधक भाव की उत्तम प्रेरणा मिलती है।

## सन्मतिनाथ

## [संजय और विजय मुनिवरों का प्रसंग]

तीर्थंकर वर्द्धमान जब बाल्यावस्था में थें उस काल पार्श्वनाथ तीर्थंकर का शासन चल रहा था; उस शासन में संजय और विजय नाम के दो मुनि विचर रहे थे; रत्नत्रयवन्त वे मुनिवर आकाश गामी थे । स्वानुभूति की चर्चा करते-करते वे सिद्ध क्षेत्र की यात्रा हेतु सम्मेदशिखर तीर्थभूमि में पधारे और वहाँ अनन्त सिद्धों का स्मरण करके आत्मध्यान किया। पश्चात् संजय मुनि बोले-अहा, स्वानुभूति में आत्मा स्पष्ट ज्ञात होता है; वहाँ मति-श्रुतज्ञान होनेपर भी वे अतीन्द्रिय भाव से काम करते है, इसलिये स्वसंवेदन में प्रत्यक्षपना है इसमें कोई सन्देह नहीं रहता।

तब विजय मुनिने कहा-हाँ मुनिराज! आपकी बात सत्य है; परन्तु मति-श्रुतज्ञान निर्बल होने से किन्ही सूक्ष्म ज्ञेयोंमें सन्देह भी बना रहता है। देखो न, सूक्ष्म अगुरुलघुत्वजनित षट्गुण वृद्धि हानि के किसी गंभीर स्वरुप का हल अभी हमें नहीं मिलता और सूक्ष्मशल्य रहा करती है। पार्श्वनाथ भगवान तो मोक्ष पधार गये; वर्द्धमान तीर्थंकर अभी बाल्यावस्था में हैं; किन्हीं केवली या श्रुतकेवली के दर्शन से ही हमारी इस सूक्ष्म शंका का समाधान हो सकेगा। -इस प्रकार सूक्ष्म शल्य सहित विचरते हुए वे मुनिवर सम्मेदशिखर तीर्थ की यात्रा करके लौटते समय वैशाली-कुण्डपुर में सिद्धार्थ महाराजा के राजप्रासाद के उपर से जा रहे थे और सोच रहे थे कि अहा, यह एक तीर्थंकर की जन्मभूमि है; भारत के अन्तिम तीर्थंकर इस नगरी में विराज रहे है। ऐसी महिमा करते करते उनके आत्मा में कोई आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगा। अंतर की गहराई में रही हुई सूक्ष्म शल्य न जाने कहाँ चली गई!

शल्यरहित नि:शल्य हो जाने से उन मुनिवरों कें आत्मा प्रफुल्लित हो उठे... अचानक यह क्या हुआ? वह देखने के लिये पाठक! चलो त्रिशला माता के भवन में!...

-उस समय राजप्रासाद के झरोखें में वर्द्धमान कुमार त्रिशला माता के साथ बैठे थे। जैसे चैतन्य की स्वानुभूति द्वारा जिनवाणी माता सुशोभित होती है वैसे ही वीर कुँवर द्वारा त्रिशला माता शोभायमान हो रही थीं। माता पुत्र के वात्सल्य का अद्वितीय दृश्य देखनेवालों के हृदय से स्नेह उमड़ता था। बालप्रभु महान स्वानुभूति की दिव्यता और साथ ही तीर्थंकरत्व की सातिशयता से सुशोभित हो रहे थे; नि:शकता, प्रभावनादि आठ गुणोंसे वे अलंकृत थे। संजय और विजय मुनिराज जब आकाशमार्ग से गमन करते हुए राजप्रासाद के उपर आये तब अचानक ही उनकी दृष्टि वर्द्धमान कुँवर पर पड़ी; बालतीर्थंकर को देखकर वे आश्चर्य में पड़ गये... क्षणभर के लिये थम गये और उनकी महिमा का विचार करने लगे। इतने में सातिशय जिनमहिमा के प्रताप से उनका मतिज्ञान उज्जवल हुआ और सूक्ष्म शंकाओं का भी समाधान हो जाने से वे नि:शल्य हो गये; इस प्रकार वीरनाथ प्रभु उनको मति की उज्जवलताके कारण बने; इसलिये मुनिवरोंने प्रसन्नचित्त से उनको 'सन्मतिनाथ' नाम से सम्बोधन किया। वाह, वीर-वर्द्धमान-महावीर-सन्मतिनाथ आपका एक मंगल-नामकरण इन्द्रने, दूसरा माता-पिता ने, तिसरा देवने और चौथा मुनिवरों ने किया। तीन उत्तम ज्ञान तथा चार उत्तम नामों को धारण करने वाले आप त्रिजगत को रत्नत्रय का इष्ट उपदेश देकर कल्याण करने वाले हो; आपकी जय हो।

मुनिवरों ने प्रभुको 'सन्मतिनाथ' विशेषण से अलंकृत किया, जिससे प्रसन्न होकर नगरजनों ने उत्सव किया; देवों ने आकाश में बाजे बजाकर आनन्द मनाया; 'अहो सन्मतिनाथ! आप हमें अपूर्व सम्यक्‌मति के दाता हो, आपकी पहिचान से हमारी मति सम्यक् हुई है... और उसके द्वारा चैतन्यतत्त्व प्राप्त करके हम आपके मार्ग की साधना कर रहे है। सबको सन्मतिदाता सन्मतिनाथ की जय हो...

## राजसभा में युवराज महावीर की धर्मचर्चा

### [श्री वीरमुख से चैतन्य की अचिन्त्य महिमा का वर्णन]

भगवान वीर कुमार वीस वर्ष के हो गये थे। युवा होने पर भी अध्यात्मरस के रसिक वे राजकुमार राजयोगी समान जीवन जीते थे; कभी-कभी चैतन्य की धून मे लीन हो जाते और कभी तो अर्धरात्रि को राजभवन से बाहर निकलकर उद्यान में खड़े-खड़े ध्यान धरते थे..मानों कोई मुनिराज खड़े हों! ऐसा होने पर भी कही दिनभर शून्यमनस्क-उदास नहीं बैठे रहते थे; सबके साथ हिलते-मिलते और प्रजाजनों के सुख-दु:ख की बातें सुनते थे। यद्यपि राज्य का कार्यभार सम्हालने में उनकी रुचि नही थी, फिर भी कई बार राजसभा में जाते और पिता सिद्धार्थ के समीप बैठते थे। उनके आगमन से राजसभा सुशोभित हो उठती थी, सभाजन उनके दर्शन से आनन्दित होते और उनकी मधुर वाणी सुनकर मुग्ध हो जाते थे।

एक बार सभाजनों ने महाराजा सिद्धार्थ से प्रार्थना की-हे देव! आज की राजसभा अद्भुत लग रही हैं; वीर कुँवर को देखकर मानो अंतर में रत्नत्रय का उद्यान खिल उठा हो ऐसी प्रसन्नता हो रही है। उनके श्रीमुख से हम सब आत्मतत्वकी अचिन्त्य महिमा सुनना चाहते हैं।

महाराजा ने भी प्रसन्नता से उनके प्रस्ताव का समर्थन किया कि-वाह, धर्मचर्चासे उत्तम और क्या होगा! इतना कहकर उन्होंने वीर कुँवर की ओर दृष्टि डाली और उन्हें बोलने का संकेत किया।

तब अत्यंत मधुर धीर-गंभीर वाणी द्वारा वीर कुमार ने चैतन्यतत्व की परम अचिन्त्य महिमा

समझायी। प्रभुने क्या कहा, वह हम भी सुनें-अहो, चैतन्यतत्त्व स्वयं आनन्द स्वरूप हैं; पुद्गलपिण्ड शरीर से चैतन्य आत्मा भिन्न हैं; वह इन्द्रियोंसे परे चेतनारूप हैं और चेतना द्वारा ही उसका स्वसंवेदन होता हैं; किन्हीं बाह्य चिन्होंसे, अथवा इन्द्रियज्ञान द्वारा उसका ग्रहण (अनुभवन) नही हो सकता, इसलिये वह 'अलिंगग्राह्य' हैं।[यहाँ अलिंगग्रहण के २० अर्थ और उनके सुन्दर काव्य की रचना की हैं, परन्तु ग्रन्थविस्तार के कारण छाप नहीं सके। ऐसे अनेक प्रकरण रह गये हैं जो योग्य अवसर पर अलग से प्रकाशित करेंगे।-लेखक]

छे चेतना अद्भुत अहो, निज स्वरुपमां व्यापी रही,
इन्द्रियोथी पार थई निज आत्मने देखी रही;
स्वानुभूतिवन्त जीवमां सुन्दरपणे शोभी रही,
आनन्द करती मस्त थई निज मोक्ष ने साधी रही.

राजयोगी वर्द्धमानने स्वानुभूतिगम्य आत्मतत्त्व की ज्ञानचेतना का अद्भुत वीतरागी स्वरुप समझाते हुए कहा-यह ज्ञानचेतना स्वरुप आत्मा हैं, उस चेतना में रागादि विभावोंका मिश्रण नहीं हैं। एक परमाणु जितने राग का भी यदि ज्ञानचेतना में मिश्रण करोगे तो ज्ञान के परमार्थ स्वादका अनुभव नहीं होगा; राग में ज्ञानका रस नहीं हैं। इसलिये हे जीवो! यह वीतराग उपदेश प्राप्त करके तुम सर्वत: रागसे भिन्न ऐसे शुद्धज्ञान का आस्वादन करो। परम आनन्द स्वादसे भरपूर वह शुद्धज्ञान ही आत्माका निजपद हैं। अहो, यह ज्ञानस्वरुप आत्मा सत्य हैं, उसकी प्रीति करो, तन्मयता से उसका अनुभव करो; उसका अनुभव ही परमतृप्ति एवं सन्तोष हैं...वही कल्याण हैं, और वही मोक्षसुख है। आत्मा अनन्तशक्ति का स्वामी है, वह जब स्वयं जागृत हो तब सहज-प्रयत्नसे अपना कल्याण कर लेता हैं।

एक सभाजन ने आतुरता से पूछा-प्रभो!'आत्मा अनन्तशक्ति सम्पन्न हैं'-तो उसमें कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं वह आपके श्रीमुख से सुनने की उत्कण्ठा हैं।

उसके उत्तर में मोक्षसाधक युवराज महावीर ने चैतन्यस्वरुप आत्मा की अनन्त शक्तियों का अद्भुत, परम अध्यात्मरस पूरित वर्णन किया—अभेदरुप ज्ञानलक्षण द्वारा लक्षित करके ज्ञायक का अनुभव करने पर जीवत्व, चेतना, सुख, वीर्य, प्रभुता, विभुता, स्वसंवेदनता-आदि अनन्त चैतन्य शक्ति रुपसे आत्मा एक साथ वेदनमें आता है। अहा, जिसकी प्रत्येक शक्ति की महत्ता अपार है ऐसी अनन्त शक्तियाँ, वे भी रागरहित शुद्धपरिणमन युक्त ऐसी अगाध शक्तिवान आत्मा की अद्भुत महिमा एक भावी तीर्थंकर के श्रीमुख से साक्षात् सुनकर अनेक भव्य जीव उस चैतन्यमहिमा में इतने गहरे उतर गये कि तत्क्षण ही महाआनन्द सहित निर्विकल्प आत्मानुभूति को प्राप्त हुए और अनन्त शक्तियों का स्वाद एक साथ स्वानुभूति में चख लिया। एक राजकविने प्रभु द्वारा कही गई अनन्त शक्तियों का संक्षिप्त वर्णन तत्काल 'आत्मस्तवन' रूप में गूँथकर राजसभा को सुनाया। आप भी मधुर चैतन्यरस से भरपूर उस काव्य का रसास्वादन करें :—

## आत्म-स्तवन (४७ शक्तिनुं काव्य)

जीव छे अनन्ती शक्तिसंपन्न, रागथी ते भिन्न छे;
ते जीवने लक्षित करावा 'ज्ञानमात्र' कहेल छे. १.

अेक ज्ञानमात्र ज भावमां शक्ति अनन्ती उछले;
अहीं वर्णवे ते शक्तिने भवि जीव जाणो तेहने. २.

'जीवत्व' थी जीवे सदा जीव चेततो 'चिति' शक्तिथी;
'दशि' शक्तिथी देखे बधुं ने जाणतो वली 'ज्ञान' थी. ३

आकुल नहि 'सुख' शक्तिथी, निजने रचे निज 'वीर्य'थी;
'प्रभुता' वडे शोभित ने व्यापक छे 'विभु' शक्तिथी; ४

सामान्य देखे विश्वने ते 'सर्वदर्शि' शक्ति छे;
जाणे विशेषे विश्वने 'सर्वज्ञता'नी शक्ति छे. ५

ज्यां आवी झलके विश्व अेवी शक्ति छे 'स्वच्छत्व' नी;
छे स्पष्ट स्वानुभवमयी ते शक्ति जाण 'प्रकाशनी'. ६

राजकुमार
महावीर



आत्मशक्तिना
चिंतनमां

'विकासमां संकोच नहि' ते शक्ति तेरमी जाणवी;
'नहि कार्य-कारण' कोईनुं अेवी ज शक्ति आत्मनी. ७.

जे ज्ञेयनो ज्ञाता बने, वली ज्ञेय बनतो ज्ञानमां,
ते शक्तिने 'परिणम्य-परिणामक' कहे छे शास्त्रमां. ८.

'नथी त्याग के नथी ग्रहण' बस! निजस्वरूपमां स्थित जीव छे;
स्वरूपे प्रतिष्ठित जीवनी शक्ति 'अगुरुलघुत्व' छे. ९.

'उत्पाद-व्यय-ध्रुव' शक्तिथी जीव क्रम-अक्रम वृत्ति धरे;
'परिणाम' शक्तिथी सत्पणुं त्रणकालमां ते नहि फरे. १०.

नहीं स्पर्श जाणो जीवमां आत्मप्रदेश 'अमूर्त' छे;
कर्ता नथी परभावनो अेवी 'अकर्तृ' शक्ति छे; ११.

भोक्ता नथी परभावनो अेवी 'अभोक्तृ' शक्ति छे;
'निष्क्रियता' रूप शक्तिथी आत्मप्रदेश निष्पंद छे. १२.

असंख्य निज अवयव थकी 'नियत प्रदेशी' आत्म छे;
ते शरीरमां नथी व्यापतो 'स्वधर्म-व्यापक' शक्ति छे. १३.

स्व-परमां जे सम, अने विसम वली छे मिश्र जे;
त्रणविध अेवा धर्मने निजशक्तिथी आत्मा धरे. १४

जीव-नंत भावो धारतो 'अनन्तधर्म'नी शक्तिथी;
तत् ने अतत्पणुं साथ वरते 'विरुद्धधर्म' नी शक्तिथी. १५

जे ज्ञाननुं तद्रूप भवन ते 'तत्त्व' नामनी शक्ति छे;
वली अतत्रूप परिणमन जीवनुं ते 'अतत्त्व' शक्ति छे. १६

बहु पर्ययोमां व्यापतो पण अेक द्रव्यपणे रहे;
निजस्वरूपनी 'अेकत्व' शक्ति जाणी जीव शांति लहे. १७.

छे अेक द्रव्य ज जीव पण 'अनेक' पर्ययरूप बने;
स्वपर्ययोमां व्यापतो जीव सुखी ज्ञानी सिद्ध बने. १८.

छे 'भाव' शक्ति जीवनी सत्रूप अवस्था वर्तती;
वली असत्रूप छे पर्ययो ते 'अभाव' शक्ति जीवनी. १९

'भावनो तो अभाव' थाय, 'अभावनो वली भाव'रे,
अे शक्ति बंने अेकीसाथे ज्ञानमां तुं जाणजे. २०.

वली 'भाव ते तो भाव' ने 'अभाव तेह अभाव' छे;
अेवा स्वभावे जीव चेतन निजगुणे देखाय छे. २१.

नहि कारकोने अनुसरे अेवो ज भवतो 'भाव' छे;
ने कारकोने अनुसरे तो तेनी 'क्रियाशक्ति' छे. २२

निज 'कर्म-शक्ति' थी आतमा सिद्धरूप भाव ज पामतो;
वली 'कर्तृ-शक्ति'ना बले पोते ज भावकरूप थतो. २३

जे ज्ञानरूप छे शुद्ध भावो तेहनुं जे भवन छे.
आत्मा स्वयं ते भावनुं उत्कृष्ट साधन थाय छे. २४.

तुज 'करण-शक्ति' जाण रे! तुं बाह्य साधन शोध मा!
आत्मा ज तारो करण छे—पछी वात बीजी पूछ मा. २५

आत्मा वडे निज आत्मने जे ज्ञानभाव अपाय छे,
तेने ग्रहे छे आतमा—अे 'संप्रदान' स्वभाव छे. २६

उत्पाद-व्ययथी क्षणिकता पण ध्रुवनी हानि नहीं,
सेवो सदा सामर्थ्य अेवुं 'अपादान'नुं निजमहीं. २७.

भाव्यरूप जे ज्ञानभावो परिणमे छे आत्ममां,
आत्मा ज तेनुं 'अधिकरण' भाख्युं अहो! जिनवचनमां. २८.

छे 'स्व अने स्वामित्व' मारुं मात्र निजस्वभावमां,
निजभावथी को अन्यमां छे स्वत्व मारुं नहि कदा. २९.

अनेकान्त छे जयवंत अहो! निजशक्तिने प्रकाशतो,
शक्ति अनन्ती माहरी मुज ज्ञानमां ज समावतो. ३०.

ज्ञानलक्षण भाव साथे अनन्त भावो उल्लसे,
अनुभव करुं अेनो अहो! विभाव कोई नहीं दीसे. ३१.

जिनमार्ग सौ पामो अहो, श्री वीर-वचन प्रसादथी,
अंदर नीहालो रूप चेतन, पार जे परभावथी. ३२.

निजशक्तिने देखो अहो, निजात्म अंतर-दृष्टिथी,
निजशक्तिनो वैभव अहो! आ पार छे परभावथी. ३३.

ज्ञान मात्र ज अेक ज्ञायक पिंडलो हुं आतमा,
अनन्त गंभीरता भरी में देखिया परमातमा. ३४.

आश्चर्य अद्‌भुत थाय छे निज विभवनें नीहालतां,
आनन्दमय आह्लाद उछले फरीफरीने ध्यावतां. ३५

अद्‌भुत अहो! अद्‌भुत अहो! छे विजयवंत स्वभाव आ,
जयवंत ते अनेकान्त जेणे निज निधान बताविया. ३६.

[पूज्यश्री कानजी स्वामी जब अस्वस्थ थे उस समय ब्र० हरिभाई उन्हें आत्मशान्तिका यह काव्य कई बार सुनाते थे; इसे सुनकर वे अति प्रसन्न होते थे। इस काव्य इस काव्य सम्बन्धी उनके प्रमोदभरे हस्ताक्षर यहाँ दिये जा रहे है—]

ૐ સહજાત્મસ્વરૂપ અનંત શક્તિ સંપન્ન
ચૈતન્ય ચિત્ ચમત્કાર ચિંતામણી
ભગવાન જિ જયે.

वाह, आत्मा के अपार वैभव का मधुर संगीत सुनकर सभाजन शांत रसमें निमग्न होगये। आज की धर्मचर्चा में इतने तन्मय हो गये कि किसीको उठने का मन नहीं होता था। अहां, एक तो अति सुन्दर आत्मतत्त्व की चर्चा और वह भी तीर्थंकर के श्री मुखसे... सुनकर किसे आनन्द नहीं होगा?

सबको ऐसा लगा कि अहा! अभी तो चौथा कालधर्मयुग वर्त रहा है और अन्तिम तीर्थंकर के आत्मा हमारे समक्ष साक्षात विराज रहे हैं। जगत के जीवों को तो उनकी दिव्य ध्वनि उपदेश उन्हें केवलज्ञान होने पर सुनने को मिलेगा, जब कि हमें—वैशाली गणतंत्र के प्रजाजनों को तो वर्तमान में ही उनके श्रीमुख से धर्मश्रवण का महाभाग्य प्राप्त हुआ है, तथा उनके प्रताप से अनेक जीव धर्म प्राप्त कर रहे है।—इस प्रकार वीर कुवँर की प्रशस्ति एवं जयजयकारपूर्वक सभा समाप्त हुई।

## [वैरागी वर्द्धमान-विवाह से इन्कार और चन्दना के साथ चर्चा]

अहा, बालतीर्थंकर वीरकुमार का जीवन तो ज्ञान चेतना सम्पन्न है। धर्म के भरयौवन में वर्तते हुए वे अंतरात्मा अपनी ज्ञानचेतना को विषय-कषायों से अत्यन्त दूर रखते हैं। एक तो राजपुत्र, और उसमें युवावस्था होने पर भी उनके चित्त में कोई विकार वासनाओंका उद्भव नहीं होता; वे तो अपनी चैतन्य मस्ती में मस्त हैं। शरीर के दिव्य रुप के साथ-साथ उनकी चेतना का रुप भी निखरता जा रहा है। ज्यों-ज्यों शरीर का रुप बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों वीरप्रभु की शरीरके प्रति विरक्ति में भी वृद्धि हो रही है। अहा, देह की वृद्धि होने पर भी देह के प्रति ममत्व में वृद्धि नहीं हो रही है।

वैशाली गणतंत्र के शृंगाररुप वर्द्धमान कुमार की वीरता एवं रुप गुणसम्पन्न युवावस्था को देखकर अनेक राजाओं की ओर से अपनी राजकुमारियों का विवाह वर्द्धमान कुमार से करने के लिये महाराजा सिद्धार्थ के पास मंगनी आने लगी। एक बार कलिंग देश की चम्पापुरी के महाराजा जितशत्रु की ओर से सन्देश लेकर एक राजदूत वैशाली कुण्डपुर आया और उत्तम भेटों द्वारा महाराजा तथा वीरकुँवर का सन्मान करके कहने लगा-हे महाराज! हमारे महाराजा की राजकुमारी यशोदा रुप-गुणसम्पन्न है; जैसे उत्तम उसके धर्म-संस्कार हैं, वैसा ही अद्भुत रुप-यौवन है; श्री वीरकुँवर के उत्तम गुणों से आकर्षित होकर हमारे महाराजाने यशोदा कुँवरी का विवाह वीर कुँवर के साथ करने का निश्चय किया है, वह प्रस्ताव लेकर मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ।

सिद्धार्थ महाराजा ने दूतकी बात सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की और उसका सन्मान किया। जब त्रिशलामाता ने यह बात सुनी तब उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई, और कलिंग देश की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा से विवाह करने हेतु वीरकुँवर की संमति माँगी।

परन्तु..वे तो वीर...वीतरागता को वर्द्धमान करनेवाले महावीर...कुछ वर्षों की आयु में जिन्हें महान कार्य करना है ऐसे उन वैरागी महात्मा का हृदय पहले से ही संसार से विरक्त था, विषयों से परे चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का आस्वादन करके जो सदा मुक्तिसुन्दरी के साथ आनन्द करते हैं और अलौकिक मुक्तिसुन्दरी के प्रति जिनका चित्त आकर्षित है, उनको सांसारिक भोगों की आकांक्षा कैसे होती? जब माताजी ने यशोदा सुन्दरी के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा तब वीरकुँवर क्षण भर तो माता के समक्ष देखते रह गये। माता के हृदय को आघात न लगे इस प्रकार गंभीरता से मुस्कराते हुए कहा-हे माता! आपका पुत्रप्रेम अपार है; किन्तु अपने प्रिय पुत्रको संसार बंधन में बाँधनेका मोह न करो। आप जानती हैं कि इसी भव में मुझे अपनी मोक्षसाधना पूरी करना है। आयु अल्प है, वहाँ विषयकषाय के पिंजरे में बन्द हो जाना मुझे योग्य नहीं है। इसलिये हे माताजी! आप भी मोह छोड़ो और मेरे विवाह की बात न करो। 'वीर मेरा पुत्र और मैं उसकी माता'-ऐसी मोहदृष्टि से मुझे न देखो, परन्तु अल्पकाल में ही यह आत्मा मोक्ष को साधनेवाला हैं-ऐसी तत्त्वदृष्टि से देखो।

अपने लाड़ले पुत्र के विवाह अभिलाषा किस माता को नहीं होगी? विरागी वीरकुँवर की बात

सुनकर त्रिशलामाता के हृदय को आघात तो लगा; परन्तु वे तो यथार्थ परिस्थिति को जानती थीं, महावीर की दृढ़ता से परिचित थीं; वे समझ गई कि वीर कुँवर को विवाह के लिये समझाना कठिन है। उन्होंने विचार किया कि महावीर जो करता है वही योग्य है। मेरा पुत्र विवाह करके सांसारिक बंधनों में बँध जाय, उसकी अपेक्षा लाखों भव्यजीवों का उद्धार करके मुक्तिसुन्दरी का वरण करे यही उचित है-उत्तम है। ऐसा समझते हुए भी पुत्रमोहवश माता का हृदय पुकार उठा कि-बेटा, तेरी बात सच है, परन्तु अभी तेरी युवावस्था है, इसलिये विवाह करके गृहस्थाश्रम चलाओ, फिर संसार छोड़कर धर्मतीर्थ चलाना। तुमसे पूर्व ऋषभादि तीर्थंकरोंने भी ऐसा ही किया है।

महावीर ने कहा-माँ! समझते हुए भी तुम पुत्रमोह के कारण ऐसा कह रही हो। हे माता! क्या संसार के जाल को तुम नहीं जानती! देखो तो सही, कितना दुःखी है यह विषयाधीन संसार! इससे तो जितनी जल्दी छूटा जा सके उतना अच्छा! हे माता! इस सम्बन्ध में ऋषभादि तीर्थंकरों का उदाहरण मेरे लिये उचित नहीं है; क्योंकि उनकी आयु तो करोड़ों-अरबों वर्ष की अतिदीर्घ थी; जबकि मेरी आयु तो मात्र ७२ वर्ष की है और उसमें से तीस वर्ष तो व्यतीत हो चुके हैं; मेरे लिये तो अन्तिम तीर्थंकर श्री नेमिनाथ और पार्श्वनाथ का उदाहरण ही ठीक लगता है; उन तीर्थंकरों ने विवाह नहीं किया था, उसी प्रकार मैं भी विवाह के बंधन में आत्मा को नहीं बाँधना चाहते।

बस! पुत्र के हृदय को बराबर जाननेवाली माता ने फिर कोई विशेष तर्क नहीं किया। पुत्र की महानता देखकर वे मन ही मन गौरव का अनुभव करने लगीं; उनके मोहपर मानो महावीर के वैराग्य का कुठाराघात होने से मोह के टुकड़े होने लगे; धर्म साधना के प्रति उनका चित्त दृढ़ हो गया। कलिंग के राजदूत को निराशापूर्वक विदा करना पड़ा...हाँ, परन्तु वीरकुँवरने यशोदा कुमारी के लिये एक अमूल्य भेट भेजी...वह भेट अर्थात् 'उत्तम वैराग्यजीवन जीने का महान आदर्श!' यशोदाकुमारीने भी बड़े उत्साहपूर्वक उस महान आदर्श को स्वीकार किया और राजुल की भाँति वैराग्यपूर्वक अपना जीवन आत्मसाधना के मार्ग में लगाया।

जब कुण्डग्राम के निकट स्थित वैशाली में त्रिशलामाता की सबसे छोटी बहिन राजकुमारी चन्दनबालाने उपरोक्त घटना सुनी तब उस वीर मौसीने हार्दिक उल्लासपूर्वक वर्द्धमानकुमार के वैराग्य का स्वागत किया-वाह, धन्य है महावीर को!' चन्दना अभी छोटी है, परन्तु उसका हृदय महान है। वीरकुमार विवाह नहीं करेंगे वह जानकर मौसी चन्दनबालाने भी मन ही मन विवाह न करने का निर्णय कर लिया। धन्य चन्दना! धन्य तुम्हारे शील का सौरभ!

चन्दना ने समझ लिया कि विरागी महावीर अब अधिक दिनों तक गृहवास नहीं करेंगे, इसलिये अपने भानजे महावीर से मिलने तथा उनके साथ वैराग्य चर्चा करने हेतु उसका मन लालायित हो उठा और कुछ ही दिन में वह कुण्डग्राम पहुँच गई एक दिन वह बड़ी बहिन त्रिशलादेवी के पास बैठी वीरकुमार का गुणगान कर रही थी, इतने में प्रिय भानजा आ पहुँचा। छोटी मौसी को देखकर वीरकुमार ने प्रसन्नता व्यक्त की, और वैरागी भानजे को देखकर चन्दना का हृदय भी उनके प्रति नतमस्तक हो गया। वह कहने लगी-वीरकुमार! तुम्हारे उत्तम गुणों को देखकर मुझे बड़ा आनन्द होता है। अहा! एक तीर्थंकर की मौसी होने के नाते मेरा हृदय गौरव का अनुभव करता है...परन्तु प्रिय वीरकुमार! मैं मात्र तुम्हारी मौसी होकर नहीं रहूँगी...जब तुम तीर्थंकर होगे और जगत को मोक्षमार्ग का उपदेश दोगे तब मैं भी तुम्हारे मार्ग का अनुसरण करके तुम्हारे शासन को सुशोभित करूँगी।

'हाँ मौसी!' महावीर ने कहा-तुम्हारी बात सच है; तुम्हारे उत्तम धर्मसंस्कारों को मैं जानता हूँ,

तुम भी संसार के मोहजाल में फँसना नहीं चाहतीं और आत्मसाधना में ही जीवन बिताना चाहती हो, यह जानकर मुझे आनन्द होता है।

देव वर्द्धमान! राग से अलिप्त ज्ञान चेतना की अपार महिमा तुम्हारे जीवन में दिखायी देती है, जिसे देखकर हमारी चेतना भी जागृत हो जाती है, और मानो इसी समय निर्विकल्प चेतनाका आस्वादन कर लूँ, इस प्रकार अत्यन्त उत्कण्ठा होती है। किन्तु प्रभो! अंतर में आत्मा का विचार करते हुए विकल्प भी साथ ही साथ दिखते रहते हैं। वे विकल्प चैतन्य का स्वाद नहीं लेने देते; तो उनसे छूटकर चैतन्य का आस्वादन कैसे किया जाय! उसकी रीति बतलाओ न!

-'वाह मौसी!' महावीरने कहा; चैतन्य के रसास्वादन की तुम्हारी ऐसी उत्कण्ठा देखकर मुझे प्रसन्नता होती है। देखो, अन्तर में विचार के समय जो विकल्प दिखायी देते हैं, उसी समय विकल्पों को जाननेवाला ज्ञानभी साथ ही है न! वह ज्ञान कहीं विकल्पों को नहीं करता। ज्ञान विकल्पों को जानता है, किन्तु उन्हें करता नहीं है। चैतन्य के चिन्तनकाल में जो किंचित् भी शान्तिका आभास होता है वह ज्ञानका कार्य है, और जो विकल्प रह जाते है वह राग का कार्य है। -इस प्रकार ज्ञान और राग दोनों के कार्य एक-दूसरे से विरुद्ध है; उन दोनों को भली भाँति जानने से ज्ञान का रस अधिक हो जायेगा और राग का रस टूट जायेगा। ज्ञान अपने रस में वृद्धि करता-करता अन्त में अपने अनंत चैतन्यभावों से भरपूर एक ज्ञानस्वभाव में ही तन्मय होकर उसके अतीन्द्रिय महान आनन्द का स्वाद लेगा। मौसी, तुम प्रयत्न करोगी तो आज ही तुम्हें उस अपूर्व स्वादका अनुभव होगा।

अहा, प्रभु वर्द्धमान! तुम्हारी ऐसी उत्तम बात और उत्तम प्रेरणा से मेरा आत्मा झंकृत हो उठता है; मैं इसी समय वह चैतन्यस्वाद लेने के लिये अन्तरोन्मुख होती हूँ। तुम्हारे पास से चैतन्यस्वरुप की जो अपार गम्भीर महिमा सुनी है उसे अभी हाल अनुभवगोचर करती हूँ।

'बहुत ही अच्छा!' ऐसा कहकर महावीर ने उसका अनुमोदन किया, और चन्दनबाला तुरन्त ही गम्भीर वैराग्य से चैतन्य के उल्लसित भावों से आत्मस्वरुप का चिन्तवन करने लगी। अहा, क्षण-दो क्षण हुए कि चन्दना को चैतन्यदेव जागृत होने लगे...चन्दन जैसी आनन्दमय सुगन्ध से उसका आत्मा महक उठा। भावी तीर्थंकर सामने ही बैठे हैं, परन्तु अभी चन्दना को उनका भी लक्ष नहीं है, वह तो निर्विकल्प आनन्द की अनुभूति में निमग्न होकर आत्मा में सम्यक्त्व तीर्थ का प्रारम्भ कर रही है...मानो कोई लघु तीर्थंकर गृह-आँगन में तीर्थ का प्रवर्तन कर रहे हों। धन्य हुई चन्दनबाला! उसने वीरतापूर्वक सदाके लिये स्त्री पर्याय का छेदन कर दिया। वाह रे वाह! तीर्थंकर की माता की लाड़ली बहिन! तूने अपना जीवन सफलकर लिया।

स्वानुभूति की निर्विकल्प दशा से उपयोग बाहर आनेपर भी चन्दना की दशा कोई परम अद्भुत थी। उस गंभीरता को देखकर वीर कुँवर समझ गये कि मौसी को अपूर्व आनन्द की अनुभूति हो चूकी है। अहा, ऐसी धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि मौसी को देखकर महावीर भी आनन्दित हुए। चन्दनबालाने अपनी बड़ी दीदी त्रिशलादेवी के साथ स्वानुभूति की महिमा और साथ-साथ वीरकुँवर की महिमा की गम्भीर चर्चा की। 'दोनों सम्यग्दृष्टि बहिनों की चर्चा वास्तव में अद्भुत थी, उसमें से मानो अतीन्द्रिय आनन्द के झरने झरते थे...परभावों से अलिप्त ज्ञान चेतना की अगाध महिमा उसमें भरी थी...' धन्य हैं ऐसी ज्ञानचेतनावंत धर्मी जीव।

## दो बहिनों की सुन्दर धर्मचर्चा

राजकुमार वर्द्धमान और वैराग्यवती चन्दनबाला की अद्भुत चैतन्यरसपूर्ण चर्चा और उसके फलस्वरुप चन्दनबाला को सम्यक्त्व की प्राप्ति का आनन्ददायी वर्णन हमने पढ़ा। पश्चात् चन्दनाने त्रिशला दीदी के साथ स्वानुभव की तथा वीरकुँवर की अद्भुत महिमाकी जो चर्चा की उसे जानने की आत्मार्थी पाठकों की उत्कण्ठा देखकर यहाँ वह सुन्दर चर्चा दे रहे हैं।-

चन्दना ने हर्षित होकर कहा-दीदी, वीर वर्द्धमान कुँवर को प्राप्त करके हम सचमुच धन्य हो गये हैं; उनकी ज्ञानचेतना की गम्भीरता और वीतरागी अनुभूति अति गहन है।

त्रिशलादेवी बोलीं-हाँ, बहिन चन्दना! तेरी बात सच है; वीर कुँवर तो 'आनन्द की चलती-फिरती अनुभूति' है; उन्हें देखकर ऐसा लगता है जैसे अपने घर में चलते-फिरते छोटे सिद्ध हों। ऐसे गम्भीर वीर कुँवर कई बार मेरे पास अपना हृदय खोलते हैं और अपनी गम्भीर अनुभूति के रहस्य मुझे बतलाते हैं...उस समय यह संसार विस्मृत हो जाता है और आत्मा में ऐसी झनझनाहट उठती है जैसे मोक्षपुरी में केलि कर रही होऊँ।

चन्दना-अरे दीदी! मुझे भी महावीरने आज स्वानुभूति के गहन रहस्य समझाकर आनन्द का अपूर्व अनुभव कराया है। मेरे लिये तो उन्होंने आजसे ही धर्मतीर्थका प्रवर्तन प्रारम्भ कर दिया। उनके अपूर्व उपकार की क्या बात करुँ!

त्रिशला-बहिन, आत्मशान्ति से भरपूर उनकी वाणी चमत्कारिक है, उसे सुनकर आश्चर्य होता है और चैतन्यभाव जाग उठते हैं।

चन्दना-हाँ दीदी, आज ही मुझे उनकी प्रसन्न वाणी का लाभ प्राप्त हुआ और मेरे आत्मा में अपूर्व चैतन्यभाव जाग उठे...रागरहित ज्ञानरस कितना मीठा है उसका मैंने आज आस्वादन किया।

त्रिशला-वाह चन्दना! तू धन्य हो गई! मेरी लाड़ली छोटी बहिन आत्मानुभूति को प्राप्त हो-ऐसी उत्कण्ठा मुझे बहुत दिनों से थी, जो आज पूरी हुई। तेरी बातें सुनकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है।

चन्दना-अहा, वर्द्धमान तो वर्द्धमान ही हैं, उनकी वैराग्यदशा पाताल जैसी गहरी है!

त्रिशला-ठीक है बहिन! **'ज्ञानकला जिसके घट जागी...ते जगमाहिं सहज वैरागी'**-ऐसा जो सिद्धान्तवचन है वह हमें तो अपने घर में ही चलता-फिरता प्रत्यक्ष दिखायी देता है। और चन्दना बहिन! तेरा जीवन भी वीरकुँवर के सम्पर्क से स्वानुभूति प्राप्त करके कैसा सुशोभित हो रहा है! महावीरकुमार जब तीर्थंकर होकर धर्मनेता बनेंगे तब तू भी भारत के समस्त श्राविका संघ की तथा आर्यिका संघ की नायिकारुप से समवसरण में शोभा देगी।

बड़ी बहिन की यह बात सुनकर चन्दना प्रसन्नता से बोली-दीदी! धन्य है वह अवसर! मैं उस दिनकी भावना भाँती हूँ जब वीरकुमार को सर्वज्ञरुप में देखूँ और उनकी धर्मसभा में बैठकर आत्मसाधना करुं! साध्यरुप आत्मा तो उनके प्रताप से हमने अपने अंतर में देख लिया है और अपूर्व आत्मसाधना का प्रारम्भ हो चूका है।

'अहा, मेरापुत्र महावीर इस जीवन में ही सर्वज्ञ परमात्मा बनेगा...मैं सर्वज्ञ महावीर की माता कहलाऊँगी और एक अवतार के बाद मेरे भी भवका अन्त होकर मैं भी सर्वज्ञ परमात्मा बनूँगी।'-ऐसे विचार से प्रियकारिणी-त्रिशलादेवी का चित्त किसी अनुपम आल्हाद का अनुभव करने लगा। अहा, अपने ही आत्मा को सर्वज्ञ-परमात्मारुप से देखकर मुमुक्षु का हृदय आनन्दित हो-उसमें क्या आश्चर्य!

अंतरंग हर्ष व्यक्त करते हुए त्रिशलादेवी बोलीं-प्रिय बहिन चन्दना! अब अनुभूति के प्रभाव से अपनी स्त्री पर्यायका छेद हो गया, इतना ही नहीं अपने संसार का भी अन्त आ गया...एक भव पश्चात् हम परमात्मपद की साधना करके मोक्षपुरी में पहुँच जायँगे।

चन्दना बोली-अरे दीदी! उस मोक्षपुरी के स्मरण से भी हमें कितना आनन्द होता है...तो उस साक्षात दशा का क्या कहना!...इन्द्रियज्ञान से उसका अनुमान भी नहीं हो सकता; अपने ज्ञान में अंशतः अतीन्द्रियपना हो तभी उस सर्वज्ञ सुख को जाना जा सकता है! अचिन्त्य है उसकी महिमा!

त्रिशलादेवी कहने लगीं-हाँ चन्दना! ऐसे अपार महिमावन्त आत्मा का स्वानुभूति में इससमय भी अनुभव होता है। आत्मा के एकत्व की वह अनुभूति 'अभेद' होनेपर भी वह एकान्त नहीं है; आत्मा के शुध्द द्रव्य-गुण-पर्यायरुप अनन्त स्वभावधर्म उस अनुभूति के अंतर्गत् वेदन में आते हैं इसलिये वह अनेकान्त स्वरुप है, उस शुध्दपरिणतिरुप परिणमत आत्मा अपने एकत्वस्वरुप में शोभायमान है।

चन्दना-वाह दीदी! आपने बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया। स्वानुभूति में परके सम्बन्धरहित अर्थात् विभक्त आत्मा अकेला वेदन में आता है इसलिये उसे एकत्व की अनुभूति कहा गया परन्तु उस एकत्व में भी गुण-पर्याय तो वर्तते ही है; ऐसी अनुभूति वह 'एकत्व-विभक्त' शुद्धआत्मा की अनुभूति है; वही समस्त जैनशासन की अनुभूति है। सचमुच, महावीर प्रभुके प्रताप से जैनशासन में अनेकों जीव आत्माकी ऐसी अनुभूति प्राप्त करके अपना कल्याण करेंगे। जब दोनों धर्मात्मा बहिनें इस प्रकार स्वानुभूति की तथा महावीर की महिमा का गुणगान कर रही थीं तब महावीर कुमार तो उद्यान के एकान्तस्थल में बैठे-बैठे आत्मध्यान में निर्विकल्प स्वानुभूति के महा आनन्दका साक्षात् वेदन कर रहे थे...दोनों बहिनें दूर से वह दृश्य देखकर आश्चर्यमुग्ध हो गई-धन्य महावीर! मानों कोई छोटेसे सिध्द बैठे हों।



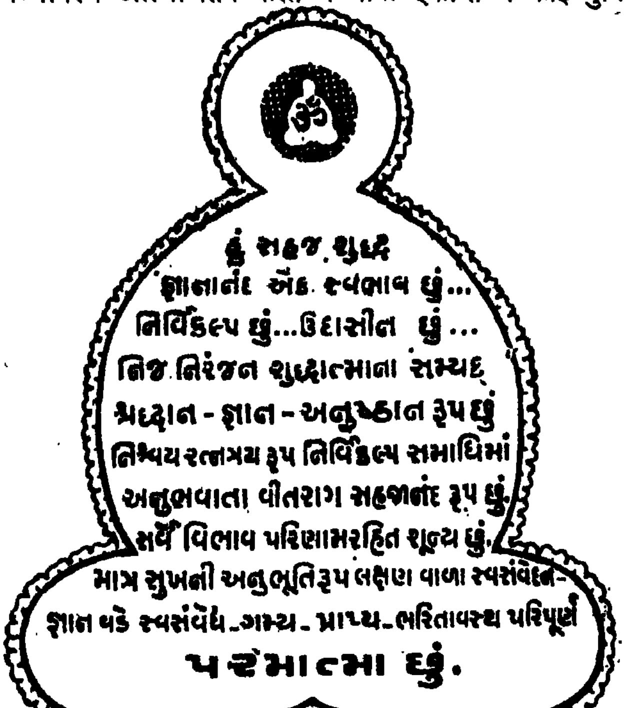
उद्यान में आत्मध्यान करते हुए उन राजकुमार का दृश्य सचमुच दर्शनीय था । आत्मध्यान का वह दृश्य वीतरागी आत्मसाधना की प्रेरणा देता था। कुछ देर बाद जब प्रभुकी ध्यानदशा समाप्त हुई और अमृत झरते नेत्र खुले उससमय अनेक प्रजाजन प्रभुके दर्शन हेतु एकत्रित हुए थे। उद्यान भी अद्भुत सौन्दर्य से प्रफुल्लित हो रहा था। उसमें खिले हुए विविध प्रकार पुष्पों एवं फलों से आच्छादित वृक्ष शोभायमान लग रहे थे; चारों ओर पुष्पों की सुगन्ध फैल रही थी। राजकुमार महावीर उस प्रफुल्लित उद्यान की शोभा निहारते हुए साथ ही अंतर में सम्यक्त्वादि आनन्द-पुष्पों से आच्छादित अपने चैतन्य उद्यान में क्रीड़ारत थे-'अहा, मेरे आत्म-उद्यान में जैसे समक्त्व एवं आनन्दादि के अतीन्द्रिय फल-फूल खिल रहे हैं वैसे क्या अन्यत्र कहीं खिलते होंगे!...नहीं; जगत में मेरा आत्म-आराम...आनन्दमय चैतन्य उद्यान ही सबसे सुन्दर है। उस आत्मउद्यान में केलि करते हुए जिस आनन्दमय शीतलता एवं शान्तिका वेदन होता है वह अनिर्वचनीय है!'-ऐसी अंतरधारा सहित उद्यान की शोभा देखते-देखते कुमारकी दृष्टि एक वृक्षपर पड़ी जिसमें एक हजारों पंखुरियोंवाला सुन्दर फूल खिला हुआ था; उसे देखकर कुमार बोले-वाह! वृक्षपर खिला हुआ फूल उसपर कैसा सुशोभित होता है! जिस प्रकार इस वृक्षपर यह फूल शोभा दे

रहा है, उसी प्रकार आत्मारुपी चैतन्यवृक्ष भी उस पर खिले हुए अनन्त पंखुरियोंवाले सम्यक्त्वादि पुष्पों से सुशोभित है, उसका सौन्दर्य अनुपम है!

वीरकुमार चैतन्य-उद्यान की प्रशंसा कर रहे थे, इतने में एक कुमारने सुन्दर पुष्प लाकर आदरसहित वीरकुमार के चरणों में रख दिया। सब लोग आनन्दपूर्वक देख रहे थे।

तब वीरकुमारने गम्भीरता से कहा-बन्धु! यह पुष्प वृक्ष की डालपर जैसी शोभा दे रहा था वैसी अब नहीं देता; उसकी शोभा नष्ट हो गई है; मातासे बिछुड़े हुए बालक की भाँति वह मुरझा रहा है। पुष्प को उसकी डाली से पृथक् करना वह तो वृक्ष तथा पुष्प-दोनों की सुन्दरता को नष्ट कर देता है। देखो न, पुष्परहित वृक्ष कैसा शोकमग्न लगता है। अपनी प्रसन्नता के लिये हम दूसरे जीवोंका सौन्दर्य नष्ट कर दें वह क्या उचित लगता है? दूसरों को कष्ट दिये बिना हम आनन्द प्रमोद करें वही उचित है।

—इस प्रकार सहजरुप से अहिंसादि की प्ररुपणा करके वीरकुमार वीतरागता फैला रहे थे। धन्य उनका जीवन! गृहवास में भी धर्मात्मा राजपुत्रका जीवन अलौकिक था। वे गृहवासी भगवान बारम्बार सामायिक का प्रयोग भी करते थे। सामायिक की स्थिति में वे इस प्रकार मन की एकाग्रतापूर्वक धर्मध्यानरुप आत्मचिंतन करते थे मानो एकान्त में कोई मुनिराज विराज रहे हों, उस समय में वे राग-द्वेष से परे समभावरूप वीतराग परिणतिका विशेष आनन्द अनुभवते थे। उनकी सामायिक कोई अमुक शब्दपाठ बोलनेरूप नहीं थी, किसीके नाम का जाप भी उसमें नहीं था; उसमें तो आत्मस्वरूप की भावना से चैतन्य की किसी अपार शान्ति का वेदन था कि जिस वेदन की वीतरागता में उनका आत्मा दो क्षण रागद्वेष की परिणती से भिन्न हो जाता था। ऐसे तो उन महात्मा का जीवन राग द्वेष से परे था, परन्तु शुद्धोपयोगद्वारा निर्विकल्प होकर वे जिस आत्मानन्द का वेदन करते थे वह एक अनिर्वचनीय विशिष्ट दशा थी। सामायिक के समय वे कैसा आत्मचिन्तन करते थे वह उन्हींके श्रीमुख से सुने।




वीर राजकुमार सदा ऐसे शुद्धात्मा की भावना भाते थे। विलक्षण थी उनकी आत्मधून...और विशुद्ध थी ध्यानधारा! कभी-कभी अर्धरात्री के समय अचानक चैतन्य की धून लगने से वे ध्यान में लीन हो जाते थे। उन्हें राजभवन में आराम से निद्रा लेना अच्छा नहीं लगता था। राजप्रासाद की दीवारों के बन्धन तोड़कर तथा राग को भी छोड़कर, अनन्त तीर्थंकरों की पंक्ति में प्रवेश करने की अधिकाधिक उर्मियाँ उनके अंतर में उल्लसित होती

थी। स्वर्गलोक से आनेवाले दिव्य वस्त्राभूषण एवं रसपूर्ण भोजन के प्रति वे निरस होते जा रहे थे; उनका हृदय अब शीघ्र ही मोक्षप्राप्ति हेतु तरस रहा था।

दूसरी ओर त्रिशला माता भी पुत्र के मुख से आत्मवैभव की बाते सुन-सुनकर हर्षविभोर हो जाती थीं और कहतीं...बेटा, तू सचमुच पहले से ही इस राजभवन में रहकर भी परमात्मा की भाँति रूप से अलिप्त रहता था। तेरी ज्ञानचेतना तुझमें ही भीतर-भीतर कोई परमात्म लीला करती रहती थी...वह हम बहोत दिनों से देख रहे थे...अब तो कुछ समय पश्चात् सारा जगत भी तुम्हारी ज्ञानचेतना की अद्‌भुत परमात्म लीला देखकर धन्य होगा!

'धन्य माता! तुम्हारी ज्ञानचेतना की प्रतीति यथार्थ है। तुम स्वयं ज्ञानचेतना के मधुर आनन्द स्वाद का आस्वादन करनेवाली हो! मैं इस भव में, तो तुम उस भव में...अवश्य मोक्ष साधनेवाली हो।'

बेटा, तुम्हारी वीरता भरी मीठी-मीठी बातों से मैं मुग्ध हो जाती हूँ...ऐसा लगता है कि तुम्हारी बाते सुनती ही रहूँ! किन्तु रह-रहकर मनमें ममता की लहर आ जाती है कि-तुम सचमुच यह सब छोड़कर चले जाओगे?...फिर मुझे 'माँ' कहकर कौन बुलायगा! यह राजभवन और वैभव सब तेरे बिना सूने-सूने लगेंगे!

सुनो माँ! यह सब मोह-ममता है। मैं तीस वर्ष तक इस राजपाट और हीरे-जवाहिरात की सुख-समृध्दि में रहा, परन्तु मुझे इनमें कही चेतनता दिखायी नहीं दी, इन अचेतन पदार्थों में मैंने कहीं सुख या चैतन्य की चमक नहीं देखी,...और हे माता! यह सब छोड़कर मैं कहीं दुःखी होनेवाला तो नहीं हूँ, उलटा इनमें रहकर जो सुख मैं भोगता हूँ उसकी अपेक्षा कोई विशिष्ट सुख मुझे प्राप्त होनेवाला है...और तुम देखना कि तुम्हारे इन अचेतन हीरों की अपेक्षा कोई अपूर्व-अमूल्य-महान-त्रिलोकप्रकाशी चैतन्यरत्न लेकर कुछ ही समय पश्चात् मैं परमात्मा बनकर वैशाली में आऊँगा।

वीरकुँवर की बातें सुनकर त्रिशलामाता को हार्दिक प्रसन्नता होती थी कि-अरे, इस समय भी मेरे पुत्र का ज्ञान कितना विकसित है...उसकी चैतन्यरसयुक्त वाणी मन भरकर सुन लूँ...ऐसा सोचकर माता-पुत्रने हृदय खोल-खोलकर आत्म साधना के विषयमें अनेक प्रकारकी चर्चाएँ कीं। अहा, ऐसे बालतीर्थंकर के साथ व्यक्तिगत रुप से धर्मचर्चा करने में मुमुक्षु को कितना आनन्द होगा! और उनके मुख से स्वानुभूति के रहस्य सुनकर कौन स्वानुभूति को प्राप्त नहीं होगा! अरे, राजभवन में रहनेवाले राज-सेवक भी उनके श्रीमुख से खिरती वाणी सुनकर मुग्ध हो जाते थे और किन्हीं-किन्हीं को स्वानुभव भी हो जाता था। इस प्रकार द्रव्यतीर्थंकर के प्रताप से चारों ओर धर्मप्रभावना हो रही थी और भावीतीर्थंकर होने का दिन भी निकट आता जा रहा था। दो के बाद अब तीसरे कल्याणक की तैयारी होने लगी थी।

## [महापुराण अर्थात महा पुरुषोंके गुणोंकी कथा]

*यह पुराण महान क्यों है?—क्योंकि वह जगत में सबसे महान सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर भगवन्तों के जीवन का साक्षात्कार कराता है। महापुरुषोंका पुराण होने से यह महापुराण है...और ऐसे महानग्रन्थ के श्रोतापाठक भी महान हैं क्योंकि उन्हें वीतरागी महापुरुषोंका उत्तम चरित्र रुचता है, तथा तीर्थंकरों के जीवन से उत्तम प्रेरणा लेकर वे स्वयं उसमार्गपर चलना चाहते हैं। महापुरुषों के उत्तम गुणों के वाचक शब्द भी उत्तम हैं। महापुरुषों के गुणों की कथा जो प्रेमपूर्वक पढ़ेगा वह आत्मगुणों की महासम्पत्ति को प्राप्त होगा।*

## भगवान महावीर : वैराग्य और दीक्षा
### [मार्गशिर्ष कृष्णा दशमी]

आज पूरी रात राजकुमार वर्द्धमान चैतन्य की अनोखी धून में थे; निद्रा का तो नाम ही नहीं था; उपयोग बारम्बार चैतन्य की अनुभूति में स्थिर हो जाता था। परभावों से थककर विमुख हुआ उनका उपयोग अब आनन्दमय निजघर में ही सम्पूर्ण रुपसे स्थिर रहना चाहता था। तीस वर्ष के राजकुमार का चित्त आज अचानक ही संसार से विरक्त हो गया है; मोक्षार्थी जीव प्रशम हेतु किन्हीं बाह्य कारणों को नहीं ढूंढ़ते, प्रशम तो उनके अन्तर से स्वयमेव स्फुरीत होता है।

आज प्रात काल महावीर ने सिद्धों का स्मरण करके आत्मा का ध्यान किया। आज उनके वैराग्य की धारा कोई अप्रतिम थी, विशुद्धता में वृद्धि हो रही है, उपयोग क्षणभर में अंतर्मुख निर्विकल्प हो जाता है और पुन: बाहर आजाता है; परन्तु बाह्य में उसे चैन नहीं पड़ता, वह सर्वत्र से छूटकर, पराभवरुप परदेश से लौटकर स्वभाव रुप स्वदेश में स्थिर रहना चाहता है।



बारम्बार ऐसी दशामें झूलते हुए प्रभुके मतिज्ञान में सहसा कोई विशिष्ट निर्मलता झलक उठी, उनको जातिस्मरण हुआ; स्वर्गलोक के दिव्य दृश्य देखे चक्रवर्ती का वैभव देखा, सिंह देखा, सम्यक्त्वका बोध देते हुए मुनिवर देखे; उससे पूर्वकी नरकगति भी देखी;

—इस प्रकार अनेकपूर्वभव देखकर तुरन्त वीरप्रभुका चित्त संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा लेने हेतु उद्यत हुआ। अरे, कहाँ वे नरक के घोर दु:ख और कहाँ स्वानुभूतिका सुख! कहाँ वे सिंह पर्याय में हिंसा और क्रूरता के रौद्र परिणाम और कहाँ सम्यक्त्व की शान्ति!-दोनो में अटूट रहनेवाला एकमहान ज्ञायकभाव मैं हूँ-ऐसे अपने एकत्व का चिन्तवन करते हुए वे बारम्बार निर्विकल्प हो जाते थे। बारम्बार इतनी अधिक निर्मलता एवं निर्विकल्पता होती थी कि बस, अब शुद्धोपयोगी मुनिदशा के बिना यह जीव रह नहीं सकेगा।-इस प्रकार महावीर ने अपने मन में दीक्षा का निर्णय किया।

महावीर का निर्णय अर्थात् वज्र-निर्णय...महावीर का निर्णय अर्थात् अचल निर्णय...भगवान ने दीक्षा ग्रहण का दृढ़ निर्णय किया और परम विरक्त चित्त से एक बार निर्विकल्प अनुभूति में लीन हो गये।

राजकुमार सिंहासन पर बैठे हैं...चैतन्य की गंभीरता में ऐसे लीन हैं कि दुनिया का लक्ष ही नहीं रहा। अरे, त्रिशलामाता आकर सामने खड़ी हैं उसका भी उन्हे लक्ष नहीं हैं। माता तो देखती ही रह गई कि-वाह! मेरा पुत्र कैसी अद्‌भुत वैराग्यमुद्रा में सुशोभित हो रहा हैं! अहा, इसकी शान्त वैराग्यमुद्रा देखकर मुझे अनुपम आनन्द होता हैं...मानो देखती ही रहूँ! इस प्रकार त्रिशलामाता के हृदय में अत्यन्त स्नेह उमड़ रहा हैं; वे मन ही मन पुत्र को आशीर्वाद दे रही हैं। सचमुच आशीर्वाद दे रही हैं या

आशीर्वादके बहाने उनकी भक्ति कर रही हैं?-यह तो वे ही जानें।

थोड़ी देर में महावीर ने नेत्र खोले तो देखा कि सामने माताजी खड़ी हैं। माता को देखकर उनकी वैराग्यमुद्रा किंचित मुस्करा उठी। माताने स्नेह से पूछा-बेटा वर्धमान! आज तुम इतने विचारमग्न क्यों हो?...तब वीर कुंवर के मुख से गम्भीर वाणी निकली-हे माता! आज प्रात:काल जातिस्मरण में मैंने अपने पूर्वभव देखे; अब मेरा चित्त सर्वत्र से विरक्त हुआ है; इसलिये आज ही इस असार संसार को छोड़कर मैं मुनिदीक्षा अंगीकार करूँगा और शुध्दोपयोग द्वारा परमात्मा को साधूँगा!

अभी तो राजकुमार के मुख से दीक्षा लेने के उद्‌गार निकल रहे थे कि उधर इन्द्रसभा में खलबली हुई; इन्द्र का इन्दासन ड़ोल उठा; प्रभु के दीक्षाकल्याणक का अवसर जानकर देवगण वैशाली में आ पहुँचे। लौकांतिक दवों ने आकर प्रभुकी स्तुति की; वैराग्यभावना में निमग्न प्रभुने दृष्टि उठाकर लौकांतिक देवों की ओर देखा। उस समतारस झरते दृष्टिपात से देवगण अत्यन्त प्रमुदित हुए...एक ओर वैरागी तीर्थंकर तो दूसरी ओर वैरागी लौकांतिक देव! अहा, वैराग्यवान उत्तम साधकों का वह मिलन चैतन्य की परम गंभीर शान्तियुक्त था। उस मिलन से परस्पर दोनों के वैराग्य की पुष्टि हुई।

प्रजाजन यह सब बड़े आश्चर्य से देख रहे थे। देवेन्द्रों ने प्रभु का दीक्षाकल्याणक मनाने हेतु प्रथम उनका दैवी श्वेतवस्त्रों से शृंगार किया। प्रभुका वह वस्त्रधारण करना अब अन्तिम था; अब वे पुन: कभी कोई वस्त्र धारण नहीं करेंगे। एक ओर देवों का *शृंगाररस तो दूसरी ओर वैरागी प्रभु का शांतरस; उत्कृष्ट शृंगार एवं उत्कृष्ट वैराग्य में मानो प्रतियोगिता हो रही थी। अंत में शृंगाररस की पराजय और वैराग्यरस* की विजय हुई। प्रभु तो रागमय वस्त्रादि शृंगार का परित्याग करने तथा वीतरागी शांतरस को अंगीकार करने हेतु वन में जाने को खड़े हो गये और उत्तम वैराग्यभावनाओं के चिन्तनपूर्वक 'चन्द्रप्रभा' नामकी शिविका में आरूढ़ हुए।

[यहाँ देवगति की अपेक्षा मनुष्यगति का तथा चारित्रदशा का महत्व बतलाने के लिये कोई कथाकार अलंकार से कहता हैं कि-दीक्षा के अवसर पर प्रभु की पालकी उठाने हेतु देवों और मनुष्यों के बीच विवाद खड़ा हुआ कि पहले पालकी कौन उठाये?

देव बोले-हम स्वर्ग से प्रभुका दीक्षाकल्याणक मनाने आये हैं, इसलिये पहले हम पालकी उठायेंगे। जिस प्रकार जन्म कल्याणक के लिये हम प्रभुको मेरुपर्वत पर ले गये थे, उसी प्रकार दीक्षा के लिये वन में भी हम ले जायेंगे।

तब मनुष्यों की ओर से राजाओं ने कहा-अरे देवो! हम मेरुपर्वत पर नहीं आ सके थे, किन्तु इस चारित्र के प्रसंग में तो हमारा ही अधिकार बनता है; क्योंकि प्रभु हमारे मनुष्यलोक के हैं इसलिये प्रभु की चारित्रदशा के अवसर पर तो हम ही पालकी उठायेंगे...चारित्र में देवों का अधिकार नहीं है।

अंतमें इन्द्रने झिझकते हुए प्रभुकी ओर देखा कि-इस विवाद में वे ही कोई मार्ग निकालें, ताकि देवों को भी कुछ अधिकार प्राप्त हो।

प्रभु बोले-चारित्र में जो मुझे साथ दे सकें, जो मेरे साथ चारित्रदशा अंगीकार कर सकें वे पहले सात ड़ग पालकी उठायें..और फिर दूसरे...

बस, हो गया! यह बात सुनते ही इन्द्र निस्तेज हो गया; उसे अपना इन्द्र पद तुच्छ लगा और पुकार कर कहने लगा कि-अरे, कोई मेरा यह स्वर्गका साम्राज्य लेकर बदले में एक क्षणभर का चारित्र दो।

देखो, चारित्रदशा की महिमा! हे सौधर्मदेव! तेरे पास भले ही इन्द्र पद हो, परन्तु वे देकर भी

एक क्षणभर का चारित्र तुझे नहीं मिल सकता। चारित्र दशा तो मनुष्यभव में ही प्राप्त होती है, उसकी महिमा इन्द्र पद से अधिक है।

इस अलंकार-कथन द्वारा पुराणकार ऐसा प्रगट करते हैं कि-देवलोक की दिव्यता की अपेक्षा मनुष्यलोक का संयम महान है, उस संयम के समक्ष इन्द्र को भी नतमस्तक होना पड़ता है।

तथा मनुष्यों में भी, विद्याधर-मनुष्यों में तीर्थंकर उत्पन्न नहीं होते; भूमि गोचरी मनुष्यों में ही तीर्थंकर पैदा होते हैं, इसलिये प्रभु की पालकी उठाने का प्रथम अधिकार भूमिगोचरी राजाओंका ही है।

-इस प्रकार पहले राजा पालकी उठाकर सात डग भूमिपर चले, फिर सात डग तक विद्याधर राजा चले और तत्पश्चात् देव पालकी उठाकर आकाशमार्ग से चलने लगे। हजारों लाखों नर-नारी वैराग्यभावना भाँते हुए प्रभुके साथ वन की ओर चले।

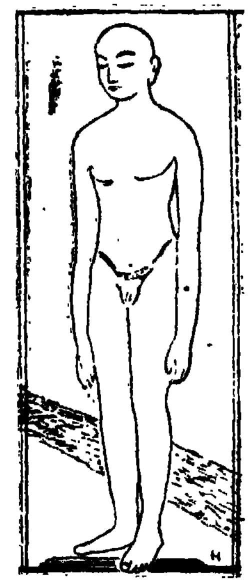
गंगानदी के पश्चिमी तटपर (पटना शहर के सामनेवाले किनारे) वैशाली-कुण्डग्राम के 'नागखण्ड' नामक उपवन में शिविका से उतरकर प्रभु महावीर एक स्फटिक शिलापर विराजे। उत्तरमुख विराजमान वर्द्धमान कुमार ने 'ॐ नम: सिध्देभ्य:' कहकर प्रथम सिद्धों को नमस्कार किया। इस प्रकार देहातीत सिद्धों को निकट लाकर प्रभुने देह के आभूषण उतारे, वस्त्र भी एक-एक करके उतार दिये और सर्वथा दिगम्बर दशा धारण की। वर्धमानकुमार जितने दैवी वस्त्रों में शोभते थे उसकी अपेक्षा दिगम्बर दशा में मुनिराज महावीर अधिक सुशोभित होने लगे। रत्नत्रय द्वारा प्रभु सुशोभित हो उठे और प्रभु के आश्रय से रत्नत्रय शोभमयमान हो गये। अरे, किन्तु प्रभु और रत्नत्रय भिन्न कहाँ थे।-कि एक-दूसरे से सुशोभित होते? प्रभुस्वयं रत्नत्रयरुप परिणमित थे। भेदवासना का विलय हो...अभेद आत्मानुभूति में लीनता हो!

## अभेद आत्मानुभूति में लीन उन श्रमण-भगवन्त महावीर को वन्दन हो!

वैशाली के नगरजन अपने प्रिय राजपुत्र को ऐसी वीतरागदशा में देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए...वे न तो हर्ष कर सके और न शोक! बस, मानो हर्ष-शोकरहित ऐसी वीतरागता ही करने योग्य है।-ऐसा उस कल्याणक प्रसंग का वातावरण था। हर्ष और शोक के बिना भी मोक्ष का महोत्सव मनाया जा सकता है-ऐसा प्रभु का यह दीक्षा कल्याणक महोत्सव घोषित करता था। उन चैतन्यवीर को वीतरागदशा में देखकर धर्मीजनों के अंतर में चारित्र की लहरें उछलती थीं।

मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के संध्याकाल स्वयं दीक्षित होकर महावीर मुनिराज षष्ठी के उपवास का तप धारण करके अप्रमत्तभाव से चैतन्यध्यान में लीन हो गये। अहा, दो रत्न से वृध्दिगत होकर भगवान त्रिरत्नवंत हुए; तीनज्ञान से चार ज्ञानवंत हुए; अनेक महान लब्धियाँ सेवा करने आ गईं। उनकी अतीन्द्रिय ज्ञानधारा तो केवलज्ञान के साथ केलि करने लगी। केवलज्ञान ने उसी समय अपने ज्येष्ठ पुत्र समान मन:पर्ययज्ञान को भेजकर शीघ्र ही अपने आगमन की पूर्वसूचना दे दी। परन्तु प्रभु का लक्ष उस मन:पर्यय की ओर अथवा दिव्य लब्धियों की ओर नहीं था; वे तो अपने ज्ञायक स्वरुप की अनुभूति में ही ऐसे मग्न थे कि मानो सिध्दपद में विराज रहे हों! वाह! कैसी अद्भुत है उनकी शांत ध्यानमुद्रा! प्रभुकी ध्यानमुद्रा से प्रेरित होकर चारों ओर हजारों भव्य जीव भी चैतन्य का ध्यान धरने लगे हैं। अरे, ध्यानस्थ प्रभु की शांतमुद्रा देखकर वन के सिंह, हाथी, हिरन, सर्पादि पशु भी मुग्ध होकर शान्ति से प्रभुचरणों में बैठ गये हैं। अहा, 'जिनकी मुद्रा देखने से आत्मस्वरुप के दर्शन हों'-ऐसे उन ध्यानस्थ मुनिराज का क्या कहना! वह तो साक्षात् मोक्षतत्त्व ही बैठा है...

वैराग्य की प्रचण्ड बाढ़ से पूरी वैशाली घिर गई थी। हमारे लाड़ले राजकुमार तीस वर्ष हमारे साथ रहकर हमें सुख-समृध्दि दे गये...ज्ञानवैराग्य दे गये...अब वे हमें छोड़कर राग-द्वेष-काम-क्रोधादि को जीतने के लिये वनमें चले गये। वे अवश्य विजेता बनेंगे। वे तो अपने शुध्दोपयोग में लीन होकर बैठे हैं; हमारी ओर देखने अथवा हमसे 'आओ' कहने के लिये दृष्टि भी नहीं उठाते-हमारे पाँव भी उन्हें वन में छोड़कर नगर में जाने के लिये नहीं उठते। राजवैभव के बिना भी परमवीतरागता से वे सुशोभित हो रहे हैं! सचमुच वीतरागता ही सुख और शोभा है; बाह्य वैभव में न तो सुख है और न आत्मा की शोभा। -ऐसा विचारते हुए हजारो-लाखों नगरजन वीर के वैराग्य की प्रशंसा करते थे।



उस समय महान विजेता वीर तो अपने एकत्वमें झूल रहे थे।

अहा, एक युवा राजपुत्र वीतराग होकर समस्त वस्त्राभूषण रहित दिगम्बर दशा में कैसे सुशोभित लगते हैं! अरे, सहज चैतन्यतत्त्व...उस पर कषाय की तथा वस्त्रादि की उपाधि कैसी? शुद्धतत्त्वपर आवरण कैसा? वस्त्राच्छादित वीतरागता वस्त्रावरण हटाकर बाहर निकल आयी। वीतरागता अपने ऊपर कोई आवरण नहीं सह सकती। जहाँ मोहका या रागका भी आवरण नहीं रुचता वहाँ बाह्य आवरण कैसे रुचेगा? चार दीवारों का और वस्त्रोंका आवरण तो विषयविकार के पाप को होता है; धर्म को आवरण कैसा? वह तो सर्व बन्धनों को तोड़कर निर्ग्रन्थ होकर अपने मूल स्वरुप में विचरता है और सर्वत्र वीतरागता से सुशोभित होता है।

## "धन्य दिगम्बर मुनिदशा!"

कोई जीव जिस वस्तु का त्याग करे उस से ऊँची वस्तु का ग्रहण करना यदि उसे आता हो तभी वह उसका सच्चा त्याग कर सकता है। पुण्यराग का सच्चा त्याग वही कर सकता है जिसे वीतरागभाव ग्रहण करना आता हो। त्याग लाभदायक होना चाहिये, हानिकारक नहीं। जीव जो त्यागे उसकी अपेक्षा उच्च वस्तु-उच्च भाव प्राप्त करे तभी उसका वह त्याग लाभदायी कहा जायगा। भगवान महावीर का त्याग ऐसा था कि उन्होंने जिने हेयतत्त्वों को छोड़ा उनसे विशेष उपदेयतत्त्वों को ग्रहण किया। उनकी शुद्धता की श्रेणी का क्या कहना! जब वे निर्विकल्पता के महान आनन्द में झूलते थे तब उनके शुध्दोपयोग की प्रचण्डता देखकर बेचारे शेष चार संज्वलन कषाय भी इस प्रकार चुपचाप होकर छिप जाते थे कि वे कषाय जीवित हैं मृत-वह जानना कठिन लगता था, क्योंकि उस समय उनकी कोई प्रवृत्ति दिखायी नहीं देती थी।

इस प्रकार एक ओर प्रभु महावीर वीरता से कषायों को जीत रहे थे, तब दूसरी ओर त्रिशलामाता भी वीरके वीतराग चारित्र का अनुमोदन करके अपने मोहबंधन को ढीला कर रही थीं। 'अरेरे, राजभवन में जिसका लालन-पालन हुआ है ऐसा मेरा पुत्र वन-जंगल में कैसे रहेगा? और शीत-उष्णता कैसे सहन करेगा?-ऐसी शंका वे नहीं करती थीं; वे जानती थीं कि आत्मसाधना में उनका पुत्र कैसा वीर है! और

यह भी अनुभव था कि चैतन्यके आनन्द की लीनता में बाहर का लक्ष ही नहीं रहता। जहाँ शरीर का ममत्व नहीं रहता वहाँ शीत-उष्णता के उपसर्ग कैसे? अस्पर्शी चैतन्य के वेदन में जड़ के स्पर्शका प्रभाव कैसा? अहा, ऐसे अतीन्द्रिय चैतन्यतत्त्व को जाननेवाली माता क्या आत्मसाधना में आगे बढ़ते हुए पुत्र को देखकर मूर्च्छित होगी?...नहीं, कदापि नहीं। अपने लाड़ले पुत्र को मोहपाश तोड़कर मुनिदशा में मग्न देखकर वे आनन्दित हुईं...और जब उसे केवलज्ञानी-अरिहंत-परमात्मारुप में देखेंगी तब तो अति आनन्दित होंगी। धन्य माता! तुम तो परमात्मा की माता हो...

बिना वर्द्धमान के वैशाली के राजप्रासाद सूने हो गये थे। बाह्य वैभव ज्यों के त्यों होनेपर भी सुखरहित बिलकुल निस्तेज लगते थे।-मानो वे पुद्गल-पिण्ड जगत से कह रहे थे कि-'देखो, हममें सुख नहीं है; इसीलिये तो वीरकुमार हमें छोडकर तपोवन में चले गये और चैतन्य में लीन हो गये।' परम वैराग्य जिसका प्रवेशद्वार है ऐसा चैतन्यवन का आनन्द-उद्यान सज्जन-सन्तों को अत्यन्त प्रिय है; धर्मात्मा उसमें क्रीड़ा करते हैं, पंचपरमेष्ठी का वहाँ निवास है। शुद्धोपयोग का अमोघ चक्र लेकर वीरनाथ ने ज्यों ही ऐसे तपोवन में प्रवेश किया त्यों ही मोह लुटेरा भयभीत होकर भाग गया। निजवैभव की सेना सहित वीर योद्धा के आगमन से तपोवन सुशोभित हो उठा; सर्व गुणरुपी वृक्ष अपने-अपने मिष्टफलों से भर गये; अत्यन्त सुन्दर एवं परम शांत उस चैतन्य-नन्दनवन के एकान्त स्थान में (एकत्व चैतन्यधाम में) प्रभु महा आनन्द अनुभवते थे।

-ऐसा अद्भुत था वीर प्रभुका वनवास!

## भगवान महावीर : मुनिदशा में आत्मसाधना

मुनि होकर आत्मा की निर्विकल्प आनन्द दशा में झूलते-झूलते भगवान ने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर आत्मसाधना की। मात्र अपने एक स्वद्रव्य में ही अग्र, तथा अन्य समस्त द्रव्यों से अत्यन्त निरपेक्ष,-ऐसी आत्मसाधना करते-करते महावीर प्रभु मोक्षमार्ग में विचर रहे हैं, और बोले बिना भी वीतराग मोक्षमार्ग का अर्थबोध करा रहे हैं। दीक्षा के पश्चात् दो दिन के उपवास हुए और तीसरे दिन कुलपाक नगरी के राजाने भक्तिपूर्वक आहारदान देकर वीरनाथ मुनिराज को पारणा कराया। आहारदान के प्रभाव से वहाँ देवों ने रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य प्रगट किये। अहा, तीर्थंकर के आत्मा जैसा सर्वोत्तम आश्चर्य जहाँ विद्यमान हो वहाँ जगतके अन्य छोटे-मोटे आश्चर्य आयें वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु मोक्ष की साधना में ही जिनका चित्त लगा है ऐसे उन महात्मा को वे पाँच आश्चर्यकारी घटनाएँ किंचित् आश्चर्यचकित नहीं कर सकीं। अहा, आश्चर्यकारी चैतन्यतत्त्व की साधना में लीन मुमुक्षु को जगत की कौनसी वस्तु आश्चर्य में डाल सकेगी! उन मोक्षसाधक महात्मा का कितना वर्णन करें! हे भव्यजनो! संक्षेप में समझ लो कि-मोक्षसाधना हेतु जितने गुण आवश्यक हैं उन सर्वगुणों का वहाँ संग्रह था, और मोक्षसाधना में जो विघ्न करनेवाले जितने भी दोष है उन समस्त दोषों को प्रभुने छोड़ दिया था। धन्य प्रभु की मोक्षसाधना! उनकी साधना ऐसी उग्र थी मानो वे स्वयं ही मोक्षतत्त्व थे।

### उज्जयिनी में रुद्रका उपसर्ग...और 'अतिवीर' नामद्वारा स्तुति

अहा, अनेक लब्धियाँ प्रगट होने पर भी, प्रतिक्षण स्वानुभूति द्वारा अनन्त आत्मलब्धियों का साक्षात्कार करते हुए उन वीतरागी साधक का अन्य किन्हीं लब्धियों के प्रति लक्ष ही नहीं था।

विचरते-विचरते वे योगिराज उज्जयिनी नगरी में पधारे और क्षिप्रावती नदी के किनारे अतिमुक्तक नाम के भयानक स्मशान में ध्यान लगाकर खड़े हो गये। परमशांत...अडोल...अहा, जीवंत वीतराग-प्रतिमा! वे प्रभु स्मशान में नहीं खड़े थे, किन्तु आत्म-उद्यान में क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय इन्द्रसभा में धीरवीर प्रभुकी प्रशंसा होने से 'भव' नामका एक रुद्र-यक्ष उनकी परीक्षा करने आया। ('भव' नामक यक्ष अथवा 'स्थाणु' नामक रुद्र-ऐसे दोनों नाम पुराण में आते हैं।)

ध्यानस्थ प्रभु के सर्व प्रदेशों में ऐसी परम शांति व्याप्त हो गई है कि वन के पशु भी वहाँ शांत होकर बैठ गये। अद्भुत है उनकी धीरता...और...अद्वितीय है उनकी वीरता! वहाँ यक्षने आकर भयंकर रौद्ररुप धारण किया; सिंह, अजगर आदिकी विक्रिया द्वारा उपद्रव करके प्रभु को ध्यान से डिगाने का प्रयत्न किया; पत्थर बरसाये, अग्नि के गोले फेंके; परन्तु वे सब प्रभुसे दूर ही रहे...तीर्थंकरों का ऐसा ही अतिशय है कि उनके शरीरपर सीधा उपद्रव नहीं होता। उन्हें काँटे नहीं लगते, सर्प नहीं डस पाते, कोई प्रहार नहीं कर सकता। अहा! जिनकी चेतना अंतर्मुख है ऐसे वीरमुनिराज को बाह्य उपद्रव कैसे? वीतरागी आराधना में वर्तते हुए मुनि भगवन्तों पर उपद्रव करने या उन्हें आराधना से विचलित करने का सामर्थ्य विश्व में किसी का नहीं है। अरे, हे पामर यक्ष! हे दुष्ट रुद्र! तू इन वीतरागी मुनिपर क्या उपसर्ग करेगा? तेरे अपने ही ऊपर भयंकर क्रोध का उपसर्ग हो रहा है और उससे तू महा दुःखी है! भवदुःख से छूटने के लिये तू प्रभुकी शरण में आ...और अपने आत्मापर होते हुए भयंकर उपद्रव को शांत कर!

दुष्ट यक्ष अनेक उपसर्गों की चेष्टाएँ करके थक गया, परन्तु महावीर अपनी वीरता से विचलित नहीं हुए। अरे, शान्ति के वेदन में थकावट कैसी! थकावट तो कषाय में है। 'शान्ति' कभी परास्त नहीं होगी, 'क्रोध' क्षण में परास्त हो जायगा। अन्तमें वह भव-रुद्र मोक्ष के साधक पर उपसर्ग कर-करके थक गया...हार गया। 'वि-भव' ऐसे भगवान के समक्ष 'भव' कैसे टिक पाता। भवरहित ऐसे मोक्ष के साधक महावीर के सामने 'भव' हार गया। शांतभाव के समक्ष रुद्रभाव नहीं टिक सका। अन्त में थककर उसने अपनी विचारधारा बदली कि-अरे, इतना सब करने पर भी यह वीर मुनिराज तो ध्यान से किंचित् चलायमान नहीं हुए और मेरे प्रति किंचित् भी क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ...मानो कुछ भी न हुआ हो, इस प्रकार वे अपनी शान्ति में ही लीन हैं। वाह प्रभो! धन्य है तुम्हारी वीरता! सचमुच तुम मात्र 'वीर' नहीं किन्तु अतिवीर हो।-इस प्रकार 'अतिवीर' सम्बोधनपूर्वक वह यक्ष प्रभुचरणों में झुक गया।-

**'धन्य धन्य अतिवीर! मोक्ष के सच्चे साधक!'**

'महावीर पर आया हुआ उपसर्ग दूर हो गया!!'-नहीं, उन पर तो उपसर्ग था ही नहीं, उपसर्ग तो यक्ष पर था, दूर हो गया; महान क्रोध और पापके उपसर्ग से छूटकर वह यक्ष शान्ति को प्राप्त हुआ। अहा, शान्ति के अमोघ शस्त्र के सामने भगवान के विरोधी भी स्वयं वश में होकर झुक जाते थे। वास्तव में 'शान्ति' ही मुमुक्षु को विजय के लिये परम अहिंसक और सर्वोत्कृष्ट शस्त्र है जो कदापि निष्फल नहीं जाता।

यक्षदेव अथवा भव-रुद्र द्वारा 'अतिवीर' ऐसे मंगल नामकरण द्वारा प्रभुका सन्मान करने से परमेष्ठीपद में विराजमान प्रभु पाँच मंगल नामधारी हुए-'वीर' नाम जन्माभिषेक के समय इन्द्रने दिया 'वर्द्धमान' नाम माता-पिताने दिया; 'सन्मतिनाथ' नाम मुनिवरों ने दिया; 'महावीर' नाम संगमदेवने दिया, और अतिवीर नाम रुद्रने दिया। प्रभुके सान्निध्य में रुद्रने रौद्रता छोड़कर पुनः धर्म में स्थित हुआ और क्षमायाचनापूर्वक स्तुति की-

**"श्री वीर महा अतिवीर सन्मतिनायक हो,"**
**जय वर्द्धमान गुणधीर सन्मति दायक हो।"**

पंच-मंगल नामधारी प्रभुका चित्त तो पंचमगति की साधना हेतु पंचमभाव में ही लगा था। अहा, बचपन में भी जिनके अद्‌भुत शौर्य के समक्ष सर्प भी शरण में आ गया था तो मुनिदशा में विद्यमान उन तीर्थंकर देव की परम शांत गम्भीर मुद्रा के समक्ष चण्डकोशिया जैसे विषधर नाग भी सहम जायें-उसमें आश्चर्य क्या है! वीरनाथ की वीतरागी शान्ति के समक्ष चण्डकोश का प्रचण्ड आक्रोश कैसे टिक सकता था? अरे, सामान्य लब्धिधारी मुनिराज के समक्ष भी क्रूर पशु अपनी क्रूरता को छोड़कर शांत हो जाते हैं, तब फिर यह तो तीर्थंकर-मुनिराज वर्द्धमान! उनकी आश्चर्यजनक लब्धियाँ एवं शान्ति के प्रभाव की तो बात ही क्या! जिनके समीप क्रूरसे क्रूर जीव भी ऐसे शांत हो जाते हैं कि-दूसरे जीवों का भी घात नहीं करते-सिंह हिरन को नहीं मारता, नेवला सर्प को नहीं छेड़ता, तो फिर उन्हें स्वयं को सर्प डसे या कोई कानों में कीलें ठोक दे-यह बात ही कहाँ रही? दूसरों की बात और है, परन्तु यह तो तीर्थंकर महात्मा हैं, उनके ऐसा कुयोग कभी नहीं बनता। जैनधर्म का कर्मसिद्धान्त भी ऐसे अशुभ कर्मों का उदय होने को अस्वीकार करता है; और तथापि जैनधर्म की विशेषता यह है कि-प्रभु की सच्ची पहिचान उनके चेतनभावों द्वारा ही होती है, उदयभावों द्वारा नहीं।

जान लो, इस महावीर जीवन को! और प्राप्त कर लो सम्यक्त्व

एकाकी विचरते हुए जिनकल्पी तीर्थंकर मुनिराज महावीर एकमात्र निजस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुप मोक्षमार्ग में परिणमते थे। वे जानते थे वर्तमान कें यह मेरा स्वयं अकेला ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभावरुप होता हुआ अपने मोक्षका कर्ता होता है, और भूतकाल में जब सम्यक्त्वादिरुप परिणमित न होकर, अज्ञान से उन मिथ्यात्वादि भावोंरुप परिणमित होता था तब भी वह स्वयं ही अपने संसार का कर्ता होता था। इस प्रकार संसार और मोक्ष दोनों भावों में अपना स्वाधीन-कर्तृत्व जानकर, उन्होंने परके साथ एकत्व का अध्यास छोड़ दिया था और अपने आत्मा के एकत्व का अनुभव करते हुए स्वाधीनरुप से अपने मोक्ष के ही कर्ता होते थे।

'भेदज्ञान द्वारा मोक्षमार्ग में प्रविष्ट वे मुमुक्षु-महात्मा ऐसा जानते थे कि-

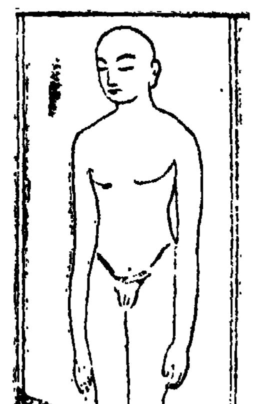
❋ जब मैं संसारी था-अज्ञानी था तब भी वास्तव में मेरा कोई भी नहीं था; तब भी मैं अकेला ही अपने मलिन चैतन्यभाव द्वारा कर्ता-करणादि होकर स्वभावसुखसे विपरीत ऐसे दुःखफल को उत्पन्न करता था, उसमें दूसरा कोई मेरा सम्बन्धी नहीं था।

❋ और अब, साधकदशा में जिसे सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं एकान्त से मुमुक्षु हूँ-वर्तमान में इस मुमुक्षु-साधक-ज्ञानदशा में भी मैं अकेला ही अपने सुविशुध्द चैतन्यभाव द्वारा कर्ता-करणादि होकर, मैं अकेला ही अपने स्वभाव द्वारा अनाकुल सुख उत्पन्न करता हूँ। इस समय भी वास्तव में मेरा कोई भी नहीं है और मोक्ष में भी मैं सादि-अनन्तकाल अपने एकत्व स्वरुप में रहकर अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जिऊँगा।

-इस प्रकार बंधमार्ग में या मोक्षमार्ग में, दुःख में या सुख में, संसार में या मोक्ष में आत्मा अकेला ही है-ऐसे आत्मा के एकत्व को जानकर, उस एकत्व की भावना में तत्पर रहनेवाले प्रभुको पर द्रव्यका किंचित् भी सम्पर्क न रहने से शुद्धता थी, तथा कर्ता-कर्म-करण-फल इन

समस्त भावों को एक अभेद आत्मारुप अनुभवते-भाते होने से पर्यायों द्वारा खण्डित नहीं होते थे इसलिये सुविशुद्ध ही रहते थे; आत्मा की पर्यायों को आत्मद्रव्य में ही प्रलीन करके सुविशुद्ध आत्माको उपलब्ध करते थे। इस प्रकार अपने आत्मा को परसे विभक्त करके सुविशुद्ध आत्मा को उपलब्ध करते थे। उन्होंने अपने आत्मा को परसे विभक्त करके स्वतत्त्वके एकत्वमें लगाया- वही शुद्धनय है, वही शुद्धात्माकी उपलब्धि है, वही निर्वाण का मार्ग है। वही महा अतीन्द्रिय सुख है। तथा वही महावीर का जीवन है। -अहो! ऐसे स्वभावरुप परिणमित चैतन्यतत्त्व जगत में सर्वोत्कृष्ट सुन्दर वस्तु है। चैतन्यतत्त्व की सुन्दरता जहाँ अनुभव में आती है वहाँ जगत का अन्य कोई पदार्थ सुन्दर नहीं लगता, कहीं सुखबुद्धि नहीं होती, सर्वत्र उदासीनवृत्ति रहती है।-ऐसी शांत सहजदशा स्वयं आनन्दरुप है, और उसमें वीरनाथ प्रभुका साक्षात्कार है...अनन्त सिद्धोंका साक्षात्कार है... आत्माका साक्षात्कार है... धन्य दशा!

अहा, शुद्ध ज्ञान स्वरुप के अनुभव से भरा हुआ महावीर का जीवन कितना सुन्दर है!! वह सदा वर्धमान हैं-आत्मसाधना में वृद्धिस्वरुप है। न ललचाये वे संसार के किसी वैभव से, और नहीं डरे वे जगतकी किसी प्रतिकूलतासे। हाँ, वे ललचाये अवश्य-चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादमें; और डरे-इस असार संसार में भवभ्रमण से;...तथापि वे वीर थे; सामान्य वीर नहीं किन्तु महावीर थे। आत्मा की वीतरागी वीरता द्वारा कषाय शत्रुओं को जीतनेवाले वे 'विजेता' थे, जिन थे। केवलज्ञान प्राप्त करके जब वे धर्म गर्जना करेंगे तब उनकी हुंकार सुनकर गौतम इन्द्रभूति और श्रेणिक जैसे अनेक भव्यात्मा चौक उठेंगे।



अहा, उन वीर योगिराज की वीतरागी वीरता के सामने बड़े- बड़े सम्राटों का मस्तक भी झुक जाता था। उनकी वीरता किसी दूसरे को दु:ख देने के लिये नहीं थी, वह वीरता तो अहिंसक थी...निर्विकार थी। जगत में तो वीर योद्धा कहलानेवाले अनेक जीव सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्ष मात्र से विह्वल होकर पराजित हो जाते है, अथवा अपमान के एक कटु शब्द का प्रहार होते ही क्रोधित होकर-हारकर क्षमाभाव को खो बैठते हैं। -वाह, तुम्हारी वीरता! देखली तुम्हारी बहादुरी!! ऐसे तुच्छ आक्रमण से ही रो पड़े...तब मोहके सामने महायुद्ध में कैसे खड़े रहोगे? -अरे, मोह से लड़ना और मोक्षका राज्य प्राप्त करना वह तो वीतरागी वीरों का काम है... कायरों का नहीं। वह वीरता देखना हो तो देख लो, सामने खडे, हुए इन महावीर को! -वे इसी समय उग्र पराक्रमपूर्वक मोहसे लड़ कर, उसका सर्वनाश करके (सत्तानाश-सत्यानाश करके) अपनी क्षायिक विभूति से भरपूर केवलज्ञान-साम्राज्य जीत लेंगे। धन्य है उनकी वीरता।

आत्माके साहजिक रुपको धारण करनेवाले वे मुमुक्षुवीर जानते थे कि-मैं किसी दूसरे का नहीं हूँ और जगत में अपने चैतन्य के सिवा दूसरा कुछ भी मेरा नहीं हैं। अपने आत्मीय चैतन्यस्वरुप शुद्ध द्रव्य-शुद्ध गुण-शुद्ध पर्याय वह मेरा स्व है। मै अपने शुद्ध-द्रव्य-गुण पर्यायरुप स्व वस्तु में ही निवास करता हूँ, वह मेरा स्वकीय परिवार है; उसी का मैं स्वामी हूँ और वही मेरा स्व है। -इस प्रकार शुद्ध-द्रव्य-गुण-पर्याय में अपने को तन्मय अनुभवते हुए वे वन-जंगल के बीच कहीं एकाकी नहीं थे किन्तु अपने गुण-पर्याय के अनन्त

परिवार सहित थे। और फिर भी उनकी अनुभूति में द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद भी नहीं थे, एकत्व था। बस, ऐसी एकत्व-अनुभूति ही मोक्ष का पंथ...वही महावीर का जीवन...और वही महावीर का स्वरुप।

महावीर के ऐसे स्वरुप को जानने से मुमुक्षु के अंतर से प्रतिध्वनि उठती है कि-'हे जीव! अनन्त काल से संसार की चार गतियों में भ्रमण करते हुए जो सुख तुझे कहीं प्राप्त नहीं हुआ, उस अद्‌भुत अनुपम सुख का तुझे चैतन्य की अनुभूति में बहुल वेदन होगा...क्योंकि आत्मा स्वयं अद्‌भुत सुखका भण्डार है। उसे प्रत्यक्ष देखना हो तो देखो इन महावीर को!'

'आत्मा चैतन्यसत्ता है। जो भी चैतन्यमय गुण-पर्यायें हैं उनसे भिन्न आत्मसत्ता नहीं है, एक ही सत्त्व है। स्वानुभूति के समय गुण-पर्यायों का विकल्प छूट जानेसे वे-वे गुण-पर्यायें कहीं आत्मासे भिन्न नहीं हो जाते; अनुभूति स्वरुप आत्मा में द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद मिटकर, तीनों स्वरुप से अभेद एक ज्ञायकस्वरुप प्रगट अनुभव में आता है। भेदों का जिसमें समावेश होने पर भी जो अभेदरुप से अनुभव में आता है ऐसा अद्‌भुत अनेकान्त स्वरुप आत्मतत्त्व है।'- ऐसे अद्‌भुत आत्मतत्त्व को महावीर प्रभु प्रकाशित कर रहे है। ''वन्दन हो उन वीर को!''

ऐसी मुनिदशामें झूलते हुए प्रभु महावीर उल्लसित आराधना सहित विहार करते हुए भारतभूमि को पावन कर रहे हैं। केवलज्ञान की साधना करते-करते एक वर्ष...दो वर्ष...चार वर्ष...आठ वर्ष...इस प्रकार वर्षों पर वर्ष बीत रहे हैं और केवलज्ञान दिन-प्रतिदिन निकट आता जा रहा है। एक बार उन्होंने ऐसा उग्र अभिग्रह धारण किया कि-दासी के वेश में सिर मुँड़ाये हुए, कोई सती-राजकुमारी आहार देगी तभी आहार लूँगा; साथ में अन्य भी अनेक अभिग्रह थे। ऐसे अभिग्रह सहित विचरते-विचरते दिवसों पर दिवस बीत रहे हैं, परन्तु अभिग्रह कहीं पूर्ण नहीं होता और बिना आहार के महिनों बीत चुके है... तथापि वीर मुनिराज के मनमें किसी प्रकार की आकुलता नहीं है सुन्दर आहार मिले या उपवास हो-दोनों में समभाव है। प्रभुका आहार न होने से नगरवासी चिन्ता में हैं।...इस प्रकार बिना आहार के पाँच मास बीत गये।

'विचरुँ उदयाधीन किन्तु निर्लोभ मैं...' ऐसी स्थिति में विचरते हुए वीरनाथ मुनि कौशाम्बी नगरी में पधारे। सारे नगरमें एक ही चर्चा हो रही है कि-वीर मुनिराज प्रतिदिन नगर में आहार हेतु पधारते है, किन्तु आहार हो नहीं पाता! ऐसा कौनसा अभिग्रह उन्होंने धारण किया होगा? कौन होगा वह सौभाग्यशाली जिसे मुनिराज के आहारदान का महान लाभ प्राप्त होगा?...अहा, वह मनुष्य बड़ा भाग्यवान होगा जिसके घर पौने दो सौ दिवस के उपवास पश्चात् प्रभुका पारणा होगा!

## चन्दना के जीवन की चमत्कारी घटनाएँ

इधर महावीर की मौसी चन्दनबाला- की जिसने वीरकुमार के निकट सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था, वह भी महावीर की भाँति विवाह न करने का निश्चय करके वैराग्यमय आत्मभावना में जीवन व्यतीत करती थी। एक बार, चन्दना कुमारी अपनी सहेलियों के साथ नगर के बाहर उद्यानमें क्रिडा कर रही थी कि उसके लावण्यमय यौवन से आकर्षित होकर ,एक विद्याधर ने उसका अपहरण कर लिया; परन्तु बाद में अपनी पत्नी के भयसे उसने चन्दना को कौशाम्बी के वन में छोड़ दिया! कहाँ वैशाली और कहाँ कौशाम्बी! वन के भील सरदार ने उसे पकड़ लिया और एक वेश्या को सौंप दिया! एक के बाद

एक होनेवाली इन घटनाओं से चन्दना व्याकुल हो गई कि अरे, यह क्या हो रहा है?...ऐसी अद्‌भुत सुन्दरी को देखकर वेश्या विचारने लगी कि- कौशाम्बी के नागरिकों ने ऐसी रुपवती स्त्री कभी देखी नहीं है। इसे रुप के बाज़ार में बेचकर मैं भी धन कमाऊँगी।-ऐसा सोचकर वह सती चन्दन बाला को वेश्याओंकि बाज़ार में बेचने ले गई। अरेरे! इस संसार में पुण्य-पाप की कैसी विचित्रता है कि-एक सती नारी वेश्या के हाथो बिक रही है! [ किन्तु पाठक! तुम घबराना नहीं...क्योंकि ऐसे पुण्य-पाप के उदय में भी आत्मा को उनसे भिन्न रख सके-ऐसी ज्ञानचेतना, प्रभुवीर के प्रताप से चन्दना के पास विद्यमान है। चन्दना की उस चेतना को जानने का तुम प्रयत्न करना।]

जहाँ की महारानी मृगावती स्वयं चन्दनबाला की बहिन है उस कौशाम्बी के वेश्या बज़ार में महावीर की मौसी एक दासी के रुप में बिक रही है!

वेश्या आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रही है कि-कोई बड़ा ग्राहक आये तो इसे बेचकर धन कमा लूँ।-इतने में एक बड़े सज्जन सेठ वहाँ से निकले। बाज़ार में खड़ी हुई चन्दना का रुप देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये-अरे, राजकुमारी समान यह कन्या यहाँ कैसे आ गई होगी? जो दासी के रुप में बेची जा रही है! संकटग्रस्त होने पर भी आत्मतेजसम्पन्न उसकी मुखमुद्रा से सेठ को ऐसा लगा कि यह अवश्य कोई संस्कारी कुलवान कन्या है; इसके मुख पर किंचित विषय-लालसा नहीं है, फिर भी बीच बाजार में वेश्या के रुप में बिक रही है...अवश्य ही इसमें कोई रहस्य होना चाहिये! इस कन्या को मैं इस संकट से बचा लूँ ताकि यह किन्हीं दुष्टों के चंगुल में न फँस जाय! -ऐसा विचार करके सेठ उसके पास गये और पूछताछ करने लगे।

उन सज्जन सेठ को वहाँ देखकर नगरजनों के आश्चर्य का पार नहीं रहा... अरे, नगर के यह महान श्रावक धर्मात्मा सेठ वृषभदत्त भी इसके सौन्दर्य पर मोहित हो गये?...'किन्तु यह असंभव है!'...तो फिर किसलिये वे यहाँ आकर बात कर रहे हैं? -इस प्रकार लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार का कौतुहल फैल गया। सेठ वृषभदत्त निकट आकर चन्दना को देखने लगे। वह धीमे-धीमे कुछ बोल रही थी...उसके मुहँ से निकलते हुए शब्द सुनकर सेठ एकदम चौंक पड़े...'अरिहंत..., अरिहंत...' अरे, यह तो 'णमोकार' मंत्र जप रही है...अवश्य ही यह कोई उच्च संस्कारी जैन कन्या है-जो ऐसे घोर संकट के समय नमस्कार मंत्र का जाप कर रही है। धन्य है इसे! ...मेरे कोई सन्तान नहीं है, मैं इसे घर ले जाऊँगा और अपनी पुत्री के रुप में पालन करूँगा। -ऐसा सोचकर सेठ ने उसे खरीद लेने का निश्चय किया और वेश्या को मुँहमाँगी स्वर्णमुद्राएँ देकर चन्दना को ले लिया। धन्य उनका धर्म वासल्य!

घर में प्रवेश करते ही सेठ ने कहा-पुत्री! तुम किसी उच्च कुल की कन्या हो; तुम्हारी प्रत्येक चेष्टा, तुम्हारे निर्विकारी नेत्र और तुम्हारे वस्त्र,-वह सब तुम्हारी कुलीनता का परिचय देते हैं। बेटी, तुम निर्भय होकर रहो। मैं तीर्थंकर देव का अनुयायी जैन श्रावक हूँ...तुम मेरी पुत्री हो।

दासी के रुप में बिक कर भी स्वयं एक सज्जन जैन श्रावक के घर में आ गई है, यह जानकर चन्दना को सन्तोष हुआ; उसे इतनी प्रसन्नता हुई मानो वह महावीर की मंगल छाया में ही गई हो!...उसका हृदय पुकार उठा- 'जैन धर्म से रहित चक्रवर्ती पद भी अच्छा नहीं है; भले ही दासीपना हो परन्तु जैनधर्म में वास हो तो वह भी अच्छा है; -ऐसी कठीन परिस्थिति में भी उसे वीरकुमार के साथ हुई धर्म चर्चा का स्मरण हुआ और वह अपूर्व क्षण याद आया जब वीरकुमार के मार्गदर्शन से स्वयं निर्विकल्प आत्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। अनुकूल या प्रतिकूल प्रसंगों में घिर जाने से वह आत्मा को भूल जाये ऐसी कोई साधारण स्त्री नहीं है, वह तो चैतन्यतत्त्व की ज्ञाता, मोक्ष की

साधक है। ऐसी प्रतिकूलता में भी ज्ञानचेतना किंचित घिरती नहीं है, पृथक् की पृथक् ही रहती है। राजपुत्रीपना या दासीपना, सत्कार या तिरस्कार,-उन सबसे चन्दना के चैतन्य की प्रभा भिन्न की भिन्न रहती है। वाह चन्दना!...धन्य तुम्हारी चैतन्य प्रभाको!

'वाहरे उदय! एक मुमुक्षु धर्मात्मा राजकुमारी वर्तमान में दासी बनकर पराये घर में निवास कर रही है। सेठ-सेठानी को पता नहीं है कि यह दासी कौन है? अरे, यह दासी तो जगत् के परमेश्वर की मौसी है, धर्म का एक रत्न है, भारत के श्राविका संघ की शिरोमणि है और कौशाम्बी नगरी की महारानी मृगावती की लाड़ली बहिन है! जो वर्तमान में कर्मोदयवश दासी बनी है; तथापि पुण्य का ऐसा कोई योग है कि-दासीपना भी सेठ वृषभदत्त जैसे एक सज्जन-धर्मात्मा के घर में मिला है...जहाँ शीलधर्म की रक्षा सुगम है

परन्तु अरे उदय! चन्दना के सौन्दर्य को देखकर सेठानी को सन्देह हुआ कि- मेरी कोई संतान न होनेसे सेठ अवश्य मुझे छोड़कर इस चन्दना को मेरी सौत बनाएँगे! नहीं तो इस घरमें कहाँ दास-दासियों की क्या कमी थी कि इसे ले आये? सती चन्दना सब कुछ जानते हुए भी धैर्यपूर्वक सहन करती है; सेठानी के प्रति हृदयमें द्वेषभाव भी नहीं आने देती। वीरनाथ के बतलाये हुए चैतन्यतत्त्व का विचार करने से दासीपने के दुःख का विस्मरण हो जाता है। वह संसार से विरक्त होकर चिन्तन करती है-मैं तो चैतन्य की महान स्वाधीन विभूतिसे भरपूर हूँ, यह सब तो पूर्व कर्मोंसे छूटने की चेष्टा है। प्रभु महावीर के प्रताप से मेरी ज्ञानचेतना अब कर्मों से पृथक् की पृथक् रहकर मोक्षमार्ग को साधती रहती है...

एक दिन सेठ वृषभदत्त बाहर से थके हुए घर आये। सेठानी कहीं बाहर गई थी, कोई नौकर-चाकर भी घरमें नहीं थे; इसलिये सदा की भाँति चन्दना पानी ले आयी और पितातुल्य सेठजी के पाँव धोने लगी। पाँव धोते- धोते उसके कोमल केशों का जूड़ा खुल गया और केश धूलधूसरित होने लगे; इसलिये सेठ ने निर्दोषभाव से वात्सल्यपूर्वक पुत्री के केश हाथ से ऊपर उठा लिये। ठीक उसी समय सुभद्रा सेठानी आ पहुँची और चन्दना के बाल सेठ के हाथ में देखकर क्रोध से आगबबूला हो गई! उसे लगा कि-मेरी अनुपस्थिति में यह दोनों एक-दूसरे से प्रेमालाप कर रहे थे। बस, उस पर शंका का भूत सवार हो गया और उसने निश्चय कर लिया कि किसी भी प्रकार चन्दना को घर से निकालना है...रे दैव! तेरे भण्डार में क्या-क्या भरा है!!

—जिज्ञासु पाठक! तुम निराश मत होना। कर्मोदय की तथा धर्मी जीव के परिणामों की विचित्रता देखो! यह कर्मोदय भी चन्दना के लिये वरदानरुप बन जाता है...वह तुम कुछ ही समय में देखोगे। कर्मोदय से व्याकुल हो जाना वह धर्मी जीवों का काम नहीं है; उस समय भी अपनी धर्मसाधना में आगे बढ़ते रहना वह धर्मात्माओं की पहिचान है। वे जानते है कि-

**कर्मो तणो जे विविध उदय विपाक जिनवर वर्णव्यो,**
**ते मुज स्वाभावो छे नहि; हुं एक ज्ञायक भाव छुं।**
**सौ जीवमां समता मने, को साथ वेर मने नहीं;**
**आशा खरेखर छोड़ीने प्राप्ति करूं हुं समाधिनी।**

इधर सुभद्रा सेठानी भयंकर वैरबुद्धि से चन्दना को अपमानित करने तथा बदला लेने को तत्पर है। एक दिन जब सेठ नगर से बाहर गये हुए थे, तब सेठानीने चन्दना को एकान्त में बुलाकर उसके

सुन्दर केश काट कर सिर मुँड़वा दिया। अरे, अत्यन्त रुपवती राजपुत्री को कुरुप बना देने का प्रयत्न किया...इतने से उसका क्रोध शांत नहीं हुआ तो चन्दना के हाथ-पाँव में बेड़ियाँ डालकर उसे एक अँधेरी कोठरी में बन्द कर दिया; ऊपर से तरह-तरह के कटु वचन कहे; भोजन भी नहीं दिया। अरे, सिर मुंड़वाकर जिसे बेड़ी पहिना दी गई हो उस सुकोमल निर्दोष स्वानुभवी राजकुमारी का उस समय क्या हाल होगा? आँखों से आँसू बह रहे हैं; मन में वीरनाथ प्रभु का स्मरण होता है। उसे विश्वास है कि मेरे महावीर मुझे संकट से उबारने अवश्य आयेंगे...जिन महावीर ने मुझे सम्यक्त्व देकर भव बंधन से मुक्त किया है वे ही प्रभु मुझे दर्शन देकर इन बेड़ियों से भी छुड़ायेंगे। इस प्रकार वीर प्रभु के स्मरण में लीन होकर वह भूख-प्यास को भी भूल जाती थी,...क्षणभर तो उसका आत्मा मुक्तरुप से किसी देहातीत अगम्यभाव में निमग्न हो जाता था।

ऐसी स्थिति में एक दिन बीता...रात बीती...दूसरा दिन भी बीत गया...सेठ वृषभदत्त नहीं आये! तीसरा दिन बीत गया...तब सेठ नहीं आये...चन्दना को तीन दिन के उपवास हो गये...तीन दिन तक कोठरी में बन्द और बेड़ियों में जकड़ी हुई वह राजकुमारी आहार-जल के बिना एकाकी पड़ी है और कड़वे-मीठे संस्मरणों में खो गई है-प्रतिक्षण प्रभु महावीर का स्मरण करते हुए सम्यक्त्व का मधुर स्वाद ले-लेकर जी रही है। सोच रही है कि-या तो अब प्रभु के दर्शन हों या समाधिमरण...

-इस प्रकार विचार करते-करते तथा प्रभुके दर्शनों की भावना भाते-भाते तीन दिन बीत गये...चौथे दिन प्रात:काल सेठ आ गये। घर का वातावरण कुछ सूना-सूना बेचेन-सा लग रहा था; चन्दना कहीं दिखायी नहीं दी इसलिये बुलाया-'चन्दना...बेटी चन्दना!' किन्तु कहीं से उत्तर न पाकर सेठ चिन्ता में पड़ गये; उनके मनमें तरह-तरह की शंकाएँ होने लगीं...अरे, चन्दना कहाँ गई? वह निर्दोष कन्या कोई अशुभ कार्य तो कर नहीं सकती। मुझसे या सुभद्रा से पूछे बिना वह कहीं जा भी नहीं सकती। ...तो फिर हुआ क्या? कहाँ गई वह? ...सेठानी से पूछा तो कहती है-मैं कुछ नहीं जानती, दास-दासियों को भी कुछ पता नहीं; वे कुछ बोलते भी नहीं हैं...सेठ व्याकुल हो गये। प्राणों से भी प्रिय पुत्री कहाँ गई?? अन्त में गद्गद होकर एक वृद्ध दासी से पूछा-बहिन, तुम्हे मालूम है चन्दना कहाँ है? तुम सब उदास क्यों हो? कुछ बोलते क्यों नहीं? दासी ने कोई उत्तर तो नहीं दिया परन्तु सेठ की ओर देखकर सिसकने लगी उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे...एक गहरा नि:श्वास छोड़कर कोठरी की ओर संकेत करके वह चली गई।

सेठने तुरन्त कोठरी की खिड़की के पास जाकर देखा तो भीतर चन्दना बैठी है...बाहर से ताला लगा हुआ है। चन्दना का मुंड़ा हुआ सिर और हाथ-पाँव में पड़ी हुई बेड़ियों को देखकर सेठ से रहा नहीं गया...वे करुण चीत्कार कर उठे-अरे बेटी चन्दना! तेरी यह दशा !! और फिर भी मुँह से आह तक नहीं करती? अरे, किस दुष्ट ने तेरी यह दशा की है?

चन्दना कुछ बोली नहीं, मात्र स्नेहपूर्ण नेत्रों से सेठ की ओर देखती रही...मानो उसके अमृतझरते नेत्र उनसे शांत भाव रखने को कह रहे हों।

सेठने तुरन्त कोठरी का द्वार खोला और बेड़ियाँ काटने के लिये स्वयं ही लुहार को बुलाने दौड़े...जाते-जाते उबले हुए उड़द और उष्ण जल चन्दना को पारणे हेतु देते गये।

किन्तु तीन दिन की उपवासी चन्दना विचारने लगी-अरे, वीरप्रभु तो कई मास से उपवास कर रहे हैं...वे यदि पधारें तो उन्हें पारणा कराके फिर मैं पारणा करूँ।-ऐसी अंतरंग भावना भा रही है। और यदि जीव की भावना सच्ची हो तो उसका फल भी मिले बिना नहीं रहता...यदि जीव को भावनाका

फल न मिले तो सारा जगत शून्य हो जाय। जिसे आत्मा की भावना हो उसे आत्मा की प्राप्ति होती ही है। सच्ची आत्मभावना वाले को यदि आत्मसुख की प्राप्ति न हो तो आत्मतत्त्व ही शून्य हो जाय-उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। यदि पापीजीव के पापभाव का फल न हो तो नरकगति ही शून्य हो जाय; जीव के पुण्यभाव का फल न हो तो जगत में देवगति ही शून्य हो जाय; जीव के रत्नत्रयभाव का फल न हो तो सिद्धगति ही शून्य हो जाय। -इस प्रकार जीव के शुभ-अशुभ या शुद्धभावों का फल यदि न हो तो संसार की चार गतियाँ अथवा सिद्धगति ही नहीं रहेगी, और तब जगत को शून्य हो जाना पड़ेगा।-किन्तु नहीं; सच्ची भावना का सच्चा फल आता ही हैं...भावना फलित हुए बिना नहीं रहती। देखो, इधर चन्दना उत्तम भावनाएँ भा रही हैं...कि वीर प्रभु पधारें...तो आहारदान दूँ...ठीक उसी समय-

प्रभु महावीर पधारे कौशाम्बी नगरी में...
सती चन्दना को बंधनमुक्त करने।

पाँच मास और पच्चीस दिन के उपवासी प्रभु महावीर आहार हेतु नगर में पधारे हैं। उनका शरीर दुर्बल नहीं हुआ, उनकी मुद्रा निस्तेज नहीं हुई; उलटी तप के दिव्य तेज से चमक रही हैं; उनके चैतन्य का प्रतपन अनोखा हैं! ऐसे प्रभु वीर मुनिराज वृषभदत्त सेठ के घर की ओर आ रहे हैं...चन्दना ने दूर से प्रभु को अपने घर की ओर आते देखा तो उसका रोम-रोम, प्रदेश-प्रदेश हर्षातिरेक से...भक्ति से तथा आश्चर्य से पुलकित हो उठा...'पधारो प्रभु पधारो!' प्रभु निकट आये और हर्षविभोर चन्दना प्रभुको सत्कारने के लिये आगे बढ़ी...आश्चर्य!...उसकी बेड़ियाँ खुल गईं, सिर भी पूर्ववत सुन्दर केशों से सुशोभित हो गया-

**भा रही थी भावना आहार देने के लिये...**
**बेड़ियाँ खुल गई उसकी वीर के शुभ दर्श से।**

सारा वातावरण एकदम बदल गया। बन्धनमुक्त चन्दना का लक्ष तो प्रभु की ओर था। बन्धन था और टूट गया, उसका भी लक्ष उसे नहीं हैं...जिस प्रकार स्वानुभूति के काल में मुमुक्षुसाधक को बंध-मोक्ष का लक्ष नहीं रहता, तथापि बन्धन टूट जाता हैं; आत्मदर्शन में लीन साधक के मोह-बन्धन अचानक ही खुल जाते हैं...उसी प्रकार प्रभुदर्शन में लीन चन्दना की बेड़ी का बंधन टूट गया...आनन्दपूर्वक वह द्वार पर आयी; प्रभु की परमभक्तिसहित वन्दना करके पड़गाहन किया-अहो प्रभो! पधारो...पधारो...पधारो...!

वीरप्रभु की मधुर दृष्टि चन्दना पर पड़ी...तो वह कृतार्थ हो गई!...'लोग मुझे नहीं पहिचानते, किन्तु मेरे प्रभु महावीर को तो जानते हैं?' प्रभु के दर्शनों से वह जीवन के सर्व दुःख भूल गई...भक्तिपूर्वक वीर मुनिराज को आहार हेतु आमंत्रित किया...क्षणभर के लिये प्रभु वहाँ ठहरे...और देखा...तो दासी के रुप में तीन दिन की उपवासी राजकुमारी चन्दना आहारदान देते हेतु खड़ी है...दूसरे भी अनेक अभिग्रह पूरे हो गये...और १७५ दिन के उपवासी तीर्थंकर मुनिराज ने चन्दना के हाथ से पारणा किया। ज्यों ही चन्दना ने प्रभु के हाथमें उड़द का प्रथम ग्रास रखा कि दाता और पात्र दोनों के दैवी पुण्यप्रभाव से उसका उत्तम खीररुप परिणमन हो गया! उत्तम खीर से विधिपूर्वक प्रभुका पारणा होने से चारों ओर आनन्दमंगल छा गया; देवगण आकाश में जयजयकार करने लगे और रत्नवृष्टि होने

लगी; देवदुंदुभी बज उठी....समस्त कौशाम्बी नगरी में हर्ष एवं आश्चर्य फैल गया कि-अरे, यह काहेका उत्सव है?..और जब उन्होंने जाना कि आज वीर मुनिराज का पारणा हो गया है और उसी के हर्षोपलक्ष में देवगण यह महोत्सव कर रहे हैं...तब नगरजनों के आनन्द का पार नहीं रहा।

मुनिराज महावीर प्रतिदिन नगरी में पधारते और बिना आहार लिये लौट जाते...उन प्रभुने आज आहार ग्रहण किया...यह समाचार नगरी में फैलते ही लोग हर्षसे दौड़ते हुए उधर आने लगे कि-चलो, उस भाग्यशाली आत्मा के दर्शन करें और अभिनन्दन दें... जिसके हाथ से यह महानकार्य हुआ है। लोगों ने जब देखा कि वृषभदत्त सेठ की एक दासी के हाथ से प्रभु ने आहार लिया है तब वे आश्चर्यचकित हो गये...अरे, लोगों को क्या खबर थी कि वह दासी नहीं किन्तु प्रभु महावीर की मौसी है....उनकी श्रेष्ठ उपासिका है...प्रभु को पारणा कराके चन्दना धन्य हो गई!...आहार ग्रहण करके वे वीर योगिराज तो मानो कुछ भी नहीं हुआ हो-ऐसे सहजभाव से वन की ओर गमन कर गये और वहाँ जाकर आत्मध्यान में लीन हो गये। जब तक प्रभु जाते हुए दिखायी दिये तब तक चन्दना उन्हें टकटकी बाँधे देखती रही...आकाश में देव और पृथ्वीपर जनसमूह उसे धन्यवाद देकर उसकी प्रशंसा कर रहे थे...किन्तु चन्दना तो सारे जगत को भूलकर, समस्त परभावों से परे, चैतन्यतत्त्व के निर्विकल्प ध्यान में शान्तिपूर्वक बैठी थी...उसकी गंभीरता अद्‌भुत थी!

इधर वृषभदत्त सेठके घर में मुनिराज के आहार दान का प्रसंग बनने से आनन्द-मंगल छाया हुआ है...उधर सेठ स्वयं तो बेड़ी कटवाने हेतु लुहार को बुलाने गये थे सो वापिस लौट रहे हैं...मार्ग में आनन्दमय कोलाहल देखकर लोगों से पूछा-यह क्या हो रहा है? किस बात का है इतना हर्षमय कोलाहल?...

तब प्रजाजन कहने लगे-अरे सेठ! आपके तो भाग्य खुल गये!...आपके आँगन में तो महावीर मुनिराज का पारणा हुआ है! पाँच मास और पच्चीस दिन के उपवास पश्चात् पारणे का धन्य अवसर आपको प्राप्त हुआ है! आपके गृह-आँगन में चन्दना ने भगवान को आहारदान दिया है...उसी का यह उत्सव हो रहा है...देव भी आपके आँगन में रत्नवृष्टि एवं जयजयकार कर रहे हैं।

सेठ तो आश्चर्यचकित होकर घर की ओर दौड़े...हर्षानन्द का स्वयंभूरमण समुद्र उनके हृदय में उछलने लगा...क्या हुआ? कैसे हुआ!! चन्दना की बेड़ी किसने काटी? उसने प्रभुको काहेसे-किस प्रकार पारणा कराया??-ऐसे अनेक प्रश्न हर्ष के समुद्र में डूब गये...वे घर पहुँचे तो वहाँ सारा वातावरण ही बदल गया था। कहाँ कुछ क्षणपूर्व का अशांत क्लेशमय वातावरण और कहाँ यह उल्लासपूर्ण आनन्द!! चन्दना का अद्‌भुत रुप पहले से भी अधिक सुन्दर देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये और हर्ष से बोल उठे-वाह बेटी चन्दना! धन्य हैं तुझे! तूने मेरा घर पावन किया...कौशाम्बी नगरी की शोभा बढ़ा दी...तुझे पाकर मैं धन्य हो गया...तू तो देवी हैं...अरे रे, हम तुझे नहीं पहचान सके और अभी तक दासी बनाकर रखा! बेटी, हमारा अपराध क्षमा कर दे! तू दासी नहीं हैं, तू तो जगत्पूज्य माता हैं!

चन्दना बोली-पिताजी, वह बात भूल जाइये...मुझ पर आपका महान उपकार हैं...आपने ही मुझे संकट में शरण देकर मेरी रक्षा की हैं।

यह आश्चर्यजनक घटना देखकर सुभद्रा सेठानी तो दिग्मूढ़ बन गई...उसके पश्चाताप की सीमा नहीं थी; वह चन्दना के चरणों में गिरकर क्षमायाचना करने लगी-बेटी, मैं तुझे नहीं पहिचान सकी, मुझ पापिन ने बहुत कष्ट दिये...मुझे क्षमा कर दे बेटी!

चन्दना ने उसका हाथ पकड़कर कहा-माता! वह सब भूल जाओ!...मेरे ही कर्मोदय से वह सब

हुआ;-परन्तु प्रभु महावीर के मंगल-पदार्पण से आपका घर पावन हो गया और हम सब धन्य हुए!-मानो महावीर का अभिग्रह पूर्ण होने के लिये ही यह सब हुआ हैं!

आत्ममंथन करती चन्दना विचार रही हैं कि-अहा, एक आहारदान की भावना से मेरी बेड़ी के बंधन टूट गये...तो परम चैतन्य की निर्विकल्प भावना से भव के बंधन छूट जायँ उसमें क्या आश्चर्य!! आत्मभावना द्वारा मैं अपने भव बंधन को भी अल्पकाल में ही अवश्य तोड़ डालूँगी। महावीर प्रभु के दर्शनमात्र से मेरे बाह्य बंधन छूट गये तो अंतर में चैतन्यप्रभु के दर्शन से भवबंधन भी टूटने में अब क्या विलम्ब?

[शास्त्रकार प्रमोद से कहते हैं-वाह रे वाह, चन्दना सती! धन्य हैं तुम्हारा शील, धन्य हैं तुम्हारा धैर्य और धन्य हैं तुम्हारी भावना! तुम महान हो। प्रभु महावीर जब सर्वज्ञ होंगे तब उनकी धर्मसभा में जो स्थान १४००० मुनियों का नायक रुप में गणधर-गौतमस्वामी का होगा, वैसा ही स्थान ३६००० आर्यिकाओं के बीच तुम्हारा होगा। हृदय में परम हर्ष एवं वात्सल्य उमड़ आता हैं तुम्हारे ऐसे उत्तम-उज्ज्वल जीवन को जानकर।]

सारी कौशाम्बी नगरी उमड़ पड़ी हैं महावीर मुनि को पारणा करानेवाली उन चन्दना देवी के दर्शन करने तथा उन्हें अभिनन्दन देने! अहा, आज तक जिसे हम दासी समझते थे वह तो भगवती देवी निकलीं। उन्होंने वीर प्रभुको पारणा कराके अपनी कौशाम्बी नगरी का सम्मान बढ़ाया और उसे विश्वप्रसिद्ध कर दिया! अपनी नगरी में वीर प्रभुका आहार नहीं होने का जो कलंक लग रहा था उसे आज चन्दना ने आहारदान देकर मिटा दिया! बहुतों को तो आश्चर्य हो रहा था कि-आहारदान और किसी के हाथ से नहीं, एक दासी के हाथ से हुआ!

[अरे नगरजनो! कलंक तो तुम्हारी नगरी में चन्दना जैसी सतियाँ दासीरुप में बिकीं उसका था...प्रभु महावीर ने उस दासी के ही हाथ से पारणा करके वह कलंक मिटा दिया।...दासी प्रथा दूर कर दी...मनुष्य मनुष्य को बेचे वह कलंक धो दिया; तथा यह भी प्रचारित किया कि धर्मसाधना में धनवान होने का कोई महत्त्व नहीं हैं...सद्गुणों का महत्त्व हैं।]

नागरिकों के मन में प्रश्न उठने लगे कि-यह चन्दनादेवी हैं कौन? कहाँ की हैं? दिखने में तो पुण्यात्मा लगती हैं...इस प्रकार सब उनका परिचय प्राप्त करने को आतुर थे...इतने में राज्य की महारानी मृगावती अपनी नगरी में सेठ वृषभदत्त के घर मुनिराज महावीर के पारणे के समाचार सुनकर हर्षसहित वहाँ आ पहुँचीं...और पूछने लगीं-'किसके हाथसे हुआ प्रभुका पारणा?'...और वे देखती हैं तो एकदम चौंक पड़ती हैं...अरे! यह कौन हैं?...यह तो मेरी छोटी बहिन चन्दनबाला! अरे चन्दन...चन्दन तू यहाँ कैसे?...ऐसा कहकर वे चन्दना से भेट पड़ीं!-अद्भुत था वह दृश्य!

दोनों बहिनों का मिलन देखकर, तथा चन्दना महारानी मृगावती की छोटी बहिन हैं यह जानकर नगरजन तो अचम्भे में पड़ गये और एक-दूसरे की ओर ताकते हुए कहने लगे-अरे, यह दासी नहीं, यह तो महावीर प्रभु की मौसी! सेठ-सेठानी भी चकित रह गये...वे डर रहे थे कि-'अरेरे, इन राजकुमारी से दासीपना कराया...उसके लिये न जाने राजमाता हमें क्या दण्ड देंगी...' हमारा सर्वस्व छीनकर हमें नगर से बाहर निकाल देंगी! चन्दना उनके भाव समझ गई और तुरन्त राजमाता के समक्ष सेठ-सेठानी का अपने माता-पिता के रुप में परिचय देते हुए कहा-दीदी! इन्होंने संकट के समय मेरी रक्षा की हैं, यह माता-पिता से कम नहीं हैं, मुझ पर इनका महान उपकार हैं...इन्हीं के प्रताप से मुझे यह अवसर प्राप्त हुआ हैं।

सेठ-सेठानी चन्दना का विवेक, क्षमा एवं उदारता देखकर गद्गद हो गये और कहने लगे-हे राजमाता! हमारे घर में ऐसा अमूल्यरत्न होने पर भी हम उसे परख नहीं पाये...यह कई बार उत्तम धर्मचर्चा करती थीं, परन्तु हमें खबर नहीं पड़ने दी कि स्वयं राजपुत्री हैं। धन्य हैं इनकी गंभीरता! इनके पुण्यप्रताप से तो हमारे आँगन में वीर प्रभुका पदार्पण तथा पारणा हुआ। धन्य हमारे भाग्य! यह सब चन्दना की उत्तम भावना का प्रताप हैं...बेटी चन्दना! हमें क्षमा करना!

वीर प्रभु को पारणा कराने के पश्चात् चन्दना ने भी चार उपवासों के तप का पारणा किया...पश्चात् रानी मृगावती ने कहा-बहिन चन्दना, मेरे साथ चलो और राजमहल में आनन्दपूर्वक रहो।

परम वैरागी चन्दना बोली-अरे बहिन! इस संसार में आनन्द कैसा? संसार की असारता देख ली हैं; अब इस संसार से बस होओ! अब तो वीर प्रभु के मार्ग पर चलूँगी और आर्यिका बनकर उनके संघ में रहूँगी।

'तेरी भावना उत्तम हैं बहिन!' किन्तु महावीर प्रभु तो अभी मुनिदशामें विचर रहे हैं, मौन धारण कर रखा हैं, किसी को दीक्षा भी नहीं देते। जब वे केवलज्ञान प्राप्त करेंगे तब हम दोनो उनकी धर्मसभा में जाकर आर्यिकाव्रत धारण करके उनके चरणों में रहेंगे। तब तक धैर्य रखकर घर में ही धर्मध्यान करो और हमें सत्संग का लाभ दो। तुम कौशाम्बी में इतने दिन रहीं, इतने संकट सहे...और हमें खबर तक नहीं पड़ी!

चन्दना ने कहा-दीदी! सब कर्मों की विचित्रता हैं...और मेरे ऊपर अकेले संकट ही थोड़े आये हैं?..देखो न, आज वीरप्रभु के दर्शन तथा आहारदान का महान लाभ प्राप्त हुआ; वह क्या कम भाग्य की बात हैं? संसार में सर्व जीवों को शुभ और अशुभ, हर्ष और शोक के प्रसंग तो आते ही रहते हैं किन्तु-

**हर्ष-शोकसे पार हैं अपना ज्ञानस्वभाव;**
**उस स्वभाव को साधकर होना भव से पार।**

मृगावती-तुम्हारी बात सच हैं बहिन! एक ओर तुम्हारा दासी जीवन देखकर शोक और दूसरी ओर तुम्हारे ही हाथ से वीरप्रभु का पारणा देखकर हर्ष,-इस प्रकार शोक और हर्ष दोनों एक साथ;...इनमें से मैं शोक का वेदन करूँ या हर्षका?-नहीं; हर्ष और शोक दोनों से परे चैतन्यभाव ही आत्मा का सच्चा स्वरुप हैं और उसी में सच्चा सुख हैं,-यह बात स्पष्ट समझ में आती हैं।

पाठक! इस घटना में चन्दना की बेड़ी टूट गई, वह दासत्व से छूट गई, परन्तु वास्तव में अकेली चन्दना ही नहीं, सारे भारतवर्ष से दासत्व के-गुलामी के बन्धन टूट गये...दासत्व प्रथा की जड़ उखड़ गई; नारियों के शील की महान प्रतिष्ठा हुई और भारत की नारियों में अपनी आत्मशक्ति का विश्वास पैदा हुआ। भारत की सन्नारियों ने विश्व में उत्तम स्थान प्राप्त किया। अहा, अपने देश के पास जो श्रेष्ठ, सदाचार एवं अध्यात्म का अमूल्य वैभव है वह क्या दुनिया के किसी और देश के पास है? २४ तीर्थंकरों तथा समस्त चक्रवर्तीयों को जन्म देनेवाली इस भारतभूमि का गौरव विश्व में महान है...भारत में जन्म लेनेवाले हम सब गौरवपूर्वक कह सकते हैं कि-"हम उस देश के वासी हैं, जिस देशमें होते तीर्थंकर। हमारा जन्म तीर्थंकरों के देश में हुआ है...तीर्थंकर हमारे देश में जन्मे हैं। तीर्थंकरों का और हमारा देश एक ही है।" धन्य, मेरी प्यारी भारतमाता! मुनिरुप से विचरते तीर्थंकर के चरणों का साक्षात् स्पर्श करनेका महाभाग्य तुझे प्राप्त हुआ है...'वन्दे मातरम्।'

[वीर संवत् २५०५, फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि के १ बजे यह लिखते-लिखते महान ऊर्मियाँ जागृत हो रही हैं-अहाहा! चन्दनाबहिन, मेरे पास आओ न! हम आनन्दपूर्वक स्वानुभव की चर्चा करें...और मैं प्रभु महावीर के मधुर संस्मरण तुम्हारे पास से जी भरकर सुनूँ!]

राजगृही में चिन्तातुर बहिन चेलना, वैशाली में बहिन प्रियकारिणी त्रिशला, तथा चन्दना के पिताजी राजा चेतक और प्रजाजन सबको चन्दना के मिल जाने की खबर सुनकर तथा उसके हाथ से वीर मुनिराज का पारणा होने के समाचार जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई।

अब, इधर चन्दना अपनी बहिन के साथ कौशाम्बी के राजमहल में रहती है, और वैराग्यपूर्ण जीवन बिताती है; स्वानुभूति में अधिकाधिक परिणाम लगाती है; दिन-रात महावीर के विचारों में तल्लीन रहकर समवसरण के सपने देखती है कि-कब वर्द्धमान प्रभुको केवलज्ञान हो और कब मैं प्रभु के समवसरण में जाकर आर्यिका बनूँ!! प्रतिदिन प्रभु को केवलज्ञान होने के समाचार की प्रतीक्षा करती है। वीर प्रभु राजगृही की ओर सम्मेदशिखर सिध्दक्षेत्र के आसपास विचर रहे हैं...वहाँ से कोई यात्री आते हैं तो उन्हें बुलाकर आतुरता से समाचार पूछती है कि-तुमने प्रभुको देखा? प्रभुको केवलज्ञान हुआ?...वे इस समय कहाँ विराजते हैं? क्या करते हैं?

एक यात्रीने कहा- बहिन, मैं वीरप्रभु के दर्शन करके आ रहा हूँ। जांभिक ग्राम में ऋजुवालिका नदी के तटपर प्रभु ध्यान में लीन खड़े थे...और अब तो केवलज्ञान की तैयारी लगती है; क्योंकि प्रभु अति उग्ररुप से ध्यान में एकाग्र हों-ऐसा मुझे लगता था। किन्तु बहिन! प्रभु को केवलज्ञान होने की बात क्या कहीं छिपी रहेगी? ...अरे, केवलज्ञान होते ही तीनों लोक में उसके समाचार फैल जायँगे और आनन्द का कोलाहल मच जायगा...आकाश से देवों के समूह धरतीपर उतरेंगे...अब तो हम शीघ्र ही वह धन्य अवसर देखेंगे...और तीर्थंकर रुप में प्रभुकी दिव्यध्वनि सुनकर धन्य बनेंगे!

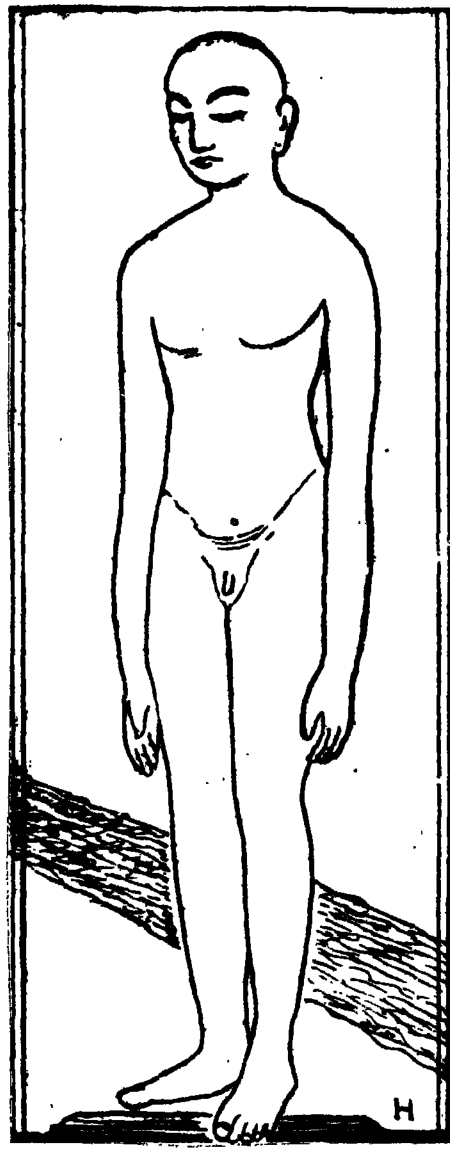
प्रिय साधर्मी पाठक! चलो, हम भी चन्दना जिनकी राह देख रही है...उन प्रभु महावीर के दर्शन करने तथा उनके केवलज्ञान का दिव्य-महोत्सव प्रत्यक्ष देखने चलें।

## ऋजुवालिका के किनारे:प्रभु को केवलज्ञान

महावीर मुनिराज कौशाम्बीनगरी में चन्दनाकुमारी के हाथ से पारणा करने के पश्चात् उद्यान में जाकर ध्यानमग्न हो गये। पश्चात् वे सिद्धपद साधक सन्त विहार करते हुए अनंतसिद्धों के सिद्धिधाम सम्मेदशिखर पधारे। सिद्धिधाम में वे भावी सिद्ध ध्यान में बैठे थे-वह दृश्य वास्तव में अद्भुत था। प्रभु के चरणस्पर्श से शिखरजी की पावनभूमि पुनः पावन हुई; दो तीर्थोंका मिलन हुआ-एक भावतीर्थ और दूसरा स्थापना-तीर्थ; अथवा एक चेतनतीर्थ और दूसरा अचेतन-तीर्थ। हमें ऐसा लगेगा कि क्या भगवान तीर्थयात्रा हेतु आये होंगे! अरे, किन्तु प्रभु तो स्वयं ही चलते-फिरते जीवंत-तीर्थ हैं। शिखरसम्मेद तो स्थापना तीर्थ है जबकि प्रभु तो स्वयं रत्नत्रयरुप परिणमित जीवन्त-तीर्थ हैं। मोक्षयात्रा तो सदा कर ही रहे हैं। और साक्षात् रत्नत्रय तीर्थरुप परिणमित ऐसे महात्माओं के प्रताप से ही भूमि-पर्वतों को तीर्थपना प्राप्त हुआ है।

सम्मेदशिखर तीर्थ के निकट १५-२० किलोमीटर दूर जांभिक ग्राम के समीप ऋजुवालिका नदी बहती है; जैसा सुन्दर नाम वैसी ही सुन्दर नदी है। महावीर प्रभु सम्मेदशिखर से विहार करते हुए उस नदी के तटपर आये और एक स्फटिक समान स्वच्छ सुन्दर शिला पर ध्यानस्थ हुए। वैशाख मास की

तीव्र तपन में भी मानो प्रभु तो चैतन्यशान्ति की हिम शीतल गुफा में बैठे-बैठे अपूर्व वीतरागी शीतलता का वेदन कर रहे हैं...और मानो प्रकृति भी अनुकूल होकर प्रभु की सेवा कर रही हो तद्नुसार एक घटादार शाल्मली वृक्ष प्रभुको शीतलछाया दे रहा है! अहा, चैतन्य के साधक को सारा जगत अनुकूल ही वर्तता है।




प्रभु ध्यान में खड़े हैं...अहा, ऐसे वीतरागी महात्मा मेरे तटपर पधारे! ... इस प्रकार हर्षतरंगों से उछलती कलकल करती नदी मानो आज विशेष हर्षित हो रही हो तद्नुसार जांभिक ग्राम के निकट वह दृश्य देखने के लिये क्षणभर थम जाती थी। अहा, मेरे किनारे आज कोई अद्भुत योगिराज आकर ध्यान लगा रहे हैं। प्रात:काल से ध्यानमग्न योगिराज...न तो कुछ बोलते हैं, न खाते हैं और न पानी पीते हैं! यह नदी का किनारा, यह ग्रीष्मका ताप और यह शीतल मिष्ट जल....जो भी यात्री यहाँ आता है वह शीतल जल पिये बिना नहीं रहता; परन्तु यह योगिराज तो ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप में खड़े होने पर भी पानी का नाम तक नहीं लेते..मानो नदी को आश्चर्य हो रहा है-वह सोच रही है, क्या इन्हें गर्मी नहीं लगती होगी? क्या इन्हें तृषा नहीं सताती? ...मैं उछलकर इनके मुखद्वारा हृदय में प्रविष्ट हो जाऊँ और अपनी शीतलता से इनकी तृषा मिटाकर सेवा करूँ!...किन्तु नहीं, वे यहाँ पानी के लिये नहीं आये...आँख उठाकर वे पानी की ओर देखते तक नहीं हैं...वे तो आँखें झुकाए अंतर में कुछ और ही देख रहे हैं। उनकी मुद्रा देखकर लगता है कि उन्हें बाह्य में कुछ भी खोजने की इच्छा नहीं है...उनके मुख पर क्षुधा-तृषा की आकुलता के भाव भी दिखायी नहीं देते, उस पर तो परमशान्ति एवं प्रसन्नता झलक रही है। भक्ति तरंगों से कलकल करती हुई ऋजुका नदी मानो अपनी उस ध्वनि से उनकी स्तुति कर रही है कि-अहा, मैं शीतलस्वभावी होनेपर भी मुझ से अधिक शीतलता-शान्ति सम्पन्न इन योगिराज को तो मैंने आज ही देखा; अंतरमें वे न जाने कैसी अद्भुत शीतलता का वेदन कर रहे हैं कि उन्हें पानी की बाह्य शीतलता की इच्छा नहीं है। ऐसे योगिराज मेरे तटपर पधारे जिससे मैं धन्य हो गई हूँ। अहा, इन योगिराज की चरण-रज से पावन होने के कारण लोग मेरी भी तीर्थरूप में पूजा करेंगे।

इधर मोह से युद्ध करने के लिये वीर योद्धा तैयार खड़े हैं...वीर राजा का महावीरपना आज सचमुच जागृत हो उठा है; क्षायिक सम्यक्त्व उनकी सेना का सेनापति है और अनन्तगुणों की

विशुद्धिरुपसेना शुक्लध्यान की श्रेणीरुप बाणों की वर्षा कर रही है; अनंत आत्मवीर्य उल्लसित हो रहा है और अनंत सिद्ध भगवंत उनके पक्ष में आ मिले हैं। केवलज्ञानलक्ष्मी विजय माला लेकर तैयार खड़ी है और मोह की समस्त सेना प्रतिक्षण घट रही है। अरे, देखो...देखो!..प्रभु तो शुद्धोपयोगरुप चक्र की धार से मोह का नाश करने लगे हैं! क्षपकश्रेणी में आगे बढ़ते-बढ़ते आठवें...नौवें...दशवें गुणस्थान में तो क्षणमात्र में पहुँच गये हैं। प्रभु अब सर्वथा वीतराग हो गये...और सूर्यास्त से पूर्व तो वीरप्रभु के अंतर में जो कभी अस्त न हो-ऐसा केवलज्ञान सूर्य जगमगा उठा...अहा! प्रभु महावीर सर्वज्ञ हुए...अरिहंत हुए...परमात्मा हुए...'णमो अरिहंताणं।'

## सर्वज्ञ महावीर

सर्वज्ञ प्रभु महावीर राग या इन्द्रियों के बिना ही परिपूर्ण सुख और ज्ञानरुप परिणमित हुए। अभूतपूर्व थी वह दशा! इन्द्रियाँ विद्यमान होनेपर भी मानो अविद्यमान हों-इस प्रकार प्रभुने उनका सम्बन्ध सर्वथा छोड़ दिया। 'भगवान भले अतीन्द्रिय हुए और हमारा साथ छोड़ दिया, फिर भी हमें प्रभु के साथ रहने में ही लाभ हैं',-ऐसा मानकर वे जड़ इन्द्रियाँ अभी प्रभुका साथ नहीं छोड़ती थीं। प्रभु तो इन्द्रियों से निरपेक्ष रहकर स्वयमेव सुखी थे। पराधीन इन्द्रियसुखों से ठगे जा रहे जगत को प्रभुने बतला दिया कि आत्मा इन्द्रियविषयों के बिना ही स्वाधीनरुप से सुखी है; सुख वह आत्मा का स्वभाव है, इन्द्रियों का नहीं। शुद्धोपयोग के प्रभाव से आत्मा स्वयं परम सुखरुप परिणमता है।

इन्द्रियातीत तथा लोकोत्तम ऐसे वे वीर भगवान केवलज्ञान होते ही पृथ्वी से ५००० धनुष ऊपर अंतरिक्ष में विराजमान हुए। अहा, पृथ्वीका अवलम्बन उनको नहीं रहा, और अब वे फिर कभी पृथ्वीपर नहीं उतरेंगे। उनका शरीर छायारहित परम औदारिक हो गया; सब को देखनेवाले प्रभु स्वयं भी सर्व दिशाओं से दिखने लगे। प्रभुके केवलज्ञान का महोत्सव करने तथा अरिहंतपद की पूजा करने स्वर्ग से इन्द्रादि देव पृथ्वीपर आ पहुँचे। इन्द्रने स्तुति करते हुए कहा-हे देव! आप वीतरागता एवं सर्वज्ञता द्वारा जगत में सर्वोत्कृष्ट सुन्दरता को प्राप्त हुए हैं; आप परम इष्ट हो!

सर्वज्ञ परमात्मा का साक्षात्कार करके हजारों लाखों जीव पावन हुए। कुबेरने अत्यन्त भक्तिसहित संसार की सर्वोत्कृष्ट विभूति द्वारा समवसरणरुप जिनेन्द्रसभा की रचना की।-ऐसी रचना वह इन्द्र की आज्ञा से करता होगा या प्रभु की तीर्थंकर प्रकृति से प्रेरित होकर?...वह तो वही जाने! परन्तु वह रचना पूर्ण करते ही आश्चर्यचकित होकर उसने कहा- अहो देव! आपके सान्निध्य के कारण आपका समवसरण जैसा सुशोभित होता है वैसा हमारा स्वर्ग भी शोभा नहीं देता! [कैसे शोभा देगा?...अरे कुबेर! यहाँ तो मोक्ष प्राप्त होता है, तुम्हारे स्वर्ग में कहाँ मोक्ष मिलता है? हे कुबेर! तुम स्वर्गलोक की उत्कृष्ट शोभा यहाँ ले आये, परन्तु इन सर्वज्ञदेव की चैतन्यविभूति के समक्ष तुम्हारी विभूति का क्या मूल्य?]

सम्पूर्ण नीलमणि की शिलापर पृथ्वी के आधार बिना प्रभु के समवसरण की दिव्यरचना हुई; परन्तु उस दिव्य शोभा में मुमुक्षु का चित्त नहीं लगता था; क्योंकि उसका चित्त तो सर्वज्ञ प्रभु के चरणों में ही लगा है। उसे तो देखना है साक्षात् परमात्मा को!...चेतनवंत वीतराग देव को प्रत्यक्ष देखकर उनकी उपासना करना है...और रागरहित आत्मा का स्वाद लेना है। प्रभु की शोभा कहीं बाह्य ठाटबाट में नहीं है, उनकी शोभा तो सर्वज्ञता एवं वीतरागता से है, इसलिये उसी में मुमुक्षु का चित्त स्थिर होता है। हे प्रभो! आपके शुद्धचेतनस्वरुप को जानने से हमें अपना भी ऐसा ही शुद्धात्मा अनुभूति में आता है,-यह आपका उपकार है। इस प्रकार सर्वज्ञ की सभा में प्रवेश करते हुए मुमुक्षु का गौरव बढ़ जाता

था और उसके परिणाम विशुद्ध होते थे। उसे ऐसी अचिन्त्य अनुभूति होती थी मानो अपने ज्ञान में ही सर्वज्ञ बैठे हों!

प्रभु के चारों ओर दिव्य सभामण्डप है, जहाँ मोक्ष के साधक सभाजन बैठे हैं और भगवान महावीर के दर्शन का आनन्द ले रहे हैं। श्रीमण्डप की शोभा सर्वार्थसिद्धि की शोभा से भी बढ़कर है। अहा, यह तो सर्वज्ञ की सभा...परमात्मा का दरबार...तीर्थंकर की प्रवचन सभा! उसकी अद्‌भुतता का क्या कहना! गणधर एवं इन्द्र जिस सभा में बैठते थे। वहाँ जगत की सर्व लक्ष्मी-समस्त शोभा एकत्रित हुई थी। केवलज्ञान लक्ष्मी का भी जहाँ निवास हो वहाँ अन्य लक्ष्मी का तो क्या पूछना? अहा, एक ओर भगवान की 'केवलज्ञान-श्री' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ज्ञानलक्ष्मी की शोभा और दूसरी ओर समवसरण की दिव्य शोभा;-इस प्रकार जीव और अजीव दोनों ने अपनी-अपनी सर्वोत्कृष्ट शोभा धारण की थी। परन्तु उनमें से जो 'जीव' की उत्कृष्ट शोभावान 'सर्वज्ञ-महावीर' को जान ले वह जीव सम्यग्दृष्टि होकर अखूट चैतन्यलक्ष्मी के भण्डार अपने में देख लेता है। वीतरागी, शांतभावरूप परिणमित आत्मा कैसा होता है-उसे प्रत्यक्ष देखकर उन्हें आत्मा के शांतस्वभाव की प्रतीति हो जाती है। अहा, सर्वज्ञ तीर्थंकर जिसके नायक, गणधर जिसके मंत्री और देव जिसके द्वारपाल हो उस दरबार का क्या कहना! भगवान ऋषभदेव की धर्मसभा (समवसरण) बारह योजन व्यास की थी और भगवान महावीर की एक योजन व्यास की है; परन्तु दोनों धर्मसभाओं में भगवंतों ने जिस चैतन्यतत्त्वका प्रतिपादन किया तथा जो मोक्षमार्ग बतलाया वह तो एकसमान ही था।

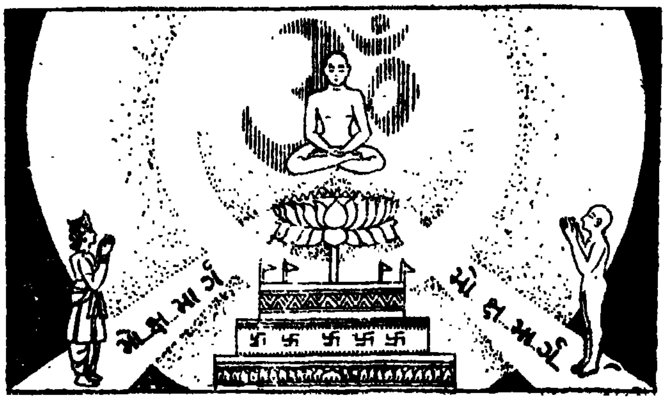
उत्तम छाया तथा दिव्यप्रकाश द्वारा जो प्रभु की सेवा कर रहा था वह अशोकवृक्ष आश्चर्य उत्पन्न करता था कि जड़ के बिना इतना विशाल वृक्ष कैसे बना! ...और देखो, यह भी एक आश्चर्य की बात है कि वहाँ जगत में श्रेष्ठ सिंहासन होनेपर भी प्रभु उस पर बैठते नही हैं; उससे ऊपर-अंतरिक्ष में बैठकर ऐसा प्रगट करते हैं कि- यह रत्नसिंहासन वह कोई चैतन्यपद नहीं है; चैतन्य का पद तो अंतर में अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द द्वारा निर्मित है...उस पर प्रभु आरूढ़ हैं। ज्ञानानन्द पद में विराजमान सर्वज्ञ महावीर को देखकर भव्यजीव भी ज्ञानानन्द में लीन हो जाते थे...और प्रभु की दिव्यवाणी का श्रवण करने के लिये अत्यन्त आतुर थे-प्रभु कैसा अद्‌भुत बोलेंगे! कैसा अचिन्त्य आत्मस्वरूप बतलायेंगे!...प्रभु अभी बोलेंगे...प्रातःकाल बोलेंगे...मध्याह्न में बोलेंगे...सायंकाल बोलेंगे!...कल तो अवश्य बोलेंगे!...

**''बोलो, बोलो न वीतराग, अबोला क्यों हमसे लिया है?''**

यद्यपि वीरप्रभु अभी बोलते नहीं हैं, परन्तु मौन रहकर, अनिच्छा से गगनविहार करते हैं। विहार करते-करते वे राजगृही में विपुलाचल पर पधारे। दिवसोंपर दिवस बीत रहे हैं; जीवों के झुण्डके झुण्ड समवसरण में आ रहे हैं और साक्षात् परमात्मा के दर्शनों से हर्षित होते हैं...परन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरती। वैशाख शुक्ला दशम के दिन प्रभुको केवलज्ञान हुआ था; वह शेष वैशाख मास बीत गया, ज्येष्ठ मास भी बीत गया और अब अषाढ़ भी पूरा होने लगा है...ग्रीष्म ऋतु समाप्त हुई...६६ दिन बीत चुके हैं, किन्तु भगवान की ध्वनि नहीं खिरती; तथापि भव्यजीव थके नहीं हैं, वे तो प्रभु की वाणी सुनने के लिये समवसरण में ही बैठे हैं; वहाँ उन्हें भूख नहीं लगती और न प्यास; थकान भी नहीं लगती और निद्रा भी नहीं आती। मानो क्षुधा-तृषा रहित भगवान के सान्निध्य में उनकी भी क्षुधा-तृषा एवं निद्रा शांत हो गई है। (समवसरण में किसी को क्षुधा-तृषा-रोगादि नहीं होते।)

अब तो अषाढ़ भी पूर्ण होकर श्रावण मास प्रारम्भ हो चुका है...इस प्रकार श्रावण कृष्णा प्रतिपदा आयी; वर्षाऋतु प्रारम्भ हो गई। अब तो प्रभु के मुख से भी दिव्यध्वनि की वर्षा अवश्य होगी-ऐसे विश्वासपूर्वक सभाजन भगवान की ओर दृष्टि लगाये बैठे थे...

इतने में अचानक एक ऋषि-महात्माने समवसरण में प्रवेश किया; उनका नाम था इन्द्रभूति-गौतम! मानस्तंभ के निकट आते ही उनका मान विगलित हो गया और प्रभुकी दिव्यता देखते ही विनित हो गये-अहा, ऐसी अद्‌भुत वीतरागता! यह आत्मा अवश्य ही सर्वज्ञ परमात्मा हैं-ऐसा विश्वास आ गया और प्रभु के पादमूल में नम्रीभूत होकर उसी समय उन्होंने संयम धारण किया। इन्द्रराज हर्षपूर्वक यह सब देखते रहे और उन महात्मा-गौतम को आदर पूर्वक मुनिवरों की सभा में ले गये। ज्यों ही मुनिराज इन्द्रभूति-गौतम मुनिवरों की सभा में जाकर प्रभु को हाथ जोड़कर बैठे कि तुरन्त सर्वज्ञ महावीर के सर्वांग से ॐ दिव्यध्वनि खिरने लगी-



वीरप्रभु के ज्ञानगगन से बरसे अमृतधार,
विपुलगिरि पर दिव्यध्वनिकी होती जयजयकार।
रत्नत्रयकी खिली वाटिका, आनन्द का सौरभ है;
करते निजकल्याण जीव, जिनशासन का गौरव है।
समवसरण के मध्य विराजे वीरनाथ भगवान;
हर्षित हो सुर-नर-मुनि करते प्रभुजी का गुणगान।
स्वाश्रित चेतनभाव सहित प्रभु करते मोक्षप्रकाश;
भव्यजीव भवसे तिरने की लगा रहे हैं आश।
रत्नत्रयनिधि की उपासना हरि करते हैं निशदिन;
निजवैभव कर प्राप्त सभी होते प्रसन्न मन ही मन।
मुनि-गणधर भी धर्मसभा में धरते आत्मध्यान;
सबके मन की एक भावना हो शिवपुर प्रस्थान।

अहा, वह आश्चर्यकारी दिव्यध्वनि सुनकर सर्व जीव आनन्दमग्न हो गये; उसमें परम चैतन्यतत्त्व का अचिन्त्य स्वरूप श्रवण करके अनेक जीव ऐसे अंतर्लीन हुए कि तत्क्षण निर्विकल्प होकर

आत्मअनुभूतिकरके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हुए। इस प्रकार तीर्थंकर भगवान महावीर ने रत्नत्रयतीर्थ का प्रवर्तन किया...धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। गौतमस्वामी रत्नत्रयसंयुक्त मुनियों के नायक बने, उन्हें उसी क्षण अप्रमत्तदशा उदित हो उठी; मन:पर्ययज्ञान हुआ; वे बारह अंग के ज्ञाता श्रुतकेवली हुए; अनेक महान लब्धियाँ उनके प्रगट हो गई। उन्हें वचनलब्धि तो ऐसी अपूर्व प्रगट हुई कि-करोड़ों-अरबों श्लोक धीर-गम्भीर, मधुर, स्पष्ट स्वर में दो घड़ी में बोल सकते थे; करोड़ों मनुष्य और तिर्यंच एकसाथ भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोल रहे हों तब भी प्रत्येक की बात अलग-अलग स्पष्ट समझ सकते थे। बुद्धिलब्धि, औषधलब्धि, रसलब्धि, अक्षयलब्धि, विक्रियालब्धि...आदि अनेक लब्धियाँ प्रगटी होने पर भी वे जानते थे कि इन सर्व लब्धियों की अपेक्षा आत्मानुभूति की लब्धि कोई अचिन्त्य सामर्थ्यवान है, और सर्वज्ञ की केवलज्ञानलब्धि के समक्ष तो यह समस्त लब्धियाँ अनन्तवें भाग की हैं।-इस प्रकार अत्यन्त निर्माणतापूर्वक वे तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणधर बने और हाथ जोड़कर प्रभु की स्तुति की:-

**शतइन्द्र-वंदित, त्रिजगहित निर्मल मधुर वदनारने,**
**नि:सीम गुण धरनारने, जितभव नमुं जिनराजने।**
**सुर-असुर-नरपतिवंद्यने, प्रविनष्ट घातीकर्मने,**
**प्रणमन करुं हुं धर्मकर्ता तीर्थ श्री महावीरने।**

इन्द्रभूति-गौतम के अतिरिक्त उनके दो भाई अग्निभूति और वायुभूति तथा शुचिदत्त, सुधर्म, मांड्व्य, मौर्यपुत्र, अकम्पन, अचल, मेदार्य एवं प्रभास,-ऐसे कुल ११गणधर महावीर प्रभुके थे।

अब, गौतमस्वामी वीरप्रभुके समवसरण में अचानक कैसे आ पहुँचे? उसकी रोमांचक कथा सुनो।-

ऋजुकुला नदी के तट पर वीर प्रभुको केवलज्ञान हुआ, समवसरण की रचना हुई, किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिरी; विहार करते-करते प्रभु राजगृही में विपुलाचल पर पधारे। छियासठ दिन बीत जाने पर भी भगवान का उपदेश क्यों नहीं होता? भगवान तो तीर्थंकर हैं, इसलिये दिव्यध्वनि के उपदेश द्वारा तीर्थप्रवर्तन हुए बिना नहीं रह सकता; किन्तु इतना विलम्ब क्यों? भव्यजीव वाणी सुनने के लिये प्यासे चातक की भाँति आतुर हो रहे हैं! अन्त में इन्द्र का धैर्य समाप्त हुआ; उसने दिव्यज्ञान से देखा कि तीर्थंकर देव के धर्मोपदेश के समय जिसकी अनिवार्य उपस्थिति होना चाहिये ऐसा कोई गणधर इस सभा में उपस्थित नहीं हैं। वह गणधर होनेवाला जीव तो इस समय वेद-वेदान्त में पारंगत महापण्डित के रुप में गौतमग्राम (गुणावा नगरी) में बैठा हैं;- ऐसा जानकर इन्द्रने उन गौतम को समवसरण में लाने की युक्ति बनायी। स्वयं एक ठिगने ब्राम्हण का रुप धारण करके गौतम के पास पहुँचे और विनयपूर्वक कहा-हे स्वामी! मैं महावीर तीर्थंकर का शिष्य हूँ; मुझे एक श्लोक का अर्थ समझना है, परन्तु मेरे गुरुने तो अभी मौन धारण किया है, इसलिये आपके पास उस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।

इन्द्रभूति ने प्रेम से कहा-बोलो वत्स! कौनसा श्लोक है तुम्हारा?

ब्राम्हण वेशधारी इन्द्र ने कहा-सुनिये महाराज!-

**त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीव षट्काय-लेश्या।**
**पंचान्ये चास्तिकाया: व्रतसमितिगति ज्ञान-चारित्रभेदा: ।।**

इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितै प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्धाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टि ।।

श्लोक बोलकर इन्द्रने कहा-हे देव! इसमें तीनकाल, छहद्रव्य, नवपदार्थ, पंचास्तिकाय आदि-कि जिन्हें जानना मोक्ष का मूल है-वे क्या हैं? सो समझायें।

महान विद्वान इन्द्रभूति विचार में पड़ गये कि-यह श्लोक तो मैं प्रथम बार सुन रहा हूँ। इसमें तो जीवादितत्त्वों का वर्णन हैं, परन्तु मेरे मन की गहरायी में तो अभी 'जीव' के अस्तित्व की भी शंका हैं, तब फिर मैं इस ब्राम्हण को उसका स्वरुप कैसे समझाऊँ? ...अवश्य ही यह श्लोक कहनेवाले इसके गुरु कोई असाधारण एवं जीवतत्त्व के ज्ञाता होना चाहिये! इन्द्रभूति बहुत मंथन करने के बाद भी श्लोक के भाव नहीं समझ सके। अहा, सर्वज्ञमार्ग के रहस्य को एकान्त-मिथ्यावादी कहाँ से समझ सकेंगे? उसने विचार किया-अरे, मैं समस्त वेद-पुराणों का ज्ञाता हूँ, परन्तु छह द्रव्य क्या हैं, पाँच अस्तिकाय क्या हैं, पाँच ज्ञान कौन से हैं-यह तो मैंने कभी सुना ही नहीं है! यह तो इस ब्राह्मण के सामने मेरी प्रतिष्ठा जाने का प्रसंग आया? क्यों न इसके गुरु के पास जाऊँ और देखूँ कि वह कौन है?-ऐसा सोचकर इन्द्रभूतिने कहा- हे वत्स! तुम्हारे गुरु कौन हैं और कहाँ विराजते हैं? मैं उनके साथ इस श्लोकपर चर्चा करूँगा।

बस, इन्द्र तो यही चाहते थे। उन्होंने कहा-यह तो बड़े आनन्द की बात है महाराज! मेरे साथ चलिये! मेरे गुरु सर्वज्ञ-महावीर हैं और वे राजगृही में विपुलाचल पर विराजते हैं।

...और इन्द्र के साथ इन्द्रभूति समवसरण की ओर चल पड़े। वाह रे इन्द्रभूति जो तत्त्व अपनी समझ में नहीं आया उसे समझने की कितनी गहरी जिज्ञासा है! पाँच सौ शिष्यों के साथ समवसरण की ओर चलते हुए गौतम का अभिमान क्षण-क्षण गल रहा है; उनका अंतर स्वीकार कर रहा है कि जिस श्लोक का अर्थ मैं नहीं जान पाया उसे जाननेवाले गुरु-महावीर कोई असाधारण ज्ञानवान होंगे!-इस प्रकार उनके अंतर में हार-जीतकी नहीं किन्तु अपने ज्ञान के समाधान की मुख्यता है। उनकी शंका का तथा अज्ञान का अंत अब निकट ही है; यहाँ अपूर्वज्ञान की तैयारी है तो सामने अपूर्ववाणी की,-उत्कृष्ट उपादान-निमित्त का कैसा सुमेल है!

ज्यों ही मानस्तंभ के निकट आये और प्रभुका वैभव देखा त्यों ही उनका मान विगलित हो गया...उन्होंने महावीर को देखा और देखते ही सर्वज्ञ की तथा जीव के अस्तित्व की प्रतीति हो गई। अहा! ऐसे वैभव में भी प्रभु वीतरागरुप से विराज रहे हैं! कैसी शांत है उनकी दृष्टि! उनके आत्मा की दिव्यता का क्या कहना!-अवश्य ही यह सर्वज्ञ हैं।-इस प्रकार गौतम को प्रभुके प्रति परम सम्मान का भाव जागृत हुआ और जीव के अस्तित्व सम्बन्धी उनकी सूक्ष्म शंकाएँ दूर हो गई...मान का स्थान ज्ञानने ले लिया। निःशल्य हुए गौतम ने विनयपूर्वक अपने पाँच सौ शिष्योंसहित प्रभुका मार्ग अंगीकार किया और नम्रीभूत होकर प्रभु की स्तुति की-

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।

अहा, कैसा आनन्ददायी होगा वह दृश्य! वीरप्रभुकी दिव्यवाणी छूटती होगी और गोतम गणधर उसे झेलते होंगे! प्रभुकी वाणी सुनकर तत्क्षण गौतम-इन्द्रभूति चार ज्ञानधारी श्रुतकेवली हुए और बारह

अंगरुप श्रुतकी रचना द्वारा परमात्मा की वाणी का प्रसाद पंचमकाल के भव्य जीवों के लिये संग्रहित करके रख दिया,-जो प्रसाद आज हमें गुरु-परम्परा से प्राप्त हो रहा है। अहो वीरनाथ! आपका महान उपकार है; आपके गणधरों का तथा वर्तमान पर्यंत आपकी वाणी द्वारा स्वानुभवपूर्वक मोक्षमार्ग को प्रवाहित रखनेवाले वीतरागी सन्तों का भी महान उपकार है कि जिन के प्रताप से आज ऐसे दुःषम काल में भी हमें आपका मोक्षमार्ग मिल रहा है। वाह, धन्य वीरका शासन...और धन्य उस शासनधारा को अविच्छिन्न रुप से प्रवाहित रखनेवाले सन्तोंको!

पश्चात् इन्द्रभूति-गौतम के साथ उनके और दो भाई महा विद्वान अग्निभूति, वायुभूति तथा अन्य आठ विद्वान् अपने अपने सैकड़ों शिष्यों सहित वीरप्रभु के समवसरण में आये और रत्नत्रयधर्म प्राप्त करके प्रभु के गणधर बने। महावीर तीर्थंकर के कुल ११ गणधर थे। समवसरण की अद्भुत दिव्यता के मध्य रहकर भी निर्मोहरुप से विराजमान वर्धमान सर्वज्ञ सचमुच अलौकिक थे-अहा, कैसी शांत मुद्रा! कैसी वीतरागता! और कैसा ज्ञानतेज! वह मुद्रा देखते ही जीवों की शंकाएँ निर्मूल होकर आत्मा के परमस्वरुप की प्रतीति होती थी। वाह, उन अरिहंतों की महिमा का क्या कहना!-कि जिनका स्वरुप जानने से आत्मा के शुद्धस्वरुप का ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन होता है।

इन्द्रभूतिका अद्भुत परिवर्तन देखकर इन्द्र को अपार आनन्द हुआ।...और ब्राह्मण का रुप छोड़कर अपने असली इन्द्र स्वरुप में गौतम गणधर के चरणों में वन्दन किया।

इन्द्रभूति ने परमगम्भीरता से कहा-इन्द्रराज! अब मैंने जान लिया है कि-तुम्हीं ब्राह्मण का वेश धारण करके युक्तिपूर्वक मुझे यहाँ समवसरण में लाये हो! ...यहाँ आने से मेरा कल्याण हुआ है; मेरी पराजय नहीं किन्तु विजय हुई है और उसमें मुझे तीन रत्न तथा चार ज्ञान प्राप्त हुए हैं।पहले मैं मिथ्यात्व से पराजित था, अब मिथ्यात्व को पराजित करके मैंने अपने अपार निजवैभव को जीत लिया है। प्रभु महावीर अब मात्र तुम्हारे नहीं, मेरे भी परमगुरु हैं।

'शतइन्द्र-वंदित त्रिजगहित निर्मल मधुर वदनार ने,
निःसीमगुण धरनार ने, जितभव नमुं जिनराज ने।'

अहा, गौतम गणधर भी जिनकी स्तुति करते हैं उन सर्वज्ञ महावीर की महिमा का क्या कहना! हे महावीर देव! आपके गुण इतने अधिक महान हैं कि छद्मस्थ जीव उनकी स्तुति करते हुए थक जाता है, तथापि मैं आपके गुणों के प्रति सच्ची महिमा के कारण आपकी स्तुति करता हूँ-प्रभो! आपके अंतर में उदित हुआ केवलज्ञान सूर्य हानि-वृद्धि से रहित स्थिर है; वह सूर्यकी भाँति आतप देनेवाला नहीं किन्तु आतप हरनेवाला है। आपकी वीतरागी सर्वज्ञता की अचिन्त्य महिमा का चिन्तन हमें राग से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा की अनुभूति कराता है...और सम्यक्त्वसहित महान आनन्द प्रगट होता है। प्रभो! आपकी यथार्थ प्रतीति का यह महान फल है।

धन्य सर्वज्ञदेव! आपका प्रभाव कोई अद्वितीय है। स्वानुभूति के बिना आपके अचिन्त्य गुण चिन्तन में नहीं आ सकते। जहाँ आपके अचिन्त्य गुणों को ज्ञान में लेकर उनका चिन्तन करते हैं वहाँ हमारा ज्ञान वैसे आत्मगुणों में एकाग्र हो जाता है और विकल्पों से परे कोई परमशांत चैतन्यरस अनुभव में आता है। यही है आपकी परमार्थ स्तुति!...यही है आपका पावन पंथ!

'जिती इन्द्रियो ज्ञानस्वभावे अधिक जाणे आत्मने,
निश्चय विषे स्थित साधुओ भाखे जितेन्द्रिय तेहने।'

[इस प्रकार सर्वज्ञस्वभावी अतीन्द्रिय आत्मा की अनुभूति ही सर्वज्ञ की परमार्थ स्तुति है।]

वे सर्वज्ञ महावीर कोई 'अन्तिम तीर्थंकर' नहीं थे। जिस प्रकार जगत में मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीवों का तथा मोक्षमार्ग का कभी अन्त नहीं है, उसी प्रकार एक के बाद एक अनन्त तीर्थंकरों की परम्परा अनन्त काल तक चलती ही रहेगी। इस चौबीसी के प्रथम और अन्तिम (ऋषभदेव एवं महावीर) तीर्थंकरों के बीच तो असंख्य वर्षों का अंतर था; परन्तु इस चौबीसी के अन्तिम और आनेवाली चौबीसी के प्रथम (महावीर एवं पद्मनाभ) तीर्थंकरों के बीच मात्र ८४००० वर्ष का ही अंतर है। महावीर प्रभुके मोक्षगमन पश्चात् ८४००० वर्ष में ही राजा श्रेणिक का आत्मा महापद्म तीर्थंकर होगा। धन्य मार्ग!

इधर कौशाम्बीनगरी में कुमारी चन्दनबाला वीरप्रभु के केवलज्ञान की प्रतीक्षा करते हुए वैराग्यमय जीवन बिता रही है। वैशाख शुक्ला दशमी के सायंकाल आकाश में अचानक हजारों-लाखो देव-विमान देखकर उसे आश्चर्य हुआ...वे देव महावीर भगवान का जयजयकार करते हुए जा रहे थे। चन्दना तुरन्त समझ गई कि-मेरे महावीर को केवलज्ञान हो गया है...और उसीका उत्सव मनाने यह देवगण जा रहे हैं। अहा! मेरे महावीर अब परमात्मा बन गये! इस प्रकार चन्दना के हर्षानन्द का पार नहीं है। सारे नगर में आनन्द के बाजे बजवाकर उसने प्रभुके केवलज्ञान का मंगल उत्सव मनाया। पश्चात् बड़ी बहिन मृगावती को साथ लेकर वह राजगृही वीरप्रभु के समवसरण में पहुँची...और उन वीतरागी वीर परमात्मा को देखकर स्तब्ध रह गई। राजकुमार महावीर ने जो आत्मानुभूति प्राप्त की थी उसका उसे स्मरण हुआ और तुरन्त वैसी अनुभूति में पुन:पुन: उपयोग लगाकर अन्तर की विशुद्धता को बढ़ाया। प्रभु की स्तुति की, गौतम स्वामी आदि मुनिवरों को वन्दन किया और प्रभुचरणों में आर्यिका के व्रत धारण किये...कोमल केशों का लोच किया, राजवस्त्र छोड़ दिये और एक श्वेत परिधान में वैराग्य से सुशोभित हो उठी। अभी कुछ दिन पूर्व भी सिर मुंड़ाए बंधन में पड़ी थी...और आज स्वेच्छा से सिरमूंडकर वह मोक्षमार्ग में प्रयाण कर रही है! कहाँ वह कारागृह और कहाँ यह समवसरण-धर्मसभा! उन दोनों संयोगों से विभक्त तथा निजगुणों के एकत्व-ऐसे निजस्वरुप का वह अनुभवन करती थी। वीरप्रभुकी धर्मसभा में विद्यमान ३६००० आर्यिकाओं के संघ की वे चन्दनामाता अधिष्ठात्री थीं। कहाँ भील द्वारा अपहरण और कहाँ वीरप्रभु की शरण! कहाँ वेश्या के हाथों बाज़ार में बिकने का प्रसंग और कहाँ ३६००० आर्यिकाओं में अधिष्ठात्री-पद! वाह रे उदयभाव तेरा खेल!!परन्तु धर्मात्मा का चैतन्यभाव अब तेरे विचित्रजाल में नहीं फँसेगा, वह तो सर्व प्रसंगों में तुझसे अलिप्त अपने चैतन्यभाव में ही रहेगा...और मोक्षको साधेगा।

भारत में भगवान महावीर तीर्थंकर से पूर्व २३ वें पार्श्वनाथ तीर्थंकर का शासन चल रहा था; अहिंसाधर्म की महिमा फैल रही थी। भगवान महावीर ने भी वह बात प्रचारित की कि-रागसे भिन्न आत्मा के अनुभवद्वारा ही अहिंसाधर्म का पालन हो सकता है। क्योंकि राग स्वयं हिंसा है, इसलिये जो जीव जितना राग में वर्तता है उतना वह हिंसा में ही वर्त रहा है। जिसमें राग नहीं है ऐसे ज्ञान की अनुभूति वह परम अहिंसाधर्म है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।-ऐसे अहिंसाधर्म के उपदेशक प्रभु महावीर ने विपुलाचल से विहार करके भारतभूमि को पावन किया। जहाँ वे पधारते वहाँ अहिंसामय शान्त वातावरण हो जाता था। सर्प और नेवले जैसे विरोधी जीव भी एक दूसरे के मित्र बन जाते थे।

सिंह और गाय, शेर और खरगोश...सब भयरहित होकर एक साथ बैठते...और वीरवाणी का अमृत-पान करते थे। प्रभुने अनेकान्त तत्त्व का स्वरुप समझाया-जीव अतीन्द्रिय चेतनतत्त्व है, वह जड़ से भिन्न है। चेतन और जड़ प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वधर्म में स्थित है। एक ही वस्तुका एकसाथ अपने अनेक धर्मों में तन्मयरुप से रहना सो 'अनेकान्त' है। एक ही आत्मा ज्ञानमें है, वही दर्शन में है, वही सुख में है, वही द्रव्य में है, वही गुण-पर्यायों में है; वही आत्मा अस्तित्वधर्म में है, वही नास्तित्वधर्म में है;-इस प्रकार अनन्त स्वधर्मों में व्यापक आत्मा अनेकान्त स्वरुप है। उसे जानने से आत्मा का अनन्त निजवैभव जानने में आता है। इस प्रकार अनेकान्तमय आत्मवैभव बतलाकर भगवान ने प्रत्येक जीव को भगवानपना ही दिया...अनन्त निजवैभव दिया...मोक्षमार्ग दिया...धर्म दिया।

प्रभु महावीर जब तीर्थंकर रुप में विचर रहे थे उन दिनों राजगृही मगध देश की राजधानी थी, और वहाँ राजा श्रेणिक राज्य करते थे। यद्यपि प्रभु वर्धमान (वड्ढमाण) सौराष्ट्र आदि अनेक देशों में विचरे थे, परन्तु मगध देश के निकटस्थ प्रदेशों में उनका 'विहार' इतना अधिक हुआ कि वह प्रदेश ही विहार (बिहार) के नाम से प्रसिद्ध हो गया। पहले तो वैशाली और मगध दोनों राज्य एक-दूसरे के शत्रु थे और परस्पर युद्ध भी करते थे; परन्तु वीतराग महावीर को क्या? उनका कौन शत्रु और कौन मित्र? उन्होंने तो अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन मगध की राजधानी से प्रारम्भ किया। क्रोध द्वारा जिन्हें नहीं जीता जा सकता था उन्हें वीतरागता द्वारा जीत लिया।

एक बार प्रभु महावीर राजगृही के वैभारगिरि पर पधारे। परमात्मा महावीर को और साथ में अपनी लाड़ली बहिन चन्दना को देखकर महारानी चेलना के आनन्द का पार नहीं रहा। महाराजा श्रेणिक भी साथ थे। सर्वज्ञ महावीर को देखकर वे भी स्तब्ध रह गये-वाह! मेरे इष्ट देव! धन्य आपकी वीतरागता! धन्य आपका अचिन्त्य धर्मवैभव!

जब श्रेणिक राजा भव्य शोभायात्रासहित हाथी पर बैठकर प्रभुके दर्शन करने जा रहे थे तब एक मेंढक भी उनके साथ कमल की पंखुरी लेकर चल रहा था। (वह नागदत्तसेठ का जीव था।) मार्ग में हाथी के पाँवतले कुचल जाने से वह मेढक मर गया और प्रभु की पूजा के भावसहित मरकर देव हुआ। देवगति को प्राप्त वह जी तुरन्त वीरप्रभु के समवसरण में आया...उसकी कथा जैनधर्म में प्रसिद्ध है।

आज श्रेणिक राजा के आनन्द का पार नहीं है-अहा, सर्वज्ञ परमात्मा मेरी नगरी में पधारे...मैं धन्य हुआ! अपनी बड़ी बहिन [त्रिशला] के लाड़ले पुत्र को सर्वज्ञ परमात्मा रुप में तथा छोटी बहिन चन्दनबाला को आर्यिका के रुप में देखकर रानी चेलना का हृदय भी हर्षोल्लास से भर गया, और वीरप्रभुकी दिव्यध्वनि सुनकर चैतन्यरस की धारा उल्लसित हुई। राजा श्रेणिक तो चैतन्यरस में ऐसे सराबोर हुए कि प्रभु के पादमूल में ही दर्शन मोह की सातों कर्म प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया; उनके ज्ञान की निर्मलता बढ़ गई,; व्रतचारित्र तो उन्होंने नहीं लिये, परन्तु दर्शनविशुद्धिप्रधान सोलह कारण भावना भाते-भाते तीर्थंकर नामकर्म बाँधना प्रारम्भ किया। इस भरतक्षेत्र के ही दो तीर्थंकर ...उन में अवसर्पिणी के अन्तिम तीर्थंकर के चरणों में उत्सर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर ने तीर्थंकर नामकर्म बाँधा...और अब मात्र ८२५०० वर्ष पश्चात् वह आत्मा इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर के रुप में उत्पन्न होगा।

अहा, राजगृही के वैभारगिरि पर धर्मवैभव का महान आनन्दोत्सव चल रहा है। वर्तमान एवं भावी दोनों तीर्थंकरों को एकसाथ देखकर जीव आनन्दित हो रहे हैं। गणधर-मुनिवर भी उन भावी तीर्थाधिनाथ को मधुरदृष्टि से देखकर आशीर्वाद की वर्षा करते हैं। अरे, तिर्यंच भी प्रभुकी वाणी द्वारा श्रेणिक राजा

की महिमा सुनकर आश्चर्य एवं भक्ति सहित उनकी ओर निहार रहे हैं। 'धन्य भाग्य से हमें भावी तीर्थंकर के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। यह भावी तीर्थंकर जिस सभा में बैठकर प्रभुकी वाणी सुन रहे हैं,-हम भी उसी सभा में उन भावी तीर्थंकर के साथ बैठकर वीरप्रभु की वाणी सुन रहे हैं...हम भी उन तीर्थंकरों के मार्ग से अवश्य मोक्ष में जायँगे।

श्रेणिकराजा ने एक ओर से तो ऐसा जाना कि यहाँ से मरकर स्वयं प्रथम नरक में जायेंगे; उसी समय दूसरी ओर से ऐसा जाना कि एक भव पश्चात् स्वयं त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर होंगे। परस्पर विरुद्ध दोनों बातें सुनकर उन धर्मात्मा को कैसी अनुभूति हुई होगी? क्या नरकगति के शोक से वे खेदखिन्न हुए होंगे? अथवा तीर्थंकर होने को उल्लास में हर्ष से नाच उठे होंगे?! ...नहीं, उन धर्मात्मा की चेतना तो हर्ष या खेद दोनों से परे अलिप्त ही रहकर मोक्ष की ही साधना में लगी रही। वाह, बलिहारी है ज्ञानी की ज्ञान चेतना की!-

हर्ष-शोक से पार, ज्ञानी जीव रहें सदा;
जो चाहो सुख-शांति, साधो ज्ञानस्वभावको।

अहो, वीरनाथ के समीप चैतन्य की विशुद्धता के बलसे नरक के पाप भी मानो धुल गये हों।-इस प्रकार श्रेणिक राजा तो चेतनरस के वेदन में ही तत्पर थे। वीर प्रभु के प्रति परम उपकार के सूचक हर्षाश्रु उनकी आँखोंसे झर रहे थे। अरे, देखो तो सही, जीव के परिणाम का परिवर्तन! कहाँ एक समय मुनि की विराधना के क्रूरपरिणाम! और कहाँ इस समय तीर्थंकर प्रकृति के योग्य विशुद्धपरिणाम! कहाँ उस समय का मिथ्यात्व और कहाँ आज का क्षायिक सम्यक्त्व! एक ही जीवके जीवन में कैसे-कैसे परिवर्तन आते हैं! वाह, जिनशासन! सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरुप बतलानेवाला तेरा उपदेश हमें वीतरागता ही कराता है। नरकगामी भी वही...और किंचित् दीर्घदृष्टि से देखें तो मोक्षगामी भी वही! अहा, जीव के परिणामों की शक्ति तो देखो, चाहे जैसा पापी या विराधक जीव भी सीधा चले तो क्षण में धर्मी होकर मोक्षका साधक बन जाता है।-इसका उदाहरण एक इन्द्रभूति-गौतम गणधर और दूसरे श्रेणिकराजा-तीर्थंकर।

क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त श्रेणिकराजा ने अंतर में अतीन्द्रिय आनन्द के तार झंकृत करके वीरनाथ प्रभु की भक्ति की। उस समय एक ओर उनके पुराने कर्म शीघ्रता से खिर रहे थे तो दूसरी ओर तीर्थंकर प्रकृति बँध रही थी; यद्यपि उस समय 'मैं कर्म से बंधूँ'-ऐसी इच्छा उनको नहीं थी, परन्तु राग के अपराधवश बंधन हो रहा था। महावीर तो पूर्व में बाँधे हुए तीर्थंकर नामकर्म को छोड़ रहे हैं और श्रेणिक तीर्थंकर नामकर्म को बाँध रहे हैं...मानो एक तीर्थंकर के पाससे प्रकृति के परमाणु दूसरे तीर्थंकरके पास आ रहे हों! 'यह वीर प्रभु तो अब हमें छोड़कर निष्कर्म होकर मोक्षमें जायँगे'-ऐसा समझकर उन कर्मोंने अपने रहने के लिये दूसरा घर ढूँढ़ लिया...और महावीर के पास से निकलकर श्रेणिक के पास आ गये!-इस प्रकार तीर्थंकरत्व का अच्छिन्न प्रवाह जगत में चलता ही रहता है।

इस प्रकार इन्द्रादि देवों द्वारा पूजित एवं भव्यजीवों को मोक्षमार्ग दरशाते हुए गगनगामी महावीर तीर्थंकर विचर रहे थे। राजगृही से विहार करके प्रभु वैशाली की ओर चलने लगे। बीच में गंगानदी पार करने के लिये उन्हें पुल की या नौका की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि प्रभु तो अब गगनविहारी हो गये थे। वैशाली वीरप्रभु की जन्मभूमि! वहाँ माता त्रिशला और पितासिद्धार्थ बारह वर्ष से परमप्रिय वीरनाथ के दर्शनों को आतुर थे। परमात्मा वीरनाथ वैशाली में पधारे और अद्भुत समवसरण के बीच

विराजमान उन परमात्मा को देखकर माता त्रिशला के अन्तर में आनन्दोर्मियाँ जाग उठीं-मेरा लाल केवलज्ञानरुपी जगत्श्रेष्ठ अमूल्य रत्न लेकर आया, परमात्मा बनकर हमें दर्शन देने आया। वैशालीकी समस्तप्रजा अपने लाड़ले राजकुमार को एक परमात्मा के रुपमें देखकर परमहर्षित हुई और महा महोत्सव किया। जिन्होंने महावीर को बचपन में क्रीड़ा करते देखा था, मुनिरुप से आत्मसाधना करते देखा था, और अब सर्वज्ञदशा में परमात्मारुप में देखा,...उन वृद्धजनों को ऐसा लगा कि अरे, कुछ वर्ष पूर्व जो हमारे साथ पृथ्वी पर चलते-फिरते मनुष्य थे वे देखते ही देखते परमात्मा बन गये!...कैसी अजब है आत्म-शक्ति! 'आत्मा में ही परमात्मशक्ति है'-इस प्रकार सर्वज्ञ महावीर को देखते ही अपनी आत्मशक्ति की प्रतीति करके अनेकों जीव परमात्मा बन गये! प्रभुने दिव्यध्वनि द्वारा 'प्रत्येक जीव में परमेश्वरता' की प्ररुपणा की।अहा, प्रत्येक आत्मा परमात्मवैभव से परिपूर्ण है और वह स्वाधीनरुप से परमात्मा हो सकता है'-ऐसी महान बात परमेश्वर के अतिरिक्त कौन बतला सकता है? और उसें झेलनेवाले कोई साधारण जीव नहीं किन्तु 'जिनेश्वर के नन्दन' होते हैं; मोक्षके पंथी होते हैं। अहा, वीरका ऐसा सुन्दर रागरहित मार्ग! उसमें जीवों को जगत की कोई सम्पदा ललचा नहीं सकती, अथवा कोई विपदा डरा नहीं सकती। *हे वीर! आपका मार्ग वह वीरों का मार्ग है; वीतरागता का मार्ग है। वीतरागता में निहित* सच्ची वीरता को आपके भक्तों के सिवा और कौन समझेगा?

लोग कहते हैं कि-आकाश में पुष्प नहीं होते; परन्तु ऐसा कहनेवाले ने प्रभुके श्रीविहार को नहीं देखा। आकाशगामी प्रभु जहाँ भी विचरते हैं वहाँ उनके चरणों के नीचे २२५ अदभुत कमलों की रचना हो जाती है...मानो आकाश में पुष्पवाटिका खिली हो! और प्रभुके प्रताप से भव्यजीवों के चैतन्याकाश में भी रत्नत्रय के पुष्प खिल उठते हैं।

राग अलंकार या वस्त्ररहित होने पर भी उन सर्वज्ञ प्रभु की सुन्दरता का क्या कहना!...और देखो तो सही, जड़-पुद्गल भी मानो प्रभु की आश्चर्यमय सुन्दर सर्वज्ञता की प्रतिस्पर्धा करना चाहते हों, तदनुसार वे भी जगत में सर्वश्रेष्ठ आश्चर्यजनक पौद्गलिक सुन्दरतारुप से परिणमित हो रहे हैं। एक ओर वीतरागी सर्वज्ञता द्वारा चैतन्य की सर्वोत्तम सुन्दरता, तथा दूसरी ओर परमऔदारिकता द्वारा शरीर-पुद्गलोंकी सर्वोत्तम सुन्दरता!...वाह! चेतन और जड़ दोनों के सौन्दर्य की पराकाष्ठा!-ऐसी सुन्दरता सर्वज्ञप्रभु के सिवा अन्यत्र कहाँ होगी!

रे शरीर! तूने भले प्रभु के सान्निध्य में सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य धारण कर लिया परन्तु तुझे यह खबर नहीं है कि प्रभुकी सर्वज्ञता का चैतन्य सौन्दर्य तो अनन्तकाल तक ज्यों का त्यों बना रहेगा, जबकि तेरा सौन्दर्य तो क्षणभंगुर है। प्रभु तुझे छोड़कर मोक्ष जाय-इतनी ही देर है!'

यह सुनकर शरीर मानो हँस कर कहता है-अरे भाई! इन सर्वज्ञ-परमात्मा का क्षणभर का सान्निध्य भी कहाँ से? सत्पुरुषों के एक क्षणमात्र के सहवास का भी कितना महान फल है,...वह क्या तुम नहीं जानते-?

लाखों धर्मात्मा जीवोंका परिवार वीरप्रभु के संघ में मोक्ष की साधनाकर रहा था। ७०० केवलज्ञानी अरिहंत भगवन्त वहाँ धर्मसभा में विराजते थे; जो गुणों में प्रभु के समकक्ष थे। तदुपरान्त ऋद्धिधारी १४००० मुनिराज थे; चन्दना सहित ३६००० आर्यिकाएँ थीं; आत्मज्ञानसहित देशव्रतधारी एक लाख श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएँ थीं। देव और तिर्यंच भी प्रभु की वाणी सुनते और सम्यक्त्वादि धर्म प्राप्त करते थे। वहाँ धर्मका साम्राज्य था। उस धर्म-साम्राज्य के नायक थे धर्मराजा भगवान महावीर। आज हम भी उसी महावीर-साम्राज्य के उत्तराधिकारी हैं और प्रभुके मार्ग की साधना करते हुए उस

पथपरचल रहे हैं...धन्य है यह धर्मसाम्राज्य!...धन्य हमारे धर्मराजा! और धन्य यह धर्मपालक प्रजा! महावीर हमारे हैं, हम महावीर के हैं।'

बौद्धधर्म के संस्थापक गौतमबुद्ध भी महावीर प्रभु के समकालीन थे और वे सर्वज्ञ महावीर के प्रशंसक थे। तीस वर्ष तक धर्मचक्रसहित विहार करते-करते अन्तिम दिनों में प्रभु महावीर बिहार प्रान्त की पावापुरी में पधारे; वहाँ का सुन्दर उद्यान खिल उठा। भव्यजीवों का चैतन्य-उद्यान भी सम्यक्त्व आदि धर्मपुष्पों से आच्छादित हो गया। कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन प्रभु की अन्तिम देशना हुई। (उस अन्तिम देशना के स्थान पर वहाँ एक प्राचीन जिनमन्दिर है और उसमें वीर प्रभुके चरणों की स्थापना है। निर्वाणभूमि के स्थानपर आज 'पद्म-सरोवर' है, उसके प्रवेशद्वार के सामने के भाग में अन्तिम देशना-भूमि के स्थान का होना दिगम्बर जैन-परम्परा में माना जाता है।)

प्रभु महावीर ने विपुलाचल पर प्रथम देशना में जो परमात्मतत्त्व दरशाया था, वही परमात्मतत्त्व अन्तिम देशना में पावापुरी में बतलाया। प्रभुकी वाणी द्वारा परमशान्त चैतन्यरस का पान करके लाखों-करोड़ों जीव तृप्त हुए। गणधर गौतमदेव भी उत्कृष्टरुप से वीतरागरस का पान करके केवलज्ञान प्राप्त करने को तत्पर हैं, अहा! तीर्थंकर प्रभुने सिद्धपद की तैयारी की तो गणधर देवने भी अरिहंतपदकी तैयारी की...तथा प्रतिगणधरदेव (सुधर्मस्वामी) श्रुतकेवली होने को तैयार हैं। धन्य भगवन्त! आपने पंचमकाल में धर्मकी अच्छिन्नधारा प्रवाहित रखी।

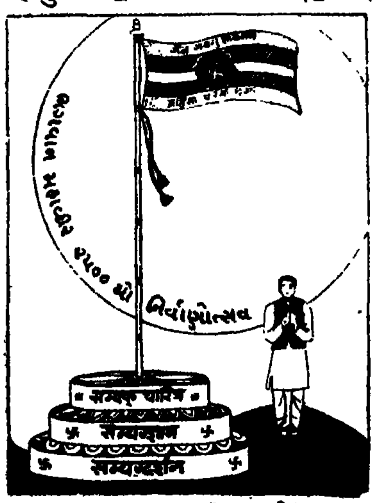
अभी पंचमकाल का प्रारम्भ होने में तीन वर्ष आठ मास तथा पन्द्रह दिन का समय शेष था। चौथा काल चल रहा था। प्रभु महावीर का विहार थम गया; वाणी का योग भी मोक्षगमन के दो दिन पूर्व (धनतेरस से) रुक गया। प्रजाजन समझ गये कि अब प्रभुके मोक्षगमन की तैयारी है। प्रत्येक देशके राजा तथा लाखों प्रजाजन भी प्रभुके दर्शनार्थ आ पहुँचे। परम वैराग्य का वातावरण छा गया। भले वाणी बन्ध हो गई थी, तथापि प्रभुकी शांतरस झरती मुद्रा देखकर भी अनेक जीव धर्म प्राप्त करते थे। गौतम गणधरादि मुनिवर ध्यान में अधिकाधिक एकाग्र हो रहे थे। प्रभुकी उपस्थिति में प्रमाद छोड़कर अनेक जीवों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी तथा चतुर्दशी को-दो दिन देवेन्द्रो तथा नरेन्द्रोंने सर्वज्ञ महावीर तीर्थंकर की अन्तिम महापूजा की...मोक्ष-महोत्सव का महान मेला लग रहा था...संसार को भूलकर सब मोक्षकी महिमा में तल्लीन थे। चतुर्दशी की रात्रि हुई, अर्धरात्रि भी बीत गई और...पिछले प्रहर (अमावस्या का प्रभात उदित होने से पूर्व) वीरनाथ सर्वज्ञ प्रभु तेरहवाँ गुणस्थान लाँघकर चौदहवें गुणस्थान में अयोगीरुप से विराजमान हुए। यहाँ आस्रवका सर्वथा अभाव एवं संवर की पूर्णता हुई। परमशुक्लध्यान (तीसरा एवं चौथा) प्रगट करके शेष अघाति कर्मों की सम्पूर्ण निर्जरा प्रारम्भ कर दी और क्षणमात्र में प्रभु सर्वज्ञ महावीर मोक्षभावरुप परिणमित हुए...तत्क्षण ही लोकाग्र में सिद्धालयरुप मोक्षपुरी में पहुँचे। आज भी वे सर्वज्ञ परमात्मा वहाँ शुद्ध स्वरुप अस्तित्व में विराज रहे हैं....उन्हें नमस्कार हो!

अर्हंत सौ कर्मोंतणो करी नाश ए ज विधि वडे,
उपदेश पण एम ज करी निवृत थया, नमुं तेमने।
श्रमणो-जिनो-तीर्थंकरो एं रीत सेवी मार्गने,
सिद्धि वर्या, नमुं तेमने; निर्वाणना ते मार्गने।

पावापुरी में वीरप्रभु निर्वाण को प्राप्त हुए और कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की अँधेरी रात भी मोक्षकल्याणक के दिव्य प्रकाश से जगमगा उठी...लाखों भक्तोंने करोड़ों दीपकों की आवलियाँ सजाकर प्रभु के मोक्षकल्याणक का उत्सव मनाया; इसलिये कार्तिक कृष्णा अमावस्या दीपावली-पर्व के रुप में प्रसिद्ध हुई। ...जो आज भी भारत में प्रसिद्ध है। उस निर्वाण-महोत्सव को २५०० वर्ष पूरे हुए तब (ई.स. १९७४ में) समग्र भारत में अति भव्य उत्सव मनाया गया था और इस महापुराण का लेखनकार्य भी उस निर्वाण-महोत्सव के निमित्त ही पू. गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की प्रत्यक्ष प्रेरणा से हुआ है।




भगवान महावीर तो निर्वाण को प्राप्त हुए, सिद्ध हुए...अहो, उन सिद्ध भगवन्तों का अतीन्द्रियज्ञान! इस महापुराण द्वारा मैं उस परमइष्ट पदका गुणगान करता हूँ और मेरा आत्मस्वभाव ऐसा ही है-उसे स्वीकार करके मैं भी प्रभु के मार्गपर चलता हूँ और इष्टपद प्राप्त करता हूँ। मोक्ष के कारणरुप ऐसे भगवान महावीर को नमस्कार हो!-




**नमन करता उन जिनेश्वर देव को,**
**धर्मचक्र चला गये शिवगेह जो;**
**गये पावापुरी से निर्वाणको,**
**सन्त-मुनि-गणधर नमें कल्याण हो !**

वीर प्रभु पंचमगति को प्राप्त करके सिद्ध हुए, मुक्त हुए; वह तो आनन्दका प्रसंग है, शोक का नहीं।

किसीको प्रश्न उठ सकता है कि-अरे, निर्वाण होनेपर तो भगवान का विरह हुआ, फिर उसका उत्सव क्यों?

समाधान-अरे भाई! तुम बाह्य चक्षुओं से देखते हो इसलिये तुम्हें ऐसा लगता है कि भगवान का विरह हुआ! जो इन्द्रियज्ञान द्वारा 'शरीर युक्त महावीर' को ही देखते थे उन्हें उन शरीरवान महावीर का विरह हुआ; परन्तु जो शरीर से भिन्न महावीर के सच्चे स्वरुप को अर्थात् 'सर्वज्ञ-महावीर' को अंतर्दृष्टि से-अतीन्द्रिय चक्षुसे पहिचानते हैं उन्हें तो उन सर्वज्ञ परमात्मा का कभी विरह नहीं है; उनके लिये तो वे भगवान लोकाग्र में सिद्धरुप से साक्षात् विद्यमान विराजमान हैं। पावापुरी में २५०० वर्ष पूर्व जो 'सर्वज्ञपरमात्मा' विराजते थे, वे ही वर्तमान में सिद्धपुरी में विराज रहे हैं। साधक के ज्ञान में उन सिद्ध भगवंत का स्वरुप उत्कीर्ण हो गया है, उसे सर्वज्ञ महावीर का विरह नहीं है...नहीं है; सर्वथा अतीन्द्रिय ऐसे उन परमात्मा को अपने ही आत्मा में स्थापित करके वह अपने आत्मा को सिद्ध की साधना में लगाता है..और ऐसी साधना का उत्साह ही निर्वाण का महोत्सव...आत्महित का ऐसा मंगल-महोत्सव कौन नहीं मनायेगा?!

देखो न, वीरप्रभु के निर्वाण के समय गौतमस्वामी कहीं प्रभुविरह का विलाप करने नहीं बैठे थे; किन्तु चैतन्य की अनुभूति में अधिक गहरे उतरकर मोक्ष की साधना में मग्न हो गये थे। ३० वर्ष तक जिनके सतत सान्निध्य में रहा-ऐसे मेरे प्रभुनिर्वाण को प्राप्त हुए और मैं अभी छद्मस्थ ही रहा?...अब आज ही साधना पूर्ण करूँगा!-इस प्रकार उत्कृष्टरूप से आत्मा को आराधना में लीन करके उसी दिन केवलज्ञान प्रगट किया और सर्वज्ञपरमात्मा हुए; पूर्ण वीतराग होकर उन्होंने सर्वोत्कृष्टरूप से प्रभुका निर्वाण महोत्सव मनाया। उनके शिष्य सुधर्मस्वामी उसी दिन श्रुतकेवली बने। अहा, नमस्कार हो उन श्रुतकेवली भगवन्तको!

पश्चात्, तीर्थंकर प्रभुकी वह कुल परम्परा चलते...चलते श्रीगुरुओं द्वारा हम तक आयी है; हम भी उसी कुल-परम्परामें हैं। कृतार्थ हो गये हम सब महावीर के मार्ग को पाकर। अपने तीर्थंकर भगवन्तों के मार्ग की उपासना करके हम सब अपना कल्याण करें और अपने उन भगवन्तों के सिद्धालय में पहुँचकर सदैव उनके साथ रहें...ऐसी मंगल भावना के साथ यह भागवत पुराण समाप्त करता हूँ।

-इस प्रकार भरतक्षेत्र के अन्तिम तीर्थंकर एवं वर्तमान शासननायक सर्वज्ञ भगवान महावीर तीर्थंकर का मंगल जीवन चरित्र पूर्ण हुआ।

अनन्त तीर्थंकर हुए, जगके तारणहार;
सिद्ध दशा को साधकर, पहुँचे भवदधि पार।
शासन वीर जिनेन्द्रका, अक्षयपद दातार;
सेवन कर समकित लहो, जो चाहो भवपार।

-अपने चौबीस तीर्थंकर भगवन्तोंकि मंगल जीवनका यह 'महापुराण' भव्यजीवों में जिनमार्ग के प्रति भक्ति जागृत करों, रत्नत्रय की प्राप्ति कराओ, और मोक्षसुख में स्थापित करो!

## 'भागवत कथा'

श्री समयसार पर व्याख्यान देते समय पू. गुरुदेव अनेकबार कहते थे कि-'अहो, यह तो भागवत-कथा है!' भगवान आत्मा के महिमाकी कथा सो भागवत-कथा; उसीप्रकार चौवीस तीर्थंकर भगवन्तोंका यह महापुराण भी भागवत कथा है। वे भगवान किसप्रकार आत्मा की साधना करके परमात्मा हुऐ वह इसमें बतलाया हैं। जैनपुराण तो वीतरागता के ही पोषक हैं। श्री गुरुके प्रताप से आज ऐसे भागवत पुराणों द्वारा हम भगवन्तों का पंथ समझ रहे हैं....धन्य वह पंथ!...और धन्य हैं उसके पंथी!

## ग्रन्थमाला संरक्षक सदस्य

१. श्रीमती झनकारीबाई खेमराज बाफना, खैरागढ़
२. श्री कंवरलाल मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
३. श्रीमती घुड़ीबाई खेमराज गिड़िया, खैरागढ़
४. श्रीमती ढेलाबाई तेजमल नाहरा खैरागढ़
५. श्री सुरेशभाई जे. महेता, बम्बई-दिनेशभाई जे. महेता, मोरबी
६. श्री महेशभाई जे. महेता, बम्बई-प्रकाशभाई जे. महेता, नेपाल
७. श्री रमेशभाई जे. महेता, नेपाल-राजेशभाई जे. महेता, मोरबी
८. श्री शैलेशभाई जे. महेता, नेपाल
९. ब्र० ताराबेन-मैनाबेन सोनगढ़
१०. स्व. अमराबाई स्मरणार्थ ह. श्री घेवरचन्दजी डाकलिया, राजनांदगांव
११. श्रीमती चन्द्रकला गोतमचन्द बोथरा, भिलाई
१२. श्रीमती गुलाबबेन प्रेसवाले, भिलाई
१३. स्व. हरगोविंददास मोदी स्मरणार्थ ह. विजयाबेन, सोनगढ़
१४. श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़
१५. श्रीमती कन्चनबाई दुल्लीचन्द जैन, खैरागढ़
१६. श्री प्रफुल्लचन्द संजयकुमार जैन, भिलाई
१७. स्व. लुनकरण कोचर स्मरथार्थ ह. श्री झीवुबाई, कंटगी

## साहित्य प्रकाशन फण्ड में प्राप्त सहयोग राशि

| | | |
|---|---|---|
| १. | श्री दुल्लीचन्द कमलेशकुमार जैन-शुधात्म भवन<br>ह. सौ. कंचनबेन-रजनीदेवी, खैरागढ़... | ११५१ |
| २. | ब्र० इन्दीराबेन लोदरीया, सोनगढ़... | ११११ |
| ३. | श्री खेमराज प्रेमचन्द जैन-कहान निकेतन<br>ह. सौ. घुड़ीबाई चन्द्रकला जैन, खैरागढ़... | १००१ |
| ४. | ब्र० ताराबेन-मैनाबेन, सोनगढ़... | १००१ |
| ५. | श्री झनकारीबाई खेमराज बाफना चैरिटेबल ट्रस्ट, विदिशा... | १००१ |
| ६. | ब्र० जसीबैन हीराचन्दभाई, सोनगढ़... | ५०१ |
| ७. | श्रीमती शांताबेन वृजलालसेठ ह. ब्र० उषाबेन, अहमदाबाद... | ५०१ |
| ८. | श्रीमती शकुन्तलाबेन, दिल्ली... | ५०१ |
| ९. | श्रीमती पतासीबाई तिलोकचन्द कोठारी, जालबांधा... | ४०१ |
| १०. | स्व. दुल्लीचन्द संचेती स्मरणार्थ ह. श्रीमती गंगाबाई, बेलगांव... | ३०१ |
| ११. | सौ. श्रद्धा के सगाई पर ह.प.श्री ज्ञानचन्दजी, विदिशा... | ३०१ |
| १२. | श्री कंवरलाल मोतीलाल जैन ह श्री. ढेलाबाई शोभादेवी, खैरागढ़... | २५१ |

१३. श्री लक्ष्मीबेन तथा कुन्तीबेन, सोनगढ़... २५१
१४. ब्र० कंचनबेन-पुष्पाबेन, सोनगढ़... २०१
१५. स्व.अमराबाई स्मरणार्थ ह. येवरचन्दजी डाकलिया, राजनांदगाव... २०१
१६. श्री प्रमोदकुमार, छिंदवाड़ा... २०१
१७. ब्र० जमनाबेन, सोनगढ़ ह. पन्नालाल छाजेड़... १०१
१८. ब्र० शारदाबेन वीरचन्द, सोनगढ़... १०१
१९. मूलीबेन सीमरथमल, सोनगढ़... १०१
२०. श्रीमती कमलाबाई देवराज ओसवाल, खैरागढ़... १०१
२१. श्रीमती सुशीलाबेन हसमुखभाई, बम्बई... १०१
२२. श्री गुणमालाबेन, दिल्ली... १०१
२३. मास्टर कान्ताबेन, ब्र० कान्ताबेन, सोनगढ़... १०१
२४. श्रीमती दर्शनाबेन नरेन्द्रकुमार, राजकोट... १०१
२५. श्री सेवन बदर्स, सिंकदराबाद... १०१
२६. श्री शिखरचन्द सुभाषचन्द सराफ, विदिशा... १०१
२७. डा. आर. के. जैन, विदिशा... १०१
२८. श्री धनीराम अजितकुमार, करैरा... १०१
२९. सिंघई प्रकाशचन्द जैन, भोपाल... १०१
३०. श्री बाबूलाल एडवोकेट, विदिशा... १०१
३१. श्रीमती अनीताबेन कस्तुरचन्द जैन, डोंगरगांव... १०१
३२. श्रीमती प्रभावती निर्मल बरड़िया, राजनांदगांव... १०१
३३. श्रीमती कन्चनदेवी (११ उपवास) ह. पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़... १०१
३४. श्री चम्पालाल जैन एण्ड कं., ग्वालियर... १०१
३५. श्री गम्भीरचन्द जैन, इन्दौर... १०१
३६. विमलचन्द विनायश्या, इन्दौर... १०१
३७. सरोजबेन उमेदभाई मोदी, सोनगढ़... १०१
३८. इन्दुबेन मोटाणी, कलकत्ता... १०१
३९. नमीताबेन मोटाणी, अहमदाबाद... १०१
४०. अरुणाबेन, सुरत... ५१
४१. मधुबेन धीरजलाल भायाणी, भावनगर... ५१
४२. सुलोचनाबेन नागरदास गांधी, भावनगर... ५१



# भगवान महावीर २५०० निर्वाणमहोत्सव प्रसंगे समस्त जनसमाजने गुरुकहाननो संदेश

दश वर्ष पहेला दुनियाभरना जैनोअे उपरोक्त भव्य महोत्सव उजव्यो ते प्रसंगे प्रसन्नतापूर्वक सम्मति अने आशीर्वाद आपतां पू. **श्री कानजीस्वामीअे** सोनगढमां, फत्तेपुरमां, जयपुरमां, तेमज मुंबई वगेरेमां वारंवार कह्युं हतुं के-

बधा जैनोअे भेगा थईने आनंदथी महावीर भगवानना निर्वाणना अढी हजार वर्षनो महोत्सव करवो ते सारुं छे. ते जैनधर्मनी प्रसिद्धि तथा प्रभावनानु कारण छे. तेमां मतभेद भूलीने सौअे साथ आपवो जोईअे. जैनना बधा सांप्रदायोअे मळीने भगवान महावीरना मार्गनी प्रसिद्धि थाय ते करवा जेवुं छे. तेमां कोइअे विरोध न करवो जोईअे. अरसपरस कोई जातना क्लेश वगर सौ साथे मळीने महावीर भगवाननो उत्सव थाय ते तो सारी वात छे. महावीर भगवानना वीतराग मार्गमां परस्पर क्लेश थाय तेवुं कोईअे करवुं जोईअे नहीं. जगतमां जैनधर्मनी शोभा वधे, दुनियामां तेनो महिमा प्रसिद्ध थाय ने भगवानना उपदेशनी प्रभावना वधे तेम आपणे सौअे करवुं जोईअे.

(गुरुदेवनो आ उत्तम सन्देश आत्मधर्म अंक ३७८ वगेरेमां अनेकवार छपायेल छे. अने याद रहे के आ भव्य महोत्सव प्रसंगे गुरुदेवनी सीधी प्रेरणाथी ज आ महापुराणनी रचना थयेली छे.)

# २४ तीर्थंकरोनुं महापुराण = FOUR IN ONE

### (अेक ज शास्त्रमां चारेय अनुयोग)

(१) कथानुयोग (२) चरणानुयोग (३) करणानुयोग अने (४) द्रव्यानुयोग. -जिनवाणी आवा चार अनुयोगरुप छे, ने ते चारेय अनुयोग वीतरागभावनो ज उपदेश आपीने आत्मानुं हित करनार छे. पुराणा शास्त्रभंडारोमा चारे अनुयोगना घणाय शास्त्रो छे, पण ते बधायनो अभ्यास अति विरल विद्वानो ज करी शके छे.

-तो जिज्ञासुअे शुं करवुं? चारे अनुयोगना अनेक शास्त्रोना आधारे आपणा चोवीस तीर्थंकर भगवंतोनुं, अध्यात्मशैलीथी लखायेल 'महापुराण' वांचो:-तेमां जिनवाणीना चारेय अनुयोग भर्या छे. तेमां (१) तीर्थंकर भगवंतोनी जीवनकथा छे; (२) मोक्षने माटे ते भगवंतोअे आचरेला उत्तम आचरणनुं वर्णन छे; (३) चार गतिनां सुख-दुःख, गुणस्थान वगेरे परिणामोरुप करणानुयोग पण तेमां छे: अने (४) ते तीर्थंकरादि महात्माओ क्यारे, केवा भावथी सम्यग्दर्शनादि पाम्या, तेनुं वर्णन तेमज स्वानुभूतिनी अति सुंदर चर्चाओरुप द्रव्यानुयोग पण तेमां ठेरठेर भरेलो छे. आ रीते (FOUR IN ONE) अेक ज पुस्तकमां चारेय अनुयोगनुं रोमांचकारी वर्णन वांचतां तमे कोई अनेरी धार्मिक स्फूर्ति अनुभवशो...अने, जो ज्ञानीना सत्संगनुं जोर तमारी पासे हशे तो, तमे .मोक्षमार्गमां पण दाखल थई जशो. -धन्यवाद!

भगवत् जिनसेन अने गुणभद्रस्वामीअे रचेला संस्कृत महापुराणमां छेल्ले लखे छे के, 'आ मात्र पुराण नथी, आ तो कोई अद्‌भुत धर्मशास्त्र छे; आमां तीर्थकरोना अद्‌भुत चारित्रनो समुद्र छे; भक्तिपूर्वक तेनी स्वाध्याय करनार भव्यजीवने मुक्तिनुं अस्तित्व देखाय छे ने मोक्षना साधनोनो निश्चय थाय छे तथा तेनी साधनानो उत्साह जागे छे. माटे जिनकल्याणना इच्छुक भव्यजीवोअे प्रसन्नतापूर्वक आ महापुराण - शास्त्रनी व्याख्या करवी, ते वांचवुं-सांभळवुं, लखवुं-विचारवुं ने हर्षथी तेनुं सन्मान करवुं.' संस्कृत महापुराणमां २० हजार श्लोक छे, गुजराती महापुराण पण लगभग २० हजार श्लोकप्रमाण छे.